गौडपादसार

द्वितीय भाग

Scanned by CamScanner

विषय-सूची

वैतथ्य प्रकरण	**५३६-७१३**
स्वप्न के पदार्थ मिथ्या है	५३७
वैतथ्य नाम का प्रयोजन	५३९
स्वप्नमिथ्यात्व में वेद प्रमाण	५४४
ज्ञेय न हो तो ज्ञान भी नहीं होता	५४६
स्वप्न में आत्मा ही ज्योति है	५४९
स्वप्न की तरह जाग्रत् मिथ्या है	५५०
स्वप्न व जाग्रत् का भेद	५५३
मन जीतने की जरूरत	५५४
जाग्रत् के विचार से उसका मिथ्यात्व	५५९
मिथ्यात्व में दो हेतु- आदिमत्त्व व अन्तवत्त्व	५६१
अविचार से सत्यता लगती है	५६३
सप्रयोजनता से जाग्रत् सत्य नहीं सिद्ध होता	५६५
जगते हुए भी प्राय: स्वप्न में रहते हैं	५६६
स्वप्न-दृष्टान्त पर शँका-समाधान	५७१
सर्वमिथ्यात्व पर प्रश्न-उत्तर	५७८
आत्मा स्वयं को जगद्रप में कैसे बनाता है	५९०
प्रतीतिकाल से अन्य काल वाली वस्तु भी मिथ्या है	५९४
स्पष्ट-अस्पष्ट जानकारी से मिथ्यात्व में अन्तर नहीं	६००
जीवको द्वार बनाकर सारी कल्पनायें होती हैं	६०३
हिन्दू धर्मान्तरण क्यों नहीं करते	६०६
जीवकल्पना कैसे होती है	६१०
आत्मा अपनी माया से संमोहित है	६१७
तटस्थेश्वरवाद का खण्डन	६१९
महाभूत जगत्कर्ता हैं इस मत का निरास	६२०
सांख्य और आधुनिक भौतिकी के सिद्धान्त का निषेध	६२१
शैवमत की परीक्षा	६२२
सांश परतत्त्व मानने वाले वैष्णवों का खण्डन	६२३
भोग्य विषय परमतत्त्व नहीं हो सकते	६२४

Scanned by CamScanner

स्वर्गादि लोक अन्तिम तत्त्व नहीं	६२५
देवता वास्तविक तत्त्व नहीं	६२७
वेद और यज्ञ परम वस्तु नहीं	६२८
भोक्ता की परमता असम्भव	६२९
भोज्य, सूक्ष्मदेह, आणु-आतमा, परमाणु समूह व स्थूलदेह परमतत्त्व नहीं	६३०
मूर्ति की तात्त्विकता एवं अर्चावतार का खण्डन	६३१
अमूर्त तथा शून्य भी पारमार्थिक नहीं	६३२
काल और दिशा की वास्तविकता का निराकरण	६३४
वाद व भुवन परतत्त्व नहीं हैं	६३६
मन परम वस्तु नहीं	६३८
बौद्धसंमत विज्ञान वास्तविक तत्त्व नहीं	६३९
संस्कार और धर्माधर्म परमार्थ नहीं	६४०
प्राचीन सांख्यों के पच्चीस तत्त्व परम वस्तु नहीं	६४१
छब्बीस या इकतीस तत्त्व एवं भाग्य की वास्तविकता का निषेध	६४२
कला, अनन्त तत्त्व और लोकरंजन परमार्थ नहीं	६४३
आश्रम वास्तविक तत्त्व नहीं	६४५
स्त्रीलिंगादि शब्द, पर-अपर तत्त्व, सृष्टिकर्ता आदि की परमता का निरास	६४७
आत्मा ही सत्य है, श्रद्धेय है	६५१
श्रद्धा फल देती है	६५२
आत्मद्रष्टा वेदार्थप्रतिपादन में समर्थ है	६५८
श्रुति व युक्ति दोनों हों तब नि:शङ्कता आती है	६६३
निष्ठा क्यों नहीं होती	६६५
ब्रह्मदृष्टि के बिना भय नहीं हटता	६७१
परमार्थ का उपदेश	६७३
शून्यवाद का प्रसङ्ग नहीं	६७८
विविध अभिमान और उनका एक निवर्तक	६८१
उद्वयता शिवा है	६८६
अकल्याणरूप भेद है नहीं अत: आत्मा कल्याणरूप सङ्गत है	६८८
उद्वय का ज्ञान किन्हे होता है	६९४
आत्मसंस्कारों को बढ़ाना चाहिए	७००
यति की चर्या	७०३
तत्त्वदर्शी की स्थिति	७०९

Scanned by CamScanner

अद्वैत प्रकरण	**७१४-८७६**
जीव की कृपणता	७१५
तर्क का उपयोग	७१७
उपासक-मान्यता पर विचार	७२०
प्रतिपाद्य की प्रतिज्ञा	७२३
सोदाहरण नाना जीवों की उपपत्ति	७२५
अद्वैत में व्यवस्था-अनुपपत्ति पर शंका-समाधान	७३१
व्यवहार अविद्यामूलक	७४०
अद्वैत अनुमान से अविरुद्ध है	७४२
आत्ममालिन्य अविवेक से लगता है	७४५
परलोकगमनादि व्यवहार की संगति	७४९
सभी संघात मायिक हैं	७५०
जीव की ब्रह्मरूपता में श्रुति प्रमाण	७५३
बाह्य-आभ्यन्तर जगत् का संचालक एक	७५६
अभेदप्रशंसा व भेदनिन्दा	७५९
जीव-ईश्वर का भेद गौण है	७६३
सृष्टिश्रुतियों का तात्पर्य अद्वैत में	७६६
वेदान्तदृष्टि से 'अवतार'	७७१
सृष्टिवाक्य यथाश्रुत अर्थ वाले क्यों नहीं	७७३
उपासना-उपदेश का प्रयोजन	७८०
द्वैत मानने वालों का आपसी विरोध है, अद्वैत से नहीं	७८४
मिथ्या द्वैत पारमार्थिक अद्वैत का विरोधी नहीं	७९०
द्वैत मायिक ही संभव है	७९४
अज का वास्तविक जन्म असंगत है	७९६
प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है	७९७
कार्य-कारण रूपों से मर्त्य-अमर्त्यता अनुपपन्न हैं	८००
प्रामाणिक और युक्तियुक्त ही स्वीकार्य है	८०१
मायिक सृष्टि श्रुतिसिद्ध है	८०६
'सम्भूति' की निन्दा से कार्य ही निषिद्ध है	८०८
'नेति नेति' से परमात्मा अविषयतया बताया है	८११
युक्ति से भी मायिक जन्म पता चलता है	८१९
असद्वाद असिद्ध है	८२५
सत्तत्त्व का माया से जन्म होता है	८२८
उद्वय रहते हुए ही सद्वय की तरह आत्मा प्रतीत होता है	८३१

Scanned by CamScanner

द्वैत मनोमात्र है ८३२
अमनीभाव ८३४
अमनस्ता होने पर भी आत्मावबोध ८३७
निग्रह के बाद मनका प्रचार ८३९
सुषुप्ति व समाधि में अन्तर ८४३
ब्रह्मनिरूपण ८४६
विद्वान् से अभिन्न कर ब्रह्मवर्णन ८४९
अकार्पण्य-प्रतिज्ञा की पूर्ति ८५२
अस्पर्शयोग ८५४
मन्दबुद्धि मनोनिग्रह का सहारा लेवे ८५७
मनोनिग्रह के लिये असीम धैर्य चाहिये ८६१
लय, विक्षेप और सुखराग से मन को बचाये ८६२
वैराग्य तथा ज्ञानाभ्यास निग्रह के उपाय हैं ८६५
लय, विक्षेप और सकषाय स्थिति में क्या करे ८६८
समाधिप्राप्ति पर कर्तव्य ८७१
चित्त ब्रह्ममात्र कब होता है ८७२
समाहित का स्वरूप ८७३
उत्तम सत्य ८७४

अलातशान्ति प्रकरण ८७७-१०८९
प्रकरणों का क्रम ८७७
ग्रन्थमध्यमें मङ्गल ८७८
प्रकरण सम्बन्ध ८८०
चतुर्थप्रकरण की भूमिका ८८१
पूंजी-साम्य-वादों का वर्णाश्रमव्यवस्था से भेद ८८२
नीतिविषयक अबोध ८८३
बहुकेन्द्रीय समाज इष्ट है ८८५
इस प्रकरण की विचाररीति ८८७
सम्प्रदाय ८९०
अद्वैतदर्शन की अस्पर्श योग की स्तुति ८९३
सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद ८९६
अक्षपाद की कथा का तात्पर्य ८९९
सत्कार्य व असत्कार्य वादों के विरोध से अजाति का ख्यापन ९०१
प्रकृति-शब्द का अर्थ ९०३

Scanned by CamScanner

जीवों की प्रकृति	१०५
सत्कार्यवाद में दोष	१०९
कर्मकाण्डी के मत में गलती	११२
'पुण्य से स्वर्ग' आदि वचनों का तात्पर्य	११६
मीमांसक की हार	११७
बीजांकुरन्याय का विचार	११९
पूर्वापरता का अज्ञान अजाति का बोधक	१२३
स्वतः, परतः, सत् या असत्— किसी का जन्म संभव नहीं	१२४
निष्कारण का जन्म नहीं	१२८
बाह्यार्थवाद से शंका	१२९
विज्ञानवाद से समाधान	१३१
स्फुरण सकर्मक नहीं	१३६
ज्ञान कभी भी विषयस्पर्श नहीं करता	१३८
विज्ञानवाद का निरास	१४१
अजातिकथन प्रतिज्ञा का उपसंहार	१४४
बन्ध मोक्ष को सत्य मानने में दोष	१४६
जाग्रत् की संविद्रूपता	१४८
जाग्रत् का मिथ्यात्व	१४९
स्वप्न से जाग्रत् की भिन्नता पर शंका-समाधान	१५३
स्वप्नजाग्रत् की कार्यकारणता का स्पष्टीकरण	१५४
कार्यकारणता असम्भव	१५६
वेदान्तों में जगज्जन्मोक्ति का अभिप्राय	१५८
ब्रह्मकारणता मानने में स्वल्प हानि	१६२
उपलंभ और समाचार से सत्यता नहीं	१६४
भूतदर्शन का उपसंहार	१६५
जीव अज है	१६६
अलात का दृष्टान्त	१६८
दाष्टान्त कथन	१७१
कार्यकारणभाव का प्रयोजक अनिरूपणीय	१७२
ज्ञेय-ज्ञान में भी कार्यकारणता नहीं	१७७
हेतु-फल मानना एक आवेश है	१७८
वह आवेश उतरने पर संसार प्राप्ति नहीं होती	१८१
'माया' का मतलब	१८४
मायिक न नित्य है न नश्वर	१८५

Scanned by CamScanner

औपनिषद पुरुष वाणी का अविषय है	९८६
वाग्विषय का मिथ्यात्व	९८७
अन्योन्यनिरूपित की अवास्तविकता	७८८
मिथ्या की प्रतीयमानता	९९०
आत्मरूप संवेदन विषय-अस्पृष्ट है	९९१
शास्त्रादि की विषयता पारमार्थिक नहीं	९९२
'अज' ऐसा व्यवहार भी वास्तविक नहीं	९९४
मिथ्या की निवृत्ति मिथ्या उपाय से	९९६
निमित्त न होनें से जन्म नहीं	९९८
अजता अनागन्तुक है	१०००
अनिमित्तताबोध से अभयपद	१००१
अभूत-अभिनिवेश	१००३
विद्वदनुभव	१००५
सब लोग साक्षात्कार क्यों नहीं कर लेते	१००७
किस ज्ञान से पाण्डित्य होता है	१०११
ज्ञान से कृतकृत्यता	१०१२
विप्रों की स्वाभाविकता	१०१३
वेदान्त की निजी प्रक्रिया	१०१४
महाबुद्धिमान्	१०२२
ज्ञानकी दृढता के साधन	१०२७
ज्ञेय आत्मा का स्वरूप	१०३७
ज्ञेयता भी व्यावहारिक ही है	१०४३
भेद प्रवणता निन्दनीय है	१०४९
विद्वान् प्रशंसनीय है	१०५६
तत्त्वधी निर्विषय है	१०५९
वास्तविक सविषयता हो तो अज असंगता असंभव है	१०६१
स्वाभाविक निर्मलता	१०६४
यह बुद्ध ने नहीं कहा	१०६६
कारिका की मंगल में समाप्ति	१०७१
कारिकाग्रन्थ भी शास्त्र है	१०७७
भाष्यकारीय मंगल १	१०८१
भाष्यकारीय मंगल २	१०८४
भाष्यकारीय मंगल ३	१०८७

■

Scanned by CamScanner

ॐ

वैतथ्य प्रकरण

आगम प्रकरण में यह बताया कि 'विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् । उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।।' (१८)।। यदि किसी के द्वारा विकल्प की कल्पना की गई होती तो उसकी निवृत्ति होती। चूँकि विकल्प वास्तविक नहीं है इसलिये 'ज्ञाते (सति) द्वैतं न विद्यते' जैसे ही जान लिया गया वैसे ही द्वैत नहीं रह जाता। यह वहाँ आगम प्राधान्य से प्रतिज्ञामात्र की थी अर्थात् आगम ने कहा है, इसलिये स्वीकारा था। अब वह मिथ्यात्व युक्ति के द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है इस बात को बतायेंगे। जो चीज आगम ने कही वह युक्ति से भी सिद्ध की जा सकती है। यही वेदांत की विशेषता है। जैसे ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी भाष्यकार कहते हैं कि वेदांत शास्त्र में श्रुति, स्मृति, विद्वद्-अनुभव, युक्ति इत्यादि सब प्रमाण हैं। प्रकरण की प्रतिज्ञा करते हैं—

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तः स्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना।।१।।

'मनीषिणः' अर्थात् 'प्रमाणकुशलाः' जो प्रमाणमीमांसा में कुशल हैं अर्थात् किसी भी चीज के प्रमाण के विचार में कि इसका ज्ञान जिस तरीके से होता है उस तरीके से विचार करने में कुशल हैं। प्रमाण का मतलब होता है ज्ञान उत्पन्न करने का तरीका। जैसे आँख रूप में प्रमाण है क्योंकि आँख ही वह तरीका है जिसके द्वारा रूपज्ञान होता है। आँख किस प्रकार से ज्ञान करती है तो ठीक करती है, कैसे गलत करती है इत्यादि का विचार करने वाले को मनीषी या प्रमाणकुशल कहेंगे। प्रमाणकुशल लोग यह कहते हैं कि सर्वभाव अर्थात् जितने भी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थ हैं वे सभी स्वप्न के अंदर (स्वप्नकाल में) मिलने पर भी उनका वैतथ्य अर्थात् असत्यत्व है। यह प्रमाणकुशल लोगों का कहना है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों ने स्वप्न के पदार्थों का जो विचार कहा था वह श्रौत विचार हुआ। अब कहते हैं कि इस विषय में प्रमाणकुशल जो दूसरे लोग हैं, जो वेद को स्वीकार नहीं भी करते हैं, युक्ति से ही विचार करते हैं, उनका भी स्वप्न में सब पदार्थों की वितथता अर्थात् असत्यता के विषय में कोई मतभेद नहीं है।

क्यों कहते हैं? वे प्रमाणकुशल लोग हैं इसलिये कहते हैं। 'अन्तःस्थानात्' अर्थात् शरीर के अन्दर स्थान होने से शरीर के अन्दर के स्थान में स्वप्न पदार्थों की उपलब्धि

Scanned by CamScanner

होती है। स्वप्न के अन्दर जो पर्वत, हाथी इत्यादि मिलते हैं, वे सारे के सारे शरीर के अन्दर ही होते हैं। यही हेतु है कि वे वितथ हैं। इस हेतु से यह आया कि जो जो चीज़ अन्दर मिले वह वह असत्य होती है।

कोई कह सकता है कि यह बात आपकी ठीक नहीं कि जो जो चीज़ अन्दर मिले वह झूठी होती है। घड़े के अन्दर पानी, अल्मारी के अन्दर किताबें, कपड़ों के अन्दर होने वाला शरीर, पेटी के अन्दर रुपये इत्यादि झूठे थोड़े ही होते हैं। इसलिये यह हेतु युक्तिसंगत नहीं है। अतः अंदर होने की भी एक विशेषता बताते हैं 'संवृतत्वेन हेतुना' यह ठीक है कि जहाँ जहाँ अन्दर होना हो, वहाँ वहाँ असत्यता न हो, लेकिन जहाँ संवृत अर्थात् जगह थोड़ी हो, सकरी जगह हो, और चीज़ बड़ी दीखे, वहाँ वहाँ अंतःस्थ चीज़ झूठी होती है। घड़े में पानी झूठा नहीं, यह बात तो हमने तुम्हारी मान ली, लेकिन घड़े के पानी में जो पहाड़ दीखता है वह झूठ है क्योंकि घड़ा ९ इंच के वृत्त का और पहाड़ हज़ारों फुट लम्बा चौड़ा है! इसलिये नौ इंच के अन्दर यदि हजारों फुट वाली चीज़ है तो झूठी है। अतः अन्दर न हो सकने वाली जो जो चीज़ अन्दर होती है वह झूठी होती है। यदि तुमको अल्मारी में किताब दीखती है तो ठीक है लेकिन अल्मारी में नदी दीख जाये तो झूठी है। इसी प्रकार स्वप्न के अंदर पदार्थ दीखते हैं, बड़े बड़े हाथी, घोड़े दीखते हैं। देह के अन्दर हिता नाम की नाड़ी में स्वप्न दीखता है। वहाँ जगह कहाँ है जो पर्वत आदि घुस जायें? अपना शरीर ही उसमें नहीं घुस सकता। शरीर के अन्दर पर्वत आदियों का अभाव होने से वे दीखते हैं तो झूठे हैं।

यह हेतु अच्छी तरह याद रखना। बहुत से लोगों को ध्यान में न जाने क्या क्या चीज़ें दीखती हैं! लोग खुश भी होते हैं कि 'हमको यह दीख गया।' दूसरा कहता है कि 'हमें कुछ नहीं दीखा', वह उदास होता है। वहाँ जो दीखा वह झूठा दीखा। जितने मध्यकालीन संत हुए, वे अन्दर घुस घुस कर तरह तरह की चीज़ें देखते रहे। लेकिन वह सब मिथ्या है। यद्यपि द्वैत मिथ्या बताना है लेकिन उससे पहले यह बताना चाह रहे हैं कि जो मनीषियों (प्रमाणकुशलों) के द्वारा निश्चित असत्य पदार्थ हैं उनका विचार कर लो। यदि निश्चित स्थल के अन्दर तुम्हे युक्ति समझ आ जायेगी तो उस युक्ति का अतिदेश अन्यत्र किया जा सकता है। यह सारे प्रकरण का तात्पर्य है।

एक शंका होती है कि फिर पहले युक्ति से ही समझा देते। समाधान है कि आगम हमेशा अनुग्राह्य होता है और अनुमान हमेशा अनुग्राहक होता है। यह सब प्रमाणों के लिये याद रखना। पहले कोई नया ज्ञान आये तब आगे अनुमान चलता है। निराधार अनुमान कभी नहीं करना चाहिये। प्रायः आजकल के लोग अनुग्राह्य और अनुग्राहक प्रमाणों का भेद नहीं समझते। बिना अनुग्राह्य प्रमाण के अनुमान करते हो तो उसे अंग्रेजी में guess कहते हैं। अर्थात् अन्दाज़ा लगाना। जैसे आजकल परीक्षा के पहले अनुमान

Scanned by CamScanner

चलता है कि इसमें अमुक अमुक सवाल आ सकते हैं। यह किस प्रमाण से जाना, कुछ पता नहीं। हमारे एक परिचित एस. पी. हैं। जब यहाँ नया नया कानून (मीसा) लागू हुआ जिसमें बहुतों को पकड़ लिया गया, तो हमने उनसे पूछा 'आजकल तो तुम्हारी बड़ी चाँदी होगी क्योंकि जो पैसा दे उसे छोड़ दो और दूसरों को पकड़ लो।' कहने लगे 'मैं बड़ा ईमानदार हूँ। मैं आँख बंद करके टैलीफोन की डायरैक्ट्री खोल कर अंगुली रख देता हूँ। जिसपर पड़ी उसी को पकड़ लेता हूँ। पैसा आदि कुछ नहीं खाता।' इसी प्रकार इम्तिहान वालों ने अंगुली रखकर निर्णय किया कि इस साल यह पर्चा आयेगा। कोई लिंग नहीं जिससे बैठकर अनुमान करें। अनुग्राह्य प्रमाणों के बिना जितने अनुमान होते हैं वे सब बेकार हो जाते हैं। आजकर अधिकतर लोग विचार करने में अनुमान और guess को अलग अलग नहीं कर पाते। अनुग्राह्य प्रमाण की उपस्थिति में अनुमान करो तो उसे अनुग्राहक प्रमाण कहते हैं, नहीं तो नहीं। इसलिये पहले अनुग्राह्य प्रमाण आयेगा। इसी दृष्टि से उसे प्रधान कहा जाता है।

जब आगम ने कह दिया 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' आगम के विचार से पता चला कि परमात्मा के जानने से द्वैत नहीं रह जाता, तब फिर आगे उसपर अनुग्राहक प्रमाण आया कि अगर शास्त्र ने यह कहा तो कैसे तर्कसंगत बन सकता है। अर्थात् आगे विचार प्रवृत्त हुआ कि यह चीज़े ठीक है या गलत है। अगर युक्ति का अनुग्रह उसे मिल गया तो ठीक है और यदि युक्ति का अनुग्रह नहीं मिला तो गलत है। यह वेदान्त की विशिष्ट मर्यादा है। हम निःसंकोच मानते हैं कि शास्त्र ही अन्तिम प्रमाण है, वह प्रबलतम है। साथ ही हमारा निश्चय है कि शास्त्र युक्तिविरुद्ध बात नहीं कहता, या हमारी युक्ति ग़लत होगी और या हमने जो अर्थ शास्त्र का समझा है वह ग़लत होगा। इसलिये पहले शास्त्रवचनों की ऊहापोह से शास्त्र का अर्थ निर्धारित कर फिर उसकी युक्तिसंगतता का विचार करते हैं। परीक्षित युक्ति से विरोध होगा तो हमें अन्य तात्पर्य निकालना पड़ेगा। यह पूर्व और उत्तर प्रकरण का सम्बन्ध समझ लो। पूर्व प्रकरण में आगम प्रमाण से जिन जिन बातों को कहा वे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विपरीत पड़ती हैं, इसलीये आगे विचार प्रवृत्त होता है कि शास्त्र का यही मतलब है या कुछ और मतलब है। शास्त्र का क्या तात्पर्य है, क्या नहीं है, यह आगे विचार होगा।

सत्य को जान लेने पर द्वैत नहीं रह जाता यह आगम प्रकरण में कहा था। 'एकमेवाऽद्वितीयम्' आदि श्रुतियाँ भी वही सिद्ध करती हैं। किन्तु जो यह बताया 'आगममात्रं तत्' वह बात केवल आगम मात्र थी। किन्तु केवल आगम ने ही कहा हो ऐसा नहीं 'तत्रोपपत्यापि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते।' 'तत्र' अर्थात् अद्वैत की सत्यता के लिये द्वैत का जो वैतथ्य अर्थात् असत्यता है उसके बारे में। युक्ति के द्वारा भी निश्चय कराया जा सकता है कि यह संसार असत्य है। इस

Scanned by CamScanner

बात को समझाने के लिये द्वितीय प्रकरण आरंभ करते हैं। 'वितथस्य भावो वैतथ्यम् असत्यत्वमित्यर्थः' वितथ के भाव को वैतथ्य कहते हैं। वितथ असत्य, अर्थात् जो चीज़ जैसी हो उससे उल्टी दीखे। जो चीज़ जैसी हो वैसी दीखे वह तथ्य हुई। इसलिये वैतथ्य का मतलब असत्यता है। असत्यता असत्य में रहेगी। यद्यपि केवल वितथ कह सकते थे तथापि वैतथ्य इसलिये कहा कि वह ख़ासियत मालूम पड़ जाये जो सब वितथों में रहती है तब वितथ को पहचानना सम्भव होगा।

असत्य सत्य में रहेगा। गति गतिहीन में रहती है। चलती हुई रेल, नहीं चलने वाली धरती पर रहेगी। चलने वाली धरती पर चलने वाली रेल नहीं हो सकती। जिस चीज़ को स्थिर मानोगे तदपेक्षया ही दूसरे में गति कह सकते हो। चीज़ स्थिर हो चाहे न हो, बिना उसे स्थिर माने हुए दूसरे की गति नहीं कह सकते। जैसे तुम्हारी मोटर २५ मील प्रति घंटा की रफ्तार से चल रही है तो मान्यता है कि पृथ्वी स्थिर है। पृथ्वी स्वयं भी पचास हचार मील की गति से चल रही है। यदि उसकी गति से मिलाओगे तो तुम्हारी मोटर की रफ्तार पचास हज़ार पच्चीस मील की हो गई। लेकिन पचास हज़ार पच्चीस मील की गति नक्षत्र की दृष्टि से लेनी पड़ेगी। पृथ्वी को देखोगे तो नहीं मिलेगी। इसी को सापेक्षवाद (relativism) कहते हैं। जब तक किसी निर्गति चीज़ को नहीं लोगे तब तक गतिमत्ता का पता नहीं चल सकता। इसी प्रकार किसी चीज़ को असत्य तब कहो जब तुम पहले किसी चीज़ को सत्य मान लो। जिस चीज़ को सत्य मानोगे तदपेक्षया दूसरी चीज़ असत्य है। असत्य को सत्य मानोगे तो तदपेक्षया कोई दूसरी चीज़ सत्य हो जायेगी। जैसे रस्सी को सत्य मानोगे तो तदपेक्षया सर्प असत्य हुआ। जब तक रस्सी की अपेक्षा से नहीं कहोगे तब तक सर्प को असत्य कैसे कह रहे हो? एक क्षण सर्प दीखा, रस्सी एक साल तक दीखती है, इसीलिये सर्प झूठा है। बाकी तो, जैसे रस्सी ऐसे ही सर्प दीख रहा है। आगे मिट्टी की दृष्टि से देखोगे तो रस्सी असत्य हुई; क्योंकि मिट्टी मेरे बाप-दादों के समय में भी थी और मेरे बेटे पोतों के समय में भी रहेगी। रस्सी तो मैं बनाता हूँ और थोड़े ही दिनों में गल कर समाप्त हो जाती है। मिट्टी की अपेक्षा रस्सी असत्य हुई, रस्सी की अपेक्षा सर्प असत्य है। सर्प की अपेक्षा उसके माँ बाप असत्य हैं। लगता है इतने बड़े सर्प के माँ बाप बहुत बड़े होंगे। वे सर्प की अपेक्षा असत् हैं। आगे उन माँ बाप के रंगों की कल्पना कर लेते हैं। वह रंग सर्प सर्पिणी की अपेक्षा मिथ्या है। मिट्टी भी अज्ञान की अपेक्षा मिथ्या और अज्ञान आत्मा की अपेक्षा मिथ्या है। असत्य ऐसी चीज़ नहीं है कि सत्य के सापेक्ष न हो। इसलिये असत्यता तक जाना पड़ा। केवल असत्य कहोगे तो किसी सत्य की अपेक्षा होगा। जब असत्यता कह दी तब जिस किसी की भी अपेक्षा से हो, सभी असत्यों का संग्रह हो गया।

यही वेदांत और बौद्ध के तर्क में फ़र्क है। दोनों के तर्क अलग-अलग हैं। ऐसा नहीं समझ लेना कि संसार के सभी शास्त्रों की युक्तियों एक जैसी होती हैं। पाश्चात्य

Scanned by CamScanner

दार्शनिकों के तर्क अलग ढंग से चलते हैं। हेगेल और अरिस्टोटल के तर्क अलग अलग हैं। हेगेल के सिद्धान्त का लक्षण उसके तर्क से समझना पड़ता है। इसलिये मार्क्सिस्ट से बात करते हुए हम लोग उसी के तर्क का प्रयोग कर लेंगे। उसका तर्क dialectic (डाय्लेक्टिक) है। उसको काटने के लिये माण्डूक्य का तर्क चाहिये क्योंकि यहाँ भी वही प्रक्रिया है। डाय्लेक्टिक का मतलब होता है दो पक्षों को आपस में भिड़ाना। यहाँ इसके अनुसार हम लोग चलते हैं। पहले ही पक्ष साध्य इत्यादि बनाना इस प्रक्रिया का दृष्टिकोण नहीं क्योंकि उसमें बहुत से दोष आते हैं। ऐसे ही बौद्ध बिना किसी सत्य को माने संसार को असत्य कहना चाहता है। वह उसका तर्क है। हमारा शास्त्र और अनुभूति के अनुसार चलने वाला तर्क है अतः हम सत्य की अपेक्षा से असत्य की सिद्धि करते हैं। यह हमारा तर्क है।

यह कहने पर कि पदार्थ असत्य हैं, तुरंत प्रश्न होगा 'किस अपेक्षा से?' इसलिये कह दिया कि आत्मा की अपेक्षा असत्य हैं। आत्मा की अपेक्षा से स्वप्न की असत्यता होने पर भी जाग्रत् पदार्थों में क्या आया? कुछ नहीं। अब यदि असत्यता को पकड़ते हो तो जाति में पहुँच गये। इसलिये जब असत्यता में पहुँचोगे तब तो साँप के माता के रंग में भी असत्यता है क्योंकि वे असत्य हैं, सर्प-सर्पिणी में भी असत्यता है, और जो तुमको रज्जुसर्प दीखा उसमें भी असत्यता है, रज्जु में, मिट्टी में, अज्ञान में भी असत्यता है। जब असत्यत्व जाति को पकड़ोगे तब तो प्रातिभासिक, व्यावहारिक सभी असत्यतायें पकड़ में आ जायेंगी। यदि असत्य को पकड़ोगे तो किसी सत्य की अपेक्षा ही उसे असत्य कह सकते हैं।

यहाँ प्रायः लोग गलती कर जाते हैं। कहते हैं कि संसार असत्य है। याद यह रखना है कि सत्य ब्रह्म की अपेक्षा संसार असत्य है, घट पट आदि की अपेक्षा से संसार असत्य नहीं है। नहीं तो बनियों का वेदांत आ जाता है! यह सारा संसार झूठा है, इसमें यदि हमने झूठे टैक्स का रिटर्न दे दिया तो झूठ में झूठ होने से क्या फरक हुआ? टैक्स का रिटर्न पृथ्वी, जल, आदि की अपेक्षा झूठा है और पृथ्वी जल आदि ब्रह्म की अपेक्षा से झूठे हैं। यह न समझकर लोग प्रायः घपला कर जाते हैं। वैतथ्य और वितथ का यह फ़र्क नहीं समझते। असत्यता तो तुम्हारे झूठ में भी है और असत्यता जगत् के पदार्थों में भी है। तुमने एक लाख कमाया उसमें भी असत्यता और तीस हज़ार का रिटर्न भरा तो उसमें भी असत्यता है। लेकिन दोनों को एक जैसा असत्य नहीं कह सकते हो क्योंकि असत्य में हमेशा कहना पड़ेगा 'किसकी अपेक्षा से?'। इस दृष्टि से असत्यता और असत्य अलग हैं। असत्यता सब जगह रह सकती है लेकिन असत्य कहोगे तब किसी न किसी सत्य को कहना पड़ेगा, तदपेक्षया असत्य बनेगा, नहीं तो नहीं बनेगा। जैसे घटत्व नित्य और घट अनित्य है। घटत्व तो सब घटों में रहेगा। जो घट आज से पहले फूट चुके हैं और जो बाद में होंगे, उनमें भी घटत्व रहेगा। इसी प्रकार वैतथ्य तो पदार्थमात्र में रहेगा लेकिन वे वितथ हैं, यह नहीं कह सकते।

Scanned by CamScanner

तब अब प्रश्न आया 'कस्य?' किसका विषय चला रहे हो? इस समय किस असत्य को लेकर विचार करोगे? 'सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्' मूल के पद 'सर्वभावानाम्' का अर्थ कर दिया। चाहे बाहर हों चाहे अंदर, स्वप्न में जो पदार्थ उपलब्ध होते हैं उन सब में असत्यता है। जाग्रत् के पदार्थों का विचार आगे करेंगे। 'आहुः कथयन्ति, मनीषिणः प्रमाणकुशलाः'।

'वैतथ्ये हेतुमाह अन्तःस्थानात्; अंतः शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम्।' वैतथ्य में हेतु बता दिया 'अंतःस्थानात्'। शरीर के मध्य में स्थान हो जिसका वह अंतःस्थान हो गया। ऐसे होने के कारण स्वाप्न पदार्थ वितथ हैं। 'तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिःशरीरात्'। शरीर के बीच में ही हस्ति इत्यादि पदार्थ मिलते हैं, शरीर से बाहर नहीं मिलते। 'तस्मात् ते वितथा भवितुमर्हन्ति' चूँकि वे शरीर के अन्दर मिलते हैं इसलिये उनका वितथ अर्थात् असत्य होना योग्य है। 'नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशंक्याह' किसी ने शंका की कि आले के अन्दर या आजकल अल्मारी के अन्दर जो घट आदि मिलते हैं वे सच्चे होते हैं, आले में रखे हुए घड़े अंदर होने पर भी सच्चे होते हैं। इसलिये यह हेतु अनैकांतिक अर्थात् व्यभिचारी हो गया। ऐसी शंका होने पर कहते हैं 'संवृतत्वेन हेतुनेति; अंतः संवृतस्थानादित्यर्थः' अंतः का मतलब है जो सिकुड़ा स्थान हो। 'न ह्यन्तः संवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीनां सम्भवोस्ति, न हि देहे पर्वतोस्ति'। अंदर में जो संवृत अर्थात् छोटा सा स्थान है उसमें पर्वत हस्ति आदि बहुत बड़े पदार्थ नहीं हैं। अतः शरीर के अन्दर जाकर, उन्हे नहीं देख सकते।।१।।

●

'स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तः संवृतस्थानमित्येतदसिद्धम्'। कोई शंका करता है कि तुमने कहा स्वप्न के दृश्य असत्य हैं क्योंकि अंदर सिकुड़ा स्थान है और वहाँ वे हो नहीं सकते। किन्तु इसे उनकी असत्यता में हेतु नहीं मान सकते। 'यस्मात् प्राच्येषु सुप्त उदक्षु स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यत।' क्योंकि स्वप्नद्रष्टा तो एक जगह से दूसरी जगह चला जाता है, अर्थात् स्वप्न देखने वाला कहीं और जाकर देख लेता है। ऐसा बहुत से लोग मानते हैं। संसार में अनेक वादी ऐसा मानते हैं कि स्वप्न में जीव जाकर देखता है। लोग कहते हैं कि 'हमारे चाचा जी मरे थे तो हमें दो दिन पहले मरे दीख गये थे।' एक और आश्चर्य यह है कि मरा दीख गया और जिंदा रह जाये तो कहते हैं कि 'स्वप्न में जो मरा दीखता है उसकी उम्र बड़ी होती है।' तब यह स्वप्न का फल मानते हैं। दोनों तरफ गाड़ी चलती रहती है! प्राची दिशा में सोया हुआ, कलकत्ते में सोया हुआ, स्वप्न देखने के लिये उत्तर में, काश्मीर में, चला जाता है। वहाँ अमरनाथ देखता है। 'इव दृश्यते' ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ गया। 'एतद् आशङ्क्याह' यह शंका हो सकती है यह मानकर आगे कहते हैं—

Scanned by CamScanner

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः तस्मिन् देशे न विद्यते।।२।।

पर्याप्त काल न होने से न स्वाप्न क्रियायें सच्ची हो सकती हैं और न उन-उन देशों में आदमी पहुँच सकता है। सपने में स्वयं को चाहे जहाँ देखो, जगते हो तो वहीं अपने को पाते हो जहाँ सोये थे। अतः स्वप्न मिथ्या ही हो सकता है। पहले तो यह दोष दिया कि देह के अन्दर इतना देश ही नहीं है जिसके अन्दर हमें पर्वत, हस्ति आदि दीखें। अब दूसरा दोष काल का देते हैं: काल छोटा है, उसमें सचमुच वह सब दीख सके यह संभव नहीं। जैसे स्वप्न में तुम हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में चार घण्टे तक नहाते रहे, और उठे तो देखा कि घड़ी में पाँच मिनट ही हुए हैं। पाँच मिनटों में तुम यहाँ से हरिद्वार पहुँच गये, चार घण्टे तैर लिये और वापिस भी आ गये, यह नहीं बनता। इसलिये उसे वितथ मानना पड़ता है। 'मनीषिणः आहुः' यह सम्बन्ध पहले से समझ लेना। अभी केवल वह कह रहे हैं जिस विषय में सबका ऐकमत्य है। जैसे देश जहाँ पर्याप्त नहीं वहाँ काम नहीं हो सकता, वैसे ही जहाँ काल पर्याप्त नहीं वहाँ भी काम नहीं हो सकता है। इसलिये 'अदीर्घत्वाच्च कालस्य' यह भी एक हेतु हो गया 'देशान् गत्वा न पश्यति' इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उस उस देश में जाकर उसने कुछ नहीं देखा क्योंकि इतनी जल्दी जाकर वापिस नहीं आ सकता। जो क्रियायें करते हो उनके योग्य काल की अदीर्घता, और इतनी जल्दी उस देश में नही जा सकते यह भी अदीर्घता। प्राची देश कलकत्ते के अन्दर सोता है और उत्तर दिशा में स्वप्न को देखता रहता है।

इतना ही नहीं, कहते हैं 'प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः' जब सोकर के उठता है तो अपने को कलकत्ते में ही पाता है। कहो कि तेज गति से चला जाता होगा, तो ऐसा भी नहीं है। कोई आदमी हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में नहा रहा है और उसी समय झट उसे जगा दो तो वह यहाँ जगता है, ब्रह्मकुण्ड में नहीं। उठ कर कहता है कि 'मैं गोता लगाने जा रहा था तुमने उठा दिया।' यदि यह भी मानो कि तेज़ स्पीड से चला जाता है तो भी उस देश में नही यहीं उठता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि यह वहाँ नहीं गया। लौटने में भी जल्दी हो सकती है पर अनुभव तो यह होता है कि 'मैं वहीं था और यहाँ उठा' कभी-कभी तो उठकर मिनट-दो मिनट लग जाते हैं यह समझने में कि हम कहाँ हैं। अतः जाना तो असंभव है। अदीर्घकाल और देशान्तरगमन की असम्भवता, इन दो हेतुओं से मानना पड़ेगा कि स्वप्न के अन्दर बाह्य घटादि और आध्यात्मिक सुखादि पदार्थ दोनों ही मिथ्या हैं।

'न देहाद् बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति' देह से बाहर किसी देशांतर में नहीं जाता। कहीं हिमालय आदि में जाकर देखता हो ऐसी बात नहीं है। स्वप्नद्रष्टा बाहर जाकर नहीं देखता। इसमें कारण क्या है? 'यस्मात् सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजनशतान्तरिते मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते।' मूल के 'अदीर्घत्वाच्च कालस्य' का अर्थ

Scanned by CamScanner

कर दिया कि सोते ही अर्थात् जैसे ही आँख लगी इतने में ही, देहदेश आबू से सौ योजन दूर बनारस पहुँच जाता है। वैसे आबू से बनारस जाओ तो एक महीना लगेगा। यदि कहो कि स्वप्न में मोटर से चला जाता है तो 'किस कम्पनी की मोटर से गया' आदि प्रश्न होंगे। इसलिये पैदल ही जा सकता है! सोते ही, स्वप्न देखते ही वहाँ प्रतीत होता है। 'पंश्यन् इव' देखते हुए की तरह। 'न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य च दीर्घः कालोस्ति'। दूसरी बात देखो कि उसे वहीं फट जगा दो तो आने में भी तो कुछ काल लगना चाहिए स्वप्न में तो यह कह सकते हो कि सोने के बाद पाँच सात सैकेण्ड लगे होंगे, लेकिन उठने में पाँच सात सैकेण्ड नहीं लगते, एक सैकेण्ड की भी देर नहीं होती। इतनी जल्दी वहाँ से वापस कैसे आयेगा? पहुँचने का काल तेज़ हो भी तो वापसी का काल कैसे बनाओगे? इसलिये आने के योग्य काल भी वहाँ नहीं मिलता। 'अतः अदीर्घत्वाच्च कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति।' फलतः स्वप्न सत्य नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्न द्रष्टा देशान्तर को नहीं जाता है।

यही स्पष्ट करते हुए और भी हेतु देते हैं। 'प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते।' स्वप्न में बनारस गये, महाराज जी से मिल आये, बड़े अच्छे दर्शन हुए। वहाँ चिट्ठी लिखते हैं कि 'हमने आपके दर्शन किये थे, आपने हमें सौंफ दी थी, सौंफ कम हुई या नहीं?' वे कहते हैं कि 'आये ही नहीं थे।' जो साधारण जगे हुए लोग हैं वे कहते हैं 'स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते' स्वप्नदृक् स्वप्नदर्शन देश में मौजूद नहीं था। यह भी एक हेतु हो गया। स्पष्ट करने के लिये कहा कि जितने भी स्वप्नद्रष्टा हैं वे देशान्तर में स्वप्न देखते हुए कभी भी यह नहीं समझते कि दूसरों ने मुझे देखा। जो कहता है कि 'चाचा जी को मरे हुए देखा' वह कहे कि 'मैंने उन्हे उनके घर जाकर मरे देखा', तो उसकी घरवाली नहीं मानती क्योंकि वह देख रही थी कि वह वहीं पड़ा सो रहा था!

'यदि च स्वप्ने देशांतरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत, न चैतदस्ति।' कोई कहता है कि वे जाते तो हैं लेकिन शरीर सूक्ष्म होने से दूसरों को नहीं दीखता होगा। वह वहाँ पहुँच जाता है। यदि ऐसा हो तो जिस देश में स्वप्न देख रहा है उसे वहीं जगना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। 'रात्रौ सुप्तोऽहनीव भावान् पश्यति। बहुभिः संगतो भवति, यैश्च संगतस्तैर्गृह्येत। न च गृह्यते' भाष्यकार ऊपर से एक और हेतु देते हैं जो मूलकार से आगे का हेतु है। कोई आदमी रात में दस बजे रोटी खाकर सोने जाता है और स्वप्न में देखता है कि बनारस में धूप पड़ रही है, दिन का समय है। लेकिन यहाँ और बनारस में बारह घण्टे का फ़र्क नहीं पड़ सकता। उल्टा भी समझ लो; कई बार दिन में ही बढ़िया माल मिले तो नींद आ जाती है। देखते हैं कि काशी के अन्दर रात है। डीलक्स से रात को पहुँचे, टैक्सी नहीं मिल रही है। भागवतानन्द को तार दिया था, वह स्टेशन पर क्यों नहीं आया? गुस्सा आ रहा है। इस प्रकार से वहाँ दीखता

Scanned by CamScanner

है। यह भी उचित कालशून्यता है। किंच वहाँ आँखें बन्द करके देखता रहता है! जो आदमी कभी चश्मे के बिना मील भर भी सड़क पर नहीं चलता वह कहता है कि 'देख आया।' चश्मा तो यहाँ डिब्बे में बन्द था! कई बार ऐसा आनंद होता है कि चश्मा टूट जाने पर दिन भर नहीं दीखता और रात में नींद आने पर साफ दीखता रहता है।

ये सब हेतु जब कहते हैं तो तुम लोगों को लगता होगा कि सीधी सादी बातें हैं। लेकिन जैसा पहले बताया था, सीधी जगह चीज़ को बैठाओगे और वहाँ निस्संदिग्ध हो जाओगे तो टेढ़ी जगह चीज़ ठीक दीखेगी। प्रायः वेदांत समझने में कठिनाई इसलिये होती है कि सीधी जगह कह देते हो 'यह सीधी सी बात है', और जब अतिदेश करके दूसरी जगह बतायेंगे तो कहोगे 'गड़बड़ हो गया, बात बैठी नहीं।' आँख बंद करके चीज़ें दीखती हैं तो वे असत्य हुईं। अब विचार करो कि मर कर जाते हो तो आँखें बन्द करके जाते हो, अतः आगे की चीज़ें असत्य ही दीखेंगी! अब अगला प्रश्न है कि जहाँ से मरकर आये, आँखें बंद करके आये थे, इसलिये यहाँ जितना दीख रहा है वह भी असत्य है।

इसी प्रकार लेटे हुए ही सब जगह घूम आते हैं। अकेले घोर जंगल में सोये हुए हो, कोई सहायता नहीं। स्वप्न में देखते हैं कि पचास आदमियों की मण्डली के साथ जा रहे हैं। जिनके साथ गये, जब उनसे पूछते हैं तो वे कहते हैं कि हमको दीखा ही नहीं। 'गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः।' यदि उन्होंने देखा होता तो 'तुमको हम वहाँ मिले थे' ऐसा कहते। ऐसा कोई नहीं कहता है 'न चैतदस्ति। तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने' इसलिये उचित काल के न होने के कारण स्वप्न दर्शन को मिथ्या मानना पड़ता है। जिन्हे तुम साक्षी बनाना चाहते हो वे कोई भी नहीं कहते कि 'हाँ तुम आये थे, हमसे मिले थे।' अन्य किसी प्रमाण से तुम्हारा गमन प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। इसलिये इन सब कारणों से स्वप्न दर्शन को मिथ्या मानना पड़ेगा।।२।।

●

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्।।३।।

और भी हेतु देते हैं कि स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं; बृहदारण्यक श्रुति कहती है 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते,' स्वप्न काल में न रथ होता है, न रथयोग अर्थात् घोड़े होते हैं और न रास्ता होता है। स्वप्न के अन्दर दृश्य रथादियों का अभाव श्रुतिने बताया। वहाँ तदनुकूल योग्य देश काल का अभाव है यह न्याय भी बता दिया। उस न्याय से यह दृढ हो गया।

Scanned by CamScanner

श्रुतिमें प्रकरण तो स्वयंज्योतिष्ट्व का है, उस प्रकरण के अन्दर स्वप्न के मिथ्यात्व को बताया है। इसलिये केवल उतने श्रुतिवाक्य से स्वप्न मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा। यह बात ठीक से समझना। जहाँ जिस चीज़ में तात्पर्य नहीं होता है वहाँ से वह चीज सीधी सिद्ध नहीं हो सकती है। वहाँ तात्पर्य आत्मा की स्वयंज्योतिता बताने में है इसलिये उस प्रसंग में आया हुआ स्वप्न-मिथ्यात्व स्वतः प्रमाणित नहीं हुआ। लेकिन जब न्याय का अनुग्रह मिल गया तो उसमें प्रामाणिकता आ गई। यह भूल प्रायः वेद आदि का अर्थ करने में लोग करते हैं। कहीं एक वाक्य मिला, उछल जाते हैं। प्रधान अर्थ वही होगा जिसमें तात्पर्य है। यदि कोई दूसरी बात कही है और तदनुकूल युक्ति मिल गई तो ठीक है, नहीं तो वह वाक्य उस बात को प्रमाणित नहीं करता। रथ आदियों का जो अभाव प्रकरणांतर में श्रुति ने कहा है वह न्यायपूर्वक सिद्ध होने से ठीक है।

ब्रह्मवेत्ता लोग भी कहते हैं कि स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं। यह जो न्यायपूर्वक श्रुति है इसके बल से स्वप्न के अन्दर असत्यता सिद्ध हो गई। यह श्रुति अनुवादिनी है। कहीं स्मृति का अनुवाद श्रुति, कहीं श्रुति का अनुवाद स्मृति, कहीं श्रुति का अनुवाद युक्ति, कहीं युक्ति का अनुवाद श्रुति करती है। यह सब समझना चाहिये। युक्ति का अनुवाद करने वाली श्रुति से वैतथ्य की प्राप्ति स्वप्न में हो गई। इसलिये श्रुति ने स्वप्नमिथ्यात्व प्रकाशित किया, यह ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं।

'इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथाः' अनुमान की दृष्टि से समझ लो। स्वप्न दृश्य पक्ष, वितथात्व साध्य, और हेतु है 'अभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ 'न तत्र रथाः' इत्यत्र'। श्रुति के अन्दर स्वप्न काल में रथादियों का अभाव कहा है इसलिये स्वप्न काल में पदार्थ दीखते हैं और श्रुति कहती है कि नहीं हैं। एक प्रमाण से यानी प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वप्न के पदार्थ दीख रहे हैं, दूसरा आगम प्रमाण, श्रुति प्रमाण कह रहा है कि वहाँ रथ आदि नहीं हैं। इसलिये दो प्रमाणों का विरोध हुआ। जहाँ प्रमाणान्तरविसंवाद होता है वहाँ एक में असत्यता होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थ दीखा, आगम प्रमाण कहता है कि स्वप्न में रथ आदि पदार्थ नहीं हैं। इसको प्रमाणान्तर विसंवाद कहते हैं। वेदांत परिभाषा में प्रामाण्य मीमांसा के अंत में बताया कि जहाँ प्रमाण का विसंवाद होता है वहाँ कहीं न कहीं असत्यता होती है। जहाँ प्रमाणांतर-संवाद होता है वहाँ तो सत्यता होती है। रस्सी में साँप को तुम क्यों असत्य मानते हो? एक मिनट पहले साँप दीखा, एक मिनट बाद रस्सी दीखी तो साँप को तुम असत्य क्यों मानते हो? एक मिनट पहले बिशनदास दीखा और एक मिनट बाद साधन स्वरूप दीखा तो मालूम पड़ा कि बिशनदास चला गया और साधनस्वरूप आ गया। यह तो नहीं कि बिशनदास था ही नहीं। ऐसे ही एक मिनट पहले साँप दीखा और रोशनी आने पर रस्सी दीखी तो इन दो चीज़ों में तुमने कैसे निर्णय किया कि साँप असत्य है? प्रमाणमीमांसा में बताया कि

Scanned by CamScanner

रस्सी को और किसने देखा, रस्सी कैसे पड़ी हुई है, इत्यादि रस्सी के विषय में अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों का संवाद है। कोई कहता है 'मैं रस्सी लाया', प्रमाणांतर का संवाद हुआ। कोई कहता है 'यह रस्सी कल सवेरे भी मैंने देखी थी और यहाँ से कोई लेकर नहीं गया, ताला बन्द था।' यह अनुमान प्रमाण हो गया। अर्थापत्ति प्रमाण हुआ कि यदि रस्सी यहाँ से गई नहीं तो रस्सी यहाँ जरूर होनी चाहिये। प्रमाणान्तर संवाद होने से रस्सी को सच मानेंगे। सर्प के विषय में 'मैं सर्प लाया, मैंने सर्प को पैदा होते देखा, मैंने सर्प को इधर से घुसते देखा, कल भी इस कमरे में सर्प था' इत्यादि कोई कहता नहीं इसलिये रस्सी को सच्चा माना और सर्प को झूठा माना। नियम हुआ कि जहाँ जहाँ प्रमाणांतर-विसंवाद है वहाँ वहाँ पदार्थ असत्य होता है। श्रुति कहती है स्वप्न के अन्दर पदार्थ नहीं हैं। 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः' वहाँ रथादि पदार्थ नहीं हैं यह श्रुति ने कहा। हमको वहाँ पदार्थ दीखा। इसलिये प्रमाणांतर-विसंवाद से पदार्थ असत्य सिद्ध हुआ, वितथ सिद्ध हुआ।

यह याद रखना; लोग कहते हैं 'पदार्थ दीखता है, हम कैसे झूठा मानें?' यदि प्रमाणांतरविसंवाद न होता तब सत्य सिद्ध होता। तुमको इन्द्रियों से दीखा। श्रुति कहती है कि नहीं है । यह प्रमाणान्तर-विसंवाद हो गया। नियम याद रखना कि जहाँ जहाँ प्रमाणान्तर-विसंवाद होता है वहाँ वहाँ असत्यता होती है। यह न्यायपूर्वक अर्थात् युक्तितः सिद्ध हुआ।

अब एक कदम आगे चलो। जहाँ ज्ञेय नहीं होता है वहाँ ज्ञान भी नहीं हो सकता। घट होगा तब घटज्ञान होगा। इसलिये यदि हम किसी को कह दें कि यहाँ घट नहीं है तो यह भी मानना पड़ेगा कि घटज्ञान, घटप्रत्यक्ष, भी नहीं है। यहाँ पर सर्प नहीं था तो अर्थसिद्ध हो जाता है कि यहाँ पर सर्प का ज्ञान भी नहीं था। श्रुति ने जब कहा कि वहाँ रथ और रथयोग नहीं है तो मतलब हुआ कि वहाँ रथ और रथयोग का ज्ञान भी नहीं है। कोई कहेगा कि यह बात गौडपादाचार्यों ने नहीं कही। कारिका में अभाव के आगे चकार पड़ा हुआ है। 'रथादियों का अभाव और', 'और' का मतलब है कि रथ आदियों के ज्ञान का अभाव। 'ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावाद् अर्थाद् ज्ञानस्यापि श्रुतमसत्त्वमिति वक्तुं च-शब्दः' यह टीकाकारने बताया है। जैसे किसी ने कहा 'अपनी पत्नी को भेज दूँगा' तो उससे कहा 'तुम और आ जाना।' यह 'और' संग्राहक हुआ। इसी प्रकार भगवान् गौडपादाचार्य ने चकार से रथ आदियों के ज्ञान के अभाव को बता दिया।

इसी से आगे जाग्रत् में ले जाना है। यहाँ तो साधारण वादी की दृष्टि से कह रहे हैं कि घट और घट का ज्ञान दोनों नहीं हैं। बौद्ध घटाभाव मानकर घटज्ञान को सच्चा मानते हैं। नैयायिक घट और घटज्ञान दोनों को मानता है। बौद्ध तदपेक्षया अच्छा है क्योंकि घट को नहीं मानता; लेकिन घटज्ञान को फिर भी मानता है। वेदांती कहता है कि जब

Scanned by CamScanner

ज्ञेय नहीं तो ज्ञान कहाँ से होगा? इसलिये जिस समय तुमको जगत् का ज्ञान हो रहा है उस समय में न जगत् है और न जगत् का ज्ञान है। आदमी कहता है कि 'यह तो समझ गये कि संसार नहीं है, लेकिन दीख तो रहा है।' इसलिये कहा कि न संसार है और न दीख रहा है। संसार नहीं है कह रहे हो और फिर कह रहे हो कि दीख रहा है । ऐसा क्यों? अपने आपको धोखा देने के लिये और दूसरे को धोखा देने के लिये ऐसा कहते हैं! प्रातिभासिक तो है। प्रातिभासिक है तो फिर है कह दिया। जितना जितना मनुष्य संसार को असत्य सिद्ध करता है, उतना ही हृदय में वह उसे सत्य समझता है। इसलिये विचारशील जानता है कि प्रकाश के वक्षःस्थल पर प्रकाश खेल रहा है। प्रकाश के वक्षःस्थल पर अंधकार नहीं खेल सकता।

'देहांतःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः'। देह के अन्दर स्थान बहुत छोटा सा है। 'आदि' से योग्य काल का अभाव, दूसरे आदमियों की स्मृति का अभाव, योग्य देश का अभाव, संवादी प्रमाणों का अभाव; पहले कहे हुए सभी समझ लेना। उससे जिस वैतथ्य की प्राप्ति हुई थी उसी का इस श्रुति ने अनुवाद कर दिया। एक की कही बात दूसरा कहे, वह अनुवाद है। जो केवल शास्त्रसे पता चले वह पुरोवाद और जिसका पता अन्यतः होवे तो उसे बताने वाला शास्त्रवाक्य अनुवाद। तर्क से जगत् का वैतथ्य पता लग जाता है अतः उसे शास्त्र बताता है तो अनुवाद है। आधुनिक लोग इसका अर्थ यह लगाना चाहते हैं कि श्रुति बादमें बनी। अनुवादिनी श्रुति का मतलब बाद और पहले का नहीं है। जैसे जब श्रुति कहती है 'दध्ना जुहोति', 'अग्निहोत्र में दही की आहुति दो' तो यहाँ दही का अनुवाद है। आर्यसमाजी कई बार इसे लेकर झगड़ा करते हैं क्योंकि वे इस विषय को समझते नहीं हैं। यहाँ दही का तो अनुवाद है क्योंकि दही प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य है। दीखता है इसलिये दही श्रुति के द्वारा प्रतिपाद्य विषय नहीं हुआ। लेकिन आहुति-विशिष्ट दधि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात नहीं है। दही तो प्रमाणांतर से पता है। इसलिये इसमें 'दध्ना' अनुवादक और 'जुहोति' विधायक है। आहुति-विशिष्ट दही श्रुति का तात्पर्य हुआ। इसका मतलब यह नहीं कि पहले दही जमना शुरु हुआ और उसके बाद श्रुति बननी शुरू हुई।

जहाँ किसी अन्य प्रमाण से ज्ञान की संभावना हो, वह अनुवादक वाक्य होता है। यदि कोई चीज प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात हो सकती है तो उस बात को कहने वाला श्रौतवाक्य अनुवादक वाक्य है। जिसका किसी प्रमाणान्तर से ज्ञान नहीं हो सकता है उसे बताने वाला वाक्य अनुवादक वाक्य नहीं, वह श्रौत वाक्य है। जैसे पहले कल्प में दही था वैसे ही अब भी होगा। इसलिये जब अनुवादक वाक्य कहते हैं तो यह नहीं कि पहले स्मृतियाँ आदि बनी तब श्रुति ने लिखा। जगत् के वैतथ्य (असत्यता) का ज्ञान योग्य देश काल आदि के अभाव से स्वप्न काल के अन्दर हो गया। स्वप्न के पदार्थ असत्य

Scanned by CamScanner

हैं, योग्य देश काल के विचार से यह ज्ञान होता है। इसमें श्रुति की ज़रूरत नहीं पड़ी। अब जब श्रुति कहती है कि वहाँ पदार्थ नहीं हैं, तो वह श्रुति अनुवादक हो गई। इसलिये कह दिया 'तदनुवादिन्या श्रुत्या'।

'स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया'। जब यह बात अनुमान प्रमाण से पता लगती है तो श्रुति ने कहा ही क्यों? यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ज्ञात बात श्रुति कहती है तो वह श्रुति अनर्थक हो जायेगी। श्रुति ने क्यों कहा? श्रुति ने असत्य बताने के लिये नहीं कहा। स्वप्न के अन्दर आत्मा ही एकमात्र स्वयंज्योति है, यह कहना था और यह बात अनुमान प्रमाण से पता नहीं लग सकती। अनुमान प्रमाण से इतना तो पता लगेगा कि स्वप्न असत्य था लेकिन उस स्वप्न को जानने का काम स्वयंज्योति स्वरूप से किया, यह पता नहीं लग सकता। इसलिये आत्मा के स्वयं-ज्योतिष्ट्व का प्रतिपादन करने की दृष्टि से जो प्रकरण चला उसमें न्यायसिद्ध स्वप्न की असत्यता का अनुवाद भी श्रुति ने कर दिया। 'प्रकाशितम्' अर्थात् प्रमाणान्तर संवाद बताना अनुवादी वाक्य का काम हो गया। यदि श्रुति ने स्वप्न की असत्यता न कही होती तो कोई कहता कि अनुमान से तो आपको स्वप्न की असत्यता सिद्ध हो गई लेकिन प्रत्यक्ष से वह सत्य लगता है और श्रुति उसके बारे में कुछ नहीं कहती है इसलिये सत्य मान लो। यह सम्भावना हो सकती है। चाहे स्वयंज्योतिष्ट्व-प्रतिपादक श्रुति ने कहा हो, लेकिन जब श्रुति ने इस बात को कहा तो प्रमाणांतर-संवाद हो गया क्योंकि अनुमान को श्रुति की अनुमति मिल गयी। श्रौतार्थापत्ति अनुमान केलिये अनुकूल तर्क हो गया। जो बात श्रुति ने कही वही प्रमाण से सिद्ध हुई तो झगड़ा नहीं रहा। साधारणतः जब विचार करते हैं तो अनुपलब्धि को तो प्रत्यक्ष के अंतर्गत मान लेना चाहिये। यहाँ खासकर तीन प्रमाणों से विचार करते चलेंगे। इसलिये प्रत्यक्ष के अन्दर तो प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि प्रमाण ले लेना।शब्द प्रमाण है ही। अनुमान के अन्तर्गत अर्थापत्ति और उपमान ले लेना। इस प्रकार छहों प्रमाणों का निवेश समझते जाना और तीन प्रमाणों से विचार होता जायेगा। सूक्ष्म विचार न करने तक तो लौकिक दृष्टि से यही होता है। किसी से पूछा 'घड़ा नहीं है कैसे पता?' कहता है 'आँख से देखा।' मूर्ख है, आँख से घड़ा दीख सकता है, अभाव का क्या रूप है जो आँख से दीख जायेगा? वस्तुतः तो प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि प्रमाण एक नहीं हो सकते। लेकिन बिना समझे कहता है 'मैंने खुद आँख से देखा।' इसलिये दोनों को एक कर दिया। ऐसे ही देवदत्त दिन में नहीं खाता है और मोटा होता जा रहा है तो रात में खाता है। कैसे पता? कहते हैं 'अनुमान हो रहा है।' है तो वह अर्थापत्ति ही। ऐसे ही उपमान ज्ञान को भी अनुमान कहते हैं। फोटो देखकर आदमी कहता है कि 'यह विद्यानंद बहुत मोटा है।' पूछते हैं 'उसे देखा?' 'नहीं, फोटो से अनुमान कर रहे हैं।' इसलिये साधारण व्यवहार में अर्थापात्ति, उपमान और अनुमान में फ़र्क नहीं करते हैं तथा प्रत्यक्ष और

Scanned by CamScanner

अनुपलब्धि में फ़र्क नहीं करते। जहाँ सूक्ष्म विवेचन करना जरूरी न हो वहाँ छह की अपेक्षा तीन से ही काम चल जाता है। श्रुति ने प्रकाशित कर दिया अर्थात् प्रमाणान्तर-विसंवाद का अनुवाद कर दिया। ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं।

जाग्रत् अवस्था के अन्दर आदित्य आदि प्रकाश हैं। मनुष्य को लगता है कि हम चन्द्रमा, अग्नि, सूर्य के प्रकाश से व्यवहार कर रहे हैं क्योंकि ये सब रोशनियाँ यहाँ दीख रही हैं। इसलिये यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यहाँ आत्मा के प्रकाश से व्यवहार हो रहा है। जाग्रत् अवस्था के अन्दर दूसरे प्रकाश भी मौजूद हैं अतः पता नहीं लग रहा है कि किस प्रकाश से व्यवहार हो रहा है। जैसे इस समय बाहर आकाश भी खुला है और अपनी बिजली भी जल रही है, तो अब जो यह किताब बाँच रहे हैं इसमें निर्णय नहीं हो सकता कि बिजली की रोशनी से या सूर्य की रोशनी से बाँच रहे हैं। लेकिन यदि सब दरवाजे बंद करके काले पर्दे खींच दो तो पता लगेगा कि यह किताब बिजली की रोशनी से बाँच रहे हैं। इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में सूर्य, चन्द्र आदि की रोशनियाँ हैं इसलिये निर्णय नहीं कर सकते कि यह व्यवहार सूर्य, चन्द्र आदि की रोशनी से कर रहे हैं या आत्मा की रोशनी से। स्वप्न काल में आँख, कान, नाक इत्यादि सारे पर्दे बंद कर दिये। अब वहाँ जो चीज़ दीख रही है वह इन रोशनियों से तो नहीं दीख रही है अतः निश्चित है कि आत्मा के प्रकाश से ही दीख रही है। इस प्रकार स्वयंज्योति का निर्णय हो जाता है। स्वप्न में व्यवहार वैसा ही होता है जैसा जाग्रत् में कर रहे हैं। ऐसी ही साफ चीजें दीखती हैं। जैसे वहाँ सूर्य आदि की रोशनी नहीं , वैसे ही सूर्य आदि के द्वारा अधिष्ठित इन्द्रियों की रोशनी भी नहीं है। अंधे को भी वहाँ दीख जाता है, जन्मांध को न भी दीखे। बिना चश्मे के हम को भी दीख जाता है। जैसे सूर्य आदि नहीं हैं वैसे ही सूर्य आदि से अधिष्ठित आँख कान भी तो नहीं हैं। अब आगे हिम्मत करो। स्वप्न जो दीख रहा है वह न सूर्य की रोशनी से और न आँख की रोशनी से दीख रहा है, वह आत्मा की ज्योति से दीख रहा है। इसलिये इन सब चीजों की कोई जरूरत नहीं। यह कौन समझ पाता है? तो कह दिया ब्रह्मवेत्ता। इस प्रकार पहले श्लोक की प्रतिज्ञा में दूसरे व तीसरे श्लोकों से हेतु बता दिये।।३।।

●

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते।।४।।

जैसे स्वप्न में दृश्य वितथ हैं वैसे ही जागरित में भी। जाग्रत् के भावों से स्वप्न के भावों का— पदार्थों का— भेद यह है कि स्वप्न वाले भीतर और थोड़ी जगह में दीखते हैं। लेकिन दीखना और असत्य होना दोनों में एकसा है।

Scanned by CamScanner

यहाँ तक अनेक न्यायों से दृष्टांत को, स्वप्न की वितथता को सिद्ध कर दिया। यह भी सिद्ध किया कि जितने विचारक हैं सब को इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। यह भेद याद रखना; पहले कहा था 'मनीषिणः आहुः' और यहाँ कह रहे हैं 'ब्रह्मविदः आहुः'। प्रपंच के मिथ्यात्व के बारे में पहले दूसरे मनीषियों का मत और फिर आत्मा के स्वयंज्योतिष्ट्व के बारे में केवल ब्रह्मवेत्ता का अनुभव बताया। स्वप्न के मिथ्यात्वमात्र में दूसरों का भी मतैक्य है।

अब इसका अतिदेश करते हैं अर्थात् जब स्वप्न वितथ हो गया तब इस प्रकार के विचार से जाग्रत् के पदार्थ भी मिथ्या निश्चित हो जायेंगे। विचार करो तो जैसे स्वप्न के पदार्थ अपने अन्दर हैं वैसे ही जाग्रत् के पदार्थ भी तो अंदर ही दीखते हैं। आधुनिक लोग तो यह स्वीकारते ही हैं कि दर्शन, श्रवण आदि सब भीतर दिमाग में होता है। दोनों में जो फर्क है वह संवृतता को लेकर है। एक में नाडी छोटी और एक में बड़ी है। इसके सिवाय और कोई फ़र्क नहीं।

भगवान् भाष्यकार अनुमान स्पष्ट करते हैं। स्वप्न दृश्य की तरह ही जाग्रत् दृश्य वितथ हैं। यह पक्ष हो गया। पक्ष और साध्य को मिलाकर प्रतिज्ञा वाक्य होता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्'। जैसे स्वप्न के पदार्थ दृश्य हैं वैसे ही जाग्रत् के पदार्थ दृश्य हैं। स्वप्न के पदार्थ दृश्य हैं तो अनेक हेतुओं से असत्य हैं। इससे ज्ञान हुआ कि जहाँ जहाँ दृश्यता होती है वहाँ असत्यता होती है। लौकिकों का कहना है कि जहाँ जहाँ दृश्यता होती है वहाँ सत्यत्व होता है। हर बात में उनका यही कहना होता है कि 'हमने अपनी आँखों से देखा, अपने हाथ से छुआ।' दृश्यत्व ही उनके यहाँ सत्यत्व का हेतु है। जहाँ उनसे स्वप्न का विचार पूछो तो कहते हैं कि 'उसकी बात जाने दो।' वेदांती कहता है कि तुम स्वप्न की बात जाने दो कहते हो, हम कहते हैं कि तुम जाग्रत् की बात जाने दो! जब दोनों अनुभव तुम्हारे हैं तो एक को जाने कैसे दें?

कालिदास के बारे में एक सुन्दर कथा आती है। एक बार कालिदास को भोज ने नाराज कर दिया, कुछ कह दिया कालिदास को गुस्सा आ गया और एकांत में जाकर रहने लगे। राजा कान के कच्चे हुआ करते हैं। जो आदमी जो बात भर दे, उसका विश्वास कर लेते हैं। जब कालिदास चले गये तो भोज को पता लगा कि मैंने उसके विषय में मिथ्या लांछन लगाया तो बहुत से चर आदि भेजे, चारों तरफ पता लगवाया, लेकिन पता नहीं लगा। भोज ने विचार किया कि पता जरूर लगाना चाहिये। राजा भोज बुद्धिमान् तो था ही। उसने अपने यहाँ एक ऐसा पंडित रखा जो किसी भी श्लोक को एक बार सुने तो उसे याद हो जाये; दूसरा ऐसा रखा जो दो बार सुने तो उसे याद हो जाये और तीसरे को तीन बार में याद हो जाये। यों तीन पंडित रखकर यह घोषणा कर दी कि 'जो हमारे सामने नया श्लोक लिखकर लायेगा उसको एक लाख सोने की दीनार इनाम में दूँगा।' बहुत से लोग श्लोक बनाकर लाये। जब वह पहली बार पढ़कर सुनायें तो

Scanned by CamScanner

एक पाठी को याद हो जाये और वह कहे कि 'यह तो पुराना श्लोक है।' लेखक कहे 'कैसे?' तो वह कहे 'मुझे भी याद है', और सुना दे। इस प्रकार दो बार सुनने से द्विपाठी को याद हो जाये। तब वह भी कहे 'बिल्कुल पुराना है, मेरा पढ़ा हुआ है।' वह भी सुना दे। इस प्रकार तीन बार होने पर त्रिपाठी कहे 'मेरा भी पढ़ा हुआ है, लेकिन कहाँ का है, यह याद नहीं।' नये से नया श्लोक भी पुराना सिद्ध हो जाये। इसलिये कोई कैसा भी नया श्लोक बनाकर लाये छोटा मुँह करके चला जाये। राजा उसे ब्राह्मण जानकर दस बीस रुपये दे दे, लेकिन एक लाख वाला इनाम किसी को न मिले। राजा को यह विश्वास था कि किसी दिन कालिदास इस चक्र से निकलेगा।

कालिदास को पता तो लग गया लेकिन उसे तो वहाँ जाना ही नहीं था, राजा से बात ही नहीं करनी थी। कालिदास जिस मंदिर में रहता था वहाँ जो ब्राह्मण उसे भोजन कराता था, उसकी लड़की के ब्याह का समय आया। उसने कहा 'तू रात दिन लिखता रहता है। अगर मुझे तू एक बढ़िया श्लोक बना दे तो मुझे राजा से एक लाख सोने की दीनारें मिल जायें और लड़की का ब्याह हो जाये।' कालिदास ने सोचा कि ब्राह्मण मुझे रोज बढ़िया माल खिलाता है, इसलिये इसकी मदद करनी चाहिये। कालिदास यह भी जानता था कि साधारण श्लोक वहाँ चलना नहीं है, क्योंकि उसे पता था कि राजा ने यह चतुराई कर रखी है। कालिदास ने एक ऐसा श्लोक लिखा जिसका भाव यह था कि 'तुम्हारे बाप ने मेरे से नौ करोड़ रुपये उधार लिये थे। अब मेरे को जरूरत आ पड़ी है तो तुम दे दो। और इस विषय में तेरे यहाँ तीन पंडित प्रमाण हैं। इसलिये तू मेरा धन वापिस कर दे। और यदि उन्हें यह श्लोक याद नहीं है तो एक लाख सोने की दीनारें दे दे।'

जब ब्राह्मण ने वह श्लोक ले जाकर दिखाया तो पहले एक पाठी उसे देखकर इधर उधर देखने लगा कि राजा का नौ करोड़ तो खर्चा नहीं कराना चाहिये। राजा भी समझ गया उसने कहा 'यह श्लोक तुम्हारा लिखा नहीं है, बताओं किसने लिखा है? तू एक लाख की जगह दो लाख ले जा, लेकिन यह तेरी बुद्धि का विषय नहीं हैं।' तब उस ब्राह्मण ने कहा 'मेरे यहाँ एक पंडित है। मैं उसकी सेवा करता हूँ। उसने मुझे यह श्लोक लिखकर दिया है।' राजा ने उसे दो लाख देकर अपने आदमी साथ भेजे और वे कालिदास को ले आये। राजा ने माफी माँगी।

जैसे वहाँ यदि श्लोक की स्मृति है तो और श्लोक याद नहीं है तो, धन ब्राह्मण को मिलना ही है, इसी प्रकार यहाँ भी यदि अनुभव को छोड़ना है तो केवल स्वप्न को क्यों, जाग्रत् को ही क्यों न छोड़ दिया जाये? यदि स्वप्न छोड़ते हो तो हम उसी न्याय से जाग्रत् छोड़ देंगे और अगर स्वप्न लेते हो तो उस दृष्टान्त से हम जाग्रत् को छुड़वा देंगे! स्वप्न में बढ़िया रसगुल्ला मिला वह तुम झूठा कहते हो और तुम जाग्रत् में मक्की की रोटी खा कर कहते हो कि उसे सच्चा मानें। क्यों मानें? विचार से दोनों अनुभव

Scanned by CamScanner

मुझे होने से यदि स्वप्न के दृश्य को मिथ्या मानते हो तो जाग्रत् के दृश्य को मिथ्या मानो। यदि जाग्रत् दृश्य को सत्य मानना चाहते हो तो मेरे स्वप्न दृश्य को सत्य मानो। यदि सत्य मानो तो स्वप्न में मैने तुम्हें दस लाख दिये थे, वह दे दो। न कर सको तो जाग्रत् को मिथ्या मानो। एक तरफ आओ। इसलिये दृश्यत्व हेतु से यदि जाग्रत् को सत्य सिद्ध करोगे तो उस दृश्यत्व से स्वप्न की सत्यता सिद्ध करनी पड़ेगी। स्वप्नकी असत्यता तुम सब मानते हो इसलिये दृश्यत्व के कारण जाग्रत् को भी असत्य ही मानना पड़ेगा। अतः 'स्वप्न-दृश्य पदार्थों की तरह' यह दृष्टांत हो गया। भगवान् भाष्यकार तो पंचावयव वाक्य बनाकर कहते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में दृश्य पदार्थ वितथ अर्थात् झूठे हैं वैसे ही जाग्रत् में भी दृश्य पदार्थ मिथ्या हैं। दृश्यत्व दोनों में एक जैसा है।

कारिका के तृतीय पाद से तो हेतु की पक्षधर्मता को बता दिया, पक्ष में रहने वाला हेतु है यह बता दिया। द्वितीय पाद से प्रतिकूल प्रमाणाभाव को बता दिया। इसी को निगमन कहते हैं। प्रतिज्ञा वाक्य में जो कहा निगमन में वही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार जाग्रत् दृश्य पक्ष, वैतथ्य साध्य, दृश्यत्व हेतु, स्वप्नदृश्य दृष्टांत, 'यथा तत्र तथा अत्र' उपनय और 'तस्माज्जागरिते स्मृतम्' निगमन हैं।

जो जो दीखे वहाँ यह घटाते रहो। जैसे सामने दीखने वाला जपाकुसुम मिथ्या था। वेदांती किसी चीज को काटता नहीं है, चीजें तो दृश्य होने से ही असत्य हैं। आँख बंद किसी चीज को हटाने के लिये ही करते हो। जब आँख खोलकर ही नहीं दीख रहा है तब क्या करो? पंचदशीकार ने चित्रदीप प्रकरण में इसे और स्पष्ट किया है कि सामने शिवपार्वती दीखते हुए ही जानते हो कि नहीं हैं। इस प्रकार संसार के सारे पदार्थों को देखते हुए ही जानते हो कि नहीं हैं। यह दृश्यत्व हेतु ही हम लोगों को बार बार याद रखने का है। यहाँ दृश्य से स्पृश्य, श्रव्य इत्यादि सब समझ लेना। जैसे स्वप्न में दर्द का अनुभव मिथ्या वैसे ही यहाँ भी किसी के द्वारा टांग मारने से जो दर्द होता है, वह झूठा ही होगा।

जो द्वैत-वैतथ्यवादी हैं वे किस विशेषण से पक्ष-सपक्ष का विभाग सिद्ध करेंगे? यह शंका होती है। जाग्रत् को तुमने वैतथ्य वाला बता दिया, स्वप्न को भी वैतथ्य वाला बता दिया तो फिर दोनों ही द्वैत वैतथ्य वाले हो गये, असत्य हो गये, तब कौन सी विशेषता लेकर तुम एक को पक्ष और एक को दृष्टान्त कहते हो? स्वप्न की असत्यता जाग्रत् को सत्य मानकर की और अब कह दिया कि जाग्रत् असत्य है! तो स्वप्न की असत्यता कैसे सिद्ध करोगे? स्वप्न असत्य है, जाग्रत् की दृष्टि से, जाग्रत् असत्य है ब्रह्म की दृष्टि से यों दोनों की असत्यता अलग अलग हैं। शंकावादी इस भेद को नहीं समझकर शंका कर रहा है। वह कहता है कि स्वप्न को असत्य जाग्रत् की अपेक्षा से कहा था। अगर आप जाग्रत् को असत्य सिद्ध करोगे तो जिसकी अपेक्षा से असत्य सिद्ध किया था वही जब असत्य हो गया तो स्वप्न की असत्यता भी असत्य सिद्ध हो गई।

Scanned by CamScanner

स्वप्न असत्य इसलिये कि योग्य देशकाल नहीं। अब दृश्यत्व हेतु से जब जाग्रत् को असत्य सिद्ध कर दिया तो स्वप्न की असत्यता कैसे सिद्ध करोगे? यदि जाग्रत् व स्वप्न का भेद नहीं दिखाओगे तो तुम्हारा अनुमान गलत हो जायेगा। जैसे पर्वत वह्निमान् धूमाद् पर्वतवत्।

उक्त शंका का समाधान है 'अन्तःस्थानात्' और 'संवृतत्वेन'। इन दो भेदों से जाग्रत् दृश्य से स्वप्न का भेद हो गया। उचित देश काल आदि का अभाव स्वप्न के अन्दर और उचित देश काल आदि का अभाव न होना जाग्रत् के अन्दर। योग्य देश आदि के अभाव से स्वप्न का मिथ्यात्व स्वीकृत है अतः उसकी सपक्षता हो गई और जाग्रत् उचित देश आदि सद्भाव वाला होने से इसका मिथ्यात्व अस्फुट, अप्रकट (unmanifest) है, अतः यह पक्ष हो गया। जैसे पर्वत इसलिये पक्ष हुआ कि वहाँ आग है यह स्पष्ट नहीं। महानस को दृष्टांत बना दिया क्योंकि वहाँ वह्नि-धूम दोनों स्पष्ट हैं। वैसे ही यहाँ कह रहे हैं जाग्रत् दृश्य मिथ्या हैं, दृश्य होने से, स्वप्न दृश्य की तरह। दृश्य होने से यह हेतु है। पर्वत में धूम होने पर भी वह्नि स्पष्ट नहीं है, क्योंकि लपट नहीं दीखी। इसलिये वहाँ अग्नि अस्फुट है, अप्रत्यक्ष है। इसी प्रकार जाग्रत के अन्दर असत्यता स्फुट नहीं है, दृश्यता तो स्पष्ट है। स्वप्न का विचार हम जाग्रत् में कर रहे हैं। जाग्रत् में आने के बाद स्वप्न के अन्दर दृश्यता और असत्यता दोनों स्पष्ट हैं। जाग्रत् के अन्दर दृश्यता है लेकिन असत्यता प्रकट नहीं है। इसलिये पर्वत की तरह ही यहाँ अनुमान से ज्ञान करना पड़ेगा। महानस में धूम-अग्नि का व्याप्य-व्यापक-भाव स्पष्ट है। पर्वत में अनुमान करना पड़ रहा है। पर्वत में धूम स्पष्ट है तो अग्नि निश्चित है। इसी प्रकार स्वप्न में दृश्यता और असत्यता प्रकट हैं। जाग्रत् में असत्यता प्रकट नहीं है, लेकिन दृश्यता स्पष्ट है। यह तो कह नहीं सकते कि जाग्रत् में किसी चीज़ का अनुभव नहीं हो रहा है, क्योंकि निश्चित है कि जाग्रत् के पदार्थ दीख रहे हैं। इसलिये स्वप्न की दृश्यता की तरह जाग्रत् की असत्यता निश्चित है। जाग्रत् में सत्यता का केवल तुम्हारा निश्चय हटेगा। जैसे पर्वत में वह्नि के अभाव का निश्चय अनुमान से हट जाता है उसी प्रकार सत्यता का निश्चय चला जायेगा। जो इसे ठीक से नहीं समझते हैं वे बार बार कहते हैं कि 'हमको यह झूठा दीख क्यों नहीं रहा है?' दीखेगा तो ऐसा ही लेकिन उसकी सत्यता का निश्चय चला जायेगा। दीखता तो पर्वत वह्नि-रहित है लेकिन अनुमान से निश्चय है कि है वह्नि वाला। वैसे ही यहाँ जाग्रत् में असत्यता नामक कोई धर्म दीखता नहीं, लेकिन निश्चय है कि सत्य नहीं है। इसलिये पक्षता सपक्षता बन गई। जाग्रत् व स्वप्न में न सर्वथा वैषम्य है, क्योंकि यदि सर्वथा वैषम्य हो तब भी अनुमान नहीं होगा; और न सर्वथा एक जैसे हैं। किंचित् वैषम्य और किंचित् साम्य है यह बता दिया। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि जाग्रत् के पदार्थों में वैतथ्य है।।४।।

Scanned by CamScanner

पूर्वप्रकरण में (श्लोक १३) जाग्रत् के लिये भी स्वप्न शब्द का प्रयोग किया था, वह प्रयोग समर्थित हो गया क्योंकि दोनों ही वितथ हैं, मिथ्या हैं। इस बात को अगले श्लोक में कहते हैं—

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना।।५।।

स्वप्न व जाग्रत् में होने वाले भेद अर्थात् पदार्थ दृश्यरूप से समान हैं अतः दोनों मिथ्या होने से मनीषी स्वप्न व जागरित दोनों को एक कहते हैं।

क्योंकि निश्चय हो गया कि पक्ष और सपक्ष बन जाते हैं, इसलिये जैसे स्वप्न में दृश्यत्व हेतु से पदार्थ और पदार्थों का ज्ञान मिथ्या वैसे ही जाग्रत् के अन्दर भी जाग्रत् के पदार्थ और उनका ज्ञान मिथ्या है, यह सिद्ध हो गया। इसी दृष्टि से कहा 'मनीषिणः' अर्थात् जिन्होंने अपने मन को जीत लिया है। जब तक मन को नहीं जीता जाता तब तक स्वप्न के पदार्थों का बाध करने पर भी जाग्रत् के पदार्थों का अनुवर्तन जाता नहीं। अंतःकरण ही बुद्धि का स्थल बनकर विचार करने की जगह है और अंतःकरण ही चित्त के संस्कारों का आश्रय बनकर व्यवहार चलाने की जगह है। किसी चोर से कहा जाये कि 'तू अपने आपको पकड़ ले', तो यह असंभव है। वेदांत में असम्भव समझना, और जगह असम्भव नहीं समझना, नहीं तो सरकार पकड़ ले जायेगी! सरकार कहती है कि संसद ही कानून बनाये और संसद ही इसका निर्णय करे कि मेरे कानून का पालन हुआ या नहीं। अदालत को बीच में बोलने का कोई अधिकार नहीं। कानून का मतलब भी कोर्ट नहीं जान सकती। इसलिये हम ही कानून बनायेंगे और हम ही उसको समझेंगे अर्थात् हम ही चोर और हम ही उसको पकड़ेंगे। इसलिये यह वेदांत शास्त्र में असम्भव समझना।

वस्तुतः मन या अंतःकरण ही चित्त का केन्द्र बनकर संस्कारों के कारण व्यवहारों का कारण है और चित्त या अंतःकरण या मन ही बुद्धि के रूप में उसकी असत्यता का निश्चय करने का कारण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कोई अलग चीजें नहीं हैं, एक ही अंतःकरण है। जिस समय जो काम किया उसका वह नाम पड़ गया। जब तक इसको शासित नहीं कर लोगे, अनुशासन में पूरी तरह से नहीं ले आओगे तब तक यही विचार का स्थल होने के कारण हमेशा कहेगा कि जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न के पदार्थों से कुछ भिन्न हैं। वेदांतशास्त्र विचार का विषय है। रात में स्वप्न देखा। उस स्वप्न के अन्दर जो बहु बच्चा पैदा करने वाली थी, उस बहु की चिंता क्या तुमको होती है कि 'मैं उठ गई तो उसको कौन बच्चा करवायेगा?' जाग्रत् के विचार काल में ही मन में होता है कि मैं नहीं जाऊँगी तो वहाँ बच्चा कौन करवायेगा। स्वप्न की बहु का क्या हुआ? वैसे कहोगे 'महाराज! सब व्यवहार झूठे ही हैं, यह तो हम भी समझते हैं, लेकिन जाना ही पड़ेगा।' क्यों ऐसा होता है? क्योंकि स्वप्न झूठा है और जाग्रत् झूठा नहीं है। जब मन भी जीत

Scanned by CamScanner

लेते हो तब तुम कहते हो कि जैसे बिना कारण यहीं लेटे हुए हमको स्वप्न के अन्दर बहु दीख गई थी, बिना कारण ही आँख खुलने पर वह बहु नहीं रह गई, इसी प्रकार जाग्रत् काल में भी यदि कारण बनेगा तो बहु अपने आप दीखने लग जायेगी और नहीं बनेगा तो नहीं दीखेगी। जैसे स्वप्न बिना कारण के आता और बिना कारण के जाता है वैसे ही जाग्रत् के पदार्थ भी बिना कारण के आयेंगे और जायेंगे। आयेंगे तो उनको डण्डा नहीं मारेंगे और जायेंगे तो जानेंगे कि कहीं गये नहीं हैं क्योंकि प्रतीतिमात्र थे। कभी मन में ऐसा होता है कि 'स्वप्न के पुत्र को बड़ा नहीं किया तो मेरा कर्त्तव्य अधूरा रह गया? भगवान् ने ही वह लड़का भी तो मेरे को दिया था, उस लड़के को मैं छोड़कर आ गया, यह मैंने गलत काम किया।' लेकिन जाग्रत् के पुत्र के विषय में आता है कि मैं गलत काम कर दूँगा यदि मैं उसको बिना बड़ा किये छोड़ दूँगा। यह भेद तब तक बना रहेगा जब तक मन जीता नहीं जायेगा। सारा ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि का अभ्यास मन को जीतने के लिये है, ज्ञान के लिये नहीं। ज्ञान तो विचार से हो जाता है लेकिन जब तक मनीषा नहीं होगी, मन को नहीं जीतोगे तब तक यह अनुभव नहीं होगा कि स्वप्न और जागरित स्थान एक हैं।

आगम प्रकरण के पंद्रहवें श्लोक में प्रतिज्ञा की थी 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः', स्वप्न व जाग्रत् को एक करके लक्षण किया था। जहाँ जहाँ अन्यथाग्रहण है वह स्वप्न है। अन्यथाग्रहण जाग्रत् और स्वप्न दोनों में है। वहाँ दोनों को एक मानकर कह दिया था लेकिन कोई कारण नहीं दिया था। यहाँ आकर कारण दे दिया कि क्यों हम मनीषी लोग स्वप्न और जाग्रत् को एक स्थान ही मानते हैं। वैसे यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो स्वयं उपनिषद् ने भी इस बात को बताया। जाग्रत् स्थान में 'सप्तांग एकोनविंशतिमुखः' और स्वप्न स्थान में भी इसी बात को बताया। इसलिये दोनों की एकता वहाँ भी बताई। वही यहाँ भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा।

इसका बार-बार विचार करना चाहिये। जाग्रत् बार-बार अपने को कहेगा कि 'स्वप्न से भिन्न है'। यह अभ्यास की बात है। यदि तुम व्यवहार के नाम से इसके चक्र में फँस गये तो यह जबरा बनकर सिर पर चढ़ जायेगा। यदि कहो कि शरीर है तब तक व्यवहार करना है अतः जाग्रत् को स्वप्न से अलग मानें, तो गये काम से। इसलिये जाग्रत् बार-बार कहेगा कि 'मैं जाग्रत हूँ' और साधक बार-बार कहेगा कि 'तू स्वप्न से अभिन्न है।' तब अंत में जाकर यह मन को जीतेगा, नहीं तो साधक मन को नहीं जीत पायेगा। यहाँ पर 'मनीषिणः' हेतुगर्भ-विशेषण है। मन को जीतने का यही साधन है। यहाँ तो अजातवाद का सिद्धान्त है। केवल ध्यान धारणा समाधि के अभ्यास से भी मन जीता जाता है लेकिन वह मन व्यवहार में आकुल हो जायेगा। जितनी देर तक ध्यान धारणा में बैठोगे उतनी देर तक संसार झूठा है, उसके बाद व्यवहार में मन फिर हावी हो जाता है। प्रायः देखा जाता है कि बड़ी समाधि लगाने वाले, ध्यान, धारणा करने वाले, जपतप करने वाले

Scanned by CamScanner

लोग महाक्रोधी हो जाते हैं। इसीलिये हिन्दी भाषा में अवधूत महात्मा, नागा बाबा का मतलब ही महाक्रोधी होता है। यह इसलिये प्रसिद्ध हुआ कि प्रायः जो उतना त्यागी होता है, वह महाक्रोधी हो जाता है।

क्यों ऐसा होता है कि पहले से अधिक क्रोध हो जाता है? विचार करने से पता लगता है कि जब वह धारणा, ध्यान आदि का अभ्यास करता है उस काल में जाग्रत् की असत्यता की दृष्टि है, उसीसे व्यवहारकाल में व्याकुल हो जाता है, उससे सहन नहीं होता है। जैसे अपने लोगों को अगर कहीं एयरकंडिशंड न हो तो कोई खास मुश्किल नहीं पड़ती। पंखा लेकर चला लिया, गर्मी हट गई। लेकिन जो एयरकंडिशंड में बैठे रहते हैं उनका बुरा हाल होता है। हमको दिल्ली में लोग बार-बार कहते हैं कि आपको गर्मी लगती है, एयरकंडिशनर लगा लें। हम मना करते हैं क्योंकि जब आदत पड़ जायेगी और वह खराब होगा तो क्या हाल होगा? बिजली बन्द हो गई तो पंखा अपने हाथ से या शिष्य के हाथ से चल जायेगा। लेकिन एयरकंडिशनर कोई नहीं चला सकता क्योंकि वह तो बिजली से ही चलेगा; और वह गड़बड़ होगी ही और जब मशीन खराब हुई तो फिर क्या कहना! जैसे एयरकंडिशंड में बैठना है ऐसे ही समाधि का अभ्यास करना है। बच-बचाकर जितनी देर बैठे रहें उतनी देर तक ठीक है, लेकिन उस सुख के सामने जब व्यवहार में जाओगे तो चित्त ज्यादा आकुल होगा। व्यवहार का लोप कभी नहीं हो सकता। तीव्र तीव्रतर प्रारब्ध को कोई नहीं रोक सकता। उसे समाधि भी नहीं रोक सकती। वे जरूर व्युत्थान करायेंगे। व्यवहार को खत्म करना किसी के हाथ में नहीं। मंद प्रारब्ध वाले हिस्से को रोक सकते हो। तीव्र तीव्रतर प्रारब्ध तो आता ही रहेगा। वह जब आयेगा तो आकुलता बढ़ जायेगी। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि यह मन को वश में करने का उत्तम उपाय नहीं।

उत्तम उपाय है 'स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।' जब-जब जाग्रत् में व्यवहार करो तब-तब इसमें स्वप्नरूपता देखो। अब एक रहस्य की बात बताते हैं, मन में रखना, सबको बताने की नहीं है। आज तक जब कभी स्वप्न तुम्हारे सामने आया है जाग्रत् रूप को ग्रहण करके आया है। स्वप्न में पता नहीं लगता कि यह स्वप्न है। वह जाग्रत् ही लगता है। अनुभव से इतना समझ लो कि स्वप्न जब आता है तो जाग्रत् का रूप लेकर आता है इसलिये स्वप्न और जाग्रत एक हैं। यदि आज तक कभी भी गैरजाग्रत् के रूप से स्वप्न देखा हो तब तो मान लो कि स्वप्न और जाग्रत् अलग-अलग हैं। जो जिसके बिना सिद्ध नहीं होता वह उसका ही रूप होता है। जैसे गहना जब आता है तो सोना ही आता है। बिना सोने के गहना कभी मिलता नहीं। बिना मिट्टी के कभी घड़ा नहीं मिलता। बिना धागे के कभी कपड़ा नहीं मिलता। इसलिये कपड़ा धागारूप ही माना जाता है। घड़ा मिट्टीरूप ही माना जाता है गहना सोनारूप ही माना जाता है। ऐसे ही स्वप्न जब मिला तो जाग्रत् के रूप में मिला। कभी एक बार भी स्वप्न के रूप में नहीं

Scanned by CamScanner

मिला तो सिद्ध होता है कि स्वप्न जाग्रत् रूप ही है। स्वप्न को जाग्रत् रूप से देखते रहे, यह बंधन का कारण। जाग्रत् को स्वप्न रूप से देख लोगे तो मुक्ति का कारण बन जायेगा। जितना जितना जाग्रत् में स्वप्नदृष्टि करते जाओगे उतना ही चित्त में संस्कारों को उद्बुद्ध होने की कोई जगह नहीं मिलेगी। उसी मन में ही काम करना है, वहीं निश्चय करना है। जाग्रत् मानने से ही चित्त के संस्कार उद्बुद्ध होते हैं। जहाँ तुमने उसको स्वप्न माना और संस्कार दबे।

लोक में भी उठते ही संस्कार स्वप्न के क्यों दब जाते हैं? कोशिश करो कि जब स्वप्न देखने में आये तो उसको पूरा याद करना। बहुत कम बार ऐसा स्वप्न होगा जिसे शुरू से आखिर तक याद कर सको, स्वप्न की हमेशा चार-पाँच बातें याद आयेंगी और फिर क्या हुआ, पता नहीं। कुछ हुआ था इतना भान तो है। इतना ही नहीं, बहुत से स्वप्न देखकर उठते हो तो लगता है कि स्वप्न तो दीख रहा था लेकिन याद नहीं कि क्या दीख रहा था। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि रात को आठ घण्टे सोने में आदमी पाँच घण्टे तो स्वप्न ही देखता है। वे दिमाग में एक यंत्र लगाते हैं जिसमें स्वप्न में और ढंग के, सुषुप्ति में और ढंग के, जाग्रत् में और ढंग के चित्र (curves) आते हैं। किसी में बीटा वेव्ज, किसी में गामा वेव्ज आते हैं। उससे पता लगता है कि कब-कब स्वप्न दीखा और कब-कब सोये। लेकिन इतने पर भी अपने को याद कितने स्वप्न रहते हैं? इसलिये स्वप्नसंस्कार दुर्बल होते हैं इसमें अनुभव भी और वैज्ञानिक प्रमाण भी हैं।

प्रश्न होता है कि स्वप्न दीखता है तो वह याद क्यों नहीं रहता? जाग्रत् दीखता है तो वह क्यों याद रहता है? उसका कारण यही है कि स्वप्न के अन्दर मिथ्यात्व का अनुवर्तन होता चला जाता है। जहाँ एक स्वप्न खतम हुआ वहाँ उसका बाध हो गया। फिर दूसरा स्वप्न दीखा, उसका बाध हो गाया। इसलिये वे याद नहीं रहते। जाग्रत् काल में चित्त याद अधिक करता है। चूँकि जाग्रत् को हम सत्य मानते हैं इसलिये बार-बार चित्त अपना काम करता रहता है। जैसे तुम्हारे आफिस की फाइल में अफसर लिख दे कि यह 'डेड फाइल' हो गई तो उसे उठाकर ऊपर डाल देते हो। तुम भी दो महीने में भूल जाते हो। लेकिन जिस फाइल के बारे में अभी विचार चल रहा है उसे नहीं भूलते क्योंकि बार-बार सामने आती रहती है। इसी प्रकार स्वप्न समझने के साथ फाइल आदमी बन्द कर देता है। फाइल बन्द करने पर भी दस पाँच दिन तक याद आता है कि बंद कर दी है। इसी प्रकार स्वप्न का थोड़ा स्मरण तो रहता है लेकिन चूँकि यह पता लग गया कि यह मिथ्या है, इसलिये वहीं फाइल बंद हो गई। जब तक इसको जाग्रत् समझोगे तब तक यह चालू फाइल है। इसलिये चित्त के संस्कारों के द्वारा उद्बुद्ध होती रहती है। इसलिये जितना-जितना 'स्वप्नजागरितस्थाने हि एकम्' का विचार करोगे उतना ही उतना चित्त का जोर हटता जायेगा, संस्कार उद्बुद्ध नहीं होंगे और अपने आप मन नियंत्रित होता जायेगा क्योंकि उसे छेड़ने वाले चित्त के संस्कार नहीं रहे।

Scanned by CamScanner

यह शंका कभी नहीं करना कि फिर व्यवहार कैसे चलेगा? आज तक व्यवहार करके तुम कौन से तीस मारखां बन गये जो अब बनोगे? 'स्वप्न के बच्चों का क्या होगा? कुछ तो उन गरीबों पर भी दया करनी चाहिये।' इसका हम क्या जवाब दें?

इसको सोचने के लिये क्या सहारा लें? स्वप्न के अन्दर दीखने वाला और जिसको देखता है, वे अलग-अलग हैं। ग्राह्य-ग्राहक-भाव है। एक जानता है और एक जानी जाने वाली चीज है। ऐसे ही जाग्रत् में है। जैसे स्वप्न में ग्राह्यग्राहक-भाव है, वैसे ही जाग्रत् में भी है।जहाँ-जहाँ ग्राह्यग्राहक भाव है वहाँ मिथ्यात्व है। जहाँ न जानने वाला है और न वह जिसको जाने, बस वह सत्य होता है। भेदों की समता किससे? ग्राह्य-ग्राहक-भाव दोनों में है इसीसे उनकी समता है।

भेद किसे कहते हैं? जो पदार्थ एक दूसरे से अलग होते हैं उन्हे भेद कहते हैं। यह पारिभाषिक शब्द है जिसका वर्तमान हिन्दी में और वर्तमान संस्कृत में भी प्रचार नहीं है लेकिन प्राचीन संस्कृत और पाली में है। बौद्ध ग्रन्थों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है। सात पदार्थ एक दूसरे से अलग होते हैं। दोनों अवस्थाओं में रहने वाले भेदों में ग्राह्य-ग्राहक-भाव एक जैसा है। इसलिये दृश्यत्व हेतु होने से दोनों में मिथ्यात्व एक जैसा हो गया। इसी लिये स्वप्न और जाग्रत् के स्थानों को एक ही कह दिया। किन लोगों ने ऐसा कहा? 'मनीषिणः' अर्थात् 'विवेकिनः'। यहाँ विवेक का मतलब आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं, वरन् विचार, अर्थात् चीजों को ठीक प्रकार से समझना। विचार से, पूर्व में प्रदर्शित अनुमान आदि से यह निश्चय हो जाता है कि दोनों एक जैसे हैं।।५।।

●

शंका होती है कि स्वप्न एक अवस्था और जाग्रत् अन्य अवस्था है। एक अवस्था के दृश्यभाव और मिथ्यात्व को देख कर उससे अन्य अवस्था में मिथ्यात्व सिद्ध किया, यह ठीक नहीं। स्वप्न व जाग्रत् अवस्थायें अलग-अलग हैं। स्वप्न व जाग्रत् की चीजों के नियम अलग-अलग होंगे। जैसे हम लोग पैदा होते हैं, जवान होते हैं, बुड्ढे होते हैं और मर जाते हैं। देवता पैदा भी नहीं होते, हमेशा सोलह साल के बने रहते हैं, बुड्ढे भी नहीं होते, और मरते भी नहीं। इसलिये कहा 'अजरा अमरा देवाः' उनमें जरा-मरण नहीं है। यह कल्पना नहीं कर सकते कि यह मानव शरीर उत्पन्न और बड़ा होता है तो देवता भी होते होंगे; क्योंकि वे पार्थिव प्राणी नहीं, स्वर्गीय प्राणी हैं। इसी प्रकार स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होते होंगे, वे अलग जाति के हैं। इस अलग अवस्था जाग्रत् में पदार्थ सत्य होते होंगे। जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में अतिदेश किया, वह नहीं मान सकते। भक्त कहता है कि 'हमने भगवान् को ध्यान में साक्षात् देखा, बड़ा सुन्दर रूप दीखा, सिर पर हाथ रखा।' उससे कहते हैं 'हाथ रखा इसका अनुभव किया या नहीं?' कहता है 'हाँ।' हम कहें 'जो दृश्य होता है वह मिथ्या होता है।' तो वे कहेंगे 'तुम बड़े

Scanned by CamScanner

नास्तिक हो, तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहिये, तुम हमारे भगवान् को मिथ्या कहते हो।' इसलिये हमारे एक स्वामी जी कहते थे "शिवोहं शिवोहम्' कर लेना, 'रामोहं रामोहम्' नहीं करना नहीं तो वैरागी लोग मारेंगे। वे विचार नहीं करेंगे, लट्ठ लेकर मारने को आ जायेंगे।' इसी प्रकार योगियों को कहो 'तुमको समाधि के अन्दर जिसका अनुभव होता है वह मिथ्या है।' तो वे योगी भी डण्डा मारेंगे, कहेंगे 'कुछ करते धरते नहीं हो, दो समय रोटी खाते हो। हमने भूत भविष्य की बातें देख लीं। देख लेना, सच्ची हो जाती हैं या नहीं। तुम उसे मिथ्या कहते हो।' उससे कहते हैं 'अरे जो होगा वह अनुभव होगा और अनुभव मिथ्या होगा। तुम्हारी बात कैसे सत्य सिद्ध होगी?' जैसे सामान्य लोगों के लिये जाग्रत् स्थान और स्वप्न स्थान अलग-अलग हैं ऐसे ही वे लोग समाधि का काल, चाहे सगुण समाधि हो चाहे निगुर्ण समाधि हो, अलग करने को तैयार हैं। कहते हैं तुमने चर्म चक्षु से देखा इसलिये झूठा है, लेकिन हमने तो दिव्य चक्षुओं से देखा, इसलिये यह उससे अलग है। इस प्रकार की शंका प्राप्त होने पर अब जाग्रत् काल में ही जाग्रत् की असत्यता को सिद्ध करते हैं—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत्तथा।
विनथैः सदृशाः संतोऽवितथा इव्लक्षिताः।।६।।

जो पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के बाद नहीं होते, वे बीच में भी, अपनी स्थिति के समय भी, नहीं हुआ करते। जन्म-नाश वाली चीज़ें भ्रमसिद्ध वस्तुओं की तरह असत्य होने पर भी अवितथ या सत्य लगती हैं।

अब जाग्रत् काल का ही विचार करें। स्वप्न को थोड़ी देर के लिये भूल जाओ। जाग्रत् काल में सीप में दीखने वाली चाँदी को तुम सत्य मानते हो या असत्य? असत्य मानते हो। मृगी के जल को सत्य मानते हो या असत्य? असत्य मानते हो। क्यों? क्योंकि दीखने के पहले नहीं थे और बाद में नहीं हैं। जो चीज पहले न हो और बाद में न रहे वह चीज देखने काल में भी नहीं हुआ करती। ऐसा नहीं कि सीप में जब चाँदी दीखी थी तब चाँदी वहाँ थी। यदि होती तो आगे पीछे भी रहती। आगे नहीं रही और पीछे नहीं रही तो फिर वह चीज जिस समय दीखी उस समय में भी नहीं है। मृगी का जल आदि अंत में नहीं तो फिर बीच में भी नहीं है। आज से चालीस साल पहले तुम्हारा बेटा था? कहते हैं 'नहीं जी। चालीस साल का तो मैं ही हूँ।' यहाँ से जाओगे तो क्या बेटे को भी गोली मारकर साथ ले जाओगे? कहते हैं 'नहीं। यहीं छोड़ जायेंगे।' चालीस साल पहले भी तुम्हारा बेटा नहीं और चालीस साल बाद भी वह तुम्हारा बेटा नहीं रहेगा तो जिस काल में दीख रहा है तब भी है ऐसा नहीं। जाग्रत् काल में ही विचार कर रहे हैं। इसमें स्वप्न का दृष्टांत नहीं लाये। जाग्रत् काल में विचार करते हुए ही भगवान् ने कहा 'आद्यन्तवन्तः कोन्तेय न तेषु रमते बुधः' जो आदि अंत वाला होता है वह झूठा होता है तभी जानकार उसमें रमते नहीं।

Scanned by CamScanner

हर अनुभव में देखो कि यह अनुभव आदि वाला है या नहीं। फिर विचार करो कि अंत वाला है या नहीं। यदि आदि अंत वाला मिल रहा है तो जिस समय प्रतीति हो रही है उस समय में भी नहीं है। अपना शरीर पचास साल पहले था नहीं और पचास साल बाद भी नहीं रहेगा इसलिये 'वर्तमानेपि तत्तथा' जब दीख रहा है तब भी नहीं है। घुटने में दर्द पच्चीस साल पहले नहीं था, पच्चीस साल बाद जब अर्थी में रखकर श्मशान घाट ले जायेंगे क्या उस समय दर्द रहेगा? नहीं। तो 'वर्तमानेपि तत्तथा'। बनारस में महाराज जी की पथरी के बारे में डाक्टर से बात हो रही थी। डाक्टर जोर लगा रहा था कि इतनी बड़ी पथरी किसी तरह से नहीं गलेगी। उन्होंने कहा 'देख लेते हैं, दवाई से गल जायेगी तो ठीक है।' डाक्टर कहता था 'नहीं गलेगी।' तब उन्होंने कहा 'गंगा जी में तो गल ही जायेगी।' इसलिये जो आदि में नहीं और अंत में नहीं, वर्तमान में भी शरीर और शरीर की पीडा नहीं है। मिट जायेगी ऐसा नहीं, 'वर्तमानेपि तत्तथा' जिस समय में अनुभव हो रहा है उस समय में भी नहीं है। जैसे मृगी का जल दीखते हुए भी नहीं है, काँच में अपना मुँह दीखते हुए भी नहीं है।

'वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः' ये पदार्थ असत्य जैसे ही हैं। 'सदृशाः' इसलिये कहा कि जैसे पहले बताया था, दृष्टान्त मिल सके। निश्चित वितथ वस्तुओं के तुल्य होने से इनमें भी वैतथ्य समझना संभव है। इसलिये झूठ के जैसे ही हैं। 'अवितथा इव लक्षिताः' जो अविचारशील होते हैं वे इनको देखकर अवितथ अर्थात् सत्य समझ लेते हैं। 'लक्षिताः' के द्वारा बताया कि सत्यता दीखती ही है, थोड़े भी विचार से सिद्ध नहीं होती। द्वैतवादी से भी कहो तो वह उन्हें सत्य सिद्ध नहीं कर पाता। द्वैतवादी से भी पूछो 'क्या कोई पदार्थ आदि अंत वाला नहीं है?' कहेंगे 'यह ब्रह्माण्ड बीजप्रवाह न्याय से अनादि है।' उससे कहते हैं 'अरे, हम हर बीज और हर फल की बात कर रहे हैं। तू मरेगा या नहीं?' कहता है 'मनुष्य-जाति नहीं मरेगी।' हम तुम्हारी बात कर रहे हैं। हर मनुष्य जब मरने वाला है तो मनुष्य-जाति में अमरता कहाँ से आ जायेगी? हर मनुष्य को मरने वाला मानकर भी एक कल्पित मनुष्य-जाति मानकर उसको अमर मानते हैं। अपने लोग भी क्या करते हैं? जब किसी के बच्चा पैदा नहीं होता तो एक बच्चे को गोद लेते हैं कि हमारा नाम चलेगा। जब तुम ही मर जाओगे तो तुम्हारा नाम क्या चलना है? इसलिये 'अवितथा इव लक्षिताः' किसी को भी सत्यता नहीं दीखती, पूछो तो सत्यता बता भी नहीं सकता, अनुमान से सिद्ध नहीं कर सकता। लेकिन केवल दुराग्रही और हठी बनकर पकड़े रहता है। ज्यादा कहो तो कहता है 'यह सब माथा पच्ची हमसे नहीं होती यह सब हाई फिलासफी है। हम तो यही जानते हैं कि अपनी ड्यूटी किये जाओ, भगवान् ने दुनिया रची है।' क्या तुम्हारे से सलाह करके यह दुनिया रची थी? तब उनके पास कोई जवाब नहीं है। इसलिये वे सत्य देखते नहीं, केवल विचार करते हैं कि यदि न होती तो कैसे दीखती। इस प्रकार निश्चय करते हैं कि जरूर होगा।

Scanned by CamScanner

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इस कारण से भी, कारणान्तर से भी जाग्रत् दृश्य मिथ्या हैं क्योंकि उनके अंदर न तो आदि में भाव और न अंत में भाव है अर्थात् आदि अंत में उनका अभाव है। इसका उलटा अर्थ नहीं लेना कि उनके आदि और अंत का अभाव है। जो आदि में नहीं और अंत में नहीं, ऐसी वस्तु मृगतृष्णिका आदि हैं। इसलिये कहा कि मृगतृष्णिका आदि जो आदि में नहीं और अंत में नहीं रहते तो वे बीच में भी नहीं हुआ करते। यह बात लौकिक पुरुष, साधारण ग्वाले भी मानते हैं कि जो आदि-अन्त में नहीं वे बीच में दीखते हुए भी नहीं हैं। ऐसा नहीं कि मृगी के जल को सत्य मान लेते हों। बालक, ग्वाले और स्त्रियाँ भी इस बात को समझती हैं। कई लड़कियों की शिकायत ही यह होती है कि 'ब्याह होने के पहले तो यह मेरे को बहुत टेलीफोन करता था, बड़ा प्रेम करता था। सब दिखावा था, झूठ था क्योंकि ब्याह के बाद डाँटता है।' हम कहते हैं कि 'ब्याह के पहले तो प्रेम करता था?' कहती है 'नहीं जी, सच्चा प्रेम होता तो जाता थोड़े ही।' इसलिये हमने कहा कि स्त्रियाँ भी समझती हैं कि जो आदि अंत में नहीं था, वह बीच में भी नहीं है। चूँकि केवल शादी के लिये ऐसी बात कर रही थीं इसलिये कहती हैं कि 'इसमें प्रेम नहीं था', लेकिन आगे चलने पर उसे भूल जाती हैं कि लड़का पहले-पीछे नहीं, अतः बीच में भी नहीं है। उसे सत्य मानती हैं। इसके लिये कोई बहुत दर्शन पढ़ने की जरूरत नहीं है।

यह अनुमान हो गया— दृश्य मिथ्या है यह प्रतिज्ञा है। यहाँ जाग्रत् या स्वप्न नहीं लगाया। स्वप्न में भी आदि अंत वाले ही पदार्थ हैं। दो हेतु 'आदिमत्त्वाद् अन्तवत्त्वाच्च'; ये दो हेतु हैं। यह जरूरी नहीं कि आदि और अंत दोनों के अभाव का निश्चय हो। यदि एक अभाव का भी निश्चय हो जाये तो काम चल जाता है। बाँझ के लड़के की मृत्यु हमने देखी थोड़े ही है! बाँझ का लड़का पैदा नहीं हुआ। पैदा हुआ होता तो बाँझ किस बात की? बाँझ का लड़का आदि वाला नहीं, पैदा ही नहीं हुआ, इसलिये मिथ्या मानते हो। इसलिये आदिमत्त्व एक हेतु है। ऐसे ही 'अंतवत्त्वात्' भी एक हेतु है। मैं गिरधारी को नहीं जानता क्योंकि कभी इनसे मिला ही नहीं था। यहाँ अज्ञान आदि वाला तो नहीं है लेकिन अंत वाला है। आदि वाला हो तो भी मिथ्या है, अंत वाला हो तो भी मिथ्या है। मृगतृष्णिका की तरह जो आदि और अंत में नहीं वह मध्य में भी नहीं। वैसे ही ये जितने भी जाग्रत् में दीखने वाले पदार्थ हैं, आदि और अंत वाले हैं। उनकी न आदि में अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व सत्ता और न अंत में अर्थात् नाश के बाद सत्ता है।

अब उक्त अनुमान की दृढता के लिये एक और बात यह बता रहे हैं। शंका होती है कि यदि ये असत्य हैं तो फिर इनमें हैपने की, सत्यता की, प्रतीति क्यों है? अनुभव होता है कि घड़ा है, कपड़ा है, 'घटः सन्, पटः सन्,मठः सन्।' यह अनुभव तो नहीं होता है कि 'घटो नास्ति, पटो नास्ति, मठो नास्ति।' यदि कहते हो कि उनका स्वरूप वितथ है, असत्य है, तो फिर वे सत्य रूप से प्रतीत क्यों होते हैं? अमृषात्व की प्रतीति

Scanned by CamScanner

से ही मान लो कि ये मृषा (झूठे) नहीं हैं। समाधान है कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि मृगी का जल भी तो सत् से अनुविद्ध होकर दीखता है। रस्सी में साँप नहीं है, ऐसा थोड़े ही दीखता है, साँप 'है' होकर दीखता है। वितथ पदार्थ भी दीखते काल में अवितथ होकर दीखते हैं। उसी प्रकार ये पदार्थ भी वितथ होते हुए अवितथ रूप से दीखते रहेंगे। प्रतीतिमात्र से सत्ता की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्रतीति से यदि सत्ता सिद्ध करोगे तो रस्सी में साँप, मृगी का जल और सीप में चाँदी आदि सब भी सत्य मान लेने पड़ेंगे। इसी प्रकार घट पट आदि के अन्दर जो सत्यत्वग्राहक प्रत्यक्ष है वह भी ठीक नहीं। किसी भी चीज की प्रतीति सत् से अनुविद्ध होती है, चीज चाहे सच्ची हो चाहे झूठी। विवेक से विचार करने के बाद पता लगता है कि वह सच्ची है या झूठी, केवल प्रतीति से सिद्ध नहीं होता।

यदि प्रतीति विचारसह हो तब तो सच्ची होती है। विचार की कुल्हाड़ी मारो और न कटे तो सच्ची, और विचार की कुल्हाड़ी मारने पर कट जाये तो झूठी। विचारसह और विचार-असह को लेकर भेद है। सत्यता असत्यता की सिद्धि विचारसहता और विचार-असहता से होती है। प्रतीति पदार्थ की सिद्धि करती है, उसमें सत्यता या असत्यता की नहीं, क्योंकि सत्यता या असत्यता इन्द्रियों का विषय नहीं। इन्द्रियाँ तो रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श देखेंगी। सत्यता को देखने वाली कोई इन्द्रिय नहीं। सत्यता को देखने वाली तो बुद्धि है। और बुद्धि विचार से देखेगी। इसीलिये माया का लक्षण किया गया कि जो अविचार से सिद्ध हो, विचार से निवृत्त हो जाये।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'माया वेश्या विलासिनी'। जैसे वेश्या देखने में सुन्दर लगती है लेकिन जब उसका विचार करो तो असुन्दर होती है। सिनेमाओं में काम करने वाली कैथेरिन नाम की एक औरत बड़ी सुन्दर मानी जाती थी। चौबीस पच्चीस साल के जवान लड़के ने अपने पिता जी से जाकर कहा 'मुझे तो उसी से ब्याह करना है।' यह सच्ची घटना है। पिता ने उससे कहा 'वह कौन है?' कहा 'वह बाइस्कोप वाली है।' बड़े घर का लड़का था। पिता उसकी बात सुनकर हँस पड़ा और कहा कि 'मैं इसमें तेरे को कोई दोष नहीं देता क्योंकि जब मैं जवान था तब मैं भी उससे ही ब्याह करना चाहता था!' अपने यहाँ भी जो आज से बीस साल पहले ऐक्टिंग करने वाली थीं, उनको आज भी देखने वाले बच्चे देखते हैं तो लगता है कि जवान ही होंगी।

ऐसे ही हमारा एक परिचित लड़का फँस गया। वह कनाडा में गया हुआ था। वहाँ उस मूर्ख ने ब्याह कर लिया। पहली ही रात्रि में उसकी औरत ने अपना विग उतारा, ऊपर नीचे के दोनों दाँत निकाले और एक आँख बाहर निकालकर रख दी, क्योंकि वह सब नकली माल था! जब सब कुछ निकाला तो लड़के की छाती ढप्प हो गई। लेकिन अब शादी कर ली तो फँस गया। अब डाइवोर्स भी नहीं कर सकता क्योंकि वे लोग कम्पैन्सेशन ले लेते हैं। बीच में कुछ दिन की छुट्टी लेकर घर आया और कहने लगा

Scanned by CamScanner

'क्या करूँ?' हमने कहा 'उसे यहाँ ले आ, यहाँ निपटा देंगे।' वहाँ कहेगा कि 'बुड्ढी है', तो लोग कहेंगे 'आँख बंद करके शादी की थी क्या?' हिन्दुस्तान में आने पर उसका कोई साथी नहीं होगा और यहाँ तेरे साथी होंगे। यहाँ आकर भी दस बीस हजार उसे देना ही पड़ा। जिस समय वेश्या दीखती है उस समय तो सुन्दर ही दीखती है, विचार से पता लगता है कि सुन्दर नहीं है। एक बार देख ले कि यह कितने साल से बाइस्कोप में काम कर रही है तो फिर पता लग जाये।

इसी प्रकार भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'माया वेश्या विलासिनी'। यह माया हमेशा जवान बनी रहती है। जब देखो तब सत्य ही सत्य इसमें दीखता है और जहाँ विचार करो, वहाँ यह मिथ्या ही मिथ्या दीखती है। वही पदार्थ, वही आकाश, वही वायु हैं। वायु का क्या एक कण भी ऐसा है जो अरबों सालों के अन्दर एक न एक बार किसी के पेट से अधोवायु बनकर न निकला हो? भोजन का एक कण भी ऐसा है जो कभी न कभी किसी की विष्ठा बनकर न निकला हो? सृष्टि को हुए दो अरब साल हो रहे हैं। हम लोग एक अरब ९८ करोड़ साल मानते हैं, विदेशी विद्वान् भी इतना ही मानते हैं। अथवा जल का कोई एक भी बिन्दु ऐसा है जो कभी किसी न किसी के फोड़े से पीप होकर न निकला हो? उसी को खाते हैं, उसी को पीते हैं। यह सोचने के साथ ही कितनी घृणा मन में होती है! लेकिन जब वह पानी दीखता है तो पहले के जैसा ताजा ही दीखता है। सृष्टि के आदि में जैसे वशिष्ठ को शुद्ध दीखा था, ऐसे ही अपने को भी दीखता है। जैसे सृष्टि के आदि में विश्वामित्र को अन्न दीखा था, अपने को भी वैसा ही दीखता है। जब विचार करो तो पता लगता है। ऐसे ही ये पदार्थ आपातिक सत्ता वाले हैं अर्थात् अकस्मात् जब देखते हो तो बिना विचार के देखते हो तब ये सत्ता वाले दीखते हैं, लेकिन विचार करने पर पता लगता है कि सत्ता वाले नहीं हैं।

फिर ऐसा क्यों लोगों को दीखता है? भाष्यकारों ने कह दिया 'मूढैः', आपात चीजों में विश्वास करने वाले लोग मूढ हुआ करते हैं। मूढ पुरुष समझते हैं कि ये वैसे ही हैं जैसे दीख रहे हैं। विचार क्यों नहीं करते? हरेक को विचार करना चाहिये। हेतुगर्भ विशेषण है 'अनात्मविद्भिः'। अनात्मा के विचार में इतने मशगूल रहते हैं, अनात्मा का ही ध्यान करते रहने में ऐसे लगे रहते हैं, कि ये कभी सच्चा विचार ही नहीं करते। यह किसकी लड़की है? किस देश की, किस गाँव की, किस जाति की है, यहाँ क्यों आई है, क्यों नहीं आई है, कब जायेगी, क्यों नहीं जायेगी? इत्यादि ये सब विचार करते रहेंगे। यह अनात्मा की उपासना हो गई। आत्मतत्त्व का विचार करने का समय कहाँ से मिलेगा? वे अपने मन में समझते हैं कि हम बड़े कुशल बुद्धि वाले हैं।

स्वामी प्रकाशानंद सरस्वती बड़े अच्छे महात्मा थे, प्रयाग में रहते थे। उन्होंने नियम कर रखा था कि किसी स्त्री का मुख नहीं देखेंगे। बड़े अनुभवी महात्मा थे। बाद में उन्होंने 'वेदांत-सिद्धान्त-मुक्तावली' नामक ग्रन्थ लिखा। मीरा भी उनका दर्शन करने गई। खबर

Scanned by CamScanner

भेजी। ऊपर से खबर आ गई कि 'मैं किसी स्त्री का दर्शन नहीं करता।' मीरा ने कहला भेजा कि 'फिर तो मुझे भी आपसे नहीं मिलना है, क्योंकि यदि इतने वर्ष की साधना में आपकी पुरुष-स्त्री की बुद्धि नहीं गई तो मैं बेकार आपका दर्शन करने आई। यही वेदांत पढ़ा?' मीरा वहाँ से चल दी। शिष्य ने खबर दी तो सोचा कि मीरा ठीक ही कह रही हैं। तब उन्होंने कहा कि 'मैं मिलने आ रहा हूँ'। मीरा ने कहा कि 'मुझे मिलने की जरूरत नहीं है। मैं तो अच्छा महात्मा समझकर आई थी।' तब वे दौड़कर मीरा से मिलने गये। कहने लगे 'एक बार मन में ऐसा भाव आ गया था, लेकिन वह गलत है।' मनुष्य पुरुषत्व स्त्रीत्व के भाव में ही रहता रहेगा तो आगे आत्मा को कहाँ देखेगा। आत्मा का दृष्टिकोण नहीं आना है।

इसी प्रकार संसार के अनात्म-पदार्थों की जो उपासना करता रहेगा, निरंतर अनात्म-पदार्थों के बारे में विचार करता रहेगा, उसकी मूढता कभी भी जानी नहीं क्योंकि वह उसी का हिसाब लगाता रहेगा। भगवान् भाष्यकार ने इसका कारण बता दिया कि चूँकि वह अनात्मा को सत्य समझे हुए उसी की उपासना में लगा हुआ है इसलिये आत्मा की दृष्टि का उसके पास मौका ही नहीं है। बुद्धि तो एक ही है, उससे चाहे आत्मा का, चाहे अनात्मा का निश्चय करो। एक का ही निश्चय होगा।।६।।

●

पहले कहा था स्वप्नवत् दृश्यत्व होने से जाग्रत् के पदार्थ भी मिथ्या हैं। उसमें शंका आई थी कि स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था का भेद होने से स्वप्नावस्था को जाग्रत् अवस्था का दृष्टांत नहीं बना सकते। उसकी निवृत्ति की। आद्यंतवत्त्व हेतु जाग्रत् के भेदों में भी उपलब्ध होता है। शंकावादी कहता है कि स्वप्न के पदार्थों को या मृगमरीचिका को हम आद्यंत वाला होने से मिथ्या मानते हों, ऐसा नहीं। सिद्धांती का कहना था कि रस्सी में साँप आदि में नहीं, अंत में नहीं। आदि अंत वाले होने से ही सिद्धान्ती उन्हें मिथ्या मानता है और लौकिक व्यवहार में होता भी यही है। पूर्वपक्षी द्वारा कहा जा रहा है कि हम सीप में चाँदी को, रस्सी में साँप को, मृगी के जल को आद्यन्त वाला होने से मिथ्या मानते हों, ऐसा नहीं। वरन् प्रयोजन वाले न होने से उन्हें मिथ्या मानते हैं। प्रयोजन अर्थात् व्यवहार; मृगतृष्णा के जल को हम इसलिये मिथ्या नहीं मानते कि वह आगे नहीं और पीछे नहीं, बल्कि इसलिये मानते हैं कि वह बेकार है, पिया नहीं जा सकता, प्रयोजन वाला नहीं है, व्यवहार्य नहीं है। सींप में चाँदी को भी हम इसीलिये मिथ्या मानते हैं कि वह प्रयोजन वाली नहीं है। यही रामानुजाचार्य मानते हैं। वे कहते हैं कि जब पंचीकृत पदार्थ हैं तो यावत् जगत् में सारे जगत् के पदार्थ हैं। इसलिये सीप में भी चाँदी है। फिर हम उसको मिथ्या केवल इसलिये मानते हैं कि इतनी कम है कि व्यवहार्य नहीं है। रस्सी में भी साँप है, पंचीकृत होने से है ही। हम उसको इसलिये मिथ्या

Scanned by CamScanner

मानते हैं कि वह सर्प प्रयोजन वाला नहीं है। इसलिये मिथ्यात्व में हेतु प्रयोजन का न होना है, आदि अंत वाला होना नहीं। जाग्रत् के व्यावहारिक जितने पदार्थ हैं, वे प्रयोजन वाले हैं। प्यास लगती है तो कुएँ का पानी पीकर प्यास बुझती है। मृगी के जल को इसलिये झूठा माना कि उससे प्यास नहीं बुझती। भूख लगती है तो आटे के फुलके से भूख मिटती है। इसमें सप्रयोजनता है। इसलिये जो तुमने आद्यंतवत्त्व हेतु दिया वह हमें स्वीकार नहीं। पाश्चात्य दर्शन में भी सफलता होने को सत्यता में तर्क माना जाता है। ईश्वरसिद्धि में वे इसका प्रयोग करते हैं। हमारे यहाँ किसी दार्शनिक ने ईश्वरसिद्धि में इसका प्रयोग नहीं किया है। यदि ईश्वर न भी हो तो ईश्वर को स्वीकार करना चाहिये क्योंकि ईश्वर को मानने से लोग पाप कर्म आदि से बचते हैं— ऐसा प्रयोग हमारे किसी ईश्वरसिद्धि करने वाले ने नहीं किया है; लेकिन वे लोग करते हैं। इसलिये प्रयोजन का विज्ञान उनके यहाँ काफी बढ़ा हुआ है।

इस शंका का जवाब देते हैं—

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः।।७।।

जाग्रद्-दृश्यों की प्रयोजनीयता स्वप्न में नहीं रहती अतः सप्रयोजनता को अगर सत्यता में हेतु कहो तो भी जाग्रत् के पदार्थ सत्य नहीं सिद्ध होते। इसलिये आद्यन्तवत्त्व को मिथ्यात्व का पर्याप्त हेतु समझना पड़ेगा।

जाग्रत् काल के जो पदार्थ, कूप जल आदि हैं, वे दृश्य होने पर भी उनसे जाग्रत् में ही प्रयोजन सिद्ध होता है, व्यवहार चलता है। स्वप्न के अन्दर उनके बारे में विप्रतिपत्ति है अर्थात् स्वप्न काल में उनसे प्यास नहीं मिटती। मेज के पास रखा हुआ पानी का घड़ा स्वप्न की प्यास को बुझाने में सप्रयोजनता वाला नहीं होता है। खूब डटकर बाजरे के सोगरे घी में चूरकर उपर से मीठा डालकर खाकर सोये तो स्वप्न में जो भूख लगती है, क्या उसको पेट में पड़े हुए अन्न से मिटा सकते हैं? फिर उनकी सप्रयोजनता कैसे कहें। तुम सप्रयोजन कह रहे हो, वे प्रयोजन वाले नहीं। इसलिये फलपर्यन्तता-राहित्य उनमें भी है। सिद्धान्ती का कहना था दृश्य वितथ हैं, आद्यन्तवाले होने से, मृगतृष्णा की तरह। इसमें फलपर्यन्तता-राहित्य उपाधि दी गई। अर्थात् वादी ने अनुमान में दोष यह लगाया कि दृश्य मिथ्या वे होते हैं जो फलपर्यन्ततारहित होते हैं। फलपर्यन्तता-राहित्य वाला यदि आद्यंत वाला भी हो तो वह मिथ्या होता है। जो फलपर्यन्ततारहित्य वाला नहीं अर्थात् फलपर्यन्तता वाला या सफल है वह यदि आदि अंत वाला है तो भी मिथ्या नहीं। यह उपाधि हो गई। उसका जवाब हुआ कि फल-पर्यन्तता-रहितता जो तुमने उपाधि दी वह जाग्रत् दृश्य में भी है। जाग्रत् दृश्य और स्वप्न दृश्यों में जो भेद तुम कर रहे थे, फलपर्यन्तता-राहित्य और फलपर्यन्तता-साहित्य का, वह भेद है ही नहीं। जैसे स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् काल के लिये फलपर्यन्तता-रहित हैं वैसे ही जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न काल में फलपर्यन्तता-रहित हैं। इसलिये फलपर्यन्तता-राहित्य दोनों जगह रहा।

Scanned by CamScanner

हम लोगों के अधिकतर कार्य जिन्हें हम समझते हैं स्वतंत्र होकर कर रहे हैं, उन्हें हमारे संस्कार करवाते रहते हैं। संस्कार के बंधन से छूटे बिना स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं। उसके बाद व्यवहार के लिये तुम अपने संस्कारों का निर्माण करो, वह बात दूसरी है। धर्म का क्षेत्र संस्कारों का तुम्हारे ऊपर आधान करने का है। कुछ संस्कारों को तुम्हारे ऊपर लादना, यह धर्म करता है। लदे हुए सारे संस्कारों को हटाना अध्यात्मविद्या करती है। इसीलिये धर्म और ब्रह्मविज्ञान सर्वथा एक दूसरे से विपरीत हैं। धर्म हमेशा कहेगा कि तुम ब्राह्मण हो, इसलिये करो। अध्यात्म विद्या कहेगी कि तुम ब्राह्मण तो क्या, मनुष्य भी नहीं, शरीर भी नहीं, इसलिये कुछ मत करो। जन्म के साथ तो तुम मान रहे हो कि मैं मनुष्य हूँ, यह जन्म से प्राप्त हो गया। धर्म ने तुम्हारे ऊपर एक और बाँधा कि तुम मनुष्य ही नहीं ब्राह्मण हो। थोड़े दिनों के बाद एक और बाँधा कि ब्राह्मण ही नहीं इस औरत के पति हो, इसलिये पति के कर्त्तव्य करो। थोड़े दिन बाद और बाँधा कि तुम बाप हो, पुत्र के प्रति तुम्हारा यह कर्त्तव्य है। धर्म जितना जितना बढ़ेगा उतना उतना तुम्हारे बंधन को बढ़ायेगा क्योंकि धर्म का काम ही यह हुआ।

और विद्या का काम ठीक इससे विपरीत है। तुम कहते हो 'जन्म से मैं अपने को पुरुष मानता हूँ' तो ब्रह्मविद्या कहेगी कि यह बताओ कि स्त्री से तुम्हारे में क्या फर्क है? तुम्हारे को थप्पड़ मारने से जो दर्द होता है और स्त्री को मारने से जो दर्द होता है क्या दोनों के में फर्क है? कुछ नहीं। कहोगे कि 'वह लड़का पैदा कर लेती है, मैं नहीं करता हूँ।' वह फर्क तो उसके शरीर का हुआ, तुम्हारे से उसका क्या फर्क हुआ? यदि ऐसा फर्क मानते हो तो तुम्हारी नाक लम्बी, सामने वाले की छोटी तो तुम मनुष्य और वह नहीं है यह भी मानो। जैसे ऐसा नहीं मानते, वैसे ही पैदा करना न करना तो शरीरभेद से है। यदि देहधर्मों से भेद मानते हो तो नाक छोटी और लम्बी को लेकर भी भेद मानो। आगे चलो; जब पशु को दण्डा दिखाते हो तो वह भागता है, घास दिखाते हो तो आ जाता है। इसी प्रकार तुमको बढ़िया दिलखुशहाल, गुलाब जामुन, मोहनथाल खाने को देते हैं तो तुम दौड़े आते हो, और कहें कि 'तुम्हें गाली देनी है आ जाओ' तो कहलवा देते हो 'घर में ही नहीं है'। अतः पशु से तुममें कोई फर्क नहीं।

ब्रह्मविद्या तो धीरे धीरे सारी उपाधियों को हटाने वाली है और धर्म उपाधियों को ऊपर चढ़ाने वाला है। इसलिये धर्म है स्वप्न प्रधान। जब किसी के मन में शंका और संदेह उठने लग जायें तो उसे धर्म का उपदेश मत करो, क्योंकि वह कुछ काम नहीं करेगा। उसे चाहे जितना बताओ कि 'यह लिखा है', वह कहेगा कि 'लिखा रहने दो, हमारा क्या करता है?' हम कई बार कहते हैं कि भविष्य में यदि कुछ रहेगा तो वेदांत ही रह सकता है क्योंकि आज के युग में सबके मन में प्रश्न है। जो मुँह से खोलकर कहे उसे नास्तिक कह देते हैं और जो अन्दर बुदबुदाकर रख लेता है वह आस्तिक बना रहता है। संदेह का निवारण करने जाओगे तो धर्मशास्त्र चलना नहीं। संदेह सबके अन्दर

Scanned by CamScanner

बैठा है। वह जवाब तो वेदांतविद्या, ब्रह्मविद्या ही देगी। अधिकतर, रुपये में चौदह आने, समय तो जब हम अपने को जाग्रत् में समझते हैं तब भी स्वप्न में रहते हैं क्योंकि संस्कारों के द्वारा ही अधिकतर प्रवृत्तियाँ होती हैं।

वास्तविक जाग्रत् अवस्था संस्कार से नहीं। जैसे पीला रंग दीखता है। उसका नाम पीला कहो न कहो, लेकिन यहाँ पीला दीखता है। वह संस्कार की अपेक्षा नहीं रखता। सबको पीला दीखेगा। लेकिन 'यह मुल्तान से आई हुई मिट्टी है,' यह संस्कार है। अंग्रेज को यह पता नहीं लगेगा। जितना ज्ञान तुम्हारी इन्द्रियाँ स्वतंत्र होकर करती हैं वह जाग्रत् है क्योंकि बाह्य जगत् को ग्रहण कर रही हैं, उन ज्ञानों को लेकर जो तुम अंदर बनाते हो वे तुम्हारे संस्कार हैं।पुत्र तो वहाँ दस आदमियों को नहीं दीख रहा है। उस लड़के का चेहरा दाढ़ी वाला या बिना दाढ़ी का है, यह आदमी को और कुत्ते को भी एक जैसा दीखेगा। लेकिन उसमें पुत्रदृष्टि केवल तुम्हारी है क्योंकि तुम्हारे अन्दर संस्कार हैं।

अतः स्वप्नदृश्यवत् अर्थात् संस्कारजन्य सभी पदार्थों की तरह। केवल लेटने वाला स्वप्न नहीं समझ लेना। जहाँ जहाँ संस्कारजन्य दृश्यता है वहाँ-वहाँ असत्त्व है। लेकिन जहाँ जाग्रत् दृश्यता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है वहाँ असत्ता नहीं क्योंकि सप्रयोजनत्व है यह पूर्ववादी का आशय हुआ। भाष्य में स्वप्न दृश्य की तरह जाग्रत् दृश्य की असत्यता कहकर यह द्योतित किया कि संस्कारजन्य दृश्य चाहे जाग्रत् अवस्था में हो अथवा अन्य अवस्थाओं में, स्वप्न ही हैं। इन्द्रियजन्य दृश्यों को ही जाग्रत् अवस्था के दृश्य कहा जा सकता है। इतना तो पूर्वपक्षी ने ही विचार कर लिया। सिद्धान्ती को तो मानना है कि जाग्रद्-दृश्य भी मिथ्या ही हैं। अतः टीका में कह दिया 'जाग्रद्दृश्या भावा बहूक्त्या गृह्यन्ते'।

पूर्व पक्षी कहता है कि जाग्रत् दृश्य कारगर होते हैं इसलिये स्वप्नदृश्यों की तरह असत्य नहीं माने जा सकते। अन्न पान आदि जैसे चूरमे के लड्डू; बढ़िया पंजाबी लस्सी मक्खन डाली हुई, गुजराती लस्सी नहीं, उसमें से तो मक्खन निकाल लेते हैं; वाहन आदि हाथी, घोड़े या आजकल के जमाने में मोटर, हवाई जहाज आदि। जाग्रत् दृश्यों में अन्नपान आदि भूख प्यास को मिटाते हैं, वाहन आदि गमनागमन आदि कार्य को करते हैं। इस प्रकार जाग्रत् के पदार्थ प्रयोजन वाले देखे जाते हैं। जो चीज़ छोड़ने लायक हो उसे हटाने में समर्थ हो जायें यह सप्रयोजनता हुई। भूख प्यास आदि हेय हैं, उन्हें अन्नपान आदि हटाने में समर्थ हो जाते हैं। और उपादेय की प्राप्ति कराने में समर्थ हो जायें तो भी सप्रयोजनता हुई। जैसे रामेश्वर पहुँचना है, गाड़ी वहाँ पहुँचा देती है तो सप्रयोजन है। जहाँ हेय-उपादेयविषयता न हो वहाँ प्रयोजनता नहीं होती।स्वप्न में जो चीजें देखी जाती हैं इनमें ऐसा नहीं है। कोई कह सकता है कि स्वप्न काल में स्वप्न काल की रोटी से भूख मिट जाती है। स्वप्न काल में स्वप्न काल के पानी से प्यास मिट जाती है। हाथी आदि से सवारी वहाँ हो जाती है। किन्तु स्वप्न काल में सप्रयोजनता होने

Scanned by CamScanner

पर वह सप्रयोजनता आगे नहीं रहती। कुएँ के पानी से तो दस साल बाद भी प्यास बुझा लेंगे लेकिन स्वप्न के पानी आदि तो तात्कालिक शान्ति ही करते हैं। स्वप्न काल साक्षिभास्य होने से जिस क्षण कुएँ से पानी निकाला उसी क्षण वह है, तदतिरिक्त पानी है ही नहीं। उस समय भोग तो करते हैं किन्तु कालांतर में उसकी सत्ता नहीं रहनी है। स्वप्न काल के पदार्थों की ज्ञान से अतिरिक्त सत्ता नहीं। हम यहाँ बैठे हैं तो दिल्ली का घण्टा घर वहाँ है। लेकिन स्वप्न में दिल्ली की तिजोड़ी में रखकर आओ तो क्या वहाँ रहेगा? स्वप्न से अतिरिक्त काल में स्वाप्न पदार्थ नहीं हैं। वादी कहता है कि एक के अन्दर सप्रयोजनता है, दूसरे में सप्रयोजनता नहीं है इसलिये जो तुमने कहा कि जाग्रद्दृश्य स्वप्नदृश्यों की तरह मिथ्या हैं, वह तुम्हारा मनोरथमात्र है। मन से जो चाहो रथ बनाकर सोचते रहो। कोई कहे कि मैंने दस हाथ की हरड़ देखी तो कोई क्या कर सकता है? तुम्हारी जबान है, जो बोलो। आजकल एक रेडियो नाम का पदार्थ भी रख दिया है, उससे सारी दुनिया को सुना दो कि हमारी बड़ी उन्नति हो गई। हुई या नहीं यह तो वे ही जानें। यह जो तुमने सोचा कि स्वप्न के दृश्य की तरह जाग्रत् के दृश्य की असत्ता सिद्ध करेंगे, यह मनोरथमात्र है। यह पूर्वपक्षी ने कहा।

अब सिद्धान्ती कहता है : अनुमान को तुमने सोपाधिक कहा लेकिन यह अनुमान सोपाधिक नहीं है। हेतु की सोपाधिकता में दोष देते हैं। उपाधि साधनव्याप्त है। कैसे व्याप्त है? अन्नपान आदि की जो सप्रयोजनता जाग्रत् के पदार्थों में देखी गई, वह सप्रयोजनता स्वप्न के अन्दर नहीं रहती। विचार करके देखो; 'यह मेरा पुत्र है इसलिये मेरी सेवा करेगा, मेरी आज्ञा का पालन करेगा।' यह जाग्रत् में घटाकर दिखा रहे हैं। स्वप्न में तो घट ही जाता है। यह पुत्रकी सप्रयोजनता है। वह लड़का जब बड़ा होता है तो कहता है कि 'मेरे को अपने ही बच्चे पालने मुश्किल हो रहे हैं, तुम्हारी कहाँ से सेवा करूँ?' इस प्रकार सेवा भी गई। पिता कहता है 'बेटा! कम से कम सवेरे पाँच बार गायत्री का जप कर लिया कर' तो पुत्र कहता है—'कहाँ इस बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आकर पंद्रहवीं शताब्दी की बात करते हो! यह सब अंधविश्वास है। तुम छोड़ो तो बहुत अच्छा नहीं छोड़ो तो मर्जी आये सो करो, मैं तो उन्हीं पाँच मिनटों में विश्व समाचार सुनने का काम करता हूँ, तुम्हारा गायत्री का जप करूँ?' इस प्रकार पुत्र की सप्रयोजनता में विप्रतिपत्ति जाग्रत् में ही हो गई। इतने पर भी उसमें तुम्हारी पुत्रत्व की प्रतीति है या नहीं? 'यह मेरा पुत्र है' ऐसा क्यों कह रहे थे? सप्रयोजनता को लेकर ही पुत्रत्व था। अब सप्रयोजनता के नष्ट होने पर भी क्या वह पुत्र दीखना बंद हो गया? कहते हो 'है तो नालयक लेकिन बेटा तो बेटा ही है।' जाग्रत् में ही विप्रतिपत्ति हो गई। इसलिये वह विप्रतिपत्ति केवल स्वप्न में हो ऐसा नहीं। स्वप्न का मूल अर्थ किया था संस्कारजन्यत्व। संस्कारजन्यत्व जहाँ जहाँ होता है वहाँ वहाँ विप्रतिपत्ति है, चाहे जाग्रत् काल का स्वप्न हो।

Scanned by CamScanner

दृष्टांत देते हुए विप्रतिपत्ति को स्पष्ट करते हैं। जाग्रत् अवस्था के अन्दर खूब अच्छी तरह खा लिया, पी लिया भूख मिट गई। सोने के साथ ही अपने आपको देखता है कि भूख प्यास से मर रहा है, चौबीस घण्टे हो गये, जन्माष्टमी का व्रत चल रहा है। अभी अभी तो बढ़िया सुन्दर बाजरे की भाखरी घी के साथ चूरकर शक्कर मिलाकर खाई लेकिन सोने के साथ ही देखता है कि रात के बारह बजे हैं, कुछ केला आदि मिल जाये तो अच्छा हो। 'मैने कुछ नहीं खाया क्योंकि व्रत वाला हूँ' ऐसा अपने आपको देख रहा है, मान रहा है।

स्वप्न का दूसरा लक्षण भी इसके अनुसार समझते जाना। घर में बढ़िया दाल भात साग बना था, पानी था, वह खा लिया, पी लिया, तृप्ति भी हो गई। उसके बाद घर से बाहर चले। अब यह जाग्रत् काल में घट रहा है। बाहर निकलते ही बढ़िया चाट वाला दीखा, उसको देखते ही संस्कार-जन्यता आ गई कि इसमें बड़ा स्वाद है। स्वाद तो खाने के बाद ही पता लगेगा। अभी तो केवल देखा और देखने से संस्कारजन्यता आई। इस चाट वाले को तीन दिन से ढूँढ रहे थे, नहीं मिला था। यहाँ चाट वाले के प्रति जो अपने अंदर संस्कार थे उनके कारण मान लिया कि भूख तो लगी ही है, और भूख लगकर तुम चाट खा रहे हो। पेट में जगह कहाँ से आई? घर वाली ने कहा था 'थोड़ा भात और ले लो', तो नहीं लिया था। घर से ठंडा पानी पीकर आये, लेकिन बाहर निकलकर सामने ठण्डी काली काली कोका-कोला की बोतल दीख गई। घर वाली ने कहा था कि पानी पीते जाओ तो कहा था कि और प्यास नहीं है। लेकिन अब उसे देखकर प्यास लग गई। संस्कारजन्यता के कारण पिया हुआ पानी भी तुम्हारी प्यास नहीं मिटा पाता। पेट में पड़ा हुआ पानी और दाल भात तुम्हारी भूख प्यास को नहीं मिटा पा रहा है, संस्कार उद्बुद्ध होने के साथ ही; यह नहीं कि घण्टे भर खाये हुए हो गया हो। जाग्रत् काल में भी जहाँ संस्कारजन्यता हुई, सप्रयोजनता नष्ट हो जाती है। ऐसे ही भोजन परोसते समय भी समझ लेना। भोजन कोई परोस रहा है। मान लो बढ़िया लवंग-लता बनी है। साग करेले का बनाया है, उसमें जरा कड़वापना ज्यादा है। लवंग-लता सारी खतम हो जाती है लेकिन करेला सवेरे तक बचा रहता है। क्या वह भूख को नहीं मिटा सकता? लेकिन लवंग-लता के रहते करेला भूख मिटाने में असमर्थ है। भूख तो वह भी मिटायेगा जैसे लवंगलता मिटाती है, लेकिन संस्कार बीच में आ जाते हैं तो सप्रयोजनता नहीं रह जाती।

जैसे स्वप्न में खाया पिया व्यक्ति उठने पर अतृप्त होता है, स्वप्न में लवंगलता खा ली और उठे अतृप्त, ऐसे ही जगने पर खा पी कर स्वप्न में अतृप्ति हुई। दोनों की सप्रयोजनता निष्प्रयोजनता एक जैसी हो गई। तात्कालिक शांति तो दोनों जगह हो गई। स्वप्न में भी तृप्ति हो गई थी। संस्कारजन्य चीजों को खा पीकर वहाँ व्यवहार चला, सपने में भी दाल अच्छी तरह नहीं गली और चावल बिल्कुल गल गया। वही तुमको परोसा गया। परोसने वाला कहता है 'और लो', तुम कहते हो, 'पेट भर गया।' वह गुलाबजामुन

Scanned by CamScanner

ले आता है। तुम्हे तृप्ति हो गई थी, गुलाब जामुन देखते ही अतृप्ति हो जाती है। ऐसे जाग्रत् में अच्छी तरह से खा पीकर भी चाट देखकर पुनः अतृप्ति हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जाग्रत् काल में भी जब-जब संस्कारजन्यता प्रधान होगी तब-तब जो तुम्हारे जाग्रत् कालीन पदार्थ हैं उन्हें दबा लोगे अर्थात् उनकी सप्रयोजन प्रतीत नहीं होगी। जाग्रत् कालीन पदार्थ का तुमने भोग कर भी लिया और संस्कारजन्यता प्रधान हो गयी तो भी अतृप्ति आ जायेगी। चाहे लेटकर चाहे बैठ कर स्वप्न देखो, बात एक ही है।

इसका फल क्या हुआ? जब यह सिद्ध हो गया तब हम यह स्वीकार करते हैं कि जाग्रत् दृश्य भी असत्य हैं स्वप्नदृश्यवत्। इस विषय में सारी शंकाओं को धो देना चाहिये। जाग्रत् दृश्यों को देखते हुए कि ये प्रयोजन वाले हैं, इसी टण्टे में तो व्यवहार करते रहते हो। ये कुछ प्रयोजन वाले नहीं हैं, बेकार हैं। एक बार हमें बुखार आया, दो जने दबा रहे थे। हम सोच रहे थे कि बहुत से बाप कहते हैं कि बेटा नहीं होगा तो सेवा कौन करेगा? हमारी सेवा हो रही है। और कई बाप बने हुए शिकायत करते हैं कि 'बेटा सेवा नहीं करता।' बेटा न होने पर सेवा हो रही है और पैदा करने पर सेवा नहीं होती! तो सप्रयोजनता कहाँ रही। प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले जाग्रत् दृश्य भी प्रयोजन वाले नहीं इसलिये आदि वाले और अंत वाले जाग्रत् दृश्य और स्वप्न दृश्य दोनों ही मिथ्या हैं।।७।।

हेतु में जो उपाधि का दोष दिया था उसे हटाया। तब अब वादी दृष्टांत में साध्यविकलता देता है कि तुम्हारा दृष्टांत गलत है। वादी कहता है

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः।।८।।

जैसे हम लोगों के लिये अपूर्व, नवीन, सहस्राक्षता आदि, इन्द्रादि स्वर्गनिवासियों के लिये अपूर्व नहीं, ऐसे स्वाप्न पदार्थ जाग्रत् की दृष्टि से अपूर्व होने पर भी स्वप्नाभिमानी केलिये अपूर्व नहीं क्यों कि वे तो उसके धर्म हैं। जैसे जानकार आदमी रास्ते से नयी जगह देख आता है ऐसे ही जीव स्वप्नावस्था में पहुँचकर उन वस्तुओं को देखता है जो जाग्रद्दृष्ट्या अपूर्व हैं। तुम जो स्वप्न को असत्य कहते हो, वही नहीं है। साध्य हुआ मिथ्यात्व जिसे 'वैतथ्यं सर्वभावानाम्' से कह आयें हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में सिद्ध करना है वह्नि को इसलिये वह्नि साध्य है। पर्वत तो दीख ही रहा है, उसे सिद्ध नहीं करना है। पक्ष को इसलिये अलग से सिद्ध करना पड़ता है कि यदि पहले पक्ष ही सिद्ध नहीं हो तो साध्य कहाँ होगा। सूक्ष्म विचार करने में यह दोष नैयायिक और बौद्ध दोनों देंगे। आत्मा सत्य है, सर्वथा रहने के कारण, व्यतिरेकेण घटवत्। बौद्ध कहेगा कि हम आत्मा को ही नहीं मानते, आत्मा में प्रमाण क्या है? इसलिये यदि पहले आत्मा

Scanned by CamScanner

रूपी पक्ष ही सिद्ध नहीं है तो आत्मा सत्य है यह कैसे सिद्ध करोगे? यदि आत्मा प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो वह पक्ष नहीं हुआ। यहाँ पक्ष तो दृश्य हैं अतः पक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रयास नहीं करना पड़ा। यहाँ दृष्टांत स्वप्न है। दृष्टांत अर्थात् स्वप्न में साध्यविकलता हुई कि स्वप्न मिथ्या नहीं है। यह शंका है।

स्वप्न मिथ्या क्यों नहीं है? स्वप्न मिथ्यात्व का कारण संस्कारजन्यता। इसमें हेतु क्या है? हमको स्वप्न में चार सूँड वाला हाथी दीखता है अथवा हमको स्वप्न के अन्दर अपने आठ हाथ दीखते हैं। चार सूँड का हाथी या आठ हाथ का आदमी हमने देखा नहीं है तो उसके संस्कार कहाँ से आये? जब संस्कार नहीं आये तो वह संस्कारजन्य भी नहीं हुआ। जिन चीजों को जाग्रत् में हमने अनुभव नहीं किया उनके संस्कार नहीं, और वे चीजें जब दीखती हैं तो वे संस्कारजन्य नहीं इसलिये स्वप्न मिथ्या नहीं है। यह मूल कारिका के अपूर्व पद से सूचित है। कोई कहे 'स्वर्ग के अन्दर एक हजार आँखों वाला इंद्र होता है यह तो झूठ है, क्योंकि हमको यहाँ नहीं दीखता', तो यही मानेंगे कि ऐसा नहीं। स्वर्ग में हजार आँखों वाला इंद्र है, यहाँ नहीं है। अथवा ब्रह्मलोक में चार मुख वाला ब्रह्मा है। इसका मतलब यह नहीं कि चार मुख वाला आदमी नहीं तो चार मुख वाला ब्रह्मा भी नहीं है। ब्रह्मलोक में है, यहाँ नहीं है। इसी प्रकार स्वप्न लोक में हमको जो दीखता है वह पदार्थ भी है। स्वप्नलोक अलग है। जैसे स्वर्ग में रहने वालों के नये नये अनुभव होते हैं, ऐसे ही हम लोगों के भी नये नये अनुभव होते हैं। 'तान् अयं गत्वा प्रेक्षते' वहाँ होने वाली नई नई चीजें दीखती हैं। जैसे स्वर्ग में सहस्राक्ष इंद्र, ब्रह्मलोक में चतुर्मुख ब्रह्मा, ऐसे ही दूसरे-दूसरे लोकों में दूसरे-दूसरे पदार्थ दीखते हैं। यहाँ स्वर्ग का इंद्र क्यों नहीं दीखता? क्योंकि वह इस लोक की चीज नहीं है। ठीक इसी प्रकार स्वप्न के अन्दर जो खजाना बन्द किया वह क्यों नहीं दीखता? क्योंकि वह स्वप्न लोक में था, वहाँ छोड़ आये, वहाँ रखा हुआ है, यहाँ नहीं है। स्वप्नदृक्, स्वप्न को देखने वाला वहाँ जाकर देखकर आता है। बहुत से लोग इस प्रकार स्वप्न की सत्यता सिद्ध करते हैं।

वहाँ कैसे जाते हैं? 'यथा एव इह सुशिक्षितः' जैसे किसी को रास्ता दिखा दिया जाता है कि इस रास्ते से चले जाना, तो वह चला जाता है, आँख बंद करके भी चला जाता है। इसी प्रकार स्वप्न में भी रास्ता ढूँढकर चला जाता है और वहाँ देखकर फिर लौट आता है। इसलिये स्वप्न के पदार्थ असत्य नहीं हैं। दृष्टांत हुआ स्वप्न, उसके अन्दर ही साध्य नहीं रहा क्योंकि स्वप्न सत्य है, अतः साध्यविकलता हुई।

भगवान् गौडपादाचार्य ने एक ही शब्द से दोष हटा दिया 'स्थानिधर्मः'। स्थान में रहने वाला स्थानी हुआ। स्थानी को जो जाग्रत् में दिखाई देता है वह जैसे मिथ्या है वैसे ही स्थानिधर्म होने से स्वप्न में भी मिथ्या है। मृगतृष्णिका, रज्जुसर्प जैसे यहाँ स्थानी को मिथ्या दीखता है, वैसे ही वहाँ भी मिथ्या दीखता है। भगवान् भाष्यकार क्यों स्वप्न

Scanned by CamScanner

दृष्टांत को कम लेते हैं? उसका यही कारण है। वशिष्ठ महर्षि तो अधिकतर स्वप्न दृष्टांत को लेते हैं किन्तु भाष्यकारों ने अधिकतर दृष्टांत रज्जुसर्प, मृगतृष्णा का लिया। इसका हेतु यह है कि वशिष्ठ जी के समय तक किसी के मन में यह नहीं आया था कि स्वप्न को सत्य सिद्ध करें। भाष्यकारों के समय तक बौद्ध, जैन, नैयायिक सब आ चुके थे जो स्वप्न को ही झूठा नहीं मानते थे। स्वप्न को असत्य सिद्ध करने के लिये मृगतृष्णिका, रज्जुसर्प को दृष्टांत लेना पड़ता है। रज्जुसर्प से स्वप्न को मिथ्या और फिर स्वप्न से जाग्रत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं।

यहाँ मृगतृष्णिका आदि के दृष्टांत से स्वप्न को मिथ्या सिद्ध करना पड़ेगा नहीं तो अपूर्वता को लाकर स्वप्न को वादी सत्य सिद्ध कर देगा । उससे कहा 'स्वप्न के अन्दर तुमको लाख रुपया दिया था, वह दे दो', तो वह उसका जबाब देगा कि 'स्वप्न लोक में दिया था, वहीं लौटा देंगे। जैसे इंद्र लोक में जो चीज ली है वापिस भी इंद्र लोक में करेंगे, यहाँ नहीं।' जैसे व्यवहार काल में बिना किसी इन्द्रिय ज्ञान के भी रोज चलने वाला ठीक रास्ते पर चला जाता है, उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा स्वप्नगत पदार्थों को जाकर देख आता है। भाष्यकार कहते हैं कि स्वप्न के भेद अर्थात् पदार्थ और जाग्रत् के पदार्थ दोनों एक जैसे ही हैं। सिद्धान्ती ने जो बात कही वह तो हम भी मानते हैं कि स्वप्न और जाग्रत् के पदार्थ एक जैसे हैं, लेकिन वह कहता है वे एक जैसे वितथ हैं और हम कहते हैं कि वे एक जेसे सत्य हैं।

भेद शब्द का प्रयोग कर बताते हैं कि जाग्रत् के पदार्थ अलग-अलग हैं तो सत्य हैं। भेद को ही हेतु मान रहे हैं। जाग्रत् के पदार्थ दृश्य-द्रष्टा भेद वाले हैं। कोई चीज है जिसको देखा जाता है और देखने वाला होता है। जैसे जाग्रत् के पदार्थ दृश्यद्रष्टा भेद से सत्य हैं, वैसे ही स्वप्न में भी दृश्य-द्रष्टा का भेद है इसलिये स्वप्न के पदार्थ भी सत्य हैं। हम लोगों का कहना था कि जैसे स्वप्न में दृश्य-द्रष्टा भेद है तो वहाँ के पदार्थ झूठे हैं ऐसे जाग्रत् में भी दृश्य-द्रष्टा भेद है इसलिये उसके पदार्थ भी झूठे हैं। उन्होंने अब इसको उलट दिया। जाग्रत् में जैसे दृश्य-द्रष्टा भेद होने से पदार्थ सत्य होते हैं वैसे ही स्वप्न में भी दृश्य-द्रष्टा भेद होने से पदार्थ सत्य हैं। भेद का अर्थ अलगाव है। कुछ चीजें ऐसी हैं जो जाग्रत् में दीखती हैं, कुछ ऐसी हैं जो जाग्रत् में नहीं दीखती। सपने में कुछ चीजें नई दीखेंगी। कुछ चीजें अलग दीख गई तो अलग देश मानना पड़ेगा। जहाँ दृश्य-द्रष्टा भेद हुआ करता है वहाँ पदार्थ सत्य हुआ करते हैं। इसलिये समानता है क्योंकि दोनों जगह दृश्य-द्रष्टा भेद एक जैसा है। अतः तुमने स्वप्न के पदार्थों को असत्य मानकर जो जाग्रत् के दृश्य-द्रष्टा भेद वाले पदार्थों को असत्य कहा, वह गलत कहा।

दृष्टांत कैसे असिद्ध कर दिया? जाग्रत् द्रष्टा अर्थात् जाग्रत् को देखने वाले के द्वारा ही स्वप्न के पदार्थ नहीं देखे जाते हैं। जैसे हम अगर स्वर्ग लोक जाते हैं तो जाग्रत् द्रष्टा थोड़े ही स्वर्ग में जायेगा। वह यहीं छोड़ दिया जायेगा। वहाँ इन आँखों से नहीं दीखेगा।

Scanned by CamScanner

वहाँ कैसे देखा जाता है? जिस बात को कभी भी नहीं देखा ऐसी बात को स्वप्न में देखते हैं। देखता है कि चार सूँडो वाले और चार दाँतों वाले हाथी पर बैठा हुआ हूँ। अपने आपको आठ हाथों वाला देखता है। ऐसा ही अपने आपको समझता है। चार दाँतों वाले हाथी पर लक्ष्मी बैठती हैं। इसी प्रकार सहस्राक्ष आदि भी समझ लेना। जो ध्यान धारणा करता रहेगा उसको ये सब दर्शन होंगे। जैसे स्वर्ग जाकर सत्य ही दीखता है वैसे हमने सपने में सत्य ही देखा। अतः दृष्टांत असिद्ध हो गया। इसलिये स्वप्न दृष्टांत के द्वारा जो तुमने जाग्रत् को असत् सिद्ध किया था वह अयुक्त है, ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती कहता है कि यह हम नहीं मानेंगे अर्थात् दृष्टांत असिद्धता नहीं मानेंगे। यह बातओ कि स्वप्न सत्य है यह तुम स्वभावतः मानते हो या किसी प्रमाण से सिद्ध मानते हो? दृश्य और द्रष्टा का जहाँ-जहाँ भेद होता है वहाँ-वहाँ सत्यता होती है यह जो तुमने व्याप्ति बनाई, यह स्वभाव से सिद्ध है या परतः सिद्ध है। तुम्हारी व्याप्ति है कि जहाँ-जहाँ दृश्य और द्रष्टा का भेद होता है वहाँ-वहाँ सत्यता होती है। यह व्याप्ति तुमने कहाँ पकड़ी? स्वभावसिद्ध या स्वतः सिद्ध नहीं मान सकते क्योंकि मृगतृष्णिका में भी भेद है। परतः सिद्ध मानोगे तो किस प्रमाण से सिद्ध करोगे? भेद क्या है? द्रष्टा और दृश्य का भेद (अन्योन्याभाव) जड है। जड अपने को जानता नहीं। उस अलगाव को या भेद को सिद्ध करने के लिये कोई चेतन चाहिये। इसलिये भेद को स्वतः सिद्ध नहीं कह सकते।

यह वेदांत की बड़ी विशिष्ट कड़ी है, इसे याद रखना : जो जो जड होता है वह स्वतः सिद्ध नहीं होता। तुम्हारे मुँह ने हमको गाली दी। गाली को मुझ चेतन ने ग्रहण किया। उस अंतःकरण में बेठे चेतन ने गाली नहीं दी क्योंकि उसे किसी ने आज तक नहीं देखा। इसलिये जब हम कहते हैं कि 'हमको अमुक ने गाली दी' तो यह झूठ है। सत्य यह है कि हमने अपने आपको गाली दी। कानों से सुना हमने और उसका अर्थ भी हमने किया। मुझे दी गई यह भी हमने माना। हम कमरे में बैठ जायें और खूब अपने दिल से फोर्ड को पाँच गालियाँ दें तथा उसकी टेपरिकार्डिंग कर लें। जब तुम हमारे कमरे के सामने से निकलो तो वह टेप हम बजा दें। देते समय भी वे गालियाँ हमने तुमको नहीं दीं, फोर्ड को दीं। अब भी हम नहीं बोल रहे हैं, टेपरिकार्डर बोल रहा है। फिर भी गाली तुम्हे लग रही है! यह वेदांत की कड़ी जो पकड़ लेगा कि जड की सिद्धि मुझसे है, वह तो समस्या का हल कर लेगा। दस आदमियों के सामने गाली दी तो दस आदमियों ने तो वह शब्द सुना। गाली तो मैंने सुनी। अतः गाली का कारण मैं ही हूँ। दृश्य-द्रष्टा का भेद जड है और जड पदार्थ कभी भी स्वतः सिद्ध नहीं होता, चेतन से सिद्ध होता है।

इसलिये व्यवहार हमेशा अज्ञानसिद्ध है, ऐसा कहा जाता है क्योंकि जब जब यह बात टालोगे तभी व्यवहार होगा और जब यह बात याद रखोगे तब लीला होगी। परमेश्वर,

Scanned by CamScanner

आत्मज्ञानी, आधिकारिक पुरुष भी व्यवहार करता देखा जाता है। बाहर से लगता है कि दोनों एक जैसा काम कर रहे हैं। जिस समय याद है कि 'मैं कर रहा हूँ, जड को मैं चेतन सिद्ध कर रहा हूँ', उस समय में ज्ञान है, वह लीला है। जिस समय उसे भूलकर जड को स्वतः सिद्ध मानते हो तब व्यवहार है। तुम ही सामने वाले में अपनी सत्ता डालकर गाली ले रहे हो, यह देखने के लिये कि गाली खाने में कैसा लगता है। जैसे मिर्च खाकर मुँह जलता है; ऐसा नहीं कि गलती से मुँह में मिर्च जाती हो, अपनी तरफ से मिर्च डालकर मजा लेते हो। इसलिये कर्तृत्व से नहीं घबराओ। तुम्हारे को बोलते हुए देखने का काम हमने किया। हमने तुम्हें उस ढंग से देखा तो तुम बोलते हुए दीखे। तुम तो सिद्ध ही नहीं होते। तुमको तो हम ही सिद्ध कर रहे हैं। कहो कि अंतःकरण विशिष्ट चेतन कर रहा है; तो वह भी गप्प है, क्योंकि अंतःकरण को कभी देखा नहीं। इसलिये केवल कल्पना है। अनुभूति तो केवल तुम्हारे शरीर की हुई। उस शरीर को चेतन मैंने बनाया।

एक बात हमारे अनुभव की है। कलकत्ते के नीमतल्ले घाट में किसी को जलाने के लिये ले गये, आठ दस पहलवान मोटे शरीर वाले साथ थे। उस को किसी ने जहर देकर मार दिया था, कुछ ऐसा ही विषय था कि उसे जल्दी खत्म करना था। लेकर गये तो लकड़ियों के पैसे पूरे नहीं मिले। उसके पास पैसे थे वे तो ले जाने वाले ले गये। हुआ कि जल्दी जलाओ। स्वाभाविक होता है कि जहाँ पैसे थोड़े हों तो अधजला ही छोड़ते हैं। अचानक देखा कि वह उठकर बैठ गया। वहाँ पच्चीस आदमी खड़े थे, यह देखते ही सबके सब भाग गये कि यह तो भूत बन गया। केवल दो आदमी वहाँ रह गये क्योंकि उन्हें विश्वास था कि भूत नहीं हुआ करता। उसे खूब पीटा, नीचे दबाया, नीचे की लकड़ियों को ऊपर किया, तब कहीं जाकर वह जला। पहले विचार हुआ कि उसे गंगा जी में डाल दो, लेकिन विचार किया कि लाश कहीं पुलिस के हाथ लग गई तो पोस्टमार्टम होकर मामला बढ़ जायेगा। वह जो उठकर बैठ गया था, उसे बैठाया था चौबीस ने, बाकी दो ने नहीं बैठाया। शव जलाते समय कई बार ऐसा होता है कि शव अकड़ कर बैठ-सा जाता है। जो अनुभवी नहीं होते उन्हे भ्रम हो जाता है कि उसमें कोई चेतन है।

इसी प्रकार दूसरे के शरीर की क्रियाओं को देखकर उसमें चेतन भूत बैठा हुआ है, यह कल्पना करके सोचते हो कि 'इन्होंने किया', 'मैंने किया'। इस अज्ञान के कारण ही इसको व्यवहार कहा जाता है। जिस समय यह अज्ञान नहीं रहता उस समय लीला है। इसलिये दृश्य-द्रष्टा के भेद से सत्य भेद जो वादी मान रहा है वह स्वतःसिद्ध नहीं मान सकते। इसलिये यदि तुमको स्वप्न की सत्यता भी सिद्ध करनी पड़ेगी तो स्वप्नस्थान वाले द्रष्टा को लेकर ही सत्यता की सिद्धि करनी पड़ेगी। स्वप्न देखने वाला दूसरा होगा तो वह सत्य सिद्ध नहीं होने वाला है। इसलिये उसका ही यह धर्म मानना पड़ेगा।

Scanned by CamScanner

दृष्टांत दिया कि जैसे स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र इत्यादि अपने को सहस्राक्ष देखते हैं, वैसे ही तूने ही यहाँ स्वप्न में अपने को अष्टभुजी देखा। देखने वाला तू ही है, वहाँ कोई दूसरा नहीं है। उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा का जो अपूर्व-दर्शन है वह उसका स्वभाव है। इससे सत्यता की सिद्धि नहीं कर सकते। अपूर्व स्वप्नदर्शन स्थानी का ही धर्म है, स्वप्नद्रष्टा का धर्म है। जैसे द्रष्टा का स्वरूप स्वतःसिद्ध है वैसे वह स्वतः सिद्ध नहीं। नवें श्लोक में स्पष्ट करेंगे कि जिसको तुम अपूर्व कह रहे हो वह सब अपने ही चित्त के विकल्प हैं। जाग्रत् में भी अपने ही चित्त के विकल्प और स्वप्न में भी अपने ही चित्त के विकल्प दीखते हैं। इससे यह नतीजा निकला कि अपूर्व स्वप्न स्थानी का धर्म है। अपूर्व पदार्थ स्थानी से अलग होकर सिद्ध होता तो वादी की बात बन जाती लेकिन वह स्थानी से सिद्ध है इसलिये स्थानी का धर्म है। जो चीज द्रष्टा से ही सिद्ध होती है वह मिथ्या होती है। जैसे जाग्रत् में मृगतृष्णा, रज्जुसर्पादि अपूर्व द्रष्टा से ही सिद्ध हैं तो असत्य हैं, वैसे ही स्वप्न भी स्थानिधर्म होने के कारण असत्य है। इस प्रकार दृष्टान्त स्वप्न मिथ्या ही है अतः दृष्टान्त की साध्यविकलता का दोष दिया नहीं जा सकता।।८।।

●

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद् दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ।।९।।

सपने में भी जो केवल मनोरथ से कल्पित होता है वह असत्य लगता है और वहाँ जो बाहर दीखता है वह सत्य लगता है, जबकि जाग्रत् की दृष्टि से दोनों एक से मिथ्या हैं। अतः सच लगने न लगने से कोई बात सिद्ध नहीं होती।

जाग्रत् पदार्थ यदि सब मिथ्या हैं तो उनमें सत् असत् विभाग कैसे करोगे? मृगतृष्णिका वितथ इसलिये है कि गंगा जल से अलग है। जैसे मृगतृष्णिका स्थानिधर्म वैसे ही स्वप्न के पदार्थ स्थानिधर्म हुए। जैसे स्वप्न के पदार्थों में दृश्य-द्रष्टा का भेद, वैसे ही जाग्रत् पदार्थों में, इसलिये गंगा जल भी असत्य सिद्ध हुआ। गंगाजल को सत्य मानकर आप मृगतृष्णा को असत्य सिद्ध कर रहे थे। अब उसी गंगाजल को असत्य सिद्ध करने लग गये तो सत् असत् विभाग का प्रतिभान कैसे होगा?

इसका उत्तर स्वप्न दृष्टांत से बताते हैं। जब स्वप्न का व्यवहार कर रहे होते हो तो वहाँ भी तुम एक सत् और एक असत् की कल्पना करते हो। जिसे तुम केवल अंतःकरण के द्वारा बनाते हो उसे स्वप्न में भी असत्य मानते हो वहाँ भी आँख खोलकर अंतःकरण को बहिर्मुखी बनाकर जिसे देखते हो उसे सत्य कहते हो। स्वप्न काल में भी यह होता है कि मेरे को रस्सी में साँप दीखा था, था नहीं। स्वप्न काल के अंदर एक चीज केवल अंतःकरण से दीखती है और एक चीज अंतःकरण को इन्द्रियों के द्वारा बाहर ले जाकर देखते हो। यही तुम्हारे स्वप्न में भेद का कारण होता है। जहाँ-जहाँ बहिश्चेतोगृहीतता हो

Scanned by CamScanner

वह वह सत् और जहाँ अंतश्चेतोगृहीतता हो वह असत् है। यह सत् असत् के व्यवहार का हेतु स्वप्न में होता है। स्वप्न से उठने के बाद नहीं कह सकते कि वहाँ आँख खोलकर रूप देखा था वह सच्चा और जो रस्सी में साँप देखा था वह झूठा। उठने पर सिद्ध होता है कि दोनों एक जैसे असत् हैं, चाहे अंतःकरण से देखा था चाहे आँख खोलकर देखा था। उठ जाने पर दोनों का वैतथ्य (असत्यता) वहाँ सिद्ध हो जाता है। इसलिये सत् असत् के भेद का कारण अंतश्चेतना से गृहीत और बहिश्चेतना से गृहीत को लेकर है। उसमें कारण सत्य असत्य नहीं।

भगवान् भाष्यकार स्वप्न दृष्टान्त में अपूर्वत्व की शंका को हटाकर फिर से जाग्रत् पदार्थों की स्वप्नसमता का प्रपंचन करते हैं। स्वप्न स्थान में भी केवल अंतःकरण अर्थात् मन को ही रथ बनाकर जिसे देखा जाता है उसे असत्य मानते हो क्योंकि संकल्प के अनन्तर उसी समय देखने में नहीं आता। स्वप्न काल में भी जिसे स्वाप्न अंतःकरण की वृत्ति से देखते हैं, वह अग्रिम क्षण में नहीं रहता। सामने साधनस्वरूप बैठा है, पाँच मिनट बाद भी बैठा हुआ है, इसलिये यह मनोरथ नहीं। जिसका संकल्प के काल में तो दर्शन है, संकल्प के बाद दर्शन नहीं, अग्रिम क्षण ही नहीं, वह असत् है। यही सत् असत् के भेद का कारण है, और कुछ नहीं। स्वप्न के अन्दर बहिश्चेतना से गृहीत होने से, अर्थात् आँख इत्यादि खोलकर जो वहाँ घट आदि दीखते हैं वे, सत् हैं। उठने पर दोनों की असत्यता का निश्चय होने पर भी तो सत् असत् विभाग देखा गया है। वितथ चीजों में भी सत् असत् का भेद होता है।

यही जीवन्मुक्ति की अवस्था की स्थिति है। कई बार शंका होती है कि जब जीवन्मुक्त सब चीजों को एक जैसा मिथ्या समझता है तो फिर हो सकता है कि वह झूठ सच को एक समझता हो। ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि जैसे स्वप्न के असत्य पदार्थों की बुद्धि होने पर भी हम जानते हैं कि जो स्वप्न में मनोरथ से दीखे थे वे असत् और आँख खोलकर दीखे थे वे सत् थे, यद्यपि असत्य दोनों एक जैसे हैं, इसी प्रकार जीवन्मुक्तावस्था के अन्दर सब चीजों की असत्यता एक जैसी देखने पर भी सत्यता असत्यता का भेद बना रहेगा। यह स्थाई और अस्थाई का भेद केवल अंतश्चेतना और बहिश्चेतना से कल्पित होने के कारण है। उपाधिभेद होने के कारण दोनों अलग अलग हैं।

हमने गंगाजल की स्थायिता से मृगतृष्णिका की असत्यता को सिद्ध किया था। गंगाजल स्थायी नहीं है यह हम अब भी नहीं कह रहे हैं। अस्थाई चीज अपूर्व भी होती है। गंगाजल सत्य है यह मानकर असत्यता सिद्ध नहीं की थी। अब भी हम नहीं कह रहे हैं कि गंगा जल सत्य है। जैसे स्वप्न की रस्सी और स्वप्न का साँप दोनों असत्य होने पर भी रस्सी के ज्ञान से साँप का बाध हो जाता है, वैसे ही गंगाजल और मृगतृष्णा दोनों मिथ्या होने पर भी एक को बाध्य और दूसरे को व्यावहारिक मानना संगत हो जाता है। तुमने स्थायिता अस्थायिता को लेकर सिद्ध किया था कि स्थायी सत्य है, उसी का अतिदेश हम कर देते हैं।।९।।

●

Scanned by CamScanner

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः।।१०।।

पूर्व श्लोक के भाव का जाग्रत् में अतिदेश कर रहे हैं। जैसे वहाँ स्वप्न व्यवहार कहा था, वैसे ही जाग्रत् व्यवहार में भी जो केवल अंदर से दीखे वह असत् होता है और जो आँख से दिखाई देता है वह सत् है। लेकिन दोनों का मिथ्यात्व एक जैसा है। एक को सत् कहेंगे, एक को असत् कहेंगे।

इसी कल्पना से ही सारे बंधन शुरू होते हैं। जैसे मान लो हमको आनंदगिरि ने कोई बुरी बात कही, यह अंतश्चेतना से लगा। हमने आनंदगिरि से पूछा 'तुमने यह बुरी बात कही?' आनंदगिरि ने कहा 'मैंने नहीं कही।' इसको बहिश्चेतना ने ग्रहण किया, कान से सुना। 'इसका मतलब यह था' यह अंतश्चेतना ने ग्रहण किया था। इतने पर भी महामूर्ख मानेगा कि जो मन से सुना वह सत्य और जो कान से सुना वह असत्य है! मतलब को कोई नहीं देख सकता। बहिश्चेतना से जो दीखे वह सच्चा है। लोग ठीक इससे विपरीत करते हैं।

इस प्रकार सद्-असद् विभाग बना रहने पर भी मिथ्यात्व समझने में कोई कठिनायी नहीं क्योंकि अन्तश्चेतःकल्पितत्व और बहिश्चेतःकल्पितत्व, ये जो असत्त्व और सत्त्व के प्रयोजनक स्वप्न में निश्चित हुए थे वे जाग्रत् में यथाभाग बने रहते हैं, और जाग्रत् स्वप्न की तरह मिथ्या भी सिद्ध हो जाता है।।१०।।

●

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः।।११।।

अब कोई कहता है कि आपने यह सिद्ध किया कि द्रष्टा और दृश्य स्वप्न और जाग्रत् दोनों जगह मिथ्या हैं। मिथ्या हमेशा सत्यमूलक होता है। मिथ्या सत्य के सापेक्ष है, जब तक तुम किसी को सत्य सिद्ध न करो तब तक दूसरा मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकता। तुमने द्रष्टा को मिथ्या माना, दृश्य को भी मिथ्या माना। जाग्रत् द्रष्टा और जाग्रत् स्वप्न दोनों के द्रष्टा और दृश्य को जब मिथ्या मान लिया तो फिर तुम भी बौद्ध हो गये। सत्यसापेक्ष्य मिथ्या मानना वेदांत है। सत्यनिरपेक्ष स्वतःसिद्ध मिथ्यात्व मानना वेदांत-विरुद्ध है।

यह भेद ठीक से समझना। वेदांती स्वतः प्रमाणवादी है। उसका कहना है कि कोई भी चीज जब तक झूठी सिद्ध न हो तब तक सच्ची है। पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक दोनों मानते हैं कि जब तक प्रमाणांतर से कोई विसंवाद न हो, दूसरे प्रमाण से जब तक कोई चीज झूठी सिद्ध न हो, तब तक सत्य है। सामने हमको अडूसे का फूल दीख रहा है, यह दीखना प्रमाण स्वतः है। कड़ा होने से, फाड़ते समय आवाज करने से,

Scanned by CamScanner

मधुमक्खियों के न जाने से, इत्यादि कारणों से जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि यह फूल कागज का है अडूसे का नहीं है तब तक अडूसे के फूल का ज्ञान स्वतःप्रमाण है। वस्तुतः समग्र वैदिक कर्मकाण्ड के प्रामाण्य का आधार यही है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' ज्योतिष्टोम यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह वेद वाक्य स्वतःप्रमाण हुआ। जब तक तुम यह सिद्ध न करो कि ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तब तक यह वचन स्वतः प्रमाण है। हमारी जिम्मेवारी यह सिद्ध करने की नहीं कि ज्योतिष्टोम से स्वर्ग होता है क्योंकि हम स्वतः प्रमाणवादी हैं। यदि कोई कहता है कि ज्योतिष्टोम से स्वर्ग नहीं होता तो वह सिद्ध करे कि नहीं होता।

वाक्य में संशय कहाँ से आयेगा? वक्ता में यदि भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा हो। बौद्ध आदि के आने के पहले तो वेद ने 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' कहा और प्रमाणान्तर से उसका विरोध नहीं हुआ। ज्योतिष्टोम करो, मरो, और फिर आकर कहो कि 'मैंने ज्योतिष्टोम किया और स्वर्ग नहीं मिला', ऐसा विरोधी प्रमाण कभी नहीं मिलना है। सारे कर्मकाण्ड का आधार स्वतः प्रामाण्यवाद है। पहले तो लोग इतने से मानते थे कि वेद कह रहा है। लेकिन बौद्ध जैन आदि के आने के बाद समस्या आई। बौद्ध कहता है कि उनका जो स्तूप होता है उसकी परिक्रमा करने से स्वर्ग होता है। यह बुद्ध ने कहा। उसका वाक्य प्रमाण है या नहीं? वैदिक कहेगा कि प्रमाण नहीं और वह कहेगा कि प्रमाण है। स्वतःप्रमाण मानो तो वह भी मानो। तब प्रश्न हुआ कि किसी वाक्य में अप्रमाणता कैसे आयेगी? या भ्रम हो, या प्रमाद हो या विप्रलिप्सा हो , तभी किसी का वाक्य अप्रमाण होता है। भ्रम अर्थात् वह आदमी स्वयं न जानता हो। प्रमाद अर्थात् जानने पर भी कई बार असावधानी कर जाता हो। संस्कृत बोल रहे होते हो तो पुल्लिग की जगह नपुंसक लिंग, आत्मनेपदि की जगह परस्मैपदि का प्रयोग हो जाता है। हिन्दी बोल रहे हो तो पुल्लिग की जगह स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग की जगह पुल्लिग हो जाता है। हिन्दी वालों ने पुल्लिग और स्त्रीलिंग जबर्दस्ती बना लिये हैं अतः इस विषय में भ्रम भी रह जाता है। जैसे पुस्तक शब्द को इन्होंने स्त्रीलिंग मान लिया है, राम की पुस्तक कहते हैं। अतः भ्रम या प्रमाद से भी मनुष्य गलत बोल सकता है। बिहार वाले हिन्दी में बोलते हैं 'दही खट्टी है, हाथी आई है'। बड़े से बड़ा विद्वान् भी कहता है कि इकारांत है इसलिये स्त्रीलिंग है। दिल्ली वाले कहते हैं 'हाथी आया है, दही खट्टा है', पुल्लिग प्रयोग है। विप्रलिप्सा अर्थात् लोभ के कारण भी आदमी गलत बात कह देता है। पंडित जी के घर में लड़की की शादी हो तो वह जो पुर्जा बनाकर देंगे, उसमें नथ और पायजेब भी लिख देंगे। आगे उनसे पूछें कि यह सब पूजापद्धति में कहाँ लिखा है? तो कहेंगे कि लड़की की शादी है! वाक्य की अप्रमाणता के कारण ये भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा होते हैं।

वैदिकों का कहना है कि बुद्ध जैन इत्यादियों के जो वाक्य हैं वे मनुष्य के वाक्य हैं। बुद्ध ने कहा। बुद्ध मनुष्य शरीर में थे यही तुम मानते हो। मनुष्य कोई ऐसा नहीं

Scanned by CamScanner

हो सकता जिसमें भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा न हो। वेद को बनाने वाला कोई पुरुष नहीं। वेद अपौरुषेय है। इसलिये उसके उच्चारण में प्रमाद विप्रलिप्सा तुम सिद्ध नहीं कर सकते। यदि वेद को भी किसी ने कहा होता तो इसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा की सम्भावना होती। वेद को कहने वाला कोई नहीं, इसलिये वैदिक वाक्य स्वतः प्रमाण हो जायेंगे। बुद्ध ने जो बात कही वह जानकर कही, कहीं न कहीं से पता लगाकर कही। बौद्ध जब कहेगा कि स्तूप की परिक्रमा करने से स्वर्ग मिलता है तो क्या उसने मरकर देखा है? मरकर जाता और वापिस भूत बनकर आता और कहता कि स्वर्ग मिलता है तब उसकी बात मानते, नहीं तो उसकी बात में कुछ प्रमाण नहीं है। इसलिये किसी भी मनुष्य के वाक्य को प्रमाण नहीं मानते क्योंकि मनुष्य में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा जरूर होते हैं। इस प्रकार पूर्व मीमांसा स्वतःप्रामाण्य पर आधारित है। यदि स्वतःप्रामाण्य में कोई संदेह कर दे तो पूर्व मीमांसा का सारा कर्मकाण्ड हाथ से गया।

आधुनिक मनुष्य को शंका ही यह है कि वैदिक वाक्यों का उच्चारण किसने किया? मीमांसक तो इसलियें प्रलय मानता ही नहीं। 'नहि अनीदृशं जगत्'. वह कहता है कि हमेशा से जगत् ऐसे ही रहा है। लेकिन पौराणिक जितने हैं सब प्रलय मानते हैं। वर्तमान विज्ञान भी 'अनीदृशं जगत्' नहीं कह सकता। पहले से हजारों मनुष्य ऐसे ही रहे हैं, उनका पढ़ना पढ़ाना ऐसे ही रहा है, यह मानो तब तो काम हो जाये। हजारों साल से ही पेड़ से बीज, बीज से पेड़ ऐसे चलता रहा। इसलिये यह प्रश्न नहीं कि पहले पेड़ या पहले बीज हुआ क्योंकि प्रवाह अनादि है। लेकिन जो आदि मानने वाले हैं, पौराणिक या आधुनिक, उनसे तो यह प्रश्न बन ही सकता है कि पहले बीज या पहले पेड़ हुआ। इस पौराणिक प्रभाव के कारण सामान्य हिन्दू दोनों विरुद्ध बातें मानता रहता है। मीमांसा की दृष्टि से यह भी मान लेता है कि वेद अपौरुषेय है और पौराणिक आधार पर यह भी कह देता है कि प्रलय होता है। तो सवाल है कि प्रलय के बाद वेदों का उच्चारण सर्वप्रथम कौन करेगा? वह मनुष्य ही होगा। यदि कहो कि उस मनुष्य को ईश्वर ने प्रेरणा की तो बुद्ध के हृदय में ईश्वर ने प्रेरणा नहीं की इसमें क्या प्रमाण दोगे? इसलिये पूर्व मीमांसक प्रलयको स्वीकार ही नहीं करता। प्रलय को स्वीकार करने से यह कठिनता आती है। इसी दृष्टि से अपने धर्म को सनातन अर्थात् सदा भवः कहा। भव मायने होने वाला। यदि धर्म को सनातन मानोगे तो किसी भी हालत में तुम प्रलय नहीं मान सकते।

उत्तर मीमांसा के अन्दर इसी स्वतःप्रामाण्यवाद से वेद को नहीं, आत्मा को नित्य माना। यह मूलगत अन्तर है। वे लोग तो समग्र वेदों का तात्पर्य धर्म में मानते हैं और हम लोग सारे वेदों का तात्पर्य ब्रह्म में मानते हैं। इसलिये हम लोग जब कहते हैं सनातन धर्म , तो मतलब होता है कि आत्मा सनातन है। आत्मा महाप्रलय में भी रहेगा। यह मूल भेद है। धर्म को नित्य मानोगे तो महाप्रलय नहीं मान सकते। साधारण हिन्दू गड़बड़ाता इसीलिये है कि आधी बात उधर से और आधी इधर से ले लेता है।

Scanned by CamScanner

हम लोग कई कारणों से महाप्रलय स्वीकार करते हैं। आधुनिक दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रलय मानना पड़ता है। मनुष्य हमेशा से रहा, ऐसे प्रमाण नहीं मिलते। हम लोगों का कहना है कि सनातन जो आत्मा, उस आत्मा की नित्यता होने से सनातन धर्म अर्थात् सनातन आत्मा का ही हम लोग स्वतः प्रामाण्य मानते हैं। आत्मा को सिद्ध करने के लिये प्रमाण आवश्यक नहीं। जो जो प्रमाणों से सिद्ध होता है वह वह मिथ्या होता है। जो प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता वह असत्य है। और जहाँ प्रमाण की प्रवृत्ति ही न हो वह सत्य है। प्रमाणों की प्रवृत्ति जिस आत्मा से होती है वह स्वतः सिद्ध है। क्योंकि वह न होता तो प्रमाणों की प्रवृत्ति भी न होती। प्रवृत्ति होने के बाद किसी चीज को सच्ची झूठी सिद्ध करो, लेकिन उस प्रमाण को चलाने वाले तो आप ही हैं।

उस प्रमाण को चलाने वाले को प्रायः मनुष्य द्रष्टा समझता है। सांख्यवादीं द्रष्टा को ही आत्मा मानता है। इसलिये यहाँ सांख्यवादी के हृदय में आया कि यदि स्वप्न द्रष्टा को मिथ्या मानते तो जांग्रत् द्रष्टा से काम चलता, लेकिन जब दोनों स्थलों में द्रष्टा को मिथ्या माना तो 'क एतान् बुध्यते भेदान्' इन भेदों को प्रकाशित करने वाला कौन? अर्थात् सब मिथ्या मानने पर प्रमाता प्रमाण आदि विचार अनुपपन्न हो जायेंगे। फिर इनको जानने वाला कौन है? द्रष्टा तो असिद्ध हो गया अर्थात् जो मन और इन्द्रियों से जानता है, प्रमाता है, वह असिद्ध हो गया, तो फिर इनको जानने वाला कौन है? स्वप्न का पदार्थ मिथ्या है तदपेक्षया जाग्रत् का सत्य है यह जानने वाला कौन है? द्रष्टा और दृश्य दोनों को अलग-अलग रूप से जानने वाला जो है वह कौन है? चाहे अंतश्चित् से कल्पना करो चाहे बहिश्चित् से कल्पना करो लेकिन 'को वै तेंषां विकल्पकः'? चाहे अंतश्चित् से मनोरथों का विचार करते रहो, चाहे बहिश्चित् से ताड़ के पेड़, अड़ूसे के फूल देखते रहो, लेकिन उस विकल्प को करने वाला अर्थात् निर्माता कौन है? अथवा उसका आधार कौन है? दोनों को मिथ्या मानोगे तो यह दोष आयेगा।

बौद्ध का उत्तर इस विषय में यह है कि भेद को जानने वाला भी नहीं है और इसका कोई विकल्पक भी नहीं है। वह परतः प्रामाण्यवादी है। वह कहता है कि यदि इनको जानने वाला कोई होता तो प्रमाणसिद्ध होता। प्रमाण से तुम सिद्ध कर नहीं सकते इसलिये इन भेदों को जानने वाला कोई नहीं है। इसी प्रकार से इनका विकल्पक यदि कोई होता तो प्रमाणों से सिद्ध होता। चूँकि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है इसलिये नहीं है।

वेदांत इसका जवाब देगा कि इसका आधार आत्मा स्वतःसिद्ध है, परतःसिद्ध नहीं है। इसीलिये अपने यहाँ स्वतः प्रामाण्य, स्वतः सिद्ध आत्मा हुआ। वेद को स्वतः प्रमाण इस दृष्टि से कहते हैं कि वह इस आत्मा का उपदेश करता है। मीमांसक की तरह वेद हमारे लिये स्वतः प्रमाण नहीं है क्योंकि फिर वही दोष आ जायेगा। आत्मा की सिद्धि करने वाला होने से वेद प्रमाण है। इस श्लोक में शंका उठायी गयी है।

Scanned by CamScanner

भगवान् भाष्यकार भी यहाँ इस श्लोक की शंका बताते हैं। स्वप्न और जाग्रत् दोनों स्थानों के दृश्य और द्रष्टा यदि मिथ्या हैं तो अंतश्चेतस् और बहिश्चेतस् से कल्पित पदार्थों को कौन जानता है या कौन प्रकाशित करता है? यदि कोई इनको जानने वाला नहीं है तो ये सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिये इनको जानने वाला कोई सत्य या मिथ्या पदार्थ होना चाहिये। बिना ज्ञान के किसी चीज़ की सिद्धि नहीं। अगर जाग्रत् स्वप्न दोनों मिथ्या हुए तो भेद वाले पदार्थों को जानता कौन है? यदि जानने वाला है तो द्रष्टा सत्य हुआ और यदि जानने वाला नहीं है तो ज्ञान के बिना उनकी सिद्धि नहीं। जैसे रात के भोजन के बिना दिन को न खाने वाले का मोटापना नहीं बनता। जब तक तुम रात्रिभोजन की कल्पना न करो तब तक मोटापना सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी जानने वाले को लिये बिना जाग्रत् स्वप्न के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती, यह इनका कहना है।

जो करने वाला होता है या विकल्पक होता है वह पहले किसी चीज को याद करता है। जैसे घड़ा बनाने वाला पहले देखे हुए घड़े को याद करता है, फिर 'उस घड़े के जैसा एक घड़ा बनाऊँगा' ऐसी इच्छा करके तब क्रिया करता है। यदि स्मृति न हो तो कोई कर्त्ता (विकल्पक) नहीं हो सकता। पहले की कोई चीज याद करोगे तभी आगे कुछ करोगे। कल भूख लगी थी और दालभात खाने से भूख मिटी थी इसलिये आज भी बनायें; तभी बनाने में प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। कोई चीज़ ऐसी माननी पड़ेगी जो विकल्पक हो, जिसे पूर्व-स्मृति होने के लिये उस चीज़ को बना रहना पड़ेगा। यदि इस समय जिस द्रष्टा ने अनुभव किया वह द्रष्टा अगले क्षण नहीं रह गया तो उसमें स्मृति भी नहीं रह जायेगी। द्रष्टा मिथ्या हुआ और स्मृति न रही तो दूसरे दिन भोजन में प्रवृत्ति कहाँ से होगी? बौद्ध निरात्मवादी जब किसी स्थायी चीज़ को नहीं मानता तो उसे यही दोष दिया जाता है कि कल जिसने भोजन किया उसे तुम क्षणप्रध्वंसी कहते हो, इसलिये एक क्षण में नष्ट हो गया; तो आज मनुष्य की प्रवृत्ति खाने में कैसे हो गई? बिना स्मृति के प्रवृत्ति नहीं बनती। यही बात नास्तिक के लिये, जो पूर्व जन्म नहीं मानता उसके लिये भी है। यदि पूर्व जन्म नहीं हुआ तो बछड़े को कहाँ से पता लगा कि गाय के थन में मुँह डालकर ऐसे पियूँ? पहले का अनुभव होगा तभी पी सकता है। उसको यांद करके पी सकता है नहीं तो पीना नहीं बनेगा।

तुम वेदांती भी यदि ऐसा कहते हो तो यह बताओ 'को वै तेषां विकल्पकः'? उसी को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि स्मृति और अनुभव, इन दो का आश्रय कोई होगा वही कर्त्ता हो सकता है, तभी व्यवहार उपपन्न हो सकता है। यदि सब मिथ्या है तो यह नहीं बनेगा क्योंकि स्वप्न में बनाने वाला अध्यात्म प्रमाता और जाग्रत् में बनाने वाला अधिदैव ईश्वर, दोनों मिथ्या हो गये। यह शंका हम यह मानकर कर रहे हैं कि तुम वेदांती हो, इसलिये तुम्हें निरात्मवाद तो इष्ट नहीं है। यदि तुम भी बौद्ध की तरह निरात्मवादी हो

Scanned by CamScanner

तो यह शंका तुम्हारे ऊपर नहीं होगी। यदि अपने को आत्मवादी कहते हो तो यह काम कैसे बनाओगे? यदि प्रमाता, कर्त्ता, आत्मा, ईश्वर कुछ नहीं तो निरात्मवाद हो गया।

कोई बोल पड़ा कि इष्टापत्ति मान लो, आत्मा आदि कुछ नहीं है, सब मिथ्या हैं। मान लेंगे आत्मा भी नहीं है क्या हर्जा है? आत्मा नहीं है यह कहने वाला जानकर कह रहा है या नहीं जानकर कह रहा है? यदि नहीं जान कर कह रहा है तो अप्रमाण है। जब तुम कहते हो कि 'आत्मा नहीं है' तो इस बात का प्रमाण तुम्हारे पास है या नहीं? यदि जानकर कह रहे हो तब यह जानकर कहने वाला ही आत्मा है। इसी को हम आत्मा कह रहे हैं। यदि बिना जाने कह रहे हो तो तुम्हारे ही सिद्धान्त में अप्रामाण्य होगा। जानकर कहो तो आत्मा है, बिना जाने कहा तो चाहे बुद्ध का वाक्य, चाहे तुम्हारा, एक जैसा अप्रामाण्य है। यदि बुद्ध की तरह तुम्हें निरात्मवाद इष्ट हो तो दूसरी बात है, नहीं तो नहीं बनेगा।।११।।

●

कहते हैं कि हम कर्तृ कार्य आदि सब व्यवस्था मानने वाले हैं—

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः।।१२।।

आत्म-देव अपनी माया से खुद अपने विषय में कल्पना करता है और वही भेदों को, पदार्थों को, जानता है। हम कर्तृ कार्य आदि सारी व्यवस्थाओं को मानते हैं। हमने प्रमाता प्रमेय को, स्वप्न के द्रष्टा दृश्य को असत् कहा है लेकिन इन सबका जो अधिष्ठान आत्मा है, जिसके कारण जाग्रत् द्रष्टा देखता है और जिसके कारण जाग्रत् दृश्य दीखता है, जिसके कारण स्वप्न द्रष्टा देखता है और जिसके कारण स्वप्न दृश्य दीखता है, उसको हम थोड़े ही मिथ्या कह रहे हैं। हम तो कह रहे हैं कि देखने वाला और दीखने वाला एक है। जाग्रत् और स्वप्न दोनों में द्रष्टा और दृश्य एक है, दीखना और देखना दोनों खतम हो जाते हैं, लेकिन जिसके कारण देखना और दीखना है वह वैसा का वैसा बना रहता है। जैसे सुषुप्ति में कोई देखने वाला भी नहीं है, कुछ दीख भी नहीं रहा है पर वह वहाँ भी बना हुआ है जिसके कारण देखना और दीखना दोनों हो रहा है। बस वही आत्मदेव है। इसलिये 'आत्मा कल्पयति।'

प्रश्न था कि द्रष्टा दृश्य दोनों झूठे हैं तो फिर क्या तुम निरात्मवादी हो? नहीं, हमारे यहाँ तो निर्गुण निराकार निष्क्रिय आत्मतत्त्व ही सब कुछ बनने वाला है। अधिष्ठान ही निर्माण कर रहा है। किससे बनाता है? कहीं से परमाणु इत्यादि लेता होगा नैयायिक की तरह; अथवा पूर्व मीमांसक की तरह पुण्य पाप लेकर सृष्टि बनाता होगा; या सांख्यों की तरह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति लेकर करता होगा; क्या लेकर सृष्टि बनाता है? कहा— 'आत्मना', अर्थात् कोई दूसरा साधन नहीं, खुद

Scanned by CamScanner

ही बनाता है और खुद ही बनने का साधन भी है। न उसे प्रकृति चाहिये, न उसे पुण्यपाप चाहिये और न ही उसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण चाहिये।

आत्मा अपने आप से यदि बनाता है तो जिसको बनाता है वह दूसरा है? नहीं, अपने आप को ही बनाता है। दृष्टांत है कि समुद्र की लहर को बनाने वाला समुद्र ही है। किससे बनाता है? कहीं से कुछ नहीं लेकर आता है। स्वयं ही साधन भी है और जिस लहर को बनाता है वह भी समुद्र ही है। जैसे यह दृष्टांत वैसे ही यहाँ समझ लो। समुद्र लहर तब उठाता है जब हवा चले। विचार करो कि हवा कहाँ से आई? हवा तो पहले से है ही लेकिन जब एक जगह समुद्र में डिप्रेशन (depression) आये तब दूसरी जगह से हवा चलती है। यही सिद्धान्त है। उस डिप्रेशन को लाने वाला समुद्र है। समुद्र का कोई हिस्सा गरम और कोई हिस्सा ठण्डा होता है। कुएँ के जल में भी ऐसा ही होता है। विज्ञान की दृष्टि से उसकी specific gravity ज्यादा होती है। जब ठण्डा जल नीचे जायेगा तो गरम वाला ऊपर आयेगा। जब नीचे वाला ऊपर आयेगा तो तापमान में फरक हो जायेगा। गरम पानी से सम्बन्धवाली ऊपर की हवा भी गरम हो जायेगी। गरम होने से वह हवा ऊपर उठेगी। गरम हवा ऊपर उठती है। दूसरी जगह से ठण्डी हवा उसे भरने के लिये आयेगी। पृथ्वी में भी यही होता है लेकिन उसमें सूर्य की किरणों की जरूरत पड़ती है। गरम होने से हवा ऊपर उठी, दूसरी तरफ से आंधी आई। इसलिये उस हवा को चलाने का काम भी तो उस समुद्र का स्वभाव ही है, नहीं तो वायु तो पहले से ही है। इसलिये 'आत्मना आत्मानं आत्मा कल्पयति'।

इसीलिये महिम्न स्तोत्र में कहा कि जो लोग ऐसा कहते हैं कि कोई दूसरा बनाने वाला है उनकी बुद्धि मारी गई है। 'किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्, किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च। अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः, कुतर्कोऽयं कांश्चिन् मुखरयति मोहाय जगतः।' यह उसकी शक्ति है कि इस सृष्टि को अपने आप में बनाते रहना जैसे समुद्र का स्वभाव लहरें उठाते रहना है। बाकी सब प्रक्रियायें हुई लेकिन सीधी बात है कि जैसे समुद्र का स्वभाव लहरें उठाते रहना है ऐसे ही हमारे आत्मदेव का यह स्वभाव है कि स्वमायया अनंत कोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न कर देना। जैसे लहर वापिस लीन हो जाती है वैसे ही यहाँ भी वापिस लीन होता रहता है। समुद्र की लहर दो दो फर्लांग उठती है, नदियों की लहरों की तरह नहीं समझना। जिस समय समुद्र की लहर उठती है उस समय लगता है कि जहाज उलट रहा है। लोग अपनी अपनी बर्थ पकड़ते हैं। छोटी मोटी लहरों से उसे क्या होना है! समुद्र का गाम्भीर्य पाँच मील है, तभी तो फरक पड़ता है, और तभी नीचे और ऊपर के तापमान में फरक पड़ता है। जैसे पाँच मील गहरा समुद्र दो फर्लांग की लहरें उठा सकता है और दो फर्लांग के नीचे वह वैसा का वैसा शांत है, वैसे ही हमारा अखण्ड आत्मदेव अनंतकोटि ब्रह्माण्ड की

Scanned by CamScanner

सृष्टि करता है, वह भी ऊपर ही ऊपर, नीचे तो वैसा का वैसा प्रशांत है। जिस काल में बना हुआ है, उसकी शांति उसी काल में कहीं भंग नहीं होती। नहीं तो कोई कहेगा कि इतनी बड़ी सृष्टि से वह बेचारा दुःखी हो जाता होगा। यह तो खेल है। एक हाथ से उठाता है, बाकी सारा शरीर उसका शांत है। पौराणिकों ने लोगों की समझ में आने के लिये वैसी कल्पना से बताया। भगवान् की आँख खुल जाना ही सृष्टि और उनका आँख बंद कर देना ही प्रलय है। इतने में ही अनंतकोटि ब्रह्माण्ड पैदा हो गये, लीन हो गये। इसी प्रकार वे अनंतकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न कर लेते हैं। 'तस्य च सुप्तं महाप्रलयः'।

माया विवर्तवाद को बताने के लिये है। बिना भेद हुए जो भेद प्रतीत हो वह माया हुई। जैसे समुद्र से लहर अलग हुए बिना अलग दीखती है। लगती तो अलग है लेकिन विचार से अलग नहीं, समुद्र ही है। लहर से समुद्र में कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जैसे समुद्र जल, वैसे ही लहर जल है। बिना किसी भेद के भेद की प्रतीति है। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। जैसे हम बोल रहे हैं तो बोलने में जो दोनों होठ भिड़ रहे हैं और दोनों के भिड़ने से जो आवाज हो रही है वह नीचे के होठ की आवाज है या ऊपर के होठ की, यह नहीं कह सकते। दो दण्डे मारने पर जो आवाज होती है उसमें नीचे ऊपर का भेद नहीं कर सकते, लेकिन भेद लगता है। जहाँ भेद-प्रतीति हो और भेद हो नहीं वहाँ माया कही जाती है। इसीलिये स्वमायया कहा, यही माया शक्ति है। अतः सब कुछ मिथ्या होने पर भी माया के द्वारा सारे कल्पित भेद बन जायेंगे। कल्पित भेदों की अन्यथा अनुपपत्ति से माया की सिद्धि होती है।

लोग शंका करेंगे कि वेद आदि शास्त्रों में और उपनिषदों में माया का विशिष्ट वर्णन नहीं, विवर्तवाद नहीं कहा, ब्रह्मसूत्रों में भी माया को स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है और भगवान् भाष्यकार अध्यासभाष्य से ही अर्थात् माया की सिद्धि से ही प्रारंभ करते हैं। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने माया को सर्वप्रथम कहा। ऐसी बात नहीं है। कल्पित भेद जहाँ होगा वहाँ माया है ही। उपनिषद् अनुभव के आधार से बोल रही हैं। उपनिषद् जब कहती हैं 'नेह नानास्ति किंचन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' तब पदार्थों के भेद का निराकरण स्वयं वेद कर रहा है कि भेद है नहीं। यहाँ तुमको जो अलग-अलग चीजें दीखती हैं ये अलग-अलग नहीं हैं। जिस समय जीवन्मुक्त ऋषि अनुभव करेगा उस समय उसका अनुभव होगा कि भेद नहीं है। जो बेचारा बद्ध जीव है, वह कहता है कि इतना भेद दीख रहा है। भेद नहीं है यह जीवन्मुक्त का अनुभव, साधारण आदमी का अनुभव है कि भेद है। इसकी अन्यथा अनुपपत्ति से यह सिद्ध होगा कि झूठ ही दीख रहा है। और झूठ का ही नाम माया है। ज्यादा झूठ बोलने वाले को मायावी कहते भी हैं। ऋग्वेद आदि में माया शब्द आया भी है। यह सत्य है कि स्फुट रूप से उपनिषद् में माया को नहीं कहा क्योंकि वह अनुभवप्रधान ग्रन्थ है, बहुत कुछ तुम अपनी

Scanned by CamScanner

बुद्धि से समझ लो। हम कहते हैं लहर नाम की चीज है ही नहीं और तुमको दीख रही है तो अपने आप समझ में आ जायेगा कि झूठ दीख रहा है। इसलिये बिना माया के भेद प्रतीति की असम्भवता से अर्थापत्ति प्रमाण से माया बता दी।

आत्मदेव में क्या प्रमाण है? वह स्वतः प्रमाण है, वह प्रमाण से सिद्ध होने वाला नहीं है। 'देव' कहकर द्योतकांतर की अपेक्षा का निवारण कर दिया। उसको बताने वाली किसी चीज की जरूरत नहीं। द्योतकान्तर-निरपेक्ष अर्थात् स्वयं प्रकाश चेतन। जड़ प्रकाश का ग्रहण नहीं करना।

दूसरा प्रश्न था कि इस भेद को कौन जानता है? प्रमाता प्रमाण आदि सारे व्यवहार जिससे उत्पन्न होते हैं वही जानता है। द्रष्टा समझता है कि यह दृश्य है, दृश्य के लिये यह द्रष्टा है, लेकिन दृश्य और द्रष्टा दोनों ही भेद कल्पित हैं। इसे जो साक्षी आत्मा जानता है 'स एव बुध्यते भेदान्'। स्वप्न के अन्दर बिना आँखों के देखने वाला वह देव, जाग्रत् के अन्दर आँखों से देखने वाला वही देव है। जाग्रत् के अन्दर जो आँखों से देखता है वह भी झूठा और स्वप्न में बिना आँखों से देखने वाला भी झूठा। लेकिन जो बिना आँखों के स्वप्न में और आँखों से जाग्रत् में देखता है वह साक्षी देव सत्य है। जाग्रत् के द्रष्टा और दृश्य दोनों उसमें दीख रहे हैं। 'मैंने घड़े को जाना' या 'मैं घड़े को जान रहा हूँ', इसमें घड़ा जाना जा रहा है, लेकिन 'मैं घड़े को जान रहा हूँ' इसको कौन जान रहा है? इसका भी ज्ञान होता है। वह ज्ञान मैं को भी जान रहा है, घड़े को भी जान रहा है; दोनों को जो युगपत् प्रकाशित करने वाला साक्षी है उसी को पकड़ना है। 'मुझे न्यूयार्क नहीं दीख रहा है' इस बात को जो जानता है वही साक्षी है। 'मैं घड़े को देख रहा हूँ' और 'मैं न्यूयार्क को नहीं देख रहा हूँ' दोनों का प्रकाशक मैं हूँ। इसी प्रकार एक ही अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा में प्रत्यगात्मा के अन्दर काल्पनिक भेद से सारी व्यवस्था बना लेना।

यह वेदांत के सिद्धान्त का निश्चय है। द्वैतवादी ने माना कि दृश्य द्रष्टा अलग अलग हैं। निरात्मवादी अद्वैतवादी बौद्ध है। बुद्ध का नाम भी अमरकोष में अद्वयवादी कहा। उन्होंने माना कि दृश्य और द्रष्टा दोनों गलत हैं। इसलिये दोनों का अभाव ही एक अद्वितीय तत्त्व है। वैष्णवों में वल्लभाचार्य अपने को शुद्धाद्वैती कहते हैं इसलिये अद्वैतवादी वे भी हैं। उन्होंने कहा कि ब्रह्म परिणामी है। वल्लभसम्प्रदाय और शिव को मानने वाले शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त एक ही है। वे कहते हैं कि जैसी प्रतीति हो रही है वैसी ही सत्य है। ब्रह्म परिणामी है। इसलिये वे भगवान् का चिन्मयविग्रह मानते हैं। चित् में विकार कैसे होगा? ये सब प्रश्न उनसे करें, यह दूसरी बात है। लेकिन वे शंख, चक्र, पद्म, गदा सबको जीवित आत्मा मानते हैं। शरीर को ही चिन्मय मानते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन वाले इतनी मूर्खता में नहीं गये जितने वल्लभ सम्प्रदाय वाले, लेकिन जगत् रूप से परिणाम को वे भी मानते हैं कि शिव का रूप ही यह जगत् है। इसलिये यह धीरे-

Scanned by CamScanner

धीरे शाक्त दर्शन बन गया। कहने को शैवदर्शन कहते हैं लेकिन शक्ति और तंत्र में ही ज्यादा फँस गये और उसी को सत्य मानने लग गये।

लेकिन वेदांत सिद्धान्त इनमें से किसी को नहीं मानता। अद्वैतवादी न नैरात्म्यवाद को और न शक्ति को सत्य मानता है। इनका सिद्धान्त है कि आत्मा ही अपनी शक्ति से, अपने स्वभाव रूपी शक्ति से अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के रूप में प्रतीत होता है और जैसे ही ज्ञात हो जाता है वैसे ही फिर प्रशांत का प्रशांत है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बहुत स्पष्ट कहा है कि हमारे यहाँ ब्रह्म और माया दो नहीं हैं। ज्ञात ब्रह्म ब्रह्म कहा जाता है और अज्ञात ब्रह्म को ही हम माया कहते हैं। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण वह ब्रह्म है। जब तक ब्रह्म को नहीं जाना, तब तक जिसको जगत् समझ रहे हो, जान लेने पर वही ब्रह्म समझ में आता है। जिसको तुम अनादि काल से लहर समझ रहे हो, समझ लेने पर वह लहर ही तुमको समुद्र दीख रही है। यह नहीं कि लहर को देखना बन्द करो तब समुद्र रहेगा। यह अन्य दर्शनों से भेद है।

भाष्यकार इसे स्पष्ट करते हैं 'स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति।' 'स्वयं' से निराकरण किया कि जैसे घट को बनाने वाला कुलाल घट से अलग होता है वैसे यहाँ जगत् को बनाने वाला जगत् से भिन्न कुछ नहीं है। इसलिये वेदांत की समाधि क्या है? 'आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ हँस हँस रूप निहारूँ।' आँख खोलते हो तो रोशनी दीखती है, यह आत्मदेव की कल्पना और आँख बन्द करने पर अंधेरा दीखता है तो यह भी आत्मदेव की कल्पना है। आँख बन्द करके भ्रूमध्य में रक्तवर्ण की रोशनी भी आत्म देव की कल्पना। सब एक जैसी कल्पनायें हैं। अन्दर ध्यान करोगे तो अनेक देवताओं के तरह तरह के बीज मंत्र सुनाई देंगे, वह सब भी आत्मदेव की कल्पना है। बाहर देखोगे तो बड़े बड़े वैज्ञानिक कहाँ कहाँ तक आविष्कार कर रहे हैं, सब आत्मदेव की कल्पना है। इसलिये घटस्रष्टा कुलाल जैसे अलग है, ऐसे जगत्स्रष्टा अलग नहीं इसलिये 'स्वयं' कहा। 'स्वमायया' के द्वारा विवर्तवाद बताया।

जिसकी कल्पना करता है वह तो अलग होगा? जैसे कुम्हार मिट्टी को ग्रहण करता है और घड़े को बनाता है; ग्रहण की जाने वाली मिट्टी और बनने वाला घड़ा हुआ। वैसे ही यहाँ भी किसी चीज को लेकर जगत् बनाता होगा? ऐसा भी कुछ नहीं 'स्वम् आत्मानम्' अपने आप को ही बनाता है। देव से अतिरिक्त कोई उपादान नहीं है इस संसार का। मूल के पद आत्मदेव का अर्थ करते हुए भाष्यकारों ने ऊपर से 'आत्मनि एव' कहकर स्पष्ट कर दिया कि जैसे घड़े को बनाता है तो किसी न किसी आधार पर बनाता है, वैसे यहाँ कुछ आधार नहीं, स्पष्ट कर दिया कि आधार भी वही है। आगे जो भेद बतायेंगे उन भेदों के आकारों में वह आत्मदेव अपनी कल्पना कर रहा है।

जैसे ही यह कहा तो झट परिणामवादी बोल पड़ा कि जैसे दूध दही बनता है, ऐसे होगा? अतः 'रज्ज्वादाविव सर्पादीन्' जैसे रज्जु सर्प की कल्पना, वैसे ही यहाँ है,

Scanned by CamScanner

दूध से दही की तरह नहीं। रस्सी में सर्प देखते काल में भी रस्सी ही है। रस्सी अपने स्वरूप को छोड़कर साँप नहीं बनी है जो वापिस साँप को रस्सी बनाने में देर लगे। रस्सी को देखते ही, पचास साल तक जिसको साँप देखा था वह गायब हो जाता है। ऐसा थोड़े ही है कि थोड़े दिन तक ध्यान करो, अभी महीना बीस दिन परिश्रम करना पड़ेगा तब साँप हटेगा! इसी प्रकार लोग कहते हैं कि ज्ञान ऐसे थोड़े ही हो जायेगा। पहले परिश्रम करोगे तरह तरह के अभ्यास यंत्र बनाकर करोगे या अंदर योग का अभ्यास करोगे तब ब्रह्म बनोगे। किंतु ऐसा नहीं। ब्रह्म रहते हुए ही जगत् रूप में दीख रहा है। इसलिये यह ज्ञान तो तत्क्षण ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान हुआ और संसार खतम।

कोई कहता है कि पहले पुण्य इकट्ठे हो जायेंगे तब ज्ञान होगा। कभी विचार करो कि अनादि काल से आज तक पाप ही करते रहे हैं, नहीं तो इन्द्र, वरुण आदि होकर पैदा होते। जैसे कोई ऊँट बेचारा पच्चीस मन का बोझा ले जा रहा हो और दूसरे ऊँट पर पच्चीस मन में एक धागा वजन कम हो। कोई कह सकता है कि 'इसे बोझा हल्का पड़ रहा है इसलिये यह ऊँट तेजी से चलेगा और दूसरा धीरे धीरे चलेगा।' लेकिन कोई फर्क नहीं पड़ना है। ऐसे ही अनादि काल से कितने पाप एकत्रित किये हुए हैं! दस बीस साल पुण्य कर भी लोगे तो कुछ फर्क नहीं पड़ना है। पच्चीस मन में एक धागे का कुछ फरक हो भी, लेकिन अनादि काल से आने वाले पापों के संग्रह में सौ पचास साल के पुण्य से कुछ फर्क नहीं पड़ता है।

फिर ऐसा क्यों कहते हैं? कहने का मतलब इतना ही है कि जब तक मनुष्य विचार में प्रवृत्ति नहीं करता तब तक गलत करता रहेगा तो समाज बिगड़ता रहेगा। आत्मा में कुछ फर्क नहीं पड़ना है। यदि कहोगे कि पुण्यपाप से कोई फर्क नहीं पड़ता तो कर्मकाण्डी डण्डा मारेंगे, भिक्षा देना बंद कर देंगे। लेकिन जहाँ विचार जाग्रत् हुआ कि सब खतम।

रज्जुसर्प आदि दृष्टांत से परिणामवाद का निराकरण करते हैं। ब्रह्म अपने स्वरूप को छोड़कर प्रतीत नहीं हो रहा है। वैसा रहते हुए ही प्रतीत होता है। रज्जु देखते ही सर्प की निवृत्ति हो जाने पर तुम्हारे भय कंप आदि छूट जायेंगे। लेकिन केवल उसको छुड़ाने के लिये रज्जुदर्शन थोड़े ही है, वह तो भागने से अथवा अन्य साधनों से भी छूट सकते हैं। 'सर्प है ही नहीं' इसके निश्चय के लिये ही तो रज्जुज्ञान की आवश्यकता है। उसी प्रकार यहाँ राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि सब भय कंप आदि की जगह हैं। ब्रह्म अज्ञात हो जाने से जब जगत् दीखता है तो किसी में राग-द्वेष, किसी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य हो सकता है। इनसे तो बिना ज्ञान के भी छूट सकते हो और सुषुप्ति में रोज छूट ही जाते हो। समाधि के अभ्यास से छूट जाओगे, परमेश्वर की भक्ति से भी छूट जाओगे। इनसे छूटने के अन्य उपाय भी हैं। लेकिन जैसे जब तक उस साँप के सामने फिर नहीं आओगे तब तक तो भय कंप आदि निवृत्त हैं लेकिन फिर कभी भूलकर उस कमरे में साँप देखा तो पुनः भय कंप आदि शुरू हो जायेंगे। इसी प्रकार समाधि, भगवद्भक्ति

Scanned by CamScanner

आदि उपायों से तुमने इन सबको निवृत्त किया तो जब तक निर्विकल्प समाधि का अभ्यास किया, दिव्यधाम में चले गये, तब तक तो ठीक है, राग द्वेष आदि नहीं सतायेंगे, लेकिन जहाँ फिर नानात्व-दर्शन हुआ, ये सब सताने लग जायेंगे। और यदि हिम्मत करके देख लिया कि यह रस्सी ही है, साँप नहीं है तो वहाँ खड़े हुए भी भय कंप आदि नहीं, दूर गये तो भी नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञात हो जाने के बाद कभी भी किसी काल में तुमको जगत् के प्रति राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि उत्पन्न होने की सामर्थ्य ही नहीं रह गई। लेकिन यह उसका फल नहीं, उसका फल तो असत्यता का निश्चय है। वह निश्चय हो जाने से ये चीजें हट जाती हैं। तब स्वभाव से प्रवृत्ति होती है। न हेय की और न उपादेय की बुद्धि है। सत्य मानने पर हेय उपादेय का चक्र नहीं छूटेगा।

दिव्य धाम में जाने को भी अपरम बताने के लिये हमारे पौराणिकों ने जय विजय की कथा बताई। उनकी सारूप्य मुक्ति हो गई थी। लेकिन यह मुक्ति पाने के बाद भी किसी काल में उनमें राग-द्वेष आ गये, सनत्कुमारों को रोक दिया, तब शाप लगकर रावण हिरण्यकशिपु आदि होकर उत्पन्न हुए। 'हितं च रमणीयं च हिरण्यम्' अर्थात् इन्द्रियों से संसार में प्रवृत्ति करना, कामना उत्पन्न होना ही हिरण्यकशिपु होकर पैदा होना है। रावण कुम्भकर्ण आदि क्रोध की वृत्ति को बताते हैं। जो सबको रुलाये उसे रावण कहते हैं। कुंभकर्ण अर्थात् जिसके कान घड़े के जैसे हों। जैसे घड़े में पानी भरो तो भरा रहता है। पाँच साल बाद भी बात होगी तो वह सारी लिस्ट सामने रखेगा। दूसरे को रुलाना भी क्रोध का कारण और दूसरों की बातों को घड़े की तरह भर लेना भी क्रोध का कारण है। काम ही आगे जाकर क्रोध बन जाता है। गीता में भगवान् ने कहा 'कामाद् अभिजायते क्रोधः'। बुद्धिमान् देखता है कि क्रोध आया तो कामना आई। मूर्ख देखता है कि इसने गाली दी इसलिये क्रोध आया। बुद्धिमान् देखता है कि कौन सी कामना आई जिससे क्रोध आने का कारण हुआ। शिशुपाल दंतवक्र होकर पैदा हुए। ये दोनों काम और लोभ के प्रतीक हैं। छोटे बच्चे को शिशु कहते हैं। इसलिये जो छोटी-छोटी चीजों से अपना पालन करता रहेगा वही शिशुपाल है। जैसे लोक में भी छोटे बच्चे को नजर लग जायेगी इसलिये हमेशा छिपाकर रखते हैं। इसी प्रकार जो चीज आई, उसे अपने ही अंदर रख ले, वह शिशुपाल है। दन्तवक्र लोभ को दिखाता है। टेढ़े दाँत वाला कोई भी चीज खायेगा तो उसी में फँसी रहेगी। लोभी व्यक्ति दुःखदाई चीज को भी नहीं छोड़ेगा। पेट खराब हो जायेगा तों भी गुलाब जामुन नहीं छोड़ेगा। सरकार चाहे जितना टैक्स लगा दे, मीसा लगा दे, छापे पड़ जायें, उसे कहें कि 'दे दो' तो भी दंतवक्र है, पकड़े ही रखेगा! जय विजय अर्थात् जिन्होंने अंतःकरण को जय कर लिया, अच्छी तरह विजित कर लिया, वे भगवान् की सारूप्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति में भी जगत् को सत्य समझने पर काम क्रोध आदि फिर समय आने पर आ जाते हैं।

Scanned by CamScanner

माया के दरवाजे से चिदात्मा ही जगत् का निर्माता बन जाता है और माया के एक देश बुद्धि में, अंतःकरण में, प्रतिबिम्बित हुआ वही प्रमाता बन जाता है। वही दोनों में प्रतिबिम्बित हुआ ईश्वर और जीव बन जाता है। उसी माया का एक देश जो तुम्हारा अंतःकरण बना, वह जाग्रत् स्वप्न में आया तो तुम ही जीव बन गये। इसलिये सुषुप्ति में वही ईश्वर रूप में और जाग्रत्-स्वप्न में जीव रूप से खेल रहा है। यह वेदांत का निश्चय है। इस प्रकार से ज्ञान और स्मृति का आश्रय इस आत्मा के सिवाय और कोई दूसरा नहीं, प्रमाता आदि अन्य कोई नहीं है अर्थात् प्रमाता आदि तात्त्विक नहीं बल्कि जैसे रस्सी में सर्प आदि वैसे ही मिथ्या हैं। 'नेह नानास्ति किंचन' आदि श्रुतियाँ ही माया में प्रमाण समझ लेना। जो जगत् का स्रष्टा, वही प्रमाता है, इसलिये वही उस ज्ञान का और स्मृति का निर्माता है। सुषुप्ति में जगत् का निर्माता और जाग्रत्-स्वप्न में इन भेदों को जानने वाला है। वेदांती लोग आत्मवादी हैं। बौद्धों की तरह ज्ञान स्मृति बिना आश्रय के, बिना किसी अधिष्ठान के हो जायेंगे, ऐसा नहीं मानते हैं इस प्रकार जो यह प्रश्न था कि द्रष्टा मिथ्या है तो जानने वाला कौन? उसका उत्तर दे दिया कि आत्मदेव ही जानने वाला है। वह द्रष्टा तो दृश्य की अपेक्षा से है अतः द्रष्टा को मिथ्या कहा। स्वप्रकाशरूप से वही निरपेक्ष देखने वाला है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' यह शतपथ में कहा है। द्रष्टा मिथ्या मानकर बौद्ध अनात्मवादी हो गया किन्तु औपनिषद तो आत्मदेव का उपासक है। प्रकाशरूप आत्मा के रहते देखने वाले की क्या कमी? इसलिये न निरात्मवाद है और न स्मृति व ज्ञान की निराश्रयता।।१२।।

●

इससे पूर्व बताया कि वह देव स्वयं ही अपनी मायाशक्ति से अपने आपको जगत् रूप में बनाता है। वह किस प्रकार से बनाता है— इसको अब बताते हैं।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः।।१३।।

मायारूप चित्तमें वासनारूप से स्थित लौकिक शब्दादि तथा शास्त्रीय पदार्थों को बहिश्चित्त (बहिर्मुख) होकर प्रभु आत्मा ही पृथिवी आदि स्थिर और बिजली आदि अस्थिर रूपों में प्रकट करता है। कारणरूप से जो अभिन्न थे उन्हे कार्यरूप से अलग-अलग कर देता है। 'प्रभुः एवं कल्पयते'। प्रभु अर्थात् जिसके ऊपर और कोई नियंत्रण नहीं होता। 'प्रकर्षेण भवति इति प्रभुः' जो स्वयं सत्ता रूप है उसके लिये और कोई नियामक नहीं। कौन-कौन नियामक लोग माना करते हैं यह आगे बतायेंगे। उसके वे सब नियामक नहीं। परमात्मा स्वयं ही नियामक है। उसका और कोई नियामक नहीं। इसलिये प्रभु कहा।

Scanned by CamScanner

'एवं कल्पयते' अर्थात् इस प्रकार से निर्माण करता है। किस प्रकार से करता है? 'विकरोति' अर्थात् विशेष प्रकार से बनाता है। विशेष प्रकार से बनाने का मतलब क्या हुआ? जैसे कोई भी कुम्हार जिस घड़े को बनाने जा रहा है उसको अव्यक्त रूप से पहले अपने अन्दर बनाता है। पहले उसके मन में उस घट की कल्पना स्पष्ट हो जाती है कि मुझे इस प्रकार का घड़ा बनाना है। वह जो अव्यक्त अवस्था बुद्धि के अन्दर है उसी को बाहर मिट्टी में वह रूप देता है। उसे बाहर नाम-रूप दे देता है। इसी को 'विकरोति' कहते हैं— पहले बुद्धि के अन्दर संस्कारवशात् आविर्भूत होना और फिर उसके बाद बाहर प्रकट होना। परमेश्वर में पूर्वज्ञान के अनुकूल सृष्टि होती है, फिर भी वह उनके अधीन नहीं है। उसको पुराने संस्कारों की आवश्यकता होने पर भी अधीनता नहीं। कुम्हार तो कोई चीज बनायेगा तो किसी न किसी पूर्व संस्कार के अधीन होकर कल्पना करेगा। लेकिन ऐसा परमेश्वर में नहीं। वह तो स्वतंत्र होकर ही कर्त्ता है। यह एक भेद हुआ।

दूसरा भेद हुआ कि चाहे जितनी बढ़िया से बढ़िया कारीगरी हो, घड़ा बनने के बाद उसे संतोष नहीं होता, उसमें उसे अनेक कमियाँ नजर आती हैं। इसलिये फिर दूसरा, तीसरा बनाता है और मृत्युक्षण तक बनाता रहता है लेकिन कभी संतोष नहीं होता कि अब पूर्णता (perfection) आ गई। परमेश्वर का ऐसा नहीं। जैसी उसने अंदर कल्पना की ठीक वैसा ही निर्माण वह कर लेता है। उसकी पूर्णता संकुचित नहीं। यह भी भेद है। लेकिन इतना निश्चित है कि वह भी माया के द्वारा संकल्प करता है और फिर उसे बाहर नामरूप में प्रकट करता है। 'विकरोति', विशेष रूप से प्रकट करता है अर्थात् व्यवहार-योग्य पदार्थों को बनाता है।

'अपरान् भावान्' कहकर बताया कि पर वह स्वयं हो गया, इसलिये वह जिन चीजों को बनायेगा वे अपर अर्थात् उससे निकृष्ट होंगी। उसकी सृष्टि उससे श्रेष्ठ थोड़े ही होनी है! यहाँ अपरता क्या है? रस्सी से बना हुआ सर्प हमेशा प्रातिभासिक सत्ता वाला और रस्सी हमेशा व्यावहारिक सत्ता वाली रहेगी। इसलिये रस्सी पर और सर्प अपर है। सर्प खतम होने पर रस्सी बनी रहेगी और सर्पकाल में भी रस्सी बनी हुई है। यही परता और अपरता है। एक ऊपर और एक नीचे ऐसा नहीं समझ लेना। कहने को लोग कहते हैं कि रस्सी पर साँप दीखा। रस्सी पर साँप नहीं दीखता, जहाँ रस्सी, ठीक उसी जगह साँप दीखता है। इसी प्रकार यहाँ सब पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक सत्ता होनी है और एकमात्र परमेश्वर की पारमार्थिक सत्ता होनी है। यही उसकी परता है। संसार के यावत् पदार्थों के निकल जाने पर भी वह वैसा का वैसा बना रहता है। यही उसकी पर-सत्ता है। संसार काल में भी वैसा ही और सारे पदार्थों के निकल जाने पर भी वह वैसा का वैसा बना रहता है।

अपने हृदय में देखो तो अपनी ही पर सत्ता शरीर आदि की अपेक्षा है। इसलिये अनुभव होता है कि मैं पहले घोड़े की तरह दौड़ता था और अब घुटना कमजोर हो गया

Scanned by CamScanner

है। यह थोड़े ही अनुभव होता है कि मैं बुड्ढा हो गया हूँ! वह तो दूसरे जबरदस्ती कहेंगे कि अब उम्र आ गई तो कहना पड़ता है। अपना मन तो कहता है कि जरा घुटना ठीक होता तो मैं तो वैसा ही हूँ। कई लोगों की शिकायत होती है कि आजकल याद नहीं रहता। वे यह मानने को तैयार नहीं कि पचास से ऊपर हो गये, छोड़ो घरबार। यह नहीं सोचते। सोचते हैं कि सारस्वत आदि कोई चूर्ण ले लेने से थोड़ी सी स्मृति शक्ति हो जाये तो ठीक हो जाये। मैं तो वैसा का वैसा बना रहता है। शरीर मन आदि तो बदलते रहे, उनके बदलने के पहले भी मैं वैसा ही था और शरीर आदि के बदल जाने पर भी मैं वैसा ही हूँ। मैं में कोई फरक नहीं। जैसे शरीर की अपेक्षा जीव की पर सत्ता वैसे ही संसार की अपेक्षा परमेश्वर की परसत्ता है।

पहले भाव कहाँ होते हैं? 'अन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्' अर्थात् अंदर ही अंदर पहले वह सोच लेता है कि यह सृष्टि ऐसी बनानी है। 'नियतान् च बहिश्चित्तः' जैसा उसने नियत किया है वैसा ही बना लेता है। भगवान् गौडपादाचार्य एक चकार और दे देते हैं। इसके द्वारा बताया कि अनियत पदार्थों को भी बना देता है। क्रम सृष्टि और अक्रम सृष्टि दोनों होती हैं। किसी ने परमेश्वर का ध्यान किया और उसे परमेश्वर का दर्शन हुआ। यह क्रम सृष्टि नहीं क्योंकि यह थोड़े ही निश्चय था कि उपासना करेगा तो दर्शन दूँगा ही। मनुष्य ने कोई गलती की तो उस गलती के बदले उसे यह दण्ड भोगना पड़ेगा, यह क्रम सृष्टि है। फिर उसके मन में प्रायश्चित्त आ गया तो छोड़ दिया, यह अक्रम सृष्टि हो गई। केवल क्रम सृष्टि ही परमेश्वर करता हो ऐसा नहीं। नहीं तो उस पर बंधन हो जायेगा। वह अक्रम सृष्टि भी करता है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि संकल्प करते हुऐ किस प्रकार से बनाता है ? यह प्रश्न होने पर यह श्लोक कहा है। 'विकरोति' का अर्थ कर दिया कि नाना प्रकार से बनाता है। 'अपरान्' का अर्थ कर दिया 'लौकिकान् भावान् पदार्थान्' और पदार्थ का अर्थ किया शब्द आदि लौकिक पदार्थों को बनाता है, अर्थात् जिनका अनुभव हो ऐसे पदार्थों को बनाता है। वे लौकिक पदार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं। जो लौकिक नहीं हैं ऐसे शास्त्रीय पदार्थों को और वासनारूप पदार्थों को भी बना लेता है। हमारे अंतःकरणों में जो वासनायें हैं वे वासनायें भी तो परमेश्वर से ही आई हैं। चिड़िया भी अपने बच्चे को दाना चुगाने जाती है। उसके चित्त के अन्दर यह संस्कार परमेश्वर ही तो देने वाला है। यह तो मनुष्य का वृथा अभिमान है कि मैं करता हूँ। सप्तशती के प्रारंभ में आता है 'पश्यैतान् पतंगान्छावचञ्चुषु'। और मनुष्य बच्चों के बारे में अभिमान करता है कि बच्चों के लिये हमने यह किया। यह तो पशु पक्षी भी करते हैं,तुमने क्या किया? इसके आगे कुछ किया तो बोलो।

पुत्रत्व, पितृत्व इत्यादि भावों की कल्पना अंतश्चित्त अर्थात् वासनारूप से कर दी। वे सारे के सारे अव्यक्त हैं। यह तो सारे बता सकते हैं कि लड़का सामने बैठा है लेकिन

Scanned by CamScanner

'मेरा पुत्र है, इसके प्रति मेरा प्रेम है', यह हमेशा अव्यक्त रहेगा, अंतश्चित्त में रहेगा। आजकल यही होता है। लोग कहते हैं कि अन्दर की भावना बाहर प्रकट होनी चाहिये। हमारा तुमसे कोई प्रेम न हो तो भी हम तुम्हें खूब प्रेम दिखा सकते हैं और अत्यधिक प्रेम हो तो भी बाहर कुछ नहीं दिखाते। पुराने माता पिता कभी बच्चों को गोद में उठाकर नहीं फिरते थे लेकिन उनके अंदर प्रेम होता था। इसी प्रकार अपने यहाँ पति पत्नी एक दूसरे से प्रेम करते नहीं थे और प्रेम था। आजकल बाहर प्रेम दिखाते रहते हैं, होता है नहीं। यहाँ गुजराती लोग हाथ में हाथ डालकर घूमते रहते हैं, फिर थोड़े दिन बाद तलाक दे देते हैं। इसलिये कोई नियम नहीं कि अंदर के चित्त का जो भाव है वह बाहर प्रकट हो। अंदर के चित्त का जो भाव है वह केवल तुम ही जानते हो। तुम मायने परमात्मा अर्थात् परमात्मा ही जानता है। उसी को स्पष्ट कर दिया कि वह अव्याकृत है।

'नियतांश्च बहिश्चित्तः' का अर्थ कर दिया कि पृथिवी, आदि बना देता है। तन्मात्रायें अंतः हो गईं और बाहर प्रकट किया तो पृथ्वी, जल, तेज आदि हो गये। अनियत पदार्थ; जहाँ अक्रम सृष्टि की अपेक्षा है वह भी कर लेता है। ऐसे पदार्थ भी बना लेता है जो केवल कल्पना के काल में ही रहते हैं। अत्यंत अस्थिर पदार्थ भी बना लेता है। जैसे बिजली की चमक अस्थिर होती है, ऐसे ही कई पदार्थ अस्थिर होते हैं। उसी समय आये और खतम हो गये, प्रातिभासिक पदार्थ सब इसी प्रकार के हैं। चकार से तो अनियतपदार्थों को ले लिया और ऊपर से ले लिया जो कल्पना काल में ही रहते हैं उन्हे; एक क्रम सृष्टि, एक अक्रम सृष्टि और एक कल्पना काल वाली सृष्टि। नियत पृथ्वी आदि; अनियत जैसे ईश्वर ने रूपों को धारण करके दर्शन दे दिया; और जो केवल कल्पना काल में रहें जैसे प्रातिभासिक पदार्थ, बिजली इत्यादि जो आगे पीछे नहीं, प्रतीतिमात्र हैं।

बहिश्चित्त का अर्थ किया बहिर्मुख होकर बाह्य व्यवहारयोग्य पदार्थों को बना लिया। उसी प्रकार अंतश्चित्त में मनोरथ आदि लक्षण वाले बनाता है, जैसे मेरा पुत्र, मेरे को धन की प्राप्ति होगी, इत्यादि मनोरथ हैं। इनकी भी इस प्रकार कल्पना करता है। प्रभु का अर्थ कर दिया ईश्वर जो कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्त्तुम् समर्थ है। सब जो कर सकें उसे भी वह कर लेता है, जो कोई नहीं कर सकता उसे भी कर लेता है और जिसकी कल्पना न करो वह भी कर लेता है। वह ईश्वर ही आत्मा है।।१३।।

●

चित्तकाला हि येन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः।।१४।।

आन्तर पदार्थ जब तक जाने जाते हैं तभी तक हैं। बाह्य पदार्थ जाने जाते हैं तब तो हैं ही, उससे अतिरिक्त काल में भी हैं अतः द्वयकाल हुए। फिर भी आन्तर और बाहरी पदार्थ कल्पित ही हैं। एककाल या द्वयकाल होने से उनके कल्पितत्व में फरक नहीं पड़ता।

Scanned by CamScanner

किसी के मन में शंका हो सकती है कि आपने पहले यह कहा कि स्वप्न की तरह चित्त-परिकल्पित सब कुछ है और फिर यहाँ आकर एक अंतश्चित्त और एक बहिश्चित्त, एक नियत, एक अनियत और एक कल्पना काल वाला प्रातिभासिक बताया। यह बनता नहीं। पहले तो आपने कहा था कि संसार के पदार्थ स्वप्नवत् कल्पित हैं और अब आपने पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद कर दिया। कल्पना काल वाले पदार्थ प्रातिभासिक, कल्पना काल से अतिरिक्त काल में रहने वाले पदार्थ व्यावहारिक। वे व्यावहारिक पदार्थ फिर दो प्रकार के, एक पृथ्वी, जल आदि और एक अंदर चित्त में रहने वाले पुत्रत्व, मनोरथ आदि। एक पारमार्थिक पदार्थ परमात्मा तो है ही। इस प्रकार तीन चीजें मान लीं। जो कल्पित पदार्थ हुआ करते हैं वे कल्पना काल से अन्य काल में कभी नहीं रहते। जैसे रस्सी में साँप कल्पित है तो जब तक कल्पना है तभी तक रहता है, आगे पीछे नहीं रहता। पहले तो आपने स्वप्न और जाग्रत् पदार्थ एक जैसे बता दिये और अब आप कल्पना काल अतिरिक्त काल में भी पदार्थों को कहने लग गये। जाग्रत् के पदार्थ कल्पना काल से अतिरिक्त काल में रहते हैं तो फिर वे मिथ्या नहीं हो सकते। मानना तो पड़ेगा कि रहते हैं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है। जैसे मनमोहन को साल भर पहले देखा, उसी को अब देख रहे हैं; तब से अब तक वह रहा तो देख रहे हैं। बौद्ध तो ऐसा मानते हैं कि जिस चीज को नहीं देखा वह है ही नहीं। लेकिन यह अनुभव-विरुद्ध है। दस बीस पदार्थ दीखते हैं बाकी नहीं। मन्दिर में घड़ा जा रहा लिंग ही नहीं दीख रहा है। लेकिन वहाँ जाकर देखकर कहते हो कि 'आज इन लोगों ने इतना काम कर लिया।' इस प्रत्यभिज्ञा के बल से आपको पदार्थ को कल्पना काल से अतिरिक्त काल में मानना पड़ेगा। कल्पना-काल-अतिरिक्त काल में जो चीज रहा करती है, वह मिथ्या नहीं होती। यह शंका है।

उसका जबाब देते हैं कि कल्पना काल में होने वाले जो पदार्थ होते हैं अर्थात् मन के अन्दर जो रहते हैं वे तो चित्तकाल हैं। जो मनोरथ और प्रातिभासिक पदार्थ हैं वे तो चित्तकाल हैं। जो अंदर ही अंदर प्रतीत होते हैं वे जब तक चित्त का संकल्प रहे तब तक हैं, आगे पीछे नहीं, जैसे 'हमको इससे प्रेम है'; यह प्रेम तब तक रहेगा जब तक तुम्हारे चित्त में प्रेम की वृत्ति है। यह घड़े की तरह नहीं है। कई लोग कहते हैं कि हम जनेऊ खूँटी पर टाँग कर बाहर निकलते हैं, अपना ब्राह्मणपना वहीं रख देते हैं। हम उनसे कहते हैं कि ब्राह्मणत्व जनेऊ में नहीं रहता जिसको टाँग सको। ब्राह्मणत्व तो चित्त में रहेगा। यदि चित्त में ब्राह्मण हो तो हो, और यदि चित्त से नहीं हो तो मन भर का जनेऊ पहना दें तो कुछ नहीं होने वाला है! चित्त में है कि 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' तो जनेऊ दिखा भी दोगे तो हो नहीं जाओगे। बहुत से महात्माओं का शिखासूत्र का त्याग करवा देते हैं। चोटी जनेऊ छोड़ने के दस साल बाद प्रश्न होता है तो कहते हैं 'यह शरीर तो ब्राह्मण ही है, वह बनिया है।' जनेऊ न रहने पर भी, दस साल के बाद भी यह अभिमान

Scanned by CamScanner

बना हुआ है 'ब्राह्मण हूँ' और किसी को जनेऊ पहनने पर भी 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अभिमान नहीं होता।

एक बार नासिक कुंभ में दो मुसलमान पीले कपड़े पहनकर आये। भोजन करने बैठे तो हमने उन्हें देखा कि ये ढंग के नहीं लग रहे हैं। सोचा आजकल सर्वत्र पाठपूजा का ढंग नहीं होता, इसलिये इन्हें पंद्रहवा अध्याय याद नहीं होगा। दो एक दिन देखा तो खाने का ढंग भी कुछ खटका। जब दो साधुओं ने डाँटकर उनसे पूछा तो कहा कि 'हम मुसलमान हैं, भोजन के लिये ये कपड़े पहनकर आये हैं।' विचार की बात यह है कि यदि जनेऊ पहन भी लिया लेकिन अभिमान नहीं है तो प्रकट हो ही जाता है, जैसे उन्हें डाँटा तो प्रकट हो गया कि मुसलमान हैं। इसलिये यदि अन्दर अभिमान नहीं तो जनेऊ पहनने से कुछ नहीं होगा और अंदर अभिमान है तो जनेऊ तुड़वाने से कुछ नहीं होगा।

ठीक इसी प्रकार प्रेम नाम की चीज ऐसी नहीं होती कि हमको तुमसे प्रेम तो था लेकिन कहीं रख आये हैं! फिर जायेंगे तो वह फाइल निकाल लेंगे! प्रेम मन में है तो है, नहीं है तो नहीं है। इसलिये ये पदार्थ चित्तकाल वाले हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि सब चित्तकाल वाले हैं। जितने क्षण तक क्रोध है उतने क्षण तक है। उसके बाद अविचारी वृथा अभिमान करते रहते हैं कि में क्रोधी हूँ। कई बार लोग कहते हैं कि 'महा क्रोधी हूँ, मुझे ठीक कर दो।' हम कहते हैं कि जरा अपने क्रोध का नमूना दिखाओ तो पता लगे। कहते हैं 'ऐसे थोड़े ही आता है।' इस समय क्रोधी नहीं हो तो नहीं ही हो; वह माल इस समय नहीं तो है ही नहीं। यह अभिमान ही कि मैं क्रोधी हूँ, आगे क्रोध करवायेगा, नहीं तो नाम को बट्टा लग जायेगा कि मैं क्रोधी हूँ! ये जितने पदार्थ हैं वे सब अंतश्चित्तकाल वाले हैं।

इसी प्रकार पाप पुण्य आदि हैं। कोई आकर कहता है कि 'मैं पापी हूँ'। उससे कहो 'पाप करके दिखा तब पता लगे।' कहता है 'इस समय नहीं होता।' इस समय नहीं कर सकते तो पापी नहीं हो। पुराना बोझा क्यों लादे हो? जब करना तब कह देना। वृथा-अभिमान-परम्परा से मनुष्य बंधनों में बंधता रहता है। अंतः अर्थात् मन के अन्दर रहने वाले पदार्थ सारे चित्तकाल वाले हैं।

जो पदार्थ प्रत्यभिज्ञायमान हैं वे बहिः हैं, व्यवहार-योग्य हैं। चित्तकाल वाले पदार्थों से व्यवहार नहीं हो सकता। बाहर के पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा होती है। चाहे तुम्हारे में दो बार क्रोध पैदा हो लेकिन उसकी प्रत्यभिज्ञा यह थोड़े ही होती है कि यह कल वाला क्रोध है। वहाँ तो यह है कि यह फिर दूसरा गुस्सा, यह फिर तीसरा गुस्सा आया। लेकिन जो प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थ रूप, रस आदि हैं, उनके अन्दर तो प्रत्यक्ष हमें पता लगता है कि ये वही पदार्थ हैं। इसलिये जो प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थ हैं, वे पूर्व और अपर काल

Scanned by CamScanner

भावी हुए अर्थात् पहले भी थे और अब भी हैं। इसीलिये वे व्यवहार-योग्य हैं। हम तुमको अपने हाथ से घड़ी खोलकर तो इनाम दें सकते हैं लेकिन ऐसा हम अपने काम, क्रोध आदि को हटाकर थोड़े ही दे सकते हैं। आजकल पिताओं को यही शिकायत है। पहले के पिता प्रायः लोभी होते हैं। आजकल के लड़के खर्चीले होते हैं। पिता सोचता है कि जैसे मैं इन्हें अपनी सम्पत्ति देता हूँ, ऐसे ही लोभ भी दे देता तो अच्छा था नहीं तो सारा खर्च कर देंगे। यदि पदार्थों की तरह काम क्रोध लोभ आदि भी दिया जा सकता तो काम बन जाता। इसलिये कहा कि वे व्यवहारयोग्य नहीं हैं। पूर्व और अपर काल दोनों में जो रहता है वह दोनों कालों में रहने वाला होने से व्यवहारयोग्य हो गया।

अब कहते हैं कि केवल व्यवहार की योग्यता, अयोग्यता और प्रत्यभिज्ञायमानता लेकर जो उनका सत्यत्व सिद्ध करना चाहते हो, वह नहीं होगा। वे सारे कल्पित ही हैं। प्रत्यभिज्ञायमानता को कल्पना के विरुद्ध कहाँ देखा? जो प्रत्यभिज्ञायमान होता है वह मिथ्या नहीं होता, इस व्याप्ति को कहाँ ग्रहण किया? जिस प्रकार जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि है जैसे महानस में, उसी प्रकार तुम्हें कहीं ग्रहण करना पड़ेगा कि जो जो चीजें प्रत्यभिज्ञायमान होती हैं वे मिथ्या नहीं होती। दृष्टांत कोई नहीं बनने वाला है। इसलिये 'विशेषो नान्यहेतुकः'। क्यों? रस्सी में तुम्हें साँप दीखा और बाद में दण्डा लेकर उसे मारने आये। उस समय प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'यह वही साँप है'। है वह चित्तकाल वाला लेकिन हो जाता है कि 'यह वही साँप है जिसको मारने आया हूँ'। इसलिये प्रत्यभिज्ञायमानता दृढ लक्षण नहीं कि जहाँ जहाँ प्रत्यभिज्ञायमानता हो वहाँ मिथ्यात्व न हो। इसलिये दोनों को मिथ्या एक जैसा ही मानना पड़ेगा।

मिथ्या होते हुए भी फरक यह है कि एक व्यावहारिक और एक प्रातिभासिक है। संसार के सब पदार्थ व्यावहारिक हैं अर्थात् व्यवहार के योग्य हैं। रस्सी में साँप, सींप में चाँदी व्यवहार के योग्य नहीं। व्यवहार की योग्यता और अयोग्यता का भेद तो हम भी मानते हैं, लेकिन व्यवहार के योग्य और अयोग्य, दोनों पदार्थ स्वरूप से मिथ्या हैं। इसलिये प्रत्यभिज्ञायमानता अकल्पितत्व में हेतु नहीं है क्योंकि कल्पित पदार्थों के अन्दर भी प्रत्यभिज्ञायमानता हो सकती है। भेद इसलिये है कि कुछ व्यवहारयोग्य हैं और कुछ व्यवहार-अयोग्य। लेकिन व्यवहार योग्य होने मात्र से उसको तुम सत्य मानो ऐसा कोई दृढ कारण तुमको नहीं मिलेगा।

भाष्यकार श्लोक से जिस शंका को हटाना है उसे बताते हैं। स्वप्न की तरह चित्तपरिकल्पित ही जाग्रत् के पदार्थ नहीं हैं। क्यों नहीं हैं? चित्त से परिकल्पित हुए अपने मनोरथ आदि चित्त-परिच्छेद्य हैं, जब तक चित्त है तब तक हैं, चित्त नहीं तब नहीं हैं। बाह्य पदार्थ उनसे विलक्षण हैं, चित्तपरिच्छेद्य नहीं हैं। तुम्हारा ज्ञान नहीं है तब भी पदार्थ बने रहते हैं। इसलिये उनको तुम मिथ्या न मानो, दोनों में कोई फरक करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

किन्तु यह शंका नहीं बनेगी .क्योंकि मिथ्यात्व का लक्षण है 'ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्' जो चीज ज्ञान से हट जाये वह मिथ्या होती है। सत्य चीज मिथ्या नहीं। सच्चे साँप को टार्च से देखा तो डर बढ़ेगा, हटने वाला नहीं है। लेकिन जो रस्सी में झूठा साँप देखा वह रज्जुज्ञान होने से बाधित होते ही हट जायेगा। ज्ञान से निवर्त्य चीज मिथ्या होती है। आत्माके ज्ञान से सारे संसार से होने वाले भय शोक आदि हट जाते हैं। 'तरति शोकमात्मवित्' आत्मज्ञान होते ही शोक मोह आदि की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान से संसार के भय शोक आदि की निवृत्ति के द्वारा बताया कि ये भय, शोक आदि अज्ञान से हैं। आत्मा के अज्ञान का कार्य चित्त हुआ। उस चित्त के द्वारा अंदर बने हुए जो मनोरथरूप पदार्थ हैं वे सारे के सारे परिच्छिन्न हो जाते हैं।

जैसे अंदर के पदार्थ चित्तपरिच्छेद्य हुए वैसे ही बाहर के पदार्थ भी तो अंतःकरण वृत्ति के द्वारा ही परिच्छिन्न होते हैं। दोनों की परिच्छेद्यता एक ही हो गई। पदार्थ दो प्रकार के हुए। एक जो कल्पना काल में रहते हैं और एक जो कल्पना से अतिरिक्त काल में रहते हैं। लेकिन चित्तपरिच्छेद्यता तो दोनों में एक जैसी रही। यह ठीक है कि बाहर का शिवलिंग इस समय हमारी दृष्टि का विषय नहीं हो पा रहा है लेकिन जब हमारी दृष्टि का विषय होगा तब तो मन के द्वारा परिच्छेद्य हो ही जायेगा। आँख खोलेंगे, मन वहाँ जायेगा, वहाँ पहुँचेंगे तब दीखेगा। चित्तपरिच्छेद्यता अंतः और बहिः दोनों पदार्थों में है। पूर्वपक्षी कहता है कि एक को चित्तपरिच्छेद्य मानो और दूसरों को चित्तपरिच्छेद्य से अतिरिक्त कुछ मानो। सिद्धान्ती का जवाब हुआ कि चित्तपरिच्छेद्यता धर्म तो दोनों में रहता है। चित्त के परिच्छेद के द्वारा काम, क्रोध आदि जाने गये और मन के द्वारा ही घड़ा, कपड़ा भी जाना गया।

भेद जानने में नहीं होता, भेद तो पदार्थों में हुआ। मन से कल्पित पदार्थ कल्पना के साथ खतम हो गये और बाह्य पदार्थ तुम्हारी कल्पना खतम होने पर भी बने रहे। इसलिये चित्तपरिच्छेद्यता तो दोनों जगह एक जैसी रही। जो अंदर स्थित चित्तपरिच्छेद्य पदार्थ हैं वे चित्तकाल के अतिरिक्त नहीं मिलते। जब तक चित्त जाने उस समय से अतिरिक्त समय में नहीं रहते।

फरक काल को लेकर है, चित्तकाल से अतिरिक्त काल में उनकी सत्ता नहीं। जितनी देर काम क्रोध आदि मनोरथों को जाना, उतनी ही देर हैं, आगे पीछे नहीं। फरक इसको लेकर नहीं कि मन से नहीं जाने जाते। मन से अंदर बाहर की चीजें जानी गई, लेकिन अंदर की जो चीजें जानी गई, वे जितनी देर चित्त ने जानी उतनी देर रहीं, फिर खतम हो गईं। उसी प्रकार रस्सी में जितनी देर तक साँप जाना उतनी देर रहा। जहाँ तुम्हारा अज्ञान खतम हुआ वहाँ सर्प भी खतम हो गया। ऐसा नहीं कि एक मन से और दूसरा बिना मन के जाना जाये। मन से दोनों चीजें जानी जाती हैं। एक चीज मन से जानने के काल में रहती है और अन्य कालमें भी रहती है। आगे द्वितीय काल आयेगा तब

Scanned by CamScanner

भी रहेगी, दूसरी चीज मन से जानने के काल में रहती है, उससे अतिरिक्त काल में नहीं रहती, कल्पना काल में ही रहती है। जब तक सोचा तब तक है, आगे पीछे नहीं।

'द्वयकालाः' का अर्थ कर दिया 'भेदकालाः' अर्थात् जिस समय जानते हैं उससे अतिरिक्त काल में भी रहें। मन से बाहरी जिन चीजों की प्राप्ति होती है वे जिस समय जानते हो उससे भिन्न काल में भी रहती हैं इसलिये वे भेदकाल वाली हैं। 'कालस्य भेदः भेदकालः' अन्य काल होने से भेदकाल कहा। भेदकाल वाले पदार्थ को भी भेदकाल कहेंगे 'भेदकालोऽवच्छेदको येषां ते भेदकालाः'। अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त (भेद) काल में रहने वाले जो पदार्थ, वे भेदकाल हुए। वे अन्योन्य परिच्छेद्य हैं अर्थात् पूर्व अपर दोनों कालों से परिच्छेद्य हैं। जिस समय जानते हो उस समय भी रहे और जिस समय नहीं जानते उस समय भी रहे। इसलिये प्रत्यभिज्ञान होता है कि 'यह वही पदार्थ है जिसको पहले देखा था'।

यह जो प्रत्यभिज्ञायमानता है उसे दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं। महात्माओं का दृष्टांत दे दिया। जब भिक्षा करने जाये तब किसी के घर कब तक खड़ा रहे? जितनी देर गो दुहने में लगती है उतनी देर खड़ा रहे। यह नहीं कि जम ही जाये कि 'लाला! तेरे को देना ही पड़ेगा।'उतनी देर में कुछ दे दिया तो ठीक, नहीं तो अगले घर चल दिये; 'आगोदोहनम्' यह काल का नियम है। जिसके घर गाय नहीं है वहाँ कितनी देर तक ठहरे? यद्यपि कहा तो यह है कि गाय दुहे तब तक, जब तक दुह रहा हो तब तक, तथापि तात्पर्य है कि जितनी देर दुहने में लगती है उतनी देर; चाहे वह और कोई काम कर रहा है, चाहे उसके घर गाय हो न हो। जैसे देश के लिये क्रोश (आजकल कोस) शब्द का प्रयोग करते हैं। क्रोश मायने चिल्लाना। लेकिन इसका अर्थ दो मील परिच्छिन्न कर दिया। इसी प्रकार जितना समय गोदोहन में लगता है उतने समय तक रहे।

ऐसे ही कहा तो गया चित्तकाल, लेकिन इसका मतलब है कि चित्त जब तक उनका ज्ञान करता है तब तक, जितने काल तक करता है उतने काल तक। संन्यासी जितनी देर खड़ा रहे उससे ही लोगों को पता लग जाता है कि गो दोहने में इतना समय लगता है, उसे अंदाज है। और जो गो दुहने का काम कर रहा है उसे पता है कि जितनी देर दुहने में लगती है उतनी देर खड़ा रहेगा। दोनों में परिच्छेद आ गया, उतना यह और इतना ही वह है; यों दोनों समानकाल हो गये। इस प्रकार से परिच्छेद्यत्व और परिच्छेदकत्व बाह्य पदार्थों का हो गया—जितने काल में घड़े से अर्थक्रिया निर्वर्तन होता है उतने काल तक यहाँ घड़ा रहता है। जब घड़े का व्यवहार होना खतम हो गया, घड़ा फूट गया।

जब कहा कि चित्तकाल से अतिरिक्त काल में रहता है तो बौद्ध ने पूछा 'क्या हमेशा रहता है ?' कितने काल तक रहेगा? बौद्धों की मान्यता है कि पदार्थ एक क्षण रहता है। नैयायिक पदार्थ की सत्ता तीन क्षण मानता है । वेदांती मानता है कि जब तक जिस चीज का व्यवहार हो तब तक रहती है। काल का कोई नियम नहीं। कोई पुत्र दस साल

Scanned by CamScanner

तक, कोई पचास साल तक रहता है और कोई पैदा होते ही मर जाता है। अब कोई कहे कि पुत्र वही है जो पचास साल जिये, तो जो दस साल का होकर मर गया उसे क्या कहोगे? इसलिये जितने काल में पदार्थ अर्थक्रियाकारिता वाले हों उतने काल तक पदार्थ की स्थिति प्रत्यभिज्ञायमान होने से माननी पड़ती है। इस समय अपने को लिंग नहीं दीख रहा है जो सामने मन्दिर में बन रहा है। यहाँ से घण्टा भर बाद गये तो दिखाई दिया। प्रश्न हुआ कि यह घण्टे भर तक रहा यह कैसे पता लगा? यह वही लिंग है इस प्रत्यभिज्ञा रूप अर्थक्रियाकारिता से ही अब तक बना रहा। यदि प्रत्यभिज्ञा कभी न हो तो अर्थक्रियाकारिता खतम हो गई।

यह लक्षण अच्छी तरह याद रखना क्योंकि आजकल विदेशों में, अमरीका आदि में, बड़ी भयंकर परिस्थिति इस बात की हो रही है कि मृत्यु का लक्षण क्या करें? वहाँ का कानून ही इसलिये गड़बड़ हो रहा है। पहले तो यह लक्षण था कि जिसका हृदय चलना बन्द हो गया, वह मर गया। लेकिन अब जब हृदयप्रत्यारोपण (heart transplantation) हो गया। उसका हृदय तो बन्द हो गया। अब उसे मरा हुआ मानें या जिन्दा मानें? मृत्यु का लक्षण क्या है? वेदांती का लक्षण ही सच्चा है कि जब तक प्रत्यभिज्ञान होता रहे कि 'मैं मनमोहन हूँ' तब तक जीवित है। जब यह खतम हो, तब वह नहीं रहा। इसीलिये यही मृत्यु का लक्षण हुआ कि दिमाग इस स्थिति में हो जाये कि पूर्व संस्कारों को कभी भी याद न कर सके जिसे अंग्रेजी में (irrepairable loss of memory) कहते हैं।

अंदर के पदार्थ चित्तकाल वाले और बाह्य पदार्थ द्वयकाल वाले अर्थात् चित्तकाल में भी हैं और चित्तकाल से अतिरिक्त काल में भी हैं तब तक उनकी अर्थक्रियाकारिता है। किन्तु द्वयकाल विशिष्ट होने से कल्पितत्व का व्यतिरेक किसी तरह सिद्ध नहीं कर सकते। कल्पित काल से अतिरिक्त काल तक रहने से ही कोई चीज सच्ची नहीं हो जाती। यह नहीं कह सकते कि यह मिथ्या नहीं है क्योंकि बाहर दीख तो रही ही है। स्वप्न के अंदर भी पदार्थ की सत्ता तब तक जब तक प्रत्यभिज्ञान होता है। जब तक अर्थक्रियाकारिता है तब तक मानते हो, नहीं तो वहाँ भी बाध हो जाता है। स्वप्न से उठ जाते हो तो स्वप्न के पदार्थों की अर्थक्रियाकारिता नहीं रही। अर्थक्रियाकारिता न रहने से स्वप्न के पदार्थों को प्रातिभासिक मान लिया। लेकिन प्रातिभासिक पदार्थों में भी तुम स्वप्नमें किसी को व्यावहारिक और किसी को प्रातिभासिक मान रहे थे। जैसे स्वप्न में व्यावहारिक और प्रातिभासिक मानते हुए भी जब उठ गये तो उन सब पदार्थों की प्रातिभासिकता इसलिये कि व्यवहार-अयोग्य हो गये। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान हो जाने से सब पदार्थ व्यवहार के अयोग्य हो जाते हैं।

पदार्थों की आवश्यकता किस लिये है? मनुष्य को किसी चीज के ग्रहण के द्वारा सुखप्राप्ति के लिये अथवा किसी चीज की प्राप्ति के द्वारा दुःखनिवृत्ति के लिये पदार्थों

Scanned by CamScanner

की आवश्यकता होती है। इसी के लिये व्यवहार होता है। ज्ञान होने के बाद आत्मा की आनंदरूपता का भान होने से सुख केलिये किसी चीज की जरूरत नहीं और आत्मज्ञान होने के बाद शोक मोह आदि की निवृत्ति हो जाने से दुःख को हटाने के लिये किसी चीज को हटाने की जरूरत भी नहीं। इसलिये व्यवहारयोग्यता खतम हो गई। इसीलिये उसके बाद उसकी केवल क्रीडा या लीला ही होगी। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'। जैसे दो जने बैठकर रम्मी (ताश) खेलते हैं। रम्मी खेलने का प्रयोजन तो कुछ नहीं है, केवल खेलने के लिये ही है। कसीनो में तो लोग पैसा कमाने के लिये बैठ जाते हैं लेकिन बहुत से तो वहाँ भी खेलने के लिये ही जाते हैं। तब न उनको कोई दुःख है जिसको हटाने वे वहाँ गये हों, और वहाँ वे किसी सुख प्राप्ति के लिये भी नहीं गये। वे तो केवल खेल-खेलने के लिये गये हैं। बाहर से कार्य तो वे भी वही कर रहे हैं जो पैसा कमाने के लिये गया हुआ कर रहा है। रम्मी में भी पैसा कमाने के लिये कुछ लोग खेल लेते हैं। जो पैसा कमाने के लिये कर रहा है वह सुखी दुःखी होगा, हारने पर दुःखी और जीतने पर सुखी होगा। लेकिन जो केवल खेल के लिये कर रहा है उसे सुख दुःख नहीं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानोत्तर काल में बाहर से व्यवहार वैसा ही होगा जैसा दूसरें लोग कर रहे हैं, लेकिन वह वहाँ खेलने के लिये, लीला के लिये गया है इसलिये सुखी दुःखी होता नहीं रहता। इसलिये जितना कुछ भी भेद है वह सारा का सारा व्यवहारयोग्य या व्यवहार अयोग्य है। यों दोनों पदार्थ भेद वाले होने पर भी चित्तपरिच्छेद्य हैं। जिस समय आत्मा का ज्ञान होगा उस समय चित्त का बाध हो जायेगा और चित्त का बाध हो जाने पर चित्तपरिच्छेद्यता का बाध हो जायेगा। इसलिये वे उसके सुख दुःख के कारण नहीं रहेंगे, व्यवहार होगा नहीं।

पूछने वाले ने चित्तकालता और अन्यकालता लेकर अन्यकाल वालों को सत्य मानना चाहा था। जवाब में स्पष्ट किया कि अन्यकाल में रहने मात्र से चीज सच्ची नहीं हो जाती। इसमें भाष्यकारों ने सपने को ही दृष्टान्त ले लिया। विचार किया तो सर्प भी मिथ्या रहते हुए प्रत्यभिज्ञायमान हो गया क्यों कि बाध होने से पहले दण्डा लेकर लौटने पर 'यह वही साँप है जिससे मैं डरा था' ऐसा लगता है। व्यवहार्य भी दोनों हैं, कुछ न कुछ व्यवहार मिथ्या से भी होता है, मिथ्या साँप भगा तो देता ही है। अतः जो मिथ्यात्व पहले सिद्ध किया था वह यथावत् निर्दुष्ट रह गया।।१४।।

●

अव्यक्ता एव येन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे।।१५।।

जो पदार्थ मनमें भावनारूप होने से अस्फुट हैं और जो मनसे बाहर स्फुट उपलब्ध हैं, वे दोनों ही कल्पित हैं, मिथ्या हैं। स्फुटता-अस्फुटता का भेद तो अन्तरिन्द्रिय व

Scanned by CamScanner

बहिरिन्द्रियों के भेद के कारण है। मिथ्या या सत्य होने से स्फुटता या अस्फुटता हो ऐसा नहीं।

जब बताया कि चित्त के ज्ञान काल में रहने या चित्त के ज्ञान काल के साथ-साथ चित्त के ज्ञान न होने पर भी रहने को लेकर प्रातिभासिक और व्यावहारिक पदार्थों का भेद है, तब किसी ने कहा कि यदि इतना ही भेद है तो मन के पदार्थों में अस्पष्टता क्यों और जाग्रत् के पदार्थों में, प्रत्यभिज्ञान वाले पदार्थों में, स्पष्टता क्यों? जब हम दिल्ली के घण्टाघर को देखते हैं केवल चित्त के संकल्प से, तब भी देखते हैं लेकिन स्पष्ट नहीं दीखता। जितना भी प्रयत्न मन से देखने का कर लो, हमेशा अस्पष्ट रहेगा। किसी की कही हुई बात को चाहे जितना फिर से अपने अन्दर सुनने का प्रयत्न करो, अस्पष्ट रहेगी। जैसे दिल्ली में जमुना के किनारे खड़े होकर घण्टाघर स्पष्ट दीखता है या जिस समय कोई बोलता है उस समय स्पष्ट सुनाई देता है ऐसा केवल मन ही मन में स्पष्ट नहीं दीखता, या स्पष्ट सुनाई नहीं देता। यदि दोनों एक जैसे ही हैं तो फिर यह दृष्ट स्पष्टता का भेद क्यों?

उसका जबाब दिया कि जो केवल अन्दर चित्त में ही प्रतीत होते हैं वे अस्पष्ट हैं और जो बाहर हैं वे स्फुट हैं, प्रकट हैं। वे दोनों ही कल्पित या मिथ्या होने पर भी विशेष अर्थात् भेद इन्द्रियों का है। आँख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो देखा जाता है, वह स्पष्ट होता है और बिना आँख, कान, नाक के जो दीखता है वह अस्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता का कारण पदार्थ नहीं, पदार्थ को देखने का साधन है। हम लोग, जो चश्मा लगाने वाले हैं, चश्मा खोल दें तो तुम लोगों का मुँह अस्पष्ट हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि तुम्हारा मुख मिथ्या हो गया! हमारी इन्द्रिय ने काम नहीं किया इसलिये अस्पष्टता है। जिनकी आँखें अच्छी हैं वे लोग भी यदि दूरबीन से देखते हैं तो उन्हें मंगलग्रह, शनिग्रह स्पष्ट दिखाई देते हैं। बिना दूरबीन के, अस्पष्ट दिखाई देते हैं। पानी के अन्दर कीड़े दिखाई ही नहीं देते हैं और खुर्दबीन या अणुवीक्षण यंत्र (microscope) से स्पष्ट दिखाई देते हैं। मनुष्य की हड्डी टूटी या नहीं यह अपने को दिखाई नहीं देता, लेकिन ऐक्सरे की आँख से दिखाई देता है। ये सब भेद पदार्थों के कारण नहीं हैं। देखने के साधन के भेद से स्पष्टता और अस्पष्टता है। इसी प्रकार यदि केवल मन से देखते हो तो पदार्थ अस्पष्ट रहते हैं, इन्द्रिय से देखने पर स्पष्ट हो जाते हैं। बस इतना ही फरक है, पदार्थों में भेद नहीं, पदार्थ तो एक जैसे ही हैं। देखने के करण में भेद है।

असाधारण कारण को इन्द्रिय कहते हैं। असाधारण अर्थात् विशेष। मन तो साधारण है; रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, सबको मन देखता है। आँख असाधारण करण हो गई क्योंकि केवल रूप को ही देखेगी। आँख के अन्दर भी कई ऐसे स्थल हैं जहाँ सफेद और काला दिखाई देता है और कई ऐसे स्थल हैं जहाँ रंग दिखाई देता है। आँख में

Scanned by CamScanner

अलग-अलग स्थल होते हैं। रंग दिखाई देने वाला स्थल खराब हो जाये तो उसे रंग नहीं दिखाई देता, केवल काला-धौला दिखाई देता है। असाधारण करण ज्ञान में स्पष्टता लायेगा लेकिन ज्ञान को सीमित करेगा। यह इसका रहस्य है। आधुनिक युग के अन्दर यही समस्या है। जितना तुम्हारा विज्ञान असाधारण (specialized) होता जाता है उतना ही सामान्य (general) ज्ञान कम होता चला जाता है। कभी-कभी डाक्टरों के विषय में लोग हँसी करते हैं कि किसी दिन एक आदमी जाकर कहेगा 'मेरी नाक में फोड़ा है, जरा देख लो', तो डाक्टर कहेगा 'तुम गलत जगह आ गये। मैं बायीं नाक के फोड़े का विशेषज्ञ हूँ, दायीं नाक का नहीं!' यह बात चाहे हँसी की समझो लेकिन है जरूर। हिन्दुस्तान में बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं।

दो साल पहले दिल्ली में डाक्टरों की हड़ताल हुई। आल इण्डिया इंस्टिट्यूट आफ मैडिकल साईंसेज के एक डाक्टर ने हमको बताया जो पैथालाजी डिपार्टमेण्ट के हैड थे। कहते थे 'हड़ताल के दौरान बड़े डाक्टरों को आदेश हो गया कि तुम लोग रोगियों को देखने बैठ जाओ। एक दिन एक मिनिस्टर की घरवाली आई, उसका पेट खराब था। पैथालाजी के डाक्टर को क्या पता कि पेट खराब क्या होता है। मैं अंदर गया। वहाँ एक डाक्टर कुछ सम्बंधित चीजों को जानने वाला विशेषज्ञ था। उससे कहा कि 'तुम देख लो, मिनिस्टर की पत्नी है।' उसने कहा 'मुझे क्या पता कि इसको क्या है?' मैनें कहा 'वह बहुत दर्द कह रही है।' उसने कहा 'बैलार्गल दे दो। साधारण दर्द होगा तो ठीक हो जायेगी, नहीं तो मर जायेगी!' समस्या बिल्कुल ऐसी ही है। जो इस बात को नहीं जानता वह तो समझता है कि डाक्टर डाक्टर एक हैं, क्या फरक पड़ता है।

बहुत साल पहले एक कहानी पढ़ी थी। एक डाक्टर अमरीका से होकर आता है। जब वापिस अपने गाँव को जा रहा होता है तो जिस ताँगे में जा रहा है, वह ताँगे वाला कहता है 'आप बड़े अच्छे समय पर आ गये। मेरे घोड़े की टाँग में दर्द है। घर चलकर जरा देख लेना।' उसने कहा 'मैं आदमियों का इलाज करने वाला डाक्टर हूँ, घोड़े का नहीं।' ताँगे वाले ने कहा 'घोड़े का इलाज नहीं कर सकते तो फिर क्या करोगे? अपने यहाँ एक ही वैद्य गाय, घोड़ा, ऊँट, आदमी सब को सम्भाल लेगा।' जितना जितना विशेष ज्ञान होता जायेगा, उतना उतना सामान्य ज्ञान कम होता जायेगा यह नियम है। खुर्दबीन या अणुवीक्षण यंत्र से देखोगे तो एक बूँद पानी देखना मुश्किल है। उससे मंगल तारा देखना चाहोगे तो कैसे दीखेगा? मंगल तारे को देखने वाले यंत्र से एक बूँद पानी को कैसे देख सकोगे? अपना चश्मा ठीक है, इससे मंगल ग्रह भी देख लेते हैं, पानी की बूँद भी देख लेते हैं। लेकिन विशेष ज्ञान दोनों का नहीं होगा।

प्रश्न होता है कि जीवभाव को ब्रह्म क्यों प्राप्त करता है? जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है वह क्यों अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् करता है? उसका यह जवाब है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमन् रूप में सामान्य ज्ञान और सामान्य शक्ति तो रहेगी लेकिन विशेष ज्ञान और

Scanned by CamScanner

विशेष शक्ति नहीं रहेगी। इसलिये विशेष ज्ञान और विशेष शक्ति के लिये उसे (specialized) अर्थात् सीमित बनना पड़ेगा। उसके बिना उसका ज्ञान अव्यक्त रहेगा। इसीलिये जो माया का अधिष्ठाता चेतन है उसके अन्दर अव्याकृतता है, अस्फुटता है। जीव कभी सामान्य नहीं क्योंकि सामान्य बनते ही सामान्य ज्ञान हो जायेगा, विशेष ज्ञान हट जायेगा। हम लोग प्रायः इस भेद को गड़बड़ा देते हैं। इसीलिये हम लोग समझते हैं कि सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान एक साथ ही हो जाये, वह नहीं हो सकता। जितना जितना सामान्य ज्ञान बढ़ेगा उतना उतना विशेष ज्ञान घटेगा और जितना जितना विशेष ज्ञान बढ़ेगा उतना उतना सामान्य ज्ञान घटेगा। यह साथ ही साथ होता जाता है। यह स्फुट और अस्फुट का विभाग बता दिया।

भगवान् भाष्यकार ने इसी श्लोक का अर्थ कर दिया कि जो पदार्थों की अव्यक्तता है वह तो मन में वासना मात्र से ही अभिव्यक्त होना है। जो बाहर प्रकट होते हैं वे पदार्थ स्पष्ट भान होते हैं। उसका कारण आँख इत्यादि इन्द्रियाँ हैं। उसी को लेकर भेद है। पदार्थों की अस्तिता में भेद हो, ऐसी बात नहीं है क्योंकि स्वप्न में भी ऐसा ही होता है। स्वप्न में भी आँख खोलकर देखो तो साफ, और मन से सोची चीज अस्फुट रहती है। फिर भेद किसको लेकर है? इन्द्रियभेद को लेकर भेद है। इसलिये जैसे जाग्रत् के पदार्थ हैं वैसे ही स्वप्न के पदार्थ हैं। दोनों ही एक जैसे कल्पित हैं। स्फुटत्व अस्फुटत्व से उनमें भेद नहीं है।।१५।।

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः।।१६।।

सबकी कल्पितता तो सिद्ध हो गई कि सब एक जैसे मिथ्या हैं। स्पष्ट अस्पष्ट का भेद है, कोई स्थाई और कोई अस्थाई है, लेकिन कल्पित सब एक जैसे हैं यह सिद्ध हुआ। अब वह कल्पना किस द्वार से होती है? उसे बताते हैं।

सबसे पहले जीव बनता है। फिर सारे बाहरी-भीतरी भाव बनते हैं। जीव अपने अनुभव और स्मृतियों के अनुसार विभिन्न भावों की कल्पना में हेतु बनता चला जाता है। जीव बनने का मतलब है यह अनुभव करना कि 'मैं परिच्छिन्न हूँ' इसको कुछ दार्शनिक आणव मल कहते हैं। परिच्छिन्न अर्थात् 'मैं यह कर्म करता हूँ और इसका यह फल भोगता हूँ या भोगूँगा'। बस यह मोटा अज्ञान है। मिलिट्री का एक बहुत बड़ा अफसर था। उसके पास बहुत मैडल थे। उससे पूछा कि इतने मैडल कैसे मिले? उसने कहा कि बड़ा पहले मिला। उस जमाने में विक्टोरिया क्रास अफसरों को बहुत कम मिला करता था लेकिन उसने पहली लड़ाई में बहुत बड़ा काम किया तो उसे वह मिला। उसने कहा कि जब

Scanned by CamScanner

यह मिला तो उसके बाद छोटे-छोटे कामों में ही मैडल मिलते चले गये। ऐसे ही बहुत से लोग बेचारे अंगूठा छाप होते हैं, कोशिश करके दस्तख़त कर लेते हैं। लेकिन एक बार मिनिस्टर बन जाने पर फिर कई डाक्ट्रेट की डिग्रियाँ उन्हें मिलती चली जाती हैं। उसके लिये उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार जब यह मान लिया कि मैं कर्म करने वाला और मेरे को ऐसा फल मिलेगा, तो आगे फिर संसार का प्रपंच चलता चला जायेगा। जीव अर्थात् परिच्छिन्नभाव, 'मैं परिच्छिन्न हूँ इसलिये मैं जब कर्म करूँगा तो फिर मुझे फल मिलेगा।' यही अज्ञान का रूप है। 'अहं कर्त्ता' यह मूर्खता और 'नाहं कर्तेति बुद्धिमान्'। 'मैं नहीं करने वाला', यह बुद्धि का विषय है, बुद्धि से समझ में आता है और 'मैं कर्त्ता' यह अपने आप ही समझ में आता है, इसके लिये कोई बुद्धि की जरूरत नहीं पड़ती।

जब यह मान लिया कि 'मैं परिच्छिन्न हूँ' तो फिर अपने से बाहर की चीजों को अलग-अलग मानना शुरू किया, हरेक को परिच्छिन्न मानना शुरू किया। मान्यता ही तो है। तुम्हारे शरीर को पूरा देखते हैं तो आँख में एक ही चित्र (image) आता है लेकिन ऐसा थोड़े ही मानते हैं कि तुम्हारे अलग-अलग टुकड़े हैं। तुम एक हो ऐसा ही मानते हैं। ऐसे ही दीखता तो यहाँ से वहाँ तक एक है, आँख की एक ही वृत्ति बनती है, लेकिन उसमें मान लेते हैं कि यह अलग है, यह अलग है। यह अवापोद्धार करते रहने से पता लग जाता है। चूँकि तुम्हारा शरीर जब दीखता है तब इकट्ठा दीखता है इसलिये मान लिया कि यह एक शरीर है। तुम दोनों का शरीर हमेशा इकट्ठा नहीं दीखता, इसलिये मान लिया कि दो हैं। अवापोद्धार से ज्ञान दो अलग-अलग का नहीं होता, मानना ही पड़ता है। रंग से पता लगता हो ऐसा भी नहीं कह सकते। एक ही आदमी तीन रंग के कपड़े पहने बैठा है तो उसे तीन रंग का नहीं मानते। अवापोद्धार से अर्थात् एक चीज़ कभी उसके बिना और कभी इसके बिना देखें तो जरूर अलग होगी, यह केवल अपनी कल्पना है। हमनें अपने मन में मान रखा है कि जो चीज़ें कभी साथ दीखती हैं कभी नहीं दीखती, वे अलग होती हैं। इसलिये कहा 'ततः' अर्थात् 'तदनंतरम्'; जब अपने को परिच्छिन्न समझा तब चीज़ों को परिच्छिन्न करने में लगे और फिर हरेक चीज़ को परिच्छिन्न करते चले गये।

फिर उसके बाद सोचा कि देखने वाला कोई होना चाहिये। कभी हमको शब्द सुनाई दिया, कोई रूप दिखाई दिया। आगे कल्पना की कि एक आँख जरूर होनी चाहिये जो रूप देखती है, एक कान जरूर होना चाहिये जो सुनता है। वहाँ भी अवापोद्धार करते हैं कि आँख बन्द तो रूप दीखना बंद। इस प्रकार आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना चली। और इसी प्रकार बाह्य पदार्थों की कल्पना चली। अन्तरिन्द्रिय आदि की कल्पना से देखने वाला था आध्यात्मिक अतः उधर दीखने वाला हुआ बाह्य। फिर हेतुफलावेश हो गया। यह सामने आया तभी दीखा। यह कार्य कारण भाव आ गया। पहले आने वाले में कारणत्व

Scanned by CamScanner

की कल्पना, उसके बाद आने वाले को कार्य मान लिया। उसी कार्य से फिर कुछ आया तो उसे दूसरे के प्रति कारण मान लिया।

जैसे-जैसे कारण कार्य की कल्पना होती चली गई वैसे ही व्यवस्था बनती जाती है। जैसे कि यह तुमने पुण्य या पाप किया तो उसका फल अगले जन्म में मिलेगा। सुख दुःख की प्राप्ति का हेतु पुण्य-पाप हो गये। संसार के तीन चौथाई नहीं तो दो तिहाई लोग तो निश्चित यह मानते हैं कि ईश्वर स्वयं ही किसी को बड़ा और किसी को छोटा बना देता है। जितने ईश्वर ने साधन दिये उनका प्रयोग कैसे किया यह वह देखता है। यदि समुचित प्रयोग किया तो स्वर्ग और नहीं तो नरक मिल जायेगा। जैसे भात का एक दाना देखते ही पता लग जाता है ऐसे ही एक जन्म से पता लग जाता है कि अच्छा या बुरा किया, उसी के अनुसार उनका काम चलता है। वे कार्य-कारण-भाव को इस ढंग से मानते हैं। हम मानते हैं कि ऐसी बात नहीं। ऐसा मानने से वैषम्य-नैर्घृण्य आदि दोष आ जायेंगे। इसलिये पूर्व जन्म मानो। अपनी व्यवस्था भी चल रही है। जिस कार्य कारण-भाव को अंदर मान लिया उसी के अनुसार व्यवस्था बनती चली जाती है। जैसा हेतुफलावेश कर लिया—कि हम इस कार्य का यह कारण मानेंगे—उसके अनुसार ही व्यवस्था चलती है।

अपने यहाँ हज़ारों साल से बीमारी क्यों हुआ करती थी? वात, पित्त और कफ घट बढ़ जाने से बीमारी होती थी। अब ७० साल से बीमार इसलिये होने लगे कि मच्छर से मलेरिया होने लगा, पानी के अमीबा से अमीबिक डिसैण्ट्री होने लग गई। हज़ारों सालों से उन दवाइयों से ठीक होते रहते थे, सारे मरे नहीं। अब कीड़े से रोग पैदा होना मानने लगे तो कौन से सारे ज़िन्दा रहते हैं या रोग ख़तम हो गये? सैंकड़ों सालों तक ईंट पर टीकी लगाकर हमारी चेचक ठीक हो जाती थी और अब शरीर पर बड़ा-बड़ा टीका लगा देते हैं तब ठीक हो जाती है। तब भी वही मामला और अब भी वही है। जैसे-जैसे कार्य-कारण-भाव मन में बैठता जाता है उसी के अनुसार प्रतीत होता चला जाता है।

वस्तुतः वहाँ कुछ भी नहीं है। पहले हम लोग घी खाकर पुष्ट हुआ करते थे। आजकल घी खाने से हृदय रोग (heart disease) होकर आदमी मर जाया करते हैं! घी नहीं बदला, हम लोगों की कल्पना बदल गई। अब वह कल्पना हो गई तो हृदय रोग ही होगा इसमें संदेह नहीं।

'यथाविद्यस्तथास्मृतिः' इसी के पीछे वेदांत की एक बड़ी गम्भीर दृष्टि है, वह समझने की है। भाष्यकारों ने और भगवान् कृष्ण ने भी इसीलिये स्पष्ट किया 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्' जब तक मनुष्यों को कर्मों में आसक्ति है तब तक उनमें बुद्धि-भेद पैदा मत करो। यह नहीं कि हम अपने कार्य-कारण-भाव की परम्परा

Scanned by CamScanner

तुम्हारे ऊपर थोपें या तुम्हारे कार्य-कारण-भाव की परम्परा हम अपने ऊपर थोपें, क्योंकि जितनी कार्य-कारण-भाव की कल्पनायें हैं, वे सब एक जैसी मिथ्या हैं। जिसको बचपन से जो संस्कार पड़े हैं उन्हीं संस्कारों में उसे रहने दो। पुराने संस्कार हटने वाले नहीं और नये संस्कार पड़ने वाले नहीं। बदलने की कोशिश करने से मनुष्य के जीवन में निरंतर एक संघर्ष (conflict or frustration) बना रहता है। जन्म से क्षत्रिय को बताया गया है कि अत्याचार को सहन मत करो, कोई अत्याचार करे तो उसे दण्ड दो। उसे ब्राह्मण बनाने का प्रयत्न करो कि कोई अत्याचार करता है तो जो करता है उसे उसके अनुसार फल मिलता है, तो उसके मन में गुस्सा आता रहेगा और कहेगा कि 'चलो कोई बात नहीं, अहिंसा का पालन करना है'। अगर ब्राह्मण को शिक्षा दो कि 'किसी को नहीं मारना, कोई मारे तो समझो कि पूर्व जन्म के पाप कट गये, इस प्रकार से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, दण्ड नहीं देना चाहिये', तो उसे यह बात जँच जायेगी। उससे कहो 'दण्ड दो', तो उससे नहीं होगा। एक लड़का हमसे कहने लगा कि हम ब्राह्मणों से कभी क्रूरता का काम नहीं हो सकता है क्योंकि यदि मरी बिल्ली के ऊपर से अपनी मोटर निकल जाये तो दिल धड़कता है, क्या होगा? सहन नहीं होता। अपने से ये सब काम कैसे होने हैं? बात बिल्कुल ठीक है। जिसके संस्कार बचपन से पड़े हैं, उसे बदलने के पीछे मत पड़ो।

जो संसार-सत्यत्व-वादी हैं वे समझते हैं कि मेरे संस्कार सच्चे बाकी सबके झूठे हैं, उन सबको बदलना है। बहुत बार प्रश्न आता है कि हम हिन्दू लोग धर्मान्तरण क्यों नहीं करते? इसलिये कि बचपन से इतने संस्कार पड़े हैं कि नये संस्कार जमने नहीं और पुराने संस्कार निकलते नहीं हैं; इससे जीवन में संघर्ष जरूर पैदा हो जायेगा। दो एक पीढ़ी बाद जो भी हो, लेकिन उस समय संघर्ष चलता रहेगा। इसीलिये संथाल आदि जितने हैं हम उनमें परिवर्तन नहीं लाये। लोग समझते हैं कि हमने उनका निरादर किया या सुधारने का प्रयत्न नहीं किया। लेकिन हम लोगों का आंतरिक विश्वास यह है कि मान्यतायें एक जैसी हैं। हमने सीमेंट का मकान बनाया तो उसमें सुखी हैं और उन्होंने घास फूस की झोंपड़ी बनाई तो वे उसमें सुखी हैं। यह एक आंतरिक दृष्टिकोण था। हो सकता है कहीं-कहीं इसका दुरुपयोग होता है, सभी चीज़ों का दुरुपयोग हो जाता है। सनातनी का दृढ विश्वास होता है कि जैसे संस्कार बचपन से पड़ गये, पड़ गये। एक संस्कार की जगह दूसरा संस्कार आने से मुक्ति नहीं है। ये सारे संस्कार मिथ्या हैं यह समझने से मुक्ति होनी है। एक संस्कार की जगह दूसरा संस्कार लो और तब कहो कि झूठा है, इससे तो पहले ही संस्कार को झूठा समझ लो।

भगवान् भाष्यकार इसके भाष्य में कहते हैं कि आत्मा ही माया के द्वारा सब चीज़ों की कल्पना करता चला जाता है और स्वयं ही उसमें जीवभाव को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये कहते हैं कि बाह्य और आध्यात्मिक भाव हैं। बाह्य को पहले क्यों कहा? क्योंकि हमारी कल्पना में हमेशा बाह्य पदार्थ प्रथम उपस्थित होता है इसलिये अथवा 'तत्सृष्ट्वा

Scanned by CamScanner

तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुति के बल से पहले उपाधियों का निर्माण करेंगे तभी उसमें प्रवेश होगा। पहले शरीर बनायेगा तभी उसमें जीव होकर प्रविष्ट होगा। शरीर से सूक्ष्म शरीर, अंतःकरण आदि सब ले लेना; ये नहीं तो प्रवेश किस में करेगा? बाह्य और आध्यात्मिक जो भाव अर्थात् पदार्थ हैं वे साध्य, प्राप्त करने योग्य, और साधन रूप से स्थित हैं। सुख, दुःख, ज्ञान, राग इत्यादि सब आध्यात्मिक हो गये। सुख दुःख आदि बाह्य कुछ नहीं, अंतःकरण में होने वाले भाव (पदार्थ) हैं। उनका जो निमित्त है वे प्रायः बाह्य हैं। जैसे गर्मी में बैठे हुए हो, एयरकंडिशनर चलाया, उससे सुख अपने अन्दर हुआ, ए.सी. उसका निमित्त हो गया। यह निमित्त और नैमित्तिक की कल्पना हो गई। इनमें इतरेतर के प्रति निमित्त-नैमित्तिक-भाव है। एक बार किसी के घर में जाकर बैठे, उसने ए.सी. चला दिया, उससे हमें सुख हुआ तो वह निमित्त और सुख नैमित्तिक हुआ। वहाँ से चले तो सोचा कि घर वाली के हाथ का कड़ा बेचकर ए.सी. खरीद लूँगा। अंदर का सुख निमित्त और कड़ा बेचकर ए.सी. लेना नैमित्तिक हो गया। एक निमित्त से नैमित्तिक, नैमित्तिक से फिर निमित्त इस प्रकार इतरेतर प्रवृत्ति चलती रहती है। ऐसे ही दुःख, ज्ञान, राग, द्वेष आदि में चलता रहता है। बाह्यों को निमित्त करके आध्यात्मिक और फिर आध्यात्मिक को निमित्त करके बाह्य होते हैं।

लेकिन है यह कल्पना निर्मूल ही। इसका मूल कुछ नहीं है। यदि ए.सी. सुख का कारण हो तो बढ़िया ए.सी. में बैठे हुए सेठ से जब कहो 'ग़जब हो गया! गाँव से एक आदमी ने आकर बताया कि आपका जवान लड़का बीमार था, वह मर गया'। तो यह सुनते ही वहीं बैठे हुए दुःखी न हो जाता। उससे कहो 'ए.सी. से सुख हो रहा है'। वह कहेगा 'ए.सी. को ओढ़ें कि बिछायें? तुम हमारी हँसी उड़ाते हो!' है तो यह निर्मूल कल्पना क्योंकि जो जिसका कारण होता है वह हमेशा ही कारण रहना चाहिये। लेकिन वह निर्मूल कल्पना होने पर भी प्रवृत्ति होती रहती है। पुराने जमाने का आदमी होगा तो ए.सी. बेचकर सोने का कड़ा बना लेगा, सोचेगा यह बेकार की चीज़ है, बिजली का खर्चा और ऊपर से हो जाता है। सोने का कड़ा खरीद कर रख लेंगे तो सोने के दाम तो बढ़ते ही रहेंगे। वह उसी को धन समझता है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह क्या बेकार का कड़ा खरीद लिया, यह किस काम का, इससे क्या होना है? कुछ सुख भोगो, ए.सी. चलाओ, रैफ्रिजरेटर रखो। कल्पना निर्मूल है क्योंकि एक ने जैसा निमित्त नैमित्तिक मान लिया उसको वह सुख देने लगा, दूसरे ने जिसे मान लिया, वह उसे सुख देने लगा। कई लोग बैंक बैलैंस से ही खुश होते रहते हैं कि अच्छा फायदा हो गया। उनके पास भी रुपया नहीं आया, कागजों का जमा खर्च हो जाता है, उसी से खुश हो जाते हैं और खाने को डालडा खायेंगे! बड़े-बड़े आदमियों के घर यही पाते हैं। पहले हम सोचते थे कि उधार लेकर मकान बनाया होगा। बाद में पता लगा कि मकान तो अपने ही पैसे से बनाया है लेकिन खाते समय डालडा खाते हैं। इसलिये यह निर्मूल कल्पना है।

Scanned by CamScanner

जीव स्वयं भी हेतु और फल रूप ही है। इसलिये 'मैंने यह किया' यह कारण और 'मेरे को यह सुख दुःख हुआ' यह कार्य फल हो गया। अपने को कारण और सुख दुःख को कार्य मान लिया। यहाँ तक कि यहाँ और कोई कारण नहीं मिला तो मानते हैं कि पूर्व जन्म में किया होगा। जो शुद्ध आत्मा है उसके अन्दर इस प्रकार से हेतु-फल-भाव के द्वारा कल्पना करते रहते हैं। शुद्ध आत्मा में न कार्य और न कारण है। वहाँ तो ज्ञान ही ज्ञान है। एक ज्ञान क्रिया का और दूसरा ज्ञान सुख-दुःख का। उसमें कार्य-कारण-भाव की कल्पना हो गई कि हमारे करने पर सुख हुआ। यह केवल कल्पना ही है। वह जीव कल्पना का अधिष्ठान हो गया। शुद्ध आत्मा में कल्पना वैसी ही है जैसे रस्सी में साँप की कल्पना कर लेते हैं। रस्सी में साँप का नाम निशान नहीं, फिर भी कर लेते हैं। ऐसे ही यहाँ भी कर लेते हैं।

'ततः' मूल का पद है, उसका अर्थ कर दिया 'तादर्थ्येन' अर्थात् उसेक लिये; जो प्रथम कल्पित भोक्ता जीव हुआ उसके लिये। उसका भोग तब बने जब कर्म करने के उसके पास शरीर इन्द्रिय मन आदि साधन हों और बाह्य पदार्थ हों। जब जीव की कल्पना हो गई कि 'मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता' तो करने के लिये जो साधन चाहिये वे शरीर, इन्द्रिय मन आदि हो गये और सुख दुःख भोगने के लिये जो साधन चाहिये वे मकान इत्यादि बाह्य पदार्थ हो गये। जीव के शेष रूप से ये सब हैं, जीव कर्त्ता भोक्ता हो गया। अब कर्त्तापने के साधन, और भोग भोगने के साधन सब उसके लिये हो गये। वे हों तभी वह कर्त्ता-भोक्ता बने। मूल कल्पना जीव की रही। जब तक यह कल्पना है तब तक बाकी सब दुनिया चलती है। जहाँ यह कल्पना छोड़ी तो काम बना, देरी नहीं लगती। जब कार्य करने जाओगे तो कारक चाहिये। कहीं बैठकर, किसी चीज़ से, किसी उद्देश्य से करते हो, कोई उपादान सामग्री होगी तब क्रिया करोगे; आदि सब चीज़ें चाहियें। भिन्न-भिन्न प्रकार के फलों का भेद हुआ। क्रिया कारकों के साथ भेद न हो तो किसी चीज़ से काम नहीं चलेगा। इसलिये सब भिन्न-भिन्न सोच लेते हैं, अनेक प्रकार के पदार्थों की कल्पना करते रहते हैं। आत्मा, बाह्य और आध्यात्मिक सब कल्पनायें करता रहता है।

कोई पूछता है कि इन कल्पनाओं का कोई विशेष हेतु बताओ कि क्यों इस प्रकार से कल्पना करता है। सामान्य हेतु तो हो ही गया कि 'मैं कर्त्ता और मुझे सुख दुःख होता है' यह अज्ञान, परिच्छिन्नभाव; लेकिन विशिष्ट हेतु क्या हुआ? अनेक प्रकार की कल्पनायें क्यों करता है? एक ही प्रकार की कर लेता। बहुत लोग कहते हैं कि भगवान् को रूप धारण करना था तो आदमी का ही कर लेता, मक्खी, मच्छर, पिस्सू आदि का क्यों धारण कर लिया? बात यह है कि अनंत जीव कल्पित हुए और हरेक जीव ने अपनी-अपनी अलग-अलग कल्पना कर रखी है। जैसे हम लोगों को लगता है कि हम बड़े बुद्धिमान् हैं और बाकी सब बेवकूफ हैं। ऐसे ही अगर किसी भैंस से पूछोगे तो वह भी

Scanned by CamScanner

यही बतायेगी कि 'मैं बड़ी बुद्धिमान् हूँ और बाकी सब बेवकूफ हैं'। हम लोगों को लगता है कि हम से भिन्न जितने हैं वे सब कैसे हैं, और वे हम लोगों को देखकर भी वैसे ही हँसते हैं जैसे हम उन्हें देखकर हँसते हैं। इसी प्रकार खटमल, पिस्सू आदि जितने हैं वे सबके सब प्रथम ही कल्पित हुए जीव रूप से कल्पित हैं। वे अनंत कल्पनायें स्वयं कल्पित हैं, हमने आगे बढ़कर सत्य कल्पना नहीं की। हम मनुष्य के अन्दर आये तो हमने वह कल्पना कर ली। लेकिन पिस्सू में भी वही आत्मा है। यदि जीव सत्य होता तो प्रश्न होता कि उसने इतनी कल्पनायें क्यों कीं? कल्पना करने वाला तो आत्मा हुआ इसलिये एक साथ ही सब कल्पनायें कर लीं। जीवरूपता कल्पनाओं के साथ स्वामित्व-सम्बन्ध ही है। जैसे इस शरीर के साथ हमारा स्वामित्व-सम्बन्ध है। शरीर से मन, बुद्धि सब समझ लेना। वैसे ही मच्छर आदि के साथ स्वामित्व-सम्बन्ध हो गया और वैसे ही घास के साथ हो गया। हमारी कल्पना मालिक बनकर और शरीर आदि की कल्पना सेवक बनकर हो गई। भाष्य के 'अधिकृतः' का अर्थ है है स्वामित्वरूप से सम्बद्ध।

'यथाविद्यः' का अर्थ किया अपने अनुभव के अनुसार 'यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति यथाविद्यः' मच्छर तुम्हें काटता है तो उसे गरम खून पीने का आनंद आता है। वह जब बेचारा पीकर उड़ जाता है तो उसके बाद दापड़ अपने शरीर पर निकल आता है तो खुजलाने में बड़ा आनंद आता है। कोई कहे 'मत खुजलाओ' तो हाथ से ढाँक कर अन्दर ही अन्दर खुजलाता है। वह आनंद मच्छर को पता नहीं और गरम-गरम खून के स्वाद का अपने को पता नहीं। 'तथास्मृतिः', जिसका जैसा अनुभव, तदनुकूल ही स्मृति होती है। मच्छर कहता है 'धन्य हैं भगवान्! आपने ऐसा आदमी बनाया जिसे काट सकता हूँ।' भैंस पर बैठे तो कुछ नहीं मिलेगा। इसलिये भगवान् ने बड़ी कृपा की कि अच्छा खून पीने के लिये आदमी बनाया। जैसे तुम लोग खुश होते हो कि बड़ी अच्छी वृष्टि हुई, अच्छा अनाज होगा, खूब डटकर खायेंगे। ऐसे ही आदमियों को देखकर मच्छर खुश होते हैं। फिर वैसी ही उसको स्मृति होती है कि 'ऐसे गोरे को काटा था तो बड़ा मजा आया था, फिर काटूँ'। तुमको स्मृति रहती है कि 'कल बाहर बैठे थे तो मच्छर ने काटा था आज हम अंदर बैठें'। जैसा जिसका अनुभव तदनुकूल ही स्मृति आ गई। निमित्त और नैमित्तिक का क्रम बता दिया।

अन्न पान आदि का हमने जब उपयोग किया तब तृप्ति और जब-जब भोजन पानी नहीं मिला तो अतृप्ति अर्थात् दुःख हुआ। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकरूप न्याय से माना कि भोजन आदि तृप्ति का कारण है। यह कल्पना-विज्ञान हो गया। भोजन पानी आदि की कल्पना पशु पक्षियों में भी होती है। ऐसे ही सूक्ष्म कार्यकारणतायें हैं। पहले ज़्यादा भोजन नहीं मिला तो दुःख होता था, आजकल जानते हैं कि ज्यादा खाने से बीमारी आती है। इसी प्रकार पुराने ज़माने में देवी देवता आ जाते थे, आज split personality हो जाती है मनोवैज्ञानिक रोग हो जाता है। स्पष्ट पता चलता है कि जो कार्य कारण एक

Scanned by CamScanner

समय हैं वे दूसरी बार नहीं रहते। पहले लोग बादलों की आराधना करते थे। गंगा बढ़े तो दूध चढ़ता था और गंगा जी शांत हो जाती थीं। आजकल बाँध बनाना पड़ता है। भोजन आदि से तृप्ति मानवमात्र की, प्राणी की हो जाती है। होता यह अन्वय व्यतिरेक से ही है। एक में कारणता की प्रतीति और दूसरे में फलता की प्रतीति हो गई। हेतु कल्पना का नतीज़ा 'हेतु से फल' यह कल्पनाविज्ञान। उससे अगले दिन अतृप्ति का अनुभव होता है तब हेतु व फल की स्मृति होती है कि कल भूख मिटने का कारण अन्न हुआ था। इससे कारणजातीय में कर्तव्यताविज्ञान हो जाता है। अब वह भोजनके विज्ञान से पाक आदि क्रिया करने में प्रवृत्ति कर लेता है। चावल लाओ, ईंधन लाओ तब काम बने। उसमें फिर विशेषविज्ञान हो जाते हैं। किसी दिन चावल थोड़ा कड़ा और किसी दिन नरम हो गया। कड़ा हुआ तो उसमें नीबू अच्छी तरह डाला तो स्वादिष्ट लगा। धीरे-धीरे 'चित्रान्न' बन गया। गले हुए के अन्दर दाल मिला दी तो खिचड़ी हो गई। उसमें घी डाला तो और स्वादिष्ट हो गया। ऐस-ऐसे फलविज्ञान में वैशिष्ट्य होता चला जाता है। उन अनुभवों की फिर स्मृति आयेगी। इस प्रकार अनेक प्रकार की कल्पनायें होती चली जायेंगी। एक दूसरे के प्रति कार्य-कारणभाव होता चला जाता है।।१६।।

●

जीवकल्पना होती कैसे है? इसे बताते हैं—

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः।।१७।।

जिस प्रकार अंतःकरण में 'यह रस्सी है' ऐसा जब तक निश्चय नहीं होता है तब तक वह सर्प जल-धारा, दण्ड आदि भावों में विकल्पित होती है। उसी प्रकार जब तक आत्मा का निश्चय न हो जाये तब तक यह हेतु-फल-विज्ञान चलता रहता है। जब पता लगता है कि आत्मा है तो काम बन जाता है।

अनादि काल से आज तक कोई निश्चय नहीं कर सका कि संसार में इससे ही यह होगा। यही बताता है कि जैसे वहाँ जब तक रस्सी न दीखे तब तक विकल्प चलता रहता है— कभी दण्डा, कभी सर्प, जलधारा भूछिद्र आदि भेद चलते रहते हैं, और रस्सी दीखी तो निश्चय हो जाता है कि ये सब विकल्प कुछ नहीं— ऐसे ही यहाँ हो जाता है।

भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि जीवकल्पना किस निमित्त से है, इसको यहाँ दृष्टांत से सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार लोक में देखने में आता है कि जब तक रस्सी अपने स्वरूप से अनिश्चित या अनवधारित हो, अर्थात् 'यह रस्सी ही है' इस प्रकार जब तक मंद अंधकार के कारण निश्चय नहीं होता है, तब तक 'क्या यह साँप है? क्या यह जल की धारा है? या दण्डा है?' इस प्रकार अनेक प्रकार की कल्पनायें चलती रहती

Scanned by CamScanner

हैं। अनवधारितस्वरूपत्व ही इसमें कारण है। निश्चय करना बुद्धि का काम है। जब तक बुद्धि में आत्मा के स्वरूप का अनिश्चय है तब तक जीवभाव और जहाँ निश्चय हुआ वहाँ जीवभाव की निवृत्ति हुई। जब तक जीव का स्वरूप बुद्धि है, तभी तक लड़ाई लड़नी है। बाकी लोग शरीर से लड़ते हैं, आसन प्राणायाम करते रहते हैं, मन का ध्यान करते रहते हैं। वेदांत कहता है कि दोष निश्चय का है। जब तक इसे ठीक नहीं करोगे तब तक कुछ नहीं होना है। यदि पहले ही रस्सी के स्वरूप का निश्चय होता तो सर्प आदि का विकल्प नहीं हुआ होता।

किसी ने शंका की कि मंदांधकार ही कारण है जिससे रस्सी में साँप दीखा। बहुत से लोग ऐसा ही मानते हैं। किन्तु यदि ऐसा हो तो जिसने रस्सी रखी है उसें भी सर्प दीखना चाहिये। लेकिन उसे निश्चय है कि रस्सी है। उसे मंदांधकार में सर्प क्यों नहीं दीखा? इसलिये इसका कारण अनिश्चय है, मन्दांधकार नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी जब अविद्यालेश से व्यवहार करता है तो अविद्यालेश रहने पर भी उसका निश्चय नहीं हटता है। जैसे जिसको यह निश्चय है कि यह रस्सी है वह उसको मंदांधकार में देखकर रस्सी ही ग्रहण करता है, सर्प ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार जीवन्मुक्त ज्ञान होने के बाद अविद्यालेश से जगत् के पदार्थों से व्यवहार करता है, फिर भी उनकी आत्मस्वरूपता को देखता है। जैसे मंदांधकार में अपने हाथ की उंगली के विषय में संदेह नहीं होता, निश्चय है कि मेरी उंगली है। ऐसे ही आत्मनिश्चय वाले को कभी उसमें संदेह नहीं रहता। कई बार ऐसा होता है कि अपनी उंगलियों को इस प्रकार करके दिखाते हैं जैसे घोड़े दौड़ रहे हों, बच्चों को ऐसा दिखाते हैं तो बच्चे सचमुच समझते हैं कि घोड़े दौड़ रहे हैं, किन्तु हम जानते हैं कि अंगुली है।

जैसे यह दृष्टांत है वैसे ही यही सारी उपनिषदों का सिद्धान्त है कि कारण-कार्य, कर्तृत्व आदि संसाररूप धर्म अर्थात् आरोपित जो अनर्थ है, उससे विलक्षण आत्मा को न समझने से ही जीवकल्पनापूर्वक बाह्य-आध्यात्मिक कल्पनायें हुई हैं। आत्मा का निजी रूप अर्थात् अकल्पित रूप विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र है। जन्मादि से रहित होना विज्ञप्ति की विशुद्धि है। विज्ञप्तिमात्र अर्थात् विज्ञप्ति ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं; घर आदि आकार भी नहीं। यह विज्ञान ही आत्मा की विद्यमानता है, सद्रूपता है। जैसे वह सत् और चित् हैं ऐसे ही आनंद भी है। आनंद भी उसमें भेदसंबन्ध से नहीं रहता। वह अद्वय है। इस स्वरूप से निश्चित नहीं किया गया, इसीसे जीव, प्राण आदि अनन्त विभिन्न भावों के रूप में वह विकल्पित हो गया। यही सारी उपनिषदों का एकमात्र सिद्धान्त है।।१७।।

●

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः।।१८।।

Scanned by CamScanner

जैसे रस्सी का सही निश्चय हो जाने पर सर्पादि विकल्प समाप्त हो जाते हैं, रस्सी ही बच जाती है ऐसे आत्मविषयक औपनिषद निश्चय हो जाने पर आत्मा की अविद्या से कल्पित जीवादि सभी विकल्पनायें समाप्त हो जाती हैं और अद्वैत आत्मतत्त्व ही बचा रहता है। यह बताया कि अविद्या के द्वारा जीव की कल्पना होती है। यह अन्वय बताया कि जहाँ-जहाँ जीव-कल्पना वहाँ-वहाँ अविद्या ही निमित्त होती है। अब व्यतिरेक बताते हैं कि जहाँ अविद्या नहीं वहाँ जीव-कल्पना भी नहीं। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि है, यह अन्वय और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं वहाँ-वहाँ धुआँ भी नहीं, यह व्यतिरेक है। वैसे ही जहाँ-जहाँ कर्त्ता भोक्ता का भाव वहाँ अज्ञान और जहाँ-जहाँ अज्ञान नहीं वहाँ कर्त्ता भोक्ता का भाव नहीं। जैसे यह रस्सी ही है ऐसा जब निश्चय हो तो साँप नहीं बचता। यहाँ निश्चय कराने वाली चक्षुरिन्द्रिय है, निश्चय तो बुद्धि का लेकिन चक्षु उसमें कारण पड़ेगी। जैसे बुद्धि में निश्चय आँख रूप इन्द्रिय से होते ही रस्सी के अज्ञान से होने वाली जितनी कल्पनायें थी, वे सब ख़तम हो जाती हैं और बस यही एक निश्चय रह जाता है कि रस्सी ही इन सब रूपों में प्रतीत हो रही है, वैसे ही यहाँ बुद्धि निश्चय करेगी और साधन वेदान्त वाक्य है। ज्ञान के प्रति करण शब्द प्रमाण है। जो बात प्रमाण से जानी गई उसी का बुद्धि निश्चय करेगी। एकमात्र आत्मा ही इन सब रूपों में बना, इसका ज्ञान करने का करण शब्द प्रमाण है।

अपरोक्ष ज्ञान दो चीजों से ही होता है— या ज्ञानेन्द्रियों से या शब्द से। अनुमान, अर्थापत्ति, उपमान आदि सारे प्रमाण कभी भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं करा सकते। साक्षात् ज्ञान केवल दो ही करा सकते हैं, या ज्ञानेन्द्रियाँ आँख, कान, नाक इत्यादि या शब्द। इनमें इन्द्रियाँ तो आत्मा को विषय नहीं कर सकतीं क्योंकि वह रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से रहित है। इसलिये आत्मा को केवल शब्द ही विषय कर सकता है। बस यह घुण्डी जब खुल जाती है तब बहुत सी समस्यायें हल हो जाती हैं और यही घुण्डी लोग खोलते नहीं। यही रहस्य है। आत्मा का ज्ञान शब्द से ही होगा। लोग समझते हैं कि हमको आँख से ब्रह्म दीखने लगेगा। बार-बार कहते हैं कि 'सुन तो लिया लेकिन दीखता संसार है।' उनसे कहते हैं कि दीखता तो आँखों से है और आँख तो संसार को ही देखेगी।

कौन सी चीज़ करण पड़ती है यह जानने में कि एक अखण्ड आत्मा है? वेद वाक्य ही है। यह शंका तो जायज़ है कि वेदांत उसका प्रतिपादन करता है या नहीं। लेकिन इन्द्रियों के द्वारा आत्मा दीखता है या नहीं, यह शंका ही गलत है। 'नूनं ते नासिकाग्रेण वीक्षन्ते सूर्यमण्डलम्' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जैसे कोई कहे कि 'हमें नासिका के अग्रभाग से सूर्य दर्शन कराओ', तो कैसे करा सकते हैं? यह तो आँख से होना है, नाक से नहीं। इसी प्रकार जब कोई कहता है कि 'हमको परमात्मा का दर्शन आँख इत्यादि इन्द्रियों से कराओ' तो वह नहीं हो सकता। उसका दर्शन तो वेद वाक्यों से, शब्द प्रमाण से ही होगा। यदि कोई कहे कि इन्द्रियों से सिद्ध करके देखेंगे कि यह

Scanned by CamScanner

सामने बैठा हुआ गोपाल है, तो वह नहीं कर सकता। यह तो शब्द प्रमाण से ही सिद्ध होगा। आँख से 'यह गोपाल है' कभी नहीं दीखने वाला है। आँख से तो सामने बैठा हुआ शरीर दीखेगा। यह तो किसी विश्वासी आदमी से, या उसके माता-पिता से पता चला कि यह गोपल है। इसके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं मिलेगा यह सिद्ध करने का कि यह गोपाल है।

इसी प्रकार जिसको तुम साक्षी समझ रहे हो वह ब्रह्म है, इस बात को वेद वाक्य ही कहेगा; और किसी प्रकार से इसका पता नहीं लगता है। जहाँ वेद प्रमाण के ऊपर निश्चय हुआ कि ब्रह्मदर्शन हुआ। इसलिये बार-बार वेदांत का विचार करना चाहिये यह निश्चय करने के लिये कि यह बात सच्ची है या नहीं, वेदों ने ब्रह्म का प्रतिपादन आत्मरूप से किया है या नहीं। जब बार-बार उपनिषदों के अध्ययन से, ब्रह्मसूत्र आदि के अध्ययन से यह निश्चय होगा कि ब्रह्म तुम ही हो, तो तुम्हारा काम बन गया। ऐसा निश्चय चाहिये कि आत्मा अद्वितीय है। उसको उपाधि में ढूँढने नहीं जाना। लोग ब्रह्म को उपाधियों में ढूँढने जाते हैं कि 'हमारा मन ब्रह्म बना या नहीं, इन्द्रिय शरीर आदि ब्रह्म बने या नहीं'। ये सब तो उपाधियाँ हैं। उपाधियाँ थोड़े ही ब्रह्म हो जायेंगी।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं, 'रस्सी ही है' ऐसा जब निश्चय हो गया तो जितनी भी विकल्पनायें थी वे सब हट गई। ऐसे ही आत्मा के अज्ञान से ही जीव-कल्पना और जीव की कल्पना से फिर बाकी सारी कल्पनायें होती हैं। जैसे ही श्रौत निश्चय हो गया कि ये सब कल्पित हैं, वे निवृत्त हो जाती हैं। जैसे रस्सी के अज्ञान से विजृम्भित सर्प, जलधारा आदि और उनसे भय आदि सभी कल्पनायें हैं, वैसे ही आत्मा कौन है?— यह न जानने के कारण ही जीवभाव की प्राप्ति और उसी निमित्त से सारे संसार की प्राप्ति है। जब वे सब कल्पनायें हट गईं तो पता लग गया कि यहाँ सिवाय रस्सी के कुछ नहीं है। जैसे यह दृष्टांत है उसी प्रकार जितने भी संसार रूप धर्म हैं उन सबका आत्मा में आरोप है, यह बताने वाला 'नेति नेति' शास्त्र है। पहले 'न इति' से स्थूल नहीं, दूसरे 'न इति' से सूक्ष्म नहीं और वीप्सा (पुनरुक्ति) से कारण नहीं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों संसार धर्म आत्मा में नहीं। जब कह दिया कि सारे संसार-धर्म आत्मा में नहीं तो प्रतीति आरोप या अध्यास से है। सारे संसार के धर्म स्थूल सूक्ष्म कारण हो गये, उनसे शून्य अर्थात् उनसे रहित आत्मा है, यह प्रतिपादन करने वाला जो शास्त्र अर्थात् वेद है उससे उत्पन्न विज्ञानसूर्य है। विज्ञान अर्थात् अनुभव। इसके द्वारा स्पष्ट बताया कि अनुभव शास्त्रजनित ज्ञान से होता है। यही शास्त्र की उपादेयता है। 'शास्त्रयोनित्वात्' शास्त्र ही उसमें एकमात्र योनि अर्थात् कारण है।

यही निश्चय नहीं हो पाता। लोग समझते हैं कि चित्त एकाग्र करके ध्यान करेंगे तो हमें अद्वैत दीखेगा। ध्यान से कभी अद्वैत नहीं दीख सकता क्योंकि ध्यान से यह पता लग सकता है कि वहाँ नहीं है। लेकिन 'द्वैत नहीं' के अलावा कुछ है, यह कैसे पता

Scanned by CamScanner

लगेगा? बौद्धों ने जितनी ध्यान प्रक्रिया में पूर्णता प्राप्त की, उतना बहुत कम लोग करते हैं। सारा का सारा बौद्ध दर्शन इस पर आधारित है कि द्वैत नहीं है, लेकिन चूँकि उन्हें 'द्वैत नहीं' से अतिरिक्त कुछ उपलब्ध नहीं हुआ, इसलिये 'सर्वं शून्यं शून्यम्'। अन्तिम तत्त्व जो इन्द्रियों से दीखता है वह नहीं है यह तो ठीक लेकिन उससे अतिरिक्त कुछ है। 'उससे अतिरिक्त कुछ हैं' यह ध्यान से पता लग गया होता तो बौद्धों को लग जाता। द्वैत को छोड़कर और कुछ है, यह पता कैसे लगे? द्वैत को छोड़कर जो है वह इन्द्रियों का विषय होता नहीं। और ध्यान ख़ुद कोई प्रमाण है नहीं कि कोई नयी चीज़ दिखा दे। ध्यान की उपादेयता ही है कि अनुभव को दृढ करने के लिये ध्यान चाहिये। जैसे हमने तुम्हें सिखा दिया कि तीन चौके बारह होता है। अब यह तीन चौके बारह दृढ हो जाये इसके लिये बैठकर तुम्हें रट्टा लगाना पड़ेगा। केवल सुनते ही तीन चौके बारह पक्का नहीं हो गया। प्रायः बच्चे यही भूल करते हैं कि समझ में आ गया तो याद हो गया। ऐसे नहीं, पक्का करने के लिये रट्टा लगाना पड़ता है। उसी प्रकार 'तुम ब्रह्म हो' यह समझा तो हम देंगे, लेकिन जब तक ध्यान का रट्टा नहीं लगाओगे तब तक याद नहीं होगा। जब पूछेंगे तीन चौके तो कहोगे ११, सवा ११ होगा। हम कहेंगे 'थोड़ा पास तो पहुँचे।' इसी प्रकार जब तक रट्टा नहीं लगाओगे तो झट उपाधि की बात करने लगोगे, स्वरूप को भूल जाओगे। इसलिये ध्यान से ज्ञान नहीं, लेकिन उस ज्ञान को बार-बार बिना दोहराये वह तुम्हारा स्वभाव नहीं बनेगा।

जब सारे संसार से शून्य आत्मतत्त्व के प्रतिपादक शास्त्र से जन्य विज्ञानसूर्य के प्रकाश से आत्मविनिश्चय हो गया कि 'मैं ही एकमात्र अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व हूँ' तब सारे द्वैत की निवृत्ति हो गई। निश्चय का प्रकार उपनिषद् वाक्यों से ही बताते हैं : 'आत्मैवेदं सर्वम्' यह जो कुछ प्रतीत हो रहा है, जो कुछ भी आज तक दीखा है या भविष्य में दीखेगा, इदंता रूप से जो प्रतीत हो रहा है, वह सब आत्मरूप ही है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, राग, द्वेष, काम, क्रोध सभी आत्मरूप ही हैं। इसी प्रकार बाह्य जगत् के अन्दर जैसे मक्खी, मच्छर आत्मरूप हैं, वैसे ही इन्द्र, विष्णु भी आत्मरूप ही हैं। इदंता रूप से ही बाह्य जगत् की प्रतीति और आंतर जगत् की प्रतीति है। ऐसा नहीं कि सूअर में आत्मा कम और विष्णु में आत्मा ज्यादा होता हो। दोनों शरीरों में आत्मा एक ही है। फ़रक तो उपाधि को लेकर है। व्यवहार जितना होता है वह उपाधियों के साथ होता है। आत्मा के साथ व्यवहार नहीं होता।

आत्मा मायने पूर्ण अर्थात् जो कुछ है वह सब स्वयं अपने में पूर्ण है। ऐसा नहीं कि सब मिलकर पूर्ण होता हो। प्रत्येक ब्राह्मण पूरा ब्राह्मण है। यह नहीं कि अनादि काल से अनंत काल के सब ब्राह्मण इकट्ठे हों तो ब्राह्मण और नहीं तो ब्राह्मण बटा १००० हों। ब्राह्मण को भोजन कराओ तो भी ब्राह्मण-भोजन हो गया। ऐसा नहीं कि अनादि काल से अनंत काल के ब्राह्मण इकट्ठे हों तभी ब्राह्मण-भोजन माना जाये। हर ब्राह्मण

Scanned by CamScanner

में ब्राह्मणत्व पूर्ण है। इसी प्रकार जल की सारी बूँदें मिले तब पानी हो, ऐसा नहीं। जल की एक बूँद भी पूरा जल है। ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने में पूर्ण आत्मा है। ऐसा नहीं कि मिलाकर पूर्ण होता है। विशिष्टाद्वैत वादी यही घोटाला कर देते हैं। कहते हैं 'तुम ब्रह्म तो हो, लेकिन सारी उपाधियों में घुसोगे तब ब्रह्म बनोगे।' वेदान्त में ऐसा नहीं; उपाधि रहते हुए ही ब्रह्मरूपता है। घड़ा फूटा और घटाकाश महाकाश हो गया। ऐसा थोड़े-ही है कि सारे घड़े फूटेंगे तब वह महाकाश होगा।

उसी पूर्णता को बताने के लिये कहा 'अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यः'। यह बृहदारण्यक का वचन है। 'आत्मैवेदम्' सामवेद का था। पहले कहा अपूर्व। पूर्व अर्थात् पहले। पहले कारण हुआ करता है। इसलिये अपूर्व अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं। यह आत्मा बिना कारण के है। संसारी लोग रात-दिन चीज़ों का कारण ढूँढते रहते हैं। वेदांती कहता है कि यहाँ सब कुछ आत्मरूप होने से अपूर्व है, बिना कारण के है। इसने मुझे गाली क्यों दी? कारण कुछ नहीं। इसने मेरे साथ द्वेष क्यों किया? कारण ढूँढते रहो, लेकिन कुछ है नहीं। सभी विज्ञप्ति मात्र है। इसलिये कि किसी भी चीज़ का कुछ भी कारण नहीं। अंत में अलातशान्ति-प्रकरण में बड़े विस्तार से बतायेंगे कि किसी चीज़ का कोई कारण नहीं। सामान्यतः बीजांकुर न्याय से अनादि मानते हैं। बीज से पेड़, पेड़ से बीज यह बीज-प्रवाह अनादि है, यह मूर्खों के लिये है। बीज से पेड़, पेड़ से बीज, इस न्याय से सिद्ध करते हैं कि सृष्टि से प्रलय, प्रलय से सृष्टि, जन्म से मरण और मरण से जन्म; लेकिन बीज से वृक्ष होता है यह आज भी असिद्ध है। बौद्ध मानता है कि बीजनाश से पेड़ पैदा होता है; तुम मानते हो कि बीज से पेड़ पैदा होता है। बौद्ध कहता है कि जब तक बीज नष्ट नहीं होगा तब तक पेड़ पैदा नहीं हुआ करता। अर्थात् वह बीज के अभाव को कारण मानता है। तुम बीज को कारण मानते हो। दोनों का शास्त्रार्थ चलते हुए ढाई हज़ार साल हो गये लेकिन निर्णय आज तक नहीं हुआ। इससे मालूम पड़ता है कि न बीज से और न बीज के अभाव से पेड़ पैदा होता है, दोनों ही कारण नहीं। कार्य-कारण-भाव है ही नहीं। इसलिये अपूर्व।

'अनपरः' बाद में कार्य आया करता है। वह स्वयं भी कारण नहीं और आगे उससे कोई कार्य भी उत्पन्न नहीं होता। न किसी से कुछ उत्पन्न होता है और न कोई आगे किसी को उत्पन्न करता है। 'अनन्तरः' बीच में कोई खाली जगह (शून्य) हो तो उसे अंतर कहते हैं। यह ब्रह्म निश्छिद्र है। इसलिये यह किसी से अलग नहीं है। सब से एक हुआ ही है। चिद् तो एकरस है। प्रत्यगात्मा एकमात्र ज्ञान ही है प्रत्यगात्मा होने से इसके अन्दर छेद नहीं, लेकिन बाहर तो कुछ होगा? तब कहा— वह भी नहीं 'अबाह्यः' वह अबाह्य है। इसके बाहर भी कुछ नहीं है। यह सबसे एक है, इसमें कोई छिद्र नहीं, यह किसी का कार्य नहीं, कारण नहीं। प्रत्येक ज्ञान अपने में पूर्ण है। यह ध्यान का विषय हुआ।

Scanned by CamScanner

जब कोई ज्ञान होता है तो उसको पूर्ण समझो। उसे कार्य-कारण-परम्परा में नहीं, अनंतर, अबाह्य रूप से ही देखो। स्वयं ज्ञान अपने में ही पूर्ण विज्ञप्ति है।

इसके लिये न आँख की ज़रूरत और न कान की ज़रूरत, न मन को रोकने की ज़रूरत। जो-जो ज्ञान हो उसे पूर्ण ब्रह्म ही समझो। कार्य-कारण से अस्पृष्ट वह उभय-कल्पना का अधिष्ठान है।

'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'। यह अथर्ववेद हो गया। इन तीन विशेषणों से उसकी कूटस्थता बता दी। यदि केवल अपूर्व, अनंतर, अबाह्य कहते हैं तो ऐसा लगता है कि दूसरी सब चीज़ोंसे यह कुछ अलग है, क्योंकि तीनों निषेधार्थक हैं। इसलिये कहा कि वही बाहर भी और वही अंदर भी है और अज अर्थात् जन्म रहित है। ऐसे ही 'अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' वह जरा रहित है अर्थात् किसी प्रकार के परिणाम से रहित है। अमर है अर्थात् नाश से रहित है। हमेशा ही अमृत रूप है अर्थात् इसके सम्बन्ध से मरणभाव नष्ट हो जाता है। स्वयं अमर है इतना ही नहीं, अमृत भी है अर्थात् जो इसके साथ सम्बन्ध वाला हो वह भी मरण धर्म से रहित हो जाता है। अभय है; अविद्या के सम्बन्ध से ही सारे भय शोक होते हैं अतः अविद्या-सम्बन्ध से रहित हुए तो भय शोक से रहित हो गये। इसलिये वह अभय है। 'एक एवाद्वयः' वह एक है अर्थात् अविद्या का भी उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बहुत से लोग ब्रह्म और अविद्या के सम्बन्ध से जीव हुआ, ऐसा मानते हैं। ब्रह्म अविद्या का सम्बन्ध आध्यात्मिक है। जैसे अविद्या कल्पित, वैसे ही उसका सम्बन्ध भी कल्पित है। रस्सी और साँप का कौन सा सम्बन्ध है? साँप रस्सी के ऊपर बैठा है? रस्सी उसकी माँ है, या बाप है? कुछ सम्बन्ध नहीं है। अविद्या से ही सम्बन्ध दीख रहा है। पहले दीखता है सर्प है, फिर दीखता है कि सर्प रस्सी में कल्पित है और जब दृढ अनुभव होता है तो दीखता है कि रस्सी ही रस्सी है, सर्प कुछ नहीं है। ऐसे ही यहाँ समझ लेना। इसलिये कहा 'एक एव'। एव से बताया कि कोई द्वैताद्वैत की प्राप्ति न कर ले कि कभी यह संसाररूप धारण कर लेता होगा और फिर कभी मुक्तरूप धारण कर लेता होगा। द्वैताद्वैत की व्यावृत्ति के लिये एव पद दे दिया। बस वही अद्वय है, यह उसका आत्मविनिश्चय हो जाता है।।१८।।

●

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्।।१९।।

जब कहा कि अविद्या का भी इसके साथ सम्बन्ध नहीं तो फिर अविद्या का कोई आश्रय नहीं रहा। यदि अविद्या का आश्रय नहीं रहा तो उसे निराश्रय मान लिया। फिर तो आप भी बौद्धों की तरह हो गये, क्योंकि वे भी यही कल्पना करते हैं। जीव आदि को बनाने वाली अविद्या हुई इसलिये अविद्या जीव आदि में रह नहीं सकती। एक ब्रह्म बचा था, उसमें भी आपने कहा कि यह नहीं है। इसलिये अविद्या निराश्रित हो जायेगी।

Scanned by CamScanner

इसलिये उसे ब्रह्म में ही मानो और अंत में ब्रह्म में ही लीन हो जाती है ऐसा मान लो। यह शंका है।

कहते हैं कि अज्ञानी की दृष्टि से ऐसा ही है। अज्ञानी की दृष्टि से तो अविद्या ब्रह्म से ही सम्बन्ध वाली है और अंत में ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। अज्ञानी को तो ऐसा ही दीखता है। उसको हम ना नहीं कह रहे हैं। हमने तो कहा कि ज्ञानी की दृष्टि में ऐसा नहीं। अज्ञानी की दृष्टि से अर्थात् अविद्या-दृष्टि से वह प्राण इत्यादि अनंत भावों की कल्पना करता रहता है। ठेठ नक्षत्रों की, नीहारिकायों की कल्पना, शरीर के अन्दर एक-एक बूंद खून की कल्पना, लिवर की कल्पना, न जाने क्या-क्या कल्पना करता रहता है! एक कल्पना थोड़ी ही है; अविद्या से तो अनंत कल्पनायें होती रहती हैं। मनुष्य-शरीर के एक-एक बाल को कोई भले ही गिन ले, लेकिन वह कितनी कल्पनायें करता है इसको कोई नहीं गिन सकता। और वह इन कल्पनाओं को छोड़ना भी नहीं चाहता, बड़ी मीठी लगती हैं। बाकी सब चीज़ों को छोड़ देगा, लेकिन इन कल्पनाओं को पकड़े रहेगा। ये कल्पनायें कराने वाली माया जो इस देव की है, यह ऐसी मोहिनी है कि यह अपनी माया से खुद ही संमोहित हो जाता है। दूसरा तो कोई है नहीं! अपने अज्ञान से, अपनी माया से, अपनी अविद्या से, स्वयं ही इसको देख-देख कर मोह में पड़ जाता है।

संसार के अंदर रात दिन यही देखते हो कि किसी के शरीर से हम पैदा हुए। माँ के शरीर से पैदा हुए। माँ को तो हमने बनाया नहीं। हमने किसको बनाया? पत्नी को हमने बनाया। पत्नी तो हमारी होकर पैदा नहीं हुई, हमारी तो हाथ पकड़ कर हमने उसे बनाया। अब बताओ कि माता का मोह ज्यादा होता है या पत्नी का? उसको पत्नी मैंने बनाया इसलिये उसके प्रति जो मोह होता है वह माता के प्रति कहाँ होता है! पिता और भाई मैंने नहीं बनाये। लेकिन अपने पुत्रों को मैंने बनाया। इसलिये पुत्र से मोह होता है, पिता भाई से नहीं होता।

महात्माओं में एक दृष्टांत प्रसिद्ध है कि एक आदमी रास्ते पर जा रहा था। हज़ारों रुपये का शहतूष का शाल ओढ़े था और पैरों में टैनिस के सवा रुपये के जूते पहरे हुए था। रास्ते में कहीं कीचड़ पड़ा हुआ था तो उसने वह शाल कीचड़ पर डाल दी और उसके ऊपर से जूते पहन कर निकल गया। इसे कोई दूसरा आदमी देख रहा था। उसने कहा 'तेरा दिमाग खराब हो गया, यह क्या किया? सवा रुपये के जूते को बचाने के लिये हज़ारों रुपये की शाल को खराब कर दिया?' उसने जवाब दिया 'हज़ारों रुपये की शाल तो मुझे पिता ने दी है और यह सवा रुपये का जूता तो मेरा कमाया हुआ है। मुझे पता है कि कितनी मेहनत से कमाया हुआ है।' जो चीज़ खुद बनाता है उस से उसे मोह हो जाता है यह प्रत्यक्ष में देखने में आता है। इसमें कोई संदेह की बात नहीं।

ऐसे ही उसने जो अनेक भावों की कल्पना की उससे खुद ही मोह में पड़ा है और चल रहा है। यह स्वाभिसंधि है, इसीलिये इसको तोड़ना मुश्किल है। किसी दूसरे ने बंधन में डाला होता तो छुड़ा देते। पुराने ज़माने में लड़के लड़की की शादी माँ बाप

Scanned by CamScanner

कर देते थे। फिर कोई लड़ाई झगड़ा होता था तो निपटा देते थे। झगड़ा निपट जाता था। अब लड़के लड़कियाँ एक दूसरे से मोहित होकर शादी करते हैं। दोनों झगड़ा करें और बीच में समझाने जाओ तो कहेंगे कि 'हमारे बीच में बोलने की कोई ज़रूरत नहीं', क्योंकि उन्हें पता है कि मेरा चुना हुआ है, इसलिये बदनामी होगी। ऊपर से कहेंगे कि प्रेम से झगड़ा कर रहे हैं, चाहे उलटा मुँह करके सोते हों। आदमी भोजन पकाता है। अपना पकाया हुआ हो तो जले चावलों को भी कहता है कि 'सोंधी सुगन्धि आ रही है।' जितनी अपनी कल्पनायें करते चले जाओगे उतना ही बंधन दृढ दृढतर होता चला जाता है। सारी की सारी वर्णाश्रम व्यवस्था की प्रणाली इसीलिये बनाई गई थी कि तुम्हारा कर्तव्य ऊपर से आता रहेगा तो तुम्हें उतना मोह नहीं होगा। खुद चुनाव करोगे तो मोह ज्यादा होगा, ग़लत समझने पर भी उसे नहीं छोड़ोगे, पकड़े रहोगे।

भाष्य में प्रश्न स्पष्ट करते हैं कि यदि आत्मा एक ही है ऐसा निश्चय है तो प्राण आदि अनंत भावों के रूप में संसार के स्वरूप की विकल्पना कैसे हुई?

जवाब देते हैं 'उच्यते शृणु' बताते हैं, सुनो! 'सुनो' कहकर सिद्धान्ती अपनी अभिसंधि का उद्घाटन करता है, अंदर का रहस्य बताते हैं। यह उस आत्मदेव की माया है। जिस प्रकार मायावी अपनी माया के द्वारा अत्यंत साफ आकाश के अन्दर भी फूलों को दिखा देता है, उसके अन्दर पत्ते दिखा देता है, जंगल का जंगल दिखा देता है। इसी प्रकार यह भी देव की माया है जिसके द्वारा यह स्वयं भी मोहित की तरह हो जाता है। 'मोहित इव', मोहित की तरह हो जाता है अर्थात् सचमुच तो मोहित नहीं होता है, लेकिन जैसे मोहित हुआ व्यक्ति मोह के परवश दिखाई देता है, ऐसे ही यह आत्मा भी स्वयं ही माया-सम्बन्ध से मोह के परवश हुआ दीखता है। पत्नी बीमार हो तो कहता है कि 'तू मरी तो मुझे मरा ही समझना।' फिर जब वह मर जाती है तो तेरह दिन होते ही देखने लगता है कि और कहीं ब्याह का इंतजाम हो जाये तो अच्छा है। उस समय लगता है कि मोह-परवश हो गया, लेकिन होता नहीं। ज़रा भला आदमी होता है तो चार छह महीने निकाल देता है, फिर कहता है 'क्या करें, बच्चों के लिये करना पड़ता है। प्रेम तो उसी के साथ था।' फिर आगे चार बच्चे और पैदा हो जाते हैं! सीधा आदमी होता है तो कहता है 'देखना शुरू करो, तेरहवाँ हो गया।' कुछ दृष्टांत भी लोगों ने बना रखे हैं; जैसे लैला मजनू, शीरी फरहाद आदि के किस्से कहानियाँ बना रखे हैं जिनसे मूर्ख लोगों को भरोसा बना रहे और उसी भरोसे से ज़िंदगी काटते रहते हैं। इसलिये कहा कि मोह के परवश दिखाई देता है।

यह बात भगवान् ने भी कही है 'मम माया दुरत्यया' मुझ परब्रह्म परमात्म-देव की जो यह माया है इसके द्वारा ही आत्मा में सारे जगत् की प्रतीति है और इसी के द्वारा उस ब्रह्म में माया की भी प्रतीति है। माया स्वयं ब्रह्ममें अपनी कल्पना करवा लेती है और फिर दूसरी सब कल्पनायें भी करवा लेती है। क्या क्या कल्पनायें होती हैं? इसे आगे के कुछ श्लोकों में विस्तार से बतायेंगे।।१९।।

●

Scanned by CamScanner

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः।।२०।।

प्राणवेत्ता प्राण को, भूतवेत्ता भूतों को, गुणवेत्ता गुणों को और तत्त्ववेत्ता तत्त्वों को जगत् का हेतु मानते हैं।

पहले 'प्राणादिभिः' कहा था। उनकी सूची बना देते हैं। प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ, राजयोग के आदि-प्रवर्त्तक। हैरण्यगर्भ योग के बारह हज़ार श्लोकों को संक्षिप्त करके महर्षि पंतजलि ने सूत्र बना दिये। वे मानते हैं कि इस सारे जगत् का कारण तटस्थ ईश्वर है। जगत् को बनाने वाला ईश्वर इसमें involved नहीं transcendental है। इसे तटस्थेश्वरवाद कहते हैं। यह मानने वाले भारत में अब कम हैं। मुसलमान और ईसाई आजकल भी ऐसे ही हैं। ऐसा लगता है कि ये सब उसी हैरण्यगर्भ सम्प्रदाय के ही विकृत रूप हैं। हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यनख आदि रूप बताया है और मुसलमान, ईसाई और यहूदी ऐसा ही मानते हैं। नूर अर्थात् उसे तेजस्वी भी कहते हैं। अतः ये वहीं से निकले होंगे ऐसा लगता है। न्याय वैशेषिक आदि तटस्थेश्वरवादी हैं, लेकिन प्रायः इसको मानने वाले अब नहीं रह गये हैं। वे यह मानते हैं कि हिरण्यगर्भ ही सारे जगत् का हेतु है। तटस्थ ईश्वर ही सारे जगत् का कारण है। यह कल्पना ब्रह्म में ही है। इन्होनें ब्रह्म को सारे जगत् को बनाने वाला हिरण्यगर्भ माना। वही जीव में प्राण रूप है। यह बात भी ईसाई मुसलमान में मिलती है, क्योंकि वे मानते हैं 'उसके अन्दर फूँक मारी तो वह जीव हुआ।' जीव के अन्दर वह परमात्मा वायु रूप से, आध्यात्मिक प्राण रूप से है।

लेकिन स्वतंत्र हिरण्यगर्भ की कल्पना एक ब्रह्म में ही हो रही है। ऐसा स्वतंत्र हिरण्यगर्भ सारे जगत् का कारण है, इसमें कोई प्रमाण नहीं मिल सकता। इसलिये नहीं मिल सकता कि यदि वह तटस्थ कारण है तो उपादान कारण दूसरा हुआ, किसी से उसने बनाया। ईसाईयों के यहाँ है भी ऐसा ही। सारी सामग्री से केवल आदमी को बनाकर बाद में उसे ख्याल आया कि 'औरत तो बनाई नहीं आगे दुनिया कैसे चलेगी?' लेकिन अब सामग्री तो ख़तम हो गई थी। बाइबल, में यह कथा आती है। तब उसने उस आदमी को सुला दिया, कुछ क्लोरोफार्म आदि सुँघा दिया होगा! तब उसकी पसली से एक हड्डी निकाल दी और उसी सामग्री से औरत बना दी। हर हालत में सामान सीमित था, तभी यह सब करना पड़ा। अब विचार करो कि यदि उपादान कारण दूसरा हुआ तो फिर वह ईश्वर काहे का? वह तो परतंत्र हुआ, क्योंकि सामान के परतंत्र हो गया। इसलिये यह प्रमाण और युक्ति से विहीन है। वैशेषिकों की युक्तियों का खण्डन भी वेदान्ताचार्यों ने जगह जगह किया ही है। यहाँ भी अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने लम्बे विचार से तटस्थेश्वरवाद का निरास किया है।

Scanned by CamScanner

'भूतानीति च तद्विदः' आजकल के वैज्ञानिक और कम्युनिस्ट लोग कहते हैं कि भूतों से जगत् उत्पन्न होता है अर्थात् जड पदार्थों से ही उत्पन्न होता है। जड पदार्थ इकट्ठे हो जाते हैं तो उनमें अमुक परिमाण में मिलाने से चेतनता आ जाती है। जैसे हाइड्रोजन और आक्सीजन को अमुक परिमाण में लेकर उनमें अमुक परिमाण की बिजली निकालें तो पानी बन जाता है, उसी प्रकार अमुक परिमाण में महाभूतों को मिलाओ तो उसमें चेतना आ जाती है। वे महाभूत प्राचीन काल में लोग चार मानते थे, कोई पाँच मानते थे। आजकल उनकी संख्या कुछ अधिक मानते हैं। हर हालत में किसी न किसी जड पदार्थ से ही यह उत्पन्न होता है, किसी चेतन कारण की ज़रूरत नहीं। पहले वालों ने तो तटस्थ कारण माना और इन्होंने कहा कि तटस्थ कारण तो बेकार सा ही है, इसको मानने में कोई प्रमाण नहीं। सीधे ही मानो कि आपस में भूत मिलते मिलते किसी समय चेतना पैदा हो जाती है। उनको भी इसमें प्रमाण यही मिलता है कि शुक्र और शोणित में कोई चेतना नहीं होती लेकिन उससे आगे जो बच्चा पैदा होता है उसमें चेतना आ जाती है। शुक्र शोणित में चेतना भौतिकवादी लोग नहीं मानते। कम्युनिस्ट संस्कारों वाली अपनी सरकार ऐसा ही मानती है। इसलिये वह कहती है कि यदि शुक्र शोणित मिलकर पैदा हो गया तो बचाओ, लेकिन पैदा होने से रोको तो पुण्य है! उसे अचेतन मानो, उसकी मृत्यु को मृत्यु न मानो। अब कहते हैं कि सारे धर्म वाले भी ऐसा कह दें तो ठीक है। लेकिन शुक्र शोणित में चेतना नहीं, यह वे कैसे कहें?

भूतों को जो मानते हैं उनके सामने भी यही समस्या है कि भूत स्वतः सिद्ध है या परतः सिद्ध। चेतन होने के पहले उनकी सिद्धि थी या नहीं? उनमें प्रमाण क्या? बाद में सिद्ध जो पदार्थ होते हैं वे पूर्वसिद्ध में हेतु नहीं हो सकते। कोई पूछे 'तुम्हारा बाप कौन?' कहो 'केशव राम।' 'उनकी उमर क्या?' 'तीन साल' तो लोग हँसी करेंगे; 'तू चालीस साल का और तेरा बाप तीन साल का! हमें बेवकूफ बना रहा है।' इसी प्रकार उनसे कहो कि 'यह तुम चेतन कहते हो कि जड पदार्थ कारण है, या जड ही कह रहा है?' चेतन ही कहेगा। यदि चेतन पश्चाद्भावी हुआ तो वह पूर्व के कारणभूत को सिद्ध कैसे कर रहा है? जड तो खुद को सिद्ध कर नहीं रहा। इसलिये कारणरूप जड तत्त्व न स्वतःसिद्ध और न परतः सिद्ध है। इसलिये भूतों की जगत्-कर्तृत्व-कल्पना बेकार है। इस कल्पना में कोई सार नहीं है।

एक और बात है; इन लोगों का कहना है 'Mind is an epiphenomenon of brain', मस्तिष्क के द्वारा एक गुण उत्पन्न होता है जो चेतना है। क्योंकि बिना मस्तिष्क के हमें चेतना कहीं मिलती नहीं, इसलिये मस्तिष्क का एक गुण चेतना है। अब यह बताओ कि गुण के द्वारा क्या गुणी का कभी ग्रहण हो सकता है? गुण गुणी में रहेगा। चेतना रूप गुण तुम्हारे दिमाग में रहेगा। चेतना गुण हुआ, गुण गुणी को ग्रहण कैसे करेगा? दिमाग का हम लोगों को भान कैसे होता है? जैसे आग में गुण गर्मी होती है

Scanned by CamScanner

तो वह गर्मी क्या कभी आग को जला सकती है? आग तो दूसरी चीज़ों को जलायेगी, लेकिन वह गर्मी आग को थोड़े ही जला देगी! इसलिये आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कहना कि मन या चेतना brain का epiphenomenon है, यह गुण-गुणी की युक्ति से तुरंत खंडित हो जाता है।

अब सांख्यवादी खड़ा हुआ। वह कहता है कि ये दोनों ही ग़लत हैं। आपने इनका ठीक खण्डन किया। न तटस्थकारणवाद ठीक है और न भूतकारणवाद ठीक है। न कम्युनिस्ट और ईसाई मुसलमान ठीक हैं। बस हमारा सिद्धान्त मान लो। दोनों से भिन्न हम मानते हैं कि सत्त्व, रज और तम, तीन गुण ही जगत् के कारण हैं। सत्त्व गुण बढ़ा तो ज्ञान, रजोगुण बढ़ा तो क्रिया और तमोगुण बढ़ा तो अज्ञान हो गया। ये तीनों साम्यावस्था में रहते हैं तो प्रलय, वैषम्य अवस्था में होने पर सारे कार्य उत्पन्न हो जाते हैं।

आधुनिक युग के अन्दर Astrophysicist इस सिद्धान्त को मानने लगे हैं। वे कहते हैं कि पहले तो शक्ति एक जैसी फैली रहती है, वही साम्यावस्था हो गई। उसके बाद शक्तिप्रवाह तब तक जब तक दो स्थलों में शक्तिभेद होगा। इसी को Second law of Thermodynamics कहते हैं। जैसे एक का तापमान ऊँचा और एक का नीचा होगा तभी गर्मी फैलेगी। यह ऊपर नीचे का क्रम तब तक चलेगा जब तक एकरसता न हो जाये। उसके बाद उनकी फिर साम्यावस्था हो गई। इसी प्रकार बिजली ठंडी तार की ओर जायेगी; दो तार होंगे तो बिजली जलेगी, एक तार से नहीं होगा। इसी प्रकार सब चीज़ों में समझ लेना। जिस समय सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर शक्ति एक स्तर पर रहेगी उस समय कहीं भी शक्ति का प्रवाह नहीं होगा, वह महाप्रलय की अवस्था होगी। फिर जब एक जगह शक्ति का प्रवाह ज्यादा हुआ पुनः सृष्टिचक्र चल पड़ेगा। यद्यपि आधुनिक उसे सत्त्व, रज और तम नाम से नहीं कहते लेकिन बात एक ही है।

प्राचीन काल में सांख्य लोग ऐसा मानते थे और अब भी मानते हैं, क्योंकि सांख्य का प्रभाव हमारे पुराण आदि सब पर है। व्यवहार में सांख्य को बहुत माना गया है। साम्यावस्था में स्थित होने पर प्रलय और वैषम्य होने पर सृष्टि हो जाती है। इसलिये यही कारण है।

चाहे Astrophysicist, चाहे प्राचीन सांख्य हो, दोनों के प्रति हमारी शंका यह है कि वहाँ विषमता का कारण क्या है? साम्यावस्था में स्थित होकर कारण बनेगा नहीं, वह महाप्रलय की अवस्था हो गई। विषमता आयेगी, तब कारण बनेगा। Second law of Thermodynamics कहता है कि सब जगह एक जैसी शक्ति है तो वह शक्ति एक तरफ संकुचित कैसे हो जाती है? उसमें हेतु क्या? यदि कहो बिना कारण के ऐसा होता है क्योंकि प्रकृति का स्वभाव है, तो स्वभाव हर समय रहा करता है; कभी आये, कभी चला जाये ऐसा स्वभाव नहीं हुआ करता। जैसे अग्नि का स्वभाव गर्मी, जल का स्वभाव बहना हुआ तो ऐसा नहीं कि अग्नि चार पाँच दिन तक गर्मी देने के बाद पाँच सात दिन

Scanned by CamScanner

की छुट्टी ले लिया करे। यदि प्रकृति का स्वभाव विषम अवस्था मानो तो प्रलय नहीं होनी चाहिये अर्थात् साम्यावस्था नहीं होनी चाहिये। यदि स्वभाव नहीं तो दूसरा कारण होगा, वह बताओ। जो दूसरा कारण कहोगे यदि उस कारण को नित्य मानोगे तो फिर नित्य सृष्टि ही हो जायेगी। यदि अनित्य मानोगे तो फिर वह कभी क्यों होता है? फिर कारणांतर मानना पड़ेगा। यदि एक मानोगे तो अन्योन्याश्रय, दो मानोगे तो अनवस्था और तीन मानोगे तो चक्रिका दोष आ जायेंगे। अर्थात् अपने कमोबेश में प्रकृति खुद कारण है तो आत्माश्रयदोष। अगर कोई कारणान्तर है और वह कारणान्तर भी कभी सृष्टि करता है कभी नहीं तो इसमें क्या हेतु? यदि प्रकृति हेतु है तो अन्योन्याश्रय क्योंकि प्रकृति को कारणान्तर की ज़रूरत और उसे फिर प्रकृति की ज़रूरत। अगर कारणान्तर की कादाचित्क प्रवृत्ति में हेत्वन्तर मानो तो वह भी अनित्य मानना पड़ेगा अतः उसकी कदाचित् प्रवृत्ति में फिर क्या निमित्त होगा? खुद हो तो आत्माश्रय। पहले जो कारणान्तर माना था वह हो तो अन्योन्याश्रय और प्रकृति हो तो चक्रिका। आगे अगर इस तीसरे के लिये चौथा मानने जाओ तो अनवस्था होगी ही।

वैज्ञानिक सिर खुजलाकर कहता है 'पता नहीं।' वेदांती का काम बन जाता है कि अज्ञान ही माना। यही हम शुरू से कहते हैं, तुम इतना द्रविड प्राणायाम करके कहते हो। हम पहले ही कह रहे हैं कि जगत् का कारण अज्ञान है, किसी को कुछ पता नहीं। सारे वादी इसी को उन्नति मानते हैं। कई कारण बताने के बाद अज्ञान कहते हैं, और कहते हैं कि 'कोशिश तो की।' घूम फिर कर अज्ञान पर आये तो ऐसे ही आ जाते, इतना टण्टा क्यों किया? यदि तुम त्रिगुण को कारण मानते हो तो उनके वैषम्य में क्या कारण बताओगे। जो लोग ईसाई धर्म से प्रभावित हैं वे ईश्वर का संकल्प कारण मानते हैं। फिर तटस्थेश्वरवाद हो गया जिसका खण्डन कर चुके हैं।

'तत्त्वानीति च तद्विदः' जो तत्त्वों को कारण मानते हैं वे कहते हैं कि तीन तत्त्व हैं— पशु, पाश और पशुपति अथवा हम लोगों की भाषा में जीव, माया और ईश्वर, इनसे ही सारे जगत् का प्रवर्त्तन होता है। दक्षिण भारत में ऐसे लोग हैं जिनका शैव सिद्धान्त है, वे ऐसा ही मानते हैं। पाश फिर तीन तरह के आणव, कार्मिक और मायिक पाश मानते हैं।

इसमें पशु और पशुपति दो चेतन हो गये, अर्थात् जीव ईश्वर दो चेतन हो गये। चेतन हैं तो जीव का दृश्य ईश्वर होगा और जो दृश्य होता है, वह जड होता है। इसी प्रकार ईश्वर जीव को जानेगा। अतः दोनों जड हो गये। इस प्रकार घटादितुल्यत्वप्रसंग आ जायेगा अर्थात् ईश्वर भी घड़े आदि की तरह जड हो जायेगा।

अगर कहो कि हमारा मतलब यह नहीं, हमारा मतलब तो सचमुच यह है कि जीव ईश्वर एक ही है। फिर यही तो हम शुरू से कह रहे हैं! वेदांती ही बन जाओ। क्योंकि हम भी एक मानने वाले हैं, तुमने भी एक माना। उपाधि से भेद हम भी मानते

Scanned by CamScanner

हैं, सो तुम भी मान लो। साधारण आदमी यही मानता है, अपने हिन्दू संसार में अधिकतर यही मानते हैं कि जीव, ईश्वर, जगत्, तीन हैं, ईश्वर माया से संसार बना लेता है और हम जीव बने हुए हैं। वे सब इसी के अंतर्गत आ गये। तीन मानते ही परिच्छिन्न हो गये और परिच्छिन्न विनाशी होता है। तब जीव और ईश्वर भी विनाशी होने लगेंगे। और यह कोई ईश्वरवादी नहीं मानेगा। जीववादी भी जीव को विनाशी नहीं मानते। अतः जीव-ईश्वर मानते हुए उन्हें परिच्छिन्न मानना अविचार से ही है। जहाँ विचार करो, तुरन्त समझ आ जाता है कि उन्हें अलग-अलग नहीं मान सकते। इसलिये यह वाद भी कल्पनामात्र है।।२०।।

●

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः।।२१।।

पादवेत्ता पादों को, हिस्सों को कारण मानते हैं। कुछ कहते हैं विषय ही परमार्थतत्त्व है। पौराणिकों ने तीन लोकों को वास्तविक मान रखा है और कुछ ईश्वर न मानकर विभिन्न देवताओं को मान बैठे हैं।

यह बता रहे हैं कि किस प्रकार से भिन्न भिन्न वादी लोग एक परब्रह्म परमात्मा को न मानकर अन्य चीज़ों को कारण मानते हैं। कुछ लोग पशु, पाश और पशुपति तीन तत्त्व मानते हैं यह कहा। वैष्णव लोग ऐसा तो नहीं मानते, लेकिन वे यह मानते हैं कि परमात्मा का अंश जीव है। उनको भी एकाध श्रुति वाक्य मिल जाता है 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' विश्व अर्थात् जाग्रत् का अभिमानी जीव; इसलिये जीव एक पाद, उसका अंश है। और वैकुण्ठ, गोलोक आदि दिव्यधाम में जो रहता है, वह मुक्तभाग है। इस प्रकार परमेश्वर सांश माना। अंश का फिर भेद कर दिया। जीव एक अंश हो गया, जगत् आदि पदार्थ दूसरा अंश, देवता आदि तीसरा अंश आदि। ऐसे चाहे जितने अंश मान लो। गीता में भी एक-आध जगह इनको मिल जाता है 'ममैवांशो जीवभूतः'। ऐसे ही ब्रह्मसूत्रों में भी 'अंशो नानाव्यपदेशात्।' इसलिये वे मानते हैं कि ईश्वर का अंश जीव और जगत् है। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही उनको नारायण रूप से स्वीकार्य है। चिद्विशिष्ट होकर जीव रूप अंश और अचिद्विशिष्ट होकर जगत् रूप अंश हो गया; चिद्-अचिद्-विशिष्ट वह ईश्वर हो गया। उसी प्रकार कों अंतिम तत्त्व मानते हैं और कहते हैं कि उसी से सारा व्यवहार होता है। उनका कहना है कि तुम्हारा निष्कल ब्रह्म अव्यवहार्य है, यह तुम भी मानते हो इसलिये वह बेकार है ही। होना सब इसी से है। सारे व्यवहार का हेतु जो अंशांशि-भाव है, वही स्वीकार्य है। इसलिये वही तत्त्व है।

अब प्रश्न होता है कि जो अंश वाली चीज़ होती है वह नष्ट होती है और उत्पन्न होती है। अंशों के एकत्रित होने से उत्पन्न, और अंशों के हट जाने से ख़तम हो जायेगी।

Scanned by CamScanner

यदि तुम अंतिम तत्त्व को अंशांशिभाव वाला मानोगे तो उत्पत्ति-विनाश वाला हो जायेगा। इसलिये इस भाव वाला तत्त्व नहीं माना जा सकता। अंश और अंशी अंतिम तत्त्व हों यह नहीं बनता। अंशों को एकत्रित करने का जो कारण होगा वह फिर अंतिम तत्त्व होगा। इसी प्रकार अंशों के नष्ट हो जाने के बाद जो बचेगा वह अंतिम तत्त्व होगा। यदि तुमने ईश्वर का अंश जीव को माना तो अंशांशि-भाव वाले ईश्वर और जीव दोनों विनाशी हो जायेंगे। इसलिये यह अंतिम तत्त्व नहीं हो सकता। यह भी लोक में बहुत प्रसिद्ध है। लोग ऐसा ही मानते हैं कि हम अंश और परमेश्वर पूर्ण है। लेकिन विचार करने पर वह टिकता नहीं। ईश्वर के अंश जीव और ईश्वर का ही अंश जगत् हुआ। यह सारा जगत् ईश्वर का ही स्वरूप हुआ तो इसमें जब जीव एक जगह से दूसरी जगह जायेगा तो ईश्वर के अन्दर छिद्र करके ही जायेगा! जैसे अपने शरीर में फोड़ा होकर कीड़ा उसमें सड़ता रहता है, ऐसे ही ईश्वर में हम हैं। वह भी सोचता होगा कि किस दवाई से ये मरें कि वह सुखी हो! विचार से यह चीज़ हँसी की मालूम पड़ती है।

'विषया इति तद्विदः।' कामशास्त्र के आचार्य वात्स्यायन महर्षि यह मानते हैं कि रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश से जो पाँच विषयों का अनुभव होता है, बस यही सत्य है क्योंकि आबालगोपवनिता किसी में यह मतभेद नहीं कि रूप, रस, गंध, आदि का अनुभव होता है या नहीं। इसलिये यही तत्त्व है। इनका भोग ही एकमात्र मोक्ष है। तत्त्व यह हुआ और तत्त्वज्ञान से मोक्ष तुम भी मानते हो। अच्छे अच्छे रूप, रस आदि खूब मिलते रहें यही मोक्ष है। आजकल तो इसी सम्प्रदाय की काफी तगड़ी लहर आई हुई है। लोग सब रूप, रस आदि के पीछे ही दौड़ रहे हैं।

लेकिन विचार करो इनमें से प्रत्येक तत्त्व है या सब मिलकर तत्त्व हैं? यदि प्रत्येक अलग अलग तत्त्व है तो एक दूसरे का परिच्छेदक हुआ, अतः एक दूसरे के तत्त्वभाव का नाशक हो जायेगा। कैसे? केवड़े के फूल में काँटे ही काँटे होते हैं। अब वे केवड़े के फूल को गंध की दृष्टि से विषयभोग देने वाला मानते हैं, चूँकि विषयभोग को या भुज्यमान विषयों को ही वे तत्त्व मानते हैं। उसी फूल को हाथ से मसलो तो काँटे चुभेंगे। यदि उनमें से हरेक को अलग अलग मानते हो तो एक दूसरे के बाधक हो जायेंगे। अगर पाँचों को मिला हुआ मानते हो तो उसका निर्वचन करना पड़ेगा कि कैसे मिला हुआ मानोगे? उनको मिलाने वाला कौन है? वह स्वयं मिलता है या किसी दूसरे से मिलता है? इत्यादि प्रश्नों के कोई उत्तर इनके पास नहीं।

जो उनके अनुयायी हैं वे इसी को अपना सिद्धान्त मानकर बैठे हुए हैं। जो दौड़ रहे हैं वे ठीक, और जो नहीं दौड़ रहे उन्हें बुरा कहते हैं कि 'तुम देश की उन्नति में बाधक हो।' आगे उनसे प्रश्न पूछो 'उन्नति का लक्षण क्या है?' तो कहते हैं कि 'इन्हें मीसा में अंदर ले चलो।' देश का लक्षण नहीं बतायेंगे। ज़मीन को देश कहते हैं, या

Scanned by CamScanner

ज़मीन में रहने वालों को, या ज़मीन में रहने वाले जो मानते रहे हैं उसे देश कहते हैं? देश का लक्षण कुछ नहीं बताते। विदेश की छोटी मोटी चीज़ें आयें तो उसपर प्रतिबन्ध (ban) लगाते हैं। लेकिन खुदा और गोड विदेश से आये हुए हैं, यह कैसे? तो कहते हैं कि 'यह सब जायज़ मामला है, इसकी स्मगलिंग हो सकती है।' बड़ी बड़ी चीज़ों की चाहे कर लें, छोटी मोटी चीज़ों को मत करो। तुम कहते हो कि सभी चीज़ें अपने देश की चाहिये, तो अपने देश के राम, कृष्ण हुए, खुदा और गोड कहाँ से आ गये? ये सारी विचारधारायें कामभोगपरायण हैं। एक ही लाभ है जिसके कारण ये वेदांती का कुछ नहीं कर सकते और वह यह है कि ये आपस में झगड़ते रहते हैं। यदि ये आपस में लड़ना छोड़ दें तो वेदांती को खतम करने में देरी न लगे। अधिकतर इनके सिद्धान्त को ही मानने वाले सारे संसार में हैं। लेकिन हम लोगों की झंझट इसलिये कम हो जाती है कि ये आपस में ही भिड़ते रहते हैं।

'लोका इति लोकविदः।' अब पौराणिकों का सम्प्रदाय बताते हैं। उनका कहना है कि यह जो कहा 'विषया इति तद्विदः' यह ठीक नहीं क्योंकि यहाँ के विषय तो थोड़ी देर में क्षीण हो जाते हैं। मनुष्य बुड्ढा हो जाता है। इन चीज़ों को परमार्थ कैसे माना जाये? इसलिये लोकों को वास्तविक मानना चाहिये। स्वर्ग से लेकर गोलोक, वैकुण्ठ आदि अलग अलग पौराणिकों ने माने हैं। इसी के अन्दर Heaven और बहिश्त भी ले लेना। ये सब भी पौराणिक ही हैं। ये लोग कहते हैं कि यहाँ के भोग तो अस्थिर हैं, शरीर भी अस्थिर है। इनमें आपस में विरोध भी है। इसलिये इन्हें तत्त्व मानना ठीक नहीं। लेकिन यहाँ से मरने के बाद जो लोक मिला करते हैं, वे तत्त्व हैं। वहाँ तुम्हारा शरीर भी हमेशा जवान सोलह साल का बना रहेगा, बढ़िया से बढ़िया अप्सरायें मिलेंगी, कोई कहेगा कि हूरें मिलेंगी। अपने पुराणों के अनुसार वहाँ दूध की नदी मिलेगी और बहिश्त में पहुँचोगे तो शराब की नदी मिलेगी, खूब पियो। इसी प्रकार बहुत बड़े बड़े आलीशान मकान मिलेंगे। अथवा Heaven मिलेगा। वे कहते हैं कि 'In my Father's house, there are many mansions'. जहाँ जाना हो तदनुकूल कर्म करो, चुन लो। वहाँ जाकर हमेशा रहोगे, वहाँ से कभी लौटना नहीं पड़ेगा। इसलिये यही अंतिम तत्त्व है।

अब प्रश्न यह है कि यदि तुम्हारा लोक-सम्बन्ध होता है तो जो योग वाली चीज़ है वह एक दिन विप्रयुक्त ज़रूर होती है। जितना कर्म करके गये हो, उतने समय रह सकते हो। यह कैसे हो सकता है कि कर्म सांत और फल अनंत हो जाये? परिमित से अपरिमित की प्राप्ति नहीं होती। दूसरा दोष जैसे वैषयिकों के अन्दर आपस में झगड़ा होता है— किसी ने रूप को प्रधानता दी, किसी ने रस को, किसी ने गंध को प्रधानता दी— इसी प्रकार उन लोगों में भी झगड़ा है। साकेत लोक वाला कहता है मेरा बढ़िया माल है, वैकुण्ठ वाला अपना बढ़िया माल बताता है। मणिद्वीप में जाने वाले शाक्त लोग कहते हैं कि हमारा माल बढ़िया है। आपस में उनका भी झगड़ा है। फिर वहाँ जाकर

Scanned by CamScanner

सबके भोग एक समान हैं या कम बेशी हैं? एक समान हैं तो भी आनंद नहीं आयेगा क्योंकि मनुष्य की, जीव की आदत यह है कि एक जैसी चीज़ सबके पास हो तो सुख नहीं होता, कुछ भिन्नता हो तो सुख होता है। यदि वहाँ सबको एक जैसे भोग मिलेंगे तो भी सुख नहीं होगा। यदि भोगों में भेद होगा तो वहाँ भी ईर्ष्या-द्वेष होते रहेंगे तो भी सुख नहीं होगा। भेद वे सभी मानते हैं। वैष्णव भी मानते हैं कि भगवान् कृष्ण के बिल्कुल सिंहासन के ऊपर राधा की सीट बुक है, वहाँ तक कोई और नहीं पहुँच सकता। फिर अष्टसखियों की सीटें भी बुक हैं। इसी प्रकार नारायण के लक्ष्मी हो गई, वहाँ भी तुम नहीं पहुँच सकते। उनके भी आगे सोलह नित्यायें हैं। वहाँ भी झंझट का मामला है। ऐसे ही खुदा के पास पहुँचो तो मुहम्मद उनका खास चेला वहाँ बैठा रहेगा, वह कुर्सी भी तुम्हें नहीं मिल सकती। गोड के पास क्राइस्ट, होली घोस्ट वर्जिन मेरी बैठी हैं। इन सबके बाद में तुम्हारा नम्बर आयेगा। भोग सबके एक जैसे नहीं, सब मानते हैं कि ऊँच नीच है। इसलिये वहाँ भी राग द्वेष चलते रहेंगे। अतः इन लोकों को तत्त्व मानना भी नहीं बनता।

पौराणिकों की कल्पना भी बेकार सी है, अविचारशीलों के लिये है। विचारशील जानता है कि पौराणिकों की कल्पना गुड-जिह्विका-न्याय है। जिनको विषयों में परायणता है उन्हें कहो कि 'आत्मतत्त्व निर्विषय है' तो कहेंगे कि 'छोड़ो जी, इसमें क्या है।' बढ़िया माल देखेंगे तो लग जायेंगे। जैसे चीनी लिपटी गोली (Sugar coated pill) खा लेते हैं, ऐसे ही जब कहते हैं कि वहाँ हमेशा सोलह साल के जवान रहोगे तो कहते हैं कि 'बढ़िया चीज़ है', और सत्कर्म में लग जाते हैं। सच्ची बात पहले कह दो तो लोग भड़क जाते हैं। फिर आगे पुराणों को भी ध्यान से पढ़ो तो उनमें बता दिया है कि परमार्थ तत्त्व क्या है। जो एक बार पुराण के रास्ते चल पड़ा उसे एक न एक दिन वे उपदेश भी मिल जायेंगे। इसलिये कड़वा सत्य मीठे भोग से ढक कर वहाँ बताया है।

'देवा इति च तद्विदः।' कुछ लोगों ने कहा लोक तत्त्व कैसे हो सकते हैं? लेकिन अग्नि, इन्द्र इत्यादि जो देवता हैं, बस ये ही तत्त्व हैं। उसमें भी कोई कुछ देवों को तत्त्व मानते हैं। जैसे किसी ने ३३ देवताओं को मिलाकर तत्त्व मान रखा है। किसी ने ३६ देवताओं को तत्त्व मान रखा है। कई इनमें से तीन या छह को छाँट लेते हैं। शौनक सूत्रों में तैतीस को लेकर चले। अधिकतर पुराण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तीन को लेकर और कुछ पुराण पाँच को लेकर चले। अपने स्मार्तों में गणेश, देवी, विष्णु, रुद्र और सूर्य को प्रधान माना। किसी ने फिर दो को ही प्रधान माना। उसमें भी कई विष्णु और शिव (हरिहर) को प्रधान मानते हैं। कुछ ने शिव-शक्ति को प्रधान माना। कुछ ने शिव व शक्ति को मिलाकर डेढ़ कर दिया। इस प्रकार अलग अलग देवताओं को तत्त्व माना गया। हर देवता को लेकर कहते हैं कि यह कामभोग चाहिये तो इस देवता की उपासना करो। क्योंकि ये ईश्वर को नहीं मानते, अलग अलग देवताओं को मानते रहते हैं।

Scanned by CamScanner

फिर बाद में कुछ लोग आये जिन्होंने सूची बढ़ानी शुरू की और अब सूची इतनी बढ़ गई है कि गिनती का पता ही नहीं। हनुमान् जी, भैरों, शीतला और आजकल संतोषी, साई बाबा और एक भगवान् रजनीश, न जाने कितने हो गये। इस प्रकार यह संख्या बढ़ती चली जाती है। हरेक से अलग अलग चीज़ मिलेगी। भागवत के अन्त में एक जगह कहा है कि हरि के अवतार अनंत होंगे 'अवतारा ह्यनन्ता वै हरेश्च परमात्मनः।' उस भागवत से हमें मान लेना चाहिये कि अनंत हैं। कोई तरीका नहीं है कि कसौटी पर कस कर बताया जाये कि ये देवता हैं या नहीं। किसी को बीवी के पीछे रोते देखकर कहो कि 'यह कैसा देवता है?' तो वह कहेगा कि 'राम भी ऐसे थे।' हम चूँकि आस्तिक हैं, इसलिये मानना पड़ेगा। जानने का कोई प्रकार नहीं है। सबको मानो तो झँझट नहीं। ये फल देने वाले देवता ही तत्त्व हैं क्योंकि ये ही फल देते हैं।

लेकिन यह भी एक कल्पनामात्र है। उनसे पूछो कि देवता तुम्हारे प्रयत्न के सापेक्ष होकर फल देते हैं, या नहीं? हम उनकी पूजा करें, उन्हें कुछ चढ़ायें, जैसे गणेश जी को लड्डू चढ़ायें तो फल देंगे अथवा बिना हमारे प्रयत्न के फल देते हैं? यह तो वेदांत है, इसलिये घबराना नहीं। अगर हमारे प्रयत्न के सापेक्ष होकर फल देते हैं तो वे हमारे नौकर जैसे हुए। उसे तन्ख्वाह दी तो उसने पैर दबाये, नहीं तो नहीं, ऐसे ही गणेश जी को लड्डू चढ़ाये तो उन्होंने हमारा काम कर दिया, नहीं तो कुछ नहीं। और नौकर जैसे हैं तो देवता काहे के! यदि प्रयत्न के सापेक्ष होकर फल नहीं देते हैं तो यह सब कर्मकाण्ड बेकार है, फिर इसे क्यों करें? देना होगा तो बिना किये दे देंगे, नहीं तो करके भी नहीं देंगे। इसलिये विचार से देखो तो दोनों तरफ से इनकी जो देवताओं की मान्यता है, वह बेकार है। इतना ही नहीं, उनकी जो परम भक्ति करने वाले हैं, उन बेचारों को भी महा दुःखी देखा जाता है, और जो इनकी कोई भक्ति नहीं करता है, उन्हें भी महा सुखी देखा जाता है। मुसलमान लोग हम लोगों के सब देवताओं को तोड़ते रहे लेकिन सात सौ साल में उनका नाश नहीं हुआ। हम यही सोचते रहे कि 'अब ये सारे नष्ट हो जायेंगे, मर जायेंगें, हमारे विश्वनाथ इनको खतम कर देंगे', लेकिन कुछ नहीं हुआ। वे सात सौ साल राज्य करते रहे। हराया भी तो अंग्रेजों ने हराया। इसलिये भक्ति करने पर भी दुःखी और नहीं करने वाले भी उन्नत होते देखे जाते हैं। इन्हें कैसे तत्त्व मानें। यदि अल्लाह को मानो तो इन्हें जहोवा वालों ने ठोक कर रखा है। दो हज़ार साल तक इज़राइल वाले भटकते रहे, जर्मनी वाले उन्हें ठोकते रहे तो उन्होंने क्या कर लिया? अब वे मुसलमानों को, खुदा वालों को ठोक रहे हैं तो इन्होंने क्या कर लिया? इसलिये यदि प्रयत्न से फल देते हैं तो नौकर हैं, बिना प्रयत्न के फल देते हैं तो तुम्हारा सारा पूजा पाठ, कर्मकाण्ड बेकार है और करने पर भी दुःखी तथा न करने पर भी सुखी देखे जाते हैं। इसलिये इनको भी तत्त्व नहीं मान सकते।।२१।।

●

Scanned by CamScanner

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ।।२२।।

पहले इहलोक के विषय फिर परलोक के विषय, फिर परलोक के विषयों का फल देने वाले देवता आये। जब देवताओं का खण्डन हुआ तो पूर्वमीमांसक खड़ा हो गया कि 'मेरा काम बन गया', क्योंकि पूर्वमीमांसक देवताओं को नहीं मानता। वह कहता है कि वेद अपौरुषेय है, वेद मंत्र से ही काम होता है। इसलिये सब चीज़ों को प्राप्त कराने वाला वेद ही सब कुछ है। देवता आदि कुछ फल नहीं देते, यह हम भी मानते हैं। वेद ही तत्त्व है।

वेद क्या है? लौकिक वर्ण क ख ग आदि के उच्चारण का क्रम ही वेद है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' आदि में सारे लौकिक अक्षर हैं। लौकिक वर्णों के क्रम से भिन्न वेद कुछ नहीं। और जो यह क्रम है वह उच्चारण करने वालों पर निर्भर है। उच्चारण करोगे तभी होगा। बिना उच्चारण के बनेगा नहीं। क्रमिक वर्णों के अन्दर वेदत्व का आरोप किया जाता है। अतः वेद सर्वथा उच्चारण करने पर निर्भर रहा। फिर इस तत्त्व को जब चाहे पैदा करो, जब चाहे खतम करो। हमने बोलना शुरू किया तो वेदपाठ और बोलना बन्द किया तो फिर वह वेद कहाँ रहा? इसकी उत्पत्ति-विनाश-शीलता स्पष्ट देखने में आती है। जैसे देवताओं के आराधक, वैसे ही समग्र वेद को जानने वाले भी अपने कार्यों के लिये पराधीन देखे जाते हैं। वेद को न जानने वाले भी बहुत से कार्यों को कर लेते हैं। जो लोग ठेठ मंगल, बृहस्पति तक पहुँच रहे हैं उन्होंने वेद थोड़े ही बाँच रखे हैं। हमारे ऋषि लोग वेदों से पहुँच गये, मान लिया। इसलिये एक तो उत्पत्ति और विनाश वाले हैं, उच्चारण करने वाले के अधीन हैं, और इनके बिना फल प्राप्ति को देखा जाता है। इन सब कारणों से इनको भी तत्त्व नहीं कह सकते।

किसी वेदवेत्ता ने कहा 'यह तो ठीक है कि वेद उच्चारण पर निर्भर है, लेकिन बोधायन प्रभृति धर्मसूत्रकार यज्ञ को ही तत्त्व मानते हैं।' जैसे वेदों को पूर्वमीमांसकों ने तत्त्व माना, इसी प्रकार ये मानते हैं कि वेद तत्त्व नहीं, लेकिन वेद के अनुसार आचरण करते हो तो जो पुण्य उत्पन्न होता है वह सच्चा है। इसलिये वैदिक यज्ञ आदि वस्तुभूत हैं।

अब प्रश्न होता है कि यज्ञ का लक्षण क्या है? यज्ञ में तीन चीज़ें होती हैं— द्रव्य, देवता, और त्याग। किसी देवता के उद्देश्य से, किसी द्रव्य का त्याग और मंत्र का साथ में उच्चारण हो। जैसे जपयज्ञ करते हो तो जप करते समय तुमने वाणी रूप द्रव्य का त्याग किया, शिव देवता हो गये और 'ॐ नमः शिवाय' यह मंत्र हुआ। ऐसे जप यज्ञ हो गया। इसी प्रकार 'ॐ भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' ऐसा उच्चारण करके प्राण का त्याग किया तो प्राण द्रव्य हो गया, सविता देवता के उद्देश्य से किया, अतः

Scanned by CamScanner

यह प्राणायाम यज्ञ हो गया। इसी प्रकार से शिवलिंग को सामने रखा या शालिग्राम को सामने रखा और पुरुषसूक्त के मंत्रोच्चारण से तुमने जल त्याग किया तो द्रव्य त्याग हो गया, देवता विष्णु या शंकर उद्देश्य हो गये तो यह अभिषेकरूप यज्ञ हो गया।

अब यह बताओ कि द्रव्यादि प्रत्येक अलग अलग तत्त्व हैं या तीनों मिलकर तत्त्व हैं? तीन चीज़ें मिलकर ही यज्ञ हुई। प्रत्येक को तत्त्व मानोगे तो दूसरे दो बेकार हो जायेंगे। तीनों को मिलकर मानोगे तो वे दो अलग होने पर तत्त्व नष्ट भी हो जायेगा। फिर वह तत्त्व क्या रहा? जपयज्ञ, प्राणायामयज्ञ, अभिषेकयज्ञ, हवनयज्ञ ये सब अलग अलग तत्त्व हैं या सब मिलकर एक तत्त्व हैं। यह दूसरी शंका है। यदि सब मिलकर एक ही तत्त्व हैं तो यह असंभव हो जायेगा क्योंकि सबका मिलना कभी कहीं संभव नहीं। और यदि अलग अलग तत्त्व हैं तो इन तत्त्वों की सीमा नहीं रहेगी। इसलिये यज्ञ को भी तत्त्व नहीं कह सकते, यह भी भ्रान्तिमात्र ही है।

तब सेश्वर सांख्यवादी बोल पड़ा कि हमारी बात मान लो 'भोक्तेति च भोक्तृविदः।' आपने ठीक कहा कि यज्ञ भी कोई तत्त्व नहीं, वेद भी नहीं, लेकिन जिसको इस सबका फल मिलता है, वही तत्त्व है क्योंकि भोक्ता है तो ये सब करते हैं। इसलिये भोक्ता ही आत्मा है।

सेश्वरसांख्यवादी से प्रश्न होता है कि यह भोक्ता कर्त्ता भी है या नहीं? सांख्यवादी आत्मा को भोक्ता तो मानता है, कर्त्ता नहीं मानता। यदि बिना कर्त्ता के भोक्ता है तो बिना पाप किये बेचारे दुःख भोगते हैं तो तत्त्व काहे के, परतंत्र ही हैं। और एक भोक्ता तत्त्व है या सब? इत्यादि देवतापक्ष वाले दोष भी हैं ही। दूसरी चीज़, सारे भोग एक जैसे हैं या अलग अलग ढंग के हैं? यह नहीं कह सकते कि सारे भोग एक जैसे हैं और भोगों के भेद से भोक्ताओं में भेद हो जायेगा। उनमें से किसी एक को तत्त्व या सारों को तत्त्व मानोगे? भोग होने से भोक्ता में विकार आता है या नहीं? यदि किसी प्रकार का विकार नहीं आता तो फिर उसे भोक्ता कहते कैसे हो? और यदि विकार आता है तो विकारी होने से स्वयं नष्ट होने वाला हो जायेगा। भोक्ता में भोक्तापन स्वाभाविक है या किसी निमित्त से है? स्वाभाविक है तो गहरी नींद में और मोक्षकाल में भी भोग चलता रहना चाहिये। किसी निमित्त से है, तो फिर उस निमित्त को तत्त्व मानो, भोक्ता को कैसे तत्त्व मान लिया? इसलिये यह भी बनता नहीं।

यहाँ तक तो कुछ बुद्धिमानों के विचार चले। अब बीच में कुछ सूपकार (रसोइये) लोग बोले कि यह सब कुछ नहीं। मालपुआ, लवंग-लता ही तत्त्व है। ये पेट में जाते हैं तो बुद्धि काम करती है, नहीं तो बुद्धि स्थूल हो जायेगी। सूपकारों का भी एक विज्ञान है। 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर वे कहते हैं कि बस इसी को तत्त्व मानना चाहिये। यह वाद तो अत्यंत स्थूल

Scanned by CamScanner

है इसलिये ज्यादा खण्डन की ज़रूरत ही नहीं। थोड़ी देर तक रसगुल्ला रखा रहने दो तो बदबू आने लगती है। यह क्या तत्त्व है?।।२२।।

●

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदो अमूर्त इति च तद्विदः ।।२३।।

किसी ने कहा मन बुद्धि प्राण वाला जो सूक्ष्म शरीर है उसको तत्त्व मान लो क्योंकि वह हमेशा रहता है। भोक्ता का प्रसंग आया था इसलिये भोक्ता के साथ भोज्य को भी कह दिया था। अब फिर भोक्ता का ही विचार आगे चल रहा है। किसी ने कहा कि भोक्ता तत्त्व नहीं बल्कि भोक्ता की उपाधि से विशिष्ट आत्मा तत्त्व है। उपाधि सूक्ष्म शरीर है। जब तक सूक्ष्म शरीर है तब तक भोग, जैसे जाग्रत् स्वप्न में, और जिस समय सूक्ष्म शरीर नहीं जैसे सुषुप्ति में, समाधि में या मोक्ष में, तो भोग भी नहीं होता। इसलिये सूक्ष्म शरीर के रहते ही सब चीज़ों का ज्ञान है। मन कुछ भी कर सकता है। मरता है तो सूक्ष्म शरीर ही एक जगह से दूसरी जगह जाता है। इसलिये इसी को तत्त्व मानो।

यह भी नहीं बनता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर के सत्रह टुकड़े हैं। इनमें से प्रत्येक को या सत्रह को मिलाकर तत्त्व मानोगे? प्रत्येक को मानोगे तो बाकी बेकार, मिलाकर मानोगे तो फिर इकट्ठे करने से विनाशी हो जायेंगे। आदि इसमें सब दोष आ जायेंगे। तत्त्व है तो फिर सूक्ष्म शरीर समाधि और सुषुप्ति में क्यों नहीं रहता? तत्त्व का तो नाश नहीं होता। सूक्ष्म से ही आत्मा को अणु परिमाणी मानने वाले वैष्णवादि का भी खण्डन समझ लेना। अणु आत्मा तत्त्व हो तो इकट्ठे ही सारे शरीर में अनुभव न हो, सिर पर धूप पड़े और पैर ठण्डे गंगाजल में हों तो दोनों बातें एक साथ पता न चलें। ऐसे ही कुछ लोग परमाणुसमुदाय को तत्त्व मानते हैं, जगत्कारण मानते हैं। वह भी सूक्ष्म से समझ लो। परमाणु सबसे छोटा टुकड़ा बताते हैं। जो टुकड़ा है वह नित्य कैसे होगा? इत्यादि दोष इस पक्ष में भी हैं।

'स्थूल इति च तद्विदः।' लोकायत कहता है, 'अरे सूक्ष्मशरीरवादी! सूक्ष्म शरीर क्या कभी स्थूल के बिना भोग कर सकता है? इसलिये स्थूल शरीर को ही भोगायतन कहते हैं, इसमें बैठकर ही भोग किया जा सकता है। बढ़िया से बढ़िया रसगुल्ला, मालपुआ रखा रहे, केवल मन से भोग बनाते रहो, कुछ मज़ा नहीं आता, छाती ऊपर से जलती रहती है! स्थूल शरीर कमज़ोर हो जाये और सूक्ष्म शरीर चाहे जितना तगड़ा बना रहे, कहाँ भोग होता है? पेट खराब होता है तो मनीराम नहीं कहता कि 'मत खाओ', कहता है 'खा ले' लेकिन कैसे खायें! स्थूल शरीर ही भोगायतन हुआ। इसलिये स्थूल को तत्त्व मानो। स्थूल शरीर के बिना काम नहीं चलता। इसलिये इसको तत्त्व मानना चाहिये।

Scanned by CamScanner

यदि इसको तत्त्व मानते हो तो यह यहीं प्रत्यक्ष मरता हुआ, रोगी होता हुआ, बुड्ढा होता हुआ, विपरिणामी, बदलता हुआ दीखता है। इसलिये इसको तत्त्व कैसे मान सकते हो? यदि इसमें चेतना स्वाभाविक है तो मरे हुए में या नींद लेने वाले में भी दीखनी चाहिये। इसलिये चेतना इसमें कहीं से आने वाली माननी पड़ेगी। यदि स्थूल शरीर भोग का कारण है तो मरे हुए शरीर से भी भोग कर लेना चाहिये। उसके मुँह में अनाज आदि डालने पर उसे स्वाद आना चाहिये। सोये हुए को भी भोग की प्राप्ति होनी चाहिये। रात में कोई सोया हो, उसके शरीर से साधारण रजाई हटाकर मखमल की रजाई डाल दो और सबेरे तीन बजे फिर वही साधारण रजाई डाल दो। उठने पर उससे पूछो कि 'आज नींद में क्या कोई खास मज़ा आया था?' कहेगा— 'कुछ नहीं।' उससे कहो 'तेरे ऊपर मखमल की रजाई डाल दी थी, कुछ पता लगा?' वह कहता है 'कुछ नहीं।' इससे सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर बिना चेतना के भोग नहीं कर सकता। मृत और सुषुप्त में यह देखने में आता है। इसलिये इसको तत्त्व नहीं मान सकते।

अब देवतावादियों में से कोई बोला 'मूर्त इति मूर्तविदः' मूर्त्ति ही तत्त्व है, इसी की उपासना से सारे काम सिद्ध होते हैं। जितने पुजारी लोग होते हैं, सब देवतावादी नहीं, मूर्त्तिवादी हैं। देवतावादी चेतन को मानता है लेकिन मूर्त्तिवादी मूर्त्ति को ही फल देने वाला मानते हैं। काशी में संकटमोचन वाले कहते हैं कि यही हनुमान् जी फल देने वाले हैं। इसी प्रकार 'इस मूर्त्ति में फल देने की सामर्थ्य है, उसमें नहीं, हमारी मूर्त्ति में तेज ज्यादा है' इत्यादि कहते रहते हैं। इसका मतलब है कि देवता पर निष्ठा नहीं। इसलिये देवतावाद अलग गिनाया। वह फिर भी सूक्ष्म है। लेकिन यह मूर्त्तिवाद तो स्थूल है। ये लोग मूर्त्ति को ही तत्त्व मानते हैं। पुजारी लोगों का अपनी अपनी मूर्त्तियों को लेकर खूब काम चलता रहता है। यदि कहो कि हम मूर्त्ति में खास मंत्रों से प्राणप्रतिष्ठा करते हैं इसलिये तेज आता है तो फिर मूर्त्ति की तेजस्विता क्यों, मंत्रों की तेजस्विता हुई। मूर्त्ति को तत्त्व मानना भी भ्रान्ति मात्र है जैसे तुम्हारा शरीर वैसे ही मूर्त्ति भौतिक है। पत्थर की, मिट्टी की और कहीं बरफ की मूर्त्ति भी बन जाती है। अमरनाथ में बरफ की एक एक बूंद गिरने से मूर्त्ति बन जाती है। कहीं कहीं धातु की मूर्त्ति भी होती है, दक्षिणभारत में नटराज की मूर्त्ति धातु की है, रावण सोने का शिवलिंग बनाकर रखता था। लकड़ी की मूर्त्ति भी होती है, जगन्नाथ में लकड़ी की मूर्त्ति है। अष्टगंध की मूर्त्ति भी होती है। लेकिन जो भी हो, है तो वह किसी न किसी पंचभूत से ही बनी हुई। जो पांचभौतिक है वह तो विनाशी है ही, इसमें कहना ही क्या! कुछ लोगों ने तो अर्चावतार भी मान रखे हैं।

रामानुजवाले ऐसा ही मानते हैं। कहते हैं कि मूर्त्ति में प्राणप्रतिष्ठा करो तो देवता का प्रवेश हो जाता है। अपने यहाँ स्मार्तों में तो ऐसा मानते हैं कि मूर्त्ति में अपनी ही प्राणकलिका की कल्पना होती है, लेकिन उनके यहाँ तो देवता ही प्रवेश कर जाता है। यदि उसके अन्दर अर्चा विग्रह आदि की कल्पना करो तो अवतार की खास विशेषता,

Scanned by CamScanner

लीलाविग्रहता होनी चाहिये। इसलिये वह कुछ करे तब मानें। चाहे जितना अभिषेक करो वह वैसा का वैसा ही बैठा रहता है, कुछ नहीं करता। अपनी कल्पना से लोग मानते रहते हैं कि मूर्त्तिके सिर से लाल फूल गिरे तो काम बना जायेगा। वह तुम्हारे संकल्प से गिरे, न गिरे, वह तुम्हारी बात हुई; देवता थोड़े ही गिराता है। आज तक एक ही लीला सुनाई गई कि हमारे विश्वनाथ जी डर के मारे कुएँ में कूद गये, जब मुसलमान मंदिर तोड़ने आये! ज्ञानवापी वाले काशी में ऐसा कहते हैं कि देखो भगवान् कैसे सच्चे हैं। हम उनसे कहते हैं कि क्यों भगवान् को बदनाम करते हो? किसी को मारा होता तो कुछ बात थी, यह क्या लीला की! फिर भी ऐसी ऐसी कल्पनायें लोग करते रहते हैं। इसी प्रकार अन्य बहुत सी कल्पनायें होती हैं।

एक बार बहुत साल पहले की बात है हम फतहपुर सीकरी देखने जा रहे थे तो हमारे आगे कुछ मुसलमान औरतें जा रही थीं। उनमें से एक सुना रही थी कि जब हिन्दुस्तान पाकिस्तान बना तो लोग सारी फौज लेकर चिश्ती साहब की कब्र उखाड़ने के लिये आ गये। यहाँ से ऐसे ततैये निकले कि सारी फौज भाग खड़ी हुई, तभी चिश्ती साहब को नेहरू जी मानते हैं। हम पीछे थे, सुनते रहे। ऐसे ही अपने यहाँ भी बहुत सी कल्पनायें होती रहती हैं। काशी में कालभैरव का मन्दिर है। सब मन्दिरों को कौन तोड़ने जाता है! उस ज़माने में कालभैरव मन्दिर को किसी ने नहीं तोड़ा, छोटा सा मन्दिर था। वहाँ प्रसिद्धि है कि जो तोड़ने आया उसका दिमाग फिर गया। हम कहते हैं कि तुम एक तरफ तो कहते हो कि काल भैरव विश्वनाथ के अधीन हैं। जब उनकी कुछ नहीं चली, विशालाक्षी और अन्नपूर्णा की कुछ नहीं चली तो कालभैरव की क्या चलनी थी? विश्वनाथ मंदिर को एक बार नहीं चार बार तोड़ा, उस समय काल भैरव क्या करते रहे? ये जब उनकी रक्षा करने वाले हैं तो क्या उस समय इन्हें नींद आ गई थी? ऐसी कल्पना लोग करते रहते हैं।

'अमूर्त इति च तद्विदः' शून्यवादी कहता है कि यह मूर्त्ति आदि कुछ नहीं। यज्ञ, वेद आदि सब बेकार हैं। अमूर्त अर्थात् निःस्वभाव शून्य ही एकमात्र तत्त्व परमार्थतः है। उससे कहते हैं कि जो निःस्वभाव तत्त्व है उसे तू जानता है या नहीं। वह तुम्हारे से सिद्ध है या तुम्हारे बिना सिद्ध है। यदि तुम्हारे से सिद्ध है तो तू ही तत्त्व है और यदि तुम्हारे से सिद्ध नहीं तो असिद्ध चीज़ को कैसे मानें?

इसी प्रकार बहुत से लोग मानते हैं कि देवताओं की मूर्त्ति मत बनाओ। आर्यसमाजी आदि मूर्त्ति का खण्डन करते हैं। कहते हैं कि ईश्वर को बिना मूर्त्ति वाला मानो। वहाँ भी शंका है कि निस्स्वरूप का साक्षात्कार किया या नहीं किया। किया तो किस रूप में किया? यदि अनुभव नहीं किया तो तुम्हारा बोलना बेकार है। निराकार ईश्वर को मानने वाले भी शून्यवादी ही हैं क्योंकि जैसे शून्यवादी कहता है कि अनुभव किसी को नहीं फिर भी मानो, उसी प्रकार इन्हें भी कहना पड़ता है। निराकारवादी से पूछते हैं कि तूने

Scanned by CamScanner

निराकार का साक्षात्कार कैसे किया? यदि तू निराकार ईश्वर का साक्षात्कार करके बोल रहा है तो जिसका तुमने अनुभव किया वही आकार है। किसी आकार का ही साक्षात्कार करोगे, सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्रमण्डल ये ही दीखेंगे। फिर निराकार कैसे कहते हो? यदि किसी भी रूप में तत्त्व-साक्षात्कार किया तो जिस रूप में किया, वह आकार ही तत्त्व है। तू यही कह सकता है कि मैनें जो देखा वह सच्चा, दूसरों का देखा झूठा। और यदि अनुभव नहीं किया तो निराकार में प्रमाण क्या? इसलिये वे एक तरह से शून्यवादी हो जाते हैं। इसलिये बौद्धों का भी और परमात्मा को सर्वथा निराकार मानने वालों का भी खण्डन इस अमूर्त से समझना।।२३।।

●

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ।।२४।।

जो कालवेत्ता ज्योतिषी लोग हैं वे कहते हैं कि काल ही एक तत्त्व है क्योंकि काल रूप तत्त्व के अन्दर ही सब कुछ पैदा होता है, काल के अन्दर रहता है और अंततोगत्वा काल में ही नष्ट होता है। इस सिद्धांत को आधुनिक विज्ञान में भी एक पक्ष मानने लगा है। वे एक Entropy नाम के तत्त्व को मानते हैं जो काल प्रवाह को नापने का एक तरीका है। Entropy संसार में हमेशा बढ़ती जायेगी, कभी घट नहीं सकती। प्रश्न होता है कि क्या Entropy कभी शून्य थी? वे कहते हैं कि यह कभी शून्य नहीं क्योंकि एक से नीचे नहीं जा सकती। इसी प्रकार कालवेत्ता कहते हैं कि काल में ही उत्पन्न नहीं, काल से ही उत्पत्ति हो सकती है। काल को तत्त्व आधुनिक वैज्ञानिक और अपने यहाँ प्राचीन ज्योतिषी लोग मानते थे। इसलिये किसी भी चीज़ का काल से निर्णय करते हैं। जन्म का समय बताओ; जन्म का समय पता नहीं तो जिस समय आये वही बताओ, प्रश्न काल; इत्यादि मीन-मेष लगाते हैं। कोई आदमी मर कर कहाँ गया? मरने का समय बताओ तो उससे बताते हैं कि उसकी सद्गति हुई या दुर्गति हुई। यदि सद्गति हुई तो ठीक, नहीं तो अनुष्ठान कराओ। इसी प्रकार कहीं जाना हो तो काम सिद्ध होगा या नहीं? कहते हैं मुहूर्त बताओ। यज्ञोपवीत करना है, मौंजी-बंधन करना है, समावर्तन करना है, इत्यादि छोटे बड़े सबके लिये काल है। इनमें से एक पक्ष तो टट्टी पेशाब के लिये भी काल मानता है। दाहिना नथुना चले तो जाओ, बायाँ चले तो मत जाओ। भोजन में भी काल को कारण मानते हैं। प्रतिपदा के दिन उठो, यदि ठीक नथुना चल रहा हो तो तुम्हारे पंद्रह दिन ठीक रहेंगे, नहीं तो फिर सो जाओ। रेल छूट जाये तो छूटने दो! इस प्रकार कालवादी हर चीज़ का कारण काल को ही मानता है।

लेकिन यह भी कपोल कल्पना ही है। उनसे पूछते हैं कि तुम काल को एक मानते हो या नहीं? वे कहते हैं कि काल तो एक है, तभी अखण्ड नित्य रहेगा। यदि एक

Scanned by CamScanner

है तो तुम्हारा मुहूर्त आदि व्यवहार बेकार है। एक काल के अंदर यह भेद हो नहीं सकता। यह तो वही बात हुई कि पहले जब बच्चे आँख मिचौनी का खेल खेलते थे तो कोई कहता था 'तूने मेरे घुटने को छुआ, मेरे को नहीं।' दूसरा उसे डाँटता था 'अब तो तू चोर बन ही गया।' ऐसे ही काल एक है तो हरेक मुहूर्त में एक ही काल होना हुआ; फिर उसमें अच्छा बुरा कहाँ से हुआ? और यदि काल अनेक मानते हो तो क्षण-क्षण में विनाशी हुआ। जो हर क्षण में नष्ट होता है वह काल कैसे तत्त्व हुआ?

फिर उनमें से कौनसा क्षण तत्त्व है? इसलिये यह कपोल कल्पना ही है। यदि काल फल देता है तो स्वतंत्र होकर देता है या परतंत्र होकर देता है। यदि स्वतंत्र होकर देता है तो मुहूर्त आदि देखना वैसे ही बेकार है। बहुत बार लोग कहते हैं कि यह तो समय की बात है। समय की बात है तो होनी ही है। और यदि परतंत्र होकर देता है तो वह क्या तत्त्व हुआ? फिर तो हम ही तत्त्व हुए जो निर्णय करते हैं कि इस काल में करके सफलता प्राप्त करेंगे। इसलिये स्वतंत्र या परतंत्र मानकर भी काल तत्त्व नहीं होगा।

काल स्वयं अपनी प्रतीति करता है या दूसरे लोग करते हैं? काल का ज्ञान तो हम लोगों को ही होता है, काल स्वयं नहीं कहता। इतना ही नहीं कालभेद भी दृष्ट है। हमारे एक स्वामी जी थे। उनका कहना था कि मैं रोज़ चार बजे उठता हूँ। कभी हम देखते थे कि वह दो बजे उठ जाते थे, एकाध बार कुंभ में देखा कि छह बजे उठते हैं। हमने उनसे एक दिन पूछा 'आप कहते हैं कि मैं बीस साल से चार बजे उठता हूँ। आज क्या हुआ?' उन्होंने कहा 'हमने यह कब कहा था कि इंडियन स्टैण्डर्ड टाइम के चार बजे उठता हूँ? जब उठता हूँ तो कहीं न कहीं चार बजे ही होंगे।' हमने कहा यह भी ठीक है क्योंकि काल दृष्ट है। तुम कहोगे दिन है, अमरीका वाले रात कहेंगे। फिर कौन सा काल सत्य मानोगे? काल क्रियाजन्य है। दो क्रियाओं की प्रतीति को लेकर काल का पता लगता है। जो स्वयं क्रियाधीन है उसकी स्वतंत्र सत्ता कैसे होगी? काल एक धर्म मात्र है अर्थात् क्रिया में रहने वाला एक गुण विशेष है। क्रिया में रहने वाला गुण स्वयं तत्त्व कैसे हो सकता है? फिर तो गुणी क्रिया को ही तत्त्व मानना पड़ेगा। इसलिये यह भी नहीं बनता।

दूसरों ने कहा 'दिश इति च तद्विदः' दिशाओं को तत्त्व मानो। यह काल से सम्बद्ध ही है क्योंकि कालवेत्ता भी अपने काल को दिशा से सम्बद्ध मानता है। आज पूर्वको गमन का मुहूर्त है या नहीं? इसलिये काल दिशा के अधीन है। अतः किसी ने कहा बस दिशायें ही तत्त्व है। आधुनिक विज्ञान में भी Space को तत्त्व मानने वाले हैं। पृथ्वी या सूर्य जैसी बड़ी चीज़ घूमती है इसका एक चुम्बकीय क्षेत्र magnetic field हुआ। जब इतना बड़ा चुम्बकीय क्षेत्र घूमेगा तो बिजली पैदा होगी ही। इसलिये उनकी मान्यता है कि Space के कारण चीज़ का भ्रमण और उससे नये पदार्थ पैदा होते हैं। Energy condense होने पर matter बन जाता है। जब पृथ्वी घूम रही है तो पृथ्वी ऊर्जा खो रही

Scanned by CamScanner

है। क्योंकि इनके यहाँ ऊर्जा energy तो उतनी ही रहनी है। एक जगह से घटे तो अन्यत्र बढ़े। वह पृथ्वी से घटी ऊर्जा निकल कर घनीभूत हो गयी तो एक नया matter द्रव्य बन गया। उसमें फिर गति आयेगी। वह फिर आगे पैदा करेगा। इस प्रकार सृष्टि का बनना बिगड़ना हुआ करता है। इन सबको सम्भव करने वाली दिशा हुई। इसलिये आधुनिक विज्ञान में भी ये दो सिद्धांत हैं, अपने यहाँ भी ऐसा ही था।

लेकिन है वह भी भ्रांति मात्र ही क्योंकि पदार्थों का जहाँ भाव नहीं, वहाँ देश Space या दिशा कह देते हैं। अब यह बताओ कि पदार्थों का अभाव जो स्वयं अभाव रूप है वह तत्त्व कैसे होगा? तत्त्व तो एक भाव पदार्थ हुआ, कोई चीज़ हुई। जैसे कोई पूछे इस पेटी में क्या है? कोई कहे 'ठस भरी हुई है।' 'किससे भरी हुई है?' 'कपड़े के अभाव से, घड़े के अभाव से', आदि अभावों की सूची गिना दे और कहे कि ठस भरी पड़ी है। अभाव कोई चीज़ नहीं हुआ करती। जिसको तुम Space कहते हो वह भी पदार्थों के अभाव का नाम हुआ। उसे तत्त्व कैसे मानोगे? यदि दिशा का अर्थ उत्तर, दक्षिण आदि direction लेते हो तो वह भी बदलती रहती है। जिसे तुम अभी पूर्व कह रहे हो उसी को थोड़ी देर में पश्चिम कहने लगोगे। हिन्दुस्तान वालों को एक भ्रान्ति हमेशा बनी रहती है। हिन्दी के अखबार को बाँचने के लिये पहले तो अंग्रेज़ी जाननी चाहिये! क्योंकि अखबार वाले अरब को 'मध्यपूर्व' कहते हैं। जिसे पता है कि यह इटली वालों के लिये मध्यपूर्व है, वह तो समझे। यहाँ से पूर्व में कलकत्ता, बर्मा, वियतनाम हैं। इसलिये बर्मा को मध्यपूर्व मानो। लेकिन वे लोग बर्मा को दक्षिणपूर्व एशिया कहेंगे जो अपने लिये नहीं है। इसलिये अंग्रेज़ी बिना पढ़े कुछ समझ में नहीं आयेगा। उन्होंने अपनी दिशा से नाम रखा, हम उनकी नकल करते हैं और उसी का प्रयोग करते हैं। दिशा तो स्थान-परिवर्तन के साथ बदल जाती है। इसी प्रकार अगर मुसलमानों को योरोप में जाकर देखो तो वे भी पूर्व की ओर मुँह करके ही पूजा करते हैं। इसलिये उनका नियम पश्चिम में पूजा करने का नहीं है, उनका नियम तो है कि मक्का की तरफ मुँह करके पूजा करनी चाहिये। हिन्दुस्तान में हैं तो पश्चिम में मुँह करके बैठते हैं। सापेक्ष होने से दिशा को भी तत्त्व नहीं माना जा सकता और आकाश या Space अभाव रूप है ही। यहाँ मत पूछना कि 'आप कैसे आकाश को भावरूप मानते हैं!' हम तो शास्त्र से वैसा मानते हैं और यदि शास्त्र मानो तो ब्रह्म ही परमार्थ मानो। तब कोई मतभेद नहीं। शास्त्र छोड़ते हो तो युक्ति से अपनी रक्षा करो। हमारा सिद्धान्त युक्ति पर तो टिका नहीं है। हम तो वैदिक हैं।

'वादा इति वादविदो' कुछ मानते हैं कि आपस में बैठकर किसी एक निश्चय पर पहुँच जाना चाहिये। गीता में भी भगवान् ने कहा 'वादः प्रवदतामहम्।' इसलिये आपस में बैठकर जो बुद्धि से निश्चय किया जाता है वह वाद ही तत्त्व मानना चाहिये। इसमें दोष यह है कि पहले तो अनादि काल से अब तक जितने विचारक हुए उन सबको इकट्ठा नहीं कर सकते। तुमने कोई बात बुद्धि से निश्चय की तो भविष्य वाले आकर उसे खंडित

Scanned by CamScanner

कर देते हैं। न्यूटन का खण्डन आइंस्टाइन ने किया, अरिस्टोटल का खण्डन काण्ट ने किया। इसलिये बुद्धि के द्वारा विचार करके अंतिम तत्त्व का निर्णय करना संभव नहीं क्योंकि सारे दार्शनिक इकट्ठे नहीं हो सकते। अगर वर्तमान काल के भी सब लोग बैठ जायें तो सब को जँचे कि यही निश्चय ठीक है, यह ज़रूरी नहीं। किसी को हाकिम बनाकर बैठाते हैं तो जो हारता है वह कहता है कि यह दूसरे से पैसा खा गया। इसलिये आपस में बैठकर कभी कोई निर्णय नहीं हो सकता। यदि कहो कि बुद्धि से सोचकर तत्त्व को मान लेना चाहिये तो अगर उससे अलग अलग बातें समझ में आती हैं तो क्या निर्णय करोगे?

अब तो युग बदल गया है लेकिन पहले तिब्बत के अन्दर विचित्र काण्ड होता था। अपना एक महात्मा एक बार वहाँ गया तो उसे पकड़कर एक कमरे में बंद कर दिया और सबको खबर दे दी गई कि 'काशी का लामा आया है, इसे पकाकर, उबालकर सभी प्रसाद लेंगे, सब लोग इकट्ठे हो जायें।' गाँव का मामला था। यह बेचारा बहुत घबराया। उन्होंने कहा कि 'आप काशी से आये हैं, हम बेचारे गरीब लोग गंगाजल पीने कहाँ जा सकते हैं! और यह कहा गया है कि गंगा की एक बूँद भी पेट में जाये तो मुक्ति हो जाती है। आपके खून में गंगाजल ज़रूर है। हम लोग थोड़ा थोड़ा लेंगे तो हमारी भी मुक्ति हो जायेगी।' जिसके घर बाँधकर बंद कर रखा था, उस की लड़की को उसपर दया आ गई। उसने खिड़की खोल दी, वहाँ से भागकर किसी तरह बचकर आया। वही सुना रहा था कि वे बड़े श्रद्धालु थे, बड़ी पूजा की, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि मैं नहीं आता तो उनकी मुक्ति नहीं होती। बात वह भी बड़ी युक्तियुक्त लगती है कि गंगा जल के पीने से सारे पुराने पाप कट जाने हैं। लेकिन निर्णय कैसे करें?

ऐसे ही कुछ लोग धातुवाद, मंत्रवाद आदि को पारमार्थिक मानते हैं। धातुवाद अर्थात् धातुओं के योग से सोना आदि बनाना। सोना बनने वाला होगा तो नष्ट भी हो जायेगा। वह काहे का तत्त्व है? रससेवन से मर्त्य शरीर अजर अमर हो जाता है ऐसी भी कुछ की मान्यता है। वह भी व्यर्थ बात है। ऐसा कोई आज तक हुआ नहीं। इसी प्रकार मंत्र परमार्थ हैं, बड़े शक्तिशाली हैं, देवता भी मंत्रों के अधीन हैं, यह मानने वाले भी हैं। उनके भी मंत्र खाली जाते देखे जाते हैं। फिर इनमें मतभेद भी बहुत हैं। किस मंत्र को तत्त्व मानें इत्यादि पूर्वोक्त दोष भी समझ लेना। इसलिये वादसिद्धांत भी कल्पनामात्र है।

कुछ लोग चौदह भुवनों को तत्त्व मानते हैं 'भुवनानीति तद्विदः।' जो पहले लोक वालों का खण्डन था उसी को यहाँ समझ लेना। फ़रक यह है कि लोक पुराणसिद्ध हैं और भुवन दृष्टिसिद्ध हैं। तारामण्डल इत्यादि भिन्न भिन्न भुवन हैं। लोक सूक्ष्म होते हैं जो चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय नहीं हैं। ये स्थूल हैं। खण्डन का प्रकार वही है।। २४।।

Scanned by CamScanner

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ।।२५।।

'मन इति मनोविदो' यह लोकायतों का, चार्वाकों का ही एक भेद है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी (Psychologists) ऐसा ही मानते हैं कि मन ही तत्त्व है क्योंकि मन ही एकमात्र चीज़ अनुभव में आती है। घट, पट आदि पदार्थ भी सुख दुःख के कारण तभी होते हैं जब मन की वृत्ति बने। बड़े बड़े योगाभ्यासी भी मन को शांत करने में लगे हुए हैं। विषयजन्य सुख भी इसीलिये चाहिये कि मन में सुख हो। मन को ही सुखी करने के लिये सारी प्रवृत्तियाँ और मन के दुःख से ही दुःखी हुए सब देखे जाते हैं। इसलिये मन ही तत्त्व है। बाकी सब चीज़ें मन के लिये हुई। उस मन को शांत करने के चाहे भिन्न भिन्न तरीके हुए। किसी ने कहा कि विषय से शांत करेंगे। इस प्रकार लोग लगे हुए हैं मन के अन्दर सुख को देखने में। इससे प्रतीत होता है कि मन ही तत्त्व है। मन की शांति को ढूँढते रहना चार्वाकों का ही सिद्धान्त है।

लेकिन यह भी भ्रान्ति ही है क्योंकि यदि मन स्वतंत्र तत्त्व है तो फिर इसे क्लेश प्राप्ति क्यों होती है? बिना चाहते हुए भी दुःख होता देखा जाता है। यदि मन परतंत्र है तो फिर जो इसके ऊपर शासन करता है, वही तत्त्व होना चाहिये। घुटने के अंदर दर्द हुआ और मन दुःखी हो गया तो तत्त्व घुटना हुआ, मन नहीं, क्योंकि घुटने ने मन को दुःखी कर दिया। इसलिये मन स्वतंत्र और परतंत्र, दोनों पक्षों में दोष आता है।

दूसरी बात है कि मन दृश्य है। मेरा मन आज ठीक नहीं है, आज मेरा मन ऊब रहा है यह आजकल लोगों को खूब होता है, लोग 'बोर' होते रहते हैं। एक जगह कई दिन रहना पड़े तो उसके बाद मन ऊबने लगता है। कहीं मण्डली लेकर जाओ तो पहले दस पंद्रह दिन तो खूब उत्साह होता है लेकिन उसके बाद फिर आपस में झगड़ा शुरू हो जाता है। लोग समझते हैं कि कोई कारण है। कारण कुछ नहीं है, ऊब रहे हैं इसलिये परिवर्तन चाह रहे हैं। परिस्थिति नहीं करने देती तो फिर मन दुःखी हो जाता है। जैसे हमारी मण्डली में ऐसे ही संसार की मंडली में होता है। विवाह होने के साल भर तक तो पति पत्नी दोनों का मन खूब रमा करता है। फिर झगड़ा होने लगता है, क्योंकि एक दूसरे से ऊब जाते हैं। इसीलिये हमारे यहाँ प्राचीन काल में यह पद्धति थी कि अपने गाँव में अपनी लड़की को न ब्याहो। उस समय इतने वाहन आदि तो होते नहीं थे। ससुराल गई तो साल डेढ़ साल वहाँ रही, और पीहर आ गई तो फिर दो तीन महीने वहीं रहती थी। इधर जब पति व्यापार करने जाये, अथवा लड़ाई में जाये, ब्राह्मण हो तो राजा के पास जाये, तो उसमें दो तीन महीने लग जाते थे। आजकल की तरह मिलिट्री के 'फैमिली स्टेशन' नहीं होते थे। घर आये तो घर में और युद्ध में गये तो युद्धक्षेत्र में रहे। व्यापार

Scanned by CamScanner

करने वाले भी मुसाफिरी में चले जाते थे। घर आये तो पत्नी के पास रहते थे। ऐसे ही पंडित का होता था। पति पत्नी कुछ समय के लिये चले जाते थे इसलिये एक दूसरे से ऊबते नहीं थे। अब पति घूमने जाये तो पत्नी सिर पर बैठेगी कि 'मेरे को भी साथ लेकर जाओ।' पत्नी पीहर चली जाये तो पति टेलिफोन करता रहता है कि 'घर आ जाओ।' फिर ऊब जाते हैं और झगड़ा होता है।

मन दृश्य है क्योंकि इस बात का ज्ञान होता है कि 'मैं ऊब रहा हूँ।' कोई तत्त्व है जो उसके ऊबने को जान रहा है। जैसे घट दृश्य वैसे ही मन दृश्य है। जैसे जैसे मन के अन्दर संस्कार डालो, वैसा ही मन बनता है। संस्कार कुछ माता पिता से आते हैं और कुछ शिक्षा से आते हैं। इसलिये जिसको एक के संस्कार के कारण सुखप्रतीति उसी को दूसरे के संस्कार के कारण दुःख की प्रतीति होती है। एक हँसी की बात हम कई बार कहा करते हैं कि पंजाबियों को रौनक में सुख होता है। हल्ला गुल्ला, शोर, धक्का मुक्की हो तो रौनक है। जन्माष्टमी के दिन खूब भीड़ भड़क्का हुआ तो कहते हैं कि खूब रौनक हुई। दिल्ली में हमसे लोग कहते हैं कि आप नहीं रहते तो रौनक नहीं रहती। उनकी दृष्टि में है कि भीड़ नहीं हुई तो रौनक नहीं हुई। जिसकी शिक्षा दूसरे प्रकार की है, वह कहता है 'अच्छा हुआ यहाँ नहीं हैं, आश्रम में शांति है नहीं तो रात के दो बजे तक लोग यहाँ से नहीं जाते, धक्का मुक्की होती है, इसलिये नहीं आये तो अच्छा है।' एक को शांति के अन्दर सुख की प्रतीति और एक को रौनक में सुख की प्रतीति होती है। यह कुछ माता पिता के संस्कारों के कारण और कुछ शिक्षा के कारण आता है।

अंग्रेज़ों को देखोगे कि चौबीस घण्टे रेल में या हवाई जहाज में तुम्हारे साथ बैठे रहेंगे तो एक बार भी तुमसे नहीं बोलेंगे क्योंकि जब तक किसी ने परिचय (properly introduce) नहीं कराया तो क्यों बोलें! और हिन्दुस्तानी रेल में घुसने के समय से ही बात करना शुरू कर देंगे। कुली से कहेंगे 'पेटी नीचे रख दो' नीचे देखा कि बैठे हुए यात्री की पेटी पड़ी है तो वहीं से बात करना शुरू करेंगे 'क्या यह आपकी पेटी है? आप कहाँ जा रहे हैं? जयपुर जा रहे हैं? हम भी जयपुर जा रहे हैं।' वहाँ से जो बोलना शुरू हुआ तो जब तक पहुँच नहीं जायेंगे तब तक बोलते रहेंगे। और कहाँ तक पहुँचेंगे इसका कुछ ठिकाना नहीं। पूछेंगे कि आप काम क्या करते हैं, आपके बच्चे कितने हैं, आपकी तन्ख्वाह क्या है आदि आदि। तुम्हारा उसके बेटों से क्या मतलब, कोई बेटियाँ देनी हैं? कुछ मतलब नहीं। यह शिक्षा से संस्कार आया। एक को शिक्षा मिली कि बिना मतलब इधर उधर की बातों को दिमाग में लेने से कोई फायदा नहीं, और दूसरे को शिक्षा मिली कि कभी चुप नहीं बैठना चाहिये। इसलिये शांति अलग अलग कारणों से हो गई। ऐसे ही बहुत से संस्कार हैं।

Scanned by CamScanner

मन घट की तरह दृश्य है और मन के अन्दर बाह्य शिक्षा के द्वारा संस्कार आते हैं। इसलिये संस्कार से प्रभावित होने के कारण मन को स्वतंत्र नहीं मान सकते। यह भी नहीं कह सकते कि हरेक मन अलग अलग है। इस मन की शांति तो अच्छी है, इसकी अच्छी नहीं; वह तो जैसे संस्कार पड़ गये वैसा हो जाता है। आगे फिर नये संस्कार पड़ गये तो परिवर्तन भी हो जाता है।

तीसरी बात मन करण अर्थात् साधन है। जो साधन हुआ करता है वह तत्त्व नहीं होता, जो साध्य होता है वह तत्त्व होता है। मन अंतःकरण का ही धर्म है। इसलिये मन भी तत्त्व नहीं हो सकता। जैसे दिया किताब पढ़ने में साधक है तो दिया तत्त्व नहीं हुआ, किताब तत्त्व हुई जिसे पढ़ रहे हैं। उसी प्रकार मन के द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है तो मन तत्त्व नहीं हो सकता। मन संसार के पदार्थों को जानने का साधन है। इसलिये मन को तत्त्व नहीं कह सकते।

बौद्ध बोल पड़ा कि बुद्धि को मान लो। बौद्धों के चार विभाग हैं— सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें से माध्यमिकों का खण्डन तो अमूर्त के अंदर आ गया था। योगाचार कहते हैं 'बुद्धिरिति च तद्विदः' बुद्धि भी तत्त्व है। इनके यहाँ बुद्धि क्या है? कहते हैं कि बाह्य पदार्थों के बिना बुद्धि आकार लेती रहती है। बौद्धों के अन्दर योगाचार और माध्यमिक बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। योगाचार कहते हैं कि बुद्धि स्वयं ही पदार्थाकार लेती चली चाती है, बाह्य पदार्थ कुछ नहीं है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं कि बौद्ध तो ऐसे ही हैं जैसे किसी के घर जाकर उसका बनाया हुआ सारा भोजन खा लो और फिर कहो कि न भूख है और न अन्न है! इसी प्रकार सारे बाह्य जगत् के अन्दर ही कार्य-कारण-परम्परा चलाते हो और फिर कहते हो कि बाह्य जगत् नहीं है। इन बौद्धों के कारण कुछ लोग हम लोगों पर भी दोष दे देते हैं कि वेदांत बाह्य जगत् को नहीं मानता। यह बिल्कुल ग़लत बात है। वेदांती बाह्य जगत् को मिथ्या कहता है अर्थात् उसे सत् भी नहीं कह सकते और असत्य वह है जो हो नहीं जैसे गधे के सींग। Changing reality मिथ्या, ब्रह्म Unchanging Reality और खरगोश का सींग unreality— इसलिये बौद्धों का दोष हमारे ऊपर देना ठीक नहीं। उलटा हम मानते हैं कि जैसे मिट्टी से बनी हुई चीज़ें मिट्टी रूप, ऐसे ही ब्रह्म से बना जगत् ब्रह्मरूप है। यहाँ बुद्धि से बाह्याकार ग्रहण करने वाला विज्ञान लेना, निश्चयात्मिका (determining faculty) बुद्धि नहीं लेना।

यह सिद्धान्त भी भ्रान्तिमात्र है क्योंकि सुषुप्ति काल के अन्दर जब गहरी नींद आती है तो तुम्हारी बुद्धि कहाँ रहती है? वहाँ किसी आकार को ग्रहण नहीं करती। अब यह बताओ कि सुषुप्ति से उठना कैसे पड़ा? सुषुप्ति के समय बुद्धि का अभाव है क्योंकि कोई आकार वहाँ नहीं और सुषुप्ति से तुमको उठाने वाली कोई शक्ति है। उस शक्ति को क्या मानोगे? वह शक्ति बुद्धि की प्रेरक होने से तत्त्व है, बुद्धि तत्त्व नहीं।

Scanned by CamScanner

'चित्तमिति चित्तविदो' किसी ने कहा कि बुद्धि सुषुप्ति में लीन तो हो जाती है लेकिन सुषुप्ति के अन्दर संस्कार बने रहते हैं। वे संस्कार फिर प्रवृत्ति कर देते हैं। चित्त संस्कारों का केन्द्र हो गया। बहुत से संस्कार-वादी हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में भी फ्रायड आदि इसी सिद्धांत को मानते हैं कि चित्त तत्त्व है। मन को conscious-mind, चित्त को unconscious-mind कहते हैं। बच्चा गर्भ में आया तो संस्कार प्रवाह उसमें रहते हैं और इन्हीं संस्कारों के कारण सब क्रियायें करता रहता है। सुषुप्ति काल में भी unconscious mind पड़ा रहता है। आगे फिर वह प्रवृत्ति करा देता है। इसलिये बुद्धि तत्त्व नहीं, संस्कार ही अंतिम तत्त्व है। अब यदि संस्कारों को तत्त्व कहो तो क्या हर एक संस्कार तत्त्व है या सारे संस्कार मिलकर तत्त्व हैं? यदि प्रत्येक संस्कार तत्त्व हो तो बाकी के बेकार हो जायेंगे। यदि सारे मिलकर तत्त्व हैं तो जन्मकाल में तो सारे संस्कार रहेंगे नहीं। धीरे धीरे इकट्ठे होंगे। जो चीज़ उत्पन्न और नाश वाली होती है वह तत्त्व कैसे हो सकती है। आदि सारे दोष इसमें आ जायेंगे।

तब कोई कर्मकाण्डी बोल पड़ा 'धर्माधर्मौ च तद्विदः।' संस्कार अंतिम तत्त्व नहीं। संस्कार पड़ने का कारण पुण्य पाप या धर्म-अधर्म होते हैं। पुण्य कर्म किये हुए हैं तो अच्छे संस्कार पड़ गये, अच्छे काम करता है। पाप कर्म किये हुए होते हैं तो ऐसी योनियों में पहुँच जाता है, जहाँ बुरे संस्कार पड़ते हैं। अब किसको दोष दोगे? पंजाब में किसी के घर पैदा होते हैं तो वहाँ माँ बाप दोनों मांस खाते हैं, दोनों शराब पीते हैं। दादा दादी, नाना नानी, मामा मामी, चाचा चाची आदि सब रिश्तेदार माँस खाते हैं और शराब पीते हैं। अब यहाँ उत्पन्न बच्चा माँस खाता है तो उसके लिये क्या करें? कोई कहेगा कि वह न खाये। न खाये तो संस्कार-परम्परा क्या हुई? और दूसरे के घर में न माँ ने और न बाप ने कभी माँस खाया और शराब पी, दादा दादी आदि किसी भी अन्य रिश्तेदार ने भी कभी माँस और शराब का सेवन नहीं किया। लेकिन उस घर में उत्पन्न बच्चा माँस खाता है, शराब पीता है। अब क्या करोगे? जहाँ इनमें से किसी ने नहीं खाया और बच्चा खा ले तो उसका भी उतना ही पाप मानोगे जितना दूसरे बच्चे का जिसके यहाँ सबने और उस बच्चे ने भी खाया है। माँस खाने से उत्पन्न होने वाला पाप एक जैसा मानोगे या कम बेशी मानोगे? इसलिये धर्म और अधर्म को कारण मानो तो भी नहीं बनता क्योंकि ये सापेक्ष हैं। जैसी जैसी सापेक्षता होती है उसके अनुसार ही धर्म अधर्म का निर्णय करना पड़ता है। जैसे माँस शराब इत्यादि में, वैसे ही सारी वृत्तियों में समझ लेना। किसी देश के अन्दर रुपये में १५ आने आदमी ठीक टैक्स देते हैं और उसमें एक आदमी टैक्स की चोरी करता है। और दूसरे में, जैसे हमारे धन्य भारतवर्ष में, रुपये में पौने सोलह आने आदमी टैक्स की चोरी करते हैं और एक ऐसा है जो टैक्स की चोरी नहीं करता। दोनों के पुण्य पाप की क्या व्यवस्था करोगे? वहाँ टैक्स की चोरी करने वाला लोभ से करता है और यहाँ करने वाला अपने को बनाये रखने के लिये

Scanned by CamScanner

करता है, क्योंकि चोरी वहाँ से चलती है जहाँ से माल खरीदता है। इसलिये धर्म अधर्म को भी अंतिम तत्त्व नहीं कह सकते। धर्म अधर्म देश, काल, कार्य-कारण आदि व्यवस्थाओं के अनुसार सब बदलते रहते हैं। धर्म अधर्म को भी अंतिम तत्त्व नहीं मान सकते।

इससे बचने के लिये कुछ लोग कह देंगे कि वह वहाँ इसलिये पैदा हुआ कि उसके पाप के संस्कार थे, जिसके पुण्य के संस्कार थे वह दूसरी जगह पैदा हुआ। इसलिये पहले के संस्कार के कारण पैदा हुआ। किंतु यह भी नहीं बनता क्योंकि यदि पैदा होने में पहले के धर्म अधर्म ही निमित्त बनते हैं तो हिरण्यकश्यपु के घर प्रह्लाद कैसे पैदा हुआ? यह नहीं कहना कि नारद ने शिक्षा दी, क्योंकि जब प्रह्लाद की आत्मा ने प्रवेश किया तो नारद वहाँ नहीं थे। प्रह्लाद क्यों असुर के गर्भ में प्रवेश करता है? ऐसे ही सब जगह समझना। उग्रसेन के घर कंस पैदा होता है। मत्स्यगंधा के व्यास पैदा होते हैं। भारत सावित्री में एक पूरी लम्बी चौड़ी सूची दी है, 'हरिणीगर्भसंभूतेः' आदि। इसलिये यह भी नहीं कह सकते कि पूर्व संस्कारों के कारण जन्म हुआ। इसीलिये धर्म अधर्म भी तत्त्व नहीं मान सकते।।२५।।

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ।।२६।।

'पञ्चविंशक इत्येके' महाभारत के अन्दर प्राचीन सांख्यवादियों का वर्णन आता है। वे पच्चीस तत्त्व मानते हैं— मूल प्रकृति, महत् तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध पंचतन्मात्रायें, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और पुरुष। वे कहते हैं कि जगत् के अन्दर जो कुछ है वह यही है। पच्चीस ही तत्त्व हैं। बस ये ही सारे जगत् के विस्तार में कारण हैं। वर्तमान सांख्यों से इनका भेद समझ लेना क्योंकि इनकी प्रक्रिया कुछ भिन्न है। वस्तुतः ये तत्त्व भी ठीक नहीं माने जा सकते क्योंकि मोक्षकाल में केवल पुरुष रहेगा या पच्चीसों रहेंगे? वे मानते हैं कि मोक्षकाल में केवल पुरुष रह जायेगा, बाकी पच्चीस नहीं रह जायेंगे। फिर वह तत्त्व कहाँ रहे? महाप्रलय काल के अन्दर केवल मूल प्रकृति रहेगी या बाकी पच्चीसों? केवल मूल प्रकृति रहेगी। जब महाप्रलय में केवल मूल प्रकृति, बाकी नहीं रहे और मोक्ष काल में केवल पुरुष, बाकी नहीं रहे तो ये कैसे तत्त्व हुये? इतना ही नहीं अन्योन्याश्रित होने के कारण ये तत्त्व नहीं हो सकते। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श तब सिद्ध हों जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हों और ज्ञानेन्द्रियाँ तब सिद्ध हों जब रूप रस आदि सामने हों। जहाँ कोई आवाज़ न हो रही हो, वहाँ बैठो तो पता नहीं लग सकता कि कान ठीक है या नहीं। जहाँ कोई शब्द हो रहा होगा, वहीं पता लगेगा कि कान ठीक हैं। इसके लिये डाक्टर

Scanned by CamScanner

भी आवाज़ करके देखते हैं, सुनाई दिया तो ठीक है, नहीं तो ठीक नहीं हैं। बिना विषय के इन्द्रिय की सिद्धि नहीं और बिना इन्द्रियों के विषय की सिद्धि नहीं। टीकाकार ने दोष बताया है कि जब कहते हो तत्त्व पच्चीस हैं तो पच्चीस यह विशेषण किसकी व्यावृत्ति के लिये है? जिसकी व्यावृत्ति के लिये है वह प्रतीत है या नहीं? अगर प्रतीत है तो वह तत्त्वान्तर होगा, तब पच्चीस यह विशेषण ग़लत। और अगर वह प्रतीत नहीं तो विशेषण व्यर्थ क्योंकि उसे व्यावर्त्य कुछ मिलेगा नहीं। इसलिये पच्चीस तत्त्व मानना ठीक नहीं।

जैसे यह उनकी कपोल कल्पना है कि पच्चीस मान लो, ऐसे ही सेश्वर सांख्यवादी हैं जिनका वर्णन भागवत में आता है। कपिल ने देवहूति को सांख्य का उपदेश भागवत में किया है। कपिल अपने यहाँ कई हुए हैं। सगर-पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल अलग हैं, कपिल सूत्रों को लिखने वाले कपिल अलग हैं। सगर-पुत्रों को नष्ट करने वाले कपिल वेदांती थे। निर्वाणी अखाड़े वाले इन्हीं की पूजा करते हैं। भूल से लोग समझते हैं कि देवहूति वाले कपिल की पूजा करते हैं, लेकिन वे दूसरे हैं। इन्होंने छब्बीस तत्त्व कहे। जो पच्चीस तत्त्वों को मानने में दोष हैं, वे तो इसमें हैं ही, ईश्वर एक ज्यादा तत्त्व मानने से और दोष आ गया। ईश्वर पुरुष है या नहीं? यदि नहीं है तो जड है। पुरुष उनके यहाँ चेतन (भोक्ता) है। यदि पुरुष है तो शासक कैसे हो सकता है?

इसी बात को न समझने के कारण द्वैतवादी वैष्णावों में बहुत ने सांख्य की प्रक्रिया ले ली है और इसी प्रक्रिया के कारण ऐसी शंका भी करते हैं कि हम ईश्वर का आनंद लेना चाहते हैं, ईश्वर बनने से क्या? दृष्टांत देते हैं कि चीनी बनने से क्या, चीनी का स्वाद लेना चाहिये। वे एक तरफ तो कहते हैं कि 'सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा की जय हो' और दूसरी तरफ कहते हैं कि वह चीनी की तरह जड है!

गुजरात की तरफ लकुलीश या नकुलीश हुए हैं जिन्होंने पाशुपत-सूत्र बनाये हैं। एक पाशुपत दर्शन, शैव सिद्धान्त, वाले हैं जिनका खण्डन पहले कर आये हैं। नकुलीश पाशुपत धर्म के प्रवर्त्तक हुए, कई जगह उनकी मूर्त्तियाँ भी स्थापित की गई हैं। किसी ज़माने में उनका बड़ा प्रचार था। वे ये इकतीस तत्त्व मानते हैं 'एकत्रिंशक इत्याहुः' इनमें पच्चीस तो वे ही हैं जो सेश्वर सांख्य वालों ने माने; राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया अधिक मानते हैं। पच्चीस वाले दोष तो इनमें भी रहे। तत्त्वों की संख्या जितनी बढ़ाओगे उतने दोष बढ़ते चले जायेंगे। अब यह बताओ क्यों क्लेशों में राग और अविद्या को ही गिना? अस्मिता आदि भी गिनने चाहिये और तब संख्या बढ़ जायेगी।

जो कहते हैं कि नियति (भाग्य या किस्मत) के कारण ही सारी सृष्टि का चक्र चलता है उनसे पूछो नियति का अधिष्ठान कौन रहेगा? ज़ीव रहेगा, यह भी नहीं कह सकते और ईश्वर रहेगा यह भी नहीं कह सकते कारण कि इनमें से किसी में क्यों रहता है— इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। भाग्य पदार्थ रहेगा कहाँ? इसलिये इसे तत्त्व सिद्ध

Scanned by CamScanner

नहीं कर सकते। यदि कहो कि भाग्य धर्म अधर्म से पैदा होता है तो फिर अलग से भाग्य मानने की क्या ज़रूरत है? वस्तुतः नियतिवादी धर्म अधर्म से नियति की उत्पत्ति मानते भी नहीं। इनका सिद्धान्त है कि सृष्टि के आदि में नियत कर दिया गया है। जैसे ईसाई मुसलमान ऐसा ही मानते हैं कि यह नियत हो गया कि एक अंधा और एक राजा पैदा होगा। ईश्वर ने निर्णय कर दिया। वे वस्तुतः किस्मतवादी हैं, कहीं कहीं अपने को बचाने के लिये धर्म अधर्म को कारण बता देते हैं। फिर भी दोष वैसा का वैसा रह जाता है कि ईश्वर नियत करता है तो स्वतंत्र होकर करता है या परतंत्र होकर करता है?

स्वतन्त्र करे तो वैषम्यदोष वाला अतः ईश्वर नहीं और परतंत्र हो तब तो ईश्वर होगा ही कैसे! काल को कारण मानो तो सारे दोष पहले बताये हुए इसमें भी होंगे। कला को कारण मानो तो जो हिस्सों को बाँटने वाली चीज़ है वह ईश्वर से भिन्न है अथवा अभिन्न है? यदि भिन्न है तो कला से ही सृष्टि उत्पन्न हो जायेगी, अलग से ईश्वर को मानने की क्या ज़रूरत। और यदि अभिन्न है तो कला को तत्त्व नहीं मान सकते क्योंकि ईश्वर को भी वे बेचारे तत्त्व मानते ही हैं।

कोई बोल पड़ा 'अनंत इति चापरे' अनंत तत्त्व हैं, जो दीख जाये उसे तत्त्व मानो। दो चार दस पचास का निर्णय करें, ऐसा कुछ नहीं। जिस समय जो प्रतीति हो गया, उसी को तत्त्व मान लो। किंतु प्रतीतिभेद से अंनत तत्त्व मानना नहीं बनेगा। इस समय हमको मूँछ वाला हरिमोहन दिखाई दिया और छह महीने के बाद मूँछ कटा हुआ दिखाई दिया तो दोनों प्रतीतियाँ अलग हैं लेकिन क्या वह हरिमोहन दूसरा और यह दूसरा है? तब प्रत्यभिज्ञा नहीं बनेगी। अतः यह पक्ष भी ठीक नहीं।।२६।।

●

लोकाल्ँलोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैंगाः परापरमथापरे ।।२७।।

किसी ने कहा कि यह सारी तत्त्व मीमांसा तो तुमने कारण की तरफ से विचार करके कही अर्थात् जगत् का कारण जो हो, उसे तत्त्व मानो, इसे लेकर ये सारे विचार किये। ये सब व्यर्थ सिद्ध हुए क्योंकि वाद कभी खतम नहीं होता। इस लिये इनको छोड़कर प्रयोजन की दृष्टि से विचार करो कि सारे संसार का प्रयोजन क्या है? इसी को अंग्रेज़ लोग teleological argument कहते हैं। उन्होंने कहा 'लोकान् लोकविदः' सारे संसार को प्रसन्न करना ही एक मात्र प्रयोजन है, यही तत्त्व है। आधुनिक युग में डैमोक्रेसी वाले, पापुलिस्ट इत्यादि इसी में लगे हुए हैं कि सब को खुश करो, यही तत्त्व है। ये भी विभ्रमी हैं। किंतु 'विद्यते न खलु कश्चिद् उपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः' संसार में कोई उपाय ऐसा नहीं जिससे सारे संसार को खुश कर सको। इसलिये कोई विवेकी कहता है कि 'सर्वथा स्वहितमाचरणीयम्' अपने लिये जो हितकारी चीज़ हो वह कर लेनी चाहिये।

Scanned by CamScanner

सारा संसार कभी खुश होने वाला नहीं है। रामचंद्र जी बेचारे लोकानुरंजन में लगे रहे और उसी के पीछे अपनी घर वाली को भी निकाल दिया, सोचा कि अब लोग खुश हो जायेंगे। नतीजा यह कि आज तक लोग गालियाँ देते हैं कि 'स्त्री के साथ अन्याय किया। एक के कहने से निरपराध स्त्री को घर से निकाल दिया।' कहाँ लोकरंजन हुआ? सारे लोगों के रंजन को मानोगे तो असम्भव दोष आ जायेगा, आज तक कोई नहीं कर सका तो तुम क्या करोगे! मज़दूर का वेतन बढ़ता हो तो मालिक का मुँह चढ़ जाता है, वह दुःखी होता है कि बड़ी गंदी सरकार है, घाटा कराती है। नौकर को कहो कि आठ घण्टे की जगह बारह घण्टे काम करो तो वह गाली देता है कि बड़ी खराब सरकार है, कैपिटलिस्टों की सरकार हो गई है। कोई भी उपाय दोनों को खुश करने का नहीं है। लड़कों से कहो कि नकल करना बन्द हो गया तो वे गाली देते हैं कि सरकार गई बीती है। मध्य प्रदेश वालों ने एक नया नियम बनाया है, शायद लड़कों को खुश करने के लिये, कि अमुक क्लास में यदि इतने लड़के फेल होंगे तो उस क्लास के मास्टर को तन्ख्वाह नहीं मिलेगी। अब बेचारे मास्टर दुःखी, वे सोचेंगे कि एक तो लड़के पढ़ेंगे नहीं उस पर हमारी तन्ख्वाह पर और आपत्ति। इसलिये कोई उपाय नहीं जिससे सबको प्रसन्न कर सको।

इसका परिष्कार कुछ लोगों ने यह कर लिया कि अधिकतर लोगों को प्रसन्न करो। आधुनिक युग में अधिकतर लोग यही कहते हैं। लेकिन अधिक की संख्या भी तो कहीं बनती नहीं। आदमियों और औरतों की संख्या करीब करीब बराबर है। जिस कानून से तुम औरतों को खुश करोगे, उस कानून से आदमी नाराज़ होंगे और जिन कानूनों से आदमियों को खुश करोगे, उन से औरतें नाराज़ होंगी। इसलिये कोई निर्णय कम ज्यादा संख्या का नहीं हो सकता। बच्चों को यदि कहो कि तुम्हें पढ़ने की ज़रूरत नहीं तो देखो कैसे तुरंत खुश हो जाते हैं। लेकिन तब माता-पिता दुःखी हो जायेंगे। यदि कहें कि लड़कों को ज़रूर पढ़ना चाहिये तो माता-पिता सुखी, लड़के दुःखी हो जायेंगे। संख्या का नियमन नहीं हो सकता। सबको सुखी करने के लिये पैसा चाहिये और वह काम करके मिलता है। नेहरू जी बेचारे ब्राह्मण थे, उन्होंने एक प्रयोग किया कि भीख माँग कर गुज़ारा निकालो। पंद्रह साल तक ऐसे चलाया। लेकिन अब वे भीख देने वाले सब नालायक हो गये! उन्होंने देना बन्द कर दिया और काम करने की हमारी आदत हट गई। अब सब शिकायत करते हैं कि 'नेहरू जी ने आदत बिगाड़ दी। देखो, माओ ने चीन में काम कराया तो कैसा अच्छा चलता है।' किन्तु काम करने की बात कहोगे तो मनुष्य को कभी प्रसन्नता नहीं होने वाली है। अतः रंजन का क्या नियमन करोगे? यह पक्ष नहीं बनता क्योंकि असम्भव है।

इतना ही नहीं, लोकों की भिन्न रुचि होती है 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' जिसको तुम सुख समझो, दूसरा भी उसे सुख समझे यह ज़रूरी नहीं। तुम सुखी करने जाओ और वह

Scanned by CamScanner

दुःखी हो जाता है, ऐसा भी होता है। कुछ पुरुष ऐसे होते हैं कि उनको अगर उनकी स्त्रियाँ कोड़ों से पीटें तो खुश होते हैं, नहीं तो प्रसन्न नहीं होते। चैकोस्लोवेकिया में मैसको (Mesco) नाम का एक व्यक्ति हुआ है जो ऐसा मानता है। इसी प्रकार कुछ पुरुष स्त्रियों को पीटें तो वे प्रसन्न होते हैं। कोई पीटे जाने से और कोई पीटने से प्रसन्न होता है। इसमें क्या नियम करोगे? एक को जो अच्छा लगेगा दूसरे को वही खराब लगेगा। अपना निश्चय है कि मीठे का मज़ा तब आये जब मिर्च तेज़ हो। मारवाड़ी सोचता है कि मिर्च खटाई ज़रूर हो। जिसको मीठा खाना है वह देखता है कि मीठे के स्वाद को चलाने के लिये मिर्च खटाई खानी है। जिसे मिर्च खटाई की चीज़ ही खानी है वह तो मीठा थोड़ा सा इसके स्वाद के लिये खायेगा। हमारे दिल्ली-आश्रम के अन्दर आलू परवल का साग बनता है तो अधिकतर महात्मा आलू बाहर निकाल देते हैं क्योंकि उन्हें आलू पसंद नहीं। दूसरी तरफ गृहस्थ से कहते हैं कि 'क्या साग बनायें?' तो वह कहता है कि 'आलू तो ज़रूर बनना चाहिये, चाहे दम आलू बने, दही वाले आलू बनें।' उनसे कहें कि 'आलू जाने दो', तो कहते हैं कि 'आलू तो अच्छी चीज़ है।' उधर उन महात्माओं से कहो कि 'आलू खा लो', तो वे कहते हैं कि 'बड़ा नुक्सान करता है।' दोनों को कैसे प्रसन्न करें? इसलिये एक नियम नहीं कर सकते। सारे संसार की भिन्न भिन्न रुचि होने से निर्णय नहीं हो सकता कि लोक का रंजन कैसे करो।

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है। राजा का एक नौकर था जो राजा की सब बातें मानता था। राजा भी उससे खूब प्रेम करता था। रानी को उसके साथ ईर्ष्या हो गई। यह स्वाभाविक होता है। रानी राजा से उसकी निंदा करती रहे लेकिन राजा कहे कि 'आदमी तो अच्छा है।' वह कहे 'काहे का अच्छा है, सब अपने स्वार्थ के लिये करता है, ऐसे कौन किसी के लिये करता है।' एक दिन राजा ने कहा 'वह ऐसा आदमी है कि मैं अगर उससे कहूँ कि सिर काटकर दे तो दे देगा।' रानी ने कहा 'ये सब कहने की बातें हैं, कोई किसी के लिये सिर नहीं काटता।' वह तो राजा रहा, गुस्से में आ गया और उसको बुलाकर कहा 'तू मुझे अपना सिर काट कर दे।' उसने खटाक काट दिया। अब राजा ने कहा 'एक अच्छा आदमी हाथ से निकल गया!' रानी कहती है 'काहे का अच्छा है, टेढ़ा काटा है।' अब किसी का क्या लोकरंजन करने जाओगे? जिसका रंजन नहीं होना है नहीं ही होना है।

'आश्रमा इति तद्विदः।' दक्ष, बोधायन, आदि धर्मसूत्रकार जिन्हें प्रजापति कहा जाता है, वे कहते हैं कि लोकरंजन तो सम्भव नहीं लेकिन अपने अपने वर्णाश्रम धर्म के अन्दर बंधकर रहो। यह लोकविदों का ही एक प्रकार हुआ। उनका कहना है कि सारे संसार को प्रसन्न तो नहीं कर सकते लेकिन अपना कर्त्तव्य कर्म जैसा बताया गया है, उसे ही करते रहना चाहिये। यही परम तत्त्व है। प्रश्न होता है कि वर्ण और आश्रम दोनों किसमें रहते हैं? आत्मा का तो वर्ण है नहीं, जीव का भी नहीं है। ऐसा नहीं कि ब्राह्मण अगले

Scanned by CamScanner

जन्म में ब्राह्मण ही हो। इसलिये शरीर में रहने वाला ही वर्ण मानना पड़ेगा। शरीर माता पिता से उत्पन्न होता है। यह कैसे निर्णय किया जाये कि निश्चित रूप से मेरे माता पिता का क्या वर्ण है? यह निश्चय करने का कोई उपाय नहीं है। भगवान् ने ऐसा बनाया होता कि ब्राह्मण के एक सींग, क्षत्रिय के दो सींग और वैश्यों के तीन सींग होते तब तो पता लगता। आचार्य कुमारिल भट्ट तो यहाँ तक लिखते हैं कि अनादि काल से आज तक जितनी वंश परम्परा है वह केवल औरत की ईमानदारी पर निर्भर है। और अनादि काल से आज तक हमारे गोत्र में अरबों औरतें हुईं, सारी अच्छी हुईं, यह कौन कह सकता है? कहीं एक सूत्र भी खराब हुआ तो वहीं से वर्णभेद आ गया। यह बात यद्यपि कड़वी है लेकिन विचार करके देखो तो पता लग जाता है। इसलिये वर्ण का निर्णय नहीं कर सकते।

अब कहो कि वर्ण के नहीं तो आश्रम के धर्म पालन करो। आश्रम को तो स्वीकार करते हो, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास। लेकिन यह बताओ कि आश्रम वेश मात्र को कहोगे या आश्रम में किये जाने वाले धर्मों को कहोगे। सामान्य व्यवहार तो वेशमात्र को लेकर है। घर वाली को साथ लेकर घूमते हो, कोट पैण्ट पहनते हो तो गृहस्थ हो, बिना घर वाली के घूमे तो ब्रह्मचारी कह दिया जाता है। कुछ भिन्न प्रकार का वेश धारण करते हो जेसे मूँड़ मुँड़ा लिया, दण्ड पकड़ लिया गेरुआ धारण कर लिया तो संन्यासी हो। आश्रम का वास्तविक व्यवहार देखो तो वेशमात्र को आश्रम मानना पड़ेगा। वह वेशमात्र यदि कोई दूसरा धारण कर ले तो उसमें आश्रमित्व मानोगे या नहीं? शूद्र दण्ड लेकर घूमे तो संन्यासी है या नहीं? यदि वेशमात्र से मानते हो तो उसे भी संन्यासी मानो। अतः वह भी नहीं बनता। एक कड़वी बात और बताते हैं। यहाँ आबू में बहुत से गुजराती लोग आते हैं जो बिना ब्याह के ही दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़कर घूमते हैं। उन्हें गृहस्थ मानें या नहीं? कोट पैण्ट भी पहने होते हैं। इसलिये अगर वेशमात्र को मानें तो वह भी नहीं बनता।

अगर कहो कि आश्रम के धर्म के पालन से मनुष्य को उस आश्रम का मानें, तो मान लो कोई विवाह संस्कार के बिना ही किसी औरत को रखकर गृहस्थी के बताये हुए सारे व्यवहार करता है, वेश धारण नहीं करता, उसे भ्रष्ट मानोगे या अच्छा? केवल वेश से भी आश्रम नहीं बना। वेश रहित कहो तब भी बनता नहीं। सारे धर्म पालन करने के बाद आश्रमित्व या धर्मपालन करने की प्रवृत्तिमात्र में आश्रमित्व मानोगे? यदि सारे धर्मों के पालन के अंत में मानोगे तो असम्भव दोष है। और प्रारंभ में मानोगे तो एक आध धर्म से ही आश्रमित्व सिद्ध हो जाने पर बाकी धर्म व्यर्थ होंगे। इसलिये न वर्ण का आश्रय सम्भव है और न यह सम्भव है कि किसी का क्या आश्रम है यह निर्णय हो।

वेदांत यह सारा व्यवहार, वर्णाश्रम-व्यवस्था, धर्माधर्म, सबको मानता है। लेकिन वह कहता है कि बिना विचारे जब तक अज्ञानी है तब तक करता रहे। जब विचार जागृत

Scanned by CamScanner

होगा तब ये बेकार चीज़ें हैं। इनमें कुछ तत्त्व नहीं। दक्ष, मनु धर्मसूत्रकार आदि ने जो आश्रम तत्त्व माने वे भी विचार से सिद्ध नहीं होते। इतना ही नहीं मरकर जाने के बाद जब वर्णाश्रम बदल जायेगा तो वह तत्त्व कहाँ रहा? हम कहते हैं कि तुम्हारा आश्रम तो देहसमवायी है अतः तत्त्व कैसे? देह तो यहाँ बदल जाता है। आत्मा में, जीवात्मा में वर्णाश्रम दोनों मानना नहीं बनता। इसलिये यह भी विचार-सरणि पर नहीं ठहरता।

'स्त्रीपुंनपुंसकं लैंगाः' कुछ ऐसे हैं जो स्त्री पुरुष और नपुसंक इन लिंगों वाले शब्दों को ही तत्त्व मानते हैं। किंतु यह बनता नहीं क्योंकि कुछ शब्द तीनों लिंगों वाले हैं। इसलिये यह तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो पाता।

'परापरमथापरे' अपरे अर्थात् दूसरे कहते हैं कि पर तत्त्व ब्रह्म को और अपर तत्त्व जगत् को मान लो 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं च।' किंतु जो चीज़ परिमित या सीमित होगी वह ब्रह्म नहीं हो सकती। ब्रह्म तो एक ही हो सकता है। पर और अपर दो ब्रह्म नहीं हो सकते। बहुत से लोग व्यवहार की सिद्धि के लिये ऐसा मान लेते हैं। द्वैताद्वैती ऐसा ही मानते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक संसार में ईश्वर के अधीन बने रहते हैं। लेकिन 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि।' कुछ दूसरा है तो ब्रह्म ही रह नहीं जायेगा। अतः यह पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं है।।२७।।

●

पौराणिकों का ही एक पक्ष और बताते हैं। 'लोका इति लोकविदः' से पौराणिकों का एक मत आया था जिसका खण्डन कर आये हैं। अब एक और मत पौराणिकों का ही बताते हैं—

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ।।२८।।

पहले वाले तो लोकविशेष को ही तत्त्व मानते थे। यहाँ लोकों की सृष्टि आदि करने वाले को तत्त्व मानने वालों का पक्ष कह रहे हैं। अधिकतर वर्तमान पौराणिक इसी परम्परा में है। लोक को तत्त्व मानने वाले तो अब नहीं हैं कहने से चलेगा, लेकिन लोकों की अधिष्ठानता को तत्त्व मानने वाले बहुत हैं। ये मानते हैं 'सृष्टिरिति सृष्टिविदः' सृष्टि करने वाला ब्रह्मा ही वास्तविक तत्त्व है क्योंकि असली चीज़ सृष्टि है। यदि सृष्टि नहीं होगी तो विष्णु स्थिति किस की और शंकर लय किसका करेंगे? इसलिये वे लोग यह मानते हैं कि ब्रह्मा ही तत्त्व है। वर्तमान काल में इनकी संख्या कुछ कम हो गई है फिर भी पुष्कर के अन्दर इसी मत को मानने वाले हैं। 'लय इति च तद्विदः' कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि क्या है, जो सबका संहार करे वही सच्चा होता है। इसलिये उनका कहना है कि रुद्र ही वास्तविक तत्त्व है जो सारी सृष्टि का संहार करने वाला है। तीसरे कहते हैं 'स्थितिरिति स्थितिविदः' यह सृष्टि और संहार कुछ नहीं। सृष्टि तो सबकी अपने अपने

Scanned by CamScanner

कर्मों से हो जाती है और संहार करना तो बुरा सा ही काम है। दूसरे को मारना ठीक नहीं। इसलिये स्थिति रखने वाला, पालन करने वाला विष्णु ही असली तत्त्व है। सृष्टि तो ब्रह्मा को जीवों के अपने कर्मों के अनुसार ही करनी हुई, और संहार करने वाला रुद्र तो बुरा है, कौन चाहता है कि संहार हो? सारे संसार को स्थित रखने वाला विष्णु ही तत्त्व है। इस तरह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में से कोई एक को, कोई दूसरे को और कोई तीसरे को तत्त्व मानता है। यह इस पर निर्भर करता है कि कौन सृष्टि को प्रधान मानता है और कौन स्थिति या लय को प्रधान मानता है।

'सर्वे चेह तु सर्वदा।' इन पौराणिकों में एकदेशी हैं जो कहते हैं कि एक परमेश्वर को मानो जिसे ब्रह्मा विष्णु और रुद्र तीनों मानते हैं। लोग पैदा होते रहते हैं, चीज़ें पैदा होती रहती हैं, गेहूँ, चना इत्यादि पैदा होता रहता है। इसलिये सृष्टि ऐसी नहीं जो ब्रह्मा के कारण ही होती हो। इसी प्रकार हरेक चीज़ बची रहती है तो विष्णु का काम भी मानना पड़ेगा। इसी प्रकार लोग मरते रहते हैं, इसलिये यह काम भी सब समय हो रहा है। अतः ऐसा मानो कि एक शक्ति सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को लेकर तीनों का काम करती है। इसलिये तीनों को मानना चाहिये। घर में बच्चा पैदा हो गया हो तो ब्रह्मा की पूजा, कोई बीमार हो तो विष्णु की पूजा और कोई बहुत बुड्ढा हो गया, साँसें गिन रहा हो, तीन साल से सेवा करके तंग हो रहे हो, तो शंकर की आराधना करो कि इसे हटाओ। बुखार आ जाये तो रुद्र की आराधना करनी पड़े। इसलिये वैद्य लोग प्रायः महामृत्युंजय का जप करते हैं ताकि सब रोगों का नाश हो। विष्णु की उपासना करें और रोग बचे रहें तो उन्हें कौन फीस देगा! इसलिये सब की ज़रूरत है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र तीनों को परमेश्वर मानो।

और बहुत सी चीज़ें जो यहाँ नहीं कही गई हैं, वे सब कल्पनायें भी मान लेना। बहुत से लोग कुलधर्म को ही तत्त्व मानते हैं कि अपने अपने कुल में जो धर्म चला आया है वह मानना चाहिये। बाप दादों की परम्परा मानो, ऐसे भी बहुत से लोग हैं। कहते हैं कि यह तो पता नहीं कि असली चीज़ क्या है, क्या सच्चा है क्या झूठा है, यह पता नहीं। इसलिये 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' बड़े लोगों ने जो किया वही लकीर पीटते जाओ। उसी को तत्त्व मानते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग ग्राम देवताओं को ही प्रधान मान लेते हैं। और भी कुछ लोग राष्ट्र की सेवा को तत्त्व मानते हैं। यह भी एक नया धर्म चला है, कुछ इसी को अपना कर्त्तव्य मानते रहते हैं। और भी कई इसी प्रकार के नये नये चलते रहते हैं। उन सभी अनुक्तों का संग्रह कर लेना।

जो लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र को मानते हैं वे भी बस कल्पनामात्र ही हैं। उत्पत्ति किसकी होती है? असत्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती क्योंकि जो असत्य है, जो नहीं है, उसमें है-धर्म कहाँ से आ जायेगा। और जो सत्य है अर्थात् पहले है तो उसकी उत्पत्ति क्या होनी है! अलात शान्ति प्रकरण में यह विस्तार से समझायेंगे। इसी प्रकार जो है

Scanned by CamScanner

वह नहीं-है जाति का नहीं हो सकता तो विष्णु उसकी रक्षा क्या करेगा? जो है जाति का है, वह है ही, विष्णु की ज़रूरत क्या? जो नहीं है वह नहीं-है जाति का पहले ही है, फिर रुद्र क्या करेगा, किसका संहार करेगा? ब्रह्मा का काम असम्भव को सम्भव करना, यह कभी हो नहीं सकता। रुद्र का काम मान रखा है कि जो है जाति का है उसे नहीं-है जाति का बना दे। विष्णु का काम उसे है जाति का बनाये रखना है। ईंसलिये ये सब 'तदपि कल्पनामात्रमेव' केवल कल्पना हैं। सब लोग बेकार की कल्पना करते रहते हैं। जब इनमें से प्रत्येक ही नहीं तो सबको मिलाकर क्या बन जाना है। कुल धर्म, ग्रामदेवता आदि सब अलग अलग होते चले जाते हैं। दक्षिण भारत में मामा की लड़की से ब्याह न हो तो झगड़ा हो जाये कि 'मेरी लड़की में तुमने क्या कमीं देखी जो इधर उधर टक्कर मारने जा रहे हो।' और अपने यहाँ मामा की लड़की से शादी हो जाये तो रोना गाना चालू हो जाये कि 'बहन से शादी करने लग गये, कैसा खराब ज़माना आ गया।' कुल धर्म भी अलग अलग हैं, ग्राम देवता भी अलग अलग हैं, एक नहीं। इसलिये ये सब कुछ तत्त्व नहीं बनते।

बीसवें से यहाँ तक सब श्लोकों का भगवान् भाष्यकारों ने इकट्ठा अर्थ कर दिया। प्राण सबसे पहले था और 'स्थितिरिति स्थितिविदः' सबसे अंतिम था। प्राण से तो प्राज्ञ बीज़ात्मा ले लेना जो जगत्-कारण है। प्राण हैं तो बाकी जितनी कल्पनायें हैं वे सब बैठे बैठे करते रहो। 'प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा, तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः।' कल्पना तभी तक है जब तक प्राण चलते रहें। प्राण बन्द हुए तो सबकी छुट्टी हुई। प्राण रहते ही टक्कर मारते रहोगे कि शायद यह कारण हो, शायद यह कारण हो। 'अन्ये सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः।' और भी जितनी कल्पनायें करनी हैं कर लो। पुराणों में, महाभारत में तरह तरह की कल्पनायें आती हैं। विदेशियों की भी अपनी अपनी सबकी कल्पनायें चलती रहेंगी। हरेक धर्म वाले की, हरेक मत वाले की अलग अलग कल्पनायें हैं। अंत में हर आदमी की भी अपनी कुछ न कुछ कल्पना होती है। दो आदमी मीमांसा करने बैठेंगे तो हरेक की अपनी अपनी कल्पना है। सब प्राणों से परिकल्पित है। भूत, भविष्य, वर्तमान, अफ्रीका के हब्शियों तक की जो कहीं भी कल्पनायें हैं, वे सब ले लेना।

अनुक्त अर्थात् यहाँ जिनका नाम नहीं लिया है वे भी आ जायें तो घबराना नहीं। भैरव, मराल, मरियम्मा, शीतला, अफ्रीका में टोटम्स, इत्यादि जगह जगह नई नई कल्पनायें मिलती हैं। भूत भविष्य वर्तमान सबको ले लो। हम ऐसे लोगों को जानते हैं जो फाउण्टेन पेन को देवता मानते हैं! एक फाउण्टेन से लिखा तो पास हो गये, उसे बड़ा सम्भाल कर रखते हैं। चाहे वह सस्ता सा ही है। जब पूछते हैं तो कहते हैं कि इससे जब परीक्षा दी तो बी. एस. सी. आनर्स में गोल्ड मैडल मिला था। लिखा तो तुम्हारी बुद्धि ने, यह पेन किसी गधे को दे दें तो क्या वह भी इसी तरह अव्वल आ

Scanned by CamScanner

जायेगा? पढ़े लिखे मूर्ख भी देखने में आते हैं। ऐसे ही अनेक चीज़ों की कल्पना करते रहते हैं।

ये कैसी कल्पनायें हैं? जैसे रस्सी में सर्प की कल्पना ऐसे ही अपने अखण्ड आत्मतत्त्व में ये कल्पनायें चलती रहती हैं। यहाँ याद रखने लायक बात यह है कि सब कल्पनाओं से रहित जो आत्मा है उसमें आत्मस्वरूप का अनिश्चय, अर्थात् जो अपना आत्मा है वही ब्रह्म है ऐसा निश्चय न होना सब कल्पनाओं का कारण है। जैसे रस्सी है ऐसा निश्चय न होना ही सर्प आदि सब कल्पनाओं को कराता रहता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप का जो अनिश्चय है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है, इस अविद्या से ही तरह तरह की कल्पनायें करता रहता है। तात्पर्य तो यह है। प्राण आदि श्लोकों के द्वारा बताये गये प्रत्येक पदार्थ का व्याख्यान करने में बहुत अल्प प्रयोजन है। थोड़ा सा प्रयोजन यह है कि इनको मानने वाले हैं, उनको विरुद्ध युक्तियाँ देनेसे उन्हें सच्ची बात जरा जम जायेगी, बस इतना ही प्रयोजन है। भगवान् गौडपादाचार्य ने इसलिये कह दिया कि उनके मन में यह शंका न रह जाये कि हमारे शास्त्र में बताया हुआ सच्चा होगा, दूसरों के शास्त्रों में बताया हुआ कम सच्चा होगा।

बहुत बार आदमी को यह लग जाता है। जैसे मान लो सर्वकर्मसंन्यास में कर्म का मतलब हुआ कर्त्तव्य बुद्धि से जो किया जाये। संन्यासी को शिखा सूत्र का त्याग करवाया गया। अब वैदिक कर्म तो वह नहीं कर सकता, कर्म करने की इच्छा बनी हुई है, इसलिये उसने सोचा कि वैदिक तो छोड़े, पौराणिक ही करो और पौराणिक देवताओं की पूजा करने लग जाता है! कहता है 'वैदिक कर्मों का निषेध किया है, इनका निषेध तो नहीं है।' यज्ञ यागादि का निषेध किया कि ये सब न करो, वेदांत-विचार करो। उसने सोचा कि शिखासूत्र के बिना अग्निहोत्र आदि तो नहीं हो सकते, वे नहीं तो कम से कम तांत्रिक ही करो! क्योंकि करने की इच्छा नहीं जाती। इसी प्रकार जपनिष्ठा को छोड़ना है तो वैदिक मंत्रो के जप को छोड़कर लौकिक मंत्रों के जप में, वैदिक तप को छोड़कर लौकिक तपों को करने लग गया क्योंकि करने की इच्छा नहीं छूटती। एक जगह से इच्छा को दबाओ तो दूसरी जगह हो जाती है क्योंकि हृदय से सर्वकर्मसंन्यासी नहीं हुआ। फिर लौकिक कर्मों में— जनता की, बीमारों की, सेवा हो जाये तो इसमें क्या हर्ज़ा है? एक तरफ से दबाओ तो दूसरी तरफ कर्म की कामना नहीं छूटती। इसलिये असली संन्यास नहीं हो पाता।

यह क्रम मनुष्य के अन्दर सब जगह चलता रहता है। स्वर्ग आदि पदार्थों की स्थायिता का निषेध किया तो फिर पौराणिक साकेत लोक, गो लोक इत्यादि की कल्पना करने लग जायेंगे कि मरकर वहीं जायेंगे। स्वर्ग को तो हेय कह दिया, वहाँ जाकर वापिस आना पड़ता है। 'वापिस आना पड़ेगा' यह कहने वाला ही थोड़ी देर बाद कहेगा कि 'वैकुण्ठ लोक में नारायण के साथ बैठकर बड़ा आनंद आता है।' अरे वही तो स्वर्ग लोक है,

Scanned by CamScanner

उसका नाम बदलकर तुमने वैकुण्ठ लोक कर दिया। प्रायः यही होता है कि करने की इच्छा अंदर से नहीं गई हो तो दूसरे टण्टे पकड़ लेता है। सोचता है कि इसका निषेध तो नहीं किया। इसलिये प्रत्येक मत के खण्डन से एक एक व्यक्ति को तो लाभ हो जायेगा। जो उसने मान रखा है उसके निषेध की युक्ति दोगे तो उसके लिये काम करेगी, लेकिन वह युक्ति सबके काम की नहीं रहेगी। एक एक का निषेध अलग अलग युक्ति से करोगे तब तो अनन्त युक्तियाँ देते रहना पड़ेगा। इसीलिये भगवान् भाष्यकारों ने यह उपाय बता दिया कि एक ही हथौड़े से सबको मार देंगे। जहाँ जिसका निश्चय हो, वहाँ उसे ठोक देना। भेदरहित आत्मा के अज्ञान से ही सब विकल्पनायें हैं यह सब में समानता हो गयी। एक आत्मा की तत्त्वता सिद्ध करने से बाकी सब उक्त-अनुक्त कल्पनायें अपने आप अतत्त्व सिद्ध हो जायेंगी।।२८।।

●

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ।।२९।।

जिसे भी आप्त मानते हो उसने जिस पदार्थ को कह दिया 'यही तत्त्व है', उसे ही तत्त्व मान लेते हो, वही तत्त्व लगने लगता है। वहाँ निष्ठा हो जाती है और अन्य तत्त्वों के विचार में भी प्रवृत्ति हो नहीं पाती। यही माने हुए तत्त्व का तुम्हें बचाना है। उसी तत्त्व में आग्रह हो जाता है।

सच्ची बात तो यह है कि हम वेदांती सीधे कहते हैं कि तुम्हारे अन्दर रहने वाला आत्मा ही सत्य है, इसको पकड़ो, यही तत्त्व है। काम तो उन सारी कल्पनाओं में भी वह आत्मा ही करता है। श्रद्धा तुम करते हो, आगे का काम तो श्रद्धा करती है। लेकिन सभी श्रद्धेयों का असली रूप तुम्हारा आत्मा है। तुमने जिस दण्डे को पकड़ा, उसी पर श्रद्धा कर ली तो समझते हो कि दण्डे ने फल दिया। फल तो श्रद्धा ने दिया और श्रद्धा आत्मा में रहेगी। वेदांती कहता है कि बाह्य इतने दण्डे पकड़े, सीधे अपनी आत्मा पर ही श्रद्धा करो। आत्मा पर पूर्ण श्रद्धा हो गई तो तुम सारे संसार के अधिपति हो। काम सब तुमसे ही होना है और तुम दुसरों को पकड़े बैठे हो! यही बात है, और कुछ नहीं।

जितने भी लौकिक और शास्त्रीय लोग हैं वे क्या करते हैं? जिस भाव को अर्थात् जिस पदार्थ को उपदेष्टा दिखा देता है कि 'यह तत्त्व है', उसी को पकड़ लेते हैं। वैष्णव होगा तो समझेगा कि विष्णु से ही सब होता है। बहुतों को संतोषी माई से भी फल मिलता है। लोग पूछते हैं 'किस पुराण में लिखा है?' हम कहते हैं 'लिखा तो किसी पुराण में नहीं गया, आगे कोई विद्वान् लिखेगा तो बता देंगे।' ऐसे ही बहुत से रजनीश को भगवान्, बहुत से लेखराज को भगवान् ब्रह्मा मानते हैं। यहीं रास्ते में घूमने जाओ तो दो तीन पत्थरों पर लाल रंग लगा हुआ है, बहुत से गाँव वालों का काम उसी से बन जाता

Scanned by CamScanner

है। तभी तो उसपर फूल चढ़ाते हैं, ऐसे ही कौन चढ़ाता है। इसलिये जिस भाव को गुरु ने बता दिया— वह चाहे जो हो, लाल पत्थर हो, लेखराज ब्रह्मा, रजनीश, साई बाबा, जो हो, जिसने जो पकड़ा दिया— उस भाव को ही वह समझता है कि यह रक्षक है। यह दृढ भावना हो जाती है।

'तम्' वह जो द्रष्टा है, साधना करने वाला है उसकी 'सः' अर्थात् जो भावित है, जिस पदार्थ को उसने तत्त्व समझ लिया है वह रक्षा करता है। इसलिये वेदांती कभी किसी की कहीं से श्रद्धा नहीं हटाता क्योंकि वह जानता है कि फल तो श्रद्धा को देना है। अगर इसको इसमें श्रद्धा है तो इसको इसमें से फल मिलता रहेगा। फिर यह कहना कि 'यह नहीं हमारा वाला माल अच्छा है, हमारे देवता को पकड़ो', बेकार है। इसलिये गोला देवता दे तो उसे मानते रहो।

यह तो वेदांत की बात है, तुम्हारे सामाजिक धर्मवाद की बात नहीं है। वेदांत सिद्धान्त है। समाज तो स्वार्थ को सम्भाल कर चलना है। जैसे देशभक्ति के सिद्धान्त से पाकिस्तान जब तुम्हारे ऊपर चढ़ाई करता है तो ठीक ही करता है। तुम जब अपने राष्ट्र को बढ़ाकर सिक्किम को लेते हो तो वे बढ़ाकर काश्मीर को क्यों न लें? सिद्धान्ततः तो ऐसा कहेंगे। व्यवहारतः ऐसा कहेंगे तो जिस समाज के अंग हो वह समाज जेल में बन्द कर देगा। इसलिये व्यवहारतः तो कहना होगा कि पाकिस्तानी गलत हैं, उन्हें हराना चाहिये। अगले जन्म में पाकिस्तान में पैदा हो जायेंगे तो यही बात भारत के लिये देशभक्ति के सिद्धान्त से कहनी पड़ेगी। यह कोई नियम तो है नहीं कि अगले जन्म में भारतीय ही पैदा हो। लेकिन सिद्धान्त यही है 'यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।' मुहम्मद साहब ने अल्लाह का दण्डा पकड़ा दिया तो, रामानुज ने विष्णु का दण्डा पकड़ा दिया तो, उसे पकड़े बैठे हैं। वास्तविक तो आत्मनिष्ठ श्रद्धा ही सचमुच फल देती है।

सिद्धान्त समझने से फ़ायदा यह है कि जो सिद्धान्त नहीं समझता उसमें कभी कभी नास्तिकता आ जाती है। वह यह सोचता है कि विश्वनाथ की, विष्णु की इतनी पूजा की, लेकिन ये देवता तो कमजोर निकले। सिद्धान्त जानने वाला जानता है कि श्रद्धा फल देती है। तोड़ने वालों के लिये वह पत्थर है, हमारी श्रद्धा है इसलिये हमारे लिये देवता है। मुसलमान लोग भी ऐसा मानते हैं कि उनके मक्के के ऊपर से यदि कोई हवाई जहाज़ निकल जाये तो मक्का भ्रष्ट हो जाता है। अपना एक हिन्दू लड़का जेद्दा गया हुआ था। मक्का जेद्दा से तीस मील होगा। हमने उससे पूछा कि 'मक्का गया?' तो वह कहने लगा कि 'जाने की क्या संभावना? अगर कोई वहाँ पकड़ा जाये तो वे लोग उसके टुकड़े टुकड़े कर देते हैं।' उन लोगों ने मक्का के चारों तरफ तोपें लगा रखी हैं, कानून बना रखा है कि ऊपर से कोई न निकले। कोई जहाज़ ऊपर से निकले तो गिरा देते हैं। आगे उनसे कोई पूछे कि कोई चील या कौआ ऊपर से उड़कर तुम्हारे मक्का पर टट्टी कर देगा तब क्या करोगे, उसका तुम्हारा खुदा क्या करेगा? लेकिन यह उनका अपना विश्वास

Scanned by CamScanner

हुआ। सिद्धान्त तो यही है कि श्रद्धा करो तो फल है नहीं तो कुछ नहीं। इसलिये सिद्धान्त रूप से वेदांती कभी किसी की निष्ठा को हटाने की बात नहीं करता क्योंकि जानता है कि फल तो एकमात्र आत्मतत्त्व को देना है। तुमने एक श्रद्धा हटाई तो दूसरी श्रद्धा पैदा हो यह नियम तो है नहीं, और यदि दूसरी पैदा नहीं कर पाये तो 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' वाली बात हो जायेगी।

प्रायः ऐसा होता है। एक कार्य कर रहे हैं, दूसरे ने श्रद्धा हटाई कि हमारे हनुमान् जी को मानो। वह वहाँ गया और उसे फल मिल गया। अगली बार फिर संदेह हुआ कि 'पहले वाले की पूजा करें या हनुमान् जी की करें?' संदेह से किया तो हनुमान् जी ने फल नहीं दिया। फिर और रोग बढा कि पहले वाले को नहीं माना तो शायद इसलिये बदला निकाल रहे हैं। अपने राग-द्वेष से देवताओं को भी वैसा ही मानते हैं। इसलिये दोनों की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार धीरे धीरे लम्बी सूची बनती जायेगी, कोई ठिकाना नहीं। हरेक कहेगा कि मेरा देवता ठीक है उसे मानो तो फल होगा। यह जो अभिनिवेश है कि 'यह मुझे फल देगा' वह श्रद्धा ही उसको फल देती है। जिसको जिसमें श्रद्धा है, वहाँ ही उसको फल मिलेगा। गीता में भी इसीलिये भगवान् ने कहा 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्' अज्ञानी को बुद्धि-भेद न दिलाओ, जो जैसा पकड़े बैठा है उसे वैसा पकड़े बैठे रहने देना चाहिये।

किंतु यह मन में याद रखने की बात है, इससे खुद को शांति रहेगी। कभी कभी हमको फार्म भरना पड़ता है तो उसमें लिखा रहता है कि अपनी राष्ट्रीयता बताओ। अब संन्यासी की क्या राष्ट्रीयता होगी? यदि यह कहें तो राशनकार्ड ही नहीं बनेगा। इसलिये व्यवहार भ्रमसिद्ध होने से वहाँ भारत लिखना पड़ता है। ऐसे ही वहाँ जाति भी लिखनी पड़ती है। संन्यासी की क्या जाति लिखें? कहते हैं संन्यासी ही लिख दो। उन मूर्खों से कहो कि जाति तो जन्म से होती है, जन्म से संन्यासी तो स्वयं को गोसाई लोग मानते हैं, हम नहीं। लेकिन जैसे अपने को संन्यासी जाति वाला भी लिखना पड़ता है, भारतीय लिखना पड़ता है, ऐसे ही मान लेना चाहिये कि अमुक मान्यतायें जायज़ कोटि में और बाकी नाजायज़ कोटि में हैं। व्यवहार में तो जैसा चलता है वैसा ही चलाते रहना चाहिये। सिद्धान्त हृदय में रखना चाहिये। कहोगे कि ऐसा सिद्धान्त किस काम का जिसका कोई उपयोग नहीं? तो समझ लो, उपयोग है। पहले तो तुम खुद भटकोगे नहीं। बचपन से या अब तक सीखकर जिन पदार्थों में आदर वाले हो चुके उनके प्रति बगावत करने को तैयार नहीं होगे। उन्हीं को अपने कल्याण का उपाय बना लोगे। दूसरी बात यह कि जब किसी अन्य को समझाओगे तो उसकी इन उपाधिसम्बन्धी मान्यताओं के पीछे नहीं पड़ोगे। उसकी जहाँ श्रद्धा है उसी से उसे तत्त्व की ओर ले जा सकोगे। नहीं तो बेकार के झगड़े चलते रहते हैं। लोगों को दीक्षित करते हैं लेकिन कोई सच्चा फल हो नहीं पाता। ज्यादा क्या बतायें? सच्ची बात यही है कि आत्मा से अतिरिक्त कोई सच्चा फलदाता नहीं है एवं श्रद्धा ही हमें उसका अधिकारी बनाती है। श्रद्धा वेद आदि सत्य शास्त्रों में होगी

Scanned by CamScanner

तो सत्य ब्रह्म की प्राप्ति भी हो जायगी। यदि असत्य शास्त्रों में होगी तो असत्य मायामय फल मिलेंगे। यदि दुष्ट शास्त्रों में होगी तो दुष्ट फल मिलेंगे। गीता में भगवान् ने तीनों गुणों की श्रद्धा का वर्णन किया है। सत्य शास्त्र का निर्णय प्रमाणों के आधार पर ही करना पड़ता है। गौडपादाचार्य इसीलिये सन्मार्गगों को अलग करके बताते हैं। समझ लेना इसी प्रयोजन के लिये है।

गौडपादों ने भाव शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि इसमें भी कई टण्टे हैं; कोई कहता है कि वात्सल्य भाव से करो तो भगवान् खुश होंगे, कोई कहता है दास्य भाव से करो तो फल होता है। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि बिना मधुर भाव की भक्ति के काम नहीं बनता। अपने को स्त्री और परमेश्वर को पुरुष समझो तब काम होगा। वे माधुर्य भक्ति को ही मानते हैं। कोई सख्य-भक्ति को प्रधान मानता है। ईसाई इत्यादियों में इसकी ही प्रधानता है। वे मानते हैं कि परमेश्वर की बनाई हुई सृष्टि में जो काम तुम्हारे जिम्में छोड़ा गया उसे करने में लग जाना चाहिये। जैसे मित्र एक मित्र का काम पूरा करने में सहयोग करता है ऐसे ही तुम परमेश्वर के काम में सहयोग करो। जब सारे ईसाई बन जायेंगे तब परमेश्वर का राज्य आ जायेगा। इसलिये वे सबको ईसाई बनाते फिरते हैं चाहे घूस देकर बनायें! वे उस ईश्वर का काम कर रहे हैं। ऐसे ही परमेश्वर चाहता है कि कोई रोगी न हो, तो अस्पताल बनाओ। लोगों में शिक्षा की कमी हो तो स्कूल खोलो आदि अलग अलग भाव इसके अन्दर हैं। योगी इत्यादि अपने शान्त भाव को ही तत्त्व मानते हैं। एकांत में बैठकर मन को शांत करके भगवान् के शांत भाव की उपासना ही प्रधान है। ऐसे सब भावों का संग्रह कर लेना। केवल देवताओं को मानकर काम नहीं बनता, इसलिये भावों को और मानते हैं। जिसका आचार्य या गुरु जिसको जो समझा दे, वह उसमें लग जाये।

भगवान् भाष्यकारों ने ठीक लिख दिया 'आचार्योऽन्यो वा'। पुराने ज़माने में उपदेश देने वाले को गुरु मानते थे। आजकल के जे. कृष्णमूर्त्ति आदि पुराने हिसाब से तो गुरु माने जायेंगे। लेकिन वे स्वयं कहते हैं कि 'कोई किसी का गुरु नहीं होता है। हम जो बात कह रहे हैं वह ठीक है, माननी चाहिये।' पहले कहा 'कोई किसी का गुरु नहीं' और फिर कहा कि 'बात मेरी मानते रहना।' जिसकी बात मानी जाये वही तो गुरु हुआ। नहीं तो क्यों बात मानें? तू मेरा बाप नहीं, माँ नहीं, फिर तेरे में कौन सी विशेषता है जो तेरी बात मानें? वह तो तभी हो सकता है जब गुरु मानें। लेकिन वे कहते हैं कि गुरु मत मानो। प्राचीन काल में भी ऐसे कुछ रहे होंगे इसलिये कहा 'अन्यो वा' कोई दूसरा जिसे तुम आप्त पुरुष मानो, भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा से रहित होकर बोल रहा है ऐसा मानते हो, वह जो बताये उसी को श्रद्धास्पद समझ लेते हो। यहाँ ईमानदारी की बात हो रही है। जिसने जिस चीज़ का सहारा लेकर उस तत्त्व को पाया है वह उसे ही परमार्थ मानता है क्योंकि वह विचारक नहीं है, अत: यह रहस्य भी नहीं समझेगा। और उसी चीज़ से शक्ति निकलती है यह मानकर दूसरों से कहेगा 'इसी को पकड़ना।'

Scanned by CamScanner

रमण महर्षि एक दिन अपना ही पैर दबा रहे थे। हम लोगों ने कहा 'हम दबा देते हैं, आप छोड़ दो।' कहने लगे 'नहीं, ऐसा नहीं।' वे कुछ बीमार चल रहे थे। उन्होंने कहा 'सब लोग कहते हैं कि मेरे पैर को हाथ लगाने से उनकी बीमारियाँ ठीक हो जाती हैं तो मैंने सोचा कि मैं भी हाथ लगाकर देख लूँ, सब ठीक होते हैं तो शायद मैं भी हो जाऊँगा।' एक बार एक मरे हुए लड़के की माँ आकर उनके आगे रोने लगी और कहा कि 'आप चलो तो वह जी जायेगा।' बहुत रोई गाई तो महर्षि उठकर चल दिये। लोगों ने कहा भी कि बिना मतलब की मेहनत क्यों करते हैं। लेकिन गये, हाथ लगाया। उसे कहाँ जीना था! लोगों ने पूछा कि 'काहे के लिये यह सब किया?' कहने लगे 'क्या पता किसकी श्रद्धा कहाँ काम करे? उसकी श्रद्धा है तो शायद जी जाये, हम काहे को मना करें? श्रद्धा से नहीं हुआ तो नहीं हुआ, हम घूम आये।' इसलिये विवेकी तो जानता है कि श्रद्धा से ही फल होगा, श्रद्धाप्रतिकूल फल नहीं है। यह इसपर निर्भर है कि हमारे में कितनी श्रद्धा है। दूसरे अविवेकी इसे नहीं जानते हैं, यही फ़रक है।

इसलिये कहा कि जिसको तुमने आप्त समझा कि यह भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा से रहित है, उसने जैसी ध्यान धारणा की जिससे उसे फल मिला, उसमें ही उसे विश्वास है, दूसरी और कोई साधना उसने की नहीं है; जब उसके पास जाओगे तो वह कहेगा 'यही करोगे तो फल मिलेगा।' वह यह नहीं जानता कि इसकी जितनी श्रद्धा होगी, उतना ही फल मिलेगा।'मेरी श्रद्धा पूरी थी इसलिये फल मिल गया,' इस बात को वह नहीं समझता; वह उपदेश करेगा कि यही वास्तविकता है, इससे परे कुछ नहीं। जो साधक है, वह उस पदार्थ को ही अपनी आत्मा से एक करके देखेगा कि यह मेरा है या यह मैं ही हूँ। दोनों प्रकार की उपासना होती है। अहंग्रहोपासना करने वाला तो 'मैं विष्णु, मैं रुद्र,' ऐसी भावना से करेगा। भेदेन उपासक, 'मैं रुद्र का, मैं विष्णु का हूँ' ऐसी भावना से उपासना करेगा। जैसा बताया वैसा ही पकड़ लेगा।

जो उसको दिखाया हुआ भाव है वह तद्रूप होकर उसकी रक्षा कर लेता है। रक्षा तो एकमात्र आत्मा ही करने वाला है लेकिन जिस भाव में तत्त्वबुद्धि है वही रक्षा करता उपलब्ध हो जाता है। जो जिसकी साधना कर रहा है, उसके साथ उस तत्त्व की एकता हो जाती है क्योंकि उसे हृदय में श्रद्धा से बैठा दिया है। यों साधक पुरुष से तादात्म्य वाला हुआ जो रूप है उसी से फल होगा।

एक आदमी जंगल में जा रहा था। उसके ऊपर शेर ने आक्रमण किया तो पहले उसने कहा 'हे भगवान्!' भगवान् झट वैकुण्ठ लोक में उठकर खड़े हो गये और फिर वापिस बैठ गये। लक्ष्मी ने पूछा 'अकस्मात् उठकर बैठ क्यों गये?' भगवान् ने कहा 'एक भक्त ने याद किया था कि शेर से मेरी रक्षा करो। फिर उसने एक पत्थर उठा लिया। जब उसने पत्थर उठा लिया तो फिर उसकी मुझ पर श्रद्धा नहीं रही। मैंने सोचा कि अब उसने पत्थर ही उठा लिया तो वह पत्थर ही फल देगा, मेरी क्या जरूरत है?' इसके

Scanned by CamScanner

द्वारा यह बताया कि जब श्रद्धा हो जायेगी तो दूसरी जगह से वृत्ति निरुद्ध हो जायेगी। आनन्दगिरि स्वामी यहाँ बड़ा सुन्दर लिखते हैं कि श्रद्धेयतत्त्व की रक्षा का प्रकार क्या है— 'साक्षादसाधारणरूपत्वेन तत्रैव निष्ठामापाद्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्तिमुपासकस्य निवारयति'। जहाँ श्रद्धा है उससे अन्य की ओर कभी उन्मुख न हो, यही साधक की रक्षा है। तब वृत्ति में जो एकाग्रता आयेगी बस वही फल देती है। जिसको पूर्ण रूप से वहाँ भाव बन गया उसका काम हो गया। एकाग्रता से आत्मा के साथ एकता हो जाने के कारण उसका काम बन गया। जो इस प्रकार नहीं हो पाया और श्रद्धामें कमी रह गयी तो काम नहीं होता।

एक मण्डलेश्वर मण्डली लेकर गये। दो तीन दिन तक किसी ने कुछ नहीं पूछा। मण्डलेश्वर ने पूछा 'किसी के पास कुछ पैसा तो नहीं है?' एक महात्मा ने कहा 'मेरे पास चवन्नी है।' तब उन्होंने कहा 'बस यही भिक्षा में रुकावट डाल रही है। जब तक चवन्नी का भरोसा है तो कौन रोटी खिलायेगा? इसीलिये भिक्षा नहीं मिली।' जब तक किसी भी अन्य चीज के ऊपर श्रद्धा रहेगी तब तक रक्षण नहीं होगा। जिस किसी चीज पर तुम्हारी श्रद्धा की पूर्णता हो गई, वहाँ आत्मा के साथ एकता हो जाने से बाकी सब वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायेंगी और काम बन जायेगा। अन्य भाव से साधक की निवृत्ति होकर अनन्य भाव होना ही फल देता है। आजकल लोगों की वृत्ति नोटों में है तो उसी में उन्हें यदि ब्रह्म का उपदेश दो तो जल्दी ज्ञान हो जाये! उसी में वृत्ति एकाग्र रहती है। उसी को सामने करके उपासना करो तो वही फल देगा।

मूल के पद 'तद्ग्रहः' का अर्थ किया 'तदभिनिवेशः' अभिनिवेश ही फल देगा अर्थात् 'यही तत्व है' ऐसा जो निश्चय है वही फल दे देगा। जिसने जिसका निश्चय या अभिनिवेश किया है, वही उसका रक्षण करता है। विष्णु पुराण आदि में शैवों की निंदा की गई। वहाँ भाव यह है कि जिसका जिसमें जैसा भाव है उसको उसी की प्रशंसा सुनने को मिले तो उसकी वृत्ति स्थिर हो पायेगी, दूसरों की प्रशंसा सुनने से नहीं होगी। यह लाभ एकदेववाद के सिद्धांत में है। यहाँ व्यावहारिक दृष्टि बताते हैं, सैद्धान्तिक दृष्टि पहले बता दी। मुसलमानों को निश्चय है कि अल्लाह एक है। इसलिये कोई बात आई तो सारे उसी से प्रार्थना करेंगे। इसी प्रकार ईसाई गोड की और यहूदी जहोवा की प्रार्थना करेंगे। तुलनात्मक दृष्टि से वैष्णवों के घरों में जितना धर्म-पालन होता है उतना स्मार्तों में नहीं होता। उसका कारण यह है कि हिन्दुओं में मुसलमान आदि जितनी कठोरता तो नहीं है लेकिन वैष्णवों में अपेक्षाकृत फिर भी कुछ कठोरता है। इसलिये वैष्णवोंके मन में झट आता है कि भगवान् विष्णु या भगवान् कृष्ण की उपासना करें। तभी उनकी निष्ठा दृढ रहती है। चूँकि बचपन से सुना है, इसलिये बाकी सब चाहे देवता हों, लेकिन कृष्ण सबमें प्रधान हैं। कृष्ण पैदा हुए तो शंकर जी भी ललचाते हुए आये थे, ऐसे भजन भी बना रखे हैं। उनकी ऐसी निष्ठा है कि भगवान् कृष्ण के दर्शन करने को शिव भी

Scanned by CamScanner

तरसते हैं। अपने स्मार्तों में तो शुरू से ही कहते हैं कि सभी देवता ठीक हैं। यह सिद्धान्त तो किसी की ही समझ में आयेगा, लेकिन इससे अधिकतर लोग तो डाँवाडोल होते रहते हैं। वास्तु का अनुष्ठान भी करा दो, नवग्रह का अनुष्ठान भी करा दो, शिव का अभिषेक भी करा दो, गोपाल-सहस्रनाम का पाठ या भागवत का पाठ भी रखवा दो, इसलिये निष्ठा नहीं बन पाती और मन हमेशा इधर उधर डोलता रहता है। सिद्धान्त तो किसी-किसी की समझ में आयेगा। एक ही भाव को पकड़ो तो जल्दी दृढ हो जाता है।

आजकल संतोषी माता इत्यादि का प्रचार क्यों बढ़ता है? क्योंकि नई आई है; बाकी देवता की पूजा करो, फल नहीं दिया तो इसकी करके देख लो। कहानियाँ भी बन जाती हैं कि अमुक अमुक का काम हो गया। इससे मन में श्रद्धा बन जाती है। पहली बार श्रद्धा होने से वृत्ति एकाग्र होती है और उस समय फल भी मिल जाता है। सबको सब परिस्थितियों में एक जैसी श्रद्धा नहीं होगी। दस बीस साल पुराने होते हैं तो हिसाब लगने लगता है कि किस किस को फल नहीं मिला। तब श्रद्धा हिलने लगती है। फिर कोई नया देवता, भगवान् रजनीश आदि आ जाते हैं। उसकी अच्छाई सुनने में आती है तो निष्ठा बन जाती है। काम तो श्रद्धा को करना है। थोड़े दिन में वहाँ भी ढीली पड़ने लगती है।

एकदेववाद में बचपन से मरने पर्यंत निष्ठा ही यह है कि यही देवता है, उससे स्थिरता आती चली जाती है। इसीलिये उनके कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अपने यहाँ कार्यों की असिद्धि निष्ठा की कमी के कारण है। व्यावहारिक दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि एकदेववाद से साधारण आदमी जितना आगे बढ़ता है, उतना बहुदेववाद की दृष्टि से नहीं बढ़ पाता। इसीलिये रामानुज आदि ने विष्णु को जो प्रधान माना, उसकी अच्छाई आज भी देखने में आती है। वैष्णवों के यहाँ श्रद्धा का कुछ स्वरूप रहता है। स्मार्तों के यहाँ सब घोटाला ही मिलता है क्योंकि निष्ठा बन नहीं पाती। इसलिये भाष्यकारोंने यहाँ समझने वाले या मानने वाले का नाम 'ग्रहीता' रख दिया। जो ग्रहण कर लेता है, पकड़ लेता है वह ग्रहीता, जैसे पुराने जमाने में पत्नी का ग्रहण करते थे तो फिर कभी छूटती नहीं थी और ऐसा समझकर पकड़ते भी नहीं थे कि न जँची तो छोड़ देंगे। यह पुराने जमाने की बात समझना। आजकल तो पत्नी का ग्रहण दकियानूसी (Old-fashioned) हो गया है! इसी तरह 'यही तत्त्व है' ऐसा जिसका ग्रहण कर लिया, ऐसा पकड़ लिया कि कभी उसे छोड़ने की बात मन में आ न सके, वह भाव फिर उस उपासक की आत्मता को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसके लिये वही आत्मा हो जाता है। आत्मा ही सर्वसमर्थ है अतः वह आत्मा होकर उसके लिये सर्वसमर्थ हो जाता है।।२९।।

●

जब कहा कि प्राण आदि सभी भाव रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं तो तुरन्त शङ्का हो गयी कि तब वे सभी आत्मा की तरह तात्त्विक क्यों न माने जायें? यह उपयोगितावाद

Scanned by CamScanner

(teleology) सबके मन में जमा हुआ है : अगर फल होता है तो ठीक मानो; कोई फल नहीं, तो मत मानो। सत्य का ऐसे निर्णय नहीं हुआ करता। फल होते समय अनेक परिस्थितियाँ होती हैं। यह निर्णय असम्भव है कि फल का अमुक ही कारण है। अतः तत्त्व तो प्रमाणसिद्ध ही होगा। प्राण आदि जिस आत्मा से अभिन्न हैं, जिस पर कल्पित हैं, वही तत्त्व है। कल्पित वस्तु का निजी कोई तत्त्व नहीं, अधिष्ठान ही उसका तत्त्व है। प्राणादि कल्पित इसलिये हैं कि व्यावृत्त हैं; सभी किसी न किसी के लिये तत्त्व हो जाते हैं। अतः यही स्वीकारने में लाघव है कि तत्त्व एक है जिसे इन रूपों में समझा जा रहा है। श्रुति से भी यही बात समझ आ जाती है। यही बताते हुए इस विज्ञान की प्रशंसा करने केलिये कहते हैं–

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशङ्कितः ।।३०।।

प्राण आदि आत्मा से पृथक् हैं नहीं किन्तु अविवेकियों को आत्मा इन्ही रूपों में प्रतीत होता है और ये सब आपस में अलग-अलग हैं ऐसे निश्चय के कारण एक होने पर भी आत्मा अलग-अलग समझा जाता है। जिस विवेकिशिरोमणि को शास्त्र व युक्ति से यह विज्ञान हो गया कि 'ये सब कल्पित भाव आत्मा से अतिरिक्त असत् हैं, एक निर्विकल्प आत्मा ही है'; वही बिना किसी शङ्का के वेद का सही अर्थ जानता है अतः वही बता सकता है।

प्राण से स्थिति तक जितने अनंत भाव हो सकते हैं वे सब इस आत्मा से अपृथक्-भाव वाले हैं, उससे अलग नहीं हैं। इनके अन्दर तुमको आत्मदृष्टि कर के ही फल मिलना है। यदि इन्हें आत्मा की श्रद्धा से युक्त नहीं करोगे तो कोई फल देने वाला नहीं है। इस आत्मा से ये प्राण आदि सब अभिन्न हैं, इसीलिये आत्मदृष्टि से विचार करोगे तो कहोगे कि सभी देवता ठीक ही हैं। असली बात तो यही समझने की है और यही समझानी चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि से साधारण आदमी उसे नहीं पकड़ पाता इसलिये श्रद्धा पूर्ण नहीं हो पाती। जितनी भी देवों की कल्पना कर लो वे सब तुम्हारा आत्मदेव ही है। लेकिन जो मूढ लोग हैं, महामोही लोग हैं वे उन भावों को पृथक् पृथक् समझते हैं। आत्मदेव की दृष्टि से जो अल्लाह, वही मरियम्मा, जो भैरव वही जहोवा; इसलिये उसे तो कोई फरक नहीं। लेकिन व्यवहार की दृष्टि इसीलिये आ जाती है कि अधिकतर लोग मूर्ख ही हैं। उन्हें तो यह निश्चय है कि ये अलग-अलग हैं। वे नहीं समझ पाते कि सब आत्मदेव है। ये अलग-अलग फल देंगे ऐसा उनका निश्चय है।

इस प्रकार आत्मव्यतिरिक्त कुछ भी नहीं, सब कुछ आत्मरूप ही है, ऐसा जो श्रुति व युक्तियों के द्वारा निश्चय करके इस बात को समझ लेता है, ऐसा जो विवेकी, ज्ञानी, आत्मद्रष्टा है, वह बिना किसी शंका के वेद के अर्थों का जैसा हो वैसा विभाजन कर

Scanned by CamScanner

सकता है। सारे वेद के द्वारा आत्म-तत्त्व को बताना है। कर्म, उपासना, ज्ञान काण्डों में तत्त्वविषयक कोई अन्तर नहीं है, एक आत्मस्वरूप ही सबका तात्पर्य है। आत्मा के ऊपर लोगों ने तरह तरह की कल्पनायें कर रखी हैं, उन्हें हटाने के लिये उनका ही दण्डा उन्हें मारना पड़ता है। किसी को किसी दण्डे से मारेंगे, किसी को किसी से। अतः ज्ञानी बिना किसी संदेह के देख ले, जिसका जो अध्यास प्रबल है तदनुकूल ही कल्पना कर वह अध्यास हटा दे। जैसे मान लो पहले के लोगों को यह दृढ विश्वास था कि मैं ब्राह्मण हूँ। उनको चाहे जितना समझा दो कि यह शरीर तो पंचमहाभूतों का बना हुआ है, इसमें ब्राह्मणत्व कहाँ से आया; सारी युक्तियों से समझ लेंगे, लेकिन अंत में कहेंगे 'बात तो आपकी ठीक ही है लेकिन कपड़ा किसी से छू जाये तो घृणा तो आती ही है।' उन्हें चाहे जितना कहो उनसे वह नहीं छूटना है। आज उन्हीं के बेटे से कहते हैं कि 'तेरे माँ बाप ऐसा मानते हैं; तू ब्राह्मण घर में पैदा हुआ है; चाहे जिसके साथ बैठकर चाय मत पिया कर।' वह कहता है कि 'यह समझाइये कि उसमें खराबी क्या है? अब वह नहा धोकर आया है तो उसके साथ बैठकर खाने पीने में हर्जा ही क्या है?' उसे दस साल तक वर्ण व्यवस्था समझाते रहो तो भी कहेगा कि हमें आपकी कोई बात समझ में नहीं आती। जैसे हमारे काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि, वैसे ही उनके हैं। दस साल तक बाप को समझाते रहे कि कपड़ा छू जाने से क्या हो गया तो उसे नहीं समझा सके। उसके बेटे को दस साल तक समझाते रहे कि एक प्याले में चाय मत पिया कर तो वह नहीं समझ सकता। जो तत्त्वज्ञ है वह तो समझ ले कि इसको तो यह बैठा हुआ है कि आदमी आदमी में फ़रक नहीं, इसलिये उसे जँचने वाला वेदार्थ-विभाग बता दे 'न कर्म लिप्यते नरे'। वहाँ भाष्यकार ने 'नरे' का अर्थ किया 'नरमात्राभिमानिनि'। जो अपने को नर समझे वह कर्म करते हुए रहे। उसे यह उपदेश देवे। उसके बाप को यह उपदेश दे 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'। अनेक श्रुतियों में ब्राह्मण को सबसे श्रेष्ठ माना है और माना गया है कि क्षत्रिय वैश्य को भी ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे वाक्यों के द्वारा बिना किसी शंका के उन्हें उस आत्ममार्ग में ही लगाये क्योंकि जानता है कि ये सारे पृथक् भाव कल्पित हैं। एक कल्पना हटाकर दूसरी लादने से कोई फायदा नहीं।'एवं यो वेद तत्त्वेन', गौडपादाचार्यों ने सावधान कर दिया। परमार्थ की जानकारी से रहित यदि ऐसा करेगा तो निश्चय ही गलत करेगा। पहाड़ में जिसे गंतव्य का पक्का पता है वह तो रास्ते-बेरास्ते चाहे जैसे वहाँ पहुँचा देगा लेकिन जिसको गन्तव्य मालूम नहीं वह अन्दाजे ले जायेगा तो न जाने किस गड्ढे में उतार देगा! अतः 'अविशङ्कितः' जब अपने सब संशय हट चुके हों तब के लिये कहा 'कल्पयेत्'। नहीं तो धोखा-धड़ी हो जायेगी।

एक बार हमारे एक महात्मा स्वामी ज्योतिर्मयानन्द जी ने पंडित गजानंद जी से एक प्रश्न पूछा कि 'आप धर्माचार्य हैं, यह बतायें कि यदि खाने के बर्तन से परोसते हुए बर्तन लग जाये तो आप जूठा मानते हैं। कटोरी के अन्दर तो डाला नहीं, कटोरी

Scanned by CamScanner

पर चम्मच लगा, वह चम्मच दाल के बर्तन में डाल दिया। इसका मतलब है कि तत्सम्बन्ध से सम्बन्ध वाली चीज़ भी जूठी हो जाती है। लेकिन जब खीर परोसते हैं तो थाली से ऊपर तक एक धार बँधती है। तब उसे जूठा क्यों नहीं मानते?' यह शंका है। तब हमसे पंडित जी ने कहा 'महाराज! सारी दुनिया नास्तिक हो गई है। अब ये लोग मेरी खीर पीना भी बंद कर देंगे।' उन्होंने हमसे पूछा कि 'आप ही बताइये बात क्या सच्ची है?' हमने कहा कि इस अनिर्वचनीय माया का ज्यादा विचार करोगे तो कुछ नहीं होना है। जिसको जिसके अन्दर घृणा आती है तो आती है, नहीं तो नहीं। इसके सिवाय आगे विचार करने से कुछ नहीं होगा।

प्रायः खाने की मेज़ (dining-table) पर चार आदमी बैठकर खायें तो लोगों को लगता है कि जूठा हो गया। जहाँ मार्बल के फर्श पर खाते हैं तो क्या वहाँ पत्थर नहीं छू रहा है? एक पंडित हैं। वे बता रहे थे कि साठ सत्तर साल पहले उनके घर बारात आई। गाँव की बारात थी। ये काशी में रहते थे। बारात वालों ने देखा कि उनके यहाँ तो पक्की जमीन बनी हुई है। काशी में पक्का मकान होना हुआ। गाँव वालों की मान्यता थी कि पक्की जमीन पर बैठकर खाने से जूठन होती है, गोबर से लीपकर भोजन करना चाहिये। इसलिये उन्होंने कहा कि 'यह तो जूठी जगह है, इसपर भोजन नहीं करेंगे।' उनसे पूछा कि इसी पर गोबर लीपें? वे लोग नहीं माने क्योंकि कच्ची जमीन होनी चाहिये। तब निर्णय हुआ कि पड़ोसी के घर खिला देंगे। लेकिन पिता ऐंठ वाले थे। उन्होंने उसी समय सारी जमीन खुदवा दी और उसपर गोबर लीपा गया तब बारात ने खाया।

इस सब का विचार करते रहो तो क्या निर्णय होना है? जो इस तत्त्व को समझ लेता है वह तो शंका-रहित होकर देख लेता है कि इस आदमी को ऐसा अध्यास है तो इसको इस अध्यास की निवृत्ति में लगाना है। आत्मज्ञान होगा तो अध्यासनिवृत्ति हो जायेगी। दूसरे का वह अध्यास नहीं है, उसे दूसरा अध्यास है तो उसका वह अध्यास हटाओ। वेदार्थ का तत्त्वज्ञ ठीक ठीक विभाग करके जिसको कर्म में अध्यास है उसे कर्म में, जिसे उपासना में अध्यास है उसे उपासना में और योग वाले को योग में लगा देता है। वह जानता है कि अंत में समझाना यह है कि सब एक जैसे मिथ्या हैं। यह समझा पाने के लिये बिना किसी शंका के वेदार्थ का विभाग कर लेना चाहिये।

भाष्यकार कहते हैं कि रस्सी में कोई सर्प और कोई माला की कल्पना कर लेता है। माला वाले को पता चल गया कि वह रस्सी है; अब अगर वह बेवकूफ होता है तो कहता है कि 'सर्प की कल्पना काहे के लिये? पहले यह समझो कि यह सर्प नहीं, यह तो माला है।' फिर जब उसे यह जँच जाये तो कहेगा कि 'यह माला भी नहीं, जलधारा है।' पहले माला समझने से उसका डर कम हो गया। माला देखकर मन ललचाया कि पकड़ लूँ, तब कहो कि जलधारा है। फिर जब उसे निश्चय हुआ कि जलधारा है तो अब टार्च जलाकर कह दो कि रस्सी है। वह कहेगा 'पहले ही क्यों नहीं बता दिया?' ऐसे

Scanned by CamScanner

ही मूढ कहते हैं कि जिसका जिसमें अध्यास है उसका वह अध्यास हटाकर पहले दूसरा अध्यास कराओ। लोग कहते हैं कि 'मैं ब्राह्मण हूँ'। जो मूढ हैं वे कहते हैं कि पहले इसे मनुष्य बनाओ, पहले ही कैसे ब्रह्म बन जायेगा! मनुष्य से फिर उसे समझाओ कि सूक्ष्म शरीर मानो। फिर ज्ञान कराओ। आधुनिक लोग हमको यही कहते हैं कि पहले सब भारतीयों में हिन्दू-भावना दृढ करो, फिर ब्रह्म भाव का उपदेश करो। दूसरे ठीक विपरीत कहते हैं कि 'अभी तो ये अपने को सुखी, दुःखी, जानवरों की तरह समझते हैं। पहले इनमें वर्णाश्रम व्यवस्था के भाव को अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि, ब्रह्मचारी गृहस्थ आदि के धर्म को पक्का करो। जब यह पक्का हो जाये तब कहना कि ब्रह्म हो।' लेकिन जब बाद में कहेंगे 'न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः' तो वे कहेंगे कि 'बीस साल क्यों बरबाद किये? पहले ही बता देते।' उसी प्रकार ब्राह्मण से कहेंगे कि पहले अपने को मनुष्य मानो फिर सूक्ष्म शरीर मानो और फिर कहेंगे कि तू यह सब नहीं, तो वह कहेगा कि 'सीधा ही क्यों नहीं बता दिया?। ये सब टण्टे क्यों किये?'

रस्सी में जिसको सर्प दीख रहा है उसे कहेंगे कि सर्प के लक्षण इसमें नहीं घट रहे हैं। जिसको जलधारा दीख रही है उसे भी यही कहना है कि जलधारा के लक्षण इसमें नहीं घट रहे हैं। अर्थात् जिसका जो अध्यास है उसी से उसको समझाना है कि यह अध्यास वास्तविक तत्त्व में नहीं घट रहा इसलिये झूठा है। मूढों को वह पृथक् पृथक् लग रहा है, इसलिये 'इसकी अपेक्षा से यह अच्छा है', ऐसा निश्चय मूढों को होता है।

इसके द्वारा बताया कि दो ही निश्चय वाले संसार में होते हैं— एक मूर्ख और एक पूर्ण बुद्धिमान् जो पूर्ण निश्चय वाले होते हैं। बाकी सब संदेह वाले होते हैं। राजनीति में भी यही दीखता है। जो मूर्ख होते हैं वे पक्के निश्चय वाले हो जाते हैं। उन्हे जँच गया अमुक को वोट देना है तो चाहे जितने दोष बताओ, तर्क दो, नुकसान दिखा भी दो, तो भी वोट उसी को देंगे। इसी प्रकार मुसलमानों इत्यादि में इतना भाव इसलिये रहता है कि वे मूर्ख हैं। वे शुरू से ही कहते हैं कि अंग्रेजी मत पढ़ो, पाप है। अधिकतर मौलवी के पास जाते हैं। उनमें भी जो पढ़ लिख जाते हैं, उनकी श्रद्धा भी फिर वहाँ नहीं रहती। समाज की दृष्टि से वे उसमें बने रहें, यह बात दूसरी है— जैसे अपने भी बहुत से लोग बने रहते हैं— लेकिन मन में भाव घट जाता है। इसलिये अगर मूर्ख को निश्चय होता है कि बाप ने कहा है तो उसे निश्चय हो जायेगा। या फिर निश्चय विचारशील को होता है जिसने पूर्ण बुद्धिमत्ता के द्वारा निश्चय कर लिया कि ऐसा ही ठीक है। महामूर्ख और महापंडित के बीच के जितने हैं वे सब निश्चय न होने के कारण डाँवाडोल होते रहते हैं।

विवेकियों का भी निश्चय होता है। उनका निश्चय है कि रस्सी में जैसे सर्प आदि कल्पित हैं ऐसे आत्मा से भिन्न प्राण आदि नहीं हैं। एक को निश्चय है कि मेरा देवता सत्य और बाकी सब झूठे। दूसरे को निश्चय है कि आत्मतत्त्व ही सत्य, बाकी नाम रूप

Scanned by CamScanner

मिथ्या हैं। हमारा 'एकमेवाद्वितीयम्' और उनका कलमा 'या इलाही इल इलाही' दोनों का अर्थ है कि ईश्वर एक है, एक ईश्वर से भिन्न कोई दूसरा नहीं। यहाँ तक तो दोनों ठीक हैं। लेकिन आगे 'रसूल इल्लाह' कहकर उन्होंने फ़रक कर दिया। हमने आगे नहीं कहा कि अमुक ही उसका एकमात्र रूप है लेकिन उन्होंने कह दिया। विवेकी और अविवेकी का इतना ही फ़रक रहता है। विवेकियों का यही निश्चय है कि जो कुछ भी प्रतीयमान है वह सब आत्मस्वरूप ही है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न होकर सभी झूठे हैं। लेकिन उनका रसूल तब सच्चा जब हम रसूल मानें। रसूल उसकी रक्षा करता है जो उसे रसूल मानता है। तो वह भाव ही हुआ।

इसी प्रकार ईसाई कहते हैं कि क्राइस्ट रक्षा करता है। 'जो जो मेरी शरण आयेगा मैं उसकी रक्षा करूँगा' यह ईसा की प्रतिज्ञा है। प्रश्न है कि जब श्रद्धा करेंगे तब रक्षा करने वाला है तब तो भावना रक्षा करती है, नहीं तो वह क्या कर लेगा? 'ईश्वर एक है' यह तो ईसाई भी कहेंगे। लेकिन वह ईश्वर सायनाई पहाड़ पर ही हो सकता है, कैलास पर नहीं। उसका मंदिर जरूसलम में ही होगा, काशी में नहीं। उसका मन्त्र 'आवा मेरिया' ही होगा, 'नमः शिवाय' नहीं। वह ईसा को पैदा करेगा, कार्तिकेय को नहीं। उसके बारे में भी ईसा को पता चलेगा याज्ञवल्क्य को नहीं। यह सब बाड़ाबन्दी मूर्खता वाला निश्चय बताती है। विवेक का निश्चय हो तो नाम-रूप-कर्म में आग्रह नहीं हो सकता।

आगरे में हमारे एक परिचित डाक्टर हैं जो बड़े अच्छे सर्जन हैं। हमें एक बार साइनस की तकलीफ थी। हमने उन्हें बुलाया। उन्होंने एक दवाई लिखी। हमने कहा 'यह दवाई हमें एक डाक्टर ने दे रखी है, इससे कुछ फ़ायदा नहीं हुआ।' वे हँसने लगे और कहा 'मै लिखता हूँ, आप ले लीजिये फ़ायदा करेगी।' हमने कहा भी कि इसकी काफी मात्रा हमने ले रखी है। तब उन्होंने कहा 'इससे मतलब नहीं कि आपने क्या दवाई ली, लेकिन किसने लिखी, कैसे लिखी, इसपर बहुत कुछ निर्भर करता है। आपका हमारे साथ प्रेम है, यही काम करेगा। पहले आपने किसी बाहर वाले से ली, इसलिये काम नहीं किया।' असली चीज यही काम करती है। कोई सीधा सादा गरीब आदमी हो, उसे कहो कि फिटकरी को तवे पर लेकर थोड़ा सा उसके अन्दर वज्रदंती चूर्ण मिलाकर ले लो। वह लेता है और फ़ायदा होता है। अब कोई बेवकूफ करोड़पति को भी यही बताये तो क्या फायदा होगा? उसे बनाकर दो और कहो कि 'इसके अन्दर हीरा मोती इत्यादि पड़ा है', तो वह उसपर काम कर जायेगा। उससे पहले ही कहो कि 'इसमें तो दो पैसे की फिटकरी पड़ी है', तो वह काम नहीं करेगी। कोई महर्षि महेश की किताब दे गया, हम पढ़ रहे थे। उन्होंने मंत्र देने की फीस एक हजार रुपया रखी है। जो एक हजार न दे सके उसे फिर उनके चेले सौ रुपया फीस लेकर मंत्र देते हैं। मंत्र तो एक ही होना हुआ। लेकिन सिस्टम में फ़रक है। बड़े आदमियों को एक हजार वाला मंत्र काम करेगा। छोटे वालों के मन में आयेगा कि मंत्र सौ में ही क्यों नहीं देते। मंत्र में फ़रक नहीं है। फ़रक तो इसमें है कि कितना देकर यह संतुष्टि है कि ठीक माल मिल रहा है।

Scanned by CamScanner

इसी प्रकार आत्मा तो केवल निर्विकल्प है। उसमें चाहे जैसी कल्पना करके देखते रहो। जो यह अनुभव कर लेता है वही 'अविशंक' होता है।, लेकिन कैसा अनुभव? 'तत्त्वेन' का अर्थ किया कि श्रुति और युक्ति दोनों के द्वारा जिसने अनुभव कर लिया है। वेद इसी बात को बताता है— यह निश्चय कर लेना चाहिये और खूब युक्तियों के द्वारा, अनुमान के द्वारा, विचार के द्वारा भी यही निश्चय रखना कि एकमात्र आत्मा ही तत्त्व है, श्रुति युक्ति दोनों तरह से यही ठीक है। दो तरह से निश्चय बताया, यह याद रखना। केवल युक्ति से दृढ प्रत्यय नहीं होगा और केवल श्रुति से भी दृढ प्रत्यय नहीं होगा। दोनों से जब अनुभव होता है तो दृढ प्रत्यय होता है। लोक में भी यही होता है। किसी चीज का केवल आँख, कान इत्यादि से अनुभव करो तो पूर्ण निश्चय नहीं होता, भ्रम की सम्भावना होती है, और केवल अनुमान से मानो तो भी पक्का निश्चय नहीं होता, भ्रांति की संभावना वहाँ भी रहती है। लेकिन जिस विषय में अनुमान आदि प्रमाण-युक्ति भी मिल जायें और साथ में प्रत्यक्ष आदि भी मिल जायें तो दृढ निश्चय हो जाता है।

जैसे पहले विचार किया कि यह आदमी कह रहा है कि बार बार टट्टियाँ लग रही हैं, इसलिये इसे अमीबिक डिसेण्ट्री होनी चाहिये। टट्टी में चिकनापन भी बता रहा है। निदान होने से यह आनुमानिक ज्ञान हुआ। उसके बाद उसकी टट्टी को खुर्दबीन के अन्दर देखा और अमीबा मिल गये। तब तुम्हारा ज्ञान कि इसको अमीबिक डिसेण्ट्री है निश्चयात्मक है। दूसरी तरफ़ कोई रोगी गर्दन में दर्द बताता है। उसकी भी टट्टी का परीक्षण किया तो अमीबा मिले। तुमने पूछा 'संग्रहणी हुई है?' वह कहता है 'टट्टी साफ होती है?' पेट में कभी वाँयटा नहीं पड़ता?' केवल गर्दन में दर्द है।' पूछते हो 'खाने के बाद बदहज्मी महसूस होती है?' वह कहता है 'कुछ नहीं, बस गर्दन में ही दर्द है।' टट्टी की रिपोर्ट कह रही है कि अमीबा है वह प्रत्यक्ष हुआ लेकिन लक्षणों से अनुमानजन्य ज्ञान न होने के कारण निश्चय नहीं होता। और कभी केवल बता दिया कि पेट में वाँयटा पड़ता है, टट्टी में चिकनाहट है, लेकिन बार-बार परीक्षा से भी अमीबा नहीं मिले तो आनुमानिक ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्ष के विरोध से बुद्धि कहेगी कि दूसरा कोई विकार होगा। पेट के अन्दर फोड़ा होगा जिसमें से पस निकलता होगा और वही चिकनाहट करता होगा। लेकिन निश्चय तब जब आनुमानिक और प्रत्यक्ष निदान दोनों एक जैसे हों।

ठीक इसी प्रकार यहाँ यदि श्रुति से जो आत्मतत्त्व का ज्ञान हुआ वही युक्तियों से भी हो गया तब ज्ञान एकदम मजबूत होगा। केवल श्रुति से भी पक्का नहीं, केवल युक्ति से भी पक्का नहीं। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा श्रुति और युक्ति दोनों से तत्त्व को जानना है। ऐसा जिसने जान लिया अर्थात् इस प्रकार अनुभव कर लिया वह फिर वेद का किंकर नहीं होता। अनुभूतिस्वरूपाचार्य बेधड़क लिखते हैं, क्योंकि जो जिसके अनुभव की बात होती है उसमें वह खुलकर बोलता है; वे कहते हैं 'उक्तवस्तुज्ञानवान् न वेदकिङ्करो भवति किन्तु स्वयं वेदार्थं ब्रूते, स एव तदर्थो भवति।' वह वेदमंत्र देखकर

Scanned by CamScanner

निर्णय करे ऐसा नहीं। वह पहले निर्णय कर लेता है कि इसका यह अध्यास हटाना है, तदनुकूल ही अर्थ करता है। दूसरे लोग तो यह देखते हैं कि वेद का क्या निर्णय है। निर्णय तो यही है कि एकमात्र आत्मतत्त्व सत्य है। अब देखो कि सामने वाले की क्या कल्पना है, उसके अनुसार उसे उसमें लगाओ। वह ऐसा विभाग कर देता है कि 'यह तुम्हारे काम का, यह कर्मकाण्डी के काम का और यह उपासनाकाण्डी के काम का है, यह योगी के काम का है।' कैसे कल्पना करता है अथवा वेदविभाग कैसे बताता है? सभी का निर्णय उसी में ले जाना है, ज्ञानकाण्ड साक्षात् अद्वैतपरक है और बाकी सब साधन बताने वाले हो गये। उसे यह संदेह नहीं कि कर्म-उपासना ही तो कहीं साध्य नहीं है।

भाष्यकार एक सिद्धान्त बनाते हैं कि 'न ह्यनध्यात्मविद्वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः।' जिसने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है वह वेद की असली बात को तत्त्वतः नहीं समझ सकता अर्थात् वेद के वास्तविक तत्त्व को नहीं समझ सका है। मैक्समुलर वेद का एक अर्थ करता है, आर्यसमाजी वेद का दूसरा अर्थ करते हैं और सातवलेकर तीसरा अर्थ करते हैं। कई बार मनुष्य के मन में शंका होती है कि एक ही वेद में अलग अलग अर्थ कैसे? रहस्य यह है कि वे आत्मवेत्ता तो हैं नहीं, इसलिये ठीक ठीक विभाग नहीं कर पाते। सोचते हैं कि अमुक विषय के मंत्र ज्यादा हैं तो यही जरूरी होगा। जैसे सबसे ज्यादा साग सब्जी की दुकानें होतीं हैं और सबसे कम हीरे पन्ने की दुकाने होती हैं। अब कोई बैठकर सांख्यिकी (statistics) से हिसाब लगाये कि असली कीमत की चीज वह जो सबसे ज्यादा बिके तो वह कहेगा कि हिन्दुस्तान में सब्जी ही सबसे ज्यादा कीमती चीज होता है, वहाँ हीरे की कोई कीमत ही नहीं क्योंकि उसे खरीदने कोई जाता ही नहीं! उसने घोषणा कर दी कि इतने प्रतिशत हीरे को और इतने प्रतिशत शाकसब्जी को चाहते हैं। किसी भले आदमी को पूछो 'हीरा लोगे या बैंगन लोगे?' तो शतप्रतिशत लोग कहते हैं 'हीरा दो'। तब कहेंगे कि पहले वाली हमारी 'रिसर्च' गलत हो गई, बाद वाली रिसर्च ठीक है। क्योंकि भीड़ ज्यादा देखकर निर्णय किया, इसलिये यह हुआ।

इसी प्रकार जो अध्यात्मवेत्ता नहीं होगा वह देखेगा कि लोग कर्मकाण्ड ज्यादा करते हैं तो यही सच्चा होगा। इसमें भगवान् भाष्यकार मनुस्मृति (६.८२) का भी प्रमाण देते हैं 'नह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते'। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' आदि श्रुतियाँ भी इसी बात को बताती हैं। यह बात कर्मकाण्डी को बतायेंगे तो झगड़ा करेगा। है यह मनुस्मृति का वचन! इसमें बताया कि जिसने अपने अन्दर रहने वाले आत्मतत्त्व की तरफ दृष्टि नहीं की, जो परमात्मा को बाहर ही समझता रहता है, वह सबेरे से शाम तक चाहे जितना 'नमक' और 'चमक' से स्वाहा करता रहे, उसकी इस क्रिया का कुछ फल नहीं होता। सब बेकार जाता है। यही मनुस्मृति के वचन का अर्थ है। क्य कि सब वैदिक क्रियाओं का फल ज्ञान ही तो है। वह नहीं मिला तो सब बेकार ही गये। यहाँ 'क्रियाफलम्' का मतलब है 'प्रमाणफलम्'। वेदरूप प्रमाण का फल है तत्त्वनिर्णय, वह जिसे नहीं हुआ तो चाहे जितना घी जलाया हो, सचमुच में कोई फायदा हुआ नहीं।।३०।।

Scanned by CamScanner

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।३१।।

जिस प्रकार सपना, जादू, गन्धर्वनगर आदि सर्वथा बिना हुए ही अविवेकियों को है ऐसे दीखते हैं वैसे ही पण्डितों को वेदान्तों से पता चल जाता है कि यह सारा द्वैत बिना हुए ही दीखा है। अब तक युक्तियों के द्वारा जो यह सिद्ध किया वह श्रुति प्रमाण से आगम प्रकरण में सिद्ध कर दिया था। इसलिये जाग्रत् के पदार्थों में सर्वथा अनास्था करनी चीहिये। जाग्रत् के पदार्थों में जब तक आस्था होगी तब तक आत्मा में आस्था नहीं। संसार में सुधार करना चाहोगे तब तक परमात्मा नहीं मिल सकता। संसार अर्थात् अपना शरीर, अपनी बुद्धि, अपना चित्त, अपने घर वाले, मकान, मित्र, सुनना देखना इत्यादि ये सब बाह्य और आध्यात्मिक संसार है। इसमें किंचित् परिवर्तन भी करने की जब तक इच्छा है तब तक संसार में ही आस्था है, आत्मा में आस्था नहीं है। प्रायः जो मन में शंका होती है कि निष्ठा क्यों नहीं बनती उसका कारण यह है कि हम निष्ठा बनाना चाहते नहीं। हम निष्ठा को देखना चाहते हैं कि निष्ठा से बाह्य जगत् में क्या परिवर्तन हुआ! बाह्य जगत् अर्थात् मन, बुद्धि संस्कार, शरीर, मित्र, पुत्र, पशु, मकान, जायदाद समाज, देश, राष्ट्र आदि सब बाह्य जगत् हैं। इसके अन्दर आस्था होगी तभी न उसे बदलना चाहोगे। क्या सिनेमा में बैठकर कभी चिल्लाते हो कि 'अरे तूने पैर गलत क्यों सटाया!' इसलिये नहीं चिल्लाते कि वहाँ कोई है नहीं यह जानते हो। लेकिन लड़के को पैर उठाते देखकर चिल्लाते हो, क्योंकि सोचते हो कि वहाँ कोई है। एक निष्ठा दूसरी निष्ठा की बाधक है।

यह प्रश्न पंचदशी के अन्दर भी आया और भाष्य में भी आया है कि क्या मंद, तीव्र और तीव्रतर प्रारब्ध में मंद और तीव्र प्रारब्ध को हटाया नहीं जा सकता? जवाब यह है कि जो प्रवृत्तिमार्गी है वह तो मंद और तीव्र प्रारब्ध को हटायेगा क्योंकि उसमें उसे सत्य दृष्टि है। जो ज्ञान का साधक है वह मन्द प्रारब्ध को भी हटाने का प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि यदि उसे हटाने की चेष्टा की तो खट सत्यत्व बुद्धि हो गई। सिर में दर्द हुआ और ऐस्प्रो खाई तो झट दृष्टि बनेगी कि ऐस्प्रो कारण और सिर दर्द का दूर होना कार्य है। यह वृत्ति बनी तो फिर संसार की सत्यता और कार्यकारण भाव की दृष्टि बन गई। ये वृत्तियाँ एकत्रित होती रहती हैं जो हममें कार्य-कारण-भाव की अनास्था को पैदा नहीं होने देती। अगला प्रश्न होता है कि फिर दवाई खाकर सिर-दर्द दूर न करें? अपनी तरफ से न खाने की और न न खाने की प्रवृत्ति करो। कोई कहता है कि 'ऐस्प्रो खा लो' तो आगे यह विचार न करो कि 'सिर दर्द तो पेट की खराबी के कारण है, ऐस्प्रो क्यों खायें?' वह कहता है तो खा लो। और अगर किसी ने नहीं कहा कि 'खा लो', तो खानेकी जरूरत नहीं है क्योंकि निश्चय है कि यह सिर उत्पन्न नहीं हुआ तो सिर दर्द-कहाँ से आयेगा? यह ज्ञानी की अर्थात् जो ज्ञान के अन्दर जा रहा है, उसकी साधना

Scanned by CamScanner

है। ज्ञानमार्ग की साधना ही यह हुई। अब चूँकि यही स्वभाव अंत में जाकर दृढ हो जाता है इसलिये ज्ञानी तो मंद और तीव्र प्रारब्ध को ज्ञान होने के बाद भी हटाने में प्रवृत्त नहीं होता। उसके लिये भी प्रवृत्ति आस्था की कमी का कारण बनती है। यहाँ तक कि हमको अगर योग्य गुरु मिला तो वह भी उतना ही झूठा है जितना मिला हुआ अयोग्य गुरु। दोनों एक जैसे झूठे हैं। जिस कल्पित मूर्ति को तुमने देखा उसमें नाक टेढा हो तो क्या और सीधा हो तो क्या! स्वप्न में तुमको ऐसा गुरु मिला जो महामूर्ख था, क्या उठकर बैठकर रोते रहते हो? और स्वप्न में तुमको महाज्ञानी गुरु मिला तो जाग्रत् में उससे कुछ फायदा हुआ? जैसे संस्कार थे वैसा दीख गया। ऐसे ही जाग्रत् में भी अपने अपने प्रारब्ध के अनुसार दीखता रहता है।

यह आस्था की दृढता लाने के लिये भगवान् गौडपादाचार्य यहाँ बताते हैं 'यथा स्वप्नमाये दृष्टे' जिस प्रकार से स्वप्न देखने में आता है या माया का खेल, बाजीगर का खेल देखने में आता है। आजकल के जमाने में सिनेमा भी माया ही है। सवा रुपये का टिकट लेकर अंदर जाकर तीन घण्टे के लिये बैठ गये, वहाँ जाकर तुम्हारा आर्डर नहीं चलेगा कि ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिये। जो सामने है वही देखते रहना पड़ेगा, कोई तुम्हारी पसंद का, कोई बेपसन्दगी का दृश्य आ जायेगा। ठीक इसी प्रकार जब गर्भ में प्रवेश किया तो प्रारब्ध कर्म का टिकट लेकर आ गये। इसके बाद साठ अस्सी साल , जितने सालों का यह खेल है उतने साल तक, यह खेल दीखता रहना है। टिकट खतम होगा तो उस सिनेमा हाल में से निकाल दिये जाओगे, 'खेल खतम पैसा हजम!' जैसे ही प्रारब्ध कर्म समाप्त होगा वैसे ही शरीर में से निकाल दिये जाओगे। अगर इस बीच तुमने आस्थापूर्वक ज्ञान पैदा कर लिया तो अगले सिनेमा में नहीं घुसोगे। अगर नहीं समझे, तो फिर दूसरे सिनेमा का टिकट लोगे।

लोग हर सिनेमा को देखकर आकर कहते हैं कि 'बेकार पैसा गया, आजकल सिनेमाओं में कोई तत्त्व नहीं रहा, कोई बढ़िया खेल नहीं आता।' फिर चार पाँच दिन बाद पूछते हैं 'कहाँ गये थे?' कहते हैं 'बाइस्कोप देखने चले गये थे। लेकिन बेकार खेल आया।' हर बाइस्कोप के बाद कहेंगे बेकार है, फालतू है, और फिर जाते हैं। इसी प्रकार से शरीर में प्रारब्ध भोग करने के बाद जिससे पूछो वही कहता है कि सचमुच ही संसार झूठा है। साठ साल में हमने क्या कर लिया? सब फालतू गया। बचपन में सोचा कि माता पिता को प्रसन्न करो, वे प्रसन्न नहीं हुए। जवानी में बीबी को खुश करने की कोशिश की तो वह नहीं कर पाये। बुढ़ापे में सोचा कि लड़के सेवा करेंगे, वह भी नहीं हो पाई। इस प्रकार सारा जीवन बेकार गया। उसका जीवन अच्छा है। फिर मरता है तो जिसे अच्छा समझा उसके अनुसार गर्भ में प्रवेश कर जाता है। अनादि काल से हर खेल को देखकर कहता है कि यह बेकार था। फिर आशा करता है कि दूसरा अच्छा होगा। अतः टिकट पर टिकट मिलता जाता है। यदि यहाँ ज्ञान प्राप्त कर लिया तो आगे का टिकट बन्द हो जायेगा, फिर खेल नहीं देखना पड़ेगा। लेकिन जो टिकट लेकर बैठे हैं, वह खेल तो देखना ही पड़ेगा। उसको तुम नहीं बदल सकते।

Scanned by CamScanner

'गंधर्वनगरं यथा' जैसे गंधर्वनगर दिखाई देता है। आकाश में सारा शहर दिखाई दे जाता है। मारवाड़ में यह स्पष्ट दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार यह सारा जगत् दीख रहा है। 'तथा विश्वमिदं दृष्टम्' किनको ऐसा दीख रहा है? जिन्होंने श्रुति और युक्ति दोनों से इस रहस्य को समझ लिया है। जिन्होंने नहीं समझा है वे इसे सत्य मानकर समझते हैं कि ऐसा करेंगे तो ठीक हो जायेगा, ऐसा नहीं करेंगे तो ठीक हो जायेगा। बस इसी चक्कर में लगे रहते हैं। समझ जाने पर भी स्थिरता नहीं आती। सोचते हो संसार बदल जायेगा तो सुख मिल ही जायेगा।

असत्य का सत्य की तरह भान हो रहा है, जो चीज है नहीं, वह है की तरह दीख रही है। भान हमेशा सत्य की तरह होगा लेकिन है असत्य ही। भान होता है कि यह मेरी पत्नी है और पत्नी कभी हो नहीं सकती क्योंकि पच्चीस साल पहले पत्नी नहीं थी, और पच्चीस साल बाद पत्नी नहीं रहनी है। लेकिन जितने काल तक वह माथे पर बैठी हुई है तब तक लगता है कि इतनी लम्बी चौड़ी दीख रही है कैसे मान लें कि पत्नी नहीं है? कहते हैं 'महाराज! हमको यह दीखती है क्यों? और दीखती है तो सच्ची क्यों दीखती है?' वह दीखेगी और सच्ची ही दीखेगी। जैसे पत्नी वैसे ही अपने मन में विक्षेप आदि है। किसी ने गाली दी तो मन कहेगा 'बड़ा दुःखी हूँ।' किसी ने दण्डा मारा तो लगेगा 'बड़ा दुःखी हूँ'। वह भी सच्चा लगता है। सचमुच दण्डा पड़ा, सचमुच गाली दी। सत्यवत् प्रतिभान है। ऐसे ही मन में जो दुःखाकार वृत्ति बनी वह भी सच्ची ही लग रही है। सच्ची चीज़ है नहीं। मैं तो उसको जानने वाला हूँ। अंतःकरण को दुःखाकार वृत्ति बनाने दो। जैसे सामने की दीवाल में नीला रंग निकल आया तो मेरा क्या? ऐसे ही मन दुःखी हो रहा है तो मेरा क्या है?

मन दुःखी न हो इस चक्कर में यदि गये तो गये काम से। इसीलिये बार बार कहते हैं 'माया ह्येषा मया सृष्टा' भगवान् की माया ही कराती है। 'घर को ठीक कर दूँ, व्यापार ठीक हो जाये, अभी इस बच्चे की शिक्षा पूरी कर दें, अभी इस शरीर को तो जरा सुधार ही लूँ, अभी मन सुखी दुःखी है इसे ठीक कर लूँ, मेरा चित्त बुरे संस्कारों से प्रभावित होता है इसे स्थिर कर लूँ', यही उस माया का बंधन में डालना है। विवेकी को माया ऐसे नहीं बाँधती है क्योंकि माया भी बड़ी चतुर है। विवेकी को विवेक के द्वारा ही बाँधती है! विवेकी विवेक करके कहता है 'यह चीज अच्छी है, इसे सुधार लूँ'। माया ही यह करती है कि कामी को काम के द्वारा बाँधती है, लोभी को लोभ के द्वारा ही बाँधती है। इसी प्रकार से मुमुक्षु को मोक्ष के द्वारा ही बाँधती है! उस दिन भी बताया था कि योगवाशिष्ठ के अन्दर वशिष्ठ जी कहते हैं 'अरे राम! मैं मुक्त हो जाऊँ, यही तेरा बंधन है, इसे छोड़ तो काम बन जाये।'

यह बात ही वेदांत प्रमाण से अवगत, ज्ञात होती है अर्थात् निश्चित होती है। जो युक्ति के द्वारा जाना गया उसी को वेदांत प्रमाण से बता दिया। जैसे लक्षणों से निदान करके परीक्षण से पता लगा कि अमीबिक डिसेण्ट्री ही है, स्वप्न और माया दोनों ही असद्

Scanned by CamScanner

रूप हैं। स्वप्न में और माया में जो जो चीजें दीखती हैं, वे असत् हैं। उसी को और स्पष्ट कर दिया कि ये दोनों असत्य हैं लेकिन सद् रूप हुई दीखती हैं। हमेशा 'है' इस रूप में प्रतीत हो रही हैं, है से अभिन्न हुई दीख रही हैं। 'घड़ा है' इसमें 'घड़ा' 'है' से अभिन्न हुआ प्रतीत होता है। किसको ऐसा दीखता है? अविवेकियों को ऐसा दीखता है। विवेकी तो 'घड़ा है' में 'घड़ा' और 'है' को अलग अलग जानता है। 'है' ज्ञान रूप, व्यापक रूप, उसके अन्दर घड़े की प्रतीति, जैसे समुद्र में लहर की प्रतीति। जैसे अविवेकी लहर को देखता है उसी प्रकार विवेकी भी लहर को देखता है। पदार्थों को 'है' इस रूप से देखता है। लेकिन जैसे विवेकी लहर के अन्दर जल को देखते हुए आकार को देखता है, वैसे ही अखण्ड ब्रह्म में वह घट पट आदि पदार्थों को देखता है। बस यही विवेकी और अविवेकी में फरक है। विवेकी अलग अलग चीजों को अलग अलग करके जानता है, अविवेकी एक करके जानता है। विवेकी कह देगा कि यह चीड़ का पेड़ है और यह देवदारु का पेड़ है। जो विवेक नहीं करना जानता वह कहता है कि एक ही है। दो चीज़ों के अलग अलग होने पर अलग अलग रूप से देखना विवेक, और दो चीज़ें अलग अलग हों लेकिन एक जैसा समझना अविवेक है। ऐसे ही 'घड़ा है' इसमें 'घड़ा' और 'है' को एक समझ लेना अविवेक है, और 'घड़ा' अलग, 'है' अलग यह समझना विवेक है।

दूसरा दृष्टांत देते हैं : जब अच्छी तरह से गंधर्वनगर दीखता है तो दुकानें वगैरह सब दीखते हैं। दुकान में शीशे की खिड़कियों (showrooms) में बिकने वाली चीज़ें फैला कर रखते हैं। इसीलिये हम कहते हैं कि यदि ऐसा कानून बन जाये कि दुकान में जितना माल है वह सब लोहे की अल्मारियों में बन्द करके रखना पड़ेगा, काँच की अल्मारियों में नहीं रख सकते, तो काम पर विजय पाना बहुत सरल हो जाये। देख देखकर ही लोगों का मन ललचाता रहता है कि यह खा लो, यह ले लो। न दीखे तो नहीं खायें। ऐसे ही प्रत्येक चीज के अन्दर होता है। जैसे दुकानों (आपण) के अन्दर फैला हुआ सामान दीखता है इसी प्रकार गंधर्वनगर में घर दीखता है, प्रासाद दिखाई देता है, वहाँ रहने वाले स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। वह गंधर्व नगर किसी जिले (जनपद) में दिखाई देता है। इतना ही नहीं वे सब आपस में व्यवहार करते हुए दिखाई देते हैं। वे भी तुम्हारी दिल्ली की पराँवठे वाली गली की तरह भीड़ भड़क्के में व्यवहार करते हैं। यह नहीं कि कल्पना ही करनी है तो चौड़ी सड़क हो, ऐसा नियम नहीं है। छोटी सी गली में आदमी धक्का मारते हुए दिखाई देते हैं। दिल्ली की पराँवठे वाली गली में देखो कैसा भीड़भड़क्का दिखाई देता है। लोग कहते हैं 'कैसे झूठ हो सकता है? धक्का लग रहा है।' ऐसे ही गंधर्व नगर में भी धक्का लगता दिखाई देता है और वह गंधर्व नगर दीखता हुआ ही सच्चा लगता है। तब तक अकस्मात् धूप के ऊपर बादल आ जायें तो वह सारा नगर चला जाता है! वहाँ कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार से पराँवठे वाली गली के अन्दर जाओ तो उस भीड़-भड़क्के में कहीं पराँवठे बिक रहे हैं, कहीं चाँदी सोना बिक रहा

Scanned by CamScanner

है, कहीं साड़ियाँ बिक रही हैं। खारी बावली में तुम मोटर में बैठे हुए हार्न बजाये जाओ, सामने से ट्रक आ रहा है, रास्ता जाम हो गया। टैक्सी वाले से कहा 'पीछे मोड़ो', तो पीछे भी जाम मिलता है। वह टैक्सी बन्द करके वहीं खड़ा हो जाता है। अब उस गर्मी के अन्दर थोड़ा सा नींद का झोंका आया तो अकस्मात् कहाँ चले गये? फिर उठकर देखते हैं कि अभी गाड़ी चली या नहीं। लेकिन इस बीच वे सारे कहाँ चले गये थे? गली में भीड़भाड़ होती तो तुम्हारे सिर पर चढ़ी रहती।

जैसे गंधर्व नगर का अभाव हो जाता है वैसे ही यहाँ हो जाता है। यहाँ भी बचकर वापिस आयें कोई नियम नहीं है। सत्ताइस साल पहले पाकिस्तान में लोगों को दीख रहा था कि हमारे मकान हैं, भाड़ा आ रहा है, आनंद से खा रहे हैं। जिन्ना का एक झोंका आया तो आज तक वे मकान दिखाई नहीं दे रहे हैं। इसलिये कोई नियम नहीं कर सकते कि वापिस दीख ही जायेंगे। कभी दीख भी जाते हैं। जैसे स्वप्न कभी वापिस आ भी जाता है और कभी नहीं भी आता है। लेकिन कोई नियम नहीं कि आ ही जाये। और कहीं हीरोशिमा की तरह ऐटमबाम्ब पड़ जाये तो और आनंद आ जायेगा। यह सब ध्यान करने के लिये बता रहे हैं, यही वेदांती का ध्यान है। जैसे जैसे मन्दिर की दीवाल उठती जाये वैसे ही रोज कल्पना करो कि इस पर ऐटम बाम्ब पड़ रहा है। एक बार कह रहे थे कि जिस मकान को बना रहे हो उसे साथ ही साथ जलता देखते रहो। जिस लड़के को बड़ा कर रहे हो उसे सवेरे शाम दोपहर तीन बार जलते हुए देखते रहो। साथ ही साथ करो। यह नहीं कि जब टूटेगा तब ध्यान लगायेंगे। जब बन रहा है तो हर एक दीवाल को देखो कि एक दिन खण्डहर बनेंगे, सियार आयेंगे, चमगादड़ रहेंगे। इससे जीवन का आनंद आयेगा। जैसे स्वप्न, माया, गंधर्व नगर आदि सारी चीजें अकस्मात् अभाव को गई देखने में आती हैं, असद् रूप देखी गई हैं, उसी प्रकार यह जो सारे संसार का द्वैत है वह असत् रहते हुए ही दीख रहा है।

कहाँ दीख रहा है? वेदांतों के अन्दर दीख रहा है। संसार की असत्यता मन में दीखने वाली नहीं है। लोग उसे मन में देखना चाहते हैं। मन तो खुद ही असत्य है। असत्य में असत्य क्या दीखना है? वेदांतों में भी कहाँ? भगवान् भाष्यकार कुछ श्रुति प्रमाण दे देते हैं 'नेह नानास्ति किंचन' असत्यता तो वेदांत प्रमाण से दीखती है। आँख तो जैसा पहले देखती थी, वैसा ही देखेगी, मन भी जैसा पहले वैसा ही अब देखेगा। उन चीजों से मन सुखी दुःखी भी वैसे ही होगा जैसे पहले होता था। लेकिन उसके साथ ही निश्चय है कि 'इह नाना किंचन न अस्ति'। 'इह' अर्थात् जीवित काल में, प्रतीति काल में ही नहीं है। ऐसा नहीं कि जब समाधि लगेगी, सुषुप्ति आयेगी, मृत्यु हो जायेगी, उसके बाद नहीं रहेंगे; यह वेद ने नहीं कहा। यह वेदांत की विलक्षण आनन्द की प्रक्रिया है। जिस काल में अर्थात् जीवित काल में ये दीख रहे हैं, प्रतीत हो रहे हैं, उसी समय नहीं हैं। वही सिनेमा वाला दृष्टांत याद कर लो।

एक पुराना गाने वाला सहगल था। उसकी बहुत पुरानी फिल्म देवदास थी। उसकी नई कापी उतार कर फिर सिनेमा हालों में दिखाने लगे हैं। कोई देखकर आया तो हमने

Scanned by CamScanner

पूछा 'क्या नई फिल्म थी?' कहने लगे 'नहीं, उसको तो मरे हुए बारह साल हो गये। उसी पुरानी फिल्म को साफ करके दिखा रहे हैं।' हमने पूछा कि 'वहाँ सहगल दीखा?' 'हाँ।' जिस काल में दीख रहा था तभी पता था कि मर चुका है। यह पता था तो फिर क्या आँख बन्द कर ली? नहीं उसकी ऐक्टिंग देखकर तबियत खुश हो गई। बस यही जगत् है। जैसे उस काल में बुद्धि से, अखबारों से निश्चय हुआ, क्योंकि अपने हाथों से उसे नहीं जलाया, केवल बुद्धि का निश्चय था कि सहगल मरा हुआ है; आँख से देखने पर भी निश्चय नहीं बदला और फिर भी आँख खोलकर देखते रहे। इसी प्रकार जब कोई दूसरा गाली दे रहा है, दंडा मार रहा है, उसी समय जानो कि न कोई गाली देने वाला है और न कोई दंडा मारने वाला है। वहाँ कुछ नहीं है, सब मरे हुए हैं। वेद प्रमाण से बुद्धि का निश्चय है कि नहीं हैं। फिर आनंद से जैसे वहाँ आँख खोलकर देखते रहे, यहाँ भी खेल देखते रहो कि 'कितना बढ़िया दंडा मारा, नील पड़ गया, बड़ा आनंद आ रहा है।' जैसे वहाँ मरा दीख गया तो 'भूत है' यों डरकर बाइस्कोप से उठकर नहीं आये ऐसे ही यहाँ भी भागने की क्यों सोचते हो? यह श्रौत निश्चय है।

'इन्द्रो मायाभिः' इन्द्र अर्थात् परमेश्वर, अन्यत्र भाष्यकार कहते हैं 'इन्द्रः सर्वकामेश्वरः परमेश्वरः'; पौराणिक लोग इंद्र दूसरा मानते हैं, वह यहाँ नहीं समझना। वह परब्रह्म परमात्मा ही अपनी शक्तियों के द्वारा अनंत रूपों में दीख रहा है। कोई सुना रहा था कि एक आदमी ने एक फिल्म में छह अलग अलग पार्ट अदा किये। दो तीन तो प्रायः कर लेते हैं। जब एक साधारण आदमी तीन या छह अलग अलग पार्ट कर लेता है तो परमेश्वर ने दस बीस अरब पार्ट कर लिये तो क्या हो गया? सारे पार्ट वह एक ही तो अदा कर रहा है, मोनोड्रामा ही है क्योंकि दूसरा कोई नहीं हैं। यह निश्चय ही करना है और यह निश्चय वेद से ही होना है। दीखेगी उपाधि और उपाधि में एकता नहीं दीख सकती। उपाधियाँ अनेक हैं। जैसे वहाँ निश्चय है कि एक ने ही छह पार्ट लिये। बाइस्कोप के शुरू में ही लिखा हुआ आ जाता है। लेकिन देखते समय नहीं दीखता कि एक है, छह अलग अलग दीखते हैं। ऐसे ही यहाँ भी अलग अलग पार्ट देखते हुए ही यह नहीं कहना कि 'हरिमोहन ही बिशनदास क्यों नहीं है?' वे सारे दीखते हुए ही वेद कह रहा है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। इसलिये निश्चय है कि वह दोनों ही पार्ट कर रहा है।

'आत्मैवेदमग्र आसीत्' एक परमात्मा ने ही सारे पार्ट किये, यह कैसे पता लगा? कहा 'अग्रे' अर्थात् 'सृष्टेः प्राक्'। जब तक सृष्टि का विस्तार नहीं हुआ, एक ही आत्मा था। जब था ही एक तो दूसरा कहाँ से आया? इसी प्रकार 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' का भी वही अर्थ है।

मन में प्रश्न होता है कि चलो अलग अलग दीखता है तो अलग अलग ही मान लें। अलग अलग देखने में कोई रस आता होगा। वह अकेला था, उसने इतने रूप धारण

Scanned by CamScanner

किये तो भिन्न भिन्न देखते हैं। क्या हर्ज है? कहते हैं कि उनकी एकता नहीं जानते तो कोई हर्ज़ नहीं लेकिन 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' जब तक एकता का ज्ञान नहीं तब तक डर लगता रहेगा। एक आदमी सिनेमा देखने गया। उसमें एक शेर जोर से दहाड़ता हुआ आया तो वह कुर्सी के नीचे हो गया। किसी ने कहा 'यह क्या करता है?' बोला 'शेर आ रहा है।' उसने कहा 'यह तो सिनेमा है।' कहता है 'यह तो तेरे को पता है कि सिनेमा है, शेर को थोड़े ही पता है कि सिनेमा है, कहीं चढ़ बैठा तो!' इसी प्रकार लोग कहते हैं कि हम तो शांत हो जायें लेकिन दुनिया वाले कहाँ अपने को शांत रहने देते हैं, ऊपर चढ़ बैठते हैं। जब तक सर्वत्र एक इंद्र की दृष्टि, एक ब्रह्म की दृष्टि नहीं करोगे तब तक यह भय हटने वाला नहीं है। जहाँ अद्वितीय की दृष्टि हो गई तो पता लग गया कि यह शेर हमारे ऊपर नहीं उछल सकता।

'न तु तद् द्वितीयमस्ति' जो दूसरा दीख रहा है वह दूसरा है नहीं। जैसे स्वप्न में दीखता है दूसरा है किन्तु नहीं है, वैसे ही यहाँ भी दूसरा नहीं है। 'यत्र तु अस्य सर्वमात्मैवाभूत्' जिस अवस्था के अन्दर यह जो विवेकी विचारशील है, उसके लिये सब कुछ अपना स्वरूप ही हो गया कि 'मैं ही सब रूपों में खेल रहा हूँ'; 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः' मैं ही हरि हूँ और जो कुछ दीख रहा है, वह सब भी जनार्दन है। गीता में भी भगवान् ने कहा 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। इसी प्रकार श्रुति कहती है 'आत्मैवाभूत्' इन सब रूपों में खेलने वाला मैं ही मैं हूँ। शरीर के अन्दर कभी हाथ, कभी पैर, कभी नाक और कभी कान बन जाता हूँ तो मैं अलग थोड़े ही हो जाता हूँ। इसी प्रकार से कभी हिटलर और कभी स्टालिन बन जाता हूँ। कभी हिटलर को मारने के लिये आइसनहावर और कभी स्टालिन को दबाने के लिये ख्रुश्चेव बन जाता हूँ। कौन बन जाता है? मैं ही बन जाता हूँ। बैठे बैठे मन नहीं लगता, ऊब जाता है तो किसी को गाली देने वाला बना लेता हूँ। वह देता है तो मैं चिढ़ जाता हूँ। कुछ न कुछ करते रहना चाहिये क्योंकि मन लगा रहता है, नहीं तो आदमी ऊब जाये।

लोग कहते हैं कि विक्षेप क्यों होता है? हम कहते हैं कि विक्षेप न हो तो ऊब जाओगे, नहीं तो करोगे क्या? भूख न लगे तो दिन भर करो क्या? क्योंकि भोजन बनाने के लिये बाजार से साग लाना, फिर बर्तन मंजवाना, फिर शौच करके उसे निकालना, फिर भूख लग जाना। आनंद से पाँच सात घण्टे इसी में निकल जाते हैं। यह सब न हो तो फिर करो क्या! यह सब तो अपना मन लगाने के लिये हम लोग करते रहते हैं।

कोई एक किस्सा सुना रहा था कि एक आदमी रेल में जा रहा था। दो जने आपस में बात कर रहे थे। एक पूछता है 'कहाँ जा रहे हो?' कहा 'होशियारपुर।' 'अच्छा! मैं भी होशियारपुर जा रहा हूँ। होशियारपुर में कहाँ रहते हो?' 'गाँधी नगर।' 'अच्छा! मैं भी गाँधी नगर रहता हूँ। गांधी नगर में कौन से मकान में?' '१७ नम्बर में।' 'वाह! मैं भी १७ नंबर में ही रहता हूँ। किस तल्ले पर?' 'दूसरे तल्ले पर।' 'मैं भी दूसरे तल्ले

Scanned by CamScanner

पर ही रहता हूँ।' किसी तीसरे ने उनसे पूछा 'तुम दोनों एक ही मकान में एक ही तल्ले पर रहते हो, एक दूसरे को देखा नहीं?' तब उसने कहा 'होने को तो हम बाप बेटे हैं, लेकिन रास्ता तो काटना ही हुआ और कुछ बात तो करनी ही हुई!' इसी प्रकार यहाँ भी अनंत काल तो काटना ही हुआ तो कुछ न कुछ होता रहे, नहीं तो किससे कटे?

प्रश्न होता है कि वेदांत तो कर्मकाण्डी भी पढ़ते हैं 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यह मन्त्र संहिता पढ़ते हुए पढ़ना ही पड़ेगा। पूरी उपनिषत् पढ़नी पड़ेगी। लेकिन वे बेचारे कभी ऐसा नहीं कहते कि इसका मतलब यह अद्वैत है। उत्तर दिया कि जो सच्चाई देखने में लगे रहते हैं वे समझते हैं 'निपुणतरवस्तुदर्शिभिः' जो अत्यंत निपुणतर हैं अर्थात् केवल शब्दार्थ को न देखकर उसके भावार्थ तक प्रवेश कर जाते हैं वे विचक्षण हुए। ऐसे पंडित लोग ऐसा देखते हैं। यह उपनिषद् वचनों से बताया।

अब इस विषय में व्यास जी के वचन का प्रमाण देते हैं। इतना समझ लेना कि भगवान् भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्रकार को व्यास शब्द से नहीं कहा, उनके लिये वे 'भगवान् बादरायणः' कहते हैं। महाभारतकार को व्यास कहते हैं। परम्परानुसार ब्रह्मसूत्रकार भी वही थे। भगवान् वेद व्यास कहते हैं 'तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम्। नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्।।' मंदांधकार के अन्दर जैसे रस्सी की जगह भूछिद्र दिखाई देता है; जैसे बरसात की बूंद गिरने पर बुलबुला पैदा होता है; इससे ज्यादा संसार की सत्यता नहीं है। जैसे अंधकार के अन्दर तरह तरह की चीजें दिखाई देती हैं भूत, प्रेत, न जाने क्या क्या दिखाई देता है! आकाश के अन्दर छेद दिखाई देता है। भ्रम से दीखे पदार्थ सब नाशप्राय हैं। जैसे ही बिजली की चमक आई, अंधकार नष्ट होते ही छेद, भूत, प्रेत आदि सब इकट्ठे ही चले जाते हैं। जैसे ही बादल थोड़ा आगे बढ़कर आया, वह आकाश का छेद गया, जैसे ही वर्षा की बूंद गिरी, बुद्बुदा भी गया। जिस समय दीख रहा है उस समय में भी नहीं है हुआ सा ही है। वहाँ सुख का नाम निशान नहीं। ऐसी चंचल चीज से क्या सुख होना है? हम नित्य रहने वाले। नित्य रहने वाले को अनित्य पदार्थ से कैसे सुख होना है? उसे सुख का कारण माना तो आगे भी दुःख और पीछे भी दुःख है। जब तक पैसा कमाओ नहीं तब तक भी दुःख कि 'हाय नोट कब आयें', कमाकर रखा और मर गये तो फिर दुःख कि 'हाय सब छोड़कर जा रहे हैं!'

कल ही एक किताब बाँच रहे थे। उसमें कहा है कि अमरीका वाले कभी सुखी नहीं रह पाते क्योंकि अमरीका की संस्कृति ही भविष्य प्रधान बनी है। वे हमेशा भविष्य को ही सोचते रहते हैं। बचपन में सोचा कि भविष्य सुधारो इसलिये पढ़ते रहे। जवानी में सोचा भविष्य सुधारो तो कमाते रहे। मिडल एज में सोचते हैं कि भविष्य ठीक हो इसलिये डटकर काम करें। बुढ़ापे में भविष्य के लिये कुछ करना बाकी नहीं रहा क्योंकि बुढ़ापा आ गया, कुछ करने योग्य नहीं रहे। अब भविष्य का अभाव ही दुःख देता रहता है कि भविष्य कुछ नहीं! संस्कृति ही ऐसी है जो भविष्य को प्रधानता देती है। तब बच्चे,

Scanned by CamScanner

समाज, सब समझते हैं कि अब बुड्ढे पर और पैसा खर्च करना बेकार है क्योंकि वे लोग भी भविष्य की दृष्टि से सोचते हैं कि देश की उन्नति होनी है। जिस भविष्य के लिये जीवन भर काम करते रहे उस अंतिम भविष्य में न दूसरे कुछ करने को तैयार और न अपने से कुछ होना है। यद्यपि भारत के बारे में किसी ने नहीं लिखा लेकिन यहाँ के बारे में भी ऐसा ही लिखना चाहिये क्योंकि यहाँ भी लोग यही मानते हैं कि भविष्य में सुखी होंगे। इसी चक्कर में लगे हुए हैं, और भविष्य कभी आना नहीं है। इसलिये विचारशील वर्तमान क्षण को सुखरूप बनाता है, फालतू भविष्य की कल्पनाओं में नहीं फँसता। इसलिये जितने भी द्वैत के पदार्थ हैं ये कभी भी सुखी नहीं कर सकते, ये जब देंगे तो दुःख ही देंगे।।३१।।

●

प्रमाण और युक्ति के द्वारा जब द्वैत का मिथ्यात्व-निश्चय हो गया तो और एक विचार बताते हैं कि अद्वैत ही पारमार्थिक तत्त्व है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।३२।।

न संसार के प्रलय और उत्पत्ति हैं और न ही कोई बद्ध है जो मोक्ष का इच्छुक होकर साधना करे। अत एव कोई ऐसा नहीं जिसके बन्धन छूट चुके हों। बस यही वास्तविकता है। जब द्वैत असत्य सिद्ध हुआ तो बार बार यह निश्चय करे कि न इसकी कभी प्रलय हुई थी और न होगी। नित्य प्रलय सुषुप्ति में और नैमित्तिक प्रलय मृत्यु में हो जाती है। लम्बी प्रलय महाप्रलय में हो जाती है। लेकिन वस्तुतः इसकी कभी भी प्रलय नहीं। क्योंकि बीज रूप से अर्थात् कारण रूप से नित्य है और कार्य रूप से कभी पैदा नहीं हुआ इसलिये प्रलय किसकी हो? इसी प्रकार कभी भी किसी भी चीज की उत्पत्ति नहीं। न कोई चीज़ ख़तम होती है और न कोई चीज़ रहती है। जो चीज़ है वह नित्य है।

जैसे वह सिनेमा की रील (फिल्म) तुम्हारे देखने के साथ नष्ट थोड़े ही होती है। तुमको उस सिनेमा से निकाल देते हैं, दूसरे घुस जाते हैं। वही फिल्म फिर उन्हें दीख जाती है। उसी प्रकार तुम्हारा प्रारब्ध खतम हुआ तो तुम्हारा देखना बन्द। अब दूसरों ने उसका टिकट ले लिया तो उन्हें फिर वही दीखने लगती है। ऐसा नहीं कि जो तुम नें देख लिया वह दूसरों को नहीं दीखेगा। इस चक्कर में नहीं रहना। जो फिल्म तुमको आज दीखी वह तुम्हारे बच्चे पोतों को दीखती रहेगी। इसलिये इसकी चिंता नहीं करना कि सारी हम ही खतम कर देंगे तो आगे बच्चों केलिये नहीं रहेगी। सिनेमा जब दीखता है तो न पैदा ही होता है और न समाप्त। सिनेमा के अन्दर न सचमुच उत्पत्ति और न प्रलय होती है। पहले हुआ हो वह बात दूसरी है। इसी प्रकार यहाँ न कुछ पैदा होता

Scanned by CamScanner

है और न खतम होता है। एक एक द्रष्टा हटता जाता है जिन जिन का टिकट खतम हो गया, नये द्रष्टा आते जाते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी यही कहता है कि ऐसे ऐसे नक्षत्र और नीहारिकायें हैं जहाँ से यहाँ तक रोशनी आने में आठ सौ साल लगते हैं अर्थात् जो तारा आज टूटा वह तुम्हें आठ सौ साल तक वैसा ही दीखता रहेगा, क्योंकि उसकी रोशनी यहाँ तक आने में उतना समय लगता है। साधारण आदमी सोचता है कि जब हमको टूटता दीखा तो शायद तभी टूटा, लेकिन कब टूटा, इसका कुछ ठिकाना नहीं। ऐसे ही यहाँ से ऊपर कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ उस तारे की रोशनी पहुँचने में चार सौ साल लगते हैं तो उनकी दृष्टि से तुम्हारी अपेक्षा चार सौ साल पहले टूटा। इसलिये उन्हें जो आज टूटा हुआ दीख रहा है वह उनके लिये वर्तमान है जबकि उस तारे में रहने वालों के लिये चार सौ साल पहले ही टूट चुका अतः उनके लिये भूत है, तुमको और चार सौ साल बाद टूटता दीखेगा, इसलिये तुम्हारे लिये वही भविष्य हो गया। अब इनमें कौन सा भूत, कौन सा भविष्य और कौन सा वर्तमान कालिक मानें? कुछ नहीं मान सकते। यह वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध है, निश्चय कर लेना चाहिये। जो खेल दस साल पहले कर चुके वह हमें आज दीख रहा है। टेपरिकार्डिंग में ऐसा होता ही है। आज हम बोल रहे हैं, कल लकवा हो जाये तो भी वह वही बोली बोलता रहेगा जो हम आज बोल रहे हैं।

इसलिये संसार पैदा नहीं हुआ। जब संसार ही पैदा नहीं तो संसारी जीव कहाँ से पैदा होगा? लोग बार बार कहेंगे कि 'तू जीव ही है, अभी ब्रह्म थोड़े ही हो गया।' उनकी बातों में नहीं आ जाना। न आज तक किसी ने साधना की। जब साधना करो तब साधक बनो और जब बद्ध ही नहीं तो साधना काहे के लिये? जब मोक्ष ही नहीं तो मुमुक्षु कौन बने? जैसे सिनेमा में ऐक्टिंग करते हैं, ऐसे ही मन कहता है कि मुक्त हो जाओगे। उससे कहते हैं 'अरे मनीराम! तू जड है, दृश्य है, पंचमहाभूतों से पैदा हुआ है। तेरा बाप अज्ञान ही मुक्त नहीं हो सकता तो तू क्या मुक्त होगा?' वह कहेगा कि 'मैं मुक्त नहीं तू मुक्त होगा।' लेकिन मेरे को बंधन कब हुआ जो मुक्ति होनी है? इसलिये मुझे क्यों बदनाम करता है? जैसे किसी भले आदमी से कहो 'अब तुम जेल से छूट जाओगे।' वह कहेगा 'क्यों बदनाम करता है, जेल में था कब जो कहता है कि छूट जाऊँगा।' ऐसे ही मैं कब बद्ध हुआ जो कह रहा है कि मुक्त होना है! मन मुक्त हो नहीं सकता, मैं बद्ध हो नहीं सकता। यही पारमार्थिक सत्य है। इसी का नाम सत्य है, बाकी सब कल्पनायें बेकार की हैं।

प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करने के लिये यह श्लोक है। प्रकारण वैतथ्य सिद्धि का, संसार की असत्यता को सिद्ध करने का है। उस बात को पूरी तरह कहने वाला यह श्लोक है। यह सिद्ध हो गया कि द्वैत वितथ है, असत्य है। द्वैत अर्थात् व्यवहारमात्र ही अविद्या का विषय है। सचमुच तो पारमार्थिक दृष्टि से, परम प्रयोजन की दृष्टि से

Scanned by CamScanner

एक आत्मा ही है और कुछ नहीं है। यदि ऐसा है तब यह जो बात कही है वह समझ में आयेगी अर्थात् बुद्धि में स्थिर हो जायेगी। जब तक संसार की वितथता नहीं, तब तक अद्वैत दृष्टि नहीं बनती है।

'सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एव'। लोक व्यवहार— यहाँ से चले, रेल में बैठे, दिल्ली पहुँचे, मोटर में बैठे, आश्रम पहुँचे आदि सारे जो व्यवहार दीख रहे हैं। एक अज्ञान है तो ये सब प्रतीतियाँ हो रही हैं। इसी प्रकार से वैदिक व्यवहार हैं। धन आया तो अग्निहोत्रकर्म करूँ, सोमयाग करूँ। पूजा-पाठ, ध्यान-समाधि का अभ्यास, योगाभ्यास, सत्कर्म करने चाहिये, सद्विचार रखने चाहिये, सदाचार करना चाहिये; न जाने कितने व्यवहार लादे हुए हैं! ये सारे वैदिक व्यवहार हैं। जैसे लौकिक व्यवहार अविद्या दृष्टि का विषय, वैसे ही वैदिक व्यवहार भी अज्ञान का विषय, अविद्या का विषय हैं। ज्ञान की दृष्टि वाले के लिये ये सब व्यवहार नहीं हैं।

लेकिन ज्ञानी लोगों से सहन नहीं होते! लोकमान्य तिलक कहते हैं कि ज्ञानी को लौकिक व्यवहार देश का उद्धार करना चाहिये। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम कहते हैं कि ज्ञानी को पराभक्ति करनी चाहिये। ज्ञान के बाद घण्टी हिलाते रहो। उन्हें भी कहीं प्रमाण मिल जाते हैं, जैसे भागवत में कहा है 'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम् इत्थंभूतगुणो हरिः'। इसी को लेकर ज्ञानेश्वर कहते हैं कि भक्ति करते रहना चाहिये। भट्टभास्कर आदि कहते हैं कि श्रौत कर्म करते रहो, लोकसंग्रह करते रहो। ये सब ज्ञानी से ईर्ष्या वाले हैं। इनके चक्कर में नहीं आना चाहिये। इदानीं काल में कहते हैं कि समाधि का अभ्यास, योगाभ्यास करो। ठीक है तुम्हें ज्ञान है, लेकिन यह परोक्ष ज्ञान है, इससे नहीं होता। तुम्हारे ऊपर साँप छोड़ें और न भागो, तो मानें कि ज्ञानी हो। ऐसे लोगों ने कहानियाँ भी बना रखी हैं कि अमुक के सिर पर जलता हुआ अंगारा रखा तो उसे पता नहीं लगा। हम कहते हैं कि उसे लकवा हुआ होगा, तभी पता नहीं। लेकिन वे कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि करके सारे शरीर को लकवे के रोग की तरह करे तो ज्ञानी, नहीं तो काहे का ज्ञानी! इसलिये लौकिक और वैदिक दोनों कर्म व उपासना अविद्या का विषय हैं।

निरोध का अर्थ किया प्रलय। उत्पत्ति का अर्थ किया जनन अर्थात् उत्पन्न हो जाना। बद्ध का अर्थ कर दिया संसारी जीव। साधक साधन करने वाला। जो मोक्ष के लिये प्रवृत्त हो वह मुमुक्षु, और जो बंधन से मुक्त हो गया वह विमुक्त। उत्पत्ति और प्रलय नहीं, इतने से ही आ जाता है कि जब ये दोनों नहीं तो बद्ध आदि कहाँ से आयेंगे?

यह आपने कैसे कह दिया कि उत्पत्ति और प्रलय नहीं हैं? क्योंकि द्वैत है ही नहीं तो अपने आप ही ये सब नहीं हैं। इसमें ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' 'जहाँ द्वैत की तरह प्रतीति होती है' अर्थात् द्वैत कभी नहीं होता। जो कुछ भी इदंता रूप से प्रतीत होता है वह सब आत्मा ही है 'आत्मैवेदं सर्वम्।' जो भेद जैसा देखता है उसे बार बार मरना पड़ता है। इन श्रुतियों के द्वारा द्वैत की असत्यता सिद्ध कर दी।

Scanned by CamScanner

अब जरा अलातशांति प्रकरण के विषय को संक्षेप में कहते हैं, आगे विस्तार से कहेंगे। कोई कह सकता है कि द्वैतकी असत्यता होने पर भी प्रलय व उत्पत्ति नहीं इसमें क्या प्रमाण है? जो चीज़ नहीं होती वह तो पैदा हुआ नहीं करती। जो चीज़ न हो और पैदा हुआ करे तो खरगोश के सींग नहीं होते, वे भी पैदा होने चाहिये! इसलिये जो नहीं है वह पैदा होता नहीं देखा जाता। जो पैदा होता है वह पहले ही है तो तूने क्या पैदा किया? तिल में तेल है तो है, तूने पैदा क्या किया? इसलिये उत्पत्ति किसी विवेकी को समझ में नहीं आती कि कैसे पैदा हो गया। यह तो अंध-परम्परा है। जो चीज़ है उसी की तुम उत्पत्ति या प्रलय कहोगे। जो नहीं है उसकी तो उत्पत्ति होगी ही नहीं जैसे खरगोश के सींग आदि। अद्वैत की न उत्पत्ति और न उसको लुप्त कह सकते हो क्योंकि वह उत्पन्न होता नहीं। उसको अद्वय भी कहो और उत्पत्ति-प्रलय वाला भी कहो, यह तो अत्यंत विरुद्ध बात है। जो तो द्वैत का व्यवहार तुम करते हो वह रस्सी में साँप की तरह आत्मा में कल्पित है। द्वैत की उत्पत्ति काल्पनिक और अद्वैत की उत्पत्ति बनती नहीं। फिर उत्पन्न क्या होता है? केवल मन की कल्पना है।

जो रस्सी में साँप है वह न रस्सी में पैदा हुआ और न उसमें लीन होता है। कह देते हैं कि रस्सी में से साँप निकला और अंदर चला गया। क्या निकला? क्या घुसा? कुछ नहीं। केवल मन से कल्पना की। ऐसे ही न संसार उत्पन्न हुआ और न लीन होता है। बस अज्ञान की कल्पना चलती रहती है। स्वप्न की कल्पना मन और जगत् की कल्पना अज्ञान करता है। कहोगे कि वहाँ रस्सी में साँप पैदा नहीं हुआ, मन में साँप उत्पन्न हुआ होगा। मन में उत्पन्न हुआ होता तो वहीं काट खाता! इसलिये कहीं पैदा नहीं होता। केवल झूठ बोलते हो कि पैदा हुआ। यदि कहो कि दोनों के सम्बन्ध से हुआ तो वह भी नहीं। वैसे ही द्वैत भी मन से ही प्रतीत होता रहता है, न मन में और न बाहर पैदा होता है। जब मन सुषुप्ति में लीन हो जाता है तो फिर द्वैत का ग्रहण कहाँ होता है? अतः द्वैत सारा मन की कल्पनामात्र है, यह सिद्ध हो गया।

जब यह अच्छी तरह से समझा दिया कि द्वैत की सत्ता, निरोध आदि का अभाव ही सच्ची चीज़ है तो शंका होती है कि सच्चा होने से द्वैत के अभाव का ही प्रतिपादन करने में शास्त्र-व्यापार होना चाहिये अर्थात् शास्त्र का काम द्वैत का अभाव बताना होना उचित है और तब अद्वैत को शास्त्र नहीं बतायेगा। द्वैत का अभाव ही बतायेगा तो शून्यवाद हो जायेगा। आज तक प्रतीति द्रष्टा-दृश्य-भाव की, वह द्वैत हुआ। वह नहीं है तो कुछ नहीं बचा। शास्त्र का व्यापार द्वैत के अभाव के प्रतिपादन में हुआ तो वह अद्वैत का प्रतिपादन नहीं कर सकेगा। अभाव के प्रतिपादक वाक्य भाव को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होते।

ऐसे स्थल याद रखने के हैं। अनेक लोग अभावाद्वैती हो गये हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म जड नहीं है इसीलिये उसे ज्ञान कह दिया, ब्रह्म में दुःखाभाव है इसीलिये उसे आनंद कह दिया। जब तक मनुष्य इस स्थिति का अनुभव नहीं करता तब तक ठीक से समझ

Scanned by CamScanner

में नहीं आता अतः वह समझ लेता है कि दुःख का अभाव ही होता होगा। क्योंकि युक्ति से सोचता है कि अंतःकरण की वृत्ति रहती नहीं, सुख दुःख का भान नहीं होता होगा। आज तक जो अनुभव हुए हैं उन्हीं के अन्दर सबको समेट लेना चाहते हैं। एक जगह आनंदगिरि स्वामी ने दृष्टांत दिया है कि एक लड़की की शादी हुई। शादी होकर वापिस आई तो उसकी सहेलियों ने प्रश्न किया कि 'शादी में क्या आनंद आता है?' वह बोली, 'क्या बताऊँ?' सहेली ने कहा 'दाल मोठ खाने जैसा, रसगुल्ला खाने जैसा, बढ़िया सूर्यास्त देखने जैसा, रेशम में कपड़ों जैसा होता होगा।' उसने कहा 'यह सब कुछ नहीं होता। जब तुम्हारी शादी होगी तभी पता लगेगा।' जिसकी शादी नहीं हुई, उसे चाहे जैसे समझाना चाहो, वह नहीं समझ सकती। ठीक इसी प्रकार जब तक ब्रह्मबोध नहीं हुआ तब तक उसे आज तक जितने अनुभव हुए हैं उन्हीं में घटाना चाहो तो ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिये अद्वैतसिद्धि में 'ब्रह्मणो ज्ञानत्वाद्युपपत्तिः' प्रकरण में स्पष्ट ही 'अर्थप्रकाशत्वमेव ज्ञानत्वम्।...। आनन्दत्वस्य निरुपाधिकेष्टरूपत्वात्।' इत्यादि विधिमुख से ब्रह्म की सत्यादिरूपता का वर्णन किया है। लघुचन्द्रिकाकार भी भावरूप से प्रतिपादन करते हैं।

जब कहा कि द्वैत नहीं है यही सत्य है तो वादी कह रहा है कि अभाव के प्रतिपादनमें प्रवृत्त शास्त्र यदि किसी भाव स्थिति रूप अद्वैत का प्रतिपादन करेगा तो वाक्यभेद हो जायेगा। द्वैत का निषेध करने में प्रवृत्त हुआ और भावरूप अद्वैत का प्रतिपादन कर दिया तो विरोध होगा अर्थात् वाक्यभेद दोष आ जायेगा। और यदि ऐसा स्वीकार कर लोगे, अद्वैत को अप्रामाणिक मान लोगे, तो अद्वैत कोई वस्तु रही नहीं; फिर शून्यवाद की प्रसक्ति हो जायेगी। अर्थात् फिर शून्यवादी और तुम्हारे में क्या फ़रक रहेगा?

सिद्धान्ती जवाब देता है कि यह बेकार की शंका है क्योंकि इसका जवाब हम पहले ही ओंकारप्रकरणमें दे आये हैं। अद्वैत प्रामाणिक, प्रमाणसिद्ध न हो, फिर भी शून्यवाद की प्राप्ति नहीं होती है। अद्वैत वस्तु की प्रमाण से सिद्धि न होने पर भी शून्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती। द्वैत का अभाव सिद्ध हो जाने से अद्वैत प्रमाणसिद्ध न होने पर भी शून्यवाद की सिद्धि नहीं होती। शून्य न स्वतः सिद्ध है और न कार्यलिंगक अनुमानादि से; इत्यादि दोष वहाँ दिये थे। शून्य अभावरूप हुआ। अभाव से अभाव की उत्पत्ति होगी, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः द्वैतरूप कार्य से शून्य अनुमेय नहीं। अद्वैत प्रमाणसिद्ध न भी हो, लेकिन द्वैत की प्रतीति भी शून्यवाद की सिद्धि नहीं होने देगी। 'नहीं हैं'- जाति से है-जाति कैसे पैदा हो जायेगी?

शून्यवाद की प्राप्ति नहीं होगी यह स्पष्ट समझाने के लिये बताते हैं कि रज्जु में सर्प आदि जो विकल्प हैं उनका किसी न किसी को अधिष्ठान भी मानना पड़ेगा क्योंकि बिना अधिष्ठान के अध्यास की प्रतीति नहीं होती। यह हमने पहले ही बता दिया था कि बिना किसी चीज़ के विकल्पना की प्रतीति नहीं, बिना अधिष्ठान के भ्रम नहीं होता।

Scanned by CamScanner

इसलिये द्वैत के अधिष्ठान रूप से ही अद्वैत में आस्था कर लो। शून्यवाद का निषेध तो कर ही चुके, मरे हुए को फिर क्यों जिला रहे हो? वादी कहता है कि शून्यवाद इसलिये जिला रहा हूँ कि हमारा सिद्धांत तुमने नहीं सुना। हम तो कहते हैं कि भ्रम से भ्रम, यही चलता रहता है, आस्पद की जरूरत नहीं रहती। रस्सी सर्प का आश्रय है, वह भी तो तुम्हारी कल्पना ही है। रस्सी भी तो कल्पित ही है। 'रज्जुरपि सर्पविकल्पस्य आस्पदभूता विकल्पितैव।' पहले जहाँ सर्प दीखा वहाँ तुमने कल्पना कर ली कि सर्प का अंधिष्ठान रस्सी है। तुमने गलत देखा कि रस्सी साँप का अधिष्ठान है। जब तुम्हारे को साँप दीखा तो रस्सी नहीं दीखी और जब रस्सी दीख रही है तब साँप नहीं दीख रहा है। यह कल्पना कैसे कर ली कि यह अधिष्ठान और वह अध्यस्त ? इसलिये तुम्हारा दृष्टांत जो रस्सी वह जब कल्पित है तो रस्सी-स्थानीय ब्रह्म कैसे सत्य होगा? सत्याधिष्ठान का कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता अतः दृष्टांतानुपपत्ति दोष दे दिया।

सिद्धान्ती कहता है कि यह कोई नियम नहीं कि दृष्टान्त स्वमतसिद्ध हो। दृष्टान्त प्रसिद्ध होना चाहिये इतना ही जरूरी है। रस्सी सच्ची होती है यह प्रसिद्ध है, हम चाहे उसे भी ब्रह्म पर अध्यस्त ही मानें। अतः प्रसिद्धि के अनुसार उदाहरण दिया कि सर्पादि कल्पनाओं का आस्पद जैसे सत्य रस्सी ऐसे विश्व कल्पना का आस्पद जो है वह सत्य ही होगा। इस प्रकार दृष्टान्त उपपन्न है अतः जो दोष दिया वह नहीं है। यह सूत्र वाक्य बड़ा गम्भीर है। जितनी भी विकल्पनायें होती हैं वे जब क्षय हो जाती हैं तब वे कहीं तो नष्ट होंगी। जहाँ क्षय हुई अगर तुम उसे भी विकल्पित मानते हो तो उसका भी क्षय कर दो। और यदि उसे अविकल्पित मानते हो तो अविकल्पित तुम खुद ही कह रहे हो! सर्पकल्पना की समाप्ति रस्सी में हुई यह तो मान लिया लेकिन रस्सी भी कल्पना है। रस्सी की कल्पना का क्षय किसमें? धागे में। अब यह बताओ कि धागा विकल्पित है या नहीं? कहोगे धागा मिट्टी में विकल्पित है। जब तक तुम्हें विकल्पित दीखता रहता है तब तक चलते रहो। हम पूछते रहेंगे कि 'यह किसमें विकल्पित है?' और अंत में कहीं जाकर कहोगे कि 'इसको किसमें क्षय करें!' बस, जिसे क्षय नहीं कर सकोगे उसको हम खुद ही अविकल्पित कह रहे हैं। जो चीज़ अविकल्पित हुआ करती है वही सत्य हुआ करती है

यह व्यवहार में करते रहना चाहिये। शुरू में जब दीवाल दीखती है तो विचार करो कि यह दीवाल जल से अतिरिक्त कुछ नहीं है, जल तेज से अतिरिक्त नहीं, तेज वायु से अतिरिक्त नहीं और वायु आकाश ही आकाश है अर्थात् कुछ नहीं, पोल है। केवल मुँह से कहने की चीज नहीं है। तब तक ध्यान से देखो जब तक जल की लहर न दीख जाये। जिसे आज तक मिट्टी देख रहे हो उसके साथ ही जल की लहर दीखनी चाहिये, जैसे अपने शरीर पर जलरूप पसीना दीखता है। जब वह निश्चय दृढ हो जाये तो उसे अग्नि की लपट के रूप में देखो और जब यह दृढ हो जाये तो उसी को वायु

Scanned by CamScanner

के हिलने के अनुसार देखो। जब यह दृढ हो जायेगा तो दीवाल देखने के साथ ही तुम्हें आकाश दीखेगा। गोल पत्थर देखते ही झट होता है कि यह शिवलिंग है, यह अभ्यास से ही तो होता है। किसी ईसाई मुसलमान से पूछो तो कहेगा कि पत्थर है उससे कहो फिर देखो, तो फिर कहेगा कि पत्थर है। इसी प्रकार यहाँ है कि देखते देखते, अभ्यास करते करते देखते काल में ही आकाशरूप दीख जाता है। इसी प्रकार विकल्पनाओं का क्षय करते करते वह आकाश का साक्षी 'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशस्संभूतः' एकमात्र आत्मा ही रह जायेगा। इस प्रकार दृष्टांत को उपपन्न बना दिया। साँप का रस्सी अधिष्ठान है यह हम नहीं कह रहे हैं, या साँप रस्सी में कल्पित है यह भी नहीं कह रहे हैं। हमारा मतलब साँप से है विकल्पित और रस्सी से है अविकल्पित। तुम रस्सी को नहीं मिट्टी को अधिष्ठान बनाना चाहो तो उसी को बना लो, लेकिन एक विकल्पित और एक अविकल्पित मानना। अविकल्पित ही अधिष्ठान और विकल्पित ही अध्यस्त इस प्रकार दृष्टांत हो जायेगा।

फिर भी वादी कहता है कि जैसे साँप और रस्सी दोनों असत्य हैं, विकल्पित हैं वैसे ही यहाँ भी मान लो कि अविकल्पित कोई है ही नहीं। तब उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं मान सकते। जिस दृष्टि से साँप झूठा है उस दृष्टि से रस्सी तो सच्ची है। वह झूठी तो किसी अन्य दृष्टि से है। ऐसे आत्मा किसी दृष्टि से झूठा नहीं इसलिये वह अविकल्पित ही है। किंच रज्जुसर्प आदि स्थलों के अंदर तुम रस्सी अधिष्ठान को भ्रान्ति मान भी लो लेकिन जिसको यह भ्रान्ति हुई उसकी कल्पना किसने की? यह बताओ। साँप की कल्पना रस्सी की कल्पना से हो गई, लेकिन दोनों कल्पनायें किसने की? विकल्पना करने वाला तो विकल्पना के पहले होगा तभी काम होगा। विकल्पना होने के पहले जो है, वह अविकल्पित है तभी उसने कल्पना करना शुरु किया। नहीं तो किसने कल्पना की? रस्सी है या नहीं, यह झगड़ा चलता रहो, लेकिन रस्सी व साँप दोनों की कल्पना जिसने की वह विकल्पना के पहले था इसलिये वह अविकल्पित है यह तो मानना ही पड़ेगा। साँप के अभाव के विज्ञान के पहले वह साँप की विकल्पना करता रहे, लेकिन विकल्पना करने वाला विकल्पना के पहले है जरूर इसलिये अविकल्पित है ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा। उसकी असत्यता अनुपपन्न है, उसे तुम सिद्ध नहीं कर सकते। भ्रम का साक्षी भ्रम का अविषय है। भ्रम का विषय सर्प आदि, लेकिन भ्रम को जानने वाला भ्रम का विषय थोड़े ही है। भ्रम के जानने वाले साक्षी को ही हम अविकल्पित कह रहे हैं। 'यह साँप नहीं, यह रस्सी ही है' इस प्रकार सर्प के अभाव का जो ज्ञान है, वह जिसको होता है उसी को कभी रस्सी का भी निश्चय हो जायेगा।

प्रष्टा कहता है— यह बात तो आपकी मान ली कि आत्मा द्वैत-भ्रम का अधिष्ठान है। यह आपने संभावित कर दिया क्योंकि सारे बाधों को करने के बाद भी वह बच जायेगा। भ्रम की उत्पत्ति के पहले भी उसकी सिद्धि है, भ्रमों को नाश करने के बाद भी बच जाता

Scanned by CamScanner

है और भ्रम के काल में भी बना रहता है; इसलिये शून्यवाद तो सिद्ध नहीं हुआ। लेकिन शास्त्र के अन्दर अप्रमाणता फिर भी आ जायेगी। स्वरूप में तो शास्त्र का कोई व्यापार नहीं हो सकता, अर्थात् शास्त्र वहाँ क्या करेगा? आपका शास्त्र वहाँ व्यापार ही नहीं कर सकेगा तो फिर द्वैत के अनुभव को हटायेगा कैसे? वहाँ शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं, वहाँ शास्त्र कुछ कर नहीं सकता। जैसे, तलवार वायु को काट नहीं सकती। कोई कहे कि 'आपकी हवा और हमारी हवा अलग अलग है क्योंकि तलवार से काट दी गई थी।' जब तलवार वायु को विषय ही नहीं करती तो फिर तलवार से वायु कट भी नहीं सकती। इसी प्रकार शास्त्र जब अद्वैत को विषय ही नहीं करता तो द्वैत विज्ञान को हटायेगा कैसे?

उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं है। जहाँ प्रमाण की प्रवृत्ति न हो वहाँ भी फल पैदा हो जाता है। पूर्वपक्षी का कहना था कि निषेध जहाँ अर्थात् जिस पर किया जाये वह प्रमित होना चाहिये, उसकी प्रमा होनी चाहिये। जैसे रस्सी के बारे में कहते हैं 'यह साँप नहीं है,' तो रस्सी ऐसी होती है जिसे प्रमित किया जाता है। अगर कोई कहे 'शशशृंग साँप नहीं है' तो यह वाक्य कोई मायने नहीं रखता। आत्मा को प्रमेय नहीं मानोगे तो 'नेह नानास्ति' आदि द्वैतनिषेध किस पर करोगे, धर्मी कौन होगा, किस के बारे में कहोगे कि 'यह रज्जुस्थानीय घट सर्पस्थानीय द्वैत नहीं है'? सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि धर्मी की जानकारी चाहिये इतनी बात तो ठीक है पर वह प्रमाण का विषय हो इसकी ज़रूरत नहीं। महात्मा लोग एक प्रसिद्धि बताते हैं : एक आदमी एक बार बैठा हुआ था जो कुछ सनकी दिमाग का था। उसने देखा कि ऊँटों पर रूई आ रही है। तीन ऊँट रूई लेकर आ गये। उसे चिंता हो गयी कि 'इतने ऊँट हमारे गाँव में रूई ले आये तो अब अपने जुलाहे तो रात दिन काम करते रहेंगे। इतनी रूई कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा?' यही उसके दिमाग में चढ़ गया तो वह पागल हो गया। फिर कोई महात्मा उधर से निकले तो लोगों ने उनसे कहा कि इसे इस प्रकार से पागलपन हो गया है। उन्होंने उससे पूछा 'क्या बात है?' वह कहने लगा 'बात मत करो, बहुत रूई आ गई है, इतनी कौन धुनेगा? यह सोचकर ही दिमाग फटा जा रहा है। अब गाँव के लोग ओवर टाइम करते रहेंगे। और भी ऊँट आ गये। बात मत करो।' तब महात्मा ने उससे कहा 'उस सारी रूई को एक जगह इकट्ठा करके ढेर लगा दिया था।' यह सुनकर वह और इधर उधर पलटा मारने लगा। महात्मा ने कहा 'तब तक किसी ने चिलम पीकर उधर डाल दी और वह सारी रूई जल गई।' कहने लगा 'अच्छा! सच्ची बात है? सारी जल गई?' महात्मा ने कहा 'मैं देखकर आया हूँ।' वह कहने लगा 'टंटा मिटा।' यह सुनकर वह ठीक हो गया।

अब बताओ कि उस अग्नि या ज्ञान का विषय वह रूई थी? सभी कल्पनाओं के अधिष्ठान रूप से आत्मा का स्फुरण हो रहा है। भ्रमसिद्ध रूई का जलना समझ आ सकता है तो यह नियम नहीं रहा कि धर्मी प्रमित होना चाहिये। ज्ञात जरूर होना चाहिये। आत्मा

Scanned by CamScanner

'मैं' रूप से सबको प्रसिद्ध है। अतः उसके बारे में कह देंगे कि वह द्वैत नहीं है, द्वैतसंबंध तुम से नहीं है।

भगवान् भाष्यकर कहते हैं कि रूई से पागल हुऐ जैसा ही तुम लोग करते हो। कैसे? तुम लोग बड़े परेशान हो कि कैसे साधना करें, कैसे मुक्त हों, कैसे संसार को, राष्ट्र को सुधारें, कैसे सरकार को सुधारें, न जाने पाकिस्तान क्या करेगा; सारे इसी में लगे हुए हैं। उस ब्रह्म में ये सब हैं कल्पित। वेदांती कहता है कि 'ये सब नष्ट हो गये क्योंकि अज्ञान कल्पित हैं,' तो तुम शान्त हो जाते हो। ऐसे ही कल्पना करते हो 'सुख्यहं, दुःखी, मूढः' 'कैसे सुखी हों?' किसी ने रबड़ी के मालपुए खिला दिये तो सुखी हो गये। फिर तीन दिन बाद मालपुए खिलाने वाले ने कह दिया कि 'पेट तो अपना था, काहे को ज्यादा खाकर खराब कर लिया?' तब सोचते हो इसने एक दिन खिला दिये तो ऐसी बात सुनाता है, दुःखी हो गये। अरे! मैं फालतू मूर्ख बन गया, इसकी मीठी बातों में आ गया।

कुछ की दिक्कत है : 'जातो, मृतः' लोग पूछते हैं कि मेरा जन्मदिन क्या है, मैं कब पैदा हुआ? कहीं न कहीं मैं पहले मरा होऊँगा तभी यहाँ आया, नहीं तो आया कहाँ से? ऐसे ही पहले भी कर्म आदि किये होंगे तब आकर पैदा हुआ हूँ। पहले मरकर अब पैदा हुआ तो अब भी मरकर पैदा होना है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'। आगे कहाँ जाऊँगा? इसी के लिये परेशान हैं। कुछ लोग परेशान हैं कि पहले कहाँ थे? कहते हैं पूर्व-जन्म देखकर बताओ। कुछ भविष्य जन्म के बारे में परेशान हैं कि मरकर कहाँ जायेंगे।

कुछ यहाँ के लिये चिंतित हैं : 'जीर्णो, देहवान्' अब मैं बुड्ढा होता जा रहा हूँ, घुटने में दर्द बढ़ता जा रहा है। कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा? शरीर तो मेरा है ही। जब तक प्रारब्ध है तब तक शरीर वाला तो बना ही रहूँगा। शरीर के सुख दुःख तो भोगने ही पड़ेंगे। क्या करें! यह टंटा तो लगा ही हुआ है। विचार से काटते हैं, मरकर जाने की भी चिन्ता नहीं है, लेकिन शरीर का व्यवहार खाना पीना रहना आराम से चलता रहे, बचे हुए दस बीस साल सुख से कट जायें।

कोई तो इन चिन्ताओं को अनिवार्य बताते है : 'पश्यामि, व्यक्तोऽव्यक्तः, कर्ता, फली'; देखिये सामने अड़ूसे के फूलों का पेड़ लगा हुआ दीख रहा है, उसमें लाल लाल फूल लगे हुए हैं, कैसे मान लें कि नहीं है? दीखता तो है ही। मैं शरीर में व्यक्त हूँ, सिर्फ़ मन में स्पष्ट नहीं होता कि मैं कैसा हूँ, शरीर-वाला ही अपने को समझता हूँ, मन में अपना स्वरूप लाने की कोशिश करुँ तो शरीर ही आता है। इसलिये मन में अव्यक्त हूँ। मान लिया कि संसार जैसा दीखता है वैसा नहीं है लेकिन कुछ तो माया है ही, अव्यक्त तो है ही, कुछ न कुछ खेल तो माया ने रचा ही है। जब तक प्रतीति रहती है कर्म करता ही है, बिना कर्म के कौन रहता है, कृष्ण और राम ने भी कर्म किया, विष्णु शंकर भी कर्म करते हैं। इसलिये जब तक जियेंगे हमें भी कर्म करना पड़ेगा। ये सब कर्म किये

Scanned by CamScanner

हैं तो इनका फल भी भोगना पड़ेगा। नृसिंह अवतार लेकर भृगुपत्नी के सामने से निकले तो उसका गर्भ गिर गया, विष्णु को शाप लगा तो पत्नी-विरह में भी रोते रहे। कर्मफल से कौन बच सकता है? अपने किये हुए कर्म मैं ही भोगूँगा।

वह तो बेचारा रूई से ही परेशान थां और ये तो न जाने किस किस से परेशान हैं! 'संयुक्तो वियुक्तः' इस चीज से युक्त हुए अर्थात् इस चीज़ से मेरा सम्बन्ध हो गया, इस चीज़ से वियुक्त हो गया। मेरी पत्नी मुझे तलाक देकर चली गई। मेरा बेटा मुझे लात मारकर चला गया। धन से वियुक्त सरकार कर देती है तो भी रोते हैं कि सारा धन, ज़मींदारी छीन ली। क्या कहीं से लादकर लाये थे? 'अब लड़का मर गया, पत्नी मर गई, पैसा भी चला गया'। 'क्षीणो वृद्धोहं, ममैते' शरीर में भी ज़ोर नहीं रहा, अत्यंत क्षीण हो गया। मेरा भी जमाना था जब सत्रह बेटे मेरे साथ रहते थे। अब मैं बुड्ढा हो गया। ये सब मेरे ही हैं, धन मेरा, पुत्र मेरा, पशु मेरे हैं। इत्यादि सारी बेकार की बातें अपने ऊपर चढ़ाता रहता है जैसे रस्सी में साँप 'इत्येवमादयः सर्वआत्मनि अध्यारोप्यन्ते।'

इसलिये द्वैत अविद्या के द्वारा अध्यस्त है। अब जैसे ही वेदांत-शास्त्र कहेगा कि यह सब कुछ है ही नहीं 'अनुत्पन्नमिदं जगत्' तो सारा बोझा इकट्ठा ही निकल गया। उसे ले जाकर दिखाया नहीं कि इतना कात लिया, इतना बुन लिया, इसमें से इतने बिनौले निकल गये। ऐसा करते तो वह सोचता रहता और उसका दिमाग कभी ठीक न होता। ऐसे ही यहाँ भी यदि यह समझते रहोगे कि 'इसका फल ऐसा है, कर्म का फल है, यह सुख, यह दुःख, इसे ऐसे दूर करें', कुछ करें, जब तक यह करते रहोगे तब तक पागलपन दूर नहीं होता। यह तो लोहार की लगे तो काम बने। जैसे एक चिनगारी से ही सारा रूई का ढेर जल गया, ऐसे ही यहाँ भी 'नेह नानास्ति किंचन' का एक हथौड़ा ही लगता है। जब यह लगता है तो ऐसा लगता है कि जान निकल जायेगी, मानो किसी ने छाती को चीर दिया हो। अंदर ही अंदर मन तड़प कर कहता है कि 'कुछ न कुछ फल होगा। यह बात सच्ची नहीं हो सकती।' लेकिन जहाँ एक बार बात जँच जाये तो देखो कैसा आनंद आता है! सारा बोझा दूर हो गया।

एकमात्र आत्मा ही इन सबमें अनुगत है क्योंकि उसी का कहीं व्यभिचार नहीं है, वह सर्वत्र मौजूद है। 'आत्मा एतेषु अनुगतः, सर्वत्र अव्यभिचारात्'। जैसे सर्प, जलधारा इत्यादि में रज्जु का इदंतांश है, इसी प्रकार विशेष्य तो अहम् हुआ और बाकी सब विशेषण हुए जो विशेष स्वरूप से आत्मा में रहेंगे। इसलिये आत्मा का प्रत्यय है ही, आत्मा का बोध सिद्ध हो गया, वह अनुभव में आ गया। अतः धर्मी का समर्पण करने के लिये शास्त्र को कोशिश करनी नहीं है। 'विशेष्यस्वरूप-प्रत्ययस्य सिद्धत्वाद् न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण।'

जैसे महात्मा ने रूई को जला हुआ नहीं देखा था लेकिन क्योंकि उस पागल को रूई का भान लग रहा था इसलिये वह उनके बताने से ठीक हो गया। उसी प्रकार यह

Scanned by CamScanner

ठीक है कि अविद्या के अन्दर ही शास्त्र कहेगा, 'नेह नानास्ति किंचन' यह अविद्या के बाहर नहीं कहेगा, लेकिन जैसे ही यह वाक्य सुनोगे, तुम्हारी बीमारी ठीक हो जायेगी। 'मैं बद्ध हूँ' आदि जान ही रहे हो। इसके लिये शास्त्र की जरूरत कहाँ? उस मैं के बारे में ही कहा कि वह संसारी नहीं है तो समझ आ जायेगा। कौन संसारी नहीं है इसे पूछने शास्त्र के पास नहीं जाना पड़ेगा। जानोगे कि 'मैं संसारी नहीं हूँ।' जैसे यह तो ठीक है कि वायु की शुद्धि तलवार से नहीं होती लेकिन कल्पित वायु की शुद्धि हो जाती है। कइयों के शरीर में 'हवा' आ जाती है तो वह बक बक करने लगता है। फिर कोई तलवार लेकर 'हुँ फट् सें हूं' दो चार बार करे ते ठीक हो जाता है। जब हवा घुसी थी तो तलवार ने कैसे शोधन कर दिया? और कुछ भी उपाय करो वह नहीं मानता, सिर पीटे जाता है। आजकल शहरों में भी ये टंटे होने लग गये हैं। इसी प्रकार यहाँ है।

इतना ही नहीं, जो चीज नहीं जानी हुई हो उसको बताना शास्त्र का काम हुआ। जो ज्ञात है अर्थात् जाना हुआ हो उसे शास्त्र बताये तो वह अनुवाद होने से अप्रमाण हो जाता है इसलिये आत्मा का भान सदा होने से उसे धर्मी रूप से बताये तो शास्त्र अप्रमाण हो जायेगा। अतः शास्त्र से भी आत्मा में प्रमेयता न आये यह तो इष्ट ही है।

तब प्रश्न होगा कि फिर शास्त्र की जरूरत क्या? 'मैं द्वैतरहित हूँ' यह समझने के लिये शास्त्र है। न 'मैं' इतना जानने के लिये और न द्वैतनिषेध समझ चुकने के बाद उसका उपयोग है। जैसे मान लो जब तक तुम्हें शंकर जी पर अभिषेक करना नहीं आया तब तक किताब देखकर अभिषेक करते हो। कोई कहे 'गलत करते हो', तो फिर किताब खोलकर देखते हो कि गलत तो नहीं कर रहा हूँ। अब तुम पंडित हो गये और समझ गये कि ऐसे अभिषेक किया जाता है। उसके बाद कोई आकर कहता है कि 'आप अभिषेक ठीक नहीं करते।' 'ॐ नमः शंभवाय च मयोभवाय च' यह ग़लत है। तुमने व्याकरण नहीं पढ़ रखी है। शम्भु उकारांत शब्द होने से 'शंभवे' बनता है। इसलिये 'नमः शंभवे च' पाठ होना चाहिये।' तुम उससे कहोगे 'तू अपनी व्याकरण अपने पास रहने दे। मैंने काशी में दिग्गजों से अभिषेक करना सीखा है। किसी अच्छे पंडित से पूछना। पढ़ ली सिद्धान्तकौमुदी और यहाँ बताने आ गया!' जब तक पक्का नहीं सीखा था तब तक तो किसी के कहने पर फिर अपनी पोथी खोलकर देखी कि शायद गलत पाठ हो गया हो। लेकिन जब, पता लग गया तो अब जरूरत नहीं रही। इसी प्रकार जब तक द्वैत तुमको सत्य प्रतीत हो रहा है तब तक तुम शास्त्र को भी सत्य मानोगे और तदनुकूल शास्त्र में कहे हुए द्वैतनिषेध को भी सत्य मानोगे। जब शास्त्र में कहा हुआ द्वैतनिषेध दृढ हो गया तो द्वैत के अंतःपाती शास्त्र को भी कल्पित मानोगे। अविद्या-अध्यारोपित सुख दुःख आदि विशेषों के प्रतिबंधक से ही आत्मा अपने स्वरूप में स्थित नहीं रह पा रहा था। क्योंकि सिर पर इन सबको चढ़ा रखा था इसलिये स्वरूप के अन्दर अवस्थित हो नहीं पा रहे थे।

Scanned by CamScanner

कोई कहता है कि निःशेष दुःखनिवृत्ति और निरतिशय आनंद की प्राप्ति ही कल्याण है। केवल स्वरूप में स्थित हो जाना थोड़े ही कल्याण है। तुमने बताया कि अविद्या प्रतिबंध आदि निःशेष हट जाते हैं और स्वरूप में स्थिति हो जाती है। शंका है कि यह कल्याण थोड़े ही है। सुखित्व आदि को हटाने वाला शास्त्र है, अर्थात् 'सुखी नहीं, दुःखी नहीं'। उससे आत्मा के अन्दर असुखित्वादि का ज्ञान हो जायेगा। 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यों से आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर देंगे। असुखित्वादि आत्मा में स्वाभाविक हो जायेंगे। अब यदि आत्मा में असुखित्व आदि का स्फुरण हुआ तो प्राप्ति कैसे हुई? निःशेष दुःख-निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति ही मोक्ष हुआ। श्रेय इसलिये गड़बड़ा गया कि असुखित्व रह गया। वह आत्मा का स्वभाव हो गया। अस्थूल अनणु आदि के निषेध से असुखित्वादि बता दिये जो आत्मा में स्वाभाविक हो गये। अब जब भी आत्मा का स्फुरण होगा तो असुखित्वादि की भी प्रतीति होगी। मोक्षमें भी असुखित्वादि का स्फुरण हो तो वह परम श्रेय नहीं हो सकता। ऐसे आत्मा का नित्य स्फुरण है तो फिर निरतिशय आनंद की प्राप्ति कहाँ रही?

वादी से कहते हैं कि एक बात बताओ : सीप में जब चाँदी का भ्रम होता है तो भ्रम का विषय जो सीप उसके इदंतांश की प्रतीति अध्यास काल में भी है। 'यह चाँदी है'। बाद में बाध करता है 'यह सीप चाँदी नहीं है'। इसमें चाँदी का निषेध है, 'यह' का निषेध नहीं है। पहली प्रतीति 'यह रस्सी है', बाद में 'रस्सी नहीं है;' इसमें रस्सी का निषेध है, 'इदम्' का निषेध नहीं है। अब कोई कहे कि जब चाँदी का निषेध किया तो 'यह' का भी निषेध हो गया, क्योंकि वाक्य एक बोला! यहाँ वाक्य एक होने पर भी 'नहीं है' का अन्वय सम्भव होने से चाँदी के साथ है, 'यह' के साथ नहीं। ऐसे ही अन्य जगह भी होता है। जैसे किसी को देखकर कहते हैं कि 'यह ब्राह्मण नहीं'। यहाँ 'नहीं है' का मतलब यह नहीं कि कोई चीज नहीं है। मतलब यह लेना है कि आदमी तो है ही, ब्राह्मण नहीं है। इसलिये इसमें ब्राह्मण का निषेध हुआ। आदमी तो सामने खड़ा ही है। इसी प्रकार 'आत्मा सुखित्वादि धर्म वाला नहीं है' ऐसा कहने पर भी 'आत्मा नहीं है' यह अर्थ नहीं हो जायेगा। असुखित्वादि का निषेध होगा, आत्मा का निषेध नहीं हो जायेगा और वह आत्मा निरतिशय सुखरूप है। अतः वही मोक्ष है 'स्वरूपावस्थानञ्च श्रेय इति।'

अब कहो कि एक ही के अन्दर ऐसा क्यों? इदमंश के अन्दर अकल्पितता भी रही और चाँदी के अंश के अन्दर असत्यता भी रही, एक ही ज्ञान में दोनों कैसे रह जायेंगे? यही दोष का माहात्म्य है। दोषसे ही एक अंश में सच्चा ज्ञान भी रह जाता है और एक अंश में झूठा ज्ञान भी रह जाता है। जैसे वहाँ अधंकार दोष या चाकचिक्य आदि दोष के माहात्म्य से यह होता है, वैसे ही यहाँ अचिंत्य शक्ति अविद्या के प्रभाव से आत्मा का स्फुरण भी होता है, उसके साथ सुखित्वादि अध्यास प्रतीत भी होते हैं। फिर सुखित्वादि रूप से उसका निषेध भी हो जाता है और स्वरूप से वह बना भी रहता

Scanned by CamScanner

है। शंका करने वाले का कहना यह था कि जिस जिस का निषेध करोगे तदभावरूप धर्म स्वरूप से रह जायेगा। उसका जवाब हुआ कि भ्रांति का एक अंश सत्य भी होता है, उस सत्यांश का स्फुरणमात्र रहेगा, भ्रान्ति के अभाव रूप से नहीं, वास्तविक रूप से। जहाँ 'यह' वास्तविक है वहाँ 'यह रस्सी' में सर्प आदि का अभाव थोड़े ही आकर बैठा रहता है, केवल वास्तविक प्रतीति है। इसलिये उसके अन्दर धर्मों का अनुवर्तन नहीं होगा। यदि अनुवृत्त रह जाता, जैसा तू मानता है, तो फिर अध्यारोपित सुखित्वादि-निषेध से विशेषता क्या हुई? फिर तो जैसे सुखित्वादि का निषेध वैसे ही असुखित्वादि का निषेध चाहिये। इसलिये यदि असुखित्व को सच्चा मान लोगे तो काम नहीं बनेगा क्योंकि दोनों का एक जैसा निषेध है। एक भी रहा तो सबका निषेध कहाँ हुआ? सबका निषेध है।

अगर असुखित्वादि 'यह' की तरह आत्मा का वास्तविक रूप होता तो जैसे सुखित्वादि भाग में आत्मभान अनुगत है वैसे असुखित्वादि का भी भान होता। ऐसा होता है नहीं। यदि ऐसा होता तो सुखित्वादि भ्रम ही नहीं हो पाते। आग की गर्मी का अनुभव होते हुए यह भ्रम नहीं हुआ करता कि आग ठंडी है। अतः असुखित्वादि को सच्चिदानन्द की तरह सच्चा नहीं मान सकते। वह तो सुखित्वादि की प्रतीति होने से उनकी अपेक्षा से कहा जाता है कि उसमें सुखित्वादि नहीं हैं।

इसलिये जो निर्विशेष आत्मा है अर्थात् सुखित्व, असुखित्व, दुःखित्व, अदुःखित्व, भाव, अभाव सब विशेषों से रहित है, उस आत्मा के अन्दर ही इन सब भावों की कल्पना होती है। अतः असुखित्वादि भी कल्पित हुए। इसलिये असुखित्वादि बताने वाला शास्त्र असुखित्वादि का भी निवर्तन करने के लिये है। वह 'असुख है' ऐसा बताने के लिये नहीं बल्कि 'उसमें सुखिता नहीं है' यह बताना है।

अब द्रविडाचार्यों के सूत्र का प्रमाण देते हैं 'सिद्धं तु निवर्तकत्वात्' जितने पद हैं वे सारे के सारे ब्रह्म में व्युत्पन्न न होने पर भी शास्त्र प्रामाण्य से तो सिद्ध ही हैं। ब्रह्म को कोई शब्द नहीं बता सकता लेकिन फिर भी ब्रह्म को बताने में गतार्थ हो जाता है क्योंकि जिन जिन चीज़ों की प्राप्ति होती है उन उन का निवर्तन करने में सारे शास्त्रशब्दों की गतार्थता है। इसलिये अध्यास-निवर्तन में सारे के सारे शास्त्र गतार्थ हैं।।३२।।

●

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ।।३३।।

यह वस्तुतः अव्यावृत्त-अननुगत पूर्ण सच्चिदेकतान आत्मतत्त्व, व्यावृत्त विशेषों के और अनुवृत्त सामान्य के रूपों में कल्पित है। अद्वय जो सत्ता उससे तादात्म्येन कल्पित हुए विशेष सत् समझे जाते हैं। खुद वे सत् नहीं हैं। जब सामान्य और विशेष दोनों कल्पित हैं तब निरोध, उत्पत्ति आदि की जो अवास्तविकता कही थी वह ठीक ही है। यह आत्यन्तिक अद्वयता ही वास्तविक कल्याण है। यहाँ अन्योन्याध्यासका, स्वरूपाध्यास

Scanned by CamScanner

व संसर्गाध्यास का समग्र विचार निहित है। इसी से 'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु' का नियम सर्वज्ञात्ममहामुनि ने प्रकाशित किया है।

जो असत् सर्प, जलधारा आदि हैं और जो अद्वय अधिष्ठान रस्सी है, इन दोनों से 'यह साँप है' आदि विकल्पनायें होती हैं। उस रस्सी के होने पर ही सर्प आदि भावों के रूपमें वह कल्पित हो गयी। रज्जु द्रव्य है तब कल्पना होगी। असत् सर्प और सत् रज्जु, ये दोनों 'यह साँप है' इस कल्पना को करा रहे हैं। जैसे कोई पति का दोस्त है इसलिये उसकी खातिर की जाती है। अब यदि पति और उसका झगड़ा हो गया तो अब उससे तुम्हारा क्या लेना देना? लेकिन फिर भी कोई कहे 'इनका तो स्वभाव है, उससे तो बनाकर रखनी ही है।' तो क्या हाल होगा? 'मित्र' ऐसी कल्पना पति की इच्छा के विरुद्ध भी कर लेती है। इसी प्रकार रस्सी द्रव्य है तब सर्प की कल्पना हुई और जहाँ कार्य कल्पना (सर्पकल्पना) गई तो वह कारण रूप से भी कल्पित ही रह गया। सचमुच में तो वह कारण है नहीं क्यों कि सचमुच में कार्य नहीं है। कार्य माना तो कारण माना, कार्य मिथ्या तो कारण कैसे सत्य होगा? कार्य तो नहीं हुआ फिर भी उसे कारण मानना ही है, वह वैसा ही है जैसे उसे मित्र मानते रहना। वह नहीं है ऐसा नहीं कह रहे। ध्यान रखना। वह कारण नहीं है इतना ही कह रहे हैं। जैसे वह आदमी तो है ही लेकिन अब खातिर का पात्र नहीं रहा। ये जो उपलभ्यमान भाव अर्थात् विशेष हैं, जब अद्वय है तभी इनकी स्थिति है। इसलिये एकमात्र अद्वयता ही शिवा है। कल्पनायें जितनी हैं वे अशिवा हैं।

संसार के लोग माया को शिवा मानते हैं। काशी में ऐसे कर्मकाण्डी हैं जो कहते हैं कि शंकर जी मोक्ष देंगे, यह ठीक है लेकिन सारे संसार को चलाने वाली माया के बिना काम नहीं होगा। संसार को चलाने वाली माया को हम शिवा नहीं मानते। वह तो सामान्य-विशेष-रूप से नानारस वाली प्रतीत होती है। लोगों को लगता है कि सामान्य-विशेष-रूप हो तब कल्याणकारी हो, तभी आनंद आये, रस आये, नहीं तो कहाँ से आनंद आयेगा? इसलिये व्यावृत्त (अलग किया हुआ) विशेषभाव है। वह चूँकि व्यभिचारी है, कभी आता है कभी चला जाता है, इसलिये जैसे रस्सी में साँप कभी आता है कभी चला जाता है तो कल्पित है वैसे ही ये जितने भाव (व्यावृत्त विशेष) हैं कभी आते हैं कभी चले जाते हैं। सोना, हीरा आदि आते हैं चले जाते हैं। उनमें सत्ता ज्ञान अद्वितीय है, सामान्य है। लगता है वह अवस्तु और गुण वस्तु है। सचमुच वह वस्तु और गुण अवस्तु हैं। इस प्रकार आत्मा ही मोहित, मूढ, व्यक्तियों के द्वारा इस प्रकार से कल्पित हो जाता है। लेकिन् यदि विचारपूर्वक देखो तो यह सामान्य-विशेष-भाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि परस्पर-आश्रय दोष से युक्त है। सामान्य हो तब विशेष हो और विशेष हो तब सामान्य हो।

यदि कहो कि विशेष यदि असत् हैं तो उनका सत्य रूप से व्यवहार क्यों होता है? जबाब दिया कि सत्य के साथ तादात्म्य होने के कारण; अर्थात् विशेष हैं नहीं, बिना

Scanned by CamScanner

हुए ही सत्ता के साथ तादात्म्य होकर उनका व्यवहार चलता रहता है। जहाँ तुमने सत्ता से उनको अलग किया, खतम हो जाते हैं। अब इस अनुगत सत्ता के अन्दर अपनी दृष्टि को ले जाना है। जैसे ही वहाँ ले गये, निरोध आदि सारे बाधित हो गये। यह जो निरोध आदिकों की बाध रूप से अद्वयता है, यही शिवा है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि पूर्व श्लोक का जो अर्थ है उसमें यह श्लोक कारण बताता है। पहले कहा कि निरोधादि नहीं यह परमार्थता है। यहाँ स्पष्ट किया कि निरोधादि व्यावृत्त होने से नहीं अतः उनका न होना परमार्थता हो यह ठीक ही है। रस्सीद्रव्य ही 'यह साँप, यह जलधारा, यह दण्डा' इत्यादि प्रकारों से विकल्पित होता है। साँप आदि सब रस्सी में असत् हैं, नहीं हैं, रस्सी सत् है। हालाँ कि संसृष्टरूप से रस्सी भी कल्पित है, क्योंकि रस्सी का साँप से संसर्गाध्यास है तभी 'यह' रुप से रस्सी साँप से एकमेक हुई दीख रही है, फिर भी स्वरूप से तो वह सत् ही है अर्थात् उसकी व्यावहारिक सत्यता है। जैसे यहाँ सत् और असत् इनके अन्योन्याध्यास से ही सारे विकल्प हैं वैसे ही प्राण आदि अनन्त जो असत् भाव हैं, विशेष हैं, और जो सत् आत्मा है, इनके अज्ञानमूलक अन्योन्याध्यास से यह आत्मा विभिन्न प्रकारों में कल्पित है। परमार्थतः न ये विशेष हैं, न इनसे कोई कल्पना अतः न कोई आत्मा का सामान्यांश।

ऐसा क्यों मानते हैं, सचमुच ही बन जाता होगा जैसे दूध दही बन जाता है? कहते हैं कि जब तक मन हिले डुले नहीं तब तक किसी भी प्रकार का विशेष दीखना संभव नहीं है। आत्मा तो हिलता नहीं। उपलभ्यमान या प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं, वे पारमार्थिक सत्ता वाले हों ऐसी कल्पना सम्भव नहीं। और न ही वे उस आत्मा के साथ सच्चे सम्बन्ध वाले हैं। आत्मा को 'अप्रचलित' कहा इसका मतलब है कि उसमें चलन कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं—'प्रगतं चलितं यस्य'। इसीलिये इसमें प्रतीयमान जो चलित है वह प्रकृष्ट है, बिना कभी हुए दीख रहा है। बिना मन के हिले डुले विशेषभाव का ज्ञान नहीं, सामान्य सत्ता चित्ता बिना मन के ही रहती है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' ये मन के प्रचलन पर निर्भर नहीं। विशेषभाव मन के प्रचलन पर निर्भर करते हैं। इसलिये प्राण आदि जितने भाव हैं वे असत् हुए। अद्वय परमार्थ सत्ता वाला आत्मा है, वही सर्व विकल्पों का आश्रय है जैसे रस्सी सर्पादि सारी विकल्पनाओं का आश्रय है। स्वयं आत्मा ही इन सब रूपों से कल्पित होता चला जाता है। इसलिये वह स्वभाव ही है। लेकिन ऐसा होते हुए भी प्राण आदि भाव जितने हैं वे भी सारे के सारे उस अद्वय आत्मा के द्वारा ही कल्पित हैं। बिना आस्पद के कोई कल्पना मिलती नहीं। इसलिये सारी कल्पनाओं का आश्रय होने से अपने स्वरूप से अद्वय का कभी व्यभिचार नहीं होगा। संसृष्टरूप से व्यभिचार होता रहे, स्व-रूप से व्यभिचार नहीं होगा। यदि प्राणादि पदार्थ और किसी चीज़ की कल्पना होते तब तो आत्मा का व्यभिचार हो जाता। लेकिन उनका आत्मा से ही तादात्म्याध्यास से सत्त्व है, वे खुद स्वरूपतः अध्यस्त और उनका सम्बन्धाध्यास भी

Scanned by CamScanner

हुआ आत्मा से, इसलिये कल्पना अवस्था के अन्दर भी अद्वयता शिवा वैसी की वैसी है। कल्पना के समय में भी आत्मा की कल्याणरूपता कहीं नहीं गई, केवल कल्पना ही झूठी है। यह भाष्यवाक्य बड़ा सुंदर है 'कल्पना एव तु अशिवाः'। सारा अकल्याण कल्पनाओं में ही है। उसको अशिव इसलिये कहते हैं कि जैसे रस्सी में साँप देखकर लोगों को डर लगता है और रस्सी देखकर डर निकल जाता है, ऐसे ही जब उसकी निरुपाधिक आत्मरूपता का पता लग जाता है तो उससे त्रास आदि नहीं होते, यही फ़रक पड़ना है। जो मनुष्य को पहले दुःख दिया करता था वह दुःख नहीं देता है। सब आत्मस्वरूप ही है यह समझ लेता है। जब तक उसे अपने से अलग समझता है तब तक त्रास आदि कार्य होते हैं। जहाँ अद्वयता है वहाँ अभयता है, इसलिये वही शिवा है।।३३।।

●

अद्वयता ही शिवा है ऐसा क्यों कहा? उसी को अब स्पष्ट करते हैं।

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।
न पृथङ् नापृक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ।।३४।।

यह जो नानाभूत द्वैत है यह आत्मा से एक होकर सिद्ध है या आत्मा से भिन्न होकर सिद्ध है? द्वैत-प्रतीति अपने से सिद्ध है, स्वतंत्र होकर सिद्ध है, या किसी दूसरी सत्ता से परतंत्र होकर सिद्ध है। कहते हैं कि यह जो नानाभूत द्वैत है यह आत्मभाव, परमार्थभाव अर्थात् आत्मा से एक होकर सिद्ध नहीं। यदि परमार्थतः कहो कि द्वैत प्रतीति आत्मा से एक होकर सिद्ध है तो वह नहीं है। क्यों नहीं है? चेतन और अचेतन कैसे एक होंगे? चेतन चेतन रहेगा और अचेतन अचेतन रहेगा। जैसे कोई कह दे कि अंधकार और रोशनी एक ही चीज है। यह कभी नहीं हो सकता है। उनमें से एक सच्चा होगा और एक झूठा होगा। जैसे सूर्य के अन्दर उल्लू को अंधकार दीखता है, आँख वाले को रोशनी दीखती है तो इतने मात्र से अंधकार रोशनी-रूप नहीं हो जाता। यही होता है कि जब तक आँख नहीं तब तक अंधकार और आँख है तो रोशनी। है तो वह रोशनी ही, चाहे वहाँ अँधकार दीख रहा है। उल्लू को अंधकार वहीं दीखता है जहाँ सूर्य है इतने मात्र से अंधकार का आत्मभाव सूर्य नहीं हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी को यह नानारूप संसार दीखता है वहीं अब ज्ञानियों को ब्रह्म दीख रहा है, लेकिन इतने मात्र से अज्ञानियों के नाना-ज्ञान को ब्रह्मज्ञान से एक नहीं कर सकते क्योंक ब्रह्म का स्वरूप परमार्थतः ब्रह्म ही रहता है।

फिर द्वैत की अलग कोई स्वतंत्र सत्ता होगी? पारमार्थिक सत्ता से सिद्ध नहीं होता तो द्वैत की कोई व्यावहारिक सत्ता होगी? बहुत से लोग यह मानते हैं कि यह संसार सचमुच सच्चा तो नहीं है लेकिन उसके आगे एक 'मगर' को बैठा देते हैं। वेदांत शास्त्र

Scanned by CamScanner

को अधिकतर खतम करने वाले लोग 'मगरवादी' हैं। पहले कहेंगे कि 'ब्रह्म को छोड़कर कुछ नहीं। भगवान् ही सत्य है'। 'मगर फिर भी व्यवहार तो करना ही पड़ता है।' वे यह कभी नहीं समझते कि व्यवहार भ्रमसिद्ध है, अविद्या से है। इसलिये वे व्यवहार में विद्या को ढूँढते रहते हैं। व्यवहार में विद्या नहीं मिलने वाली है। व्यवहार अविद्या और अविद्या-जन्य उपाधि से होगा। अविद्याजन्य उपाधि नाना, इसलिये तज्जन्य व्यवहार भी नाना होगा। आँख से रूप दिखाई देगा, कान से शब्द सुनाई देगा। लोग कहते हैं कि सर्वत्र अद्वैत है तो आप नाक से ही क्यों नहीं देख लेते? ठोढ़ी से चल क्यों नहीं देते? ऐसे ऐसे प्रश्न करते हैं। शरीर सम्बन्धी प्रश्न तो नहीं करते लेकिन ऐसे व्यवहार सम्बन्धी तो करते रहते हैं। इसलिये कहा कि इस नानाकी स्वतंत्र अर्थात् व्यावहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता से अलग मान लो।

वेदांत शास्त्र स्वयं भी व्यावहारिक सत्ता कहता है, लेकिन वेदांत शास्त्र व्यावहारिक सत्ता को पारमार्थिक सत्ता से भिन्न नहीं कहता है। वह कहता है कि अविद्या से जहाँ तुमको व्यवहार दीख रहा है वहीं विद्या से व्यवहाराभाव है। अविद्या से जिस समय तुम आँख से देख रहे हो, विद्या दृष्टि से उसी समय आँख से नहीं देखा जा रहा है, जैसे उल्लू को उसी काल में अंधेरा दीख रहा है जिस काल में तुम्हें सूर्य का प्रकाश दीख रहा है। स्वयं कभी प्रयोग करके देख लो। एक आँख को बन्द कर लो और एक को खोल लो तो जिस काल में एक आँख से नहीं दीख रहा है, दूसरी आँख से उसी काल में दीख रहा है। एक साथ ही हो रहा है। ठीक इसी प्रकार जानकार को बुद्धिवृत्ति से जिस समय वहाँ ब्रह्म दीख रहा है, मन की वृत्ति से उसी समय वहाँ संसार दीख रहा है। इसलिये व्यावहारिक सत्ता वेदांत शास्त्र में परमार्थसत्ता से भिन्न सत्ता नहीं है। अज्ञान दृष्टि से जो सत्ता व्यावहारिक, पारमार्थिक दृष्टि से, ज्ञान दृष्टि से, वही सत्ता ब्रह्म है।

द्वैताद्वैतवादी पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत और व्यावहारिक दृष्टि से द्वैत; मुक्ति काल में अद्वैत, बद्ध काल में द्वैत; प्रलय काल में अद्वैत और सृष्टि काल में द्वैत; इस प्रकार द्वैताद्वैत की व्यवस्था मान लेते हैं। जब तक बंधन में हैं तब तक द्वैत है यह बात द्वैत में सत्यत्व बुद्धि वालों को खट जम जाती है। कहते हैं कि 'अभी ज्ञान थोड़े ही हुआ, ज्ञान होने के बाद ब्रह्म की बात करना', अर्थात् दो काल हुए, एक ज्ञान होने वाला और एक ज्ञान न होने वाला। वेदांत कहेगा कि इसी काल में ब्रह्म है। हमको भ्रम से दीख रहा है, भ्रम को हम सत्य मान रहे हैं,कोई 'स्विच ऑन' नहीं कि एक दिन किया तो हो गया काम। इसलिये कहा 'न स्वेनापि कथंचन' अर्थात् स्वतंत्र सत्ता भी इसकी सिद्ध नहीं है।

सत्ता और प्रतीति को एक दूसरे की अपेक्षा है। अर्थात् ज्ञान और सत्ता परस्पर सापेक्ष हैं। बिना सत्ता के ज्ञान नहीं और बिना ज्ञान के सत्ता (existence) नहीं। अगर कहते हो कि कोई चीज है तो उसका ज्ञान भी जरूर होना चाहिये और यदि कहते हो ज्ञान

Scanned by CamScanner

है तो चीज़ जरूर होनी चाहिये। 'है' और 'ज्ञान' को अलग अलग नहीं कर सकते। अब यह जो नाना द्वैत है यह ज्ञान रूप तो है नहीं क्योंकि ज्ञान की अपेक्षा करता है और इसीलिये यह सत्ता रूप भी नहीं हो सकता। यह युक्ति प्रायः रमण महर्षि बहुत प्रयोग करते थे। जब कोई कहे 'महाराज! बंधन से कब छूटें?' तो उनका कहना होता था कि 'बंधन तेरे से कह रहा है या तू कह रहा है?' या कोई पूछे 'यह संसार सारा दीख रहा है, कब हटेगा?' तो वह कहते थे कि 'यह तू कह रहा है या संसार कह रहा है? छोड़ संसार को , तू अपनी बात कर।' सत्ता की सिद्धि ज्ञान से और ज्ञान की सिद्धि सत्ता से।

यह समग्र संसार, द्वैतप्रपंच, ज्ञानरूप नहीं, यह तो सब मानते ही हैं। जब ज्ञानरूप नहीं तब सत्तारूप भी नहीं हो सकता। दीवार नहीं कहती कि 'मैं हूँ', तुम कहते हो कि दीवार है। नक्षत्र, तारे, नीहारिकायें, सूर्य, चन्द्र थोड़े ही कहते हैं कि 'हम हैं', तुम कहते हो कि ये हैं। इसलिये इनकी सत्ता किससे सिद्ध करोगे? 'कथंचन' अर्थात् किसी भी प्रकार से बिना ज्ञान के यह नाना द्वैत स्वतंत्र रूप से सिद्ध नहीं हो सकता, प्रमाणसिद्ध ज्ञान से ही यहाँ सत्ता सिद्ध होगी। व्यावहारिक सत्ता वाला पदार्थ स्वयं अपने को सिद्ध करता है या दूसरा उसे सिद्ध करता है? जब दूसरा सिद्ध करता है तो स्वतंत्र सत्ता कैसे हो सकती है? ज्ञान से अभिन्न भी इसलिये नहीं हो सकता कि पहले कह दिया वह अज्ञानरूप है।

वादी ने कहा था 'ज्ञान तुम्हारे पास रहो तुम आत्मा हो, दीवाल वहाँ बनी रहो उसकी अपनी व्यावहारिक सत्ता हो गई।' उसका जबाब दिया कि दीवाल की स्वतंत्र सिद्धि होती तो दीवाल अपने आपको जानती। दीवाल को सिद्ध करने वाले हम हुए तो दीवाल की स्वतंत्र सत्ता कहाँ से है? इसलिये घट पट आदि पदार्थ न हमसे अभिन्न होकर सिद्ध हैं और न स्वतंत्र होकर सिद्ध हैं। दोनों तरफ से उनकी बेचारों की सिद्धि नहीं। यह तो जैसे कोई पूछे कि 'बाँझ के बेटे की माँ कौन' तो क्या बतायें! इसी प्रकार जो जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ उसका फिर तुम्हारे साथ क्या सम्बन्ध?

इसी बात को और स्पष्ट करके भगवान् गौडपादाचार्य श्लोक के उत्तरार्द्ध में कह रहे हैं। ये जो द्वैत के पदार्थ हैं ये आपस में भी एक दूसरे से अलग नहीं। जैसे रस्सी में तुमको साँप दीखा, हमको जलधारा दीखी, और इसको माला दीखी। अब यह बताओ कि साँप, जलधारा और माला क्या अलग अलग हैं? न एक हैं, न पृथक हैं। इसी प्रकार अपने अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों में हमको संसार के भिन्न भिन्न पदार्थ दीख रहे हैं। वृत्तिभेद से भिन्न भिन्न दीख रहे हैं। एक काल में एक साथ ही क्या दो चीजों का ज्ञान सम्भव है? जैसे रस्सी में जब साँप दीख रहा है तब जलधारा नहीं और जब जलधारा दीख रही है तब माला नहीं। एक एक करके देखते हैं तो वे मालादि आपस में भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार हमको अंतःकरण की वृत्ति में जब आबू दीख रहा है तब दिल्ली नहीं, विश्वेश्वरानंद को दिल्ली दीख रही है आबू नहीं, भागवतानन्द को जब काशी दीख

Scanned by CamScanner

रही है तब दिल्ली आबू दोनों नहीं है। इसलिये एक ब्रह्म में ही किसी समय दिल्ली दीख रही है, किसी समय आबू, किसी समय काशी दीख रही है। दिल्ली, आबू, काशी अलग-अलग नहीं हैं। जैसे रस्सी में अनेकों को अनेक चीज़ें दीख रही हैं, वैसे ही एक ब्रह्म में ही अंतःकरण-भेद से तीन कल्पनायें हो रही हैं। इसलिये दिल्ली, आबू, काशी का भेद नहीं रहा।

क्या फिर घट, पट आदि शब्द और व्यवहार सारे लुप्त हो जायेंगे? यह हम कहाँ कहते हैं! न कोई पृथक् है और न कोई अपृथक् है। अलग हैं यह भी नहीं कह सकते, अलग नहीं हैं यह भी नहीं कह सकते। भिन्न-भिन्न उपाधियों से व्यवहार होने पर भी वे भिन्न नहीं हैं।

दूसरे दृष्टांत से समझो। तुम हाथ से चीज उठाते हो पैर से चलते हो। अब हम तुम्हें एक दण्डा पैर पर मारें तो तुम झट अपना हाथ उठाकर थप्पड़ मारोगे। हम कहेंगे 'ऐसा नहीं, मैंने पैर को मारा, तुम्हें हाथ नहीं उठाना चाहिये।' लेकिन तुम पहले थप्पड़ मारकर फिर बात करोगे, कहोगे 'मेरा पैर और हाथ अलग नहीं हैं, मैं ही हूँ।' अर्थात् अपृथक् कह रहे हो। उस पैर में चोट ज्यादा लग गई। तुम डाक्टर के पास गये, डाक्टर हमारा दोस्त था, हमने उसे पहले ही समझा दिया था। डाक्टर ने पैर को देखा कि घाव जोर से लगा है। डाक्टर ने हाथ में दवाई लगानी शुरू की। तुमने कहा 'यह क्या कर रहे हो?' डाक्टर कहता है कि 'हाथ पैर एक ही है, दोनों तुम्हारे ही हैं!' तुम कहोगे कि अलग हैं। हम कहते हैं कि 'थोड़ी देर पहले कह रहे थे कि एक ही है। पैर को सोटा मारा तो तुमने हाथ उठाया।'अब कहते हो अलग हो गये। तुम्हारी बात का क्या ठिकाना!' कहोगे वस्तुतः एक होने पर भी व्यवहार में भेद बना रहेगा। सचमुच पृथक् भी नहीं हैं और सचमुच अपृथक् भी नहीं हैं। पृथक् इसलिये नहीं कि एक रस्सी में ही सारे भाव कल्पित हैं और अपृथक् इसलिये नहीं कि व्यवहार में भेद है। इसको सर्प दीखा तो यह वहाँ से भाग रहा है, तुमको जलधारा दीखी तो तुम झट अपना कमण्डलु निकाल रहे हो कि भर लें, तीसरे को माला दीखी तो अपनी चद्दर ठीक कर रहा है कि माला पहनेंगे, चौथे को भूछिद्र दीखा तो वह उपेक्षा कर रहा है कि बगल से निकल जायेंगे। यहाँ सर्वत्र व्यवहार के अन्दर भेद हो रहा है। उस रस्सी में दीखने वाले साँप, भूछिद्र, जलधारा, माला एक दूसरे से अलग नहीं, फिर भी चारों की प्रतीति के कारण चारों का व्यवहार अलग हो गया। एक भागने का, दूसरा बचकर निकल जाने का या उपेक्षा करने का, तीसरा कमण्डलु में पानी भरने का और चौथा पहनने की तैयारी करने का व्यवहार कर रहा है। ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग समझते हैं।

यह अद्वयता कैसे शिवा है या कैसे कल्याणकारी है? यह प्रश्न होता है। उसी को भगवान् भाष्यकार समझाकर बताते हैं कि किस हेतु से अद्वयता को शिवा कहा? बड़ा सुन्दर वाक्य कहते हैं 'नानाभूतम् पृथक्त्वम् अन्यस्य अन्यस्माद् यत्र दृष्टं तत्र अशिवं

Scanned by CamScanner

भवेत्।' संसार में सर्वत्र यह प्रसिद्धि है कि जितना भेद बढ़ाओ उतना ही अशिवता या अकल्याण बढ़ता है और जितनी एकता होती है उतना ही कल्याण बढ़ता है। पति पत्नी को भिड़ा दो तो लोग उसे बुरा मानते हैं, दोनों को समझाकर एक करो तो अच्छा मानते हैं। भाई भाई में झगड़ा कराओ तो बुरा मानते हैं, उनमें एकता कराओ तो अच्छा मानते हैं। पड़ोसी पड़ोसी को भिड़ा दो तो बुरा और एक कर दो तो अच्छा मानते हैं। जितना भेद बढ़ाओगे उतना ही अकल्याण है, यह सर्ववादिसम्मत है, इसमें कोई संदेह नहीं है। दूसरे का दूसरे से जहाँ भेद देखा जाता है वहीं अशिव या अकल्याणकारी कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि लोकप्रसिद्ध ही अद्वयता शिवा है। लोक में भी मेल कराने वाले को ही अच्छा माना, छुड़ाने वाले को अच्छा नहीं माना। जो अधिष्ठान है वह परमार्थ सत्यरूप है और वही आत्मा है। वहाँ प्राण इत्यादि जितना यह संसार है यह 'आत्मभावेन परमार्थस्वरूपेण,' परमार्थ स्वरूप से नहीं है। इसका मतलब भी हुआ कि पारमार्थिक स्वरूप से जब उसका निरूपण करने चलते हैं कि यह सचमुच क्या है, तो फिर यह नानाभूत सारा क्रा प्रपंच वस्त्वन्तरभूत अर्थात् आत्मवस्तु से पृथक् कुछ नहीं रह जाता है। नानाभूतता जहाँ होती है वहीं भयकारणता होती है, यह प्रसिद्ध ही है।

दृष्टांत से स्पष्ट करके बताते हैं कि जब तत्त्व से निरूपण करोगे तो असत् ही रह जाता है। सचमुच विचार करने जाओ तो कहना पड़ेगा कि सर्प नहीं है, झूठ मूठ तो दीख ही रहा है। जैसे खेलने में दोनों के पास कागज के पत्ते, दोनों पर फोटो भी छपे हुए; दोनों में कोई फरक नहीं। एक रुपये में ५२ पत्ते आये। उसमें कहते हैं कि 'तुम्हारे गोले पर मैंने अपना बादशाह मार दिया।' कोई कोई उसे सत्य मानकर झगड़ जाते हैं, गुस्से में आ जाते हैं। एक ही कागज़ का टुकड़ा, उतने ही रंग। बल्कि हम देखते हैं कि गोले के दाढ़ी मूँछ आदि बादशाह से ज्यादा होते हैं, दूर से वही बादशाह दीखता है! लेकिन गोले पर बादशाह मारा तो कहते हैं 'जीत गये।' ऐसे ही यहाँ है। रज्जू स्वरूप से जब प्रकाश के द्वारा निरूप्यमाण हो गया कि है यहाँ रस्सी है, तो नानारूप कल्पित सर्प नहीं है। प्रदीप प्रकाश में केवल अधिष्ठान मात्र रह जाता है। यही सर्प का निरूपण है। सिद्ध हो गया कि यह रस्सी ही है, सर्प नहीं है। इसी प्रकार वेदप्रकाश से बुद्धि के द्वारा निरूप्यमाण होने पर पता लगता है कि यहाँ पर सिवाय आत्मा के कुछ नहीं है, अर्थात् यह जो सब दीखा वह था ही नहीं।

जब तक यह बुद्धि दृढ नहीं होती है तब तक ज्ञान के तीन स्तर मान रखे हैं। पहला, संसार के आदमी को संसार वास्तविक लगता है। विवेक प्रारम्भ होने पर मिथ्या है और वेद के प्रकाश में लगता है कि है ही नहीं। 'तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।' श्रौत दृष्टि से तुच्छ है, है ही नहीं। केवल युक्ति से विचार करो तब तक मिथ्या, अनिर्वचनीय है। और संसारी लोग इसे वास्तविक मानते हैं। जब तक वास्तविक मानोगे इसके पीछे दौड़ते रहोगे। मिथ्या मानोगे तो उपेक्षा करोगे और तुच्छ समझने पर लीला करोगे। यह 'नात्मभावेन नानेदं' का तात्पर्य हो गया।

Scanned by CamScanner

अब 'न स्वेनापि कथंचन' को स्पष्ट करते हैं। स्वेन अर्थात् प्राण-आदि-रूप से भी रज्जुसर्प की तरह कभी भी नहीं हैं। प्राण आदि की स्वरूप-सत्ता नहीं है, कल्पना के पहले या बाद में किसी काल में नहीं है। अपने स्वरूप से इनकी सत्ता कभी नहीं। इस प्रसंग में व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता एक ही समझना। न प्रतीति के पहले और न बाद में कोई चीज़ सिद्ध होती है। प्रतीतिकाल में ही सिद्ध है। जैसे रस्सी में सर्प आदि कल्पनायें आगे पीछे नहीं रहती; कल्पनास्वरूप से पहले भी नहीं और बाद में भी नहीं।

'न पृथक्' का अर्थ करते हैं: पृथक्त्व मायने अलगाव, भेद। धर्मी और प्रतियोगी से अवच्छिन्न होने के कारण पृथक्त्व में अन्योन्याश्रयता है। दो चीजें अलग तब हों जब उनके अन्दर एक प्रतियोगी और दूसरा अनुयोगी हो। प्रतियोगी होना पड़ेगा अनुयोगी से अलग। यों दोष हो गया। 'यह इससे अलग है', यह ज्ञान तब होगा जब उस का ज्ञान हो जिससे अलग है। 'घट पट से अलग है' यह ज्ञान तब हो जब पट का ज्ञान हो। उसी प्रकार 'यह इससे अलग है' यह ज्ञान तब जब 'इस' का ज्ञान है। 'घट पट से अलग है' इसके लिये पट का ज्ञान भी जरूरी और घट का ज्ञान भी जरूरी है। अत: अन्योन्याश्रय दोष हो गया। किंच यदि अंत:करण में दोनों चीज़ों का ज्ञान एक साथ हो रहा है तो उन्हे अलग नहीं कह सकते और अलग अलग समय में ज्ञान हो रहा है तो जब 'इस' का ज्ञान है तब 'उस' की सिद्धि नहीं, जब 'उस' का ज्ञान तो 'इस' की सिद्धि नहीं। अगर दोनों का ज्ञान एक-साथ, तो पदार्थ एक है। यदि अलग-अलग समय में ज्ञान हो रहा है तो यही कह सकते हो कि 'जो वह था उससे यह अलग है।' यह नहीं कह सकते कि 'दोनों अलग हैं।' यदि 'जो वह था उससे यह अलग है' तो 'कल वाले तुम' से 'आज वाले तुम' अलग हो, क्योंकि कल से आज कुछ नये विचार आये, शरीर में परिवर्तन आया। पहले की चीज़ भिन्न है तो वह तो है नहीं। यदि कहते हो 'उससे यह अलग है' तो दूसरी चीज़ का ज्ञान पहले हो रहा था या अब? अब हो रहा है तो साथ ही हो रहा है अत: अलग नहीं। पहले हो रहा था तो जो था वह है नहीं।

फिर हम लोगों को वैधर्म्य की प्रतीति कैसे? वैधर्म्य की प्रतीति केवल प्रातीतिक है। बिना अलग हुए भी अलग की तरह प्रतीत हो रहा है। वे चीज़ें सचमुच अलग हों यह जरूरी नहीं। उनकी प्रतीति अलग रूप से हो जाये इतने से ही काम चल जाता है। भेद प्रतीति को वेदांती मना नहीं करता लेकिन वह भेद सच्चा नहीं है। भगवान् भाष्यकारों ने सीधा दृष्टांत दे दिया कि जैसे घोड़े से भैंस अलग है ऐसे पदार्थ एक दूसरे से अलग नहीं हैं। अत: अपृथक् भी नहीं मान सकते क्योंकि सत् हैं। एक दूसरे से भी एक नहीं हैं। घट का व्यवहार पट से नहीं। पट का नाम घट नहीं कहेंगे। कोई दूसरी चीज़ है जिससे अलग हो, यह भी नहीं है।

ऐसा जो परमार्थ तत्त्व है इसे आत्मवेत्ता जानते हैं। आत्मवेत्ता को ही बृहदारण्यक में ब्राह्मण कहा 'अथ ब्राह्मण:'। मनु महाराज भी इसलिये ब्रह्मज्ञानी को ही मुख्य ब्राह्मण

Scanned by CamScanner

मानते है। वेदांत आदि शास्त्रों में ब्रह्मवेत्ता ही ब्राह्मण कहा गया है। अब इसका उल्टा अर्थ नहीं लेना कि हम ब्रह्मवेत्ता हैं तो अब तो हमारी लड़की से पंत के लड़के का ब्याह हो जाये। यह गड़बड़ी लोग करते हैं कि हम हरिजन हैं तो ब्राह्मण से ब्याह करा दो! यह बात व्यवहार की है और अद्वैत है अव्यवहार्य।

इस प्रकार अकल्याणकारी होने के कारण द्वैत अशिव हो गया और अशिव की हेतुता का अभाव होने से अद्वयता ही शिवा हो गई यह तात्पर्य है। यह जो सम्यक् दर्शन है, तत्त्ववेत्ता लोग इसे कैसे पाते हैं और कैसे रहते हैं? ये दोनों आगे बतायेंगे।।३४।।

●

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमोऽद्वयः।।३५।।

अद्वयता का ज्ञान चाहे जिस को प्राप्त नहीं हो सकता। सब लोग इसकी प्रतीति नहीं कर पाते। वही कर पाते हैं जिन्होंने राग, भय, क्रोध को छोड़ दिया है। राग अर्थात् अच्छा अनुभव मुझे हुआ, वह पुनः हो। यह विषयदर्शन दुःख का कारण है इसलिये हेय है। 'रबड़ी के मालपुए बढ़िया बने थे वैसे फिर बनें' यह राग। 'रबड़ी के मालपुए खाने से ध्यान में उन्हीं की याद आती रही इसलिये कभी नहीं खायेंगे' यह विराग और जिस काल में रबड़ी के मालपुए प्रतीत हुए उस काल में बड़े स्वादिष्ट लगे, जिस काल में नहीं हैं तो लगे कि 'उस दिन खाकर सवेरे बहुत हगना पड़ा था, अब अच्छा हुआ, नहीं हगना पड़ेगा', यह वीतराग हुआ। खाया तो उस समय आनंद कि 'खा रहे हैं,' नहीं खा रहे हैं तो आनंद कि 'हगना नहीं पड़ेगा'। जो अनुभव हुआ वह पुनः हो यह राग है, वह अनुभव आदि अंत वाला होने से दुःख आदि का कारण है, यह विराग और दोनों एक जैसे मिथ्या हैं यह वीतरागता है। न उस अनुभव को फिर करने का प्रयत्न और न उससे बचने का प्रयत्न है, इस वीतरागता में पहुँचना है। विवेक से वैराग्य होता है और ज्ञान से इस प्रकार की वीतरागता आ जाती है। फिर वैराग्य करने की क्या जरूरत है? राग किये बैठे हो इसलिये पहले वैराग्य करोगे तब वीतरागता में पहुँचोगे। रबड़ी के मालपुए खाने का मज़ा तो आ ही रहा है। न खाने का अभ्यास करो, तब मज़ा ले पाओगे।

इसी प्रकार भय है। भाष्यकार तो भय का अर्थ द्वेष करते हैं। 'यह अनुभव मुझे कभी न हो' इसका भय लगा रहता है, यही एक प्रकार का द्वेष है। मेरे को कुत्ते ने काटा था। उसे देखते ही भय होता है कि फिर न काट ले। यही भय है जिसे एक तरह से द्वेष कहा जा सकता है। वीतभय हुआ अर्थात् पहले कुत्ते को देखकर डर लगता था अब धीरे धीरे अभ्यास करके उसी कुत्ते से प्रेम गाँठ लिया। अब कुत्ता आया तो ठीक, नहीं आया तो ठीक है। यदि काट लिया तो नहीं काटा हुआ नहीं हो सकता, और यदि नहीं

Scanned by CamScanner

काटा तो पहले से भय क्यों। पहले तो भय आयेगा, जहाँ भय हो रहा है उसी के साथ 'हर समय नहीं काटता' धीरे धीरे यह वृत्ति लाने से उस से भय हट जायेगा। जब हट गया तो न भय और न भय नहीं हो रहा है।

इसी प्रकार से क्रोध है। जब अपने मन की इच्छा पूर्ण न हो तभी क्रोध आता है। जो मैं नहीं चाहता हूँ वह बाह्य विषय न हो, दूसरे लोगों का वैसा आचरण न हो, यही क्रोध के कारण बनते हैं। यदि मुझे कामना नहीं होगी तो क्रोध आदि पैदा नहीं हो सकते। गीता में भी कहा 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'। जब राग भय नहीं होगा तो क्रोध आयेगा ही नहीं। राग के कारण —पहले मालपुए खिलाये अब क्यों नहीं खिलाता? भय से कुत्ते को देखकर क्रोध कि साल भर पहले इसीने काटा था। उसने काटा हो या दूसरी जाति वाले ने काटा हो, लेकिन हर कुत्ते को देखकर मनुष्य को क्रोध आता है। जब राग व भय हट गये तो क्रोध का प्रश्न ही नहीं रहता है। इसीलिये जब क्रोध हट गया तब समझना चाहिये कि काम हट गया। जब जब क्रोध बढ़े तब तब समझना चाहिये कि कामना बढ़ रही है।

शेष जो नहीं कहे उनकी भी इससे उपलक्षणा कर लेना जैसे लोभ, मद, मात्सर्य आदि। विचार करके तो अंततोगत्वा दो ही चीजें हैं राग और द्वेष। इसी के अंत:पाती सभी आ जाते हैं। लोभ भी एक तरह का राग ही है कि पदार्थ हमारे पास बने रहें। मद भी एक प्रकार का राग है कि मेरी अहंता बनी रहे। मात्सर्य भी एक प्रकार का द्वेष ही है कि मेरे आगे क्यों बढ़ गया। इस प्रकार विचार से सारे दोष राग-द्वेष के अंत:पाती हो जाते हैं। राग व भय कहने से राग-द्वेष को और क्रोध से उनकी फलरूपता को बता दिया। अपना राग अपने को पता नहीं लगता, क्रोध के अन्दर प्रकट हो तो स्वयं अपने को पता लग जाता है।

क्रोध एक दुर्गुण भी है और सद्गुण भी है। सद्गुण इसलिये कि मेरे में आसक्ति है, यह इसके बिना पता नहीं लगता। साधारण आदमी को लो, अच्छे साधक को छोड़ दो। साधारण आदमी को पता नहीं लग पाता कि मेरे अंदर पदार्थों की आसक्ति है। चलो पदार्थ है तो ठीक, नहीं तो हमें कोई आसक्ति नहीं है। ऐसे ही लोभ, कि देखो चीजों के दाम बढ़ते जा रहे हैं इसलिये कुछ कम धन खर्च करना ही पड़ता है, मेरे में लोभ नहीं है। लोभी को प्रतीति नहीं कि मैं लोभी हूँ, दूसरा लगता है कि खर्चालू है। मोह भी आदमी को दुर्गुण पता नहीं लगता। उलटा लगता है कि बाल बच्चों को बड़ा करना तो फर्ज़ है इसलिये कर रहे हैं। इसी प्रकार मद वाले को दुर्गुण नहीं लगता क्योंकि 'आत्मसम्मान के बिना तो कुत्ता भी नहीं जीता।' मात्सर्य भी लगता है कि अपनी उन्नति के लिये तो सभी प्रयत्न करते हैं। अपने में विचार करके देखो तो ये दुर्गुण नहीं लगते, दूसरे में ये दुर्गुण दीखते हैं। लेकिन क्रोध में यह विशेषता है कि घण्टे भर बाद पूछो तो कहता है 'है तो दुर्गुण ही, गुस्सा आ गया।' यह जिसमें रहता है उसे बता देता है

Scanned by CamScanner

कि 'मैं बैठा हूँ'। कोई क्रोधी नहीं कहता कि इसके बिना काम नहीं चलता। इसीलिये क्रोध कामादि का फल भी है। साधारणतः दुर्गुणों को क्रोध नष्ट नहीं कर सकता। तुम्हारे मद मात्सर्य को कोई बढ़ावे तो क्रोध नहीं आयेगा, तोड़े तो क्रोध आयेगा। इसलिये सबके कारण क्रोध होता है। क्रोध उत्पन्न होगा और उत्पन्न होते ही बता देगा कि 'मैं दुर्गुण रूप हूँ'। ज्ञात रूप और सबका परिचायक होने से भगवान् गौडपादाचार्य ने इसे राग और भय के साथ गिन दिया कि बाकी चीजें दबी रहेंगी, यह दबा नहीं रहता, बता देता है। उपलक्षणा से सारे दुर्गुण आ गये। वीतराग, वीतक्रोध सभी होने चाहिये।

सुषुप्ति में, समाधि में, महाप्रलय में वीतरागभयक्रोध सभी हो जाते हैं, उन्हें फिर तत्त्व-दर्शन क्यों नहीं हो जाता? कहते हैं जो मुनि अर्थात् मननशील हैं, जो बार बार युक्ति से विचार करते हैं उन्हीं को तत्त्वदर्शन होता है। जो युक्ति से विचार नहीं करेगा केवल राग, भय, क्रोध के पीछे पड़ा रहेगा, उसका काम नहीं होगा। सुषुप्ति में, समाधि में और महाप्रलय में भी मनन नहीं है इसलिये तीनों में सम्यक् ज्ञान नहीं है। इसलिये मनन करना बहुत जरूरी है।

मनन तो बौद्ध, जैन भी करते हैं, ईसाई मुसलमान भी करते हैं, उनमें भी बड़े बड़े दार्शनिक हुए हैं। वे लोग भी अपने राग, भय, क्रोध को दबा लेते हैं। ऐसा नहीं कि वे साधना नहीं करते। मनन भी करते हैं, युक्ति से विचार भी करते हैं। उनमें भी ये गुण देखने में आते हैं। लेकिन उन्हें भी यह अद्वय तत्त्व नहीं मिलता। इसलिये तीसरी चीज जरूरी है 'वेदपारगैः' वेद में कहे हुए पदार्थों को जिन्होंने भली प्रकार अवगत कर लिया है अर्थात् जिस तत्त्व का प्रतिपादन वेद में किया उसे अच्छी तरह से समझ लिया है। ये तीन साधन हुए तो काम बना, राग-द्वेष का त्याग, निरंतर विवेक करते रहना और हमेशा वेद के अन्दर जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है उसे समझने में लगे रहना। ये सारे साधन इसी में आ गये। इसी से सब काम बन जाता है। तब यह जो निर्विकल्प, सारी विकल्पनाओं से रहित अवस्था है, प्राप्त हो जाती है। यही वेदांत की निर्विकल्प समाधि है। केवल आँख, कान, नाक बन्द करके योनिमुद्रा लगाकर बैठे रहना समाधि नहीं है। वस्तुतः निर्विकल्प समाधि वेदांत की यही है क्योंकि वहाँ प्रपंच का उपशम है, अर्थात् वह वहीं समाप्त है। जितना जितना विवेक करते जाओ उसी काल में देखते देखते सब कुछ लीन हो जाता है। वही अद्वय है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह जो सम्यक् दर्शन है, ठीक प्रकार का आत्मज्ञान है, इसकी स्तुति श्लोक द्वारा गौडपादाचार्य करते हैं। तदुपायप्रवृत्ति में उपकारिता ही स्तुति है। वेदांत तत्त्वज्ञान के उपाय में प्रवृत्ति केलिये उपकार करने वाला यह श्लोक हो गया, इसलिये यह स्तुति है। यहाँ हिन्दी वालों का स्तुति का अर्थ खुशामद नहीं लेना। जिस चीज से उपाय की प्रवृत्ति में उपकारिता हो उसी को स्तुति कहते हैं। इस उपाय को करने से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। वीत का अर्थ कर दिया विगत अर्थात् ऐसा

Scanned by CamScanner

निकल जाये कि उसकी स्मृति भी न रहे। गिनाये हुए ही नहीं, और भी द्वेषादि सारे दोष जो सम्यक् दर्शन के प्रतिबंधक हैं, वे सारे ले लेना। मुनि अर्थात् मननशील मनन करने वाले। मनन का भी मतलब कर दिया कि जो विवेक करते हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य के अन्दर तत् और त्वम् दोनों की उपाधि का विवेक करके शुद्ध चेतन की लक्षणा करते हैं। यहाँ विवेक से सत्य असत्य का विवेक नहीं लेना क्योंकि वह तो पहले ही हो गया। यहाँ तो पद शक्ति का और वाक्य-तात्पर्य का परिज्ञान करना है। उपाधि को अलग करके शुद्ध चेतन को पकड़ लेना ही विवेक है। यही मनन है। 'वैदपारगै:' का अर्थ किया कि वेद के अर्थ को जिन्होंने जान लिया। अर्थ को जानने वाला ही ज्ञानी हुआ।

भाष्यकार कहते हैं कि किसी काल में तो दूसरे लोग भी ऐसा कर लेते हैं; जैसे सत्संग में बैठे हुए हैं तो उस काल में शुद्ध चेतन की लक्षणा भी कर लेते हैं। उपनिषदों का सत्संग हो रहा है तो वेदार्थ को भी समझ रहे हैं, वेदार्थ में भी लगे हुए हैं। तत् त्वम् पदों के अर्थों का विवेक भी कर रहे हैं उस समय राग, भय, क्रोध आदि हैं भी नहीं। फिर उन्हें ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? इसलिये भाष्य में अलग से कह दिया 'सर्वदा'। अर्थात ये गुण कभी कभी तो अनधिकारियों में भी हो जाते हैं लेकिन सब काल में जिनके ये छूटे रहें और सब काल में जिनके अन्दर मनन चलता रहे और हमेशा वेदार्थ में ही जिनकी प्रवृत्ति बनी रहे उन्हें सम्यक् दर्शन, तत्त्वज्ञान हो जाता है। यह हमारे यहाँ part time job वालों का काम नहीं है। इसीलिये सर्वकर्मसंन्यास की ज़रूरत है, घण्टा आधी घण्टा करने से काम नहीं होगा।

शांति से बैठने की इच्छा राग और अशांति के कारण को हटाने की कोशिश द्वेष है। विचार करो अशांति का कारण अंत:करण की वृत्ति और वृत्ति मैं नहीं, उपाधि है। अंत:करण की वृत्ति की अशांति का ज्ञान हो रहा है, वह ज्ञान मेरा स्वरूप है। कोशिश करोगे तो, एक हटेगी, दूसरी अशांति आयेगी। जीवन में तीस साल महात्मा हुए हो गए और कहते हैं कि 'स्थान ढूँढ रहे हैं। वहाँ भी गये लेकिन पानी अनुकूल नहीं पड़ा।' दूसरी जगह बताते हैं वहाँ पानी अनुकूल लेकिन भिक्षा की व्यवस्था ठीक नहीं। तीसरी जगह बताते हैं तो कहते हैं कि वहाँ के कोठारी ठीक नहीं हैं। यही तो माया का बंधन होता है। इसलिये यहाँ 'सर्वदा' पद भाष्यकारों ने ऊपर से कहा। जिस क्षण यह समझ में आये उसी क्षण लग जाओ। यह नहीं कि किसी अन्य काल में करेंगे।

यहाँ अंतरंग साधन समझना। अपने यहाँ श्रवण मनन निदिध्यासन अंतरंग साधन हैं। राग भय आदि की निवृत्ति के द्वारा निदिध्यासन बता दिया। 'मुनिभि:' के द्वारा मनन और 'वेदपारगै:' के द्वारा श्रवण बता दिया। ये तीनों अंतरंग साधन बता दिये। क्रम इसलिये बदल दिया कि साक्षात् साधन तो श्रवण ही है, लेकिन वह श्रवण जो निदिध्यासन और मनन के साथ किया जाता है। श्रवण की प्रधानता बताने के लिये क्रम बदल दिया। यह शंका प्राय: करते हैं 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' आत्मा

Scanned by CamScanner

दर्शन के योग्य है। दर्शन के योग्य कहते ही मन में हुआ कि किससे दर्शन होंगे? साक्षात् साधन श्रवण बता दिया। श्रवण से काम नहीं बना तो कहा कि मनन निदिध्यासन साथ में करना। वहाँ पहले ही चूँकि द्रष्टव्य कह दिया इसलिये साक्षात् साधन श्रवण पहले बता दिया। जैसे कोई पूछे 'क्या भोजन बनाना है?' हमने कहा–'पुलाव बनाना है'। 'कैसे बनेगा?' 'भात को घी में तलकर बनेगा।' तब आगे पूछेंगे 'भात को घी में किसमें तलेंगे?' 'कढ़ाई में।' 'कढ़ाई कहाँ रखें?' 'चूल्हे पर।' इसमें घी और भात का तलना साक्षात् साधन और कढ़ाई, चूल्हा आदि सब दूर से साधन हुए। यदि ये न हों तो भी पुलाव नहीं बन सकता, क्योंकि तला ही नहीं जा सकता, इसलिये साधन तो हैं लेकिन साक्षात् नहीं।मनन निदिध्यासन केद्वारा।सिर्फ़ मननादि कुछ और भी कर सकते हैं। योगियों की तरह जड समाधि भी लगा लो। मनन बौद्ध शास्त्रों का भी कर सकते हैं। इसलिये ये साक्षात् साधन नहीं हुए। निदिध्यासन मनन से ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त भी कुछ कर सकते हो। लेकिन वेदांत श्रवण तो ब्रह्म का ही करा सकते हैं। इसलिये साक्षात् साधन श्रवण ही हुआ। लेकिन हैं तीनों साधन जिनसे सम्यक् ज्ञान के इस अधिकार की प्राप्ति हो जाती है और आत्मदर्शन हो जाता है।

'दर्शन हो जाता है' सुनकर किसी ने समझा कि उसका रंग और रूप होगा। काला, चपटा होता होगा। अत: कहते हैं उसकी उपलब्धि होती है, वह कोई चक्षु का विषय नहीं। जो वेदांतार्थ में तत्पर होते हैं उन्हीं को यह उपलब्धि हो जाती है। 'हि' के द्वारा बता दिया कि उनके द्वारा ही होता है जो वेदांतार्थ में तत्पर हैं।

निर्विकल्पता को स्पष्ट करते हैं 'प्रपंचोपशम:' अर्थात् वह आत्मा ही प्रपंचोपशम है। द्वैत, भेद-विस्तार ही प्रपंच है। इसलिये प्रपंची लोग द्वैत के भेद का विस्तार करते रहते हैं। हम सीधा कह देते हैं कि जगत् का कारण अज्ञान है लेकिन वे दुनिया-भर की कल्पनायें करते रहते हैं कि परमाणु से बने, त्रसरेणु से बने इत्यादि। 'इसने मेरे को गाली दी, क्यों गाली दी, मैंने क्या किया था' यह सब कुछ नहीं। वहीं बाध कर दो, वहीं खतम करो। कैसे, क्या आदि उसका सिरदर्द। हमको गाली दी बस इतना पता लगा। इसलिये उसका उपशम है, अभाव है अर्थात् द्वैत के विस्तार का अभाव है। द्वैत-प्रतीति तो होती रहेगी लेकिन वह विस्तार नहीं करते रहना। जिस समय प्रतीति हुई, हो गई। जिस समय प्रतीति खतम हो गई, तो हो गई।

यह कहाँ होता है? जिसमें यह हो जाता है वह आत्मा ही प्रपंचोपशम है। इसीलिये अद्वय है। यह इसलिये कहना जरूरी हो गया कि कहीं कोई कहे कि प्रपंच के अंतर्गत आत्मा भी आ गया, इसलिये आत्मा का भी अभाव ही होगा! इसलिये ऐसा अर्थ नहीं कर लेना।

श्लोक का अभिप्राय कहते हैं कि जिन्होंने अपने राग आदि दोषों को हटा दिया ऐसे जो पंडित लोग हैं वे शिवदर्शन पाते हैं। वेदांत शास्त्र मूर्खमण्डली के लिये नहीं

Scanned by CamScanner

है। कई बार लोग पूछते हैं कि जिसकी समझ में वेदांत न आये वह क्या करे? फिर 'ॐ नमः शिवाय' बैठकर घोखा करे। यह ज़रूरी नहीं कि सबकी समझ में आये ही। तुम सिर के बल लटक जाओगे उनकी समझ में नहीं आना है। इसलिये जिनकी बुद्धि नहीं है यह उनके लिये नहीं है। सीधा कहो तो गाली मानेंगे इसलिये उनसे कहो कि 'ॐ नमः शिवाय' किया करो, 'कबहुँ तो दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान'। पंडित का मतलब केवल शास्त्रज्ञानी नहीं वरन् जो आत्मज्ञान को समझने की हिम्मत रखता है वही पण्डित है। इसलिये जो बार बार उपनिषदों के अर्थ को समझने में प्रयत्नशील होना है कि उपनिषदों में किस तत्त्व को बताया, यह पंडिताई है। केवल युक्तिजाल बनाने वालों को नहीं कहा। उल्टा निषेध कर दिया कि इधर उधर की किताबों को न बाँचता रहे। उपनिषदों के तत्त्व को जानने में तत्पर हो।

वेदांतार्थ में तत्पर कौन होगा? जो संन्यासी होगा। जो संन्यासी नहीं वह वेदांतार्थ को नहीं चाहता। वह तो अपने मतलब को सिद्ध करना चाहता है। किसी को पुत्र की कामना है तो वह चाहता है कि 'मेरे पुत्र हो जाये', किसी को वंध्यापन हटाना है, किसी को धन की प्राप्ति करनी है, किसी को स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि लोकों की इच्छा है, किसी को विक्षेप दूर करने की इच्छा है। ये सारे के सारे अपने लिये कुछ चाहते हैं। यह नहीं कहते कि उपनिषद् के तत्त्व को ही समझना है। इसलिये जो संन्यासी है वह तो उपनिषदों के तत्त्व को ही समझना चाहता है क्योंकि उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। जिसने अपनी समग्र कामनाओं को छोड़ दिया वह संन्यासी ही वेदांतार्थ में तत्पर होगा। संन्यासी बनाते हुए ही उससे प्रतिज्ञा करा ली जाती है। भूः भुवः स्वः तीनों लोकों का त्याग करा लेते हैं। ऐसा संन्यासी हो जिसको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, तभी काम बनता है। यहाँ संन्यासी का मतलब कोई वस्त्रविशेषधारण करना नहीं। चाहे सफेद, काला, लाल, गेरूआ पहनकर घूमे, चाहे नंगा घूमे, उससे मतलब नहीं। वेदांत के अन्दर प्रतिपादित ब्रह्म तत्त्व के मार्ग का विस्तार करने के सिवाय कुछ भी उसे इष्ट नहीं है। वही फिर परमात्मा का दर्शन सचमुच कर पाता है।

दर्शन कौन नहीं कर सकते? अन्य अर्थात् जो दूसरे हैं, वे नहीं कर सकते। जिन्होंने मन में राग़ भरे हुए हैं 'इदमद्य मया लब्धं इमं प्राप्स्ये मनोरथम्' आज यह काम बन गया, कल वह बन जाये, एक पुल टूटा दूसरा बनाओ। वे समझते हैं कि दुनिया की उन्नति में लगे हुए हैं। उनसे बात करो तो कहते हैं कि 'हमने इतने उपाय किये।' अपने को बड़ा कारगर समझते हैं। आगे उनसे पूछें कि 'इतनी क़ारीगरी करके किया क्या?' जहाँ खड़े थे वहीं खड़े हैं। जैसे मिलिट्री वाले कहते हैं 'बढ़ गये थे, उनके कहने से वापिस आ गये।' बढ़े भी उनके हुक्म से, वापिस भी उनके हुक्म से आये। फिर अपने को बढ़ा मत कहो। वापिस उन्होंने बुलाया तो भेजा भी उन्होंने ही। लेकिन कहते हैं 'बढ़े हम और वापिस उन्होंने बुलाया।' ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार संसार में आदमी एक बेटे को पैदा

Scanned by CamScanner

करता-है, बड़ा करता है, योग्य बनाता है, मर जाता है। फिर दूसरी जगह पैदा होकर दूसरे बेटे को बड़ा करने में लग जाता है। अनादि काल से कितनों को पैदा किया होगा, कितनों को पढ़ाया होगा, हाथ कुछ नहीं लगा। अगली बार फिर एक लड़का पैदा करके बड़ा करोगे। इसी टण्टे में पड़े रहते हैं।

ऐसे लोग कैसे होते हैं? अपने पक्षों को सिद्ध करने की ही युक्तियाँ सोचते रहते हैं। वेद आदि शास्त्र भी अपने मतलब की बात कहें तो याद रखेंगे। कहेंगे गीता में भी कहा है 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' यह सब देखना तो अपना धर्म है। लेकिन जब घाटा होता है, लड़का तंग करता है तब? कहेंगे 'यह भी तो कहा है 'न विकंपितुमर्हसि'! हम बिल्कुल नहीं घबराते, तुम (संन्यासी) लोग डरकर भाग जाते हो।' यही याद रखेंगे। इसी प्रकार हर शास्त्र में अपने पक्ष को सिद्ध करने वाली चीज़ को बोलेंगे। आगे उनसे कहो कि यह भी तो कहा 'ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रित:'। तब कहेंगे 'स्वामी जी! सवा आठ बज गये हैं, जरा दुकान जाना है।' ऐसे हमेशा ही तर्क आदि सोचते रहते हैं, अपनी बातों को सिद्ध करने के लिये युक्तियाँ सोचते रहते हैं। उनको इसका ज्ञान नहीं हो सकता, यह अभिप्राय है। अर्थात् पक्षपात छोड़कर जो श्रुति कहती है उसी को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करना है।।३५।।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ।।३६।।

क्योंकि अद्वय ही शिव है इसलिए उक्त तत्त्व को सही तरह जानकर इसको कभी भूले नहीं। अद्वैत को पूरी तरह पाकर जड की तरह लोकव्यवहार करे। यह बताया कि वीतरागभयक्रोध, मुनि और वेदपारग के द्वारा यह दर्शन किया जाता है। अब इन तीनों साधनों के करने पर बीच बीच में पलकारा-सा तो आता है, थोड़ी देर के लिये ऐसा लगता है जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', लेकिन फिर झट बुझ जाता है। जैसे घोर बादलों में छिपा हुआ चन्द्रमा बीच बीच में जहाँ थोड़े से बादल हल्के हुए तो दीख जाता है, लेकिन तुम देखकर कहो, तब तक फिर छिप जाता है। इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हुए बीच बीच मे क्षणभर को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसी वृत्ति बनती है, लेकिन यह बनने के साथ ही फिर व्यवहार आ जाता है और संसार को वैसे ही देखने लगते हैं।

शंका होती है कि इसके लिये कोई दूसरा साधन, जप तप आदि होता होगा, जिससे यह स्थिर होता होगा? दूसरा कोई साधन नहीं है। 'तस्मात्' का अर्थ समझ सकते हैं 'साधनान्तराभावात्' उक्त साधनों से अतिरिक्त साधनों का अभाव है। इस बात का श्रवण मनन निदिध्यासन से ही ठीक प्रकार से निश्चय हो जाता है। वह जो पलकारा-सा आया,

Scanned by CamScanner

वह ज्ञानाभास है ज्ञान नहीं है। जैसे हल्के हुए बादल में से जो चन्द्रमा दीखा वह साफ चन्द्रमा तो नहीं है, इसी प्रकार यहाँ वह जो क्षणभर को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की वृत्ति बनी उससे कुछ अनुमान हो गया, ज्ञानाभास तो हो ही गया। अब वह जो ज्ञानाभास है उसी को बार बार अंत:करण में, स्मृति में लाये, अर्थात् वह जो प्रतीति हुई थी उसी को बार बार स्मरण करे जैसे कामी पुरुष को कोई सुन्दर स्त्री दीख जाये तो वह वहाँ से आने के बाद भी बार बार उसी के सलोने मुखड़े का स्मरण करता रहता है। इसी प्रकार उस अद्वैत तत्त्व का जो ज्ञानाभास रूप प्रतीत होता है, बार बार उसी का स्मरण करे, उस क्षण के आनंद को याद करे।

जितना किसी चीज़ के सुख का स्मरण करोगे उतना ही दूसरी तरफ से वृत्ति हटेगी। यह वृत्ति के व्यवहार का आधार है। जिस चीज़ की आनंदरूपता बार बार तुम्हारे अंत:करण में स्थापित होगी उसी तरफ वृत्ति अधिकाधिक जायेगी। संसार के व्यवहारों को करके उनसे जो सुख होता है उसको लेकर ही बार बार उसी की स्मृति आ रही है। ज्ञानाभास काल में विद्या आनंद-प्रकाश करती है। अब अगर उस आनंद को बार बार याद करोगे तो धीरे धीरे वृत्ति बदल जायेगी। आनंद वहाँ अद्भुत होता है लेकिन उस आनंद को याद नहीं रख पाते क्योंकि पलकारे की तरह प्रकाश करके बुझ जाता है। इसलिये आदमी को संदेह हो जाता है कि आनंद था भी या नहीं? दूसरे भी उसे संदेह में डाल देते हैं कि क्या पता आनंद था या नहीं। वह भी उनके चक्कर में आ जाता है।

इसलिये इन सबको हटाकर नियमविधि कर दी 'अद्वैते स्मृतिं योजयेत्'। अपूर्व विधि इसीलिये नहीं कि किसी चीज़ के सुख को देखकर उधर प्रवृत्ति प्राप्त ही है। लेकिन कारणांतर से वह प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाये, तब के लिये नियम-विधि हो जाती है। नियम-विधि का मतलब तब है जब उस कार्य की पक्षतः प्राप्ति है। जैसे जब कहते हैं कि 'भूख लगने पर भोजन करे' तो यह नियम विधि है। अपूर्व विधि नहीं है क्योंकि जिसने यह वाक्य नहीं सुना है उसकी भी भूख लगने पर भोजन में प्रवृत्ति हो जाती है। यहाँ नियम विधि कर दी कि भूख लगने पर भोजन करो। भूख लगने पर भी भोजन की प्रवृत्ति और न लगने पर भी; भोजन की प्रवृत्ति दोनों समय प्राप्त हो गई। लेकिन पेट भरा हुआ है, बढ़िया हलुआ आ रहा है, एक चम्मच और ले लिया, भूख न होने पर भी प्रवृत्ति हो गई। जब भूख लगी है तब भी प्रवृत्ति होती है। दोनों अवस्थाओं में भोजन में प्रवृत्ति होने से नियम विधि कर दी भूख लगने पर भोजन में प्रवृत्ति करो। यहाँ 'भोजन में प्रवृत्ति' के लिये नहीं, 'भूख लगने पर' के लिये नियम समझना। इसी प्रकार पूर्व संस्कारों के आनंद के भान से संसार के पदार्थों की स्मृति भी प्राप्त हो गई और अद्वैत आनंद के संस्कार से उसकी स्मृति भी प्राप्त हो गई कि दोनों को आदमी स्मरण कर सकता है।

जो स्वभाव से स्मरण करेगा उसके लिये विधि की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। लेकिन जो पूर्व प्रभाव से संसार की स्मृति करेगा, संसार के पदार्थों में प्रवृत्ति करेगा, उसके लिये

Scanned by CamScanner

नियम विधि हो गई कि उसका स्मरण मत करो। यदि कभी याद भी आ जाये कि बढ़िया रबड़ी का मालपुआ खाया था, तो तुरंत याद करो कि टट्टी कैसी निकली थी! मालपुए के आनंद को याद करने में लग गये तो अद्वैत का संस्कार दृढ नहीं होगा। असली कठिनाई यही है। क्यों लोगों को तत्त्वनिष्ठा नहीं होती? क्योंकि ज्ञानाभास-सा होने के बाद भी वे मानते हैं कि संसार का व्यवहार हमारे सिर पर है ही। जो तुमको प्रारब्ध से सुख दुःख प्राप्त होता है उसको तो कहा जाता है कि जरूर भोगना ही पड़ेगा, वह तुम्हारे हाथ में ही नहीं है। लेकिन लोग उसके पेटे में बाकी सारे कर्त्तव्य इकट्ठे कर लेते हैं क्योंकि उनको संसार के सुख की प्रतीति, स्मृति रहती है। कहते हैं कि वह तो आध्यात्मिक दृष्टि से हो गया लेकिन अब ऐसा होना चाहिये। यह अगर साधक ने किया, तो तत्त्वनिष्ठा कभी होनी नहीं। यही घुंडी है।

इसीलिये आगे कहते हैं 'अद्वैतं समनुप्राप्य' यह जो अद्वैत की प्राप्ति है, अगर इसको कर लिया तो बार बार इसका स्मरण करो। प्रश्न होता है कि फिर हमारी लोकचर्या का क्या होगा अर्थात् लोक में हम कैसे चलें? तब आगे बता दिया 'जडवल्लोकमाचरेत्' जड मायने मूर्ख की तरह। यह नहीं कि चाहे जहाँ टट्टी-पेशाब में पड़े रहो, ठूँठ की तरह बैठो रहो, यह जड का अर्थ नहीं है। 'मैं ऐसा विद्या वाला हूँ' इसका प्रख्यापन न करो। 'मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे तुमने नमस्कार क्यों नहीं किया?' संन्यासी बनने के बाद भी यह बना रहता है। लक्कड़पंथी तो उसी को लेकर घूमते रहते हैं कि हम ही ब्राह्मण हैं, बाकी सब शूद्र हैं! अथवा 'मैं क्षत्रिय हूँ, ब्रह्मज्ञान हो गया इसलिये मेरे से सब जने भय खाते रहो।' पूर्व-संस्कार वशात् अपने ब्रह्मज्ञान की प्रख्याति की इच्छा हो जाती है। 'मैं ऐसा हूँ, मैं उत्तम कुल का हूँ' आदि सब विचार छोड़कर जैसे साधारण अज्ञानी आचरण करता है वैसा ही आचरण विद्वान् करे। गीता में भी कहा 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।(३-२५)'।। जड की तरह व्यवहार करे, जैसे जड अर्थात् अज्ञानी लोग आचरण करते हैं वैसा आचरण करे। अपने कुल शील का प्रख्यापन करता न फिरे कि मैं ऐसा हूँ। यही जड का मतलब है।

भगवान् भाष्यकार उसे स्पष्ट करते हैं। 'तस्मात्' का अर्थ किया चूँकि सारे अनर्थों का प्रशम रूप अद्वय शिव है 'प्रपंचोपशमं शांतं शिवम् अद्वैतम्' वही भय-रहित है अतः निर्विकल्प आदि को जानकर या अनुभव करके इस शिव तत्त्व में ही स्मृति का योजन करे। अर्थात् उसी के अंदर बार बार स्मृति-संतति करे। मन में संदेह हो जायेगा कि यहाँ शायद इन्होंने प्रसंख्यान को बताया होगा कि एक बार ज्ञान होने पर भी बार बार उसका ध्यान करे, तब काम बनता होगा। इस संदेह की निवृत्ति के लिये भाष्य में स्मृति का प्रयोजन बताया 'अद्वैतावगमायैव'। ज्ञान तो एक ही बार होता है। तत्त्वज्ञान होने के बाद फिर स्मृति नहीं होती क्योंकि फिर तो अज्ञान नष्ट हो गया। इसलिये भाष्यकारों ने स्पष्ट कर दिया कि अद्वैत के ज्ञान के लिये अर्थात् अप्रतिबद्ध ज्ञान के लिये स्मृति चाहिये।

Scanned by CamScanner

पहले जो हुआ है, वह ज्ञानाभास है। जैसे कोई कहे सूर्य उदय हुआ है तो धीरे धीरे अंधकार नष्ट होगा, तो ऐसा नहीं; सूर्योदय के साथ ही अंधकार नष्ट हो गया। इसी प्रकार ज्ञान धीरे धीरे नहीं हुआ करता, वह तो होने के साथ ही, उसी समय अज्ञान नष्ट हो जाता है। लेकिन ज्ञान के लिये तैयारी चाहिये। स्मृति अद्वैत ज्ञान के लिये करनी है।

'अद्वैतं समनुप्राप्य' अर्थात् जब उस अद्वैत की स्थिति हो जाती है उस समय प्रतीति होगी कि 'मैं ही परब्रह्म हूँ। भूख, प्यास सबसे परे हूँ। साक्षात् अपरोक्ष हूँ। मैं जन्मरहित हूँ। सारे लोगों के व्यवहारों से अतीत हूँ।' यह जो ज्ञान है इसी से जडवत् हो गया क्योंकि जड-सदृश लोक-आचरण है। जड तो अबुद्धिपूर्वक आचरण करता है, जड में बुद्धि नहीं है। जैसे जड बुद्धि के निश्चय से प्रवृत्त नहीं होता है ऐसे ही यह बुद्धिपूर्वक व्यवहार नहीं करता, अज्ञानलेश से व्यवहार करता है। इसे निश्चय है कि यह सब कुछ नहीं है, फिर भी व्यवहार करता है तो अज्ञानलेश से करता है। इसलिये कह दिया कि सारे लौकिक व्यवहारों से अतीत अपना स्वरूप जानकर जडसदृश आचरण करता है।

उसी को आगे स्पष्ट करते हैं। 'मैं ऐसा आत्मतत्त्व जानने वाला हूँ, ऐसा योग्य, ऐसा विद्या वाला, ऐसे कुल वाला हूँ', इन सब चीजों का प्रख्यापन न करे। 'मैं ब्रह्मविद्या वाला हूँ' यह भी प्रख्यापन नहीं करना चाहिये और न पूर्वसंस्कारवशात् 'मैं ब्राह्मण आदि हूँ' यही करना चाहिये। जैसे साधारण लौकिक पुरुष आचरण करता है वैसे ही करे। दोनों प्रकार से रहित होकर सामान्य पुरुष की तरह आचरण करे। बहुत से लोग इसका उल्टा अर्थ कर लेते हैं कि पड़ा रहे, कुछ न करे। आलसी लोग सोचते हैं कि ज्ञान के बाद महाआलसी हो जाता है। गीता प्रेस वालों ने एक फोटो भी छाप रखा है कि उसके चारों तरफ टट्टी पेशाब बिखरा पड़ा है, मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, कहते हैं 'यह अवधूत है'। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि ज्ञान का फल सुअर हो जाना थोड़े ही है!।।३६।।

●

इसी जडवत् 'लोकमाचरेत्' को अगले श्लोक में भी स्पष्ट करते हैं

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ।।३७।।

अब शंका होती है कि दूसरे आचरण तो आदमी छोड़ देगा लेकिन शास्त्रीय आचरण तो करने ही पड़ेंगे। जैसे अपर देवता या पर देवता इत्यादियों की स्तुति करना, प्रणाम करना, श्राद्ध आदि कार्य करना। और ये सब करेगा तो उसके अन्दर कुछ तो याद करना पड़ेगा कि 'मैं इस नाम वाला, इस गोत्र वाला' इत्यादि संकल्प विकल्प करना पड़ता है। देवता आदि को नमस्कार तो साधारण आदमी को भी कर्त्तव्यरूप से भी प्राप्त है।

कहते हैं— वह सब कुछ नहीं। उसको किसी भी देवता आदि की स्तुति करने की आवश्यकता नहीं। वह किस देवता की स्तुति करे? सारे देवता जब मुझ आत्मा में

Scanned by CamScanner

अधिष्ठित हैं तो उनकी स्तुति बेकार है। इसी प्रकार जिसको अहंता हो, वह उसे छोड़ने के लिये नमस्कार किया करे। मुझे जब अहंता ही प्राप्त नहीं तो किसको नमस्कार करना है? जैसे देवता की स्तुति नमस्कार नहीं, वैसे ही लौकिक पुरुषों की स्तुति और नमस्कार की भी आवश्यकता नहीं है। पितरों के लिये स्वधा का उच्चारण किया जाता है। इसे पितरों के श्राद्ध तर्पण भी करने की जरूरत नहीं। ये सब भी बेकार हैं। इसके द्वारा सारी शास्त्रीय विधियों का निषेध आ गया और स्पष्ट ही हो गया कि वह यति है। जिसने स्तुति, स्वधा, नमस्कार सब छोड़ दिया, वही परमहंस परिव्राजक श्रौत संन्यासी है। बाकी सब स्मार्त संन्यास हैं। अन्यत्र भगवान् भाष्यकारों ने कहा है कि लिंग धारण आदि स्मार्त संन्यास है। यही वास्तविक वैदिक संन्यास है जिसके अन्दर सर्व कर्मों का परित्याग कर दिया जाता है। यही प्रधान संन्यास है।

लेकिन दण्डी लोग ऐसा नहीं मानते। यदि नहीं मानेंगे तो ज्ञाननिष्ठा कभी नहीं होगी क्योंकि जब तक ज्ञान नहीं, तब तक कर्म करना पड़ेगा और जितना कर्म करोगे उतनी कर्तृत्व बुद्धि होगी। विविदिषु संन्यासी, क्योंकि ज्ञान हुआ नहीं, इसलिये बीच बीच में जो कर्मभावना आती है, उसे काटता है। उसके बाद जब वह भावना आना बिल्कुल बन्द हो गयी तो विद्वत्संन्यास हो गया। स्मार्त संन्यास में तो कर्म प्राप्त है, सवेरे उठो, तीन बार नहाओ इत्यादि। उन सबका फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। गृहस्थ पंचाग्निविद्या आदि उपासना करके जहाँ जाये, वही फल उन्हें भी मिलता है। लेकिन आत्मज्ञान से सद्यः मुक्ति स्मार्त संन्यास का फल नहीं, श्रौत संन्यास का फल है।

ये सब मनोवैज्ञानिक रहस्य भाष्यकारों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखे हैं, इसलिये ध्यान रखना चाहिये। कर्ममार्ग के ऐसे दृढ संस्कार पड़े हैं कि थोड़ा सा मौका मिला नहीं कि मन फिर उधर चला जाता है कि ऐसा करेंगे तो ऐसा हो जायेगा। कुछ न करने से होना है, कुछ करने से नहीं। केवल बार बार 'मैं अकर्त्ता मैं अभोक्ता' इसका निश्चय करना है, यह ख्याल रखना चाहिये। यह अपनी ही परम्परा है, बाकी किसी में हिम्मत ही नहीं है क्योंकि उन्हें संसार के पदार्थों की इच्छा बनी हुई है। इसलिये कहा कि वह यति है, सर्वकर्मसंन्यासी परमहंस परिव्राजक है।

यह तो मान लिया कि स्तुति, नमस्कार, स्वधाकार आदि शास्त्रीय और मैं अमुक विद्या वाला, ऐसा पढ़ा हुआ, योग्यता वाला इत्यादि सब छोड़ भी देंगे तो जब तक जीवन है तब तक कहीं तो रहना ही पड़ेगा और जहाँ रहेंगे उस आश्रय के उद्देश्य से प्रवृत्ति भी करनी पड़ेगी। जैसे भारतवर्ष में रहे तो उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनी पड़ेगी।

कहते हैं इन सब में न रहे। अधिकतर समय तो अचल निकेत अर्थात् ब्रह्म को देखे जो अच्युत है। उसका अच्युत गोत्र है जो अपने स्वभाव से न गिरे। इसलिये अधिकतर समय अपनी ब्रह्मनिष्ठा के कारण अपने को अचल निकेत में माने। जिस समय शरीर

Scanned by CamScanner

की भूख प्यास या सर्दी गर्मी इत्यादि की निवृत्ति के लिये शरीर में दृष्टि होती है उस समय शरीर के उपयोगी प्रवृत्ति कर ले। यह चल निकेत हो गया। अब इसमें भी लोग बार बार कहेंगे कि अपने शरीर के लिये करते हो, दूसरों के लिये क्यों नहीं करते? उन सबकी बातों में न आये। यह समझ लेना चाहिये कि वे बेचारे शरीर के अभिमान को छोड़कर नहीं रहते इसलिये वे दूसरी तरह से कर्त्तव्य बुद्धि तुम्हारे सिर पर लादेंगे। ज्ञानोत्तर काल के लिये जो कहा जाता है वह दूसरी बात है। ज्ञानोत्तर काल के अन्दर उसका जो चल और अचल निकेत है वह अलग नहीं रह जाते। क्योंकि उसे तो सारे ब्रह्माण्ड में अपना आत्मदर्शन हो रहा है इसलिये वह सारे शरीरों को अपना ही शरीर समझता है। लेकिन वह यदि साधक करने लगेगा तो गड़बड़ हो जायेगा। केवल अपने शरीर का ही ख्याल रखेंगे तो दूसरे कोई हमारी परवरिश क्यों करेंगे? कौपीन आच्छादन, भूख-प्यास-निवारण आदि तो देह स्थिति के प्रयोजन के लिये जरूरी हैं। इसलिये कहते हैं 'यादृच्छिको भवेत्' इन विषयों में यदृच्छा समझे अर्थात् जो अपने आप आ जाये उसे ग्रहण कर ले, न आये ते तितिक्षा कर ही रखी है, सहन कर जायेगा। यदि पूरी हलवा खाने को मिले तो मन में नहीं सोचे कि दाल भात खा लेते तो अच्छा था, भारी भोजन हो गया। दाल भात बने तो हलवा पूरी याद न करे। जिस काल में जो चीज प्राप्त हो उसे कर ले। देह-स्थिति प्रयोजन के लिये जो जिस काल में उपलब्ध हो गया, उसी से काम कर ले।

किस चर्या के द्वारा संसार में आचरण करे? भगवान् भाष्यकार कहते हैं लोक अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन विषयों के साथ क्या चर्या रखे? स्तुति, नमस्कार आदि सारे कर्मों को छोड़ दे क्योंकि ये सब कर्म तो वर्ण-अभिमान और आश्रम-अभिमान से प्राप्त हैं। 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, ऐसा करूँ'। अथवा 'मैं ब्रह्मचारी हूँ, गृहस्थ हूँ तो ऐसा करूँ'। ये सब वर्णाश्रम अभिमान वालों को प्राप्त होते हैं। रास्ते में जा रहे हो और किसी ने छू दिया तो 'मैं ब्राह्मण हूँ, हाय इसने छू दिया, नहाना चाहिये,' यह मन में आ गया। वर्ण-अभिमान नहीं होगा तो क्यों नहायेगा? इसी प्रकार आश्रम-अभिमान होगा तो 'मैं संन्यासी, यह गृहस्थ, इसने मुझे ॐ नमो नारायणाय नहीं किया।' कोई गृहस्थ दूसरे गृहस्थ को नमस्कार न करे तो उसके मन में ऐसा नहीं आता है, वह ऐसी आशा नहीं करता है। इसलिये वर्ण-आश्रम-अभिमान को लेकर ही सारे कर्मों की प्राप्ति होती है और वह सारे कर्मों को छोड़े हुए है। यह नहीं कि एक वर्ण आश्रम के अभिमान को छोड़कर दूसरे वर्णाश्रम-अभिमान को पकड़ता रहे क्योंकि वह फिर परमहंस परिव्राजक नहीं हो सकेगा। जैसे आजकल बहुत से लोग कहते हैं कि 'संन्यासी हो गया, उसे ब्राह्मण की तरह पूज्य मानो।' वह खुद भी कहता है कि 'मैं ब्रह्मज्ञानी हो गया, सब मुझे ब्राह्मण मान लो।' समझ लेना चाहिये कि इसे ज्ञान कुछ नहीं हुआ, केवल दूसरों को बेवकूफ बना रहा है।

Scanned by CamScanner

शंका होती है कि यदि सब कर्मों का त्याग कर देगा, और देवताओं की स्तुति नमस्कार भी नहीं करेगा तो देवता नाराज हो जायेंगे। देवता नाराज होकर हमारा क्या करेंगे? अपने घर बैठे रहें। सूर्य नाराज होकर ज्यादा से ज्यादा आँख बन्द कर देगा, वह पहले ही जानता है कि मैं आँख नहीं। दिशा देवता नाराज होकर कान बंद कर दें, विष्णु नाराज होकर पैरों में दर्द करेंगे। उसका निश्चय है कि मैं कान नहीं, मैं पैर या घुटने नहीं। मीरा कहा करती थी राणा जी रूठेंगे तो अपना राज्य अपने पास रखेंगे। इसी प्रकार देवता नाराज होकर हमारा क्या करेंगे? लेकिन जो सारी बाह्य एषणाओं को छोड़े हुए नहीं होगा वह सोचेगा कि आज गणेशचतुर्थी है, व्रत कर लूँ नहीं तो गणेश जी नाराज हो जायेंगे। आज पूर्णिमा का व्रत कर लूँ नहीं तो विष्णु जी नाराज हो जायेंगे। बाह्यैषणाओं के लिये ही देवताओं की, पितरों की पूजा होती है। जब बाह्य एषणायें छूट गई तो वे कुछ नहीं कर सकते।

इसलिये बाह्य अर्थात् आत्मज्ञान से भिन्न सारी एषणाओं को छोड़ दे। आत्मा और आत्मा का ज्ञान यह एषणा तो है ही क्योंकि आत्मस्वरूप में स्थिति दृढ होनी चाहिये। लेकिन इसे छोड़कर बाकी सारी एषणाओं को छोड़ देना चाहिये। ऐसा नहीं कि आलसी होकर बैठा रहे कि हमें आत्मज्ञान भी नहीं चाहिये। लेकिन देवार्चनादि में कर्त्तव्य बुद्धि भी नहीं कि ऐसा नहीं करेंगे तो देवता नाराज हो जायेंगे। जब तक शरीर आदि के अन्दर बुद्धि रहेगी तब तक आदमी करता भी रहेगा। यही परमहंस पारिव्राज्य की प्रतिपति अर्थात् प्राप्ति है' यह परमहंस परिव्राजक बनना है कि सारी बाह्य एषणाओं को छोड़कर बार बार अद्वैत की स्मृति में लगे रहना है यह तात्पर्य है।

यह पारमहंस्य पारिव्राज्य संन्यास अप्रामाणिक नहीं है। यहाँ इतना विस्तार नहीं, लेकिन छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में इसे विस्तार से प्रमाणसिद्ध किया है। जितने दण्डी हैं, उनका आग्रह इसपर रहता है कि कुछ करो। इसीलिये वे इस श्रौत संन्यास का खण्डन करते हैं। जब उनसे कहते हैं कि वेद में कहा है, तो अंत में कहते हैं कि वे तो प्रशंसा-वाक्य हैं, हम सब कुछ छोड़ें, ऐसा मतलब नहीं है। लेकिन कर्मकाण्डियों का भगवान् भाष्यकारों ने छांदोग्य और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में ऊहापोह से खण्डन किया है। यहाँ तो श्रुति स्मृति दोनों में श्रौत संन्यास को बताया है। श्रुति है 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यां चरन्ति।' विदित्वा अर्थात् आपातिक वेदन करके अर्थात् आपाततः श्रवण मनन निदिध्यासन से जानकर। उस आत्मतत्त्व को ज्ञानाभास के द्वारा प्राप्त करके, मनुष्य लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा को छोड़ देता है। लोकैषणा, मुझे इह लोक की या परलोक की प्राप्ति हो, इह लोक में लोग मुझे बुरा कहेंगे। जब यह लोक है ही नहीं, इसकी सिद्धि ही नहीं, तो क्या चिन्ता करनी है? जिसकी एषणा नहीं छूटी है, वह कहता है कि कुछ तो दुनिया का ख्याल करना चाहिये। राम कृष्ण ही नहीं कर सके तो हम क्या करेंगे!

Scanned by CamScanner

इसी प्रकार वैकुण्ठ आदि लोकों में जायेंगे, भगवान् प्रसन्न होकर वह देंगे। वह हम को नहीं चाहिये। वह भगवान् अपने पास रखें! हमारे तो 'आत्मा एव लोकः' आत्मा ही लोक है। नहीं तो फिर द्वैत दृष्टि हो जाती है।

वित्त भी दो तरह के हैं— दैव वित्त उपासना आदि और मानुष वित्त पशु इत्यादि या आजकल नोट। इनसे बड़े बड़े काम कर सकते हैं। लेकिन जिन कामों को करना है वे मिथ्या और संसार का टंटा है। पारलौकिक भी छोड़े इसीलिये चोटी जनेऊ को काटा जाता है। उससे आगे फिर न कर्म का और न उपासना का अधिकार प्राप्त है। फिर कोई तंत्र ले आते हैं, कहते हैं इनका तो कोई निषेध नहीं है। अथवा कोई कहेगा कि पौराणिक उपासना ही करो। संस्कारों के कारण ही आदमी प्रवृत्ति करता है। धीरे धीरे पक्का हो जाता है, घबराना नहीं चाहिये। पुत्रैषणा का त्याग अर्थात् पितृलोक का त्याग। पुत्र से स्त्री आदि की अभिलाषा का भी त्याग हो गया। ये और ही व्यवधान के कारण हैं। अर्थात् जिसको सारा संसार उत्थान समझता है उससे विपरीत आचरण करना। संसार वाले समझते हैं कि ये बढ़िया चीज़ें हैं। इन्हीं तीन को संसार वाले अच्छा समझते हैं, अच्छे लोक की प्राप्ति हो, संसार में नाम हो, खूब उपासना करें, धन आदि की खूब प्राप्ति हो और पुत्र आदि की प्राप्ति हो। इसी को लोग उत्थान समझते हैं। इन सबको मिथ्या समझने वाला व्युत्थान करता है कि सब बेकार हैं, इनकी तरफ दृष्टि क्यों करना।

'अथ' अर्थात् उसके अनंतर 'भिक्षाचर्यां चरन्ति'। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या' केवल भीख माँगना भिक्षा नहीं। उसी को यहाँ यादृच्छिक (by chance) शब्द से कहा। जैसे भिक्षा माँगने वाला यह नहीं कह सकता कि 'मुझे अमुक चीज़ चाहिये, वही दो।' इसी प्रकार जीवन में जो सुख दुःख प्राप्त हो जायें, जो पदार्थ प्राप्त हो जायें, उनमें 'ऐसा नहीं ऐसा हो' इस बुद्धि का अभाव हो जाना, यह भिक्षाचर्या यादृच्छिक होना है। गीता स्मृति भी कहती है 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' उस परब्रह्म परमात्मा में ही दूसरे सारे विषयांतरों से हटाकर निश्चय करना कि वही एकमात्र तत्त्व है। अन्य चीजों के बारे में निश्चय करने की सोचे ही नहीं कि इनके बारे में पता लगायेंगे, हैं क्या? कुछ पता नहीं लगना है। केवल उपनिषदों में प्रतिपादित परब्रह्म परमात्मतत्त्व ही तत् पदार्थ है, उसी के निश्चय में बुद्धि को लगाना। नहीं तो संसार में बहुत सी चीजों का निश्चय करते रहो, कोई ठिकाना नहीं। यह लता कैसे उगी, कौन सी खाद डाली गई? लगे रहो। उसका अंत नहीं होना है। असली तत् पदार्थ का निश्चय करना है। वह जो तत् पदार्थ परब्रह्म परमात्मा परम वस्तु है वही हमारा निरुपाधिक रूप है। पहले यह निश्चय कि वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और फिर निश्चय कि वह 'अहमस्मि' वही मेरा सच्चा स्वरूप है। उसी के अन्दर फिर स्थिति करनी है कि वही एकमात्र मेरी स्थिति है। इसके सिवाय दूसरी कहीं मेरी स्थिति नहीं। वही मेरी गति है। उसी में स्थिर रहना है। वही मुझे प्राप्त होना है, इत्यादि। 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।' (५-१३) इत्यादि गीता स्मृति भी ले लेना।

Scanned by CamScanner

चलाचलनिकेत का अर्थ करते हैं। चल शरीर हुआ क्योंकि प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसके अन्दर भी विद्वान् भूख, प्यास आदि की निवृत्ति के लिये रहता ही है। इसका मतलब हुआ कि व्यवहार के लिये किसी कालविशेष की अपेक्षा नहीं करता कि मुझे इस काल में यह काम करना ही है। चल निकेत के द्वारा बताया कि भूख लगी, उस समय भोजन के लिये चल दिया। यह नहीं कि मुझे अमुक समय भोजन करना है। क्योंकि अद्वैत स्मृति में यह कर्त्तव्य बुद्धि अगर आने लगेगी कि मुझे इस समय भोजन करना है तो फिर दृढता नहीं आयेगी। इस स्थिति में पहुँचने पर किस देश में किस समय भोजन करना, यह सब कुछ नहीं। अथवा जिस समय भोजन मिल गया, उसी समय कर लिया। यह भी नियम नहीं कि जिस समय भूख लगी, उसी समय भोजन करना। इसलिये कहा कि किसी कालविशेष को लेकर अपेक्षा नहीं। इतने बजे ही उठना या इतने बजे ही नहाना आदि ये सब काल के अनुसार व्यवहार हैं। रात भर अद्वैत स्मृति रहे तो रात भर बैठ गये, सोये तो आठ बजे तक नींद आ गई। यह नहीं कि ठीक नौ बजे सोना ही है, फिर चार बजे उठना ही है। इसलिये देश काल की अपेक्षा नहीं। जिस समय इसमें दृष्टि हो गई, हो गई। उसी को स्पष्ट कर दिया कि यह शरीर तो प्रतिक्षण अन्यथाभाव वाला है। अगर विचार किया कि घण्टे भर बाद ध्यान करेंगे तो नहीं होगा। वृत्ति इस समय बन रही है तो घण्टे भर बाद नहीं बनेगी।

लेकिन यह तभी करना चाहिये जब इस स्थिति में थोड़ा थोड़ा पहुँचने लगे। नहीं तो दिन भर संसार का व्यवहार करने लगोगे, फिर ध्यान की स्थिति नहीं बन सकती। यह तो हम प्राय: कहते हैं कि जब सोलह घण्टे अद्वैत स्थिति बनती है तब धीरे धीरे नियमों को ढीला करना चाहिये। नहीं तो तब तक प्रयत्नपूर्वक करे कि सवेरे चार बजे बैठना ही है। जब सोलह घण्टे चलने लगे, तब नियम ढीला करे। किसी दिन चौबीस घण्टे बैठ जायेगा। यह स्थिति ज्ञान की साधना में सबकी आती है। किसी की चार छह महीने और किसी की साल भर तो किसी की दो साल रहती है। लेकिन यह स्थिति आती जरूर है। बिना यह स्थिति आये हुए वृत्ति स्थिर नहीं होती है। बहुत से लोग जो आधुनिक कह देते हैं कि बुद्धि से समझ लिया तो हो गया, वह सब समझना नहीं है। वह तो मन को संतोष देने के लिये है। जिनकी स्थिति नहीं हो पाती वे ऐसा कहते हैं। उन्हें कहें तो फिर वे गाली देने लग जाते हैं! यह स्थिति आये बिना काम नहीं होता।

अचल निकेत आत्मतत्त्व है। जिस समय इस शरीर की अहंकार ममकार परवशता को भूल जाता है, जिस समय शरीर में मैं और मेरा-भाव नहीं रह जाता है, क्योंकि शरीर के मैं और मेरे-भाव से ही भोजन आदि व्यवहार होता है, जब यह मैं मेरा-पना छूट जाता है; उस समय आत्मस्थिति में अवस्थित हो जाता है। यही उसका अचल निकेत हो गया।

Scanned by CamScanner

चल निकेत को और स्पष्ट करते हैं। स्मृति में नियम है कि जब धुआँ बन्द हो गया हो, ऊखल बन्द हो गया हो, लोग अग्निहोत्र आदि कर चुके हों, उस समय, अर्थात् बारह बजे के लगभग, भिक्षा के लिये जाये आदि। ये सब नियम ऐसे संन्यासी के लिये नहीं हैं। जब कभी भूख इत्यादि का संस्कार आ गया, उस समय में उसको निमित्त करके भिक्षा कर ले। आकाशवत् अपना स्वरूप अचल है, जो अपना आत्मतत्त्व है, यही आत्मा का निकेत है, आश्रय, आत्मस्थिति है। अब जिस समय भोजन आदि व्यवहार का निमित्त शरीर धारण के लिये प्राप्त होता है उस समय उस चीज की स्मृति नहीं रहती, लगता है भूख लग गई, प्यास लग गई। जब उस स्थिति को भूलेगा तो शरीर के अन्दर 'मैं हूँ' ऐसा भान आ जायेगा। उस समय उसका निकेत शरीर हो गया, वही उसका आश्रय हो गया। इस प्रकार चल और अचल निकेत उसके लिये है जो इस प्रकार अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति के लिये लगा हुआ है।

वह बाह्य विषयों का आश्रयण कभी भी नहीं करता। बस केवल शरीर का निर्वाह करता है। बाह्य विषयों का आश्रय नहीं करेगा तो उसका काम कैसे चलेगा? वह यादृच्छिक हो जाता है। जो वस्त्र आच्छादन के लिये मिल गया, चाहे किसी दिन एक कौर ही खाने के लिये मिले, जितने से शरीर की स्थिति रहती है उतना ही उसका व्यवहार रह जाता है, क्योंकि शरीर की स्थिति नहीं रहेगी तब तो ज्ञान ही नहीं होगा। ऐसा नहीं कि शरीर का ख्याल ही न करे। बृहदारण्यक भाष्य में भाष्यकर लिखते हैं कि अपनी मंगली लड़की को कोई इसलिये नहीं ब्याहता कि जँवाई मर जायेगा! इसी प्रकार ज्ञान इसलिये थोड़े ही है कि मर जायेंगे। यह स्थिति जितने समय तक रहती है, रहती है। फिर जब ज्ञान हो जाता है तो जैसा व्यवहार होता है वैसी प्रवृत्ति-निवृत्ति करता रहता है। यहाँ तक विविदिषु संन्यास हो गया।।३७।।

जब ज्ञान हो गया तो क्या स्थिति होती है? इसे अगले श्लोक में बताते हैं

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ।।३८।।

अब तक विदित्वा कहा था और अब कहते हैं 'दृष्ट्वा' अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व का अनुभव करके। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' द्रष्टव्य साध्य हो गया और श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन हो गये। मैं ही परब्रह्म हूँ' यह जब दृढ बोध हो गया, ऐसा अनुभव कर लिया, तो अब स्मृति-संतान भी उसके लिये कर्तव्य नहीं रह गया। 'अहमेव परब्रह्म' यह ज्ञान होने के बाद स्मृति अनावश्यक है क्योंकि अज्ञान कार्यसहित नष्ट हो गया। फिर उसके लिये देश काल कोई नियम नहीं क्योंकि चौबीस घण्टे उसका अनुभव है कि 'मैं ही परब्रह्म हूँ।' शरीर मन इत्यादि और

Scanned by CamScanner

शरीर में होने वाली चीजों के अधिष्ठान रूप से स्वयं को जाना अर्थात् जिसको अब तक शरीर मन आदि समझता था उसका अधिष्ठान रूप परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ। शरीर मन आदि सारे मुझमें कल्पित हैं। अब शरीर से बाहर जो पृथ्वी आदि हैं उन सबका भी अधिष्ठान एकमात्र मैं ही हूँ। जैसे शरीर और शरीर के अन्दर का, वैसे ही शरीर के बाहर के भी सब तत्त्वों का मैं अधिष्ठान हूँ। शतश्लोकी में भगवान् भाष्यकारों ने पहला ज्ञान 'अहमेव परब्रह्म' और फिर ज्ञान 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' बताया जिसे यहां 'तत्त्वम् आध्यात्मिकं दृष्ट्वा' के द्वारा भगवान् गौडपादाचार्य कह रहे हैं।

इस प्रकार अधिष्ठान मात्र रूप से जब उसने अपना अनुभव कर लिया, जब इसमें स्थिर हो गया तो फिर उस अधिष्ठान को छोड़कर और किसी चीज में उसका रमण नहीं होता है। किसी चीज में उसका दिल नहीं लगता है। ऐसा व्यक्ति संसार के समग्र व्यवहारों को करने और न करने काल में भी तत्त्व से अप्रच्युत बना रहता है। एक क्षण भी तत्त्व से उसका वियोग नहीं होता है। जैसे साधारण आदमी रात में सो रहा हो और झट जगाकर पूछो 'क्या नाम है?' तो तुरंत कहेगा 'संजीव'। और चाहे फावड़ा चला रहा हो, उससे पूछो 'क्या नाम?' तो यह नहीं कहता कि 'अभी ठहरो, जरा थकावट दूर कर लूँ तो बताता हूँ।' ऐसे ही मैं अमुक का पुत्र, अमुक नगर का रहने वाला हूँ, यह ज्ञान भी कभी च्युत नहीं होता। इसी प्रकार जो संसार का बड़े से बड़ा व्यवहार करता दीखता है उस समय भी 'मैं ब्रह्म हूँ,' जिस समय कुछ नहीं करता हुआ निवृत्ति में है तब भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय बना रहता है। ऐसा व्यक्ति फिर कभी तत्त्व से प्रच्युत नहीं होता।

भाष्य में स्पष्ट किया कि पृथ्वी आदि और देह आदि दोनों ही परमार्थ नहीं हैं। शरीर आदि से मन भी ले लेना। ये आध्यात्मिक तत्त्व और पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्व, दोनों ही पारमार्थिक नहीं हैं। कैसे हैं? जैसे रस्सी में साँप आदि दीखते हैं या जैसे स्वप्न अथवा माया दीखती है वैसे ही सारे असत् हैं। 'वाचारंभणं विकारो नामधेयम्' श्रुतिप्रमाण दे दिया कि यहाँ कहा हुआ विकारजात सब असत् है। बस केवल वाणी से ही इसका प्रारंभ होता है। वाणी से ही यह पैदा होता है। संसार की अधिकतर चीजें केवल शब्द से ही पैदा होती हैं क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा तो शब्द स्पर्श आदि का ही ग्रहण किया जाता है लेकिन बाकी सब तो शब्द के द्वारा ही बंधन होता है। इसीलिये हमारे यहाँ वैयाकरण बेचारे शब्द को ही ब्रह्म मानते हैं क्योंकि सृष्टि की अधिकतर चीजें शब्दमयी ही हैं। इसलिये शब्द के द्वारा ही यह सब विकारजात प्रारंभ होता है। जितने भी नाम होते हैं वे सब विकल्पित हैं। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' है तो वहाँ केवल मिट्टी ही। इसीलिये जिसको नाम नहीं आता है वह कहेगा 'सफेद है।' सफेद तो उसे इन्द्रिय से पता लगा। आगे यह लकड़ी, लकड़ी पर पेंट, फिर दरवाज़ा, ये सब शब्द ही हैं। जिसको ये शब्द नहीं सिखाया गया उसे केवल सफेद का भान होता है, आँख तो केवल यही देखती है। बाकी सब तो शब्दों के द्वारा जाल बनाया जाता है जिसमें आदमी फँसते रहते हैं।

Scanned by CamScanner

द्रष्टा जो आत्मा है वह भी दृश्य का प्रतियोगी होने से वाचारंभण क्यों नहीं? जवाब देते हैं कि आत्मा दृश्य का विपरीत नहीं है। सांख्यवादी मानता है कि दृश्य का प्रतियोगी द्रष्टा है। लेकिन वेदांत में दृश्य द्रष्टा दोनों कल्पित हैं। जिसमें दोनों कल्पित हैं वह आत्मतत्त्व सत्य है। जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह बाहर दृश्य की तरह और अंदर द्रष्टा की तरह प्रतीत होता है। है वह एक ही आत्मतत्त्व। वही जन्म से रहित, उसके पहले कुछ नहीं, उसके बाद भी कुछ नहीं, उसके अंदर कुछ नहीं और उसके बाहर भी कुछ नहीं। वही समग्र है, पूर्ण है। आकाश की तरह सबके अन्दर सब समय विद्यमान है। सूक्ष्म है, अचल है अपने स्वरुप से कभी चलित नहीं होता। निर्गुण और निष्कल है उसमें कोई टुकड़े नहीं, उसमें कोई क्रिया नहीं है। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' 'हे श्वेतकेतु! बस जो ऐसा है वही आत्मा है।' वह सत्य कोई होगा, किसी किसी को कभी कभी मिल जाता होगा? तब कहते हैं 'हे श्वेतकेतु! वह आत्मा तू है।' यह वेद को छोड़कर और कौन कहेगा? बाकी तो कहेंगे कि परिश्रम करो, तुम्हारे भाग्य में यह सब नहीं। अनेक जन्मों के पुण्यों से होगा, खड़ताल बजाओ। इसलिये वे सब तो भविष्य की बात करते हैं, यहाँ तो इस काल में ही तू आत्म-स्वरूप है। यह भगवान् भाष्यकार का अनुभव वाक्य है।

इस प्रकार जब तत्त्वदृष्टि बन जाती है तो अब तत्त्वीभूत, अर्थात् तत्त्व से एक हुआ रहता है। भूत अर्थात् अब वह स्वयं तत्त्व हो गया। अब उसे तत्त्व-ज्ञान नहीं रहता। तत्त्वज्ञान तब तक है जब तक बीच में वृत्ति का व्यवधान है अर्थात् वृत्ति में से ब्रह्म दिखाई दे रहा है। जैसे ही दर्शन हुआ, वैसे ही वह अंतःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति भी अज्ञान का ही कार्य होने से अब उसका भी बाध हो गया। इसलिये अब उसे तत्त्व 'का' ज्ञान नहीं, वह स्वयं ही तत्त्व है। उसी के अन्दर उसका रमण रहता है, बाह्य रमण नहीं रहता। जब तक मनुष्य को यह तत्त्वदर्शन नहीं होता है वह ब्रह्माकार वृत्ति बनाने के लिये प्रयत्नशील विविदिषु भी है तब तक व्यवधान बना हुआ है। यहाँ साधारण संसारी लोगों को नहीं लेना। यहाँ तो जो ब्रह्माकार वृत्ति बना रहा है उसी की बात कर रहे हैं। ऐसा व्यक्ति बाकी सब चीजों से तो हट गया है तभी जिज्ञासा है, विविदिषु है। लेकिन बीच में कभी कभी जो चित्त या मन है उसी को आत्मा मान लेता है। यह सब शरीर आदि का अभिमान तो उसका छूट गया। जब शरीर का छूट चुका तो बाह्य जगत् का तो पहले ही छूट चुका है। लेकिन जब तक यह अनुभव नहीं हो जाता तब तक मन को अपना आत्मा समझता है।

इसलिये जहाँ चित्त ने कोई दूसरी वृत्ति बनाई चित्त के चलायमान होने से वह समझता है कि मैं चलायमान हो गया। चित्त ने विषय दर्शन कर लिया तो लगता है मैंने विषय दर्शन कर लिया। चित्त यदि शांत हो गया तो समझता है कि मैं शांत हो गया। चित्तके हिलने डुलने या अशांत होने से वह अपने को हिलने डुलने वाला या अशांत समझ

Scanned by CamScanner

लेता है। ब्रह्माकार वृत्ति वाले में (जो पहले श्लोक में बताया) और दृढ ज्ञानी में (जो इस श्लोक में बता रहे हैं) यही फरक है। बाकी सब तो वह छोड़ चुका, लेकिन चित्त चलने से अपने को चलता हुआ समझता है, ऐसा मानने वाला तत्त्व से चलित कहा जाता है। जब चित्त चलकर शरीर आदि में गया तो 'मैं शरीर आदि हूँ', यह आत्म-प्रतीति हो जाती है। इसीलिये जब भूख लगती है तो सोचता है कि 'मैं भूख को हटाऊँ।' बाकी व्यवहार तो वह छोड़ चुका है। ज्ञानी का चित्त जब भूख अनुभव करता है तो ज्ञानी की यह प्रतीति नहीं कि 'मुझे भूख लगी है' क्योंकि जिस काल में एक शरीर को भूख लग रही है उसी काल में दूसरे शरीरों में उसका पेट पूरा भरा हुआ है! 'दोनों अंत:करणों का अधिष्ठान मैं ही हूँ,' यह उसका अनुभव है। जो चित्त को चलने वाला समझता है वह दोनों का अनुभव अलग से कर रहा है। उसकी भी कभी कभी दो चार दिन में ऐसी वृत्ति बन जाती है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ'। जब यह कदाचित् हो तो साधक और जब कभी न हो, तो काम बन गया।

उससे पहले वह सोचता है कि 'मैं आत्मतत्त्व से गिर गया। आत्मतत्त्वानुसंधान करता हुआ संसार में मन चला गया।' यही उसके बंधन का कारण है। जब उसका चित्त समाहित हो गया, एकाग्र हो गया तो सोचता है कि 'मेरा आत्मा बड़ा अच्छा है, इस समय मैं तत्त्व से एक हो गया'। समाधि काल में तो प्रसन्न हो जाता है, समझता है तत्त्वप्राप्ति हो गई और व्युत्थान काल में समझता है कि चित्त से चलित हो गया। यह पूर्व श्लोक में बताये हुए की स्थिति है। जब यह छूट जाये तो इस श्लोक की बात आ गई। अर्थात् जो दृढ आत्मज्ञानी विद्वान् आत्मवेत्ता हो गया तो फिर उसका अनुभव वैसा नहीं होता है। उसका तो चित्त सारे संसार का व्यापार करता रहे तो भी उसे नहीं लगता कि मैं तत्त्व से च्युत हो गया और सर्वदा समाधि में लीन होता है तो यह नहीं लगता कि कुछ प्राप्ति हो गई। 'प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा न कटाक्षेण वीक्षते' प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों चित्त के धर्म हैं। प्रारब्ध से जो होता है वह होता रहे।

ऐसा क्यों कहते हैं? मन एक जैसा रहना ज़रूरी क्यों नहीं? कहते हैं आत्मा तो एक रूप है। एकरूप इसलिये है कि अनेकता को लाने वाली चीज़ अज्ञान होता है। जहाँ जहाँ अज्ञान वहाँ वहाँ अनेकता। आत्मा एक रूप है। अज्ञान भी कल्पित था, सच्चा नहीं। अब वह काल्पनिक भी नहीं रहा। इसलिये स्वरूपप्रच्युति असम्भव है। क्योंकि प्रच्युति तब जब दो चीजें हों। एक से दूसरे में जाये, तब प्रच्युति हो। जब तक अज्ञान था तब तक तो व्यावहारिक जगत् अज्ञानसिद्ध था इसलिये उसके अन्दर स्खलन हो जाता था, च्युत हो जाता था। अब जब अज्ञान नष्ट हो गया तो जिसे आज तक जात कहते रहे वह ब्रह्म ही ब्रह्म रह गया। अब वह गिरकर कहाँ जाये? क्योंकि सब काल में 'ब्रह्मरूप ही हूँ,' ऐसा दृढ निश्चय बना रहता है। तत्त्वरूपी आत्मदर्शन से वह कभी भी प्रच्युत नहीं होता, यह अभिप्राय है।

Scanned by CamScanner

इसी को गीता स्मृति में कह दिया 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'उसके सामने कुत्ता आता है तो भी आत्म-दृष्टि कि 'मैं ही कुत्ता रूप से विद्यमान हूँ', सामने चाण्डाल आया तो भी आत्म-दृष्टि कि 'मैं ही तद्रूप को लिये हुए हूँ।' और स्पष्ट करने के लिये गीता का ही एक और प्रमाण दे दिया 'समं सर्वेषु भूतेषु' सारे भूतों के अन्दर वह उसी प्रकार से परमेश्वर आत्मद्रष्टा बना रहता है। इन सब स्मृतियों के द्वारा भी इसका प्रतिपादन किया गया है। एवं च आगम सो जो अद्वैत प्रतिपादित किया, उसमें दृश्य द्वैत से शंका हुई तो दृश्य का वैतथ्य इस प्रकरण में सिद्ध कर दिया। आगम का निर्णय यथावत् रह गया।।३८।।

द्वितीय प्रकरण समाप्त

Scanned by CamScanner

ॐ

अद्वैत प्रकरण

आगम प्रकरण में यह बताया था 'विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्' अगर विकल्प होता तो हटता अर्थात् है ही नहीं तो इसका हटना कैसा! उसी को समझाने के लिये द्वितीय वैतथ्य प्रकरण हुआ कि किसी के भी द्वारा इसकी विकल्पना बनती नहीं। द्वैत का वैतथ्य शास्त्र के तात्पर्य के लिये मान्य है। यह पहले प्रकरण में सूचित किया। द्वैत मिथ्यात्व को ही तर्क से दूसरे प्रकरण में सिद्ध किया। वैतथ्य के अन्त में कहा 'अद्वैतं समनुप्राप्य'। उस अद्वैत की स्थिति कैसे बने, अद्वैत का स्वरूप क्या है? यह बताने वाला अगला प्रकरण अद्वैत प्रकरण है। प्रथम प्रकरण में आगम ने दोनों बातें बतायीं द्वैतमिथ्यात्व और अद्वैतसत्यत्व। उनमें द्वैतमिथ्यात्व को यौक्तिक ढंग से दूसरे प्रकरण में समझाकर तीसरे में अद्वैतसत्यत्व को युक्तिसंगत करके बतायेंगे। पहला निश्चय है जगत्-वैतथ्य का, अर्थात् दृश्य और द्रष्टा दोनों असत्य हैं। द्रष्टा कह रहे हैं, साक्षी नहीं। दृश्य और द्रष्टा की असत्यता का जब तक निश्चय न हो तब तक अद्वितीय-भाव की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसलिये सबसे पहले इसका निर्णय किया। केवल दृश्य और द्रष्टा ही आज तक अनुभव में आया है और द्रष्टा और दृश्य यदि दोनों वितथ हैं तो शून्यवाद-प्रसक्ति हो गई। अद्वैत की सिद्धि जब तक नहीं हो सकती तब तक द्रष्टा और दृश्य हटने पर भी अद्वितीय स्थिति नहीं हो पाती। उसी को बताने के लिये यह अद्वैत प्रकरण है।

दो प्रकरणों के सहारे से द्वैत की असत्यता का निरूपण किया। द्वैत की असत्यता से आर्थिक अद्वैत की प्राप्ति हुई। द्वैत नहीं, अर्थात् अद्वैत है। इस प्रकार द्वैताभाव रूप अर्थ सिद्ध हो गया अद्वैत। यहाँ घट नहीं अर्थात् घटाभाव है। लेकिन शंका होगी कि यह घटाभाव पदार्थ है या नहीं? अभावरूप पदार्थ है या भावरूप पदार्थ है? क्योंकि घटाभाव दोनों रूप से होता है। जब कहते हैं 'यह घड़ा नहीं' तो यहाँ घट का अभाव कोई भाव पदार्थ है अर्थात् कुर्सी है। और यदि कहते हैं 'यहाँ घड़ा नहीं है' तो घट का अभाव कोई भाव पदार्थ नहीं है क्योंकि कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसे कह रहे हों कि यह घड़ा नहीं है। इसलिये यहाँ अभावरूप धर्म भूतलादि पर बताया जा रहा है। अतः यह अद्वैत भावरूप है इसको सिद्ध करना आवश्यक हो गया। उसी को आगे के प्रकरण में बताते हैं।

Scanned by CamScanner

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ।।१।।

देह का धारण करने से जीव को धर्म कहते हैं। भूतसंघातरूप से उत्पन्न परमात्मा में अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में अभिमान करके जीव रहता है। वह मानता है कि पैदा होने से पहले सब कुछ अज था, ब्रह्म था और पुरुषार्थ का साधन जो उपासना उसका सहारा लेकर मैं मरने के बाद उसी ब्रह्म को पा जाऊँगा। क्योंकि जीव इस मिथ्याज्ञान वाला है इसीलिये ब्रह्मवेत्ता इसे कृपण मानते हैं।

प्रायः ब्रह्म का प्रतिपादन इस रूप से किया जाता है कि जिसकी उपासना की जाये, वह ब्रह्म है। उपास्य ब्रह्म का प्रतिपादन बिना द्वैतदृष्टि के हुए, उपास्य-उपासक-भाव के हुए, हो ही नहीं सकता। ब्रह्म की सिद्धि प्रायः वादी उपास्य रूप से करते हैं। उपास्य और उपासक भाव के बिना ब्रह्म को कैसे सिद्ध करोगे? उपासना का आश्रय जीव साधक हो गया। वह फिर उपासना करके ब्रह्म की प्राप्ति करेगा। इस प्रकार ब्रह्म को अन्तिम प्राप्य मानो और प्राप्त करने वाला जीव हुआ। संसार में सभी ऐसा ही मानते हैं। जीव है, कुछ करेगा। उपासना चाहे योग आदि के द्वारा निराकार की करे, अथवा साकार की उपासना करे, अथवा उसके लिये बताया हुआ कर्मानुष्ठान करे; यह सब उपासना हुई। यह सब वह ब्रह्म तो करेगा नहीं, क्योंकि वह तो ब्रह्म है ही। हम लोग जो ब्रह्म नहीं हैं वे करेंगे, तब उसकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार उपासना के आश्रित जो धर्म अर्थात् आत्मा है अर्थात् जो साधक है।

जब तुमने कह दिया कि द्वैत है ही नहीं तो फिर उस ब्रह्म की सिद्धि ही नहीं है जिसको प्राप्त होना है। इसका जवाब देते हैं कि उपासना-आश्रित जो धर्म है वह 'जाते ब्रह्मणि वर्तते' वह तो उस ब्रह्म में रहेगा जो संसार को उत्पन्न करने वाला है। उपास्य-उपासक-भाव कब तक? जब तक तुमको संसार दीखता है। इसलिये संसार को उत्पन्न करने वाला तुमने माना।'जाते ब्रह्मणि' का मतलब सचमुच उत्पन्न नहीं, वरन् अज्ञान के द्वारा तुम कल्पना कर रहे हो। जिस प्रकार यहाँ आबू में टोडरॉक को देखकर साधारण व्यक्ति कल्पना करेगा कि इसको किसी ने बनाया होगा, बिना बनाये थोड़े ही है—ऐसी प्रतीति होती है। लेकिन वस्तुतः किसी ने बनाया नहीं है। इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड हमेशा नित्य अपने स्वरूप से वैसा का वैसा है। इसको किसी ने बनाया हो यह ज़रूरी नहीं। जो जो अन्तःकरण जिधर जिधर जाता रहता है उस उस अन्तःकरण को उधर उधर की प्रतीति होती है। अपने अन्दर केवल कल्पना लाकर यह सोचता रहता है कि इसके बाद यह हुआ। जिसे अन्तःकरण ने पहले देखा उसको कारण और जिसको बाद में देखा उसे कार्य मानता है। हैं दोनों एक साथ ही।

वही सिनेमा याद कर लेना। सिनेमा में शुरू होने वाली रील और ख़तम होने वाली रील एक साथ ही भरी हुई है। सचमुच ऐसा नहीं कि एक आगे और एक पीछे है। कई

Scanned by CamScanner

बार ऐसा होता है कि सिनेमा में आगे की चीज़ों का फोटो पहले उतारते हैं और पहले जो चीज़ें आती हैं उनका फोटो बाद में उतारते हैं! क्रम से फोटो नहीं उतारते। बाद में सब जोड़ दिये जाते हैं। लेखक भी जब कोई ग्रन्थ लिखता है तो ज़रूरी नहीं कि प्रथम अध्याय पहले लिखे। बीच बीच के अध्याय लिखता रहता है,जैसा जैसा उसे स्फुरण होता है लिखता रहता है। फिर उसके बाद उसे क्रमबद्ध कर देता है। पढ़ने वाले को तो 'यह पहले' और 'यह पीछे' की ही प्रतीति होगी। इसी प्रकार एक अखण्ड ब्रह्म के अन्दर सारे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड खुले हुए हैं। जो अन्तःकरण जिधर को देख रहा है उसको उसकी प्रतीति हो रही है। मानता वह यह है कि अब यह पैदा हो गया क्योंकि हमको दीख रहा है। इसलिये ब्रह्म स्वयं स्वरूप से जात नहीं है। लेकिन जाति की, जन्म की कल्पना हो जाती है।

अब यदि तुम उत्पन्न को मानते हो तो उत्पत्ति के पहले तो उसे अज ही मानना पड़ेगा। जो उपासक कहता है कि इस उपास्य तत्त्व से जगत् उत्पन्न हुआ ऐसे उपासक से यह पूछो कि उत्पत्ति के पहले कैसा था? कहेगा 'अज था।' उत्पत्ति के पहले अज था, इस प्रकार ('तेन') की मान्यता के कारण ही यह उपासक कंजूस या कृपण कहा जाता है। यह उसकी कृपणता है। कृपण हमेशा दूसरों के सामने दीन होता है। उसके पास धन हो तो भी दूसरे को कहता रहता है कि 'मेरे पास कुछ नहीं है।' दीन-भाव को ही यहाँ कृपण शब्द से कहा है। इसी प्रकार यह भी अपनी अजता को नहीं समझता है इसलिये कृपण बना रहता है। इस कृपण शब्द का प्रयोग बृहदारण्यक उपनिषद् में भी किया है। वहाँ भी बताया है कि जो ब्रह्म को न जानकर यहाँ मरता है वह कृपण है। हमारे यहाँ पातकों में कृपणता को गिनाया है। शराब पीना और कंजूसी हमारे यहाँ दोनों पाप हैं। आजकल के समाज वाले शराब पीने को पाप मानते हैं, कंजूसी को पाप नहीं मानते। 'न कदर्यो न मद्यपः', वेद ने तो दोनों को साथ ही साथ गिनाया है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आगम प्रकरण में ओंकार का विचार करके ओंकार के स्वरूप को समझने पर यह निर्णय हुआ कि जहाँ प्रपंच का सर्वथा उपशम है वही शिव तत्त्व कल्याणस्वरूप है और वही अद्वितीय आत्मा है। प्रपंच का उपशम, शिव, अद्वैत और आत्मा सब एक ही पदार्थ को बताते हैं। 'प्रपंच की उपशांति जहाँ है' ऐसा अर्थ प्रायः लोग कर जाते हैं लेकिन यह ग़लत अर्थ है। यदि ऐसा अर्थ करोगे तो प्रपंच सत्य बना रहेगा। इसलिये प्रपंच की उपशांति ही स्वरूप है जिसका वही शिव है, वही अद्वितीय है और वही आत्मा है। यह ओंकार का निर्णय बताया।

प्रपंचोपशम शिव अद्वैत आत्मा बता दिया, आगे क्या पढ़ाना है? कहते हैं कि यह निर्णय तो प्रतिज्ञा मात्र से है अर्थात् श्रुति ने 'ऐसा है' यह कह दिया। प्रतिज्ञावाक्य पक्ष और साध्य के कथन को कहते हैं। जब तक इसमें हेतु दृष्टांत इत्यादि नहीं देंगे तब तक इसकी सिद्धि नहीं है। इसी प्रकार श्रुति ने कह दिया कि प्रपंचोपशम शिव अद्वैत

Scanned by CamScanner

आत्मा है, यह प्रतिज्ञा हो गई। अब यह बताना कि किस हेतु से, किस दृष्टांत से है, हम लोगों का काम है। उस प्रपंचोपशम को समझाने के लिये कारिकाकार ने दूसरी प्रतिज्ञा कर दी कि इस शिव तत्त्व को जानने के बाद द्वैत नहीं रहता। 'इति च' के द्वारा कह दिया कि यह भी प्रतिज्ञा ही है। इसलिये प्रथम प्रतिज्ञा श्रुति की और दूसरी प्रतिज्ञा कारिका की हुई। इस श्रुति और कारिका की प्रतिज्ञा में ज्ञान होने पर प्रपंच की उपशमरूपता श्रुति ने बताई। प्रपंच की उपशमरूपता को अर्थापत्ति के द्वारा 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' गौडपादाचार्यों ने कहा। उस द्वैत निवृत्ति की सिद्धि अर्थात् द्वैत का जो अभाव है वह इन दो प्रकरणों में ठीक तरह से सिद्ध किया गया, उसमें हेतु और तर्क भी दिया। कई हेतु दिये और दृष्टांत भी दिये। स्वप्न, माया, गंधर्वनगर आदि का दृष्टांत दिया। दृश्य होने से, आदि वाला होने से, अंत वाला होने से, ये सारे हेतु भी दे दिये। इस प्रकार प्रपंचोपशम की प्रतिज्ञा तो पूरी तरह से हो गई। उसमें तो अब और कुछ कहना बाकी नहीं बचा।

अब जो आगे 'शिवोद्वैतः' है, जो अद्वैत तत्त्व है; क्या यह केवल प्रथम प्रकरण में आगम ने कह दिया इतने मात्र से मान लेना है या उसमें तर्क भी समझने हैं— यह विचार बाकी रहा। परम्परा कहती है, पूर्वज कह गये हैं, वेदों में लिखा है इसलिये मान लो, यह एक तरीका है। आगम ने कहा क्या इतने मात्र से ही उसे मानना है या तर्क के द्वारा भी इसकी सिद्धि हो सकती है? हेतु, दृष्टांत आदि सब तर्क हैं। ऐसा किसी के मन में आने पर तीसरा प्रकरण आया।

यहीं वेदांत का बाकी सब धर्मों से वैशिष्ट्य है। यह नहीं कि केवल वेदांत में लिखा है इसलिये मान लो। तर्क के द्वारा भी इसका ज्ञान सम्भव है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जैसे धर्म के विषय में केवल वेद प्रमाण है ऐसे ब्रह्म के विषय में केवल वही नहीं। यहाँ तो अनुभव, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि सभी प्रमाण हैं। इसलिये तर्क के द्वारा भी इसको जाना जा सकता है —यह बात सिवाय वेदांत के और कोई नहीं कह सकता। बाकी सब कहते हैं कि जो हमारे पूर्वज कह गये उसे मानो नहीं तो नरक के दण्डे पड़ेंगे।

किसी ने पूछा 'यह आप कैसी बात कर रहे हैं? यह भी तो कहा है 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' और 'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्क से उसकी प्राप्ति नहीं, तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं? यदि तर्कसिद्ध ही अद्वैत तत्त्व है तो फिर आपका सिद्धान्त अवैदिक हो गया, श्रौत प्रमाण से सिद्ध नहीं रहा, आप लोग नास्तिक हो गये क्योंकि तर्क से सिद्ध हुई बात को माना।'

वेदांती का कहना है कि यहाँ तक तो ठीक है कि स्वतंत्र तर्क का प्रवेश नहीं है। जिसने पहले वेद को नहीं देखा है उसको तो यह अद्वैत तत्त्व ख्याल में नहीं आयेगा। इसलिये स्वतंत्र तर्क का तो प्रवेश नहीं है। लेकिन आगमिक तर्क का प्रवेश है, अर्थात् श्रुति के द्वारा जब पता लग गया तब उस बात को सिद्ध करने में तर्क का भी प्रयोग

Scanned by CamScanner

हो जाता है। इसलिये हम नास्तिक भी नहीं हैं। यह दोनों का भेद समझ लेना। धर्म से हम अलग इसलिये हैं कि अपने तत्त्व को तर्क से सिद्ध भी करते हैं। नास्तिक से इसलिये अलग है कि वेदमूलक चीज़ों को समझकर तदनुकूल तर्क ही करते हैं।

ऐसे समझो जीवन में, प्रत्येक अनुभव में, प्रत्येक दर्शन में, विज्ञान में भी, अनेक स्थल ऐसे आते हैं जहाँ दो सम्भावनायें एक जैसी होती हैं। दोनों बातों के लिये एक जैसी युक्तियाँ मिल जाती हैं। वहाँ श्रद्धापूर्वक एक को पकड़ना पड़ता है और दूसरी को छोड़ना पड़ता है। श्रद्धा का प्रयोजन वहाँ है। जैसे एक मोटा दृष्टांत ले लो। सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ घूमता है यह मानकर भी हज़ारों साल तक गणित का काम चलता रहा, और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है यह मानकर भी काम चल रहा है। आज या भविष्य में भी कभी कोई निश्चय से नहीं कह सकता कि दोनों में कौन घूम रहा है और कौन नहीं घूम रहा है! कोई पुष्टतम प्रमाण आज भी नहीं दिया जा सकता कि पृथ्वी चल रही है। क्यों नहीं दिया जा सकता? गति का आधार होता है किसी एक स्थिर बिन्दु को मानना। सारे नक्षत्रमण्डल और तारामण्डल यदि पृथ्वी को स्थिर मानकर चलते हुए मानें तो कोई विरोध नहीं आयेगा। फिर किस कारण से हम मानते हैं कि पृथ्वी चलती है? सारे ब्रह्माण्ड मण्डल की गिनती करने जाओ तो गणित कठिन है। हिसाब तो लग जायेगा लेकिन मुश्किल है। उसकी अपेक्षा यदि पृथ्वी को गतिशील माने तो सबकी स्थिति आराम से समझ में आ जायेगी। इसलिये श्रद्धापूर्वक मानना पड़ता है कि बजाय सब चीज़ों की गति मानें, पृथ्वी को चलने वाला मान लो तो सारा हिसाब ठीक बैठ जाता है। जैसे यहाँ से स्पुतनिक गया तो उससे पृथ्वी चलती हुई प्रतीत होती है। यह भी हो सकता है कि पृथ्वी और स्पुतनिक के बीच का आकाश गोल गोल घूम रहा हो! स्पुतनिक भी तो चल रहा है, उसके कारण स्पुतनिक से फोटो लेने से लगा कि पृथ्वी घूम रही है! इसलिये यह केवल श्रद्धा या सुविधा के कारण माना कि पृथ्वी चल रही है।

ऐसे ही हमारे महात्माओं में प्रसिद्धि है कि एक आदमी नदी में डूब रहा था तो ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगा कि 'सारा संसार डूब रहा है, बचाओ'। उसे बाहर निकाला गया। जब स्वस्थ हो गया तो उससे पूछा कि 'तूने यह कैसे कहा कि सारा संसार डूब रहा है?' उसने कहा कि 'मैं डूबा तो जग डूबा।' चाहे यह मानो कि मैं नदी में डूब रहा हूँ, तो भी मेरे लिये तो सारा संसार चला जा रहा है; या सीधे ही मानो कि सारा संसार चला जा रहा है। लेकिन सारों की अपेक्षा एक की मृत्यु मानने में लाघव है। एक विज्ञान का दृष्टांत हो गया। यह अनुभव का दृष्टांत है।

हमने एक बिल्ली का बच्चा छोटा सा देखा, छह महीने बाद और थोड़ा बड़ा हुआ देखा, साल भर बाद और थोड़ा बड़ा देखा। अब यहाँ लाघव इसमें है कि वही बच्चा बड़ा हो गया, यह मानें। यह भी मान सकते हैं कि हर बार एक नया बच्चा पैदा हो रहा है। आकाश से बिल्ली का बच्चा निकल आता है, यह भी माना जा सकता है।

Scanned by CamScanner

लेकिन चूँकि यह अनुभव है कि उसका रंग रूप एक जैसा ही रहा और दूसरी बिल्ली से पैदा हुआ नहीं दीखा, इसलिये लाघव गुण से ही मानते हो कि वही बड़ा हुआ। ऐसे ही व्यवहारों में भी हम लोग लाघव से ही काम करते हैं। वहाँ भी श्रद्धा ही होती है। रुपये में पंद्रह आने जब व्यवहार करते हो तो यह मानकर करते हो कि सामने वाला सच बोल रहा है। जिसको तुम झूठाबोला मानते हो उसको भी कभी कभी कहते हो कि 'झूठ तो नहीं बोल रहे हो?' सर्वथा झूठ ही बोल रहा है ऐसा मानकर नहीं चलते। व्यवहार के अन्दर भी चौबीस घंटे कोई झूठ बोलकर नहीं रह सकता। कोई कारण होगा तभी झूठ बोलेगा। यह भी एक श्रद्धा ही है।

विचार से देखोगे तो जीवन में, अनुभव में, विज्ञान में सब जगह दो सम्भावनायें एक जैसी होने पर एक में श्रद्धा करनी पड़ती है। ऐसे ही दर्शनों में कई बार ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि दो विरोधी युक्तियों से दो अलग अलग चीजें सिद्ध हो सकती हैं। दोनों का प्रामाण्य प्रायः एक जैसा ही है। उसमें से एक को सत्य मानना और एक को ग़लत मानना, यहाँ श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है। हम इसलिये अपने को वेदांती कहते हैं कि तर्क के द्वारा अभावरूपता भी सिद्ध हो सकती है और भावरूपता भी सिद्ध हो सकती है। युक्तियों से दोनों एक जैसी सिद्ध होने पर भी चूँकि वेद कहता है कि वह शिव भाव तत्त्व है इसलिये हम वैसा मानते हैं। यह श्रद्धा का विषय हो गया। कर्मकाण्ड में तो तर्क का प्रवेश ही नहीं है, वहाँ तो दो सम्भावनायें आती ही नहीं। वहाँ तो जैसा लिखा है वैसा ही मानना पड़ेगा। वहाँ तर्क नहीं कर सकते। एकादशी को व्रत करते हैं, दशमी को नहीं करते। इसमें कोई तर्क थोड़े ही है। लिखा है, इसलिये एकादशी मान लो। युक्ति कुछ नहीं दे सकते।

यहाँ एक जैसी युक्तियाँ आ जाती हैं अर्थात् अद्वैत भी तर्क से सिद्ध हो सकता है और जितने पुष्ट तर्कों से अद्वैत सिद्ध हो सकता है वैसे ही पुष्ट तर्कों से शून्य भी सिद्ध हो सकता है। अब दोनों में से किसको मानना? समान सम्भावनाओं के होने पर श्रुति के प्रमाण को मानना, यह हमारी वैदिकता हो गई। एक बात याद रखना,तर्क कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण पर तर्क अनुग्रह करता है अर्थात् प्रमाण से सिद्ध बात में तर्क मिल जाये तो ज्ञान पर शंका नहीं होती। वेद प्रमाण है। अतः उससे जाने गये तत्त्व में हम तर्क भी समझते हैं। उलटा नहीं कि पहले तर्क करें फिर वेद ढूँढें। स्वतंत्र तर्क का निषेध किया लेकिन आगमिक तर्क का निषेध नहीं किया। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' में जो 'तर्केण' कहा उसका तात्पर्य यह है कि तर्क से भी ज़ाना जा सकता है लेकिन निश्चायक प्रत्यय कराने वाला वेदवाक्य है।

प्रश्न होता है कि तर्क के द्वारा अद्वैत का प्रकरण प्रारंभ करते हैं तो ज़रूर करिये, अद्वैत की सिद्धि करिये, लेकिन शुरू में हम उपासकों के ऊपर ही काहे को दण्डा मारते हैं? प्रारंभ तो आपने अद्वैत ब्रह्म का किया, बढ़िया है, आप अपनी बात कहो। कल

Scanned by CamScanner

ही कोई कह रहा था कि दूसरे की ग़लती बताये बिना शास्त्र सिद्ध क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि बिना दूसरे की ग़लती बताये निश्चय नहीं हो सकता। हमेशा सम्भावना रहेगी कि कोई दूसरी चीज़ भी होगी। किसी ने कहा जगत् का कारण ब्रह्म, हमने कहा कि जगत् उत्पन्न हुआ नहीं; तो तुम सोचते रहोगे कि वैज्ञानिकों ने तो पता लगा ही रखा है। जब तक किसी का झूठा ज्ञान नहीं हटाओ तब तक सत्य ज्ञान पैदा कैसे होगा? झूठे ज्ञान के रहते हुए सत्य ज्ञान कैसे पैदा हो? वह तो केवल तुम्हारी भारत सरकार में ही होता है! झूठा ज्ञान कि चुनाव के समय सब प्रत्याशी बराबर। जबकि सारी शक्ति प्रधानमंत्री के हाथ में है। फिर कहेंगे 'दूसरा जीत के दिखाता क्यों नहीं? ताकत हो तो जीत कर दिखाओ।' जब सारी शक्ति तुम्हारे हाथ में है तो क्या जीत के दिखायें! यह तो वही बात हुई कि किसी आदमी के हाथ पैर बाँध कर डाल दो और फिर कहो 'हम तुमसे कुछ नहीं कहते, तुम हमें लड़कर हरा दो। हमने लात मारी तो तुम भी हमें लात मार दो।' जैसे यह कहना बेकार है वैसे ही यहाँ मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के बिना सत्य ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये उपास्य उपासना आदि भेदों को पहले हटाना ज़रूरी है। उपासकों की निंदा से उपास्य-उपासक-भाव को हटाने में तात्पर्य है। ये जो सब भेद हुए ये सब वितथ हैं अर्थात् ग़लत हैं, मिथ्या हैं। केवल आत्मा ही एकमात्र अद्वितीय पारमार्थिक सत्य है। यह वैतथ्य प्रकरण के अन्दर बता दिया कि जितनी भी भेद दृष्टि है सब झूठी है।

ऐसा क्यों, कैसे उन्हें झूठा बताया? क्योंकि वे अपने को उपासना के आश्रित मानते हैं। जीव को धर्म इसीलिये कहते हैं कि धर्म का मतलब होता है धारण करने वाला 'धारणात् धर्ममः। शरीर को धारण करने वाला होने से ही उसे जीव कहा जाता है। जीव इसमें से निकल जाये तो शरीर बिखर जाता है। यह नहीं समझना कि जलाने से बिखरे, वैसे भी छोड़ दोगे तो बिखर जायेगा। इसलिये जीव को धर्म कहते हैं। आगे भी धर्म शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में भगवान् गौडपादाचार्य करेंगे। कुछ आधुनिक विद्वान्, विदुशेखर भट्टाचार्य आदि, बौद्ध ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग जीव के अर्थ में ज्यादा देखकर कह देते हैं कि गौडपादाचार्य बौद्ध थे। लेकिन यह सब बेकार है। वेदों में ही धर्म शब्द का अर्थ जीव है। 'अणुरेष धर्मः' कठ में ही कह दिया है। इससे ही धर्म शब्द जीव के लिये सिद्ध हो जाता है।

उपासक मानते हैं कि उत्पत्ति के पहले सब कुछ अज है। अर्थात् अज को काल से अवच्छिन्न मानते हैं क्योंकि उत्पन्न होने के बाद अज नहीं रहा! प्रलय काल में तो हम ब्रह्म के साथ एक ही थे, लेकिन अब सृष्टि काल में अंतःकरण में फँस गये, अज्ञान या माया के बन्धन में आ गये। अब पुरुषार्थ का साधन है, इसलिये उपासना करेंगे तो फिर जब शरीर गिर जायेगा तब फिर उस ऊर्ध्व ब्रह्म को प्राप्त कर लेंगे। जब तक शरीर है तब तक शरीर का बंधन है, उसके बाद ब्रह्म को प्राप्त कर लेंगे। मानते हैं कि उपासना से बाकी सब काम तो हो गया, अब जब तक शरीर है तभी तक बंधन है।

Scanned by CamScanner

अगर ब्रह्म से बिछुड़े थे, फिर एक हो गये तो फिर नहीं बिछुड़ोगे इसमें क्या प्रमाण है? इसलिये यह मिथ्या ज्ञान है। वे उपासना को ही आत्मा के मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि ध्यान धारणा आदि करोगे तो ब्रह्म बनोगे, ऐसे थोड़े ही बन जाओगे! ऐसी ऐसी साधना करोगे तब ब्रह्म होगे। इसलिये 'मैं उपासक हूँ, साधक हूँ, मैं जिसकी उपासना कर रहा हूँ वह ब्रह्म है।' यह समझते हैं। उपासना को करके ब्रह्म हैं अर्थात् मैं जात ब्रह्म अर्थात् संसार के अन्दर अभी हूँ। फिर उपासना करते करते जब शुद्ध हो जाऊँगा, शरीर गिर जायेगा, तो अज ब्रह्म की प्राप्ति हो जायेगी।

अगर कोई पूछे कि 'श्रुति ब्रह्म को अज बताती है, वह कैसे सिद्ध होगा क्योंकि तुम्हारे अनुसार तो ब्रह्म जायमान हुआ?' तो उनका जवाब होता है कि उत्पत्ति के पहले यह सारा संसार और मैं, सब अज था। उत्पत्ति हुई तो अजता चली गई। फिर उपासना से अजता आ जायेगी। ऐसा वे मानते हैं। अजत्व श्रुति उत्पत्ति के पहले वाले ब्रह्म को बताती है, अब जायमान हो गया, फिर उपासना करके अजता की प्राप्ति हो जायेगी। उत्पत्ति के पहले जो मेरा आत्मा अर्थात् स्वरूप ब्रह्म था वह सृष्टि की अवस्था के अन्दर अब अंतःकरण के अन्दर फँसा हुआ उत्पन्न हो गया है और जात ब्रह्म में ही वर्तमान है अर्थात् रह रहा है। उपासना के द्वारा फिर उस अज को ही प्राप्त कर लेगा। उत्पत्ति अवस्था के अन्दर जात ब्रह्म में स्थिति, अब ब्रह्म की उपासना कर रहा हूँ तो अंत में फिर उसी को प्राप्त कर लूँगा जो प्रलय अवस्था में था।

जो इस प्रकार मिथ्याज्ञानवान् है कि पहले जो अज था, वही जन्म वाला और फिर वही अज हो जायेगा; इस मिथ्या ज्ञान के कारण ही वह कृपण कहा गया है। ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा अर्थात् महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा बृहदारण्यक में ऐसा कहा गया है कि जो इस प्रकार मानता है वह कृपण है। ऐसा क्यों? भाष्यकार कहते हैं कि वह ब्रह्म को क्षुद्र मानता है। बेचारा ब्रह्म! कभी माया के चक्कर में आ जाता है, फिर उपासना करके माया के चक्कर से छूट जाता है। और क्या गारंटी है कि माया फिर उसे नहीं पकड़ेगी? एक बार बाँधती है, फिर मुक्त होने के बाद नहीं आयेगी, इसमें क्या प्रमाण है? इसलिये ये ब्रह्म को क्षुद्र मानते हैं। बंगाल, उड़ीसा और अन्यत्र भी जगह जगह शाक्त लोग ऐसा ही मानते हैं कि शिव बिना शक्ति के हिल ही नहीं सकता। इसलिये शक्ति ही प्रधान है। उन्होंने कुछ श्लोक बनाकर भाष्यकारों के नाम पर चला रखे हैं। कोई भी श्लोक बना लो, किसने बनाया कोई प्रमाण नहीं।

यह बात हमेशा ख्याल रखना कि प्रस्थानत्रयी भाष्य को छोड़कर बाकी चीज़ यदि तदनुकूल है तो हो सकता है उन्होंने लिखी हो, लेकिन यदि तत्प्रतिकूल है तो चाहे जितना बड़े से बड़ा कोई कह दे, फिर भी सिद्ध नहीं होता। शंकर नाम के बहुत से लेखक हुए हैं इसलिये बहुत से उनके ग्रंथों में भ्रम हो जाता है। यह एक गड़बड़ी का कारण। दूसरा कारण गड़बड़ी का यह हुआ है कि चार मठों के आचार्य भी शंकराचार्य नाम से

Scanned by CamScanner

कहे जाते थे और उनके लिखे हुए ग्रंथ भी शंकराचार्य नाम से लिखे जाते रहे। उन्होंने उतना ही तत्त्व को अवगत किया हो, यह ज़रूरी नहीं। साधारण आदमी का सरल संस्कृत के श्लोक पर ज्यादा विश्वास बैठता है। इसलिये सिद्धान्तविरुद्ध स्तोत्रों को, श्लोकों को लेकर निर्णय नहीं होगा। यह शंका भी मत करना कि यह उन्होंने कैसे कह दिया? सिद्धान्त का निर्णय भाष्य के द्वारा ही होता है। तदनुकूल कुछ है तो ठीक, नहीं तो उसे तदनुकूल समझो। लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि किसी तरह अर्थ करो। क्योंकि हम लोग श्रौत हैं। श्रुतिविरुद्ध कुछ भगवान् शंकर कहेंगे यह संभव नहीं। अगर हमें लगता है तो हमारी भूल। श्रुति का अर्थ उन्हीं ने भाष्यों में निश्चित कर दिया। इसलिये उससे मिला लो जैसे गणित का हल मिला लेना पड़ता है छात्र को। उन ग्रंथों को शंकराचार्य जी ने नहीं लिखा यह भी हमारा आग्रह नहीं लेकिन उन ग्रंथों से भाष्यसिद्ध अद्वैत के बारे में कोई शंका नहीं की जा सकती यह हमारा निश्चय है।

ब्रह्म को क्षुद्र और शक्ति या माया को प्रधान मान लेते हैं। इस कारण से ही वे कृपण कहे गये हैं। कृपण का अर्थ दीन कर दिया। उसने अपने आपको दीन मान लिया 'हाय! मैं माया के, अज्ञान के चक्कर में पड़ गया, मैं क्या कर सकता हूँ?' इसीलिये माया से डरते रहते हैं कि 'माया मेरे को फिर पकड़ लेगी।' दीन बना रहता है कि 'इतनी बड़ी माया का मैं क्या कर सकता हूँ?' इसीलिये अपने को अल्पक मानता है।

इन कृपण, दीन, अल्पक शब्दों के द्वारा कहा कि जिन्होंने नित्य ही ब्रह्म की अजता का आत्मदर्शन किया वेही सच्चे महात्मा हैं। वही कहते हैं कि ये बेचारे अपने को कृपण, दीन मानने वाले हैं। कृपण इसलिये कहा कि संसार में जिसको सत्यबुद्धि है वह संसार की सत्यता को छोड़ नहीं पाता। हम ऐसे कृपण लोगों को जानते हैं कि जिनके पास रुपया होते हुए भी उनकी पत्नी बीमार हो तो दवाई नहीं दिलायेंगे! उनसे पूछो कि 'तुम्हारा धन किस काम का' तो खुद नहीं बता सकते किस काम का, लेकिन वे धन को उपादेय ही समझते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार जो संसार को सत्य मानने वाले हैं उनसे कहते हैं कि 'इस संसार से कोई सुख आज तक मिला?' कहते हैं 'नहीं, मिला तो दुःख ही है।' 'तो फिर छोड़ दो।' लेकिन 'छोड़ें कैसे?' जैसे उस धन का प्रयोजन कुछ नहीं लेकिन छोड़ें कैसे? ऐसे ही इस संसार से सुख नहीं मिला लेकिन 'छोड़ें कैसे?' यही उनकी कृपणता होती है।

'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' तलवकार शाखा में अर्थात् सामवेद की केनोपनिषद् में यह कहा है जिसमें स्पष्ट ही उपास्य की ब्रह्मता का निषेध किया है और उपासक की निंदा भी की है। जिसको वाणी के द्वारा कभी नहीं कहा जा सकता, जिसके द्वारा वाणी प्रवृत्ति करती है, उसी ब्रह्म को समझने का प्रयत्न करो। जिसकी तुम उपासना कर रहे हो उसको ब्रह्म मत समझना। यह श्रुति स्पष्ट ही इसका प्रतिपादन करती है।।१।।

Scanned by CamScanner

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः ।। २।।

इस प्रकार भेद-दृष्टि वाला उपासक जो अद्वैत का विरोधी है, उसकी निंदा करके अब अद्वैत की प्रतिज्ञा करते हैं। क्योंकि अज न समझने से कृपणता है इसलिये जिसे पाकर सारी कृपणता हट जाती है, जिसका कभी जन्म नहीं, जो हर तरह सम है, निर्विशेष है, उसे बताऊँगा। उत्पन्न होता हुआ भी जिस तरह कैसे भी पैदा नहीं होता, वह बताऊँगा! रज्जुसर्प पैदा हुआ लगते हुए भी किसी भी तरह तो पैदा नहीं होता।

उपास्य ब्रह्म का नहीं, अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन हमको करना है क्योंकि उपासना से थोड़ा ही फल है। संसार के थोड़े बहुत दुःखों से हट जाना ही उपासना का फल है। ज्यादा से ज्यादा वैकुण्ठ आदि लोकों में चले जाओगे, यहाँ से कुछ ज्यादा सुख वहाँ मिल जायेगा। वहाँ नहीं तो यहीं 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते'। यही सारी उपासनाओं का फल है, संसार में कुछ अच्छा। जैसे लोग कहते हैं कि जिनको जेल में बंद किया गया है, वे यदि माफी माँगें तो छोड़ देगें। हम से जब कोई कह रहा था तो हमने कहा कि छूटने का तो प्रश्न ही नहीं है क्योंकि अब— 'मीसा' के ज़माने में— तो चार हज़ार मील की जेल बन गई है! स्वतंत्रता तो इस बात की होती है कि जो मर्ज़ी सो करो, जो मर्ज़ी सो कहो और सोचो। यह तुम यहीं बैठकर नहीं कर सकते तो तुम अभी भी जेल में ही बैठे हो। इसलिये माफी मांगने वाला बड़ा बेवकूफ होगा जो छोटी सी जेल को छोड़कर ज़्यादा बड़ी जेल में आ जायेगा! इसी प्रकार यहाँ की अपेक्षा वैकुण्ठ आदि लोकों में जाओगे तो कुछ ज्यादा अच्छा सुख मिल जायेगा, लेकिन जहाँ द्वैतप्राप्ति है वहाँ सुखप्राप्ति कहाँ है? वहाँ भी जाओगे तो सारा का सारा संसार ऐसा ही खड़ा हो जायेगा। वैकुण्ठ में जितना ऐश्वर्य विष्णु और लक्ष्मी का होगा उतना तुम्हें नहीं मिल जायगा। इसलिये वहाँ भी तुम्हारी छाती जलती रहेगी। वहाँ पहले के भक्त बड़ी बड़ी सीटें रोके बैठै हैं। इसलिये एक जेल से दूसरी जेल में जाने से क्या होना है!

अतः 'अकार्पण्यं वक्ष्यामि' भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि हम जिस तत्त्व को बतायेंगे वह अनल्प है, भूमा तत्त्व है, कृपण ब्रह्म नहीं, सर्वव्यापक, हमेशा अजात रूप से रहने वाला ब्रह्म है। वह कैसा है? अजात है। जात अर्थात् जन्म और अजात अर्थात् वह कभी भी जन्म नहीं लेता। बहुत से लोग कहते हैं कि गुण-कर्म से जाति मानें। लेकिन तब तो शब्द का ही विरोध है, कैसे मान लें? जाति शब्द जनि धातु से बना है। कोई कहे माँ बाप गुण कर्म से मानें या जन्म से मानें? जिसके पेट से पैदा हुआ उसे मानें या जिससे नाक कान मिलें उसे मानें? यह तो बहुत बुरी बात है कि हमारे नाक कान तो इससे मिलते हैं और आप कहते हैं इसे माँ बाप मानो क्योंकि इसके पेट से निकले! जैसे गुण कर्म से माता पिता नहीं होते, जन्म से ही होते हैं; तुम मानो, न मानो यह तुम्हारी स्वतंत्रता है; ऐसे ही जाति है। जाति मायने ही जन्म। बाप जैसा बेटा हुआ तो

Scanned by CamScanner

अच्छा कहोगे, नहीं तो कहोगे ' 'बाप तो अच्छा है लेकिन पता नहीं किस प्रारब्ध से यह पैदा हुआ है।' पैदा नहीं हुआ यह तो नहीं कह सकते। ऐसे ही कह सकते हैं कि यह बनिया अच्छा, यह अच्छा नहीं, लेकिन यह बनिया ही नहीं यह कैसे कह सकते हैं? इसलिये अजात अर्थात् जिसका जन्म ही नहीं हुआ।

इसीलिये वह हमेशा साम्य भाव में रहता है 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'। सब जगह एक जैसा ही है। विष्णु के शरीर में ब्रह्म ज्यादा और चींटी के शरीर में कम हो, ऐसा नहीं है। सत्ता और ज्ञान कहीं भी कम बेशी नहीं हैं, वैसे के वैसे ही हैं।

'यथा किंचित् न जायते' जिस प्रकार से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है, वह कौन सा प्रकार है? 'समन्ततः' अर्थात् सब प्रकार से जैसे उत्पन्न नहीं होता है; अर्थात् न पहले उत्पन्न हुआ, न आगे होगा और न अभी उत्पन्न हो रहा है। जैसे रस्सी में साँप पहले भी उत्पन्न नहीं हुआ, जब तुमको दीख रहा है तब भी नहीं है और उसके बाद जब तुम्हें दीख गया कि 'यह नहीं है' तब भी कहीं गया नहीं है। प्रतीतिकाल में भी नहीं है। ऐसा भी नहीं कि रस्सी साँप बन गई थी, फिर रोशनी लाये तो साँप फिर रस्सी बन गया! कृपणता वाला ऐसा ही मान रहा है। 'जायमानम्' अर्थात् जो पैदा हुआ दीख रहा है उस समय में भी नहीं है। अविद्या दृष्टि से लगता है कि साँप है लेकिन उस समय में भी है नहीं।

चूँकि वह ब्रह्म ही बाहर है, अन्दर है, जन्म रहित है और वही मेरा स्वरूप है इस प्रकार जो नहीं समझ सकता है, जो इस प्रकार के ज्ञान को करने में समर्थ नहीं होता है, वह इसी अज्ञान के कारण अपने को दीन मानता है; अपने को दीन मानकर समझता है कि मैं इस शरीर में पैदा हो गया, मैं उत्पन्न हुआ संसार रूपी ब्रह्म हूँ, इसी के अन्दर फँसा हुआ हूँ, अब उपासना का सहारा लेकर मैं ब्रह्म की प्राप्ति करुँगा, यों वह कृपण होता है; 'अतः' इसलिये उस उपास्य ब्रह्म को न बताकर हम उसे बतायेंगे जो अकृपण भाव वाला अज ब्रह्म है। उसको कार्पण्य का आश्रय क्यों कहते हैं? जहाँ दूसरा दूसरे को देख रहा हो, दूसरा दूसरे को सुन रहा हो, दूसरा दूसरे का अनुभव कर रहा हो वहाँ सर्वत्र अल्पता है। वह चीज़ नष्ट हो जाती है क्योंकि जहाँ दो का सम्बन्ध है वहाँ सम्बन्ध टूट जायेगा। इसलिये वह सब असत् है। जितने भी दर्शन आदि विशेष व्यवहार हैं देखना, सुनना, जानना आदि, उनका विषय कार्य होगा, परिच्छिन्न होगा अर्थात् उनके विषय सारे के सारे नाश वाले होंगे। कार्य को सिर्फ़ वचन का आलम्बन है, उसी का सहारा लेकर रहता है। है यह सारा का सारा कार्य प्रपंच केवल कहने भर को। वाणीमात्र से प्रतीति होती है, उसी से इसका व्यवहार है। केवल शब्दों के द्वारा ही आदमी फँसता रहता है। यह श्रुति ने ही बता दिया।

उससे जो विपरीत है वह बाहर, अन्दर, जन्मरहित, अकार्पण्य रूपी भूमा सर्वव्यापक ब्रह्म हो गया। जब उसे प्राप्त कर लेते हो अर्थात् जान लेते हो, तब अविद्या के द्वारा

Scanned by CamScanner

किया हुआ जो सारा तुम्हारा कार्पण्य है कि 'मैं दीन हूँ, इस प्रकार छूटूँगा' आदि वह कुछ रह नहीं जाना है। जब अकृपण ब्रह्म का ज्ञान हो गया तो अकार्पण्य की प्राप्ति हो जायेगी। वह ब्रह्म कैसा है? अजात, जिसकी जाति अर्थात् जिसका जन्म नहीं। वह सबके साथ एक जैसा ही है। सबके साथ एक जैसा कैसे हो गया, सम कैसे होता है? क्योंकि उसके अन्दर कोई अवयव नहीं है। निरवयवता ही समता में कारण पड़ती है। सावयवता से ही विषमता आयेगी। अवयव ही मनुष्य में और किसी भी चीज़ में विषमता लायेंगे। एक दूसरे से अलगाव करने वाली चीज़ अवयव ही हुआ करती है। जो सावयव वस्तु होती है, अवयवों में भेद आ जाने पर उसमें विषमता आ जाती है और तभी कहा जाता है कि यह पैदा हो गया। यह ब्रह्मतत्त्व निरवयव है। इसलिये इसको सम बताया। किन्हीं अवयवों के द्वारा इसका अलग अलग ढंग या स्फुटीकरण होता हो ऐसा नहीं है। अतः उसको अजात कहा जाता है। अवयव इधर उधर होता तो जन्म होता। वह नहीं तो जन्म नहीं। इसीलिये उसमें अकृपणता भी आ गई।

समन्ततः का अर्थ कर दिया समंतात्, अर्थात् वह चारों तरफ से पूर्ण है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है तो भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ दीखता भी है लेकिन होता नहीं है। वैसे ही 'किंचित्', यहाँ भी सारा जगत् दीखने पर भी उत्पन्न नहीं होता है। 'जायमानम्', भ्रान्ति की दृष्टि से प्रतीत होता है। वस्तुतः प्रतीतिकाल में भी नहीं है। यह नहीं कि रस्सी के किसी एक टुकड़े में थोड़ा सा साँप आ गया हो, कुछ हो गया हो। कुछ नहीं हुआ। ऐसे ही यहाँ भी उस ब्रह्म के एकदेश में जीव-जगत् हो गया, बाकी देश बिल्कुल मुक्त रहा, ऐसा कुछ नहीं। जैसे रस्सी में साँप अविद्या की दृष्टि से वैसे ही यहाँ भी अविद्या दृष्टि से जायमान है। इसका वास्तविक जन्म नहीं होता है बल्कि वह सब देश काल और वस्तुओं में पूर्ण कूटस्थ बना रहता है। ऐसा वह जो ब्रह्म है, उसी प्रकार का ब्रह्म का ज्ञान हो इसके लिये यह उपदेश है क्योंकि जैसा ब्रह्म है वैसा उसका ज्ञान हो तब काम बने। यहाँ 'उस प्रकार का', 'जैसा', यह सुनकर घबरा मत जाना कि ब्रह्मज्ञान तो निष्प्रकारक होता है। गीताभाष्य में स्पष्ट किया कि जैसा शास्त्र बताते हैं वैसा ब्रह्म है और वैसा उसे जानना है। वह निष्प्रकार है तो निष्प्रकार ही उसे जानना है, उसका ज्ञान भी निष्प्रकार ही होगा। केवल शब्द से नहीं डरना चाहिये।।२।।

●

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ।।३।।

जैसे आकाश घटाद्याकाशों से वस्तुतः भेदवाला नहीं हो जाता वैसे ही परमात्मा नित्य अद्वय कहा गया है। जिस तरह आकाश घटाद्याकाश रूप से प्रतीतमात्र होता है उसी तरह परमात्मा विविध जीवों के रूप में प्रतीतमात्र होता है। जैसे आकाश निर्विकार रहते हुए जगह आदि देने से घड़े आदि की उत्पत्ति में कारण होता है वैसे पृथिवी आदि संघात के आकार में परमात्मा की उत्पत्ति में परमात्मा कारण हो जाता है।

Scanned by CamScanner

यह कहा कि अजाति अकार्पण्य ब्रह्म का हम उपदेश करेंगे, उपास्य ब्रह्म का नहीं क्योंकि उपास्य ब्रह्म कृपणों के लिये है। फिर जो श्रुतियों में जीव की उत्पत्ति सुनी जाती है वह क्यों? श्रुतियों में अनेक जगह कहा गया 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' स्मृतियों में भी कहा 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्' तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'। श्रुति-स्मृति के इन वाक्यों की क्या गति होगी? इसका उत्तर समझो : यह जो कहा गया वह ऐसे कहा गया जैसे कहा जाता है कि 'घटाकाश महाकाश से उत्पन्न हो गया'। घटाकाश महाकाश से उत्पन्न थोड़े ही होता है! प्रतीति मात्र को लेकर कह दिया जाता है कि घटाकाश आकाश से उत्पन्न है। उसी प्रकार आत्मा जीव रूप से उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है, उत्पन्न होता नहीं। जैसे वहाँ घट दीखने पर घटाकाश का भ्रम, वैसे ही यहाँ शरीर मन आदि दीखने से उसमें आत्मा है यह भ्रम है।

साधारणतः हम लोगों ने देखा है कि जहाँ कोई बोलता है वहाँ बोलने वाला होता है। एक छोटा बच्चा था, उसके घर में रेडियो रोज़ बजता था। एक बार रेडियो खराब हो गया तो मिस्त्री ठीक करने के लिया आया। वह बच्चा बड़े ध्यान से देखता रहा। जब मिस्त्री ने रेडियो के पीछे का ढक्कन खोला तो उसमें से एक मक्खी बाहर निकल गई। उसे देखकर वह बच्चा कहता है 'अच्छा! यह गाया करती है।' क्योंकि उसे निश्चय था कि जहाँ जहाँ आवाज है वहाँ वहाँ कोई बोलने वाला ज़रूर है।

इसी प्रकार हम लोग समझते हैं कि जहाँ जहाँ शरीर मन आदि काम करते हैं वहाँ-वहाँ जीवात्मा है। इसलिये जैसे ही हम किसी शरीर मन को काम करते देखते हैं हमको भ्रम हो जाता है कि यह जीवात्मा है। इस भ्रम को ही कहा जाता है जीव की उत्पत्ति हुई। रहस्य यह है कि 'मैं जीव हूँ' ऐसा किसी को भान होता नहीं है। भान तो केवल घड़े का हो गया, कपड़े का हो गया, सुख-दुःख का हो गया, राग-द्वेष का हो गया। इसी का भान होता रहता है। 'मैं जीव हूँ' यह भान किसी को नहीं होता है और दूसरे की जीवरूपता का भी भान कभी नहीं होता। वहाँ भी केवल शरीर आदि की क्रिया देखने में आती है। इसलिये न 'जीव हूँ' में भानरूपता प्रत्यक्षसिद्ध है और न दूसरे की जीवरूपता प्रत्यक्ष सिद्ध है। यह तो अंधलांगूल न्याय से चलता है। जैसा एक अंधे ने दूसरे अंधे को साँड की दुम पकड़ा दी, बस इसी प्रकार कह दिया कि 'तुम जीव हो और यह जीव है'; सब पूँछ पकड़कर एक दूसरे के पीछे लग गये कि मैं तो जीव हूँ! जैसे घट की प्रतीति से घटाकाश का भ्रम, वैसे ही शरीर मन आदि की प्रतीति से जीवभाव का भ्रम। वस्तुतः उत्पत्ति नहीं है। घटादि संघात की तरह शरीर-मन-आदि-संघात है। जहाँ जहाँ श्रुति स्मृतियों में जीव की उत्पत्ति कही है वहाँ इसी दृष्टांत से समझ लेना। 'जातौ एतद् निदर्शनम्।'

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि प्रथम श्लोक में यह प्रतिज्ञा की थी कि हम अजाति ब्रह्म, अकार्पण्य ब्रह्म को कहेंगे। अब इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये हेतु और दृष्टांत

Scanned by CamScanner

दोनों कहेंगे। आत्मा ही आकाश की तरह है। आकाश मायने पोल या खाली जगह (space)। किसी को भ्रम हो जायेगा कि आत्मा भी ऐसे ही पोल होगा। लेकिन आत्मा 'ठोस' है, आकाश की तरह पोल नहीं है; वह आनंदघन है, उसमें आनंद ठसाठस भरा हुआ है। जैसे नमक की डली 'में' नमक 'भरा हुआ' है ऐसे ही आत्मा 'में' आनंद 'भरा हुआ' है। ऐसा भ्रम न हो जाये कि आत्मा पोला मामला है इसलिये आकाशवत् को स्पष्ट किया कि जैसे आकाश सूक्ष्म है ऐसे आत्मा सूक्ष्म है क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं है। आकाश सब महाभूतों से परे है इसी प्रकार आत्मा भी सब महाभूतों से परे है। निरवयब आकाश में कोई टुकड़े अवयव या अंग नहीं हैं, ऐसे ही आत्मा में भी कोई अंग या टुकड़े नहीं हैं। आकाश सर्वव्यापक सर्वगत है। चन्द्रमा, मंगल जहाँ भी चले जाओ सब जगह आकाश तो मिल ही रहा है। इसी प्रकार आत्मा भी सर्वव्यापक है। ऐसा तो नहीं होता कि चन्द्रमा में पहुँचे तो आत्मा यहीं रहा, वहाँ आत्मा नहीं था, या वहाँ पहुँचते ही मर गया और जब फिर वापिस आये तो आत्मा आ गया! इसलिये जहाँ जाओ वहाँ आत्मा है ही। तात्पर्य यह निकला कि आत्मा सर्वभेदशून्य है। आत्मा में न देश का, न काल का, न वस्तु का और न स्वगत भेद है। सजातीय, विजातीय, स्वगत, देश, काल इत्यादि सब भेदों से रहित आत्मा है। उसमें हेतु हो गया कि वह सूक्ष्म, निरवयव, सर्वगत, अविनाशी है और आकाश दृष्टांत हो गया।

जीव का अर्थ कर दिया क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर आदि को जानने वाला। इसी अर्थ में जीव प्रसिद्ध है 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गीता)। इसलिये जीव क्षेत्रज्ञ है। जिसे पता होता है कि 'यह मेरा खेत है' वह उसे जोतता है, बोता है और उसके फल को भोगता है। इसी प्रकार 'यह मेरा शरीर है' ऐसा जिसने अभिमान कर लिया वह इस शरीर आदि के द्वारा कर्म करता है और उसके फल को भोगता है। जिसको पता है 'यह मेरा खेत नहीं' तो वह यह जानता है कि इस खेत में जो पैदा होगा वह मालिक का है। ठीक इसी प्रकार यहाँ विवेकी जानता है कि शरीर परमेश्वर का है इसलिये इसमें जो भी कर्म होगा उसका फल परमेश्वर का है। इसी को ईश्वरार्पण बुद्धि कहते हैं 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः'। शरीर से जो कुछ कर रहा है वह फल मेरा नहीं परमेश्वर का है। जैसे खेत दूसरे का हो और भ्रम से तुम अपना मानो तो दंडा पड़ता रहता है, ठीक इसी प्रकार यह शरीर परमात्मा का और इसको मानते हो अपना इसीलिये बार बार जन्म मरण के दण्डे पड़ते रहते हैं। माल तो उस खेत से उठा ले जाओगे, लेकिन बाद में पुलिस आकर ठोकेगी। उसी प्रकार कर्म फल तो तुम्हें मिल जाता है लेकिन जन्म मरण के दण्डे पड़ते रहेंगे। कोई कर्म ऐसा नहीं हो सकता कि जिससे तुम्हारा जन्म-मरण मिटे क्योंकि भ्रमसिद्ध है। क्योंकि खेत परमेश्वर का है और अपना मानते हो। 'मैं करूँगा' यही बंधन है। इसीलिये इसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

'घटाकाशैः इव' मूल में था उसका अर्थ कर दिया घटाकाश के तुल्य। आकाश के जैसा तो पर आत्मा हो गया। इस अर्थ में एक संदेह आता है : यह जो आपने कहा

Scanned by CamScanner

कि आकाश के जैसा पर आत्मा तो जैसे आकाश घटसम्बन्धी हो जाता है ऐसे ही पर आत्मा फिर प्रपंचसम्बन्धी तो हो ही गया। जीवभाव से फिर इस प्रपंच के साथ परमात्मा का सम्बन्ध तो हो ही गया, तब फिर ब्रह्म सप्रपंच क्यों नहीं? इसलिये अब अर्थान्तर करते हैं : अथवा घटाकाशों के द्वारा जैसे आकाश को उत्पन्न कहा जाता है। घटाकाशों के रूप में आकाश को उत्पन्न कहा जाता है। आकाश का घटाकाश रूप से वास्तव में जन्म नहीं है। घटाकाश की प्रतीति से आकाश में उत्पत्ति की प्रतीति हो रही है। वैसे ही जो परब्रह्म है वह शरीरों के द्वारा जीवात्मा रूप से उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा है। जीवात्माओं की जो परमात्मा से उत्पत्ति वेदांतों में कही गई है वह घटाकाश की महाकाश से उत्पत्ति की तरह है।

पहले अर्थ में था कि आकाश घट के कारण घटाकाश प्रतीत हो रहा है और इस अर्थ में कहा कि घटाकाश घट के कारण उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यही दोनों में फ़रक है। इसलिये यह पारमार्थिक उत्पत्ति नहीं हुई। प्रतीतिमात्र ही है। इसी प्रकार यहाँ पहला अर्थ हुआ कि अंतःकरण के कारण जीवात्मा है और अब कहा कि जीवात्मा है ही नहीं अंतःकरण के कारण जीवात्मा की प्रतीति होती है।

उसी आकाश से घट आदि संघात उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से घट हुआ। इसलिये घट आदि संघात भी आकाश से अभिन्न ही है। विचार दृष्टि से वहाँ आकाश ही आकाश है। जैसे जल में लकीर खींच दो तो प्रतीति होती है कि यह जल अलग और यह जल अलग है जबकि लकीर भी जल ही है। अथवा पत्थर में लकीर करो तो पत्थर अलग अलग लगता है लेकिन बीच की लकीर भी पत्थररूप ही है। इसी प्रकार घट भी आकाश रूप ही है क्योंकि आकाश से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आकाशस्थानीय जो परमात्मा हुआ उससे बाह्य पृथ्वी आदि भूतसंघात भी उत्पन्न होता है और शरीर में होने वाले मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। उनमें कार्य-कारण-भाव की प्रतीति भी होने लगती है।आँख रूप को देखती है तो ज़रूर तेज से उत्पन्न हुई होगी। कान शब्द को सुनता है तो ज़रूर शब्दतन्मात्रा से, आकाश से उत्पन्न हुआ होगा। इस प्रकार आध्यात्मिक, बाह्य और फिर उनमें कार्य-कारण की प्रतीति होती रहती है। जैसे रस्सी में साँप दीखता है तो भी रस्सी से साँप दीखा होगा, सर्प का संस्कार उदय हुआ होगा आदि बैठे बैठे कार्य-कारण की कल्पना करते रहते हैं। कई ख्यातिवाद प्रसिद्ध हैं। बड़ा शास्त्रार्थ होता है! इसी प्रकार जीव उत्पन्न होता है। इसलिये कहा कि जैसे आकाश से घट आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही देहादि संघात भी आत्मा से उत्पन्न हैं इसलिये आत्मरूप ही हैं।

श्रुतियाँ क्यों उत्पत्ति की बात कहती हैं? कई बार अत्यंत मंदबुद्धि शिष्य भी सामने आ जाते हैं। उन्हें कहो कि जीव है ही नहीं, तो उनकी समझ में ही नहीं आता है। वह कहता है कि 'हूँ तो सही।' क्योंकि लोगों ने बचपन से संस्कार डाल रखे हैं कि 'तेरा जन्म हुआ, तू मरेगा, पूर्व जन्म के पुण्य पाप का फल भोगेगा'। उन मूर्खों की बात सुनकर

Scanned by CamScanner

आता है तो वही संस्कार मन में बैठे रहते हैं। इसलिये कहता है 'ज़रूर हूँ, अब आप उपदेश करेंगे तब हमारा काम बनेगा।' यही मंदबुद्धि है। इसीलिये मंदबुद्धि के लिये बताना पड़ता है कि संसार पैदा हुआ। क्योंकि वह बार बार कहता है कि 'है नहीं तो दीखता कैसे है? अगर मेरे को कभी सुख दुःख नहीं हुआ तो सुख दुःख होता कैसे है?' उससे कहते हैं तेरे को सुख दुःख हुआ तो नींद में भी हुआ या नहीं? कहता है 'नींद की बात जाने दो, यहाँ तो होता ही है।' जिस समय दुःख हो रहा है उस समय कोई अच्छी सुख की बात सुना दो कि तूने १३२५ नम्बर की लाट्री लगाई थी, रेडियों में खबर आई है कि इस नम्बर वाले का दस लाख का इनाम आया है। अब उससे पूछो कि दुःख है या नहीं? कहता है 'नहीं जी, वह चला गया।' फिर दुःख तेरा कहाँ रहा?

एक दृष्टांत आता है कि एक आदमी ने जाकर राजा को बढ़िया नट का खेल दिखाया। खेल देखकर राजा खुश हो गया। राजा ने कहा 'तेरे को लाख रुपये का इनाम देता हूँ।' राजा ने खजांची से कहा 'इसे लाख रुपया दे देना।' नट खुश होकर चला गया। दूसरे दिन आया तो खजांची ने टाल दिया। ऐसे ही पाँच छः दिन टालता रहा तो उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने जाकर राजा से कहा कि 'आपने कहा था लाख रुपया इनाम देंगे लेकिन यह खजांची नहीं दे रहा है।' राजा हँसकर कहने लगा 'इसमें लेने देने की क्या बात है? तूने मुझे खेल दिखाकर आधा घण्टा खुश किया और मैनें तेरे को इस प्रकार हफ्ते भर तक खुश कर दिया! इसमें लेने देने की बात कहाँ आती है?'

जो मंदबुद्धि पुरुष होता है उसे यदि समझायें कि सुख दुःख से तेरा लेना देना क्या! मन सुख दुःख की वृत्ति बनाता है तो उसे बनाने दो, वृत्ति तेरा क्या लेती है? इतना सब सुनने के बाद कहेगा 'महाराज! हूँ तो दुःखी ही।' बुद्धि का काम निश्चय करना, लेकिन वह समझता है कि बुद्धि निश्चय पर नहीं आती, चाहे जितना समझाओ। उसके लिये भी वेदांत तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है। तब श्रुति ने कह दिया कि आत्मा जीवरूप से पैदा होता है। ऐसा उसे उपदेश दिया तो उसे ज़रा सन्तोष हो गया कि 'हाँ जी, अभी तो जीवरूप हूँ ही, फिर ब्रह्मरूप बन जाऊँगा।' जीव आदि से बाह्य जगत् की उत्पत्ति भी ले लेना। बाह्य जगत् भी उत्पन्न नहीं होता है, वह भी वैसा ही है। जब इस प्रकार श्रुति कहती है तब फिर उस उत्पत्ति को आकाशादि के दृष्टान्तों से समझा देते हैं।।३।।

●

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ।।४।।

पहले जीव की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति का अद्वैत से कैसे विरोध नहीं, यह बताया। अब उसी दृष्टांत से बताते हैं कि जीव का प्रलय बताने वाले वाक्यों का भी विरोध नहीं है। जैसे घटादि लीन होने पर घटाकाश आदि आकाश में संप्रलीन हो जाते हैं वैसे ही जीव इस आत्मा में तब लीन हो जाते हैं जब देहादिसंघात का प्रलय हो जाता है।

Scanned by CamScanner

यहाँ प्रलीन कहा है अर्थात् जैसे चीनी पानी में लीन हो जाती है वैसे ही घड़े को विचार रूपी जल में डालो तो लीन होता जाता है। यही घटादि का प्रलीन होना है। जैसे सामने कपड़ा है तो यह ज़रूरी नहीं कि कपड़े के एक एक धागे को अलग करो तभी यह पता लगे कि कपड़ा धागारूप है। विचार दृष्टि से देखो तो अलग अलग धागा दीख जाता है। फिर धागे को इसी तरह से रूई बनाओ। और ध्यान दो तब पता लगे कि धागा भी नहीं, रूई है। धागा रूई रूप हो जाता है। इसी प्रकार प्रलीन के द्वारा बताया कि घड़े को दंडे से फोड़ना ज़रूरी नहीं। विचार-दृष्टि से देखने लगो तो घट भी मिट्टी ही है। मिट्टी फिर जल है। इस प्रकार वह घड़ा बने हुए ही उसमें आकाश दृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार यह ज़रूरी नहीं कि मन इत्यादि मर जायें तब आत्मदृष्टि हो। मन को जब ध्यान से देखो तो पता लगने लगता है कि इसमें सिवाय अनुभव के और कुछ नहीं है, ज्ञान ही ज्ञान है। बाह्य जगत् को भी ध्यान से देखो तो ज्ञान के बिना उसकी सिद्धि नहीं होती। जितनी बाह्य आभ्यंतर उपाधियाँ हैं उनकी सत्ता बिना ज्ञान के सिद्ध नहीं होती। बचपन से संस्कार पड़ गये हैं, इसलिये उन्हें ज्ञान से अन्य मानते रहते हैं। इसीलिये प्रलीन शब्द का प्रयोग किया।

निर्विकार आकाश से जिस प्रकार घटाकाश की उत्पत्ति उसी प्रकार से यहाँ पर भी समझ लेना। आकाश है तो घट आदि की उत्पत्ति है, ऐसे ही आत्मा है तो सब चीज़ों की उत्पत्ति है। आत्मा नहीं तो किसी चीज़ की उत्पत्ति भी नहीं। घट आदि को जब प्रलीन कर दिया तो फिर घटाकाश कहाँ रहेगा? कहा जाता है कि जब घट टूट गया तो घटाकाश महाकाश में लीन हो गया। पहले भी लीन था ही। उसी प्रकार जो जीव है वह पहले ही आत्मा है। 'इह आत्मनि' जैसे ही उपाधि को अलग कर दो तो वह आत्मस्वरूप ही है। सुषुप्ति में रोज़ यही होता है। उस समय कोई उपाधि नहीं तो जीव परमात्मा में लीन हो जाता है। गहरी नींद में सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं रहता। अब चूँकि उसमें बिना जानकर जाते हो इसलिये वहाँ आनंद स्फुट नहीं होता, प्रकट नहीं होता। इसी चीज़ को यदि जानकर करो, तो काम हो गया। जैसे घट आदि की उत्पत्ति से घटाकाश की उत्पत्ति कही वैसे ही घट आदि के प्रलय से घटाकाश आदि का भी प्रलय होता है। उसी प्रकार देह आदि संघात की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति और उसकी प्रलय होने पर जीव का प्रलय। 'आत्मा में लीन हो जाते हैं' अर्थात् देह आदि संघात की उत्पत्ति-प्रलय से ही आत्मजन्म आदि की प्रतीति होती है, अपने आप नहीं होती। तात्पर्य औपाधिक ही जीव के उत्पत्ति प्रलय हैं, स्वाभाविक नहीं।।४।।

●

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ।।५।।

Scanned by CamScanner

जैसे एक घटाकाश में धूल, धूआँ आदि होने पर सब घटाकाश धूलादि वाले नहीं हो जाते, ऐसे एक जीव सुखी हो तो सभी सुखी नहीं हो जाते।

जब यह कह दिया कि जीव की उत्पत्ति केवल देह आदि संघात की उत्पत्ति से है तो अब इसके अन्दर व्यवस्था-अनुपपत्ति रूपी दोष द्वैतवादी देता है। प्रायः वेदांती को यह दोष लोग खटाखट देते हैं। कहते हैं कि आत्मा एक ही है तो फिर एक को सुख और दूसरे को दुःख क्यों होता है? सब जीवों में भी एक ही आत्मा है तो फिर ऐसा क्यों होता है कि एक सुख का अनुभव और दूसरा दुःख का अनुभव करता है? उसका जवाब देते हैं कि व्यवस्था की उपपत्ति है, अनुपपत्ति नहीं। 'यथा एकस्मिन्घटाकाशे'; आकाश एक ही है लेकिन एक घड़े के अन्दर यदि तुम मोमबत्ती जला दो तो जिस घड़े के अन्दर रोशनी या धुआँ होगा, दूसरे घड़े में वह थोड़े ही होगा। अथवा एक घड़े में धूल उड़ा दो तो सारे ही घड़े धूल से युक्त थोड़े ही हो जाते हैं। जैसे एक ही आकाश होने पर भी एक घड़े में मोमबत्ती जलाने पर उसी में धुआँ और रोशनी होंगे, दूसरों में नहीं हो जायेंगे, उसी प्रकार जिस जिस शरीर मन के अन्दर सुख-दुःख आदि होगा उस उस शरीर मन के अन्दर जिसको अभिमान है, उसको उन सुख-दुःख आदि का अनुभव होगा। आत्मा एक होने पर भी दूसरे शरीर के अन्दर यदि सुख-दुःख की प्रतीति नहीं है तो उसके अभिमान वाले आत्मा को वहाँ सुख-दुःख नहीं होगा।

कारण तो अभिमान ही है और क्या है! आज तुम कहते हो 'यह मेरा बेटा है', उस बेटे के मरने से रोते हो। यह माना हुआ ही है। यहाँ से मर कर जायेगा दूसरी जगह पैदा हो जायेगा तो उस बेटे के मरने से थोड़े ही रोओगे, क्योंकि 'यह मेरा बेटा नहीं है' ऐसा अभिमान है, या 'मेरा बेटा है', ऐसा अभिमान नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि वह तुम्हारा बेटा नहीं है। यदि बेटा था तो अब भी है, नहीं था तो अब भी नहीं है। इसलिये जिस जिस शरीर-मन में तुम अभिमान करोगे उस उस शरीर-मन में तुमको सुख-दुःख की प्रतीति और जिस जिस शरीर में तुम्हारा अभिमान हट जायेगा वहाँ वहाँ से सुख-दुःख की प्रतीति भी हट जायेगी।

प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है। पैर गैंग्रीन होने पर सड़ जाये तो डाक्टर उसे काट देता है। उस कटे हुए पैर के टुकड़े में अब अभिमान नहीं रहा। उस कटे हुए पैर के टुकड़े को लेकर तुम अपने को सुख-दुःख वाला थोड़े ही मानते हो। वहाँ ज़बर्दस्ती तुम्हारा अभिमान हटा क्योंकि अभिमान प्रकट करने का साधन जो तुम्हारा स्नायुमण्डल था उसके साथ ज़बर्दस्ती सम्बन्ध तोड़ा गया। इसी प्रकार मृत्युकाल के अन्दर अभिमान को प्रकट करने वाले मस्तिष्क के स्नायुमण्डल के साथ सम्बन्ध तोड़ा जाता है। है वहाँ भी अभिमान का हटना, लेकिन वह ज़बर्दस्ती है। जैसे मान लो तुम्हारी ज़मीन है और सरकार की सीलिंग में आ गई। सरकार की सीलिंग में आने से उस ज़मीन का अभिमान तुम्हारा ज़बर्दस्ती हट गया। जब सरकार ने उसे ले लिया या दूसरे को दे दिया तो उस ज़मीन में खेती होने न होने में तुम सुखी-दुःखी थोड़े ही रह जाओगे। अभिमान चाहे ज़बर्दस्ती हटे, चाहे अपनी इच्छा से हटे।

Scanned by CamScanner

उन द्वैतियों को यह जवाब दिया जा रहा है कि व्यवस्था की अनुपपत्ति नहीं है। व्यवस्था की अनुपपत्ति बड़ा भारी दोष है यह याद रखना। कई बार जो कच्चे और नये वेदांत पढ़ने वाले होते हैं वे कहते हैं कि व्यवस्था न बनो, क्या हो गया? यह ठीक नहीं क्योंकि यह एक बहुत बड़ा दोष है। कारण यह है कि अनुभव को समझने के लिये दर्शन की प्रवृत्ति है। जो दर्शन अनुभव का विरोधी हो वह चाहे जितना पुराना हो, चाहे जितना नया हो, बेकार है। केवल मन्द बुद्धि लोग ही उसे ठीक मान सकते हैं। जैसे मार्क्स का कहना है कि जब पूँजीवाद (Capitalism) बढ़ता है तो कर्मचारियों के प्रति अत्याचार बढ़ता है। धनियों का धन बढ़ता जाता है। अंततोगत्वा मज़दूर सहन नहीं कर पाते। तब समाजवाद आता है। यह उसका कहना है। उसने अपने काल में देखा था कि लोग अत्याचारी थे। उसने सोचा कि ये ऐसे के ऐसे अत्याचारी बने रहेंगे और अंत में मज़दूर विरोध करेंगे। लेकिन उसका यह दर्शन अनुभव से विरुद्ध हो गया क्योंकि जिन देशों के अन्दर अधिकाधिक पूँजीवाद आया वहाँ पूँजीवादी बजाय ज्यादा अत्याचारी होने के, दयालु बनने लग गये, वैसा अत्याचार नहीं किया। दूसरी तरफ जो मज़दूर लोग थे उन्होंने जो अपना संगठन कायम किया, उसके कारण जितनी सरकारी पूँजी थी उसपर नियंत्रण आरंभ किया, ट्रेड यूनियन बनने लगी। इसलिये उसने जो कहा था वह अनुभव-विरुद्ध सिद्ध हुआ। जहाँ-जहाँ पूँजीवाद बढ़ा वहाँ मार्क्सवाद नहीं आया बल्कि वहाँ मार्क्सवाद आया जहाँ पूँजी पूरी नहीं थी। इस अनुभव के होने पर भी जो समाजवाद को माने, उन्हें महामूढ ही कहा जायेगा! आगे उनसे कहते हैं कि 'अनुभव को देखो', तो कहते हैं कि 'हम कहते हैं इसलिये मानो।' उनसे कहो कि 'तुम कैसा समाजवाद मान रहे हो? यह तो अनुभव-विरुद्ध है।' इसका जवाब उनके पास कुछ नहीं। कहते हैं 'नहीं मानोगे तो दण्डा मारेंगे।' यह महामूर्खों का लक्षण है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना कि अनुभव को समझने के लिये दर्शन की प्रवृत्ति है। संसार का कोई भी दर्शन हो; यदि अनुभव के विरुद्ध बात कहता है तो बेकार दर्शन है क्योंकि अनुभव समझने के लिये दर्शन है। अगर अनुभव का अपलाप करे तो दर्शन काहे का? चंडूखाने की गप्पें हैं।

इसी प्रकार यदि अद्वैती कह दे कि 'हमें व्यवस्था से क्या मतलब' तो अद्वैत भी व्यर्थ होगा। कच्चा वेदांती कह देता है कि 'व्यवस्था बिगड़ो, अपना क्या जाता है? अपने एक आत्मा मानते हैं, सब माया है।' यदि व्यवस्था अनुपपन्न होगी तो तुम्हारा वेदांत दर्शन भी अन्य दर्शनों की तरह हेय हो जायेगा।

यह हम तुम लोगों को इसलिये सावधान करते हैं कि जितने डिक्टेटरशिप वाले हैं तानाशाह हैं, वे यह उपदेश हम लोगों को पहले भी करते थे और भविष्य में भी करेंगे। कहेंगे 'बाबा जी! आपको समाज से क्या मतलब? आप तो सब मिथ्या मानते हैं। मठ में बैठे रहो। आपको दो सौ रुपया महीना रोटी खाने के लिये भेज देंगे, बढ़िया व्यवस्था हो जायेगी। अंदर बैठकर भगवान् का भजन करो। संसार तो मिथ्या है, तुम्हें इससे क्या लेना देना? भगवान् में लौ लगाओ।' बहुत से लोग समझेंगे कि ठीक तो कह रहे हैं,

Scanned by CamScanner

महात्माओं को क्या मतलब समाज में क्या हो रहा है। और उन तानाशाहों को इसलिये अनुकूल पड़ गया कि बाकियों को बेवकूफ बनाते रहेंगे। ये लोग चूँकि ज़रा बुद्धिमान् हैं इसलिये दो चार सौ रुपया देकर चुप कराने की कोशिश करते हैं। रुपया भी कई तरह का होता है। कच्चा वेदांती समझ भी लेगा कि 'अपने को व्यवस्था से क्या मतलब। न जाने कितने संसार में आये; कितने चले गये; उनसे अपने को क्या लेना देना, न मांधाता रहे, न रघु रहे। अपने को इन सबसे क्या मतलब? अपने को तो बस एक आत्मतत्त्व का विचार करना है।' इसलिये ये उस चक्कर में भी आ जायेंगे। मुसलमानों के राज्यकाल में भी यह होता रहा है। कई मठों को मुसलमान ग्रांट देते थे, ज़मीन देते थे। उससे पहले भी होता रहा और भविष्य में भी होगा।

लेकिन यदि व्यवस्था से तुमको कोई मतलब नहीं तो तुम्हारा दर्शन ही नहीं है। फिर तो तुम कोई एक अंधविश्वास मानकर बैठे हुए हो बस, और कुछ तत्त्व उसमें नहीं है। शरीर आदि की व्यवस्था, धर्म की व्यवस्था, समाज की व्यवस्था, जगत् की व्यवस्था इत्यादि इन सब में यदि तुम्हारा अनुभव कुछ कार्य नहीं कर सकता तो तुम्हारा सारा दर्शन बेकार है। उसमें कुछ तत्त्व नहीं है।

और उसमें सबसे बड़ा दृष्टांत भाष्यकारों का है। उन्होंने क्या किया? विद्यारण्य स्वामी, आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने क्या किया? ये दृष्टांत सामने रखने चाहिये। व्यवस्था-अनुपपत्ति को कभी भी हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिये क्योंकि व्यवस्था को उपपन्न नहीं करोगे तो फिर वेदांत का सिद्धान्त खंडित हो जायेगा।

उसी व्यवस्था को उपपन्न करते हैं। भाष्यकारों ने बहुत लम्बा चौड़ा विचार किया है क्योंकि व्यवस्था अनुपपत्ति व्यवहार भूमि में बहुत भयंकर दोष है। जिस प्रकार एक घटाकाश के अन्दर धूल या धुआँ आ गया तो फिर उस घटाकाश के साथ ही वह धूल आदि संयुक्त रहते हैं, सारे घटाकाशों के साथ संयुक्त नहीं रहते। उसी प्रकार जिस शरीर से मन में सुख-दुःख की प्रतीति होगी उसी शरीर के अन्दर जिसे अभिमान है उसको सुख-दुःख का भान भी होगा। जिसे उसमें अभिमान नहीं है उसको उस सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होगी। यह मूलकार के श्लोक का तात्पर्य है। इसी का आगे विस्तार करते हैं।

कोई कहता है कि यह आप क्या कह रहे हो, आप तो एक ही आत्मा को मानते हो? उससे कहते हैं 'बाढम्।' बात तो तू ठीक कह रहा है लेकिन बिना समझे कह रहा है। बहुत बार सच्ची बात भी यदि बिना समझकर कही जाती है तो वह भयानक हो जाती है। वह पूछता है कि 'मैंने क्या नहीं समझा? मैं भी वेद बाँचा करता हूँ और उसमें लिखा है कि सारे संघातों में एक आत्मा है आकाश की तरह। आत्मा सब जगह एक है यह बात मैंने श्रुति से जान ली, इसमें समझना क्या है? सबमें एक आत्मा है।' सिद्धांती समझाता है कि यदि वेद में यह बात वैसी कही होती जैसी तू समझ रहा है तो यह दोष

Scanned by CamScanner

हो जाता कि एक ही आत्मा होने से सब जगह सुख-दुःख एक साथ ही सबको होना चाहिये। पहले यह बता कि तू किस तरफ से यह शंका कर रहा है? या तो सांख्यवादी और योगी यह शंका कर सकता है या नैयायिक और वैशेषिक कर सकता है। इनमें से तू किस तरफ से क्या मानकर बात कर रहा है? सुख-दुःख की व्यवस्था तू कैसे बनाता है? यह पहले बता। हमारी विचार की यह मर्यादा भी समझ कर रखने की है क्योंकि आजकल जैसे फ्री-स्टाइल दंगल होते हैं वैसे ही लोग विचार करने लग पड़ते हैं। उनसे कहो 'तुम्हारा सिद्धान्त क्या?' तो बोलेंगे 'हम इस पचड़े में नहीं पड़ते।' तब विचार करने आये ही क्यों? जहाँ तक शुष्क तर्क से मुँह बन्द करने का सवाल है तो उसके लिये हमारे पास श्रीहर्ष की खण्डन-युक्तियाँ हैं। लेकिन उससे निर्णय कैसे होगा? इसलिये या शिष्य बनकर विचार करो, या वादी बनकर करो। शिष्य बनोगे तो हमारी प्रक्रिया से सोचना सीखोगे। वादी बनते हो तो अपनी प्रक्रिया को संभालना पड़ेगा। अगर तुम्हारी प्रक्रिया ग़लत निकले और हमारी प्रक्रिया को ग़लत सिद्ध न कर पाओ तो हमारी प्रक्रिया स्वीकार लो।

सांख्य की दृष्टी से यदि तू यह कहना चाहता है तो बनेगा नहीं क्योंकि सांख्य सिद्धान्त तो आत्मा को सुख-दुःख वाला मानता नहीं। इसलिये वह तो हमारे ऊपर यह दोष दे नहीं सकता। सांख्यवाद और योगी के सिद्धान्त में तो बुद्धि ही सुख-दुःखाकार होती है। इसलिये उनकी तरफ से तो यह शंका नहीं उठ सकती। सांख्य और योगी दोनों बुद्धि को ही सुख दुःख आदि का समवायी मानते हैं। जब बुद्धि को ही समवायी माना है तो सुख-दुःख आदि बुद्धि में रहेंगे, आत्मा में वे तुम्हारे अनुसार ही नहीं रहेंगे। जिस शरीर में आत्मा रहता है जब तू उसका ही सुख-दुःख आत्मा में नहीं मान रहा है तो दूसरों को सुख-दुःख की प्राप्ति कराने का तेरा प्रयास ही बेकार है! सांख्य और योग तो आत्मा को केवल उपलब्धिस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप मानते हैं। जब उसको केवल ज्ञानस्वरूप माना तो फिर आत्मा में भेदकल्पना में उनकी बात का क्या प्रमाण है! बुद्धि में भेद तू मानता है तो हम भी मान लेते हैं, उसमें कोई झगड़ा नहीं है।

सांख्यवादी कहते हैं कि बुद्धि सुख-दुःखाकार होती है लेकिन बुद्धि या प्रकृति तो जड है। जड प्रकृति किस के लिये सुख दुःख को पैदा करेगी? चाहे बुद्धि ही सुख-दुःखाकार बनेगी लेकिन कोई आत्मा होगा तो उसके लिये ही सुख-दुःखाकार वृत्ति करेगी। प्रधान अर्थात् प्रकृति दूसरों के लिये काम किया करती है। जब भिन्न भिन्न क्षेत्रज्ञों को नहीं मानोगे तो किस के लिये करेगी? इसलिये यह उपपन्न होने के लिये अनेक जीव मान लो।

सिद्धांती कहता है : ऐसा मानना ज़रूरी नहीं क्योंकि प्रधान जो प्रकृति है वह दूसरे के लिये चाहे करे, लेकिन उस प्रकृति के द्वारा जो सुख-दुःखाकार वृत्ति की गई वह आत्मा में समवायी नहीं बनेगी, अर्थात् आत्मा से उसका सम्बन्ध नहीं बनेगा। प्रधान के द्वारा किया हुआ जो बंधन और मोक्ष वाला प्रयोजन है, वह यदि पुरुष में भेद मानकर

Scanned by CamScanner

उनमें रहता हो, तब तो प्रधान जिस दूसरे के लिये करे उसे नाना मानना पड़े। किंतु सांख्यों के द्वारा बन्ध और मोक्ष रूप पुरुषार्थ पुरुष अर्थात् आत्मा में समवेत अर्थात् सम्बन्ध वाले होते हैं, यह स्वीकार नहीं किया जाता है। पुरुष को तो वे शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं। अतः पुरुष की सत्तामात्र से ही प्रधान प्रवृत्त होता है, पुरुष को वह कोई फल 'दे' नहीं सकता। पुरुष की केवल आवश्यकता है कि प्रकृति अपना काम करे। तब फिर अलग अलग पुरुषों की क्या आवश्यकता है? एक ही पुरुष होने से काम चल जायेगा।

इसलिये प्रधान दूसरे के लिये काम करता है, दूसरा नहीं होगा तो किस के लिये काम करेगा, इस हेतु से जो तू अनंत जीव मानना चाहता है, वह आवश्यक नहीं रहा। सांख्य लोग पुरुषभेद की कल्पना में और कोई प्रमाण देते नहीं। यही तुम्हारा एक प्रमाण है कि प्रकृति हमेशा किसी चेतन के लिये काम करेगी, जिस चेतन के लिये काम करेगी वह अलग अलग होना चाहिये। इसका जवाब हमने दिया कि चेतन होना चाहिये, चेतन की सत्ता चाहिये, अनेक चेतनों की कहाँ ज़रूरत है? क्योंकि फल आत्मा को तुम भी नहीं मानते हो। उनके यहाँ और कोई प्रमाण है नहीं। यह बात सांख्यकारिका भी कहती है कि आत्मा की सत्तामात्र इन्हें चाहिये, उसे निमित्त बनाकर प्रकृति स्वयं ही बंधन में है और स्वयं ही मुक्त होती है। पर जो आत्मा है वह तो केवल ज्ञानमात्र सत्तास्वरूप वाला होने से प्रधान की प्रवृत्ति में हेतु है। विद्यमान रहकर जानकारी करते रहना आत्मा का काम हुआ। फिर जो तुम लोगों ने ज़बर्दस्ती पुरुषभेद मान लिया वह केवल मूढतावशात् मान लिया। मूढता से अर्थात् अविचार से, बिना विचारे ही ऐसा मान लिया। विचार करने से तो पता लगता है कि एक आत्मा से ही तुम्हारा काम चल जायेगा। व्यवस्था तो सारी की सारी प्रधान से ही बन जायेगी।

पुरुषभेद-कल्पना करने से ही बेचारे योगी इस चक्कर में आये कि हमारे चित्त की निर्विकल्पता हो जाये तो समाधि हो जाये। यह भूल गये कि सारा प्रधान प्रवृत्ति मुझ आत्मा के लिये करता है। इसलिये दोनों गड़बड़ा गये। जब पुरुषभेद, आत्मभेद, मान लोगे तो तुम्हारी चित्तवृत्ति शांत होने से तुम्हारी मुक्ति हो गई। जब पता लगा कि सारी प्रकृति मेरे लिये ही काम कर रही है तो जितने शरीरों में जितनी बुद्धियाँ हैं, उनके द्वारा हमको ही प्राप्ति हो रही है, तब एक मन शांत करने से क्या फ़ायदा है? जैसे घुटने में दर्द हो तो उसमें दवाई लगाते हैं। यह भूल जाते हैं कि शरीर की खराबी ही इसके लिये कारण है। जब तक सारा शरीर ठीक नहीं होगा तब तक घुटने का दर्द दूर नहीं होगा। ऐसे ही यदि समूची प्रकृति सच्ची है और पूर्वोक्त ढंग से आत्मा एक है तो जहाँ कहीं भी अविवेक है, जो कोई भी मन अशान्त है, वहाँ विवेक लाये बिना, समाधि लाये बिना तुम्हारा काम बनेगा नहीं। और यह सर्वथा असंभव है। इस पुरुषभेद-कल्पना से तुमने वेद के अन्दर जिस बात को कहा गया था उसका परित्याग कर दिया, क्योंकि ग़लत समझ गये। इसलिये सांख्य दृष्टि से सुख-दुःख की व्यवस्था नहीं बनती। अतः उसे वेदान्त की व्यवस्था ही माननी होगी।

Scanned by CamScanner

कणाद को मानने वाला वैशेषिक बोल पड़ा कि 'मेरी व्यवस्था के रहते तुम्हारी मायिकता क्यों मानें? मेरी तरफ से शंका समझ लो : आत्मा अनेक होने चाहिये।' कणाद महर्षि का तो यह कहना है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये सब आत्मा में ही रहते हैं। सांख्य तो बुद्धि में मानता है इसलिये उसे जवाब हो गया कि एक ही आत्मा से काम चल जायेगा। ये तो इन नौ गुणों को आत्मा में ही मानते हैं। अतः इनका अनुमान चलता है : चैत्र का आत्मा मैत्र के आत्मा से भिन्न है क्योंकि मैत्र के आत्मा में होने वाले सुखादि चैत्र के आत्मा में नहीं रहते, एक के गुण दूसरे में नहीं मिलते तो दोनों अलग होते हैं जैसे लाल घड़े से पीला कपड़ा। इस प्रकार वे आत्मसमवायी गुणों से आत्मभेद सिद्ध कर देंगे।

लेकिन यह भी बेकार की ही बात है। उनसे कहते हैं : एक बात बताओ, आत्मा को तो तुम व्यापक मानते हो? कहता है— 'हाँ जी, यह तो हम मानते हैं।' फिर यह बताओ कि आत्मा में जो ये नौ गुण रहते हैं, ये आत्मा के किसी इधर उधर के टुकड़े में रहते हैं या सारे आत्मा में रहते हैं? जैसे छाते ती ताड़ियाँ कहीं कहीं रहती हैं, सारे कपड़े में नहीं रहतीं, इसी प्रकार ये सारे कहाँ रहते हैं? किसी एक प्रदेश में रहते हैं या सारे आत्मा में रहते हैं। अर्थात् एकदेशवृत्ति हैं या सर्वदेशवृत्ति हैं। सर्वदेशवृत्ति मान नहीं सकते। अगर सारे ही आत्मा में बुद्धि अर्थात् ज्ञान आदि नौ रहते हैं, तो सब समय सब रहेंगे इसलिये सुखः-दुःख सबको सब समय होना चाहिये। ऐसे ही इच्छा आदि सब एक साथ ही सबमें होने चाहिये। यह तो बिल्कुल व्यवस्था-विरुद्ध बात हो गई। इससे बचने को कहो कि एक देश में रहते हैं। तो उस एक देश को सच्चा मानते हो या झूठा मानते हो? अर्थात् सचमुच हिस्से हैं जिनमें रहते हैं या झूठमूठ के हिस्सों में रहते हैं? यदि सचमुच हिस्से हैं तो जो जो एकदेश वाले पदार्थ हुआ करते हैं वे सारे विनाशी हुआ करते हैं, जैसे घट। यदि आत्मा में देशभेद है तो आत्मा भी विनाशी हो जायेगा! इसलिये मुक्ति असम्भव है। यदि कहो कि 'कल्पित देश हम मान लेंगे, झूठमूठ से कल्पना हो जाती है।' तो यदि झूठमूठ कल्पना हो जाती है तब फिर आत्मा इन नौ गुणों वाला नहीं हुआ। झूठे देश में यदि तुम्हारे गुण रहते हैं तो इसका मतलब है कि आत्मा में गुण नहीं रहे। फिर ये नौ वहाँ समवायी होकर रहेंगे ऐसा क्यों मानते हो? इसलिये यह सब असत्कल्पना है।

किं च वह मानता है कि सबको अलग अलग स्मृतियाँ होती हैं, एक का देखा दूसरे को याद नहीं आता, इसलिये सब के ज्ञान अलग अलग रहेंगे, अपने-अपने ज्ञान से संस्कार पड़ेंगे और सबको अपने ज्ञानों के अनुरूप स्मृति होगी। इस प्रकार स्मृति के कारणभूत संस्कार के विभिन्न समवायी मानने चाहिये; वे ही आत्मा हैं।

इसका जवाब देते हैं कि आत्मा में कोई प्रदेश नहीं तो उसमें संस्कार कैसे समवाय सम्बन्ध से रहेंगे? लेकिन स्मृति को ही लेकर विचार करते हैं, ये दोष बाकी सबमें भी लगते जायेंगे। वैशेषिक कहता है कि 'हम यह मान लेंगे कि संस्कार आत्मा के अन्दर

Scanned by CamScanner

सर्वत्र रहते हैं, जहाँ जहाँ मन का सम्बन्ध होता है वहाँ वहाँ वह संस्कार उदय हो जाता है, बाकी दबे रहते हैं। आत्मा और मन के संयोग से ही स्मृति की उत्पत्ति होती है।' तो यह बताओ कि सारे देश में जब संस्कार रहेंगे तो जहाँ भी जाकर मन बैठेगा वहाँ सारे के सारे संस्कार तो बैठे ही हुए हैं। फिर एक ही चीज़ याद क्यों आती हैं? जब याद आये तो अनंत जन्म इकट्ठे ही याद आया करें। यह असंभव है। तुम्हारी रीति से स्मृतिनियमन नहीं होना चाहिये कि इस समय यह याद आया, इस समय यह आया। इकट्ठे ही सारी स्मृति की उत्पत्ति की प्रसक्ति हो जायेगी।

अब और दोष देते हैं : आत्मा तो स्पर्श आदि रहित है और उससे भिन्न जाति वाले ये सारे मन आदि पदार्थ हैं। देखा जाता है कि एक जाति वाले पदार्थों का ही सम्बन्ध होता है जैसे स्पर्श वाले पदार्थों का सम्बन्ध स्पर्श वाले पदार्थों से होता है। आत्मा स्पर्श आदि से हीन है और मन स्पर्श आदि वाला है तो इनका सम्बन्ध कैसे होगा? सम्बन्ध नहीं ही होगा। इसलिये आत्मा का मन आदि से सम्बन्ध भी युक्ति-सिद्ध नहीं है। पहला दोष दिया कि नौ कैसे रहेंगे यह समझ में नहीं आता और दूसरा, आत्मा से मन का संयोग नहीं बन सकता।

वैशेषिक कहता है कि गुणों का द्रव्य से सम्बन्ध होता है जबकि गुणों में स्पर्शवत्ता आदि हैं नहीं, ऐसे ही आत्मा से मन का सम्बन्ध हो तो क्या रुकावट है? रुकावट यही है कि द्रव्य से सर्वथा भिन्न गुणादि कुछ हैं जिनका द्रव्य से सम्बन्ध होता है यह हमें मान्य कहाँ है! यह तो केवल तुम वैशेषिकों ने मनमानी कल्पना कर रखी है। न सांख्यवादी गुणों को अत्यंत भिन्न मानता है, न मीमांसक। लोक में भी गुणों का द्रव्य से सम्बन्धविशेष प्रसिद्ध नहीं कि वादिसमंत न होने पर भी दृष्टांत बना सको। और अगर आत्मद्रव्य से इच्छादि गुण सर्वथा अलग हैं तो इनका आपसी सम्बन्ध वैसा ही असंभव है जैसा हिमाचल और विन्ध्याचल का जो दोनों सर्वथा अलग हैं।

इस समस्या का समाधान करने के लिये वैशेषिक ने एक विलक्षण पदार्थ की कल्पना की है— समवाय। वह कहता है कि अयुतसिद्धों का समवाय सम्बन्ध होता है। जिन दो की सिद्धि एक दूसरे के बिना न हो उन्हें वह अयुतसिद्ध नाम से कहता है। इच्छादि और आत्मा का भी वह समवाय सम्बन्ध मानता है। किन्तु है यह उसकी मूर्खता। वह खुद ही आत्मा को नित्य मानता है और इच्छादि को अनित्य मानता है, फिर भी इन्हें अयुतसिद्ध बोलता है! अनित्य इच्छा से तो नित्य आत्मा पहले ही होगा, फिर दोनों की अयुतसिद्धि कहाँ हुई? और अगर हो तो इच्छादि को भी नित्य होना पड़ेगा जिससे फिर मोक्ष ही असंभव हो जायेगा क्योंकि वैशेषिक को यह स्वीकार्य नहीं कि मोक्ष में इच्छादि रहें।

अब यदि समवाय को तू द्रव्य से अन्य मानेगा तो द्रव्य के साथ फिर उस सम्बन्ध का सम्बन्ध मानो। जैसे द्रव्य और गुण के लिये तुमने एक समवाय सम्बन्ध माना, वही समवाय जब द्रव्य से अलग है तो द्रव्य का फिर समवाय मानो। फिर यह कभी ख़तम

Scanned by CamScanner

ही नहीं होना है। वैशेषिक कहता है कि 'समवाय को हम नित्य सम्बन्ध कह देंगे।' किन्तु ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यदि ऐसा कहोगे तो समवाय सम्बन्ध वाले एक दूसरे से अलग नहीं हो सकेंगे। यदि गुण द्रव्यों से अत्यन्त पृथक् होंगे तो उनमें वैसे ही सम्बन्ध नहीं हो सकेगा जैसे स्पर्श वाले द्रव्य का स्पर्शरहित द्रव्य से। कोई ऐसा नहीं कहता 'आकाश की पृथ्वी!' अब कहो कि समवाय को द्रव्य और गुण से सम्बद्ध होने के लिये सम्बन्धान्तर नहीं चाहिये; तो यह भी तुम्हारी मनमानी होगी। जैसे संयोग सम्बंध है और सम्बन्धी में किसी अन्य सम्बन्ध से रहता है ऐसे ही समवाय भी है अतः उसे भी सम्बन्धान्तर चाहिये। और नहीं, तो संयोग को भी बिना सम्बन्ध के रहने दो! वह तुम्हें मंज़ूर नहीं।

यदि आत्मा इच्छा आदि अनित्य गुणों वाला होगा तो वह भी नित्य नहीं रह जायेगा। अनित्य गुण वाली कोई नित्य चीज़ देखी नहीं गयी है। आकाश भी हम औपनिषदों के यहाँ उत्पत्ति वाला है। फिर तो जैसे देह फलरूप है इसलिये सावयव और विक्रिया वाला भी है वैसे तुम्हारा आत्मा भी सावयव और विक्रिय होगा। यह अनुमान भी हम करेंगे— इच्छादि आत्मा के गुण नहीं हैं क्योंकि उत्पन्न और नष्ट होते हैं, जैसे रूपादि। इस प्रकार वैशेषिक के ढंग से यह किसी तरह नहीं बनेगा कि एक का सुख-दुःख दूसरे को न हो।

हमारे मत में सारी व्यवस्था ठीक बन जाती है। जैसे आकाश में अविद्या के द्वारा अध्यारोपित रज, धूल आदि मल दोष हो जाते हैं, ऐसे ही आत्मा अविद्या या अज्ञान से अध्यारोपित बुद्धि आदि उपाधियों से किये सुख-दुःख आदि दोषों वाला हो जाता है जिससे बंध, मोक्ष आदि सारे व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं। बुद्धियों के भेद से सबके सुख आदि अलग-अलग बने रहते हैं। हमने जिसमें अभिमान कर लिया उस बुद्धि आदि उपाधि के द्वारा किये हुए सुख-दुःख आदि की प्रतीति हमें हो जायेगी। यह 'हम' कौन है— बस यही समझने के लिये तो सारा प्रयास है।

तो इस प्रकार न सांख्यवादी के अनुसार व्यवस्था बनी, न वैशेषिक के। अपने यहाँ यह बंध मोक्ष आदि का व्यवहार अविद्या के कारण मानने से बड़ा सुन्दर बन जाता है, कोई विरोध नहीं आता। यह व्यवस्था उपपन्न हो गई कि एक आत्मा ही स्वयं अनेक उपाधियों को धारण करके और उन उपाधियों के अन्दर अभिमान करके तत्तद् शरीर के साथ जीवत्वाभिमानी और अभिमान छोड़कर शुद्ध बन जाता है।

संसार के अन्दर जितने भी वादी हैं उन सबको ही किसी न किसी अंश में अविद्याकृत व्यवहार स्वीकार करना पड़ता है। जैसे शरीर में मैं, इस बात को कर्मकांण्डी भी झूठा मानेगा। मन के मैं को तो सच्चा मान लेगा क्योंकि उसी से वह स्वर्ग में जायेगा, लेकिन 'शरीर में मैं कैसे?' यह पूछो तो कहेगा कि अज्ञान से है क्योंकि यदि मैं शरीर हूँ तो ज्योतिष्टोम करके स्वर्ग कौन जायेगा? शरीरविषयक मैं-भाव को वे भी अविद्याकृत मानते हैं। पुत्र इत्यादि में मैं की प्रतीति चार्वाक भी अविद्या से मानते हैं। वे कहते हैं कि पुत्र आदि से सुखी दुःखी नहीं होना चाहिये, शरीर ही हमारा स्वरूप है। बुद्धि में जो मैं की

Scanned by CamScanner

प्रतीति है उसे सांख्य भी अविद्या से मानता है। संसार में सारे वादी कहीं न कहीं तो व्यवहार अविद्याकृत मानते हैं। अज्ञान से व्यवहार माने बिना किसी का काम नहीं चलता। वेदांती का कहना है कि अज्ञान से एक जगह मानते हो तो सब जगह मान लो। कहीं कुछ मानो कहीं कुछ मानो, यह तो आजकल के राजनीति वालों का हाल हो गया कि जिस समय जो ज़रूरत पड़ी वह मान लिया और फिर थोड़ी देर में गिरगिट की तरह रंग बदल गये! इसलिये उन्हें रोज़ ही संविधान में कोई न कोई संशोधन चाहिये। वेदांती कहता है कि कहीं तो अविद्या को मानना ही पड़ा। सर्वथा अविद्या बिना माने व्यवहार सिद्ध नहीं कर सकते। इसलिये एक ही नियम सब जगह मानो। ऐसा नहीं कि एक जगह कहो पिछड़े वर्ग को आगे बढ़ाओ और दूसरी ओर जो चार पीढ़ी से प्रधानमंत्री बने हुए हैं उन्हें कुछ मत कहो! दूसरे पिछड़ों को मौका दो, लेकिन अगर कहें कि 'तुम गद्दी खाली करो' तो वह नहीं कहना चाहिये।

परमार्थ मोक्ष के अन्दर कोई भी वादी व्यवहार को स्वीकार नहीं करेगा। इसलिये चाहे सांख्यवादी, चाहे चार्वाक और चाहे नैयायिक हो, ये सारे के सारे वृथा आत्मभेद की कल्पना करते हैं। एक आत्मा से सारी व्यवस्था बन जाती है। एक आत्मा और एक अविद्या मानने से सारी व्यवस्था बन जाती है। उनकी व्यवस्था व्यवहार के काम की नहीं यह देख ही चुके। परमार्थ में वे भी व्यवहार मानते नहीं तो व्यवहार के निर्वाह के लिये माना गया आत्मभेद किस काम का?।।५।।

●

यह बताया कि पुत्र पत्नी धन आदि जो बाह्य पदार्थों में आत्मदृष्टि है, वह अविद्याप्रसूत है यह चार्वाक भी मानते हैं। शरीर में आत्मबुद्धि अविद्याप्रसूत है यह कर्मकाण्डी भी मानते हैं। मन के अन्दर आत्मबुद्धि अविद्या प्रसूत है यह नैयायिक भी मानते हैं। स्मृतियों की परम्परा, स्मृतिसंतान अर्थात् चित्त के अन्दर जो आत्मबुद्धि है वह अज्ञान से है, यह बौद्ध भी मानता है। बुद्धि के अन्दर आत्मबुद्धि अविद्या से है यह सांख्य भी मानते हैं। अर्थात् संसार के सभी वादी लौकिक और वैदिक व्यवहारों को अज्ञान से ही मानते हैं। इसलिये अज्ञान इनका कारण सर्ववादिसम्मत है। लेकिन ये लोग अंधविश्वास के कारण कुछ चीज़ों को अज्ञान से मान लेते हैं और कुछ चीज़ों को सच्चा मानने पर ज़ोर देते हैं। जैसे चार्वाक कहेंगे कि पुत्र पत्नी आदि के लिये दुःखी होना बेकार है वह तुम्हारा आत्मा नहीं लेकिन शरीर के दुःख से तो दुःखी होना ही चाहिये क्योंकि शरीर तुम्हारा आत्मा है। इसी प्रकार कर्मकाण्डी कहेगा कि शरीर आदि के लिये सुखार्थ प्रवृत्ति करना ठीक नहीं क्योंकि शरीर आदि कुछ नहीं लेकिन तपस्या इत्यादि तो करनी ही चाहिये क्योंकि सूक्ष्म शरीर तुम्हारा आत्मा है। इसी प्रकार क्रम से सब जगह समझ लेना। अंत में सांख्यवादी जो भोक्ता को आत्मा मानता है वह भी कहेगा कि बाकी सब तो छोड़ दो लेकिन चित्तवृत्तियों को तो शांत करना ही चाहिये क्योंकि यह तुम्हारा स्वरूप है। इस प्रकार जितने वादी हैं वे कुछ चीज़ों को कहते हैं कि इनको सच्चा मानो।

Scanned by CamScanner

दूसरी बात, मोक्ष अवस्था में ये व्यवहार नहीं रहते, यह भी सारे वादी मानते हैं। चार्वाक के यहाँ शरीर की मृत्यु ही मोक्ष है। इसलिये चार्वाक को भी मानना पड़ेगा कि शरीर के मरने के बाद कोई व्यवहार नहीं, तो मोक्षावस्था में चार्वाक के यहाँ भी व्यवहार नहीं है। आधुनिक चार्वाक भी तो शरीर को आत्मा मानते हैं। उनके यहाँ भी मृत्यु के बाद तुम कोई देश का उपकार नहीं करोगे। जन्म के पहले अनादि काल से भी कोई उपकार नहीं किया तो देश का क्या बिगड़ गया? मरने के बाद अनंत काल तक नहीं करोगे तो देश का क्या बिगड़ जायेगा? तो बीच में जो बिजली की चमक हो गयी, शरीर में चेतना हो गयी, तब भी क्यों करो? इसका जवाब उनके पास नहीं है। चार्वाक-दृष्टि से भी मोक्षकाल में व्यवहार नहीं क्योंकि उनके यहाँ शरीर की मृत्यु ही मोक्ष है और मोक्ष के बाद उनके यहाँ भी व्यवहार नहीं है। इसी प्रकार बाकी जितने हैं वे सूक्ष्म शरीर या जिससे भी मोक्ष मानेंगे, मोक्ष के बाद व्यवहाराभाव उन्हें भी मानना ही पड़ेगा। कर्मकाण्डी स्वर्ग को ही मोक्ष मानते हैं। उनसे पूछें कि वहाँ जाकर यज्ञ यागादि करते रहोगे या नहीं? कहते हैं यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। फिर वहाँ जब व्यवहार नहीं तो क्या यहीं मानना पड़ेगा! इसलिये जितने लौकिक वैदिक व्यवहार हैं वे सब अविद्या के द्वारा मनुष्यत्व आदि अपने ऊपर आरोपित करके किये जाते हैं।

व्यवहार का मूल अविद्या है। अविद्या के द्वारा अपने को कुछ मानोगे तब तुम्हारे ऊपर कर्त्तव्य आयेंगे नहीं तो कोई कर्त्तव्य नहीं। इसलिये अविद्या-निवृत्ति में प्रवृत्त हुए तो उस काल में कोई भी अध्यारोप अपने सिर पर नहीं कर लेना चाहिये कि 'यह तो मेरा कर्त्तव्य है'। अब ज्ञान के द्वारा जानबूझकर कोई अपने ऊपर अध्यारोप कर ले तो वह चूँकि ज्ञात अध्यारोप है इसलिये बंधन का कारण नहीं बनेगा। अविद्या द्वारा अध्यारोप ही बंधन का कारण है। जैसे रस्सी में साँप अविद्या के कारण हुआ तो बंधन का कारण लेकिन जानबूझकर कागज़ पर बनाया हुआ साँप का चित्र आनंद का कारण होता है, दुःख का कारण नहीं। इसी प्रकार यह जानते हुए कि 'मैं मनुष्य नहीं हूँ' अपने को मनुष्य मानो तो कोई हर्ज़ा नहीं। यह जानते हुए कि मैं ब्राह्मण नहीं, अपने को मानो तो कोई हर्ज़ा नहीं। जब तक अध्यारोप को हटाना है तब तक तो सर्वदा कर्त्तव्य आदि का अभाव ही अपेक्षित है और जब एक बार ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया तो उसके बाद कोई भी अध्यारोप जानबूझकर करते हो तो चूँकि वह ज्ञात है इसलिये वह बंधन का कारण नहीं होता। साँप का चित्र बहुत बढ़िया बना है तो आनंद का कारण होता है, डरकर नहीं भागते क्योंकि अपना बनाया हुआ है। वैसे ही जब मानते हो कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' तब मानोगे कि अमुक छुएगा तो मैं अपवित्र हो गया। जब मन से बनते हो तब वह भी छूकर समझता है कि अपवित्र कर दिया। लेकिन जब बनते नहीं तब तुम समझते हो कि जैसे इसका शरीर हाड चाम का वैसे ही मेरा भी शरीर हाड चाम का है, उल्टा मैं टट्टी जाकर आया हूँ, इसने मुझे छू दिया तो यह अपवित्र हुआ। इसलिये लौकिक वैदिक व्यवहार अविद्याकृत होने के कारण जो परमार्थ रूप से ये लोग भिन्न भिन्न जीवों को मानना चाहे हैं वह वृथा कल्पना है, उसमें कोई तत्त्व नहीं है। इसी बात को अब अनुमान से स्पष्ट करते हैं।

Scanned by CamScanner

अद्वैत का श्रुति से विरोध तो नहीं है लेकिन अनुमान से विरोध है। पूर्व श्लोक में व्यवस्था के विरोध को उठाया था किकिसी एक को सुख, दूसरे को दुःख, एक ने ज्योतिष्टोम किया, दूसरे ने ब्रह्महत्या की—यह व्यवस्था अनुपपन्न हो जायेगी यदि भेद नहीं मानोगे तो। इसका परिहार भी कर दिया। किसी ने कहा कि अनुमान से ही जीवों को अलग अलग मान लो क्या हर्ज़ा है? अनुमान यह है— जीव वस्तुतः अलग-अलग हैं क्योंकि इनके रूप, कार्य और नाम विभिन्न हैं जैसे विभिन्न रूपादि वाले घटपटादि वास्तव में अलग-अलग होते हैं। तो कहते हैं कि वह भी नहीं बनता।

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ।।६।।

आकाश का रूप विभिन्न है। अर्थात् कहीं आकाश बड़ा दीखता है कहीं छोटा दीखता है। कमरे में कमरे जितना लम्बा चौड़ा, घड़े के अन्दर आकाश गोल, छोटा दीखता है, सुई की आँख के अंदर आकाश को देखो तो अण्डाकार और बहुत ही छोटा दीखता है। आकाश के रूपों में भेद है। इसी प्रकार आकाश का कार्य भी अलग अलग है। कमरे के आकाश में अपने सो सकते हैं, लेट सकते हैं, घड़े के आकाश में पानी भरकर ला सकते हैं। कमरे के आकाश में तो पानी भरकर नहीं ला सकते। सुई के आकाश में धागा डाल सकते हैं, घड़े के आकाश में धागा नहीं डाल सकते आदि भिन्न भिन्न कार्य भी आकाश से होते हैं। और बड़ा आकाश हो तो हवाई जहाज भी उड़ जाता है। समाख्या अर्थात् आकाश के नाम भी अलग अलग हैं। कमरे के आकाश को शालाकाश, घड़े के आकाश को घटाकाश, सुई के आकाश को सूच्याकाश कहेंगे। रूप, कार्य और नाम तीनों के अलग होने पर भी आकाश में भेद नहीं। आकाश सबमें एक ही है।

इसी प्रकार जीवों में एक को ब्राह्मण, एक को क्षत्रिय, एक को ब्रह्मचारी, एक को गृहस्थ कहते हो। एक को ब्रह्महत्यारा और एक को ब्रह्मपूजक, एक को ब्रह्मज्ञानी और एक को अज्ञानी कहते हो आदि ये सब अलग अलग समाख्यायें हैं। रूप भी अलग अलग हैं। ब्राह्मण सवेरे उठकर गायत्रीवंदन करता है, क्षत्रिय सवेरे तलवार पर धार करता है; ब्रह्मचारी सवेरे उठकर आहुति देता है, गृहस्थ सवेरे अग्निहोत्र करता है आदि उनके कार्य भी अलग अलग हैं। ब्रह्महत्यारा हर घर में जाकर कहता है कि मेरे से ब्रह्महत्या हो गई मेरे को कुछ खाने को दो। बारह साल तक उसे ऐसा करना पड़ता है तब ब्रह्महत्या के दोष की निवृत्ति होती है। और ब्रह्मपूजक कभी किसी से नहीं माँगेगा; उसके लिये माँगने का निषेध है। लड़का मर जाये तो अज्ञानी रोने लग जाता है और ज्ञानी अपना शरीर भी धू धू करके जल रहा हो तो हँसता रहता है। इत्यादि ये कार्य भी अलग-अलग हो गये। रूप, कार्य समाख्या सब अलग-अलग होने पर भी आत्मा एक ही है, ये सब भेद होने से आत्मा में भेद नहीं है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आत्मभेद को निमित्त करके जो व्यवहार होता है अर्थात् आत्मा को अलग अलग मानने वाले लोग आत्मा को अलग-अलग मानकर

Scanned by CamScanner

तन्निमित्तक जो व्यवहार करते हैं उन व्यवहारों की संगति इस श्लोक में बताते हैं। आत्मा को अलग अलग मानने वालों की व्यवस्था बन गई— यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह ब्रह्मचारी, यह गृहस्थी है। एक का काम दूसरा नहीं कर सकता। एक का फल दूसरा नहीं भोग सकता। वे सारे व्यवहार एक ही आत्मा के अन्दर केवल अविद्या के द्वारा किस प्रकार बनेंगे? अथवा एक ही आत्मा एक साथ ऐसा अलग अलग काम कैसे कर लेगा?— यह शंका है। कहने वाले का मतलब है कि सारे जीव एक दूसरे से अलग हैं क्योंकि उनके व्यवहार अलग अलग हैं। व्यवहार अर्थात् रूप, कार्य, समाख्या। जो व्यवहार एक से वह दूसरे से नहीं, जो एक करता है वह दूसरा नहीं करता। जीव एक दूसरे से अलग हैं क्योंकि व्यवहार अलग अलग हैं घट पट के भेद की तरह। जैसे घड़े का व्यवहार और कपड़े का व्यवहार अलग है। घड़े में पानी भरकर रखते हैं और कपड़ा पहनते हैं। व्यवहार भिन्न होने के कारण अलग पदार्थ हैं। इसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार भिन्न हैं तो आत्मा का भेद मानो, यह शंकावादी का अनुमान है। यह शंका किसी न किसी रूप में हरेक के मन में बनी रहती है क्योंकि व्यवहार-भेद से भेद की कल्पना मनुष्य करता है। इसलिये अभेद इस अनुमान से विरुद्ध है यह कहने वाले का तात्पर्य है।

कहते हैं कि यह जो तुमने हेतु दिया यह अनैकांतिक हेतु है। इसकी अनैकांतिकता बताते हैं। यह हमेशा नियम नहीं कि जहाँ जहाँ व्यवहारभेद हो वहाँ वहाँ चीज़ों का भेद होता है। जैसे कपड़े में पानी नहीं भरते यह अनैकांतिक है क्योंकि राजस्थान के अन्दर कपड़े की ही डोल बनाते हैं। उसको ट्रेन, मोटर आदि में लटका देते हैं। उसमें evaporation ज्यादा होने से पानी ज्यादा ठण्डा होता है। यह राजस्थान में तो चल जायेगा, बंगाल में नहीं चलेगा क्योंकि राजस्थान में सूखी जलवायु होने से जैसे ही पानी बाहर निकलेगा तो सूखने लगेगा और बंगाल में हवा में नमी ज्यादा होने से टपकने लग जायेगा। इसलिये सूखी जगह में कपड़े का घड़ा बन जाता। अतः पानी भरना कपड़े में नहीं होता, यह अनैकांतिक हो गया। घट पट के दृष्टांत से उसने बताया कि दोनों एक दूसरे का काम नहीं कर सकते और यह अनैकांतिक इसलिये है कि घड़े का काम कपड़ा भी कर सकता है।

इसी प्रकार कई बार मटके कुल्हड़ से कपड़े का काम भी हो जाता है। एक बार एक आदमी नहाने घर में नहा रहा था। बहुत से लोग नहाने घर में नंगे होकर नहाते हैं, वह भी नंगा नहा रहा था। उसका एक मित्र मिलने के लिये आया। मित्र ने इधर उधर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया, नौकर भी नहीं था। उसने सोचा कि कहीं नहाने घर में न हो, तो उसने नहाने घर के दरवाज़े को धक्का दिया, कुण्डा कमज़ोर था, धक्का देते ही खुल गया। वह आदमी अंदर नंगा था। वह घबराया तो लोटा ही सामने लगा लिया! यहाँ लोटे से कपड़े का काम हो गया। यह अनैकांतिक हो गया। इसलिये व्यवहार-भेद अनैकान्तिक हेतु है।

Scanned by CamScanner

जैसे इस लोक में एक आकाश है लेकिन घड़ा, कमण्डलु और अपवरक (कमरा) आदि के अन्दर कमण्डलु में आकाश बहुत छोटा, उससे बड़ा घटाकाश और उससे बड़ा अपवरकाकाश, यों छोटे बड़े का भेद है। उनके कार्य भी अलग अलग हैं। घटाकाश के अंदर पानी भर कर रख देते हो और उसमें पानी का धारण भी हो जाता है। घड़ा भरकर भी ले आते हो। शालाकाश हो तो उसमें आदमी सो लेता है। इनके नाम भी अलग अलग देखे जाते हैं जैसे घटाकाश, करकाकाश इत्यादि। रूप, कार्य और नाम तीनों के द्वारा जो व्यवहार होता है उससे वे अलग अलग लिये जाते हैं, अलग अलग समझने में आते हैं, तत्तद् व्यवहार के लिये उनकी ज़रूरत हो जाती है। ये जितने भी व्यवहार— रूप, नाम और कार्य अलग अलग बताये, ये सब आकाश के अन्दर ही होते हैं। घटाकाश, करकाकाश आकाश का ही नाम है। पानी घड़े में नहीं घटाकाश में भरकर लाते हो, शालाकाश में लेटते हो। रूप, कार्य समाख्या सारे के सारे व्यवहार आकाश में हो रहे हैं। अब यह जो रूप आदि भेद के द्वारा किया हुआ व्यवहार है इससे सचमुच आकाश अलग अलग थोड़े ही हो रहा है। व्यवहार भिन्न होने पर भी आकाशभेद नहीं है। सचमुच यदि पूछो तो आकाश में कोई भेद थोड़े ही है, एक ही आकाश है।

अगर एक ही आकाश न हो तो क्या मुसीबत हो जाये? घड़े को लायें तो पानी वहीं छूट जाये! अथवा अपने यहाँ बैठे हैं, पृथ्वी चल रही है, शालाकाश चला गया तो अपने यहीं रह जायेंगे और कमरा बाहर निकल जायेगा! इसलिये एक ही आकाश मानना पड़ेगा। आकाशभेद से सारा व्यवहार लुप्त हो जायेगा। अब आकाशभेद के निमित्त का जो व्यवहार है वह केवल उसकी उपाधि के दरवाज़े से होता है। सारा व्यवहार उपाधियों को लेकर ही है।

जैसे यहाँ आकाश एक परन्तु उपाधि के भेद से सारा व्यवहार, उसी प्रकार देहादि उपाधियों के जो भेद उनके द्वारा जीव में भेद की प्रतीति होती है। जीव घटाकाश की जगह है। आत्मा एक है, उपाधि के कारण भेद-व्यवहार हो गया। इस प्रकार आत्मा के विषय में निरूपण किया।

यह निरूपण किसने किया? बुद्धिमानों ने ऐसा निर्णय किया। क्योंकि मूर्ख लोग तो यही मानते हैं कि अलग अलग व्यवहार हैं तो जीव भी अलग अलग मान लो। लेकिन बुद्धिमान् कहता है कि इसमें कोई प्रमाण नहीं होने से ऐसा ही निश्चय है कि आत्मा एक और उपाधि के कारण भेद की प्रतीति है। हमेशा जब व्यवहार करो तो देखो कि अन्दर तो एक ही आत्मा है, शरीरों के कारण भेद-प्रतीति हो रही है।।६।।

●

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ।।७।।

Scanned by CamScanner

घटाकाश आकाश का विकार भी नहीं है। अर्थात् जैसे सोने से कुण्डल बना देते हैं ऐसे कोई आकाश को मोड़ तोड़कर थोड़े ही घटाकाश बना दिया जाता है। इसलिये घटाकाश आकाश का विकार भी नहीं है। और अवयव भी नहीं है। जैसे आदमी वृक्ष से डाली को काटकर अलग कर देता है ऐसे घटाकाश को हम आकाश से काटकर अलग नहीं कर सकते। आकाश में न विकार है और न अवयव हैं। जहाँ विकार और अवयव होता है वहाँ भेद तात्त्विक या सच्चा होता है लेकिन ऐसा आकाश में सम्भव नहीं। इसीलिये घटाकाश को आकाश का न अंग कह सकते हैं और न उसका विकार कह सकते हैं। ऐसे ही जीव न आत्मा का विकार है कि परमात्मा में कुछ अज्ञान आदि आ गया तो जीव हो गया; और न वह परमात्मा का कोई अवयव है कि परमात्मा से टूटकर अलग कर दिया गया हो। ये दोनों ही नहीं बनते हैं।

इस पर शंका करते हैं कि सचमुच ही घटाकाश आदि में रूप, कार्य आदि भेद-व्यवहार होने से वे आकाश के विकारादि हो जायें, क्या हर्ज़ा है? कहते हैं कि आकाश की निर्विकारता और निरवयवता सभी वादी मानते हैं। उसमें विकारादि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि किसी से सिद्ध नहीं है। इसीलिये परमार्थतः आकाश का घटाकाश विकार नहीं है। जैसे सोने का कुण्डल आदि, या जल का फेन, बुदबुदा, बरफ विकार होते हैं ऐसे आकाश का घटाकाश कोई विकार नहीं है। टुकड़े भी नहीं कह सकते, जैसे पेड़ की शाखा एक टुकड़ा होता है। ऐसे ही परमार्थ सद्रूप महाकाशस्थानीय आत्मा का घटाकाशस्थानीय जीव कभी भी अवयव या विकार नहीं होता है। इसलिये आत्मा को अलग अलग मानकर किया हुआ जो व्यवहार है वह मिथ्या ही हो सकता है, सत्य नहीं हो सकता।।७।।

●

यह बताया कि जीव ब्रह्म का न अंश और न विकार है। अब कोई पूछता है: एक बात बताओ कि फिर हम जीवात्माओं को ऐसा अनुभव क्यों होता है कि हम पापी हैं, हम दुरात्मा हैं, हम कामी, क्रोधी हैं? भगवान् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, वह निष्काम है, निष्क्रिय है। ऐसी हमको प्रतीति भी होती है और अनेक स्तोत्रों इत्यादि में ऐसा कहा हुआ भी है। जब हमारी भी ब्रह्मरूपता है तो ऐसा क्यों लगता है कि भेद है? इसका जवाब देते हैं—

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानां आत्मापि मलिनो मलैः ।।८।।

छोटे छोटे बालक होते हैं अर्थात् अविवेकी होते हैं। जिन्हें विवेक नहीं होता उन्हीं को बालक कहते हैं। मूर्ख लोग इसलिये बालक को अच्छा मानते हैं! छोटा बालक बादल को, धूल को या धुएँ को देखता है; मारवाड़ में जाओ तो धूल दीखती है, कलकत्ते

Scanned by CamScanner

जाओ तो धुआँ और आबू में बादल दीखते हैं, ये सब मल हैं। इनके कारण बालक समझता है कि आज आकाश बड़ा धुँधला है, या आकाश बड़ा काला है। क्या आकाश कभी भी काला या मलिन हो सकता है? लेकिन मूर्ख होने के कारण आकाश और धूल या धुएँ को अलग अलग नहीं देखता है। दोनों को एक कर देता है। कई बार लोगों से पूछते हैं कि 'कैसे जल गये?' तो कहते हैं कि 'घी से जल गये।' उनसे कहो 'अरे महामूर्ख! घी से भी कोई जल सकता है। हम घी में पूरा का पूरा हाथ डाल देते हैं तो भी नहीं जलता है।' कहता है 'पूरी डाल रहे थे, घी से जल गया।' उसके लिये चूल्हा जलाना पड़ा। चूल्हा जलाने से आग हुई। घी के परमाणुओं के बीच में जो आग है उससे जले, घी से नहीं जले। मूर्ख यह नहीं समझता। कहता है घी से जला। जैसे वहाँ वैसे ही यहाँ भी धूल अलग और आकाश अलग है लेकिन मूर्ख एक समझ लेता है।

वैसे ही जो अबुद्ध पुरुष, अज्ञानी पुरुष है उसको अपने ज्ञानस्वरूप के बीच बीच में काम क्रोध इत्यादि धूल भी दीखती है और वे उसके ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित भी हो रहे हैं। वह समझता है कि मैं अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा कामी बन गया, काम से एक हो गया। विवेकी जानता है कि काम क्रोध आदि विकार होने पर भी वह आत्मा का क्या कर रहे हैं? ज्ञान तो वैसा का वैसा ही है। निष्कामता को जैसे मैं जानता हूँ ऐसे ही सकामता को जानता हूँ। क्रोध को जैसे मैं जानता हूँ ऐसे ही अक्रोध को जानता हूँ। इसलिये ज्ञान में कोई फ़रक नहीं आया। बादल, धूल, धुआँ जो हो, आकाश में कोई फ़रक नहीं आता। लेकिन जो अप्रबुद्ध हैं, अज्ञानी हैं, जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ, वे समझते हैं कि अंतःकरण, देह आदि के मल से आत्मा अर्थात् ज्ञान मलिन होता है। दोनों को अलग तो समझते नहीं, ज्ञान ही तदाकार हो गया ऐसा समझते हैं।

शंका हुई थी कि यदि जीव ब्रह्म का अंश और विकार न हो और ब्रह्म यदि उपाधि में अनुप्रविष्ट हो कर जीव बना तो फिर जीव को राग द्वेष आदि मल वाले रूप की प्रतीति क्यों? उसका जवाब दे दिया कि जैसे उपाधिकृत भेद-बुद्धि के निबन्धन से घटाकाश, मठाकाश, सूच्याकाश, अपवरकाकाश आदि उपाधिनिमित्तक भेद हो गये, इस भेदबुद्धि से प्रयुक्त रूपभेद, कार्यभेद और नामभेद भी हो गये ऐसे ही देहादि उपाधियों के भेद से जीवभेद और उससे फिर व्यवहारभेद संभव हो जाता है। इसलिये अविद्या से विद्यमान लगती उपाधियों से हममें रागादि मल प्रतीत होते हैं, वे सचमुच नहीं हैं।

साधारण आदमी समझता है कि व्यवहार-भेद से बुद्धि-भेद है। भाष्यकार कह रहे हैं कि व्यवहारभेद से बुद्धिभेद नहीं। पहले भेद-बुद्धि को उत्पन्न करते हो तब तुम रूप कार्य आदि भेदव्यवहार करते हो। भेदज्ञान पहले तब भेद व्यवहार है। 'भेदबुद्धिनिबन्धनो भेदव्यवहारः।' प्रत्यक्ष में देख लो : हम लोगों की पीढ़ी वालों को यह निश्चय था कि हम ब्राह्मण हैं और वह अमुक है, यह भेद-निश्चय था। इसलिये अगर उसे छू लेते थे तो बिना नहाये रोटी नहीं खा सकते थे, खानी पड़े तो उलटी आ जाये। भेदबुद्धि

Scanned by CamScanner

थी तो तन्निमित्तक व्यवहार का भेद था। अगली पीढ़ी में अपने लड़कों को हम समझाते हैं कि ऐसा मत करो। उन्हें निश्चय है कि हम सब मनुष्य एक हैं। उनको समझाओ तो अपने सामने चाहे न छुएँ, लेकिन छू कर खाने से उन्हें उलटी नहीं आती। अगर खाने के बाद पता भी लग जाये कि यह अमुक था तो ज्यादा से ज्यादा कहेंगे कि 'अब तो खा ही लिया, क्या हो सकता है?' ऐसा नहीं कि सुनने के साथ उलटी आ जाये, क्योंकि भेद-बुद्धि नहीं है। एक बार के. एम. पन्निकर के संस्मरण पढ़ रहे थे जो चीन में राजदूत थे। उन्होंने लिखा कि एक बार चाऊ एन लाई और माओ के साथ भोजन कर रहे थे। चाऊ ने पूछा कि 'अमुक डिश कैसी बनी है?' कहा—'बड़ी अच्छी बनी है।' तब उसने कहा कि यह साँप बनाया गया है। वे मांसभक्षी लेकिन हिन्दू थे। लिखते हैं कि साँप सुनते ही मेरे पेट में बल पड़ने लग गये। भेदबुद्धि निमित्तक व्यवहार हो गया! चाऊ को नहीं हो रहा था क्योंकि भेदबुद्धि नहीं थी कि मुर्गी खाई जाती है, साँप नहीं खाया जाता है। जहाँ जहाँ भेदनिश्चय होता है वहाँ वहाँ रूप, कार्य आदि भेदों का व्यवहार होता है। साधारणतः आदमी समझता है कि पदार्थ में भेद है इसलिये भेद का निश्चय है। लेकिन भिन्न भिन्न संस्कृतियों को देखने पर पता लगता है कि जिसका जैसा निश्चय है उसके जैसा ही भेदव्यवहार चलता रहता है।

यह ज़रूरी नहीं कि तुम्हारा भेदव्यवहार उसके यहाँ हो। हम लोगों को वर्णों के निमित्त से तो भेद-व्यवहार समझ में आता है लेकिन जब सफेद लोग काले लोगों को घृणित समझते हैं तो समझ में नहीं आता। कहते हैं racism, apartheid, चमड़ी के रंग को लेकर भेदभाव बहुत ख़राब चीज़ है। जैसे हमारा ब्राह्मणादि व्यवहार, वैसे यूरोप वालों का काले सफेद का व्यवहार होता है। उन्हें काले को देखकर घृणा होती है। हमारे यहाँ दक्षिणभारत का तवे की तरह काला ब्राह्मण होगा तो अंग्रेज कहेगा 'इसको हटाओ।' वह समझता है कि 'मैं ब्राह्मण, रोज़ वेदपाठ करने वाला, मेरे को नहीं छूता!' प्रायः मनुष्य समझता है कि व्यवहार के कारण भेद-बुद्धि है, सच्ची बात है कि भेद-बुद्धि के कारण व्यवहार है। अपने यहाँ भी ऐसा है। पंजाब में देखा है कि कितनी भी सुन्दर लड़की हो लेकिन काली हो तो पंजाब के लोग उससे ब्याह नहीं करते। गोरी चिट्टी हो, नाक नक्श कैसा भी हो, चलती है। जैसा जैसा निश्चय हो वैसा वैसा हो जाता है। भाष्य में इसका सूत्र दिया है।

जैसे यह है ऐसे ही देहरूप उपाधियों से जीव अलग अलग होते हैं इसलिये हमको निश्चय है कि शरीर अलग हैं तो जीवात्मा अलग अलग होने चाहिये। निश्चय के कारण ऐसी प्रतीति होती है। लोग समझते हैं कि दोनों अलग अलग व्यवहार करते हैं तो दोनों के पीछे जीवात्मा अलग अलग ज़रूर होंगे, नहीं तो ब्यवहार कैसे? लेकिन बात बिल्कुल उल्टी है। पहले भेद के संस्कार डाले फिर तत्प्रयुक्त होकर जीव-भेद का अनुमान करते रहते हैं। उसी के द्वारा आगे चलते हैं : जन्म हुआ शरीर का, हम मानते हैं कि जीवात्मा का जन्म हो गया। शरीर मरा तो मानते हैं कि जीवात्मा मर गया। यदि मन के अन्दर

Scanned by CamScanner

सुख हुआ तो हम मानते हैं कि जीवात्मा सुखी हो गया, मन में दुःख हुआ तो मानते हैं कि जीवात्मा दुःखी हो गया। मन रजोगुणी हो गया तो मानते हैं कि जीवात्मा रजोगुणी, मन तमोगुणी तो जीवात्मा तमोगुणी हो गया। ऐसा मानते हैं चूँकि इस प्रकार से जो व्यवहार है वह व्यवस्थित है ऐसी हमारी आस्था है। अपनी आस्था के कारण हमने जीवभेद से व्यवहार व्यवस्थित कर लिया अर्थात् हमारा ऐसा निश्चय है इसलिये अविद्यमान हुए को ही हम ऐसा मान रहे हैं। वहाँ जीवात्मा अलग अलग है नहीं, लेकिन जीवात्मा न होते हुए भी अपनी जो आस्था है उस आस्था के निमित्त से हम मान रहे हैं। वह आस्था अविद्यमान पदार्थ की है, भेद न होने पर भी हम मान रहे हैं।

उसी से आत्मा को क्लेश वाला भी मानते हैं कि यह जीवात्मा दुःखी है। कोई कोढ़ी है, उसका पैर सड़ रहा हो तो प्रतीति होती है कि जीव बड़ा दुःखी है। दूसरा खूब आनन्द से वातानुकूल में बैठा हो तो सोचते हैं कि जीव बड़ा सुखी है। दुःखी सुखी तो शरीर मन है, जीव का क्या लेना देना? उसी के अनुसार फिर कर्म-व्यवस्था भी हमने मान ली कि यह कोढ़ी है तो पूर्व जन्म में पाप किये होंगे। यह वातानुकूल में बैठा है तो पूर्व जन्म में पुण्य किये होंगे। एक बार जीवात्मा माना तो एक के बाद एक भ्रांतिज्ञान होता जायेगा। कर्म माना तो अब कर्म का फल अर्थात् कर्म का विपाक माना। पतंजलि ने विपाक लिखा है, भगवान् भाष्यकारों ने सीधा ही फल कह दिया। कर्म का पकना ही फल है। फल सुख दुःख हो गये। उसका जो संस्कार रह जाता है उसे आशय कहते हैं। उसी को भाष्यकारों ने मल कह दिया। उसकी जो मैल बच जाती है, आत्मा में उसे भी मान लेते हैं। सांख्यवादी और योगी कहते हैं कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय जिसमें न हों वह परमात्मा और जिसमें हों वह जीवात्मा। किन्तु ये क्लेश कर्म आदि तो केवल अविद्याकृत ही सिद्ध होते हैं। वस्तुतः नहीं हैं।

इस बात को दृष्टांत से प्रतिपादित करने की इच्छा से यह कहा : जैसे लोक में बाल अर्थात् अविवेकी हैं, जो विवेक नहीं कर सकते। विवेक करने की असामर्थ्य ही बाल्य है। उम्र से बाल नहीं होते। जो चीज़ों को अलग अलग करके न समझ सकें वे ही बालक हैं। उम्र में चाहे बुड्ढा हो जाये, लकड़ी टेक कर चलता रहे, लेकिन फिर समझे कि यह मेरा पुत्र, यह मेरा धन, यह मेरी सम्पत्ति है, वह स्वयं बालक ही है! उम्र से घबराना नहीं चाहिये। शास्त्रकारों ने कहा है कि ब्राह्मणों में पूज्य वह होता है जिसमें ज्ञान ज्यादा हो। क्षत्रियों में पूज्य वह जिसमें बल ज्यादा हो। वैश्यों में पूज्य वह जिसके पास धन ज्यादा हो। उम्र से पूजा तो शूद्र लोग करते हैं। जब कोई कहे की 'उम्र में आप मुझे बड़ा मानें', तो समझ लेना चाहिये कि शूद्र है तभी ऐसा कह रहा है। इसलिये जब तक विवेक-ज्ञान उत्पन्न न हो जाये तब तक उसे वेद आदि शास्त्रों में बालक ही माना जाता है क्योंकि यही ब्राह्मणों की परम्परा है। यहाँ आबू में बादलों से भ्रम हो जाता है, मारवाड़ में धूल से, और कलकत्ते में धुएँ से हो जाता है। इन सब मलों से मलिन

Scanned by CamScanner

हुआ गगन सचमुच मल वाला नहीं होता। जो सचमुच आकाश के रूप को जानता है उसको कभी यह नहीं होता कि इसमें दोष आ गया। उसी प्रकार जो पर-आत्मा है वह विज्ञाता है, केवल जानने वाला प्रत्यगात्मा है। जो तो प्रत्यगात्मा के विवेक से रहित हैं उनको लगता है कि प्रत्यगात्मा में क्लेशादि सब दोष आ गये। आत्मा का विवेक करने वाले को ऐसा नहीं होता है।

कैसे? दृष्टांत दिया कि ऊषर देश जहाँ बालू ही बालू है वहाँ जिसे प्यास लगी हुई हो उसे पानी दिखाई देता है। पानी, पानी का फेन, तरंग भी दिखाई देते हैं, जबकि वहाँ कुछ भी नहीं है सर्वथा ऊषर है, फिर भी उसको वहाँ सब कुछ दिखाई देता है। एक प्रयोग मनोवैज्ञानिकों ने किया था जिसमें पाँच सात आदमियों को चार दिन तक भूखा रखा और बाकी पाँच सात को रोज़ रोटी खिलाते रहे। चार दिन के बाद उन सबको एक कमरे में बैठाकर थोड़ी दूर पर एक जूता जलाया। जिनको रोज़ खाने को मिल रहा था उन्हें लगा कि चमड़े की बदबू आ रही है और जो भूखे थे उन्हें हुआ कि कहीं मांस पक रहा है। जैसा संस्कार उदय होता है उसका कोई न कोई निमित्त होता है। रस्सी में एक को साँप, दूसरे को जलधारा दीखती है तो उसका कारण होता है। जिसके अन्दर भय वाला संस्कार उदय होगा उसे साँप और जिसका भय का संस्कार उदय नहीं होगा उसे जलधारा दीखेगी। लेकिन दूसरों के इन आरोपों से रस्सी साँप आदि के संबंध वाली नहीं हो जाती। उसी प्रकार आत्मा अबुद्धिमान् के द्वारा क्लेश आदि मल के आरोप से मलिन नहीं होता है।।८।।

इसी बात को अगले श्लोक में और स्पष्ट करते हैं —

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ।।९।।

जीव का मरण होने पर धर्म के अनुरोध से स्वर्ग चला जाता है अथवा अधर्म ज्यादा हो तो नरक चला जाता है। यह जो आजकल बहुत से लोग कह देते हैं कि यहीं स्वर्ग नरक है, ये बेकार की बातें हैं। स्वर्ग नरक लोक हैं। जिसका न ज्यादा धर्म और न ज्यादा अधर्म है वह फिर यहीं पैदा हो जाता है। लोकान्तर जाकर जब इसका कर्मफल-क्षय हो जाता है तो वापिस आ जाता है। आकाश के अन्दर चाहे जो आना-जाना हो, आकाश वैसा ही रहता है। ऐसा नहीं कि आकाश के अन्दर कुछ आना जाना न हो, वह तो होगा, लेकिन पता है कि आकाश की क्रिया नहीं है। वहाँ जाकर जब पुण्य-पाप ख़तम हो गये तो फिर वापिस आ गया। जब वापिस आयेगा तो किसी न किसी योनि में जन्म भी ले लेगा। फिर वहाँ भोग करके अच्छे बुरे कर्म करके ऊपर नीचे जायेगा। इस चक्कर में लगा रहता है। इस प्रकार इहलोक और परलोक में संचरण व्यवहार आदि सब करता है। लेकिन जैसे आकाश के अन्दर ये सब होने से कोई फ़रक नहीं पड़ता ऐसे ही आत्मा वैसा का वैसा बना हुआ है, उसके अन्दर यह सब होता जा रहा है।

Scanned by CamScanner

जैसे घटाकाश पैदा हो गया जब घड़ा बनाया, फिर घड़े को तोड़ा तो लगा कि घटाकाश नष्ट हो गया। घटाकाश चल रहा है, घटाकाश वापिस ला रहे हैं, घटाकाश यहाँ बैठा हुआ है। जैसे ये सब प्रतीतियाँ होने पर आकाश में भेद नहीं होता वैसे ही स्वर्ग नरक में, सारे शरीरों में— मनुष्य, पशु कोई भी शरीर हो— जाने पर भी आत्मा के अन्दर जन्म मरण आदि कुछ नहीं है। आत्मा आकाश जैसा है यह निश्चय कर लेना चाहिये।।९।।

●

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ।।१०।।

संघात समूह को कहते हैं। शरीर समूह है। शरीर के अलग अलग अंग प्रत्यंग, फिर उसमें ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि; सब मिलकर ही इसका नाम शरीर है। इसलिये शरीर को संघात कहते हैं। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि जितने भी संघात अर्थात् जितनी भी उपाधियाँ हैं, वे चाहे देवताओं की, चाहे मनुष्यों की, चाहे पशु पक्षियों की हों, सारे संघात स्वप्नवत् हैं। जैसे स्वप्न में भिन्न-भिन्न संघात दिखाई देते हैं वैसे ही यहाँ भी सारे भिन्न-भिन्न संघात दिखाई देते हैं। स्वप्न में सब संघातों को चलाने वाले केवल एक तुम ही हो। स्वप्न में वे अलग अलग दिखाई देते हैं। एक शरीर स्वप्न में चोरी करके भागता है, दूसरा शरीर पुलिसमैन बनकर पकड़ने दौड़ता है। क्या चोर या पुलिसमैन अलग अलग आदमी हैं? स्वप्न देखने वाला एक ही है। वही एक जगह चोर को दौड़ा रहा है और वही पुलिसमैन होकर पकड़ने जा रहा है।

इसी प्रकार यहाँ है वह एक परमात्मा ही और चोर बनकर दौड़ रहा है पुलिस बनकर दौड़ा रहा है। हमको भ्रम होता है कि चोर और पुलिस का आत्मा अलग अलग है। यह सब आत्मा की माया से अर्थात् जो अपनी शक्ति है उससे उत्पन्न होता है। सारा संसार अनंत रूपों में बन जाना परमात्मा की अपनी शक्ति है। किसी दूसरे कारण से नहीं बनता। आत्ममाया अर्थात् परमात्मा अपनी माया के द्वारा ये सारे भेदों वाला हो जाता है यह निश्चय होना है। जहाँ यह निश्चय किया वहाँ काम बना। लेकिन यह निश्चय ही नहीं होता है क्योंकि लोग कहते हैं कि ब्रह्मा विष्णु आदि देह तो अत्यंत पूज्य हैं। उनके अन्दर आत्मा में कुछ विशेषता होती होगी। ऐसा मनुष्य के मन में बैठा रहता है इसलिये उसमें आधिक्य की कल्पना हो जाती है।

रामानुजाचार्य जैसों को भी यह दिक्कत आती है। छांदोग्य उपनिषद् में जहाँ भगवान् का वर्णन किया है वहाँ कहा है कि भगवान् पुण्डरीकाक्ष हैं, उनकी आँखें लाल हैं। कैसी लाल हैं? वहाँ बताया है कि जैसे बंदर के चूतड़ होते हैं। रामानुजाचार्य को लगा कि वेद बड़ी खराब पुस्तक है, भगवान् की आँखों को बन्दर के चूतड़ जैसा बताया! वहीं से उन्होंने अलग सम्प्रदाय शुरू किया। विचार करके देखो तो परमेश्वर जैसे विष्णु की

Scanned by CamScanner

आँख में वैसा बन्दर के चूतड़ में। लेकिन लोग परमेश्वर की इस सर्वव्यापकता को नहीं समझ पाते इसलिये कहते हैं उसे कुछ खास मानना चाहिये, एक जैसा कैसे मान लोगे? यह जो आधिक्य-कल्पना होती है यही उसके असत्यत्व की सिद्धि में बाधक हो जाती है। मूढ-दृष्टि से चाहे कल्पित भेद मान लो लेकिन विचार करके देखो तो जो भी शरीर है वह पांच-भौतिक है। इसलिये ये लोग चिन्मय देह और दिव्य देह आदि न जाने क्या क्या कल्पनायें करते रहते हैं! शरीर तो पाञ्च-भौतिक ही होंगे। नहीं तो विष्णु-दर्शन कैसे हो? रूप होगा तो वहाँ रूपतन्मात्रा अग्नितत्त्व भी होगा। स्पर्श होगा तो वहाँ वायु भी होगी। भगवान् यदि बोलकर कहते हैं 'वरं ब्रूहि' तो आकाश तत्त्व भी अवश्यंभावी है। भगवान् के दिव्य शरीर से दिव्य गंध निकलती है तो पृथ्वी तत्त्व भी है तभी निकलती है, नहीं तो गंध रहेगी कहाँ। जहाँ जहाँ देह है वहाँ वहाँ पांचभौतिक ही हैं। दिव्य देह आदि की वृथा कल्पना है। यदि वहाँ चित् बिना किसी उपाधि के रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श वाला बन जाता है तो फिर हमारे में ही पंचभूतों की सिद्धि कैसे करोगे? हमारा शरीर भी पांचभौतिक रूप, रस आदि से सिद्ध करते हो। जो हेतु वहाँ वह यहाँ भी दो। वहाँ बिना उपाधि के भेद मानते हो तो यहाँ उपाधिप्रयुक्त भेद कैसे? लेकिन कहते हैं कि वहाँ कुछ विशेषता मानो। इसमें कोई भी युक्ति उन लोगों को मिलती नहीं है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि घट की जगह शरीर आदि संघात हैं। स्वप्न में देखे गये देह आदि संघात सारे के सारे स्वप्न द्रष्टा के द्वारा ही चल रहे हैं। वहाँ भी कोई उत्तम देह, कोई मध्यम देह है। स्वप्न में भी कई बार परमेश्वरदर्शन हो जाता है। मायावी भी माया से कितने शरीरों को दिखा देता है! एक बार एक ईजिप्शियन जादूगर ने एक मुर्गी में से दूसरी मूर्गी, दूसरी में से तीसरी मुर्गी निकाली! वहाँ है कुछ नहीं। ऐसे ही जाग्रत् के उच्च-नीच शरीर समझ लो।

'आत्ममाया' का अर्थ कर दिया आत्मा की माया शक्ति अर्थात् अविद्या शक्ति। यह नहीं कि अविद्या कोई आत्मा से भिन्न है। आत्मा का ज्ञान न होना ही आत्ममाया है। अज्ञात आत्मा है, उसके द्वारा ही यह सब संसार खड़ा हो जाता है। ब्रह्मा विष्णु से चींटी तक सब माया बना देती है। पारमार्थिक दृष्टि से; अर्थात् जब आत्मतत्त्व को जान लो, तो कुछ नहीं। जब तक नहीं जाना तब तक सारा संसार खड़ा करते रहते हैं। क्यों करते हैं? आत्मा की प्रसन्नता के लिये करते रहते हैं। यह सब देखकर मज़ा आता रहता है। जो नहीं समझता है वह दुःखी हो जाता है। जैसे मान लो मायावी रुपया निकाल रहा हो और सोने की गिन्नियाँ ही निकालने लगे तो जिसे पता न हो कि मायावी है उसकी छाती धुड़क धुड़क करने लगे कि कहीं गोल्ड कन्ट्रोल वाले पकड़ न ले जायें। जिसे पता है कि माया है, उसे कुछ नहीं होगा।

एक घटना हमारी देखी हुई है। एक बुड्ढा आदमी रास्ते में जा रहा था। उस समय लार्ड कर्ज़न गवर्नर जनरल थे। एक पुलिस वाला आकर उस बुड्ढे से बोला 'बिना मतलब रास्ते के बीच में क्यों जा रहा है?' बुड्ढे ने कहा 'रास्ता पार करना था इसलिये चला

Scanned by CamScanner

गया।' पुलिस वाले को तो ऐसे ही बिना मतलब तंग करना था, इसलिये और दो चार बातें सुना दीं। बुड्ढे ने देखा कि सामने से एक सर्जेन्ट आ रहा है। वह उसके पास चला गया और उससे जाकर कहा 'इस पुलिस वाले ने मेरे से पाँच गिन्नियाँ छीन ली हैं।' सर्जेन्ट ने पुलिस वाले से पूछा 'तूने इसकी पाँच गिन्नियाँ ले ली हैं?' पुलिस वाले ने कहा 'यह झूठ बोलता है।' बुड्ढे ने कहा 'इसने वर्दी की जेब में रखी हैं।' उसने खोलकर दिखाया तो उसमें से पाँच गिन्नियाँ निकल आई। सर्जेन्ट ने बुड्ढे से पूछा 'कैसे मानें ये तेरी गिन्नियाँ हैं?' उस बुड्ढे ने कहा 'तीन पर वाइसराय की छाप है और दो पर गवर्नर जनरल की छाप है।' सर्जेन्ट दोनों को लेकर थाने चल दिया। पुलिस वाला बहुत रोया गाया कि यह झूठ बोलता है। जब थाने के पास पहुँचे तो बुड्ढे ने उस पुलिस वाले से कहा 'आगे किसी बुड्ढे को तंग तो नहीं करेगा?' पुलिस वाला उससे माफी माँगने लगा। तब उस बुड्ढे ने सर्जेन्ट से कहा 'जाने दीजिये, यह केस नहीं बनेगा।' वह नहीं माना, कहा 'यह फिर किसी को तंग करेगा, पुलिस केस कैसे नहीं बनेगा?' बुड्ढे ने कहा 'लेकिन वे गिन्नियाँ हैं कहाँ?' सर्जेन्ट ने हाथ की मुट्ठी खोल कर देखा तो गिन्नियाँ वहाँ नहीं थी! गोरा चक्कर में पड़ा। बुड्ढे ने कहा 'इसने मेरे को तंग किया था, मैंने भी इसे तंग कर दिया। बाकी गिन्नियाँ कुछ नहीं थीं।' जो नहीं जानता है वह डर जाता है लेकिन जिसे पता हो कि जादूगर है, उसे कुछ भय नहीं होता।

इसी प्रकार जो समझता है संसार आनन्द की जगह है वह कभी दुःखी नहीं होता और जो नहीं समझता है वह दुःखी होता रहता है कि ऐसा हो गया, वैसा हो गया। अतः माया के द्वारा ही प्रत्युपस्थापित है, सचमुच कुछ नहीं है। यदि ऐसा मानना चाहो तो भी कुछ नहीं बिगड़ता है कि तिर्यक् पशु आदि की अपेक्षा मानव देह में और मानव देह की अपेक्षा देवादिकों के कार्यकरण संघात में कुछ पवित्रता ज्यादा है, सत्त्वगुण ज्यादा है। कोई हर्ज़ा नहीं। या सबके अन्दर एक जैसा है, त्रिगुणात्मक प्रकृति मानो, तो भी कुछ हर्ज़ा नहीं। दोनों में से किसी भी प्रकार से कभी परमार्थतः, सच्ची, सिद्धि नहीं होती। एक जैसा भी मानो तो सत्य सिद्धि नहीं और कम-बेशी मानो तो वह भी सच्चा नहीं सिद्ध होता। इसलिये कुछ फ़रक नहीं पड़ना है क्योंकि किसी प्रकार से किसी भी हेतु से यह सत्य सिद्ध नहीं हो सकता। उत्कृष्ट होने से इनके अविद्याकृतत्व में अन्तर नहीं आता। ब्रह्मा आदि चाहे उत्कृष्ट देह हों, लेकिन अविद्याकृतत्व एक जैसा ही है इसलिये इनमें भेद की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसलिये कहा कि अविद्या के द्वारा ही किये हुए हैं, परमार्थतः नहीं हैं, यही निश्चय है। इस प्रकार सारे व्यवहार उपपन्न हो गये बिना आत्मभेद की ज़रूरत पड़े।।१०।।

●

अब तक यह प्रतिपादित किया कि जीव स्वरूप से अद्वितीय ब्रह्म ही है। अब इस विषय में श्रुतियों में जो जीव का स्वरूप बताया है उसका विवेचन करते हैं कि श्रुतियों के अन्दर जीव को बताया तो किस तात्पर्य से बताया?

Scanned by CamScanner

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ।।११।।

कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भाग की तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नरसमय कोश से प्रारंभ करके आनंदमय कोश तक बताया। अन्नरसमय पहला कोष बताया फिर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय यों पाँच कोश बताये। कोश मायने म्यान या ढक्कन। जब यह कहा कि ये कोश हैं तो इसका मतलब हुआ कि उन कोशों के अन्दर रहने वाला आत्मा ही वास्तविक चीज़ हुई। जिन बाह्य अंगों का वर्णन कोश शब्द से किया उसी से पता लग गया कि ये कोश आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। कोश शब्द का प्रयोग ही यह बता देता है कि इन सारे कोशों के अन्दर रहने वाला आत्मा ही वास्तविक हुआ। उसी को जीव शब्द से कह दिया। यहाँ श्रुति का तात्पर्य जीव को पाँच कोशों से युक्त बताने में नहीं है। जैसे आकाश में तरह तरह के बर्तन बनाते चले जाओ लेकिन आकाश घटाकाश आदि शब्दवाच्य होने पर भी निरवयव रहता है। ऐसे ही आत्मा के ऊपर चाहे जितने कोश चढ़ा लो, आत्मा निर्विकार रहता है। यह तैत्तिरीय उपनिषद् का तात्पर्य बताया कि उत्पत्ति, विनाश व स्थिति से रहित जीव की न उत्पत्ति होती है, न जीव की स्थिति और न जीव का नाश होता है। एकमात्र आत्मा में ही जीवभाव की कल्पना कर ली जाती है। जिस समय तुम कहते हो मैं हूँ उस समय ही नहीं हो, वस्तुतः ब्रह्म है। उत्पत्ति, स्थिति और नाश से रहित जो अद्वय आत्मतत्त्व है, अद्वितीय आत्मस्वरूप है, उसमें श्रुति की प्रमाणता दिखाने के लिये श्रुतियों के वाक्य बताते हैं।

वाक्य का मतलब होता है तात्पर्य को बताने वाला शब्दसमूह। हिन्दी वाले वाक्य का मतलब sentence समझते हैं। हमारे यहाँ वाक्य का यह अर्थ नहीं है। तात्पर्य-प्रतिपादक ही वाक्य कहा जाता है। एक तात्पर्य से प्रतिपादन जहाँ होगा वहाँ एकवाक्यता और अनेक तात्पर्यों का प्रतिपादन होगा तो अनेक वाक्य होंगे। यहाँ तात्पर्यप्रतिपादक वाक्यों का उपन्यास करते हैं।

'रसादयः' से अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ले लेना। इनको कोश कहा लेकिन ये कोई सचमुच ऊपर आकर बैठ गये हों ऐसा नहीं है। इसलिये लुप्तोपमा समझना। कोश की तरह हैं अर्थात् सचमुच अन्नरसमय आदि कोश नहीं हैं। जैसे रस्सी में सर्प की कल्पना हो तो सचमुच सर्प थोड़े ही रस्सी पर आकर बैठ गया, अज्ञान से भी आकर नहीं बैठा। वह तो केवल मान लिया गया है। इसी प्रकार यहाँ कोशों का मतलब कोई समझे कि जैसे घड़ा लौकिक सच्चा होता है ऐसे ही शरीर आदि भी वास्तविक सच्चे होंगे, तो ऐसी बात नहीं है। इसलिये कह दिया कोश की तरह अर्थात् लुप्तोपमा है।

कोश कैसे? जैसे तलवार के ऊपर म्यान चढ़ा दी जाती है। तलवार की म्यान तो समान सत्ता वाली चीज़ है, ऐसे आत्मा और ये पंचकोश समान सत्ता वाले नहीं हैं।

Scanned by CamScanner

अन्नरसमय आदि की सत्ता व्यावहारिक सत्ता और आत्मा की सत्ता पारमार्थिक सत्ता है। इसलिये कह दिया तलवार की म्यान की तरह ये कोश हैं।

इनका क्रम बताया उत्तरोत्तर अर्थात् बाद बाद में। आनंदमय की अपेक्षा विज्ञानमय बाहर, विज्ञानमय की अपेक्षा मनोमय बाहर, मनोमय की अपेक्षा प्राणमय बाहर और प्राणमय की अपेक्षा अन्नरसमय बाहर है। आनंदमय भी ब्रह्म के बाहर है जो सबके अन्दर बैठा हुआ प्रतिष्ठारूप है। श्रुति के बिना लोग ज्यादा से ज्यादा आनंदमय तक पहुँचते हैं। योगाभ्यासी भी योग के द्वारा आनंदमय में ही पहुँचता है। सगुण उपासना करने वाला भी सगुण-उपासना से आनंदमय तक पहुँचता है। आनंदमय के अन्दर और कोई नहीं केवल उपनिषद् ही ले जाती है। इसीलिये कहा 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'।

उपनिषदों को छोड़कर आनंदमय के अन्दर जाने की हिम्मत कोई नहीं करता क्योंकि वहाँ आनंदमय के रस में डूब जाते हैं। और ठीक भी है; क्योंकि आनंदमय के अन्दर वह जाये जो सत्य का दर्शन करना चाहे। जो लोग सत्य का दर्शन नहीं करना चाहते, केवल दुःख से हटकर सुख प्राप्त करना चाहते हैं वे आनंदमय कोश से आगे कैसे जा सकते हैं? उनका उद्देश्य ही वह है। आत्मा की प्राप्ति वह नहीं कर सकता तो कुछ चाहता है, चाहे सुख ही चाहता हो। आत्मप्राप्ति तो वह कर सकता है जिसे सत्य चाहिये। वह सत्य चाहे अशांति दे, चाहे दुःख दे इसकी कोई चिन्ता नहीं। जो सत्यान्वेषक है उसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है क्योंकि ब्रह्म सत्यस्वरूप है। जो दुःख-निवृत्ति आदि चाहते हैं उनके लिये दूसरे साधन हो सकते हैं।

'व्याख्याता विस्पष्टमाख्याता'। उनमें से प्रत्येक कोश के पाँच पाँच अंग बताये। आनंदमय के भी पाँच अंग मोद, प्रमोद इत्यादि बताये, तब कहा 'ब्रह्म, पुच्छं प्रतिष्ठा'। उसमें भी समझ लेना कि जो देहसुख की प्राप्ति और देहदुःख की निवृत्ति चाहते हैं उनके लिये लौकिक शास्त्र और स्रक्, चंदन, वनिता आदि संसार के पदार्थ हैं। जो प्राणमय की दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति चाहते हैं उनके लिये योगाभ्यास है। जो मनोमय की दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति चाहते हैं उनके लिये ज्योतिष्टोम आदि के द्वारा स्वर्ग, वैकुण्ठ लोक आदि की प्राप्ति है। उससे भी आगे जो स्वयं अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ के सुख को चाहता है उसके लिये कार्योपासनायें हो गयीं, यह विज्ञानमय कोश के अन्दर हो गया। और उससे आगे जो केवल निरतिशय सुख ही सुख चाहता है उसका आनन्दमय कोश से काम हो जायेगा। लेकिन जो उस सुख को भी छोड़ना चाहे, उसके लिये ब्रह्म है। यह क्रम इसमें समझ लेना।

इसलिये विस्पष्ट व्याख्या कर दी : पाँच पाँच टुकड़े कोशों के हैं, कोश अवयव वाले हैं, ब्रह्म अवयव वाला नहीं है। ब्रह्म तो निरवयव है। यह तैत्तिरीयक शाखा की उपनिषद् की आनंद वल्ली में बताया कि उन कोशों का जो आत्मा अर्थात् जिसके द्वारा पाँचों कोश आत्मा वाले होते हैं और जो इन सबके अन्दर है वही सबके जीवन का निमित्त होने से जीव कहा गया है अर्थात् पाँचों कोश तभी तक काम करते हैं जब तक आत्मा

Scanned by CamScanner

रहता है। जीव कोई अन्य पदार्थ नहीं होता। आत्मा पाँचों कोशों को जीवित रखता है इसलिये उसका ही नाम जीव पड़ गया। जीवात्मा कोई परमात्मा से भिन्न नहीं, परमात्मा ही जीवन का निमित्त होने से उसका नाम जीव पड़ गया। जिसका पूर्व में प्रकरण चला है वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ही पाँचों कोशों को जीवित रखता है, इसलिये उसका नाम जीव हो गया।

संसार के सभी पाँचों कोशों को जीवित रखने वाला वह एक ही ब्रह्म है। अलग अलग जीवों का भ्रम हम केवल उपाधिवशात् कर रहे हैं। सबको चलाने वाला तो एक ही है। जैसे चींटी तुम्हारी जाँघ पर चल रही हो और उसे तुम मार दो तो चींटी की दृष्टि में मारने वाला हाथ अलग और जिस पर चल रही है वह अलग है। उसकी दृष्टि में 'मैं तो अपने रास्ते जा रही थी इसने मार दिया'। लेकिन तुमको पता है कि जाँघ और हाथ, दोनों तुम हो। उपाधि-भेद से उसे लगता है कि मारने वाली चीज़ अलग और जहाँ मैं बैठी हुई थी वह अलग चीज़ है। ठीक इसी प्रकार एक परब्रह्म परमात्मा ही सारे पाँच कोशों के अन्दर व्यवहार कर रहा है। हम लोगों को लगता है कि इनमें अलग अलग जीवात्मा हैं। यही भ्रम है। वह जो आत्मा है उसी को हमने आकाश के दृष्टांत से इस ग्रन्थ में बता दिया। कहाँ बताया था? 'आत्मा ह्याकाशवज्जीवैः घटाकाशैरिवोदितः' (श्लो.३) से प्रारंभ करके अब तक बताया।

इसलिये तार्किकों के द्वारा जैसी परिकल्पना की जाती है कि हरेक मनुष्य में अलग अलग आत्मा है, हरेक जीव में अलग अलग आत्मा है, वह व्यर्थ की कल्पना है। श्रुति के बल से हम लोग ऐसी कल्पना नहीं करते। अगर तार्किक लोग मानते हैं तो तुम भी मान लो, तुम केवल वेद को ही क्यों मानते हो? इसपर कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व पुरुषों की शास्त्रनिरपेक्ष बुद्धि का विषय नहीं है। उन तार्किकों से पूछते हैं कि तुमने भिन्न भिन्न जीवात्मा कैसे देखे? कहते हैं 'देखे नहीं, अनुमान है।'

अनुमान कब होता है? जब व्याप्तिग्रह हो। दो प्रकार का न्याय होता है Inductive Logic और Deductive Logic। पहले दो चीज़ों को साथ साथ अनुभव किया हो जैसे क ख ग घ चार कौए देखे और चारों काले देखे तब व्याप्तिग्रह हुआ कि जो जो कौआ होता है वह वह काला होता है। अब किसी ने कहा कि ट एक कौआ है। तब deductive logic आया कि जो जो कौआ होता है वह काला होता है जैसे क ख ग घ। ट एक कौआ है तो ट काला है। जहाँ व्याप्तिग्रह में गड़बड़ी होगी वहाँ तुम्हारा अनुमान ग़लत हो जायेगा। तुमने कभी टर्की (एक पक्षी विशेष) नहीं देखा। तुमने यहाँ बैठकर कल्पना की कि टर्की पक्षी हंस की तरह सफेद होता है, हंस की तरह पक्षी होने से। टर्की सफेद होता नहीं है क्योंकि व्याप्ति ग़लत है।

इसी प्रकार तार्किकों से हमारा प्रश्न है कि तुमने कहा कि जहाँ जहाँ शरीर है वहाँ वहाँ अलग अलग जीवात्मा हैं, तो पहले किन किन शरीरों में तुमने किन किन जीवात्माओं का अनुभव किया? तो वे कोई जवाब नहीं देते क्योंकि जीवात्मा का अनुभव कभी कर

Scanned by CamScanner

ही नहीं सकते हैं। इसलिये तार्किकों की यह जो परिकल्पना है वह सर्वथा बेकार है। बिना व्याप्तिग्रह के केवल अंधलांगूल न्याय से— जैसे एक अंधे के पीछे दूसरा अंधा, दूसरे के पीछे तीसरा अंधा लग गया और सारे के सारे कुएँ में पड़ते हैं ऐसे ही— एक तार्किक ने कहा कि 'हरेक शरीर में जीवात्मा अलग अलग' तो दूसरे और तीसरे ने भी ऐसा मान लिया! उन को सुन सुन कर दूसरे लोग भी मानने लग गये। यह केवल कपोलकल्पनामात्र है। दीखा तो शरीर है। शरीर भिन्न भिन्न दीखते हैं इसे हम मना थोड़े ही कर रहे हैं। लेकिन उन शरीरों में जीवात्मा को तुमने कहाँ देख लिया? इसलिये कहा कि वह केवल पुरुषबुद्धि का विषय नहीं। जिसको किसी पुरुष ने, उस तार्किक ने भी नहीं देखा, वह जब उसके बारे में बात करता है तो उसकी बात बेकार है।

वेद जब कहता है तो अनुभव वाले को कहता है। 'मैं हूँ' यह अनुभव तो तुमको हो रहा है लेकिन दूसरे शरीर में कोई जीवात्मा है यह अनुभव हो थोड़े ही रहा है। इसलिये 'मैं हूँ' के अन्दर ब्रह्मरूपता प्रत्यक्षसिद्ध है और जीवात्मा की कल्पना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य नहीं है, यह अभिप्राय है।।११।।

●

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ।।१२।।

अब बृहदारण्यक उपनिषद् के मधु ब्राह्मण से प्रमाण लेते हैं। बृहदारण्यक के मधुब्राह्मण में भी बताया गया है कि पृथिवी आदि अधिदैव और हमारे शरीर में एक ही परब्रह्म परमात्मा है। जैसे भूमि के ऊपर और हमारे पेट में आकाश एक ही है, ऐसे आत्मा की एकता है।

किसी ने कहा : मैं मनुष्य हूँ, प्राणी हूँ, प्रमाता हूँ, कर्त्ता-भोक्ता हूँ, इस प्रकार का अनुभव तो हमको प्रत्यक् चैतन्य का अपने शरीर में हुआ। दूसरे शरीरों में हम चाहे जीवात्माओं को न मानें लेकिन इस सारे संसार को चलाने वाला तो एक मानना पड़ेगा। दूसरे शरीरों को हम चला रहे हैं, ऐसा अनुभव तो हो नहीं रहा है। दूसरा जीवात्मा नहीं भी मानें तो एक जीवात्मा और एक बाकी सब शरीरों को चलाने वाला, दो तो मान ही लो।

कहते हैं कि यह भी नहीं बनता। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट कहा कि जो तुम्हारे शरीर को चलाता है और जो संसार को चलाता है दोनों में कोई फ़रक नहीं। यह मधुब्राह्मण में स्पष्ट बताया। इसी को लेकर तो वैज्ञानिक लोग देखते हैं कि चाहे वह शक्तिविज्ञान (Physics), चाहे अर्थविज्ञान (Chemistry), चाहे जीवविज्ञान (Biology), चाहे मनोविज्ञान (Psychology) हो, जो नियम बाह्य पदार्थों को चलाते हुए प्रतीत होते हैं वही नियम अन्दर के शरीर को भी चलाते हैं। ऐसा नहीं है कि संसार के अन्दर पानी बहता हो और हमारे शरीर का पानी न बहता हो, या बाहर की पृथ्वी में गंध हो और हमारे शरीर के

Scanned by CamScanner

पार्थिवांश में गंध न हो, बाह्य जगत् के अन्दर किसी चीज़ के जलने से गर्मी पैदा होती हो और हमारे शरीर में भोजन आदि जलने से गर्मी पैदा न होती हो। बाह्य जगत् के जितने नियम जैसे चलते हैं वैसे ही हमारे शरीर में चल रहे हैं।

इसी प्रकार जीवविज्ञान है। प्राणमयकोश को हम समझते हैं हम चलाते हैं लेकिन वहाँ भी चलाने वाले जीवविज्ञान के नियम हैं। पेट के अन्दर भोज्य पदार्थ जाते ही उसमें वज़न आया और तुरंत यकृत से अम्ल आदि निकलना शुरू हो गया। वह क्या तुम निकालते हो? तुमको पता भी नहीं लगता। तुम निकालते हो तो हाइपर एसिडिटी रोक लिया करो! आदमी समझता है कि 'मैं करता हूँ' लेकिन बायालजी के नियमों से होता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान के नियम हैं। उन नियमों के अनुसार ही मन चलता है। तुम लाख कोशिश करो कि उस नियम के अनुसार न चले तो तुम्हारी कोशिश नहीं चलेगी। जैसे शरीर के नियमों को जानकर तुम शरीर को स्वस्थ रख सकते हो लेकिन नियमों के प्रतिकूल कुछ नहीं कर सकते, इसी प्रकार मन के चलने के नियमों को जानकर तो तुम मन को तदनुकूल चला सकते हो, लेकिन मन के नियमों के प्रतिकूल मन को चलाना चाहो तो नहीं चला सकते।

अब इसमें उत्तरोत्तर क्रम समझना। जो जो चीज़ आत्मा के जितनी नज़दीक होती है उस उस के विषय में मनुष्य को उतनी ही स्वतंत्रता का भ्रम भी ज्यादा होता है। जैसे किसी आदमी का पैर फिसल जाये तो भला आदमी यह नहीं कहता कि 'पैर क्यों फिसलाया?' क्योंकि वहाँ उसे लगता है कि यह शरीर का नियम है, कोई क्या कर सकता है। वहाँ तो लगता है कि स्वतंत्रता नहीं है। लेकिन जब कोई मन से आचरण करता है तो दूसरे कहते हैं 'ऐसा मत कर।' जैसे केले के छिलके पर पैर फिसलता है ऐसे ही मन भी फिसला करता है, लेकिन शरीर के विषय में तो मनुष्य समझ लेता है कि कोई क्या कर सकता है; मन के बारे में हरेक सोचता है जो मर्ज़ी सो हम कर सकते हैं। खुद का अनुभव हो भी जाये कि मैं नहीं कर पाता, तो भी दूसरे के बारे में निश्चय रहता है कि यह हमारी बात नहीं मानता, कर क्यों नहीं सकता!

ऐसे ही जीवविज्ञान के विषय में है। प्राणमय कोश के जो नियम हैं उन के अनुसार उसे चलाओगे तो ठीक चलेगा। उसकी अपेक्षा भी विज्ञानमयकोश और अन्दर है। विज्ञानमय कोश के विषय में हम लोगों को स्वातन्त्र्य का और दृढ संदेह है। तुमको समझा दिया निश्चय कर लिया। अब 'निश्चय रखो' कहते रहेंगे। आदमी भी सोचता है कि 'मेरा निश्चय क्यों हिल जाता है?' विज्ञानमयकोश के तो नियम हैं। उन नियमों के अनुसार चलाओगे तो चलेगा। ऐसे ही आनन्दमयकोश है।

जब विचार करके देखते हैं तब पता लगता है कि जो बाहर के विषयों को चलाने वाले नियम हैं वही इस शरीर को चलाने वाले हैं। बाहर के विषय में आदमी सोचता है कि 'मैं नहीं चला रहा हूँ' और शरीर के विषय में भ्रम करता रहता है कि 'मैं चला रहा हूँ' वस्तुतः यहाँ भी जो सारे संसार को चलाने वाला है वही हमारे शरीर मन को

Scanned by CamScanner

चलाने वाला है। वह एक ही नियम से चला रहा है, उसमें भेद नहीं है। यह बात बृहदारण्यक उपनिषद् में बताई। समझ तो जाते हैं लेकिन हिम्मत नहीं कर पाते। तुम्हारे मन बुद्धि को भी परमेश्वर ही चला रहा है। गायत्री में यही बताया 'धियो यो नः प्रचोदयात्' वह परमेश्वर ही हमारी बुद्धि को चला रहा है; लेकिन गायत्री जप करते हुए भी लोग भूल जाते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के मधु ब्राह्मण में दो दो को बार बार कहा अर्थात् जो बाह्य जगत् में और जो आंतर जगत् में है उन दोनों की एकता बताई। दोनों को चलाने वाला परब्रह्म परमात्मा ही है। पृथ्वी को जो चला रहा है वही तुम्हारे पेट में बैठकर तुमको चला रहा है। आकाश पृथ्वी के ऊपर जैसा है वैसा ही तुम्हारे पेट में है, इस दृष्टांत से यहाँ बताया।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि बृहदारण्यक उपनिषद् में भी अद्वैत कहा। वहाँ किस रूप में कहा? अधिदैव पृथ्वी आदि बाह्य जगत् हो गया और अध्यात्म अर्थात् शरीर में, दोनों के अन्दर तेजोमय अर्थात् चेतन एक ही है। यहाँ प्रकाश जड प्रकाश नहीं, वरन् ज्ञान ही प्रकाश है। उसी चेतन के स्पर्श से सब कुछ अमृत रूप हो रहा है। शरीर तो मरा मराया है। उसके अंदर ब्रह्म बैठा हुआ है तो यह शव भी देखो शिव की तरह नाच रहा है! इस समय में भी यह शरीर मुर्दा ही है, इसमें वह बैठा हुआ है इसलिये यह शरीर जीवित है। इसलिये इसे अमृतमय कहा। पुरुष है अर्थात् सब जगह भरा हुआ है। पृथ्वी और शरीर दोनों के अंतर्गत जो रहने वाला, जो इसका विज्ञाता, जानने वाला है, वह परमात्मा है और वही सब कुछ ब्रह्म रूप ही है। इस प्रकार से बार बार बताया। वहाँ काफी लम्बा क्रम है। आकाश से आकाश की एकता, तेज से तेज की एकता, जल से जल की एकता बताते चले गये।

वह सब तब तक, जब तक सारा द्वैत क्षय न हो जाये। ऐसे सारे द्वैत को क्षय करने वाला जो परब्रह्म है उसको वहाँ प्रकाशित कर दिया अर्थात् बता दिया। यह जो द्वैत लगता है कि बाहर को चलाने वाला चेतन तथा अन्दर को चलाने वाला चेतन अलग हैं, बस जब तक इसका क्षय न हो तब तक बार बार विचार करे कि 'मैं किसको चलाने वाला हूँ।' तब पता लगेगा कि मैं किसी को नहीं चला रहा हूँ। ये तो सब अपने नियम के अनुसार चल रहे हैं। उनके चलने को मैं जान रहा हूँ। शरीर चला तो मैंने जाना, प्राण चला तो मैंने जाना, बुद्धि चली तो मैंने जाना, आनन्द हुआ तो मैंने जाना। इसलिये मैं तो केवल उनको जान रहा हूँ। जैसे उनको वैसे ही चन्द्रमा, सूर्य, वायु इत्यादि चले तो मैंने जाना। जैसे शरीर के अन्दर की चीज़ों को मैं केवल जान रहा हूँ वैसे ही शरीर के बाहर की चीज़ों को भी मैं ही जान रहा हूँ। मैं अगर न रहूँ तो बाहर और अन्दर कुछ नहीं है। और जो सारे संसार को चलाने वाला है वही मेरे शरीर मन को भी चला रहा है। जब तक यह ज्ञान न हो जाये तब तक बार बार इसका विचार करे।

Scanned by CamScanner

यह बृहदारण्यक उपनिषद् के मधु ब्राह्मण में बताया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक हिस्से का नाम मधुब्राह्मण है। दध्यङ्ङाथर्वण महर्षि ने अश्विनीकुमारों को इसका उपदेश किया था। इसी मधु का वर्णन दुर्गासप्तशती में भी जाता है 'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्' अर्थात् वह ब्रह्माकार वृत्तिरूपी भगवती ब्रह्म की शक्ति कह रही है कि 'जब तक अध्यात्म और अधिदैव के भेद को नष्ट नहीं कर लेती, तब तक हे अहंकाररूप महिषासुर! तू गरज ले; तब तक 'मैं मैं' कर ले; और जैसे ही अध्यात्म और अधिदैव की एकता को मैंने जान लिया तो ये सब ख़तम हो जायेंगे।' मूर्ख लोग क्या करते हैं? जिस समय यह मंत्र आता है तो शराब की आहुति देते हैं, सत्त्वगुणी होता है तो शहद की देता है। कई जगह ऐसा भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर भार्गवी वारुणी विद्या कही गई है जिसमें वरुण महर्षि ने अपने पुत्र भृगु को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया, ब्रह्म को बताया। वहाँ भी वारुणी शब्द सुनते ही मूर्ख लोग झट शराब समझ लेते हैं। वह अर्थ नहीं है। ब्रह्मविद्या को हीं मधु या वारुणी नाम से कहा है।

वह मधु कैसा है? अमृत है, सबको प्रसन्न कर देता है इसलिये उसे मोद या अमृत शब्द से भी कह देते हैं। उसे मधु क्यों कहते हैं? जैसे शहद की मक्खी जगह जगह अलग अलग फूलों से उनके रस को लेती है और वह सब शहद में जाकर मिलकर एक हो जाता है। उस शहद को चखकर कोई नहीं कह सकता कि यह जपाकुसुम का हिस्सा है, यह मोतिया का हिस्सा है, क्योंकि दोनों वहाँ जाकर एक हो गये। ऐसे ही ब्रह्म में सब कुछ एक-रूप हो जाता है इसलिये उसे मधु कहा। शराब को भी मधु क्यों कहते हैं? क्योंकि शराब पीने के बाद भी आदमी को पता नहीं रहता कि क्या बोल रहा है किससे बोल रहा है, कहाँ जा रहा है इत्यादि; सारे भेद लुप्त हो जाते हैं, इसलिये शराब को भी मधु कह देते हैं। मधुज्ञान अर्थात् मधु ब्राह्मण में यह बताया कि जिस प्रकार से पृथ्वी अधिदैव में और पेट अध्यात्म में, दोनों में रहने वाला आकाश एक ही है, उसी प्रकार हृदय में रहने वाला परमात्मा और सारे संसार को चलाने वाला परमात्मा एक ही है।।१२।।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समंजसम् ।।१३।।

शास्त्र में जीव-ब्रह्म की अत्यन्त अभेदरूप अनन्यता की प्रशंसा और इनके भेद की निन्दा की गयी है। वे प्रशंसा और निन्दा तभी संगत होंगे जब अद्वैत को ही शास्त्रतात्पर्य और सच्चा समझा जाये।

जीव और आत्मा दोनों अभेद से ब्रह्म ही है। इसीलिये कहा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। जब तक अपने को ब्रह्म से अलग समझता है तभी तक अब्रह्म है। जहाँ यह अज्ञान हटा

Scanned by CamScanner

कि 'मैं और ब्रह्म अलग हूँ' वहाँ फिर ब्रह्म ही ब्रह्म है। अब नियम है कि 'यत् प्रशस्यते तद् विधीयते यन्निन्द्यते तन्निषिध्यते'। यह मीमांसा का नियम है कि जिसे अच्छा बताया जाये उसका मतलब है कि इसका विधान किया जा रहा है। जिस जिस चीज़ की प्रशंसा करोगे उस उस चीज़ का विधान मानना पड़ेगा। जैसा अभी बताया; सप्तशती के अन्दर क्यों कहा कि मधु का अर्थ शराब नहीं ले सकते? क्योंकि 'यत्प्रशस्यते तद् विधीयते'। यहाँ भगवती कहती है कि 'मैं जब तक मधु पियूँ' तो यह प्रशंसा हो गई क्योंकि वह काम भगवती कर रही हैं। यदि मधु मतलब शराब हो तो शराब का विधान मानना पड़ेगा और श्रुति इत्यादि शराब का निषेध करते हैं। ब्राह्मण के लिये सर्वथा ही निषेध है 'न सुरां पिबेत्'। इसलिये यदि यहाँ मधु का अर्थ शराब करोगे तो विरोध आ जायेगा। यह नहीं कि शराब नाम आने से ही घबरा जाना। न्याय के अनुसार निर्णय करो। यदि केवल हाथ में शराब कहें तब तो मान लेते हैं। कई ध्यान-मूर्तियों में खप्पर में शराब रखी होती है। शराब रखने का निषेध नहीं, पीने का निषेध किया है। यहाँ 'पिबामि' अर्थात् 'पी रही हूँ' आया है, इसलिये विरोध है।

जिसकी प्रशंसा की जाये तो उसका विधान मानना पड़ता है। अब 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इसमें ब्रह्मभवन की प्रशंसा हुई तो ब्रह्मज्ञान का विधान हो गया कि हरेक व्यक्ति अपने जीवभाव को नष्ट करके ब्रह्म के साथ एक हो जाने का प्रयत्न करे। जीवात्मा और परमात्मा की जो अनन्यता है वह वेद में प्रशंसा के योग्य मानी गई। सारे प्राणियों को जिसका अनुभव होता है वह नानात्व है। श्रुति ने एकता की प्रशंसा की, इसलिये उसका विधान हो गया।

भेद जो सब प्राणियों को दीख ही रहा है, सबको अनुभव हो रहा है उसकी श्रुति ने निंदा की : 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' अर्थात् जो इस प्रकार नाना दर्शन करता रहता है वह बार बार जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। यह नानात्व की निंदा हो गई। इसके द्वारा दूसरा न्याय स्पष्ट हो गया 'यद् निंद्यते तत् निषिध्यते' अर्थात् जिसकी निंदा की जाती है, उसका निषेध है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यह चीज छोड़ो। हमने कह दिया कि यह चीज़ बुरी है तो मतलब अपने आप ही है कि छोड़ो। अनेकता की निंदा करके निषेध हो गया और एकता की प्रशंसा करके विधान हो गया। अब कहते हैं कि इस प्रकार से चूँकि वेदों ने कहा इसलिये समंजस अर्थात् यह बात श्रुति से स्पष्ट हो गई। ये दोनों न्याय याद रखने चाहिये।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा की जो एकता है उसको युक्ति के द्वारा भी हमने निर्धारित कर दिया अर्थात् तर्क से भी हमने सिद्ध कर दिया और श्रुति के द्वारा, वेद के वाक्यों द्वारा भी बता दिया। जीवात्मा और परमात्मा की जो एकता, अभेद, है इसकी श्रुति ने प्रशंसा अर्थात् स्तुति कर दी। शास्त्र ने जो अभेदज्ञान का फल बताया उससे यह पता लग गया। महर्षि व्यास ने भी कहा 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो

Scanned by CamScanner

नान्यत् ततः कारणकार्यजातम्' मैं ही हरि हूँ और यह सारा संसार भी हरि जनार्दन है। उसका न कारण और न कोई कार्य है। भगवान् कृष्ण का वाक्य है 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। इस प्रकार वेद ने कहा, युक्ति से भी सिद्ध है और व्यास, कृष्ण इत्यादि के वाक्यों से भी सिद्ध है।

निंदा उसकी की जो सारे प्राणियों को अनुभव हो रहा है। चींटी को भी लगता है, कुत्ते को भी लगता है कि सब अलग अलग हैं। एक कुत्ता रोटी ले जाये तो दूसरा कैसे दौड़कर खाने आता है! द्वैत-दर्शन करने वालों में और कुत्तों में क्या फ़रक है? फिर भी कहते हैं कि सबको अलग अलग मानो! द्वैतदर्शन सारे प्राणियों में साधारण, स्वाभाविक, नैसर्गिक है।

एक द्वैतवादी किसी गाँव में पहुँचा कि 'मैं शास्त्रार्थ करूँगा।' गाँव वाले बेचारे उतने पढ़े लिखे नहीं थे। गाँव का एक बुड्ढा आया, उसने कहा कि 'मैं सम्भाल लूँगा।' शास्त्रार्थ होने वाला था तो एक नाई आकर कहने लगा कि 'हज़ामत बनवा लीजिये।' बुड्ढे ने कहा— 'भगवान्! देख नहीं रहे हैं, हम शास्त्रार्थ कर रहे हैं।' वह नाई कहने लगा, 'जी मैं कैसे भगवान् हो सकता हूँ? मैं तो नाई हूँ।' थोड़ी देर में एक जना और आकर कहने लगा कि 'कपड़े धो कर ले आया हूँ'। उससे भी बुड्ढे ने कहा— 'भगवान्! आपको पता नहीं, मैं शास्त्रार्थ में बैठा हुआ हूँ।' उसने कहा कि 'आप हमारे ऊपर पाप क्यों चढ़ाते हो, मैं धोबी कैसे भगवान् हो सकता हूँ?' तब उस बुड्ढे ने द्वैतवादी पंडित को कहा कि जिस भेद को तुम सिद्ध करने आये वह तो हमारे यहाँ के नाई और धोबी भी जानते हैं। इसी के लिये तू काशी से पढ़कर आया है? इससे आगे की कोई बात हो तो बता!

इस प्रकार मैं अलग और परमात्मा अलग, यह तो वे मानते हैं जिन्होंने शास्त्र का बहिष्कार कर रखा है, कुतर्की हैं। जो साधारण चीज़ सबको आती है उसी के लिये तर्क देकर उसको सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। ऐसों ने ही भेद-दर्शन को रच रखा है। द्वैत का प्रतिपादन करने वाले तो सारे के सारे हैं।

श्रुति में उसकी निंदा की जा रही है क्योंकि श्रुति कह रही है कि वहाँ द्वितीय है ही नहीं 'न तु तद् द्वितीयमस्ति'। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' जब तक दूसरा है तब तक भय है। 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भवं भवति' जो परमात्मा से थोड़ी भी भेदबुद्धि करता है उसे भय होता है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह सब आत्मस्वरूप है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' वह बारम्बार मरता है जो नानात्व-दर्शन करता है। इत्यादि वाक्यों के द्वारा श्रुति के नानात्व दर्शन की निंदा की है। अन्य ब्रह्मविदों ने भी कहा है। व्यास जी ने भी कहा है 'अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।' मनु कहते हैं 'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा'। अविद्या से मोहित हुए लोग अपने आपको परमेश्वर से भिन्न सत्ता वाला मानते हैं यह व्यास जी कहते हैं। मनु का कहना है कि जिसने परमेश्वर

Scanned by CamScanner

के दिये हुए शरीर मन के ऊपर अपना ठप्पा लगा दिया कि यह 'मैं हूँ', या 'मेरा है' उसने परमेश्वर की चोरी का पाप कर लिया तो और कौन सा पाप उससे रह गया!

परमेश्वर ने तुम्हें शरीर मन इसलिये दिया था कि तुम इस शरीर मन का दर्शन करते रहोगे। तुमने यहाँ आकर मिल्कियत कर ली। जैसे राजा कोई मन्दिर बनाता है तो बड़ी भारी सम्पत्ति लगा देता है। जैसे यहाँ रत्नेश्वर मन्दिर में राजा ने इतनी सम्पत्ति इसलिये लगाई थी कि लोग उससे भगवान् का पूजन करेंगे। अब जो लोग उस सम्पत्ति को अपने खाने में लगाते हैं, मन्दिर में नहीं लगाते वे यह देवस्व के चोर हैं। इसी प्रकार परमेश्वर ने तुम्हें शरीर मन परमेश्वर के काम के लिये दिया था और तुमने उसकी सारी सम्पत्ति की चोरी कर ली। इस खेती के अन्दर जो कर्मफल होता है उसको कहते हो कि 'मैं ही खाऊँगा,' यह चोरी हो गई। यह देवधन की चोरी है जो कहता है कि मैं अलग और परमेश्वर अलग है। व्यास, वशिष्ठ आदिकों ने भी ऐसा ही कहा है। शास्त्र में प्रशंसा और निंदा की गई है, इसलिये यह बात समंजस अर्थात् स्पष्ट है कि शास्त्र तात्पर्य क्या है।

द्वैत अशास्त्रीय सिद्ध हो गया और अद्वैत ही शास्त्र-तात्पर्य सिद्ध हो गया। ऐसा सिद्ध हो जाने पर सीधा सीधा ज्ञान हो जाता है कि एकमात्र परमात्मा ही वस्तु है। यही न्याययुक्त अर्थ है अर्थात् विचारशील को यही अर्थ स्पष्ट पता लगता है। तार्किकों ने अपनी मनमानी कपोलकल्पनाओं से कुदृष्टि की कल्पना कर ली है। मनुस्मृति में मनु महाराज ने लिखा है 'या वेदबाह्याः स्मृतयः तमोमूला हि ताः स्मृताः।' चाहे वे किसी भी स्मृति में हों, यदि वेद-विरुद्ध हैं तो वे सब बातें कुदृष्टि समझना। कुदृष्टि अर्थात् या तो लिखने वाले को कोई भ्रम रह गया है या कोई और ग़लती है। जैसे कभी कभी लिखने वाले को लोभ भी आ जाता है, लोभ से भी लिख देते है। जैसे किसी पंडित जी से कहो कि 'हमको अनंत का उद्यापन करना है सामग्री लिखा दो' तो पंडित जी सामग्री में नथ भी लिखा देते हैं। उनसे पूछते हैं कि 'क्या इस पूजा में नथ लगती है?' कहेंगे 'लगती है।' हमारे जैसा कोई कहेगा कि 'किताब लाकर दिखाओ कहाँ लिखा है।' तब धीरे से कहेंगे कि 'लड़की का ब्याह है स्वामी जी, उसमें नथ देनी पड़ती है।' इसलिये पंडित जी ने बाकी सामग्री के साथ नथ भी लिखा दी। इसी को विप्रलिप्सा कहते हैं। फिर वही पुर्जा किसी दूसरे को दिखायें तो उसे संदेह होगा कि इस पूजा में नथ क्यों लिखा दी। बाद में पता लगेगा कि उस समय ज़रूरत थी इसलिये लिखा दी। इसी को कुदृष्टि कहते हैं। कहीं भ्रम से हो जाता है क्योंकि वेद आदि शास्त्र बड़े लम्बे चौड़े हैं। ऐसी चीज़ें ख्याल में नहीं आई तो ग़लती से लिख देते हैं। हर हालत में वेदविरुद्ध चीज़ कभी भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि कुदृष्टि है। वेद से बाह्य जितनी चीज़ें कही गई हैं उसको करने का कोई फल नहीं है, निष्फल हो जाती हैं। लेकिन यहाँ तो फल हो ही जाता है।

Scanned by CamScanner

कहते हैं मरकर फल नहीं होता, यहाँ तो हो ही जायेगा जैसे पंडित जी की लड़की का ब्याह तो हो ही जायेगा। प्रेत्य अर्थात् मृत्यु के बाद फल नहीं होगा। यहाँ से सौ मील दूर एक गाँव है। वहाँ कुछ दिन पहले एक आदमी ने कहा कि 'मेरे यहाँ बालू रखोगे तो चीनी, पत्थर रखोगे तो गुड़ और पानी भरकर रखोगे तो वह घी हो जायेगा।' तारीख भी बता दी। बहुत से लोग वहाँ लेकर पहुँच गये। उसका खूब नाम हुआ और खूब भण्डारे चले। इस सब में उसने अपनी लड़की का ब्याह कर दिया। उसकी बड़ी पूजा हुई। जब तारीख आई तो क्या होना था! पुलिस ने उसे पकड़ लिया। उसने कहा कि 'मेरे पास पैसा नहीं था, मैं लड़की का ब्याह कैसे करता?' इसलिये यहाँ तो फल हो जाता है लेकिन मरकर कोई फल नहीं। वे सब तमोमूल ही होते हैं। इसलिये वे सरल नहीं हैं क्योंकि वे सच्ची बातें नहीं हैं। वैशेषिक आदि की कल्पना भेदानुसारी हैं। उनके अन्दर परस्पर दोष होने से वे असमंजस हैं।।१३।।

●

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् ।
भविष्यद्वृत्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ।।१४।।

जैसे भविष्यद्वृत्या चावल के लिये भात-शब्द का गौणप्रयोग होता है ऐसे उपनिषदों की प्रवृत्ति से पूर्व जो शास्त्र में जीव-ईश्वरभेद कहा गया है वह गौण है, उसका मुख्य होना संभव नहीं। अथवा जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जो एकता कही गयी है वह भविष्यद्वृत्त्या अर्थात् यह मानकर है कि आगे महावाक्य से एकता बतानी है; और जो जीव-ईश्वरभेद कहा गया है वह गौण है।

शास्त्र में जीव और आत्मा की पृथक्ता 'उत्पत्ति' के पहले बताई। 'उत्पत्ति' के पहले अर्थात् सम्यक् ज्ञान के पहले। जब तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक मनुष्य को सृष्टि प्रक्रिया बतानी पड़ती है कि तुम इस प्रकार से पैदा हो गये। जब पता लग जाता है कि हम किस प्रकार पैदा हुए तो अभेद-ज्ञान हो जाता है। जैसे बच्चा समझता है कि मैं अलग और माता पिता अलग हैं। कब तक यह समझता है? जब तक जीवविज्ञान का अध्ययन नहीं कर लिया। जीवविज्ञान का अध्ययन करने से पता लगता है कि माता के शरीर का एक अंग और पिता के शरीर का एक अंग मिलकर ही, अर्थात् शुक्र और शोणित से ही, यह शरीर बना। जैसे माता पिता के शरीर के दूसरे अंग, वैसे ही यह एक शरीर बना। फिर वह अपने आपको अलग देखता हुआ भी माता पिता से एक ही देखेगा। जब कहते हैं कि 'तुम माता पिता से पैदा हुए' तो तात्पर्य पैदा होने में नहीं है, यह बताने में है कि तुम माता पिता से एक हो। इसी प्रकार वेद ने जो सृष्टि प्रक्रिया बताई कि ब्रह्म और माया से तुम पैदा हुए तो वह यह बताने के लिये नहीं कि तुम सचमुच अलग होकर पैदा हुए, बल्कि यह बताने के लिये कि तुम ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं हो, ब्रह्म से एक हो। जीव और परमात्मा का जो भेद है, वह सम्यक् ज्ञान होने के पहले कहा गया। इसीलिये सृष्टिप्रक्रिया भी कही गई।

Scanned by CamScanner

इस सम्यक् ज्ञान को बताने के लिये प्रवृत्त कौन होगा? उपनिषद् ही प्रवृत्त होगी। उस प्रवृत्ति की अपेक्षा से पहले प्रवृत्त हुआ कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्दर परमात्मा को कर्मफलदाता रूप से बताया। उपासना काण्ड में परमात्मा को प्रेम का विषय बताया। इन सबका तात्पर्य क्या है? उपनिषद् भविष्य हो गई। मनुष्य को जब पहले बताया कि कर्म-फल को देने वाला ईश्वर है तो यह समझने से कर्म से श्रद्धा हटी। जैसे जब यह पता लग जाता है कि जिस जिस को इंदिरा जी चाहेंगी उस-उस को मंत्री बनायेंगी तो फिर मनुष्य की बाकी कामों से प्रवृत्ति हटकर इंदिरा जी की चापलूसी में प्रवृत्ति हो जायेगी कि उनको खुश करो। चाहे जितने ईमानदार बने रहो और चाहे जितने दुष्कर्म करो, अगर वह खुश हो गई तो काम बन जायेगा। ठीक इसी प्रकार पहले आदमी अलग अलग कर्मों को सोचता था कि यह करने से यह फल मिलेगा। अब वहाँ से वृत्ति हट गई और हुआ कि परमेश्वर ही सब पूर्ण कर देगा। कर्मफलदाता परमेश्वर की जब मनुष्य को निष्ठा हो जाती है तो फिर कर्मनिष्ठा हट जाती है। तब तक रहता है कि 'मंत्राधीना हि देवताः' देवता मंत्र के अधीन हैं। उनकी इच्छा हो न हो हमें कर्मफल प्राप्त हो जायेगा। इसलिये पहले सोचते हैं कि कर्म से फल मिलेगा और जब ठीक प्रकार से समझते हैं कि कर्म से फल नहीं, कर्म से परमेश्वर प्रसन्न होता है और परमेश्वर प्रसन्न होता है तब फल मिलता है, तो अब उस परमेश्वर के प्रति प्रेम हो जायेगा। जब उससे प्रेम हो गया तो बाकी चीज़ों से प्रेम हट जायेगा।

कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति की थी दूसरी चीज़ों को लेने के लिये जैसे मुझे पुत्र, धन, सम्पत्ति, पत्नी आदि चाहिये। इसलिये उन कामनाओं से कर्म में गये। कर्म करने से पता लगा कि वे चीज़ें परमेश्वर की प्रसन्नता से मिलेंगी तो परमेश्वर से प्रेम हुआ। जब परमेश्वर से प्रेम हुआ तो पता लगा कि जब आनन्दस्वरूप परमेश्वर ही है तो पुत्र आदि लेकर क्या करेंगे। इससे मनुष्य की वृत्ति हो गई कि परमेश्वर ही चाहिये। जब दूसरी वृत्तियाँ हटीं तो वैराग्य हो गया। अब जब परमेश्वर से एक हो जायेंगे तो प्रेम की पूर्णता हो जायेगी क्योंकि प्रेम अभेद चाहता है। वही प्राप्त हो जायेगा। यद्यपि पहले तो लगता है कि परमेश्वर को अलग करके बताया, लेकिन आगे एकता को बताना है, इसलिये यह सब कहना गौण हो गया। इसको मुख्य नहीं मान लेना चाहिये।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि वेद ने भी जीवात्मा और परमात्मा को अलग अलग बताया है। सृष्टि की उत्पत्ति इत्यादि बताने वाले उपनिषद् वाक्यों से पहले कर्मकाण्ड में कैसे यह बताया है? लोगों की कामनायें अलग अलग हैं। अतः जल की कामना वाला इंद्र की पूजा करे, अंतःकरण की शुद्धि की कामना हो तो वरुण की पूजा करे। भिन्न-भिन्न कामना के लिये अलग अलग देवता का प्रतिपादन किया। धन की कामना हो तो श्रीसूक्त करे, स्वास्थ्य की कामना हो तो मृत्युंजय करे। इस प्रकार पूज्य-पूजक को अलग-अलग बताया।

Scanned by CamScanner

फिर आगे जाकर कहा 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' वह परमात्मा ही पृथ्वी और द्युलोक को धारण करने वाला है, वह एक ही है। पहले अलग अलग बताया था। 'यथाग्नेः विस्फुल्लिगा व्युच्चरन्ति' जिस प्रकार अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार एक हिरण्यगर्भ प्रजापति से ही सारे देवता निकलते हैं। एक ईश्वर से ही सबको उत्पन्न होने वाला बताया। तात्पर्य क्या हुआ? अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं और वे चिन्गारियाँ जला सकती हैं तो यदि वह अग्नि ही मिल जाये तो वह जलायेगी इसमें कहना ही क्या! इसी प्रकार जिसमें से सारे देव बाहर निकलते हैं वह परमात्मदेव ही उन सबका कार्य पूरा कर देगा इसमें कहना ही क्या है! इसीलिये जब मनुष्य को परमात्मा पर दृढ विश्वास हो जाता है तो फिर वह अन्य देवताओं की तरफ नहीं जाता। फिर उसे जो माँगना होता है वह परमात्मा से ही माँग लेता है। इसीलिये अपने यहाँ शास्त्रों में एक इष्ट पर निष्ठा बताई।

उसी आत्मा से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति हुई, उसी ने भिन्न किया, उसी ने तेज को बनाया इत्यादि ये सब सृष्टि प्रक्रिया को बताने वाले उपनिषद्-वाक्य हैं। इनसे पहले कर्मकाण्ड के अन्दर भेद बताया गया था, वह वास्तविक भेद नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि आगे उसका बाध कर दिया। वह फिर क्या है? गौण है। जैसे शुरू में लगता है कि महाकाश घटाकाश अलग हैं लेकिन फिर दोनों की एकता आकाश में बता दी जाती है। गौण अर्थात् जैसे चावल पक रहा हो तो लोग कहते हैं कि भात पक रहा है। भात तो तब होगा जब बन जायेगा। ऐसे ही यहाँ गौणरूप से कह दिया। भेदवाक्य कभी भी मुख्य भेद का प्रतिपादन करने वाले नहीं हो सकते क्योंकि आत्मा को अलग अलग समझना स्वाभाविक है। सबको लगता है कि हम अलग अलग हैं। जो अज्ञानी प्राणी हैं, अविद्या वाले हैं उन सबको भेदर्शन हो ही रहा है, उसके लिये वेद की क्या ज़रूरत है? उस बारे में अनुवाद करने वाली श्रुति होने से वे अनुवादक वाक्य हो गये, प्रमाण नहीं रहे।

उपनिषदों के अन्दर तो उत्पत्ति, प्रलय आदि वाक्यों के द्वारा जीवात्मा परमात्मा के एकत्व का प्रतिपादन ही श्रुति को इष्ट है। इसलिये अद्वैत ही शास्त्रतात्पर्य हुआ। 'तत्त्वमसि' हे श्वेतकेतु! तू ही परमात्मा है। मैं अन्य हूँ और वह अन्य है इस प्रकार जो समझता है वह नहीं जानता है। आदि वाक्य यह स्पष्ट करते हैं। इसीलिये हमारे यहाँ पूजा करने के पहले न्यास किया जाता है। अपने यहाँ बिना न्यास के जो पूजा की जाती है वह बेकार हो जाती है क्योंकि न्यास में अपने अन्दर देवता की स्थापना करते हैं। जिस देवता की पूजा, उसी से अपना न्यास किया जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'। देवता भिन्न और मैं भिन्न ऐसी भावना करने वाला कुछ नहीं जानता है। उसी को पशु कहा है जो परमात्मा को भिन्न और अपने को भिन्न समझे। इसलिये उपनिषद् के अन्दर एकत्व का प्रतिपादन ही श्रुति को इष्ट है।

Scanned by CamScanner

इसी श्लोक का दूसरा अर्थ करते हैं:'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियों के पहले ही 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' कहा। उसके बाद 'तदैक्षत' और 'तत्तेजः असृजत' कहा। सृष्टि को बताने के पहले ही ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कर दिया। उसी को फिर कहा कि 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है', 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'। इस प्रकार प्रारंभ में एकता का प्रतिपादन भविष्य वृत्ति की अपेक्षा से है। जीव और परमात्मा की पृथक्ता जिस किसी वाक्य में मिल जाये वह गौण है जेसे 'भात पक रहा है', इसमें भात शब्द गौण है।।१४।।

●

आगे के दो श्लोक बड़े विचार के हैं।

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ।।१५।।

मिट्टी, लोहा, चिन्गारियाँ इत्यादि उदाहरणों से जो विभिन्न प्रकारों से सृष्टि बतायी है वह सब इसीका उपाय है कि जीव-ईश्वर का अभेद समझा जा सके। भेद किसी भी तरह वास्तविक नहीं है।

शंका होती है कि आपने भी यह माना कि उत्पत्ति के पहले श्रुति ने सब कुछ जन्मरहित है यह बताया। उत्पत्ति के पहले एक परब्रह्म परमात्मा है, भविष्य में मोक्ष में भी एक परब्रह्म परमात्मा और प्रलय के बाद भी एक परब्रह्म परमात्मा रहता है, यह बताया। बीच में सृष्टि बताई। वेद ने कहा कि पहले एक अज परब्रह्म परमात्मा और भविष्यद् दृष्ट्या भी एक परब्रह्म परमात्मा। बीच में सृष्टि कही। तो आप जैसा कहा ऐसा ही क्यों नहीं मानते कि पहले अज ब्रह्म रहता है, फिर सृष्टि हो जाती है, फिर अज ब्रह्म रह जाता है? ऐसा यथाश्रुत आप क्यों नहीं मान लेते? ऐसा मानने से सृष्टि की व्यवस्था भी बन जायेगी, मोक्ष की व्यवस्था भी बन जायेगी। सृष्टि का एकमात्र कारण परब्रह्म परमात्मा है यह भी बन जायेगा। श्रुति की शब्दशक्ति से सृष्टि आदि भेद दृष्टि को स्वीकार कर लो। अगर स्वीकार करते हो तो अद्वैत उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि एक से अनेक की उत्पत्ति में कारण क्या है? यह बड़ी सूक्ष्म शंका है! एक से एक ही उत्पन्न होना चाहिये, अनेकता का कारण किसी को मानना पड़ेगा। फिर सांख्य अपना कारण घुसायेगा कि अनेकता का कारण सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण को मान लो। यही कारण हुआ कि आस्तिक दर्शनों ने नाना कल्पनायें की हैं। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि आस्तिक दर्शनकार बेवकूफ थे। वे समझते ही थे कि एक परब्रह्म परमात्मा से सृष्टि उत्पन्न हुई और फिर परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाती है। वेद ने तो यही कहा। एक से अनेक की उत्पत्ति में कोई कारण बताना पड़ेगा। क्योंकि सामने वाला शिष्य या वादी भी पूछेगा कि एक से अनेक कैसे उत्पन्न हो गया? तब सांख्य वालों ने कहा कि एक प्रकृति है

Scanned by CamScanner

जिसमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं। उन गुणों के भेद से सृष्टिभेद है। नैयायिक ने कहा परमाणु रहते हैं, परमाणुओं के कारण जगत् का भेद है। पृथ्वी के परमाणु, जल के परमाणु आदि अलग अलग परमाणु हैं, इसलिये भेद है। पूर्वमीमांसक ने कहा कि कर्मों के कारण भेद है। किसी ने अच्छे कर्म, किसी ने बुरे कर्म किये अतः पाप पुण्य को लेकर भेद है। अनेक प्रकार के कारण भिन्न भिन्न वादियों ने बताये। इस प्रकार आस्तिक-दर्शनों में भेद हुआ क्योंकि अनेकता का कारण वेद ने कहीं स्पष्ट बताया नहीं है। यह तो कह दिया कि एक परब्रह्म परमात्मा से सृष्टि हुई, लेकिन एक से अनेक हुआ कैसे? इसका कारण साफ करके नहीं बताया। इसलिये उन कारणों की कल्पना की गई।

वेदांती का कहना है कि यदि कोई कारण दूसरा होता तो वेद ने ज़रूर कहा होता। वेद ने जब एक से उत्पत्ति बताई, दूसरे का नाम नहीं लिया तो दूसरे की कल्पना तुम कर नहीं सकते। फिर एक से अनेक कैसे हो गया? बस यही तो तुम्हारी युक्ति का काम है कि सोचो। एक से अनेक जहाँ अपनी शक्ति से होता है वहाँ उसका कोई कारण नहीं कहना पड़ता। जैसे मान लो हम कहें 'तुम अकेले मेरे पास आना।' अब जब तुम आ गये तो हम कहें 'ज़रा गिलास उठाकर दो।' तुम उठाकर ले आते हो। हम कहते हैं 'हमने तो आने वाले को कहा था, उठाने वाले को क्यों ले आये?' फिर अगर कहा 'उधर क्या लिखा है?' तुमने वह बाँचकर कहा 'ॐ नमः शिवाय लिखा है।' हमने कहा 'तुम देखने वाले को भी साथ ले आये, हमने आने वाले को कहा था।' हमने पूछा 'हमारी बात सुनाई दे रही है?' तुमने कहा 'हाँ जी।' सुनने वाले को भी साथ ले आये। तुम कहोगे 'चलकर आने वाला, उठाकर लाने वाला, देखने वाला, सुनने वाला सब मैं एक ही हूँ। ये मेरी ही सब शक्तियाँ हैं। हूँ तो मैं अकेला ही।' जहाँ एक से अनेकता हो और अनेकता का कारण न हो तो वह उसकी शक्ति हुआ करती है।

वेद ने जब कहा कि एक ब्रह्म से सृष्टि हुई और फिर एक ब्रह्म ही रह जायेगा। तो वेद का तात्पर्य है कि ब्रह्म अपनी शक्ति से ही अनेक हुआ है और फिर एक ही हो जायेगा इसलिये न सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को कारण कह सकते हो और न ही पुण्य-पाप कर्मों को कारण कह सकते हो। ये कोई कारण नहीं, केवल ब्रह्म ही कारण है यह वेदांत कहता है। वेद ने कहा कि पहले एक परब्रह्म परमात्मा, उससे सृष्टि, और फिर परब्रह्म परमात्मा। सृष्टि का कारण सिवाय ब्रह्म के दूसरा नहीं है।

हम लोग इसीलिये अपनें सिद्धांत को एकत्ववाद नहीं कहते, अद्वैत कहते हैं। अद्वैत का मतलब जहाँ दो नहीं। हम एक कहते तो उलटा लाघव पड़ता कि एक को मानते हैं, दो अक्षरों से काम चल जाता, उसकी जगह चार अक्षर का नाम रखा तो हमें कोई ज्यादा बोलना अच्छा लगता हो सो नहीं है, इसीलिये कि हम जब बोलेंगे तब हमको ब्रह्म और उसकी शक्ति दो लगेंगी लेकिन ब्रह्म और उसकी शक्ति दो नहीं वरन् एक ही है। जैसे हमारी देखने सुनने की शक्ति और हम एक हैं। ऐसा नहीं कि देखने सुनने की शक्ति हमसे अलग हो।

Scanned by CamScanner

यह शिव शक्ति का जो सामरस्य है इसमें वेदांती के कई दृष्टांत हैं। जैसे शब्द एक है उच्चारण करने में दो होठ चाहिये; उच्चरित होने वाला शब्द एक है। दो लकड़ियों को मारो तो जो शब्द होता है वह एक है। क्या उसमें कह सकते हो कि यह नीचे वाली लकड़ी का और यह ऊपर वाली लकड़ी का शब्द है? या यह ऊपर के होठ वाला और यह नीचे के होठ वाला शब्द है?

अब इसका जो चेतन दृष्टांत हम लोगों को मिलता है वह माता पिता है। माता पिता से उत्पन्न होने वाला पुत्र एक होता है। उसमें नहीं कह सकते कि इधर का कान माँ से और उधर का कान पिता से आया। माता पिता दो दीखते हैं, लेकिन पुत्र में वे माता पिता एक हैं। यह ठीक है कि हमारे वैद्य जी कहेंगे कि इनके यहाँ लिखा हुआ है कि रक्तांश माँ से और अस्थिअंश पिता से आता है, लेकिन ये सब कल्पनायें हैं क्योंकि वस्तुतः तो वे एक हो जाते हैं। इसलिये वह सब प्रमाणसिद्ध नहीं है।

इसी प्रकार इस सृष्टि के अन्दर यह नहीं कह सकते कि यह माया का हिस्सा है और यह ब्रह्म का हिस्सा है। कहने को आदमी कह देता है कि दीवाल माया से बनी और मैं ब्रह्म से बना। प्रायः लोग यही समझते हैं कि चेतन ब्रह्म से और जड माया से बना। अब यह बताओ कि जो तुम चेतन अपने को कह रहे हो, तुम्हारा शरीर किस से बना? जिस चेतना को प्रकट करोगे उसको माया से बना मानोगे? जो सोचता है वह मन माया से बना है। बिना माया की क्रियाओं के चेतनता प्रकट नहीं कर सकते तो फिर क्या पता कि जिसे जड कहते हो वह भी चेतन है, केवल प्रकट नहीं कर पा रहा है? इसलिये जड और चेतन का जो विभाग है वह केवल शुरू शुरू में समझने के काम आता है। वस्तुतः यह बिल्कुल नहीं कि यह जड का हिस्सा और यह चेतन का हिस्सा। सर्वत्र एक पब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान है।

इसी का अभ्यास कराने के लिये हम लोग सबसे पहले कहाँ पूजा करना सिखाते हैं? साधारण आदमी पत्थर मिट्टी को ही जड मानता है इसलिये सबसे पहले उसी को परमात्मा देखना सिखाते हैं। अगर वहाँ परमात्मा देखोगे तो बाकी जगह परमात्मा देखना सरल हो जायेगा। जड चेतन का विभाग लोगों के मन में दृढ जमा हुआ है। उसको हटाने के लिये ही हम लोग पत्थर की मूर्ति बनाकर सिखाना चाहते हैं कि जड नाम की चीज़ नहीं, सर्वत्र एक चेतन ही चेतन है। लोग यह शंका करते हैं कि मूर्त्ति तो श्रद्धा के अनुसार है। हमारी श्रद्धा है तो वह मूर्त्ति है। हम कहते हैं कि तुम्हारा जीवभाव भी तो श्रद्धा का ही विषय है! तुमको श्रद्धा है, तभी तुम सामने वाले में जीव मानते हो। योरोप के लोग यह नहीं मानते कि गधे घोड़े में जीव होता है। इसलिये उनके यहाँ उन्हें मारना जीव-हत्या नहीं है। मुसलमान औरतों में भी जीव नहीं मानते। वे लोग कहते हैं कि जैसे पत्थर लुढ़क जाता है, पानी बहता है, उसी प्रकार गधा घोड़ा चलता है। ऐसे ही मुसलमान कहते हैं कि औरतें भी वैसी ही हैं। इसलिये उनका औरतों के लिये दृष्टांत पैर की जूती है। हम लोगों को श्रद्धा है कि चींटी मक्खी में भी चेतनता दीख रही है,

Scanned by CamScanner

कि वह भी जीव है। नहीं तो जैसे मोटर चलती है ऐसे ही चींटी मक्खी गधे घोड़े चलते हैं। बचपन से जहाँ श्रद्धा पैदा कराई जायेगी कि इनमें जीव है, उसी में जीव दिखाई देगा। जीव कभी प्रत्यक्ष का विषय तो है नहीं, हमेशा श्रद्धा का विषय है।

जब सर्वत्र जीव को देखना है तो हम कहते हैं कि फिर मूर्त्ति में भी जीव सच्चा है। मूर्त्ति में देवता उतना ही सच्चा जितना तुम्हारे में देवता। जैसे तुम्हें लगता है कि यह आदमी सचमुच जीव है ऐसे ही जब तक मूर्त्ति में देव-दर्शन नहीं हो जायेगा तब तक लगेगा देवता नहीं है, और जब देवदर्शन हो जायेगा तो काम बन जायेगा। इसीलिये हम लोगों ने अद्वैत, शिवशक्ति-सामरस्य कहा, अर्थात् शिव शक्ति दो नहीं हैं। शिव ही शक्ति और शक्ति ही शिव है। समझने के लिये दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। यही बात इस श्लोक में बता रहे हैं।

श्रुति ने सृष्टि बनने में दृष्टांत दिये मिट्टी से जैसे घड़ा, कुल्हड़ इत्यादि बनते हैं। वेदों ने जहाँ सृष्टि में दृष्टांत दिये वहाँ ऐसे ही दृष्टांत दिये। अब बताओ कि मिट्टी में सारे आकार लेने की शक्ति है या नहीं? यह ज़रा कठिन विषय है। मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति है तभी घड़ा बनता है। यदि मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति न होती तो कैसे बनता? ऐसे ही यदि कुल्हड़ बनने की शक्ति मिट्टी में न होती तो क्या कुल्हड़ बनता? जैसे तिल से ही तेल निकलेगा क्योंकि तिल में तेल है। पेरने से तेल नहीं निकलता। पेरने से तेल निकलता होता तो बालू से भी निकाल लो। इसलिये जहाँ है वहीं से तेल निकलेगा। यह बात यदि हमारी सरकार समझ ले तो बहुत सी समस्यायें हल हो जायेंगी। वह समझती है कि किसी को कहीं मैनेजर बना देंगे तो पैसा बना लेंगे। वह तो जिस बनिये में ताकत है वही बना सकता है। जिसमें सफाई करने की ताकत है उसे अफसर बनाओगे तो वह सफाई तो करा सकेगा लेकिन पैसा कहाँ से कमायेगा?

एक सच्ची घटना है। सन् ५९-६० की बात है। आगरे में एक अपने ही शिष्य हैं। नेहरूजी के साथ उनका अच्छा परिचय था। पहले उनकी हीरे जवाहरात की दुकान फिलाडेल्फिया में थी, फिर उन्हों ने वह दुकान बन्द कर दी। नेहरू जी ने उनसे कहा कि 'हम तुम्हारे साथ Collaboration करके न्यूयार्क में एक दुकान खोलेंगे जिसमें ५१ प्रतिशत सरकार का और ४९ प्रतिशत तुम्हारा हिस्सा होगा, मैनेजमैण्ट तुम्हारा होगा, तुम स्कीम तैयार करके दो।' उन्होंने स्कीम बनाकर दे दी। पाँच छह महीने हो गये लेकिन कोई जवाब नहीं आया। फिर अकस्मात् एक साल बाद पता लगा कि जो स्कीम उन्होंने दी थी ठीक उसी के अनुसार सरकार ने न्यूयार्क में एक दुकान खोल ली। दो साल बाद एक दम एक चिट्ठी आई कि आकर मिलो। वहाँ गये। उनसे कहा गया कि 'यह बड़ी धोखेबाजी है। तुमने जो स्कीम दी उसके अनुसार दुकान खोली, लेकिन वहाँ नुकसान हो रहा है।' तब उन्होंने कहा कि 'आपने यह भी तो कहा था कि मैनेजमैण्ट हमारा होगा। अब तुम वहाँ आई. ए. एस. अफसर नियुक्त करोगे तो उन्हें क्या आता है? हमें भेजा

Scanned by CamScanner

होता और फिर नुक्सान होता तो हमसे पूछते।' कहने लगे 'लेकिन स्कीम तो तुम्हारी ही दी हुई है।' उन्होंने कहा कि 'स्कीम क्या करेगी?'

इसलिये सरकार यह सोचती है कि पैसा कमाने की शक्ति सबमें है और बस वहीं धोखा खाती है। पैसा कमाना जिसको आता है उसी को आता है, वही कमा सकता है। उसको तुम यह तो सिखा सकते हो कि पैसा कमाकर दान करो। जैसे डाक्टर होता है। तुम डाक्टर को यह तो कह सकते हो कि तुम दो घण्टे लोगों को निःशुल्क देखो लेकिन चाहे जिस आदमी को उठाकर नहीं कह सकते कि 'आज से तुम डाक्टर हो गये।' इसी प्रकार पैसा कमाना भी एक कला है। पैसा कमाने वाले को यह कह सकते हो कि तुम अपनी आमदनी में से दस प्रतिशत दान करो। लेकिन कमाना काम उसी का होगा। यह बात तो प्रसिद्ध है कि तेल तिलों से ही निकलेगा, बालू से नहीं। लेकिन इनकी समझ में आता है कि तेल पेरने से निकला करता है, उसमें चाहे बालू ही पेरते रहो!

मिट्टी में घड़ा कुल्हड़ इत्यादि बनने की शक्ति है तभी बनते हैं, पत्थर में वह शक्ति नहीं है तो नहीं बनेंगे। जिसमें जो शक्ति है, उससे वही चीज़ें बनेंगी। अब वह शक्ति मिट्टी में ढूँढना नहीं। यह नहीं कि माइक्रोस्कोप से वे सब उसमें नज़र आयेंगे। देखोगे तो वहाँ केवल मिट्टी ही दीखेगी। लेकिन जब भिन्न भिन्न आकारों वाली बनती है तो पता लग जाता है कि इसकी शक्ति ज़रूर है। विवेक-चूडामणि में भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'कार्यानुमेया सुधियैव गम्या' कार्य देखकर पता लगता है कि इसमें यह शक्ति है।

इसी प्रकार ब्रह्म से जगत् बना। तुम निर्विकल्प समाधि में ब्रह्म को देखकर उसमें देखना चाहो कि इसमें क्या क्या बनने की शक्ति है, तो कुछ नज़र नहीं आयेगा। वहाँ शुद्ध चेतन ही नज़र आयेगा। लेकिन यह सारा जगत् बना है तो मानना पड़ता है कि उसमें यह सब बनने की शक्ति है। मिट्टी के दृष्टांत से श्रुति ने बताया कि मिट्टी जैसे अपनी शक्ति से ही सारे रूपों में बनती है, इसी प्रकार ब्रह्म अपनी शक्ति से ही सारे रूपों में बनता है। जैसे मिट्टी और शक्ति अलग अलग दीखती नहीं, लेकिन कार्य से अनुमान करते हैं, वैसे ही शिव-शक्ति अलग अलग दीखेंगे नहीं, लेकिन कार्य से ही अनुमान करना पड़ेगा कि शिव में शक्ति अवश्य है।

दूसरा दृष्टांत लोहे का दिया। लोहे से चीज़ें बनती हैं तो उसमें वह सब बनने की शक्ति है। जैसे लोहे से सुई, कढ़ाई इत्यादि जो बना लो, क्योंकि उसमें यह बनने की शक्ति है। तीसरा दृष्टांत चिन्गारियों का दिया। जैसे आग से चिन्गारियाँ निकलती हैं तो आग में चिन्गारी निकालने की शक्ति है। जिसमें वह शक्ति न हो उसमें से नहीं निकलती। आजकल गैस का चूल्हा चाहे जितना जलाते रहो, उसमें से चिन्गारी नहीं निकलेगी। बिजली के चूल्हे में भी वह शक्ति नहीं है, उलटा उसमें से चिन्गारी निकले तो झटका (shock) लगता है। अग्नि में चिन्गारी निकालने की शक्ति है तभी निकलेगी। लेकिन

Scanned by CamScanner

गैस या बिजली के चूल्हे में गर्मी तो है, चिन्गारी की शक्ति नहीं। ठीक जिस प्रकार हीजड़ा दीखता तो पूरा आदमी है लेकिन उसके अन्दर बच्चा पैदा करने की शक्ति नहीं। बाहर से देखने से पता नहीं लगता कि यह हीजड़ा है।

ऐसे ही हम लोग हैं। यह ज़रा कड़वी बात है। हम लोग भी आत्मा तो हैं, आत्मा की दृष्टि से हम लोग ब्रह्म ही हैं, लेकिन ब्रह्म तो चिन्गारी रूप से सृष्टि बना लेता है और हम लोग चाहें कि एक गिन्नी बना लें तो ही नहीं बना सकते। हैं तो हम आत्मा ही, इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन हमारी करने की शक्ति कुछ नहीं है। जैसे गैस, बिजली के चूल्हे में गर्मी तो है लेकिन अपने जैसी चिन्गारी बनाने की ताकत नहीं है, उसी प्रकार हम, जो अपने को जीवात्मा कहते हैं, हम भी आत्मा तो हैं, और आत्मा होने के नाते ब्रह्म भी हैं, लेकिन आगे कुछ उत्पन्न करने की शक्ति हमारी कुछ नहीं।

इन सब दृष्टांतों से जो सृष्टि का प्रतिपादन किया, इनके द्वारा श्रुति ने बताया कि ब्रह्म ही अपनी शक्ति से जगत् रूप में बनता है। जो जगत् रूप में बना हुआ है उसकी आगे बनने की शक्ति नहीं है। हम तो जीवभाव में बने हुए हैं इसलिये हमारी आगे बनने की शक्ति नहीं है। फिर ब्रह्मरूप हम होंगे तब हमारी शक्ति आ जायेगी। जैसे लोहे से कढ़ाई बन गई तो उस कढ़ाई से सुई नहीं बना सकते। कढ़ाई को पिघला दोगे तभी सुई बनेगी। इसी प्रकार जब तुम ब्रह्माभाव को प्राप्त करोगे तब फिर वह शक्ति आ जायेगी, लेकिन बने हुए में आगे कुछ बनने की शक्ति नहीं है। भूल यही करते हैं कि जीवभाव में ही बनंना चाहते हैं और नहीं बन पाते। वह तो जैसा परमेश्वर का संकल्प है वही होता रहेगा। थोड़ा सा विचारशील हो तो यह बात समझ में आ जाती है लेकिन थोड़ा भी विचार न हो तो फिर दूसरी कल्पनायें माननी पड़ती हैं।

भिन्न भिन्न प्रकार से जो सृष्टि को बताया वह बताना केवल इसलिये है कि तुम्हारे हृदय में ब्रह्म का अवतरण हो जाये अर्थात् इस सब सृष्टि के विचार से तुम्हारे हृदय में यह अवतार हो जाये कि मैं कुछ नहीं, ब्रह्मरूप ही हूँ। बस इसका उपायमात्र सृष्टि बताना है। वेदांती की दृष्टि में यही अवतार है। 'मैं जीव हूँ' यह ज्ञान बंधन है और 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान अवतार है। मैं जब सर्वथा ख़तम हो गया, ब्रह्म ही ब्रह्म रहा, तो स्वरूपस्थिति है। वेदांतों की दृष्टि में यही अवतार है।

इसीलिये महर्षि वाल्मीकि ने वाल्मीकि रामायण में एक ऐसा वाक्य बनाया है 'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे' जिसका शब्दार्थ तो यह है कि वेद के द्वारा जिसका ज्ञान हो जाता है वह परम पुरुष उत्पन्न हुआ दशरथ के पुत्र रूप में। शब्द इतने ही हैं। अब यदि तुम 'वेदवेद्ये परे पुंसि' के बाद विराम लगा दो, 'वेदवेद्य ब्रह्मपुरुष दशरथ के घर में पैदा हुआ,' तब तो उसका वही अर्थ हो जायेगा जो भक्तिशास्त्र का अवतार है कि वही परब्रह्म परमात्मा दशरथ के घर पैदा हुआ। और यदि इसे जैसा यहाँ बताया वैसा ही समझो तो अर्थ होगा कि दशरथ के पुत्र ने जब अपने को वेदवेद्य परमपुरुष

Scanned by CamScanner

समझ लिया तब वह अवतार हो गये। इसीलिये योगवाशिष्ठ इत्यादि के अन्दर यही उपदेश देते हैं। जब राम को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया तो उन्हें ज्ञान हो गया। यही अवतरण है, अवतार है। जहाँ जहाँ इस ब्रह्म का अवतार हो गया, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो गया, वही हमारे लिये ब्रह्म की मूर्त्ति बन गया।

इसको ब्रह्म से भिन्न अवतार क्यों मानते हैं? 'मैं जीव हूँ' यह तो बंधन है और स्वरूप ब्रह्म है। स्वरूप ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध कैसे हो? जिसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान है वह चूँकि 'मैं हूँ' ज्ञान वाला है इसलिये उपदेश आदि भी कर सकता है और 'ब्रह्म हूँ' ज्ञान वाला है इसलिये अनुभव के साथ तुम्हारी ब्रह्मरूपता को बता भी सकता है। जैसे पुल होता है, पुल को न इस किनारे का और न उस किनारे का कह सकते हैं। इसीलिये पुल इस किनारे से उस किनारे जाने का काम कर देता है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो दृढ ज्ञान है वह 'मैं हूँ' वालों कों 'ब्रह्म हूँ' ज्ञानवाला बना सकता है।

प्रायः ऐसा होता है कि शरीर इत्यादि ब्रह्म को धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं। जैसे यह तार है, अकस्मात् २२० की जगह ६०० वोल्ट बिजली आ जाये तो फ्यूज़ हो जायेगा। इतना याद रखना कि बिजली तो तब भी एक क्षण को पास हो जायेगी लेकिन उसकी ताकत इतनी होगी कि तार तुम्हारा जल जायेगा। ऐसा भी तार आता है जिसमें से ११००० वोल्ट की बिजली पास हो जाये। इसी प्रकार जिस शरीर मन के अन्दर अत्यधिक शक्ति है, वह शक्ति तपस्या से आई हो, किसी तरह से आई हो, उसमें से तो यह ब्रह्मज्ञान पास होने के साथ वह फ्यूज़ नहीं होता, स्थिर रह जाता है। स्थिर कितनी देर रहेगा, यह फिर तार की शक्ति पर निर्भर है। तार की शक्ति भी भिन्न भिन्न हुई। अगर तुम्हारे इस तार से ज्यादा मज़बूत तार है तो उसमें दो सैकेण्ड तक बिजली पास करवा देगा, फिर जल जायेगा। कोई तार ऐसा दृढ होगा कि निरंतर बिजली पास करती रहेगी और उसे प्रवाहित करता रहेगा।

इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के बाद किसी की शक्ति थोड़ी हुई तो वह थोड़ा कार्य कर सकता है, किसी की ज्यादा हुई तो ज्यादा कार्य कर सकता है। जिसकी शुद्धि इतनी अधिक हो गई कि ज्ञान होने के बाद यावज्जीवन उसका ब्रह्मज्ञान प्रवाहित होता रहे और उसके शरीर मन में कोई फ्यूज़ न हो, तो उसे हम लोग अवतार कहते हैं। माना यह जाता है कि साधारण आदमी पैदा होकर इतनी शक्ति वाला नहीं हो सकता इसलिये कहते हैं कि किसी न किसी देवभूमिका से आया है। वह भूमिका कौन सी है? तो सृष्टि की रक्षा करने वाला तत्त्व विष्णु कहा जाता है इसलिये सारे अवतार विष्णु के कहे जाते हैं। हर हालत में शक्ति उसमें पूर्ण है। यही अवतार का स्वरूप और यही उसकी पूज्यता है।

वस्तुतः भेदप्रतिपादन में वेद का तात्पर्य नहीं है। किसी प्रकार का भेद बताना इष्ट नहीं है।

Scanned by CamScanner

कोई शंका करता है कि उत्पत्ति आदि जो श्रुतियाँ हैं उनको स्वार्थ-निष्ठ मान लो अर्थात् जो अर्थ श्रुति कह रही है वही अर्थ उसका सच्चा मान लो। तुम सृष्टि को मायिक क्यों मानते हो? मान लिया कि सृष्टि की उत्पत्ति के पहले सब जन्मरहित एक और अद्वितीय था, फिर भी उत्पत्ति के बाद सब पैदा हो गया, ऐसा मान लो, और इसलिये उत्पत्ति के बाद जीव भिन्न भिन्न हो गये; पहले भले ही एक अद्वितीय था। जैसा कहा वैसा ही मान लो।

तब कहते हैं कि यह शंका तुम्हारी ठीक नहीं। उत्पत्ति की श्रुतियों के अन्दर स्वार्थनिष्ठता नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति बताने में वेद का तात्पर्य नहीं है क्योंकि वे अनुवाद वाक्य हैं। सृष्टि तो स्वभाव-सिद्ध है, सब को दीख रही है। इसलिये सृष्टि को बताना श्रुति का तात्पर्य नहीं हो सकता। जो चीज़ हमको दीख रही है, अपने आप ही अनुभव में आ रही है, वह क्या वेद बतायेगा? जो नाई, तेली, धोबी जानते हैं उसे वेद थोड़े ही बतायेगा। यदि तुम सृष्टि की श्रुतियों को यथाश्रुतार्थक मानोगे तो अनुवादक वाक्य हो जायेंगे। क्योंकि उनका अर्थ पहले ही पता है। कहोगे कि सृष्टि का पता है, वह कैसे हुई यह कहाँ पता है? लेकिन कैसे हुई बताना भी शास्त्र का प्रयोजन नहीं। पहले तो 'कैसे' की थोड़ी-बहुत जानकारी वैज्ञानिक भी पी ही जाते हैं अतः अनुवादकता भी हो ही जायेगी। लेकिन मुख्य बात है कि 'कैसे' का उपदेश हमारे किस काम का? हमें तो कभी सृष्टि बनानी नहीं। और न ही इसकी कोई उपासना विहित है। इसलिये मानना पड़ेगा कि सृष्टि की उत्पत्ति बताने में श्रुति का कोई दूसरा प्रयोजन है।

वह प्रयोजन यह बताना है कि यह सब ब्रह्मरूप है क्योंकि यह तथ्य हम लोगों को दीख नहीं रहा है। हम लोगों को सब अलग अलग दीख रहा है। इसी प्रकरण के दसवें श्लोक को ही यहाँ भगवान् भाष्यकारों ने उद्धृत कर दिया कि परमात्मा ही अपनी शक्ति से जीव आदियों को उत्पन्न करता है। जैसे घट से घटाकाश की उत्पत्ति ऐसे ही ब्रह्म की शक्ति से लगता है कि जीव उत्पन्न हो रहे हैं।

और आधुनिक लोगों के लिये यह बताने का सबसे दृढ तरीका है। आधुनिक लोग प्रश्न करते हैं कि आजकल जनसंख्या बढ़ रही है तो कहाँ से बढ़ रही है? उसका जवाब इससे स्पष्ट हो जाता है। परमेश्वर की शक्ति संकुचित थोड़े ही है। वह तो ईसाइयों की समस्या हुई कि उनका माल ख़तम हो जाता है। एक आदम को बनाकर ही उसका सारा माल ख़तम हो गया तभी तो ईव को बनाने के लिये उसकी हड्डी निकाली थी! लेकिन अपने परमेश्वर की शक्ति तो अनंत है। इसलिये हम कई बार लोगों से कहते हैं कि तुम लोग ज्यादा हीजड़ापंथी में जाओगे और कहीं अगला क्रम यह बना कि जैसे एक कुतिया के छह बच्चे एक बार में ही होते हैं, ऐसे आदमियों में होने लगे, तो फिर क्या करोगे? ये तो जितने उत्पन्न होने हैं सो होने ही हैं, नहीं तो नहीं होने हैं, परमेश्वर का जैसा संकल्प है। पुराने ज़माने में बहुत से लोग रसायन खाते रहते थे तब भी बच्चा पैदा नहीं होता

Scanned by CamScanner

था और जिनको कुछ खाने को नहीं मिलता ऐसे मज़दूर आठ दस बच्चे पैदा कर देते हैं। इसमें तुम्हारे चिंतन और कार्यक्रम क्या होने हैं? वह क्रम ही बदल जायेगा, एक की जगह छह छह होने लग जायेंगे। लेकिन यह वेदांत की दृष्टि से हुआ। व्यवहार वाले तो ऐसा ही मानते रहेंगे कि हम कम-ज्यादा कर लेंगे। वेदांती तो जानता है कि परमेश्वर का जैसा संकल्प है वैसा चलेगा, अपनी तरफ से कुछ नहीं होता है। इसी प्रकार जीवों की उत्पत्ति होती रहती है।

श्रुति का तात्पर्य समझने के लिये उपक्रमादि छह लिंगों का विचार करना पड़ता है। इसी विचार को करके पहले यह समझा चुके हैं कि सृष्टि और विभिन्न जीव श्रुति को तात्पर्यतः विवक्षित नहीं हैं। यहाँ जिन श्रुतियों से सृष्टि की चर्चा चल रही है उन्हीं का तात्पर्य अद्वैत में है यह जानकर ही पहले बताया था कि आत्ममाया से संघात और घटाकाशस्थानीय जीव वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे सपने में बहुत से पदार्थ और व्यक्ति पैदा हो जाते हैं। वहाँ समझाया था कि उत्पत्तिश्रुति मिथ्या उत्पत्ति का कथन कर रही है और यहाँ बता रहे हैं कि उत्पत्तिश्रुति तात्पर्य से जीव-ईश्वर की एकता बताती है।

सारी सृष्टि का प्रकार अलग अलग ढंग से जीव और परमात्मा की एकता की बुद्धि का अवतार करने के लिये बताया है। वही इसका उपाय है। इस उपाय से जीव-ब्रह्म की एकता बता सकते हैं, और कोई उपाय नहीं जिससे बताया जा सके। यही उपाय है जिसके द्वारा दूसरे जीव में ब्रह्मबुद्धि का अवतरण कराया जा सकता है। अध्यारोप-अपवाद के बिना और किस प्रकार से दूसरे को उपदेश करोगे? जीव सर्वथा परमात्मा से एक है तो बुद्धि का अवतरण करने के लिये यही हमारे लिये मार्ग है, इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं जिससे उपदेश किया जा सके।

प्रश्न उठता है कि शक्तिलभ्य अर्थात् यथाश्रुत अर्थ बलीयान् होता है। वाक्य का सीधा सादा अर्थ ही ठीक हुआ करता है। फिर आपने जो कल्पना की कि उत्पत्तिश्रुतियों का कथन अद्वैत बोध के लिये है, वह कल्पना ही क्यों करनी? सीधा ही समझ लो कि जैसे मिट्टी के टुकड़े ऊपर नीचे होते हैं ऐसे ही ब्रह्म में टुकड़े होते होंगे जो हमारे कर्मों के कारण ऊपर नीचे हो जाते होंगे। ब्रह्म को निरवयव क्यों मानते हो?

उत्तर है कि शब्दशक्ति से प्रतीत होने वाला अर्थ श्रुत्यर्थ होता है ऐसा नियम नहीं है, बल्कि जो तात्पर्यगम्य अर्थ होता है वह श्रुत्यर्थ होता है। यह ज़रा मीमांसा का विषय है इसे अच्छी तरह समझना। जैसे छांदोग्य उपनिषद् में कहा 'कप्यासपुण्डरीकाक्ष' तो वैष्णवों ने कल्पना की 'क' मायने जल, जल को पीने वाला सूर्य कपि का अर्थ है। तब अर्थ सूर्य की ललाई माना। हम लोगों का कहना है कि रुढ अर्थ कपि मायने बन्दर है, उसकी जगह ज़बर्दस्ती कपि का मतलब सूर्य करो यह ठीक नहीं। वही आर्यसमाजियों का बीज है। हम प्रायः यह कहा करते हैं कि वैष्णवों ने अट्ठारह में से दस पुराण राजस तामस करके छोड़ दिये और बाकी आठ आर्यसमाजियों ने छोड़े; तो ज्यादा उन्होंने छोड़े

Scanned by CamScanner

या वैष्णवों ने? वैष्णव बड़े नाराज़ होते हैं। कहते हैं कि पुराण तो सत्त्वगुणी, रज़ोगुणी, तमोगुणी हैं ही। फिर 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इससे तीनों गुण वालों को छोड़ो, यही तो आर्य समाजी मानते हैं। इसलिये आर्य समाज के सिद्धांत को चलाने वाले ये ही लोग हैं। हम लोग तो यथाश्रुत मानते हैं। नारायण अनुवाक में कहा है 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्'। यथाश्रुत अर्थ है कि वह परमात्मा ही ब्रह्मा है। उसमें नारायण को ब्रह्मा, उसी को शिव, उसी कों इन्द्र, अक्षर, और स्वराट् कहा है। वस्तुतः ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र एक ही हैं। हम यह यथाश्रुत अर्थ मानते हैं। लेकिन वे कहते हैं कि ऐसा नहीं, शिव का अर्थ कल्याण करो। क्योंकि विष्णु कल्याणकारी हैं इसलिये उन्हें शिव कहा। मतलब शिव नहीं समझना। यह परम्परा उन्हीं से प्रारंभ होने वाली है। आते आते आर्यसमाजियों ने सारे यौगिक अर्थ मान लिये। राजा होने से इन्द्र, शुद्ध करने वाला होने से वरुण कह देते हैं। इसलिये इन्द्र वरुण आदि कोई देवता नहीं हैं। थोड़ा सा इन्होंने हटाया, बाकी उन बेचारों ने हटा दिया। हम लोगों का सिद्धान्त है कि जो शब्द जिस अर्थ में आया है उसी अर्थ में लेना चाहिये। कपि का अर्थ बन्दर है तो अच्छा बुरा जो लगे उसका अर्थ बन्दर लो। यौगिक अर्थ न करो। लेकिन यह चीज़ ऐसी घुस गई है और खासकर आजकल; क्योंकि लोग संस्कृत नहीं जानते इसलिये ज़बर्दस्ती यौगिक अर्थ करके बोलते हैं और दूसरे लोग प्रसन्न भी होते हैं कि अच्छा अर्थ किया, लेकिन आगे कभी नहीं सोचते कि ऐसा अर्थ मानेंगे तो व्यवस्था कहीं नहीं रहेगी। इसलिये रुढ अर्थ संभव रहते यौगिक अर्थ हम लोग स्वीकार नहीं कर सकते, रुढ अर्थ स्वीकार करते हैं। इसीलिये हम लोगों को कई लोग रूढिवादी कहते भी हैं लेकिन यह हमारे लिये भूषण का शब्द है, कोई बुरी चीज़ नहीं है। हमारे लिये तो अच्छा है।

फिर सृष्टि-वाक्यों को सृष्टिपरक क्यों नहीं मान लेते? तात्पर्य की दृष्टि से। जैसे ऋग्वेद में सबसे पहले कहा कि मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ। वह अग्नि कैसा है? 'अग्निमीळे पुरोहितम्' पुरोहित अर्थात् जो आगे चलकर सबका हित करता है। 'यज्ञस्य देवमृत्विजम्' सारे यज्ञ का वही देवता है। 'होतारं रत्नधातमम्' आहुति देने वाला भी वही है। सारे रत्नों को धारण करने वालों में वही श्रेष्ठ है। हम लोग कहेंगे कि इसका शब्दार्थ तो हम बिल्कुल यही लेंगे कि पुरोहित, 'होता' ऋत्विक् और रत्न धारण करने वाला यज्ञों का देवता अग्नि हमारे द्वारा नमन किया जाता है। यह शब्दार्थ हुआ।

अब वाक्यार्थ में लक्षणा आयेगी। अग्नि का तात्पर्य यहाँ जलने वाली आग से नहीं हो सकता क्योंकि जलने वाली आग किसी का हित नहीं करती। इसमें रत्न डालो तो जल जाते हैं, यह रत्नों को कभी धारण नहीं करती। यह कभी आहुति भी नहीं देती। इस प्रकार अग्नि होता ऋत्विक्, रत्न धारण करने वाला हो नहीं सकता। इसलिये यहाँ लक्षणा करनी पड़ेगी। अग्नि से अग्नि देवता की लक्षणा होगी। इस तरह से हम लोग वाक्यार्थ करते हैं। अग्नि देवता रत्न धारण करने वाला तथा होता पुरोहित भी है। यही ठीक है।

Scanned by CamScanner

यथाश्रुत अर्थ की अपेक्षा अन्यत्र तात्पर्य वेद में होता है इसके लिये भाष्यकारों ने यह दृष्टांत दिया : वाणी इत्यादि सबने प्रजापति के पास जाकर पूछा कि हम सब में श्रेष्ठ कौन है? प्रजापति ने कहा कि तुम लोग सब एक साल तक शरीर छोड़कर जाओ। जिसके जाने पर शरीर न रहे, वही श्रेष्ठ सिद्ध होगा। वाणी गई तो आदमी गूँगे की तरह हो गया। मन गया तो पागल की तरह, हाथ गया तो लूले की तरह, पैर गया तो लंगड़े की तरह हो गया। कान गया तो आदमी बहरे की तरह हो गया। अंत में जब प्राण निकलने से आदमी मरने लगा तो प्राण की श्रेष्ठता बता दी। जैसे यहाँ तात्पर्य इसमें नहीं है कि वाणी गई, वरन् इसमें है कि प्राण की श्रेष्ठता है। शब्दशक्ति से प्रतीत हुआ कि कहानी है लेकिन तात्पर्य इस आख्यायिका से पता लगा कि प्राण की श्रेष्ठता बताई जा रही है।

ऐसे ही एक दूसरे संवाद में बताया कि देवासुर संग्राम हुआ। उसके अन्दर देवताओं ने सोचा कि हम यज्ञ करके असुरों को जीत लेंगे तो उन्होंने यज्ञ का स्थल देखा। वाक् आदि एक एक इन्द्रिय को उद्गाता बनाया। लेकिन जिस जिस को वरण कर यज्ञ करने में लगाया उन सबको लोभ देकर असुरों ने उनका पापसे वेधन कर दिया। इसलिये वे लोग जीत नहीं पाये। इसीलिये आज वाणी अच्छी बात भी बोलती है, बुरी बात भी बोलती है। असुरों से विद्ध होने से कान अच्छी बात भी सुनता है, बुरी बात भी सुनता है। आँख अच्छा देखती है और बुरा भी देखती है। अंततोगत्त्वा जब प्राण को असुरों ने विद्ध करने की कोशिश की तो प्राण असुरों के लोभ में नहीं आया। इसलिये प्राण कभी कोई बुरा कर्म नहीं करता। यह आख्यायिका प्राण की असंगता बताने की हुई। यह सब प्राण के वैशिष्ट्य को बताने के लिये है कि बाकी सारे असुरों से विद्ध हैं, प्राण असुरों से अननुविद्ध रहे। प्रशंसा वैशिष्ट्यबोधन आदि में तात्पर्य है यह इन आख्यायिकाओं में कल्पना की गई।

'कल्पिता' के द्वारा भगवान् भाष्यकार ने बताया कि सचमुच वाणी इत्यादि जाकर नहीं बोली। लोग पुराण बाँचते हैं कि पृथ्वी गाय बनकर गई। लोग समझते हैं कि सचमुच चार पैरों पर चली गई। गाय अत्यंत दीन होती है इसलिये पृथ्वी पर जब अत्याचार होता है तो लोग दीन हो जाते हैं, गाय की तरह। जैसे अब इमर्जेन्सी आ गई तो सब गाय की तरह दब गये। सचमुच चार पाये वाले हो गये, सो नहीं। लेकिन जब तक वेद आदि का अध्ययन न करो तो जैसा मर्ज़ी तात्पर्य लगाते रहो।

कोई पौराणिक बोल पड़ा कि ऐसा नहीं। यह जो तुम प्राण-वैशिष्ट्य में ही तात्पर्य मानते हो, यह ठीक नहीं। वाणी इत्यादि के अन्दर भी चेतनता होती है। इनके भी अधिष्ठाता देवता होंगे, वे सचमुच गये होंगे। जैसे पुराणों में आता है कि जामुन के पेड़ से जामुन टपका, वह जम गया तो एशिया द्वीप (जम्बू द्वीप) बन गया। ऐसा ही मान लेना चाहिये जैसा लिखा है। इसी प्रकार इनके भी देवता होते होंगे और वे भी प्रजापति के पास गये होंगे।

Scanned by CamScanner

सिद्धांती कहता है कि ऐसा नहीं। आगे का वाक्य अच्छी तरह समझने का है क्योंकि प्रायः हम लोगों के यहाँ पुराणों की कथायें होती रहती हैं और यह सिद्धांत न समझने से लोग हमेशा भूल करते रहते हैं। पहला हेतु दिया कि प्राण, वाणी इत्यादि की कथायें भिन्न भिन्न उपनिषदों में भिन्न प्रकार से बनाई हैं। कहीं वाणी को पहले लिख दिया कहीं आँख को और कहीं कान को पहले लिख देते हैं। यदि कहानियाँ सच्ची होतीं तो एक तरह की होतीं, क्योंकि घटना एक ही तरह की हो सकती है। यदि चार जगह चार प्रकार की भिन्न कथायें हैं तो वे सारी की सारी झूठी हैं। इसलिये मानना पड़ता है कि उनसे किसी तात्पर्य को बताया जा रहा है। वह तात्पर्य सच्चा होता है।

पुराण के अन्दर जितनी घटनाओं को देखोगे जो ऐतिहासिक नहीं हैं, उन सबमें एक से दूसरे पुराण में फ़रक है। वह इसलिये कि पढ़ने वाला समझ जाये कि घटना सच्ची नहीं है। लेकिन फिर भी लोग उसी को पकड़े बैठे रहते हैं कि जैसा लिखा है वैसा मान लेंगे। भिन्न भिन्न उपनिषदों के अन्दर प्राण आदि के संवाद अन्य अन्य प्रकार से कहे गये हैं। इसलिये प्रशंसादि में तात्पर्य समझ लेना चाहिये। इसी बात को दूसरी तरह से कहते हैं। यदि यह बातचीत सचमुच हुई होती तो एकरूप से हुई होती और वह सब उपनिषदों में एक ही क्रम से लिखी होती। एक दूसरे से विरुद्ध प्रकार से, अलग अलग कथा न हो गई होती और कही गई हैं अलग अलग ढंग से। इसलिये वे जो संवादश्रुतियाँ हैं, वे तदर्थक नहीं मानी जा सकतीं। चार तरह से अगर तुम गवाही में अपनी गवाहीं बदलो तो तुम्हारी गवाही झूठी मानी जायेगी। श्रुतियों ने ये झूठी समझाने के लिये तरह तरह की कथायें कह दीं जिससे आदमी समझ ले कि सच्ची बात नहीं है।

जैसे ये संवाद बताये वैसे ही श्रुतियों में सृष्टि की उत्पत्ति बताने वाले वाक्य हैं। तैत्तिरीय में कहा आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। प्रश्नोपनिषद् में कहा कि आत्मा से प्राण उत्पन्न हुए। छांदोग्य में कह दिया कि आत्मा से तेज उत्पन्न हुआ। यदि सचमुच उत्पन्न हुआ होता तो एक जैसा सब जगह कह दिया जाता। यदि सचमुच बताना होता तो एक जैसी कथायें होतीं। लेकिन सारी उपनिषदों में भिन्न भिन्न प्रकार से सृष्टि क्रम हैं। कहीं श्रद्धा को ही पहले बता दिया। इसलिये विचार से सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति बताना श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है।

पौराणिक एक और ढंग निकालते हैं। जैसे बेचारे तुलसीदास जी ने कहा 'कल्पभेद हरि चरित अपारा' किसी काल में तुलसी दास के, किसी में वाल्मीकि के , किसी काल में अध्यात्म रामायण के अनुसार रामलीला हो गयी होगी, सब मान लो। पौराणिक इसी तरह व्यवस्था बनाने की कोशिश करते हैं कि भिन्न भिन्न कल्पों में भिन्न भिन्न प्रकार से हो गया होगा, अर्थात् प्रतिकल्प सृष्टिप्रक्रिया में भेद मान लो। उसी तरह से वहाँ भी समझ लो कि किसी कल्प में प्राण प्रजापति के पास चला गया होगा, किसी दूसरी जगह

Scanned by CamScanner

स्वतंत्रता पूर्वक ही प्राण का निर्णय हो गया कि हम लोग ही आपस में विचार करके देखें। किसी कल्प में वाणी बड़ी हो गई। ऐसे ही उत्पत्ति श्रुतियों को भी कर लो कि किसी कल्प में तेज पहले पैदा हुआ, किसी में आकाश पहले और किसी में श्रद्धा पहले उत्पन्न हो जाती होगी। इसी प्रकार अलग अलग श्रुतियों में कही अलग अलग चीज़ें अलग-अलग कल्पों में हो गई होंगी। इस प्रकार प्रतिसर्ग भेद मान लो।

जवाब है कि यह मानना ठीक नहीं क्योंकि पहले सर्गभेद, सृष्टि के ढंग में भेद, सिद्ध हो तब तुम्हारी यह व्यवस्था बने! सर्गभेद तो आज तक सिद्ध नहीं हुआ। सर्गभेद मानने में सबसे पहला दोष निष्प्रयोजनता का आता है। किसी भी काम को करने का सर्वश्रेष्ठ एक तरीका हुआ करता है। वह तरीका तब बदलता है जब उस तरीके में कोई कमी हो। यदि सर्गों में भेद है तो परमेश्वर अपूर्ण है। उसे पता नहीं लगता। एक बार यह ग़लती की, दूसरी बार फिर दूसरी तरह से ग़लती करता है। फिर काहे का परमेश्वर है? महामूर्ख है। ठीक इसी प्रकार यदि अवतारों में मानोगे कि रामावतार होता तो बार-बार है लेकिन हर बार अलग अलग व्यवहार करते हैं तो राम सर्वज्ञ नहीं हो सकते। वे तो फिर हमारी तरह से हुए; जैसे यदि हमें फिर यहाँ आना पड़ा और मन्दिर बनाने का मौका मिला तो जो ग़लती पहले की, वही फिर करेंगे क्योंकि पहले वाली ग़लती का पता नहीं रहेगा। इसी प्रकार परमेश्वर भी हमारी तरह अपूर्ण हो जायेगा। परमेश्वर को ऐसा अपूर्ण बताना वेद का कोई तात्पर्य नहीं है! फिर यह बताओ कि अलग अलग ढंग से सृष्टि करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रकार निष्प्रयोजनता यहाँ बता दी। विभिन्न सर्गों में सृष्टि कैसे हुई, इसको जानकर तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? पहला दोष परमेश्वर की अपूर्णता और दूसरा, हमें यह बताने का प्रयोजन क्या? सृष्टि उसने कैसे कैसे की वह सारा इतिहास हमें क्यों बताता है। इसलिये हमारे लिये भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है और परमेश्वर में भी उसकी प्रयोजनीयता नहीं है। दोनों तरह से निष्प्रयोजन है। फिर कहा क्यों? यह सृष्टि उत्पन्न ही नहीं हुई इस प्रकार के ज्ञान को हमारे अन्दर उतारना प्रयोजन है। भिन्न भिन्न कथन सुनोगे तो तुम उसे झूठा समझोगे। इससे अन्य कोई प्रयोजन वाली संवाद श्रुतियाँ हों या उत्पत्ति-श्रुतियों का कोई दूसरा प्रयोजन हो, इसकी कल्पना करना सम्भव ही नहीं है। अर्थात् प्रयोजनांतर इसके सिवाय हो ही नहीं सकता। सृष्टि नहीं हुई यह बताने में भिन्न भिन्न प्रकार से कहने का तात्पर्य है, और कोई तात्पर्य नहीं है। इसी प्रकार पुराणों के कथाभेद यह बताने के लिये ये सब कल्पित कहानियाँ सच्ची नहीं हैं। इसलिये यह देखना पड़ेगा कि कहानी का प्रयोजन क्या, किस तात्पर्य से कही गई। प्रायः कहानी को लेकर लोग फँस जाते हैं और उसी पर शंका समाधान चलता रहता है।

अब दूसरी तरह से सृष्टिवाक्यों की ब्रह्मपरता हटाने की कोशिश करता है : ऐसा मानो कि इस प्रकार का ध्यान करने से बड़ा पुण्य होता होगा। प्राण की श्रेष्ठता का इस

Scanned by CamScanner

प्रकार ध्यान करो। जब वह बार बार सोचोगे तो ध्यान करते करते जैसे ही प्राण पर वृत्ति एकाग्र हुई तो हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति। इसी प्रकार सृष्टि पर ध्यान करते करते वृत्ति एकाग्र हो जायेगी तो विराट् भाव की प्राप्ति हो जायेगी, ब्रह्मा बन जाओगे। इस प्रकार की प्रतिपत्ति के लिये ध्यान करो, यह सृष्टि को कहने का प्रयोजन है। सृष्टि इत्यादि इस प्रकार से हुई, यह बताना प्रयोजन नहीं, यह तो सिद्ध होता है। और ध्यान में विकल्प भी हो जाता है : जैसे किसी को विष्णु की मूर्त्ति अच्छी लगी, किसी को शंकर की अच्छी लगी, तो उस उस पर वृत्ति एकाग्र होती जायेगी। इसलिये सृष्टि को विविध प्रकार से बताकर ध्यान के प्रकार भी अलग अलग बता दिये।

यह संदेह होने पर कहते हैं : जब प्राणसंवाद पर ध्यान करोगे तो ये आपस में झगड़ रहे थे, झगड़े का ध्यान करने से अनिष्ट होगा, इष्ट नहीं। ठीक इसी प्रकार पौराणिक कथा में भी यही नियम लागू होगा कि राम रावण के युद्ध का ध्यान करोगे तो घर में कलह होगी। प्रसिद्धि भी यही है कि महाभारत घर में नहीं बाँचनी चाहिये। उसका मतलब यह नहीं कि पाठ मत करो। मतलब यह है कि लड़ाई का ध्यान करोगे तो तुम्हारे मन में भी लड़ाई की बातें आयेंगी। इसी प्रकार पुराणों के अन्दर जगह जगह आता है कि अमुक ऋषि को काम उत्पन्न हो गया, अमुक को क्रोध उत्पन्न हो गया। वहाँ सब यह बताने में तात्पर्य है कि काम क्रोध जीतने में लगे रहो। यदि इसमें लगे रहोगे कि इतने बड़े बड़े ऋषियों को कैसे हुआ, अर्थात् उसका ध्यान करोगे, तो स्वयं कामी क्रोधी बनते रहोगे। काम क्रोध आदि नहीं छूटते तो छोड़ने का विधान क्यों किया? इसलिये यदि उसे ध्यानार्थक मानोगे तो उसमें और कलह की बात बढ़नी है, झगड़ा बढ़ना है और उससे तुम्हें अनिष्ट की ही प्राप्ति होगी। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' जिस प्रकार की उपासना करोगे वही बन जाओगे। कलह आदि के ध्यान से कलह आदि की प्राप्ति होगी।

इसीलिये ध्यान पर ज़ोर दिया कि शंकर का ध्यान करो। पार्वती का करोगे तो एक दिन वही बन जाओगे! अब गृहस्थी के लिये पार्वती का ध्यान ठीक है, संन्यासी अपने संन्यासी रूप भगवान् शंकर का ध्यान करे। इसी प्रकार सारे वर्णों में समझ लेना। हो क्षत्रिय और ध्यान नारायण ऋषि का करे कि बद्रीनारायण में तपस्या कर रहे हैं तो उससे हो गया युद्ध का काम! हो बनिया और ध्यान करे कि किस प्रकार से कृष्ण सुदर्शन चक्र चला रहे हैं तो उससे हो गया दुकान का काम! बंटाढार हो जायेगा, कौन ग्राहक उसके पास आयेगा? इसके द्वारा बताया कि सभी अपने अपने इष्ट का ध्यान करें। इसी प्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि अपने अपने दृष्टिकोण को लेकर चलें। संन्यासी भगवान् दक्षिणामूर्त्ति का या भगवान् बद्री नारायण विष्णु का ध्यान करे जहाँ वे एकांत में तपस्या कर रहे हैं। लक्ष्मी को बीच में ले आये तो हुआ गड़बड़। ऐसे ही कलह आदि का ध्यान करोगे तो कलह करने वाले हो जाओगे।

Scanned by CamScanner

इसलिये जो उत्पत्ति, प्राणसंवाद आदि श्रुतियाँ हैं वे आत्मा की एकता के ज्ञान को तुम्हारे हृदय में बैठाने के लिये हैं, और कोई दूसरा प्रयोजन उनका सिद्ध नहीं होता। इसलिये तुम्हारी यह कल्पना युक्त नहीं है।

यह ध्यान रखो कि प्रायः हम लोग जब पुराण बाँचते हैं तो उसमें ऐसी आख्यायिकायें आती हैं, यदि उनको वैसा का वैसा सोचते रहोगे तो उलटा फल होता रहेगा। लोगों को उलटा फल होने का यही कारण है। इसलिये उत्पत्ति आदि के द्वारा जो तुम भेद करना चाहते हो कि सृष्टि प्रक्रिया को बताया है तो संसार को ब्रह्म से सचमुच उत्पन्न होने वाला मान लो, तो यह किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता।।१५।।

●

अब मन में शंका उठती है कि कई जगह आत्मा की उपासना करने को भी कहा गया है। उपासना तब तक नहीं बनेगी जब तक भेद नहीं होगा। उत्पत्ति आदि श्रुति के विरोध का परिहार तो कर दिया कि श्रुति का तात्पर्य अभेद में है, भेद में नहीं है। लेकिन श्रुति तुम्हें उपासना करने को कहती है, उसका क्या होगा? इसका समाधान करते हैं—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ।।१६।।

'आश्रमाः' अर्थात् आश्रमों में रहने वाले व्यक्ति। आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। आश्रम से वर्ण की उपलक्षणा भी साथ ही हो जाती है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। इन चारों आश्रमों और वर्णों में रहने वाले सारे ही आदमी उत्तम नहीं होते। रास्ते तो चल रहे हैं लेकिन उत्तम नहीं हैं। काई हीन दृष्टि वाले, मंद बुद्धि वाले, कोई मध्यम दृष्टि वाले, और कोई उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ दृष्टि वाले होते हैं। यद्यपि हैं तो वे सारे के सारे किसी न किसी वर्णाश्रम में, लेकिन वर्णाश्रम में रहते हुए भी सब तो उत्कृष्ट दृष्टि वाले होते नहीं, हीन और मध्यम दृष्टि वाले भी होते हैं। यह जो उपासना के प्रकरण हैं, ये हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टि वालों के ऊपर कृपा करके वेद ने बताये।

तात्पर्य हुआ कि जो तो विवेकी हैं वे तो चारों वर्णों और चारों आश्रमों का बाध करके परमहंस परिव्राजक हो जायेंगे। वे न चारों आश्रमों में और न चारों वर्णों में होंगे। लेकिन दूसरे लोग वर्णाश्रम को छोड़ने में समर्थ नहीं होते। जो छोड़ने में समर्थ नहीं, वे किसी प्रकार परमात्मा की तरफ जा सकें— इसके लिये कृपा करके श्रुति ने उपासना बताई। श्रुति का तात्पर्य उपासना के द्वारा द्वैत की स्थापना नहीं, बल्कि जो व्यक्ति वर्णाश्रम को नहीं छोड़ सकते उनके लिये यह उपाय बताया।

यहाँ संन्यासाश्रमी और परमहंसपरिव्राजक का भेद है। श्रौत परिव्राजक वर्णाश्रम के अन्तर्गत नहीं क्योंकि आश्रम संन्यास में फिर नियम हैं जैसे तीन बार स्नान करे, जिस

Scanned by CamScanner

समय धुआँ बन्द हो तब भिक्षा करने जाये इत्यादि, लेकिन श्रौत संन्यास में सभी वर्णाश्रमधर्मों का त्याग इष्ट है। वह तो नित्य निरंतर श्रवण मनन निदिध्यासन के लिये है। बाकी सब जपनिष्ठा, तपोनिष्ठा, व्रतनिष्ठा को छोड़कर केवल श्रवण मनन निदिध्यासन में लगा रहे।

भाष्य में शंका करते हैं कि आपने कहा वह पर आत्मा ही एकमात्र है, वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। ऐसा नहीं कि पर आत्मा पहले कभी अशुद्ध रहा हो, फिर शुद्ध होता हो। जैसे रस्सी में ऐसा नहीं कि पहले साँप था, रोशनी आने पर साँप चला गया, वरन् जब साँप दीख रहा था तब भी रस्सी ही थी। इसी प्रकार आत्मा ऐसा नहीं कि साधना करोगे तब शुद्ध होगा। जब अशुद्ध समझ रहे हो उस काल में भी शुद्ध ही है, भ्रम से अशुद्ध समझ रहे हो। इसी प्रकार आत्मा नित्य ही बुद्ध और नित्य ही मुक्त है। यह उसका स्वभाव है और वही वास्तविक है, सचमुच है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी इसे पारमार्थिक रूप में बता रही हैं। उससे भिन्न जो है वह सब मिथ्या है, तो फिर यहाँ उपासना का उपदेश श्रुति ने क्यों किया? इसका उपदेश श्रुति ने कहाँ किया? स्वयं श्रुतिप्रमाण देते हैं : 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आत्मा का दर्शन करो। आत्मा जब नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है तो 'उसका दर्शन करो' क्यों कहा? अथवा 'य आत्मापहतपाप्मा' आत्मा में सारे पाप निवृत्त रहते हैं। जब पाप हैं ही नहीं तो निवृत्त कैसे हो जाते हैं? 'स क्रतुं कुर्वीत' वह शुद्ध संकल्प करे, इच्छाशक्ति को दृढ करे। 'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मा' ऐसी ही उपासना करे, उसी का निदिध्यासन करे इत्यादि। ये सारी उपासनायें क्यों बताई हैं? इतना ही नहीं कि केवल ये सब उपासनायें ही बताई हों, कर्म भी बताये हैं, जैसे अग्निहोत्र करे, स्वर्ग जाये इत्यादि। उत्पत्ति आदि श्रुतियों को अलग अलग ढंग से बताया इसलिये यह तो समझ लिया कि सृष्टि बताने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। लेकिन यहाँ तो उपासनायें बताई और अग्निहोत्र आदि कर्मों का फल भी बताया। इसी तरह कहा कि भिन्न भिन्न आश्रमों के प्रधान धर्म करे। गृहस्थ से पूर्व वेदाध्ययन करे, गृहस्थी दान करे, वानप्रस्थी तप करे और संन्यासी का प्रधान धर्म त्याग बताया। आदि भिन्न भिन्न कर्म आश्रमों के अनुसार बता दिये।

उत्तर देते हैं कि इनका कारण कान खोलकर सुन लो कि श्रुति ने ऐसा क्यों कहा। 'आश्रमाः' का अर्थ भगवान् भाष्यकारों ने 'आश्रमिणः' कर दिया अर्थात् आश्रम वाले व्यक्ति। उन्हीं को कर्म और उपासना के अन्दर अधिकार बताया है। परमहंस परिव्राजक को कर्म का अनधिकारी बताया है क्योंकि कर्माधिकार की प्राप्ति चोटी जनेऊ से, और जब चोटी जनेऊ छोड़ दिया तो कर्माधिकार कहाँ रहा? इच्छा होने के कारण सोचते हैं कि 'चलो कर लेने से कोई फल तो मिल जायेगा।' आजकल यह ज्यादा हो गया है। जैसे शूद्र कहता है कि यज्ञ क्यों नहीं कर सकते, ऐसे ही संन्यासी सोचता है कि यज्ञ

Scanned by CamScanner

करेंगे तो हर्ज़ा क्या है! विवेकी होगा तो जानेगा कि जैसे चोटी जनेऊ के बिना शूद्र को अधिकार नहीं, ऐसे ही संन्यासी को नहीं। शूद्र के चोटी तो फिर भी है संन्यासी के तो वह भी नहीं है। इसलिये कहा 'अधिकृताः' अर्थात् जिनको कर्म करने में अधिकार की प्राप्ति है उनके लिये है।

वह अधिकार कैसे प्राप्त होगा? वर्णानुसार ही आश्रमविभाजन है, इसलिये वर्णों का भी ग्रहण आश्रम से करना पड़ेगा। आश्रम के अन्दर प्रवेश वह करेगा जो पहले वर्ण वाला हो। इसलिये वर्ण-धर्म भी अपने आप प्राप्त हो जायेंगे। जहाँ 'आश्रमाः' कहते हैं वहाँ हमेशा ही वर्णों को ले लेना पड़ता है क्योंकि बिना वर्ण के आश्रम नहीं। इसीलिये ब्राह्मण गृहस्थ और क्षत्रिय गृहस्थ का कर्म एक नहीं। ब्राह्मण ब्रह्मचारी और क्षत्रिय ब्रह्मचारी का कर्म एक नहीं। ऐसे ही वैश्य ब्रह्मचारी और वैश्य गृहस्थ का कर्म एक नहीं। इसी प्रकार ब्राह्मण वानप्रस्थी और क्षत्रिय वानप्रस्थी का कर्म एक नहीं। ऐसे ही ब्राह्मण संन्यासी और वैश्य संन्यासी का कर्म एक नहीं। इन सबमें शास्त्रों ने भेद इसीलिये बताये क्योंकि वर्ण-भेद है।

आजकल एक नया सिद्धांत लोगों ने चला रखा है कि संन्यासी होने से वर्ण की निवृत्ति हो जाती है। यदि आश्रम-परिवर्तन से वर्ण बदलता हो तो फिर जब ब्रह्मचारी गृहस्थ बनता है तो उसका वर्ण ख़तम हो जाना चाहिये। इसलिये आश्रम-परिवर्तन से वर्ण-परिवर्तन नहीं होता।

वर्णाश्रमी तो सभी बनते ही रहते हैं। किंतु एक तो अपने को वर्णाश्रमी कहते हैं लेकिन वर्णाश्रम के मार्ग का पालन नहीं करते, उस मार्ग के अनुसार नहीं चलते। उनके ऊपर वेद की कोई अनुकंपा नहीं होती। इसलिये वे लोग कामनाओं से दग्ध होकर स्वर्ग नरक जाते रहें, उनकी चिंता श्रुतियों को नहीं। लेकिन जो लोग वर्णाश्रम के अनुसार चलकर अद्वैत तत्त्व को प्राप्त करना चाहें, अर्थात् जो इस वेदांत मार्ग में चलने की इच्छा वाले हैं; जो हैं तो वर्णाश्रित, सारे वर्णाश्रमों को छोड़ नहीं पा रहे हैं, लेकिन चाहते हैं कि हमें इस अद्वितीय तत्त्व की प्राप्ति हो; वे इस मार्ग में चलने वाले हैं। आश्रम शब्द का अर्थ आश्रमी वर्णी भी कर दिया, वेदांत मार्ग पर चलने की इच्छा वाले भी कर दिया, सो कैसे? कहते हैं कि आश्रम शब्द तो प्रदर्शन के लिये है अर्थात् संकेत के लिये है। इसलिये आश्रम शब्द से अपने आप ये सब बातें समझ लेनी चाहिये।

वे कैसे हैं? तीन प्रकार के हैं। जो आश्रमी और वर्णी अद्वैत की निष्ठा प्राप्त करने की इच्छा वाले तो होने पर भी हीन दृष्टि वाले हैं उनको तो कार्य ब्रह्म की उपासना बताई जाती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और आत्मा इन सबको ब्रह्मरूप समझकर उपासना करे। यह कार्यब्रह्म की उपासना हीन दृष्टि वालों के लिये बताई कि उसे परमेश्वर की मूर्त्ति समझो। जो वेदांत की दृष्टि वाले नहीं हैं, वर्णाश्रमी हैं, वे

Scanned by CamScanner

चतुर्मुखी ब्रह्मा का, कोई इन्द्र की, कोई वरुण की उपासना करेंगे, क्योंकि वे अद्वैत दृष्टि नहीं चाहते। जो अद्वैत दृष्टि चाहते हैं लेकिन बुद्धि मन्द है, तो उनके लिये उपर्युक्त कार्यब्रह्म की उपासना बता दी कि जब देखे तब दृष्टि करे कि ये आत्मस्वरूप हैं।

जो मध्यम दृष्टि वाले हैं उन्हें कारण ब्रह्म की उपासना बताते हैं : अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के अज्ञान के कारण ही तुमको ऐसी प्रतीति हो रही है। अज्ञात ब्रह्म ही कारण ब्रह्म है। अज्ञान अथवा माया के कारण ब्रह्म ही हमको जगत् रूप से दीख रहा है। इसलिये जो भी रूप देखो उसके अन्दर यह दृष्टि करो कि अज्ञान के कारण ब्रह्म ही इस रूप में दीख रहा है। इसके अन्दर पृथ्वी आदि को नहीं लेना पड़ता है। महिम्नस्तोत्र में ये दोनों उपासनायें बताई हैं। प्रथम कार्य ब्रह्म की उपासना बताई 'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।' और 'न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत् त्वं न भवसि' इस अंतिम पंक्ति के द्वारा कारण ब्रह्म की उपासना बता दी जो मध्यम दृष्टि वालों के लिये है।

अब जो उत्कृष्ट दृष्टि वाले हैं वे अज्ञात ब्रह्म को न समझकर ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की सीधी ही उपासना करते हैं : जो कुछ प्रतीत हो रहा है ज्ञान ही तदाकार में प्रतीत हो रहा है। ये हीन मध्यम और उत्कृष्ट तीन दृष्टियाँ हो गई।

असल में तो मनुष्य को ब्रह्माकारवृत्ति से अविद्या का ध्वंस करके ब्रह्मदर्शन होना चाहिये किंतु यह वही कर सकेगा जिसने परमहंस परिव्राजक होकर सारे वर्णाश्रमों को छोड़ दिया। लेकिन जो इस प्रकार सर्वथा नहीं छोड़ पाते हैं, उसमें जिनकी असामर्थ्य है, उनमें ही कोई मंद बुद्धि वाले, कोई मध्यम बुद्धि वाले और कोई उत्तम बुद्धि वाले सामर्थ्ययुक्त हुए। उसको उत्कृष्ट इसलिये कहा कि उसके अन्दर है तो अद्वैत दृष्टि। यह ठीक है कि ज्ञान नहीं हो पा रहा है क्योंकि बुद्धि विलक्षण नहीं है, अर्थात् त्याग पूरा नहीं है और यह न होने से अद्वैत दर्शन नहीं हो पा रहा है, लेकिन अद्वैतोपासना के लायक अद्वैत की समझ है ही। वह फिर बार बार उपासना अर्थात् निदिध्यासन करे। उसके द्वारा धीरे धीरे ज्ञानयोग्य हो जायेगा। इसलिये मन्द, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टि वालों के लिये उपासना का उपदेश किया गया।

जो मंद मध्यम दृष्टि वाले हैं उनके लिये आश्रम को प्रयुक्त करके कर्म बताये; क्योंकि चौबीस घण्टे तो उपासना में नहीं लगा रह सकेगा, इसलिये साथ में कर्म करे। आत्मा एक ही अद्वितीय है ऐसा जिसने निश्चय कर लिया, ऐसी आत्मदृष्टि वाले के लिये कर्मों का विनियोग भी नहीं। मंद मध्यम दृष्टि वाले के लिये कर्म के साथ उपासना, आत्म-दृष्टि वाले के लिये केवल उपासना और जिसने तत्त्व को ठीक प्रकार से समझ लिया उसके लिये कर्म उपासना दोनों नहीं। इन लोगों पर वेद ने दया करके, अनुकंपा करके कर्म-उपासना का विधान किया। वेद ने जब देखा कि ये लोग सन्मार्ग में अर्थात् सद्

Scanned by CamScanner

ब्रह्म के मार्ग में आ गये हैं, चलना चाहते हैं, पहुँचना भी चाहते हैं, तो ये इस उत्तम दृष्टि को कैसे प्राप्त करें— यह बताना उसकी कृपा हुई।

लेकिन उसी को कोई अंतिम न समझ ले इसलिये फिर यह उपदेश किया : 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' जिसका मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता लेकिन मन जिसके द्वारा मनन करता है। जिसे तुम अपने से भिन्न समझते हो वह ब्रह्म नहीं है, इदंता बुद्धि का विषय ब्रह्म नहीं। आत्मा ही सब कुछ है, वह तू है। 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों से बताया कि श्रुति का तात्पर्य कर्म उपासना में नहीं। लेकिन जो वर्णाश्रमी है वह कैसे इस स्थिति को प्राप्त करे? इसलिये उन्हें कह भी दिया।।१६।।

●

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ।।१७।।

द्वैती लोग अपने सिद्धान्तों की रचना के नियम संभालने पर डटे हुए हैं अतः आपस में ही एक-दूसरे की काट कस्ते रहते हैं। हमारा यह वैदिक दर्शन उनसे विरुद्ध नहीं पड़ता क्योंकि वे सब मत व्यवहारभूमि की व्यवस्थाओं के लिये बने रहें इससे परमार्थवादी की क्या हानि!

कोई शंका करता है कि अद्वैत दर्शन का आपने उपासना से भी अविरोध बता दिया, उत्पत्ति-श्रुतियों से भी अविरोध बता दिया, जीवोत्पत्ति से भी अविरोध बता दिया तो वेद के साथ तो आपका विरोध नहीं रहा। लेकिन और भी बड़े-बड़े विद्वान् कपिल, कणाद, बुद्ध इत्यादि हुए हैं, वे आपके अद्वैत को नहीं मानते हैं, उनका तो विरोध है ही। उन्हें क्या जवाब देंगे?

कहते हैं कि उनके साथ हम क्या विरोध करें! वे सब मूर्ख हैं। मूर्खों के साथ क्या विरोध किया जाये? जिनका सिद्धांत ही यह हो 'पढ़ना लिखना पंडित का काम भज ले बेट्टा सित्ताराम', उनसे क्या बात करें? इसलिये ये द्वैती लोग जितने भी हैं, कपिल कणाद आदि, इन सबने अपने-अपने सिद्धान्त की व्यवस्था बना रखी है कि ऐसा ही है। उनसे कहो कि तुम्हारे में इस प्रकार विरोध आता है, तो कहते हैं 'नहीं जी, हमारा ऐसा ही निश्चय है।' दृढ निश्चय का मतलब है कि पहले ही दृढ कर रखा है कि हम ठीक हैं। अपना सिद्धांत और अपनी ही उसमें व्यवस्था बना रखी है।

तत्त्व का उपदेश न ऐसों के लिये है जो जानना नहीं चाहते और न ऐसे के लिये जो समझता है कि मैंने जान लिया। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में यही प्रश्न हुआ कि ब्रह्म-जिज्ञासा किस के लिये है? ब्रह्मज्ञानी के लिये भी बेकार है क्योंकि वह जानता ही है; और जिसने ब्रह्म को कभी सुन ही नहीं रखा उसके लिये भी बेकार है। तुम जाकर हमारे

Scanned by CamScanner

यहाँ के मज़दूरों से कहो कि 'ब्रह्मविद्या सुनो' तो उनकी क्या समझ में आना है? कहीं कहीं ऐसा करते हैं; मज़दूरों को बैठाकर कहेंगे कि सुनो! वे सोचते हैं कि इतना फायदा तो है कि घंटाभर काम नहीं करना पड़ेगा और प्रसाद भी मिल जायेगा। बहुत से लोग कहते भी हैं कि 'घर घर जाकर लोगों को वेदांत समझाना चाहिये तभी कल्याण होगा'। जिन्होंने ब्रह्म शब्द को ही नहीं समझ रखा है कि इसका मतलब क्या है, उन्हें भी सुनाना बेकार है क्योंकि वे उसके ग्राहक ही नहीं हैं। कोई कहे कि हीरे की दुकान दिल्ली में खोलने से क्या फ़ायदा? जैसे साग वाले जगह जगह जाकर आवाज़ें लगाते हैं, ऐसे ही तुम भी जगह जगह जाकर कहो कि 'हीरा ले लो!' उसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्मजिज्ञासा न उसके लिये जिसने ब्रह्म के विषय में कुछ समझा ही नहीं और न उसके लिये जिसको ब्रह्मज्ञान हो गया। जिसने ब्रह्म के विषय में सुना, उसके विषय में जिसके मन में है कि 'मैं जानूँ' लेकिन अभी जाना नहीं, उसके लिये है।

द्वैती लोग चूँकि निश्चय किये बैठे हैं कि ऐसा ही होता है इसलिये उनके साथ बात करना बेकार है क्योंकि वे पहले ही निश्चय किये बैठे हैं। अब उनका निश्चय है ग़लत और ग़लत निश्चय होने से बार-बार टक्कर खायेंगे, एक जन्म में या दस जन्मों में। जब टक्कर खाकर मोक्ष नहीं मिलेगा तब संदेह होगा कि कुछ गड़बड़ी है। जब संदेह होने लगेगा कि गड़बड़ी है तब हम कहेंगे कि 'हम तो पहले ही कह रहे थे कि द्वैत व्यवस्था में अमुक अमुक खराबियाँ हैं।'

यही कम्युनिस्टों में और हम लोगों में फ़रक है। वे कहते हैं कि ज़बर्दस्ती दूसरों से झगड़ा करवायें। हम कहते हैं हम शान्तिप्रिय हैं। हमारा दृढ निश्चय है कि एक दिन तुम्हें पता लगेगा कि तुम्हारा सिद्धान्त ग़लत है। तब हम तुम्हें बतायेंगे कि सच्चा क्या है। तब तक छेड़छाड़ करना बेकार है। जैसे डाक्टरों को निश्चय है कि हमारी डाक्टरी ठीक है। जब उनसे कोई रोग ठीक नहीं होगा तो कहेंगे कि वैद्यक दवाई लेकर देखो। कोई पहले ही कहे तो वे कहेंगे कि 'ज़माना ठेठ चन्द्रमा तक पहुँच गया और तुम लोग काढ़ा ही बनाते रहते हो!' इसलिये पहले कहना बेकार है। जब वे हार कर आयें, तब बताओ। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिये। जिन द्वैतियों को अपना निश्चय दृढ है कि 'ऐसा ही है' उनसे विवाद नहीं करना चाहिये।

शंका होती है कि वे भी ठीक ही होंगे। इसके समाधान के लिये उन्हीं के पास जाते हैं। लेकिन जैसे हमने व्याघात दोष दिया था कि सृष्टि श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न जगह भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं इसलिये सिद्ध हुआ कि सब गलत हैं, इसी प्रकार जब सांख्यवादी के पास गये तो उसने कहा कि 'सांख्य जैसा सिद्धान्त नहीं।' वहाँ से योगी के चरणों में गये। उसने भी कहा कि 'हमारे जैसा कोई नहीं।' उससे कहा कि 'कपिल यह कहते हैं' तो वह कहता है 'अरे! वे तो ऐसे ही बातें करते रहते हैं। सत्त्व-पुरुष-अन्यताख्याति बिना समाधि के कैसे हो सकती है? हमने जो कहा वही ठीक है।' वहाँ से चलकर नैयायिक

Scanned by CamScanner

के चरणों में बैठे और कहा 'क्या आपका सिद्धान्त सारी व्यवस्था बना रहा है?' वह कहता है 'बिल्कुल बनाता है। छह पदार्थों को जान लो, या सोलह को प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि को जान लो तो काम बन जाये।' उससे कहा कि 'योगी के पास गये तो उसने कहा कि बिना ध्यान धारणा के नहीं होता।' तब वह कहने लगा कि 'वह क्या जाने बेवकूफ! हमारे सामने आता है तो हम उसकी धज्जियाँ उड़ा देते हैं! इसलिये वह कुछ नहीं जानता। सब मूर्ख हैं। हमारा पक्का निश्चय है, इसे मान लो तो काम बने।' वहाँ से कणाद ऋषि के चेले के पास जाकर हाथ पैर जोड़े। वह कहता है कि 'नैयायिक तो प्रमाण प्रमेय करता रहता है, युक्तियाँ लगाते रहो कुछ नहीं होगा। अनात्मपदार्थों से भिन्न करके आत्मा को जानो, तब आत्मभाव का ज्ञान होगा।' फिर वैष्णव के पास गये तो उसने कहा कि 'ये सब दिमाग खाने वाले हैं। अरे! जब तक खड़ताल न बजाओ तब तक काम नहीं होना है।' उनमें भी भिन्न भिन्न हैं। एक कहता है कि राधा कृष्ण के बिना नहीं होना और कोई कहता है कि सीताराम मर्यादा पुरुषोत्तम ही सब कुछ हैं। शैव कहता है कि ये सब कुछ नहीं, हमारे पशुपति को मानोगे तभी होगा। तब किसी तांत्रिक के पास पहुँचे तो उसने कहा कि बिना शक्ति के कुछ नहीं, शक्ति ही सब कुछ है। इस सबसे यह निश्चय हुआ कि ये सब झूठे हैं क्योंकि परस्पर विरोध करते हैं। सब अपना अपना निश्चय किये बैठे हैं। जैसे वहाँ शाखाभेद ऐसे ही यहाँ भी भिन्न भिन्न सिद्धान्तों से लगता है कि सब झूठे हैं, बेकार हैं। लेकिन जब तक उनका यह निश्चय न हो तब तक उन्हें सुनाने नहीं जायेंगे। यदि ठीक होते तो हज़ारों सालों से मिलकर किसी एक निश्चय पर पहुँच गये होते। आज तक नहीं पहुँचे तो मतलब है कि सारे बेकार हैं।

कोई कहेगा कि आपका भी सम्प्रदाय उनसे भिन्न होने से गलत हो सकता है। इस पर कहते हैं कि वे सारे के सारे द्वैत के अंदर झगड़ा कर रहे हैं। उनमें से कोई अद्वैत की बात तो कर नहीं रहा है। जैसे रस्सी में साँप देखने वाले का, जलधारा देखने वाले का, माला देखने वाले का झगड़ा होता है। लेकिन जो रस्सी को देखने वाला है वह इन सबसे झगड़ता नहीं। इसी प्रकार ये सारे के सारे द्वैत को लेकर झगड़ा कर रहे हैं और हम कह रहे हैं कि द्वैत की बात छोड़ो। इसलिये हमारा किसी से विरोध नहीं क्योंकि भिन्न भिन्न सत्ता वाले हो गये। जैसे स्वप्न देखने वाले व्यक्ति और जाग्रत् व्यक्ति का कोई विरोध नहीं है। जाग्रत् में तुम हमको गाली दो तो झगड़ा करें। तुम कहते हो कि स्वप्न में हमने तुम्हें गाली दी तो थोड़े ही थप्पड़ मारेंगे! क्योंकि सत्ता ही भिन्न है। इसलिये मतांतरों के साथ हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि वे सारे भ्रांतिमूलक हैं। शास्त्र और युक्ति के द्वारा निश्चय कराने वाला होने से अद्वय आत्मदर्शन ही सम्यक् दर्शन है, वही ठीक है।

जो अद्वय आत्मदर्शन से भिन्न हैं वे सारे के सारे मिथ्या हैं। एक तो शास्त्र और युक्ति, दोनों उन्हें नहीं मिलते इसलिये वे छोड़ने के लायक हैं। यह एक हेतु हो गया

Scanned by CamScanner

कि वे लोग केवल युक्त्याभास तो देते हैं लेकिन उन्हें वेद प्रमाण नहीं मिलता जबकि हम लोग वेद प्रमाण और युक्ति दोनों से चलते हैं। दूसरा एक और कारण है उनकी हेयता का : द्वैतियों के जो दर्शन हैं वे रागद्वेष आदि दोष वाले हैं। आदि से मद, मान आदि दोष वाले भी हैं, यह समझ लेना। इनको लेकर ही ये सारे के सारे मिथ्या दर्शन वाले हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जिस जिस सिद्धान्त में राग, द्वेष, मद, मान आदि देखने में आयें वह वह मिथ्या दर्शन हुआ करता है। शाक्त के पास जाओ तो वह कहता है कि 'शिव बिना शक्ति के क्या कर सकता है? विष्णु तो उसका भजन करते रहते हैं। ब्रह्मा तो और नीचे हैं।' इसी प्रकार वैष्णव के पास जाओ तो वह भी कहेगा कि 'शिव जी तो कृष्ण भगवान् का दर्शन करने के लिये मथुरा के अन्दर ललचाते हैं।' इन कहानियों से सिद्ध होता है कि ये परस्पर महान् राग-द्वेष वाले हैं। जहाँ जहाँ राग, द्वेष, मद, मान आदि हैं वह मिथ्यावादी होता है। उन्हें घमण्ड भी होता है कि हमारा देवता सबसे बड़ा है, गिनायेंगे कि 'जितना चढ़ावा तिरुपति बालाजी में आता है उतना कहीं नहीं आता।' भगवान् की परीक्षा अगर पैसे से— कि जो जितना ज्यादा कमाये वह उतना बड़ा— तो फिर टाटा बहुत ज्यादा कमाता है, उसका ही दर्शन करें! अतः वे मिथ्या दर्शन सिद्ध होते हैं।

यह वेदांत शास्त्र सत्य का शास्त्र है। वे कैसे हैं? वे अपने अपने सिद्धान्त की व्यवस्था करने के लिये प्रवृत्ति करते हैं, तत्त्वज्ञान के लिये प्रवृत्ति नहीं करते। खुद जो व्यवस्था बनाई उसके लिये युक्तियाँ सोचते रहते हैं कि हमारी व्यवस्था कैसे सिद्ध हो। यह दोष देंगे तो ऐसा परिष्कार कर लेंगे! क्योंकि हमने जो मान रखा है, वही ठीक है। उनसे पूछें कि 'इसमें सत्यता क्या है?' तो कहते हैं कि 'वह तो कपिल, कणाद जानें।' इस प्रकार वे सब अपने सिद्धान्त की रचना के नियमों के अन्दर ही रहते हैं। द्वैती कपिल सांख्यशास्त्र-प्रवर्त्तक, कणाद वैशेषिक शास्त्र के प्रवर्त्तक, बुद्ध सौत्रान्तिक इत्यादि के प्रवर्त्तक, आर्हत श्वेताम्बर-दिगम्बर के प्रवर्त्तक और आदि से योगी, भक्त और आजकल के जमाने में ईसाई, मुसलमान; ये सब भी अपने अपने सिद्धान्तों में दृढ निश्चय वाले हैं। आजकल के कम्युनिस्टों को भी निश्चय है कि हमारा शास्त्र ही ठीक है। आगे उनसे कहो कि इसके अन्दर अमुक अमुक विरोध आ रहा है तो कहते हैं कि 'दण्डा मारेंगे।' उनके अनुयायी वर्तमान सरकार वालों से कहें कि इसमें यह ग़लती है तो कहते हैं कि 'मीसा लगेगा, बोल नहीं सकते।' सारे के सारे महान् राग द्वेष वाले हैं। वे सब निश्चय किये बैठे हैं कि हमारा सिद्धान्त तो ठीक ही है। उनका निश्चय ऐसा है कि बस यही सच्ची चीज़ है।

वेदांती तो अनिर्वचनीय-वादी है। उससे पूछो कि संसार सत्य मानते हो? तो वह कहत है कि 'सत्य भी नहीं कह सकते।' असत्य मानते हो? तो कहता है कि 'असत्य भी नहीं कह सकते।' सत्य असत्य विरुद्ध होने के कारण यह भी नहीं कह सकते कि

Scanned by CamScanner

वह सदसत् है। यह संसार का स्वरूप कैसा है— यह किसी भी प्रकार से जानने में नहीं आ सकता। वेदांती सच्चा भक्त है। वह कहता है कि एक परमेश्वर ही है। यह संसार सच्चा कि झूठा, यह मैं नहीं जान सकता। मैं जान सकूँ इसका उपाय भी नहीं है क्योंकि अनिर्वचनीय माया से कल्पित है। लेकिन अन्य वादियों में एक कहता है कि सच्चा ही है, दूसरा कहता है झूठा ही है। सब कहते हैं यही ठीक है, इससे भिन्न नहीं हो सकता। अपने अपने सिद्धान्त के अन्दर उनका अनुराग है; 'हमारे जैसा सिद्धांत कोई नहीं', ऐसे राग वाले हैं। भक्ति वाले यही कहते हैं कि भक्ति ही प्रधान है। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' राग हो जाना ही सब कुछ है। तुम पहले ही रागी बन रहे हो तो तुम्हारा दर्शन पहले ही कमज़ोर है! रागी व्यक्ति कोई ठीक नहीं होता। जिनका सिद्धांत ही राग हो तो उनसे क्या काम बनना है? उनके सामने जो दूसरा आता है उसे वे अपना प्रतिपक्षी समझते हैं।

अनुरक्त कहने से लग सकता है कि राग वाले तो हैं, उनमें द्वेष नहीं होता होगा। इसलिये कहा कि महा द्वेष वाले भी हैं 'एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रानुरक्ताः, प्रतिपक्षं चात्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्तः'। दूसरे को अपना विरोधी समझते हैं। एक बार हम केदारनाथ में थे। वहाँ देखा कि कोई रामानुजी जाते हैं तो बद्रीनारायण का दर्शन करते हैं लेकिन केदारनाथ का दर्शन करने नहीं जाते, केदारनाथ के दर्शन में पाप मानते हैं। अपने यहाँ भी दिल्ली में जब पहले पहल मन्दिर बना तो कुछ वैष्णवों ने विरोध किया कि आपने सामने लक्ष्मी-नारायण और बीच में शंकर भगवान् की मूर्ति बैठा दी है। लक्ष्मी-नारायण को नमस्कार करें तो शंकर भगवान् को भी हो जाता है। शंकर को नमस्कार करें तो पाप होगा, लक्ष्मी-नारायण को नहीं करें तो भी पाप होगा! ऐसे महाद्वेषी होते हैं, यह नहीं कि केवल अनुराग हो। तुमको कृष्ण में अनुराग है तो किये जाओ, हमारा कोई विरोध नहीं, लेकिन शंकर में द्वेष क्यों? जब एक से राग करोगे तो दूसरे में द्वेष न हो यह नहीं हो सकता। राग के होंने पर द्वेष स्वतः प्राप्त है। जैसे वहाँ वैसे ही दार्शनिकों का समझ लेना। वैशेषिक सांख्यवादी को देखे तो गुस्सा चढ़ता है, सांख्यवादी नैयायिक को देखे तो गुस्सा चढ़ता है। कणाद वाले कहते हैं कि हमारे सिद्धांत को आज सबने मान लिया, वैज्ञानिकों ने भी मान लिया। एक दूसरे को प्रतिपक्षी मानकर द्वेष करते रहते हैं और एक दूसरे को देखकर गुस्सा चढ़ता रहता है। इस प्रकार वे लोग हमेशा ही राग-द्वेष से युक्त ही रहते हैं।

राग द्वेष का कारण कुछ और होगा, एक दूसरे का धन आदि ले लेते होंगे— ऐसा नहीं है। अपने अपने सिद्धान्त को, दर्शन को लेकर ही उनका झगड़ा चलता रहता है। वे अपने घर रोटी खाते हैं, दूसरा अपने घर रोटी खाता है। केवल अपने सिद्धान्त को लेकर ही राग द्वेष चलता है। कहाँ तो राग द्वेष से छूटने आये थे लेकिन इन सम्प्रदायों में यह और बढ़ गया! अपने दर्शन के निमित्त से ही एक दूसरे से विरोध करते हैं।

उन सब द्वैत दार्शनिकों की अपेक्षा जो एक दूसरे से विरोध का आचरण करते हुए देखे जाते हैं, हमारा यह जो वैदिक सिद्धान्त है यह सबके साथ अनन्य है। 'त्रयी

Scanned by CamScanner

सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च' हम तो जानते हैं कि सारों के अन्दर आत्मा हमारा ही है। फिर किससे विरोध करें? मैं ही इन रूपों को धारण करके उनके अन्दर पड़ा हुआ हूँ। इसलिये हमारा सिद्धान्त, वेदानुकूल सिद्धान्त, सबके साथ अभिन्न है क्योंकि हमारा पक्ष है कि सबके अन्दर एक ही आत्मा है। कणाद, कपिल के अन्दर जो आत्मा उसके साथ हमारा क्या विरोध हो सकता है? वही आत्मा हमारे अन्दर है। इसलिये अपने यहाँ तो परमात्मा को शिव रूप से, विष्णु रूप से, गणेश रूप से मानें, हमारा उनसे कोई विरोध नहीं।

इसी प्रकार सृष्टि हुई नहीं, भ्रम से तुम उसे चाहे परमाणुओं से उत्पन्न मानो, चाहे गुणों से उत्पन्न मानो, चाहे प्रद्युम्न अनिरुद्ध संकर्षण से उत्पन्न मानो; हमारा झगड़ा नहीं, क्योंकि अपना सिद्धान्त है कि सृष्टि उत्पन्न हुई ही नहीं। वे कहते हैं कि उत्पत्ति भिन्न प्रकार की है तो कल्पना करते रहो, हमारा विरोध नहीं।

अब किसी के मन में यह शंका हो सकती है कि कहीं कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि वेदांती नैयायिक आदि से झगड़ा करते हैं। तो समझ लो वे कच्चे वेदांती हैं। वे प्रायः प्रक्रियाओं को सच्चा मानकर बैठ जाते हैं और उसी से झगड़ा करते हैं। वेदांती की कोई प्रक्रिया नहीं। वह कहता है कि वहाँ रस्सी है। तुम्हें साँप दीखा तो तुम्हें उसके द्वारा समझा देते हैं : यह देखो लकड़ी से हिलाकर देखते हैं, हिलता डुलता नहीं है। या तुम्हें माला दीख रही है तो माला उठाने पर गोल होनी चाहिये, छाते से उठाकर देखो, गोल नहीं है, लम्बी है। जलधारा वाले को कहते हैं कि अगर जलधारा होती तो छाते की नोक जल में चली जाती, इसलिये जलधारा भी नहीं हो सकती। जो जैसा समझता है उसे उसी दृष्टि से समझाना है। जो इस बात को नहीं समझता, उसे गुरु ने जिस प्रक्रिया को लेकर समझा दिया है, वह समझता है कि वह प्रक्रिया ही सच्ची है। इसीलिये प्रक्रियान्तर वाले से भिड़ जाता है। लेकिन यह वेदांती का काम नहीं है। इसलिये उसके साथ किसी का विरोध नहीं होता है।

जैसे अपने हाथ पैर से किसी का विरोध थोड़े ही होता है! अपना ही हाथ और अपना ही पैर है। हाथ हाथ का काम करता है, पैर पैर का काम करता है। इसी प्रकार कई चीज़ों को समझने के लिये परमाणुवाद, कई चीज़ों को समझने के लिये त्रिगुणवाद ठीक है। कई चीज़ों को समझने के लिये बौद्धों का असद्वाद ही ठीक है! शरीर आदि का व्यवहार चलाने के लिये शरीर जितना आत्मा मानने से काम चल जाता है, इसलिये जैन भी ठीक है। जैसे हाथ पैर का काम अलग अलग होने पर भी विरोध नहीं, वैसे ही भिन्न-भिन्न कार्य चलाने के लिये कहा कि हरेक का पक्ष मान लो। विवेक नहीं हो सकता तो योगाभ्यास कर लो, वह नहीं हो सकता तो सत्त्वपुरुष-अन्यताख्याति करो। तुम्हें संसार में सत्यत्व बुद्धि है तो अनात्मा का विचार करके देखो। अथवा गौतम के अनुसार प्रमाण प्रमेय का विचार कर लो, संदेह निकल जायेंगे। जैसे हाथ पैर में विरोध

Scanned by CamScanner

नहीं ऐसे ही इनमें नहीं। यदि संसार का ऐश्वर्य चाहिये तो विष्णु का ध्यान करो। अगर तुम्हारे अन्दर वह दृष्टि नहीं, तुम्हें त्याग चाहिये, तो शंकर का ध्यान कर लो कि खूब अच्छी तरह चिताभस्म रमाये हुए हैं। संसार में चीज़ें चाहिये तो शक्ति का ध्यान कर लो। इसमें हमारा कोई झगड़ा नहीं है जैसे अपने हाथ पैर का आपस में विरोध नहीं है। ऊपर से इतना समझ लेना कि कभी कभी अपने हाथ पैर में भी झगड़ा हो जाता है! जैसे बात करते हुए जाँघ पर हाथ मार दिया तो चोट तो लगी, लेकिन कोई विरोध तो नहीं हुआ।

समझाने के लिये कभी कभी कपिल, कणाद को डाँट भी दिया तो कोई द्वेष नहीं कि उन्हें ख़तम करें। पैर पर चींटी चल रही हो और पैर को झटका दें तो पैर या जाँघ से कोई द्वेष तो नहीं। ऐसे ही कहीं किसी ने बहुत ग़लती की तो सोचते हैं कि यह और बंधन में पड़ेगा, इसलिये काट देते हैं। और अपने आचार्यों के ग्रन्थ देखो तो यह स्पष्ट हो भी जाता है। एक ख़ास बात ध्यान देने की है : अन्य दर्शन वालों ने वेदान्त का खण्डन करने के लिये ग्रन्थ लिखे, लेकिन वेदान्ती अपनी तरफ से उनके पदार्थों के खण्डन के लिये प्रवृत्त नहीं हुए। उनके द्वारा किये खण्डन का जवाब देने के लिये भले ही उनकी तत्त्वमीमांसा का खण्डन किया हो, उनके पदार्थों को असिद्ध किया हो, लेकिन वह सब जवाब के रूप में है, उनकी तरह विरोध के रूप में नहीं। इतने बड़े अद्वैतसिद्धिकार हुए, गौडब्रह्मानंद हुए। माध्वों ने जो अद्वैत पर शंकायें उठायीं उनका खूब समाधान किया, लेकिन माध्वों के पदार्थों का, उनकी प्रक्रियाओं का, मान्यताओं का खण्डन करने का कोई प्रयास नहीं। ऐसा नहीं कि वे वैसा कर नहीं सकते थे! लेकिन उनकी यही निष्ठा थी 'तेनायं न विरुध्यते'। वेदान्तसाधक को भ्रम न हो इसलिये वादग्रंथ भी बना दिये किन्तु जिनकी आगमों पर ही श्रद्धा है वे वैष्णवादि बने रहें इससे कोई विरोध भी नहीं। उनका खण्डन कोई द्वेष से नहीं बल्कि भलाई के लिये कर देते हैं क्योंकि उनमें परबुद्धि का अभाव है, उन्हें अपने से पराया नहीं समझते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राग द्वेष आदि दोषों की आश्रयता न होने से आत्मा की एकता का जो ज्ञान है वही सम्यक् दर्शन है।।१७।।

●

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ।।१८।।

सचमुच वास्तविक तो अद्वैत है और द्वैत उस अद्वैत का ही भेद है। अद्वैत के अन्दर ही भ्रांत दृष्टि से भेद हो जाता है। ऐसा हम नहीं मानते कि द्वैत कहीं दूसरी जगह है। जो अद्वैत वास्तविक सिद्ध है उसी को भ्रम से द्वैत समझ लेते हैं। अतः उसी का वह भेद हो गया। मिथ्याभूत द्वैत पारमार्थिक अद्वैत का कभी भी विरोधी नहीं हो सकता। जो

Scanned by CamScanner

द्वैतवादी हैं उनकी कठिनाई यह है कि उनके यहाँ उभयथा, दोनों तरह द्वैत है : सचमुच भी द्वैत और प्रतीत होने वाला भी द्वैत है। हम तो द्वैत को प्रतीति मानकर उनसे झगड़ा नहीं करते। जो प्रातीतिक है उसका अधिष्ठान तत्त्व दूसरा है। जिनके लिये द्वैत सच्चा है वे दूसरे द्वैत को बर्दाश्त नहीं कर सकते।

यह परिहार वे लोग नहीं कर सकते कि द्वैत पारमार्थिक हो जाये और अद्वैत प्रातीतिक हो; क्योंकि अद्वैत प्रातीतिक है नहीं, अद्वैत की प्रतीति नहीं होती। किंच उनके यहाँ दो सत्ता हैं भी नहीं कि उनसे व्यवस्था बना लें। कहते भले ही हैं कि 'तुम्हारा अद्वैत भ्रान्ति है', लेकिन आज तक यह भ्रम हुआ किसे है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'? सब तो अपने को जीव ही समझ रहे हैं। क्योंकि अद्वैत अव्यवहार्य है, प्रातीतिक नहीं है, इसलिये वे यह सन्तोष भी नहीं कर पाते कि 'चलो व्यावहारिक अद्वैत बना रहे, हमारा क्या!' उनके लिये तो जो होगा वह उनका विरोधी ही होगा। इसीलिये उनका झगड़ा वैसा का वैसा बना रहेगा। दो सत्ताओं की व्यवस्था हो जाने से अद्वैतवाद का उनके साथ विरोध नहीं होता। द्वैतियों का परमार्थ-अपरमार्थ दोनों वही है, इसलिये उनके लिये राग-द्वेष से रहित होना कभी बनता ही नहीं।

यह सिद्धान्त ठीक से समझकर रखना चाहिये क्योंकि लोग समझते हैं कि अद्वैत भी कोई सम्प्रदाय होगा। अद्वैत तो अधिष्ठान है जिसमें सारे सम्प्रदाय कल्पित हैं। किस कारण से अद्वैत झगड़ा नहीं करता? उसका कारण है कि अद्वैत परमार्थ है। द्वैत मायने अनेकता, नानापन, वह उस अद्वैत का ही भेद है। भेद मायने उसका कार्य है। अद्वैत से ही द्वैत उत्पन्न हुआ। बाप कभी बेटे का विरोधी नहीं होता। बेटे आपस में एक दूसरे से झगड़ा करते हैं। अद्वैत परमार्थ पिता की जगह और द्वैतवादी सारे पुत्रों की जगह हैं। पिता का उनसे विरोध नहीं लेकिन द्वैती, भाइयों की तरह झगड़ते रहते हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति इसमें प्रमाण है कि द्वैत ही अद्वैत का कार्य है। एक अद्वितीय से ही आगे चलकर 'तत्तेजोऽसृजत' उसी से फिर तेज आदि उत्पन्न हुए। इसलिये अद्वैत का उसके साथ विरोध नहीं, यह श्रुतिप्रमाण से सिद्ध कर दिया। कार्य का कारण से विरोध नहीं हुआ करता, इसलिये अद्वैत का द्वैत दर्शनों से विरोध नहीं है।

इस विषय में युक्ति भी है। पहले श्रुतिप्रमाण से कहा कि पहले एक परब्रह्म परमात्मा से सृष्टि हुई; अब युक्ति देते हैं कि सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा के अन्दर अपने चित्त का स्पन्दन नहीं होता, मन वृत्ति नहीं बनाता, तो द्वैत के दर्शन का अभाव हो जाता है और उठने पर उसी अद्वैत से सारा द्वैत उत्पन्न होता है। इस युक्ति से सिद्ध हुआ कि जब जब चित्त का अभाव तब तब चित्त के द्वारा उत्पन्न होने वाले मिथ्या ज्ञान का भी अभाव और तब तब द्वैत दर्शन का अभाव। इससे भी अद्वैत की सिद्धि हो गई। प्रत्यक्ष में देखने में आता है कि अद्वैत रूप सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि से द्वैत आगे उत्पन्न होता है। इसलिये

Scanned by CamScanner

यह द्वैत अद्वैत का कार्य हो गया। यह बात द्वैत दर्शन वाले नहीं कह सकते क्योंकि द्वैत को सच्चा मानते हैं। द्वैत को सच्चा मानोगे तो सुषुप्ति आदि में अद्वैत की क्या व्यवस्था करोगे? द्वैतियों की कठिनाई यही है कि पारमार्थिक द्वैतांश से अद्वैत का विरोध ही होगा। सचमुच भी और प्रातीतिक भी दोनों तरह से उनके यहाँ तो द्वैत ही है।

कोई शंका करे कि द्वैत पारमार्थिक और अद्वैत प्रातीतिक हो; तो वह नहीं बनेगा। उनसे पूछो कि तुम अद्वैतमिथ्यात्व के लिये अनुमान क्या करोगे? जाग्रत् तो द्वैत होने के कारण ही मिथ्या सिद्ध है, स्वप्न की तरह। इस प्रकार से सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा में अद्वैत के मिथ्यात्व में हेतु क्या बनाओगे? द्वैत के मिथ्यात्व में तो स्वप्न दृष्टान्त बन जायेगा लेकिन सुषुप्ति के मिथ्यात्व में कौन दृष्टान्त होगा? कोई व्यवस्था नहीं जिससे वे उसे मिथ्या कहें। द्वैत सत्य और अद्वैत मिथ्या में कोई हेतु और दृष्टान्त नहीं बनेगा। इसलिये वे अद्वैत को मानते ही नहीं। अगर मानें तो अद्वैत की अपेक्षा द्वैत का मिथ्यात्वनिश्चय स्वप्न को लेकर हो जायेगा। क्योंकि वे भ्रम में पड़े हुए हैं इसलिये हमारी अद्वैत दृष्टि अभ्रांति हो गई। हमारे यहाँ दोनों की व्यवस्था बन गई। इसीलिये जो हमारा पक्ष है वह उनके विरुद्ध नहीं है, हमारा उनके साथ कोई झगड़ा नहीं है।

श्रुति भी इसी प्रकार कहती है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इन्द्र परमात्मा माया के द्वारा अनंत रूपों को धारण करता है। 'न तु तद् द्वितीयमस्ति' उसको छोड़कर और कोई दूसरा नहीं है। वेद यही बताता है।

वे भ्रांत और तुम अभ्रांत हो तो मन में होता होगा कि भ्रान्ति ख़तम करें? कहते हैं वह कुछ नहीं। वे बकते रहते हैं, हम ध्यान ही नहीं देते। जेसे कोई राजा बड़े मस्त हाथी पर बैठ कर जा रहा है। उसके सामने एक शराबी पागल आ जाता है। वह पागल उस नशे में सोचता है कि मैं भी एक हाथी पर बैठा हुआ हूँ। वह उन्मत्त पुरुष राजा से कहता है कि 'देखो मेरा हाथी भी तगड़ा है। अपने हाथी को इससे भिड़ा कर देखो।' ऐसी बकवाद कर रहा है, चैलेंज कर रहा है। तो भी राजा क्या उसपर अपना हाथी चढ़ा देता है? जानता है कि पागलपन में बक रहा है। इसी प्रकार द्वैती कहते हैं कि अद्वैत का हम खण्डन करेंगे। अद्वैती जानता है कि यह पागल की तरह बक बक करता है तो बकने दो।

ऐसी मस्ती वेदांती के अन्दर होनी चाहिये। नहीं तो सोचते रहते हैं कि इन्हें कैसे समझायें? क्या युक्ति निकालें? ऐसा कुछ नहीं सोचना चाहिये। वह राजा अपना हाथी क्यों नहीं चढ़ाता? क्योंकि उसके मन में उसके साथ विरोध आता नहीं। सामने बराबरी का राजा हो तो विरोधी दृष्टि आये। ऐसे ही द्वैती के पास कुछ भी नहीं है। कर्मकाण्डी सोचता है कि श्रीविद्या की उपासना करके सोना लेकर सुखी हो जायेगा। अब उसे क्या समझायें कि सोने से आज तक कोई सुखी हुआ नहीं! इसलिये उसे करने दो। जब कहेगा कि 'रेड पड़ गयी।' तब उससे कहेंगे कि 'मँगाया ही क्यों था? अब भगवान् का भजन करो।'

Scanned by CamScanner

एक बार एक व्यक्ति के साथ यही समस्या हो गई। मोरारजी ने एक बार घोषणा की थी कि सब अपना अपना सोना घोषित करें। उस व्यक्ति के पास उपासना से कुछ सोना हो गया था। उसने अफसरों को बता दिया। अफसरों ने पूछा कि 'कमाया कहाँ से?' उसने कहा कि 'अनुष्ठान से इकट्ठा किया।' अफसर कहें कि 'सच्ची बात बताओ।' अब वह क्या बताये? हमसे आकर कहने लगा कि मानते नहीं। हमने कहा अब वे थोड़े ही मानेंगे। पहले ही किसी को दान कर देता तो अच्छा था। इसलिये अद्वैती उनसे क्या विरोध करे। ऐसे ही लोग कुण्डली दिखाते हैं कि इसके साथ ब्याह करें या नहीं? उन्हें क्या समझायें कि ब्याह करके कोई सुखी नहीं हुआ। राम, कृष्ण, दशरथ, सबने ब्याह किया और रोते रहे। जब वे सुखी नहीं हुए तो तू सुखी हो जायेगा? यह पहले ही कह दें तो दुःखी हो जाते हैं। इसलिये कह देते हैं कि राहु केतु ठीक हो गया, कर ले। जानते हैं कि जन्म भर रोना ही है, अब इसे क्या समझाया जाये। जब दुःखी होकर कहेगा 'संसारे सुखस्य गंधलेशोपि नास्ति', तब फिर समझा देंगे कि संसार में किसी को सुख हुआ ही नहीं। एक बार दिल्ली में एक पंडित जी एक मंत्री को ले आये, उस समय वे उपमंत्री थे। मंत्री बनने की उनकी इच्छा थी। पंडित जी ने अनुष्ठान किया, मंत्री बन गये। मंत्री बनने से झंझट और ज्यादा बढ़ गई, बढ़नी ही हुई। अब कहते हैं कि 'कभी एक से द्वेष, कभी दूसरे से द्वेष होता है, इससे तो पहले ही अच्छा था।' अब उससे क्या कहें? कहें कि 'छोड़ दो, टण्टा मुके', लेकिन वह उसको जँचने वाली नहीं। एक व्यक्ति कानपुर में चुनाव लड़ने के बाद आशीर्वाद माँगने आया कि 'मंत्री बन जाऊँ।' वह मंत्री बन भी गया और बड़ा खुश हुआ। लेकिन मंत्री बनने के बाद उसने धार्मिक भावना नहीं रखी, उसे घमण्ड हो गया। फिर वहाँ दूसरी मिनिस्ट्री हो गई। मुख्यमंत्री निकला तो उसके साथी मंत्री भी निकल गये। दूसरे मुख्य मंत्री बन गये लेकिन उसे नहीं लिया। आकर कहने लगा कि 'बड़ी बेइज्जती हो गई, आपने कहा था।' हमने कहा कि 'कहा था तो एक बार बन गया, अब क्या जन्म भर बना ही रहेगा? इसकी गारंटी कौन ले?' ऐसे द्वैतियों के साथ अद्वैती क्या विरोध करे। लेकिन वे इसी से खुश होते रहते हैं।

जो ब्रह्मवेत्ता है वह अपने को उन द्वैतियों का आत्मा ही समझता है कि उन सबके अन्दर आत्मा तो मैं ही हूँ, उनसे क्या विरोध किया जाये? हमारे वेदांत का पक्ष है कि सर्वत्र एक ही आत्मा है और बाकी सब प्रातीतिक हैं। प्रतीति के साथ हमारा कोई विरोध नहीं। इसीलिये किसी सिद्धान्त से अपना विरोध नहीं है।।१८।।

●

पूर्व श्लोक में बताया कि अद्वैत का कार्य द्वैत है। कार्य और कारण की तो समान सत्ता होती है। मिट्टी से घड़ा बना तो जैसे मिट्टी की व्यावहारिक सत्ता वैसे ही घड़े की व्यावहारिक सत्ता है। इसी प्रकार यदि अद्वैत से द्वैत उत्पन्न होता है तो दोनों की पारमार्थिक सत्ता होनी चाहिये। कहते हैं ऐसा नहीं।

Scanned by CamScanner

मायया भिद्यते ह्येतद् नान्यथाऽजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमानें हि मर्त्यतामृतं भजेत् ।।१९।।

अद्वैत और द्वैत की इस कारण से एक सत्ता नहीं कि यहाँ उत्पत्ति मायिक है, वास्तविकी नहीं। ऐसा क्यों स्वीकार किया जाये? वास्तविक ही क्यों न मान लिया जाये? इसलिये कि माया स्वीकार न करने पर श्रुतियों के अन्दर अद्वितीय तत्त्व को अज कहा, जन्मरहित कहा और जन्म-रहित कहकर के फिर अगर यह कह दिया जाये कि इसका जन्म होता है, तो फिर वह अज किसी प्रकार सिद्ध नहीं होगा। जिस को अज कहा, उसी को जायमान कहें और दोनों बातों को सच्चा कहें, तो नहीं बनेगा। यदि यह कहते हो कि सचमुच अज है और माया से जन्म लेता है तब तो बन जायेगा। लेकिन सचमुच अज भी है और सचमुच जन्म लेने वाला भी है तो दोनों को वास्तविक मानने से काम नहीं चलेगा। 'अन्यथा' अर्थात् मायिकत्व स्वीकार न करने पर यह किसी प्रकार से अज नहीं होगा। निर्णय देते हैं कि यदि सचमुच द्वैत अद्वैत दोनों को अलग अलग मान लोगे तो फिर जो अमरणधर्मा है उसको मरणधर्मा मानना पड़ेगा जो वदतोव्याघात दोष से दुष्ट है।

ऊपर के श्लोक में कहा कि अद्वैत का एक भेद द्वैत है। ऐसा कहने पर द्वैत भी अद्वैत की तरह परमार्थ अर्थात् सचमुच ही सच्चा मानना पड़ेगा ऐसी किसी के मन में शंका हुई। अद्वैत का एक भेद द्वैत है तो दोनों ही फिर सच्चे होंगे— इस शंका की संभावना होने पर इस श्लोक में उसका जवाब दिया। परमार्थ सत् अर्थात् जो वास्तविक सत्ता वाला है वह अद्वैत है और वह माया के कारण भेद वाला दीखता है। कैसे? जैसे मोतियाबिंद हो जाने पर मनुष्य को अनेक चन्द्रमा नज़र आते हैं। वस्तुतः वहाँ चन्द्रमा एक है और मोतियाबिन्द के दोष के कारण अनेक नज़र आ रहे हैं। उसी प्रकार वास्तविक अद्वैत है और अज्ञान रूप दोष के कारण यह अनेक सृष्टि नज़र आ रही है। यह एक दृष्टान्त दे दिया। अथवा रस्सी में साँप, जलधारा, भूछिद्र इत्यादि दीखते रहते हैं तो सचमुच रस्सी बनी रहती है और मंदांधकार के कारण इन सब रूपों में दीखती रहती है, सचमुच नहीं बन जाती। अद्वैत का द्वैतरूपी जो भेद अर्थात् कार्य है वह मिथ्या है जिस प्रकार से चन्द्रमा के अन्दर चन्द्रभेद है।

मिट्टी से घड़ा पैदा होता है और दोनों की एक जैसी सत्ता है इस दृष्टांत से द्वैत की भी अद्वैत के समान सत्ता होनी चाहिये लेकिन वहाँ मिट्टी तो अवयव वाली है इसलिये उसे सचमुच ऊपर नीचे करके समान सत्ता वाला घड़ा बना सकते हैं। लेकिन आत्मा तो अवयव वाला नहीं कि उसको ऊपर नीचे कर दिया जाये। आत्मा की निरवयवता होने से पारमार्थिक कार्य उसका बनता ही नहीं। सावयव पदार्थ में तो समान सत्ता का कार्य बन सकता है। सोने को ऊपर नीचे कर दिया तो उसकी शक्ल बदल गई। लेकिन जो निरवयव पदार्थ है, जिसके अवयव नहीं हैं, उसका कार्य मायिक दृष्टि से ही पैदा

Scanned by CamScanner

होगा। जो सावयव पदार्थ होता है उसके तो अवयव अन्यथा अर्थात् ऊपर नीचे होंगे, दूसरे रूप से हो जायेंगे तो पदार्थ अलग ढंग का बन जायेगा, कार्य हो जायेगा। जैसे मिट्टी के अवयवों को बदलने से घड़ा इत्यादि पैदा हो जाता है। लेकिन जो निरवयव पदार्थ हो, अज पदार्थ हो वह मायिक को छोड़कर और किसी भी प्रकार से कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता।

अज इसलिये कहा कि केवल निरवयव कहने से नैय्यायिक को लगता कि निरवयव परमाणु या आकाश की तरह कुछ पैदा कर लेगा। और केवल अज कहें तो किसी को लगेगा कि सावयव होगा, इधर उधर अवयवों को परिवर्तित करके कार्य बन जायेगा। मिट्टी की तरह अज हो जायेगा और घड़े की तरह उसके कार्य हो जायेंगे। लेकिन जो निरवयव भी हो और अज भी हो उसका कार्य मिथ्या ही हो सकता है। ये दोनों हेतु हैं। निरवयव से उत्पत्ति, जैसे आकाश निरवयव है और उस आकाश से वायु की उत्पत्ति हो गई। बौद्ध की दृष्टि से देखो तो किसी चीज़ का अभाव भी निरवयव ही होता है, उसके कोई टुकड़े नहीं होते। बीज के अभाव से या बीजनाश से ही आगे अंकुर उत्पन्न होता है। वहाँ भी निरवयव पदार्थ किसी चीज़ को उत्पन्न करता है। लेकिन जहाँ निरवयवत्व और अजत्व दोनों ही हों वहाँ सिवाय माया के और कैसी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

पारमार्थिक उत्पत्ति स्वीकार करने पर जो अमृत, अज और अद्वय है वह अपने स्वभाव से च्युत होकर अपने से विपरीत धर्म को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् स्वभाव से अमृत होने पर भी मरणधर्मा, स्वभाव से अज होकर जायमान और स्वभाव से अद्वय होने पर भी सद्वय हो जायेगा। वही अपने स्वाभाविक रूप को छोड़कर अन्य रूप में चला गया, ऐसा मानना पड़ेगा। जैसे कोई कहे कि 'आग ठण्डी हो गई'। आग कभी ठण्डी नहीं हुआ करती, वहाँ आग रही नहीं बस इतनी ही बात है। लोक में कह भी देते हैं कि 'आग ठण्डी हो गई पापड़ नहीं सिक सकते' तो इसका मतलब है कि आग कोयले में थी अब उसमें नहीं रही। यह आग का काल्पनिक ठण्डा होना तो बन जायेगा, लेकिन सचमुच अग्नि ठण्डी हो जाये यह कभी नहीं हो सकता। कोई चीज़ अपने स्वभाव से विपरीत हो जाये यह किसी को भी स्वीकार नहीं हो सकता है। इस विषय के अन्दर तो कोई प्रमाण नहीं मिलेगा कि कोई चीज़ अपने स्वभाव को छोड़कर दूसरे स्वभाव वाली बन जाये। अज अव्यय आत्मतत्त्व माया के द्वारा ही द्वैत या मृत्यु इत्यादि भावों को प्राप्त कर सकता है, वस्तुतः नहीं कर सकता इसलिये द्वैत पारमार्थिक सत्ता वाला नहीं है।।१९।।

●

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ।।२०।।

Scanned by CamScanner

उपनिषद् को मानने वाले वेदांतियों में ही कुछ लोग ऐसे हैं जो उपनिषद् का व्याख्यान ऐसा करते हैं कि अजात को ही जन्म लेने वाला बताते रहते हैं। एक तरफ उसे अज कहते रहते हैं दूसरी तरफ उसे जन्म लेने वाला कहते रहते हैं! लेकिन यह कैसे बनेगा कि अजात अमृतभाव, मर्त्यता को प्राप्त कर जाये?

पूर्व श्लोक की बात को कहकर केवल इतना संकेत कर रहे हैं कि हमारे अपने वेदांतियों में भी अर्थात् स्वयूथी भी कुछ ऐसे हैं जो असम्भव बात को कहना चाहते हैं। कुछ लोग जो हमारे ही अर्थात् अपने ही पक्ष वाले हैं वे भी ऐसा मान लेते हैं। ब्रह्मनंदी वृत्तिकार, बोधायन आदि वृत्तिकार ऐसा मानते हैं। वैसे भट्टभास्कर ने भी माना है लेकिन उन्होंने वृत्तिकारों से लिया है। वर्तमान काल में वैष्णव सम्प्रदाय ऐसा मानता है। ये परमात्मा को जन्मने वाला और जन्मरहित दोनों कह देते हैं। वे भी बात तो ब्रह्म की ही करते हैं। ब्रह्मवादी हैं अर्थात् ब्रह्म का अनुभव न करके ब्रह्म के विषय में बोलते रहते हैं। खाली उपनिषदों को ही बाँचकर ब्रह्म के विषय में बोलते रहते तो कोई बात नहीं, लेकिन वावदूक हैं अर्थात् बकबकिया हैं। आगे इन्हें पूछें कि कैसे कहा तो कहते हैं कि 'हमारा मुँह था इसलिये बोल दिया।' जो जन्मरहित आत्मतत्त्व है उसी को मर्त्य मानते हैं क्योंकि जात मानोगे तो नाश होने वाला अपने आप ही मानना पड़ेगा।

है यह विचित्र बात। जैसे महाभारत में तो भगवान् कृष्ण का जन्म भी दिया और मृत्यु भी दी। लेकिन भागवतकार इत्यादि कृष्ण के जन्म का तो विस्तार से वर्णन करते हैं और फिर कहते हैं कि उनका शरीर खट उड़कर चला गया। जन्म का सारा वर्णन किया; देवकी का मुखतेज बढ़ा आदि, बढ़िया से बढ़िया वर्णन कर दिया; लेकिन मृत्यु के समय कहेंगे कि शरीर खट ऊपर चला गया। यदि वहाँ ऐसा मानते हो तो यहाँ भी ऊपर से गिर गया ऐसा मानो। यह प्रायः देखने में आता है कि ये लोग ऐसा करते हैं क्योंकि भावना को लिये हैं। इसलिये जन्म तो उन्हें लगता है कि भगवान् ने बहुत अच्छा किया कि हम लोगों के लिये सुलभ हो गये, लेकिन मरण में सोचते हैं कि भगवान् का मरण मानेंगे तो बुरी बात हो जायेगी, भगवान् मर नहीं सकते। कहाँ तक सोचते हैं! रामकृष्ण परमहंस का मृत्युकाल का एक फोटो है। वह फोटो मिशन वाले कहीं नहीं रखते हैं और ऐसी प्रसिद्धि भी है कि किसी के घर यदि उनका वह फोटो हो तो अनिष्ट हो जायेगा। कलकत्ते में कई बंगालियों के घर में वह भी है। हम एक बार गये तो उन्होंने पूछा कि 'ऐसी प्रसिद्धि है, क्या सच्ची बात है?' हमने कहा कि फोटो से क्या कभी अनिष्ट होना है! यह नहीं कि केवल प्राचीन भागवतकार में यह भाव हो, वर्तमान काल में भी मन में आता है कि मृत्यु का फोटो नहीं होना चाहिये। सौ साल में यह हुआ तो हज़ार सालों में तो शरीर ऊपर उड़ ही जायेगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं!

लेकिन नियम हुआ कि यदि किसी चीज़ को जन्म वाली मानोगे तो मृत्यु वाली माननी पड़ेगी। गीता में भी भगवान् ने कहा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'। यदि अजात को

Scanned by CamScanner

सचमुच उत्पन्न हुआ मानोगे तो फिर उस परमेश्वर को मरने वाला भी अवश्य मानना पड़ेगा। और यदि मरना लीला या मायिक मानते हो तो जन्म को भी लीला मानो।

तब कोई सिद्धांत को सर्वथा न जानने वाला बीच में बोल पड़ा कि 'चलो ऐसा ही मान लेंगे कि परमेश्वर पैदा भी होता है और मरता भी है।' किन्तु ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि जन्म-रहित और मरण-रहित ही परमेश्वर कहा गया है। जन्मने मरने वाले तो हम सब हैं ही, उसके लिये परमेश्वर की क्या ज़रूरत है! इसलिये जन्म-मरण-रहित स्वभाव वाले परमात्मा को तुम कैसे नष्ट होने वाला मान लोगे? किसी भी प्रकार से उसकी मर्त्यता अर्थात् स्वभाव से विपरीतता सिद्ध नहीं होगी।।२०।।

●

यही बात आगे कहते हैं—

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।२१।।

पदार्थ अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। जो अमृत है, मरण-रहित है वह कभी भी मरने वाला नहीं हो सकता। उसी प्रकार जो मर्त्य है वह अमृत नहीं हो सकता है। यह सभी वादियों के द्वारा स्वीकार किया हुआ सिद्धान्त है कि जो प्रकृति है वह कभी बदल जाये, यह नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार से प्रकृति नहीं बदल सकती।

गीता में भी भगवान् ने कहा 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' प्रकृति कभी भी बदल नहीं सकती। इस दृष्टि से व्यवहार में वेदांती मानता है कि किसी भी चीज़ की प्रकृति का अध्ययन कर लो और अध्ययन करने के बाद उससे लाभ तो उठा लो, लेकिन उसके नियमों को तुम हटा नहीं सकते। सारे के सारे विज्ञान का यही बीज है। अंधविश्वास तो यह मानना है कि हम लोग इच्छा से पदार्थों के स्वभाव बदल सकते हैं। जितने हमारे टोने टोटके हैं उन सबका आधार यही है। अंधविश्वासी मानता है कि पदार्थों के स्वभाव का परिवर्तन किया जा सकता है। वेदांती और जितने भी दर्शन हैं, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, सब इस बात को स्वीकार करते हैं, और इस बात को विज्ञान भी कहता है, कि प्रकृति का अन्यथा-भवन नहीं हो सकता।

मान लो कोई व्यक्ति बैठा हुआ अकस्मात् हाथ में कोई चीज़ तुम्हें लाकर दिखा देता है। वेदांती कहेगा कि इसने दिखाया यह तो ठीक है, लेकिन इसके पीछे कोई प्राकृतिक कारण है जिसे ढूँढो तो पता लगेगा, और उसे बनाने की प्रक्रिया है तो सब बना सकते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि एक बनाये और दूसरा कोई न बना सके। यह तो हो सकता है कि प्रक्रिया कठिन हो, मुश्किल से आये। यहाँ तक भी मान लेंगे कि प्रक्रिया का पता न हो, क्योंकि किसी-किसी में जन्म से ही सामर्थ्य होती है। लेकिन यदि इसके

Scanned by CamScanner

पीछे कोई प्राकृतिक कारण नहीं है और यह कहता है कि 'केवल मैं बना सकता हूँ' तो निश्चित समझो कि धोखा है, माया या बाजीगर का खेल है।

यह जो वेदांत की दृष्टि है कि 'प्रकृतेः अन्यथाभावः न कथंचिद् भविष्यति', यह सब प्रकार के अंधविश्वासों के विरुद्ध और हर चीज़ की वैज्ञानिक दृष्टि है। किसी चीज़ को ना हम नहीं करते हैं, 'ऐसा नहीं होता' यह कहना वेदांती का काम नहीं, लेकिन यह वह निश्चित जानता है कि उसका पता लगाओ तो मालूम पड़ जायेगा कि इस कारण से इस प्रकार उत्पत्ति होती है। इस बात को लोग भूलते हैं तो तरह तरह के अंधविश्वास, टोने टोटके मानते रहते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि पदार्थों के स्वभाव बदलते रहते हैं।

एक जगह भाष्यकार ने एक विलक्षण बात कही है। पारस जब लोहे को छूता है तो सोना बन जाता है। वहाँ लिखा है कि कालान्तर में वह फिर लोहा रह जाता है यह क्यों भूलते हो? अब तक सबके मन में बैठा हुआ है कि पारस ने छुआ तो सोना हो गया। इस दृष्टि से कहते हैं मानो सुनने वालों को सबको पता है। इसलिये कहते हैं कि बाद में वह फिर लोहा का लोहा रह जाता है, यह क्यों भूलते हो? इसका मतलब है कि जितनी प्रसिद्धि है सब काल्पनिक है। थोड़े समय के लिये सोने की तरह दीखता है, दूसरे को धोखा भले दे लो, वह फिर रोता रहेगा। प्रकृति किसी भी पदार्थ की अन्यथा नहीं हो सकती।

संसार में कहीं यह देखने में नहीं आता कि जो मरण-धर्मा है वह अमरण-धर्मा और जो अमरण-धर्मा है वह मरण-धर्मा हो जाये। ऐसा नहीं होता है। इसलिये प्रकृति का अर्थ कर दिया स्वभाव क्योंकि प्रकृति के कई अर्थ हैं। सृष्टि के कारण को भी प्रकृति कहते हैं, मनुष्य को भी कह देते हैं कि क्रोधी प्रकृति का है। लेकिन यहाँ प्रकृति का वह तात्पर्य नहीं है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव किसी का क्रोधी नहीं हुआ करता है। वह तो दिमाग का एक सीखा हुआ प्रकार है। उस प्रकार से दिमाग शिक्षित हो गया तो वैसा करता है। उस दिमाग को दूसरी तरफ बदल दोगे तो क्रोध निवृत्त हो जायेगा। इसलिये क्रोधी स्वभाव नहीं है। जो बड़े से बड़ा क्रोधी हो उसे कहो 'क्रोध दिखा', तो वह नहीं दिखा सकता। कहता है 'ऐसे थोड़े ही क्रोध आता है, कोई बात होगी तब आयेगा।' इसका मतलब है कि क्रोध का स्वभाव नहीं होता। किसी कारण से क्रोध आया करता है। जब हम कहते हैं कि क्रोधी स्वभाव का है तो उसका केवल तात्पर्य होता है कि जहाँ कारण क्रोध का नहीं है वहाँ भी क्रोध कर लेता है। इसलिये जहाँ हँसी की कोई बात हो, वहाँ भी क्रोध कर लेता है क्योंकि उसे सिखाया नहीं गया कि जीवन में कैसे रहना चाहिये। जिसने यह नहीं सीखा होगा वह जहाँ काम की वृत्ति नहीं करनी है वहाँ भी कामुकता की वृत्ति करेगा। रास्ते में मोटर देखकर कहेगा कि 'मेरी होती तो बड़ा अच्छा था'। यह शिक्षा की भूल है। थोड़ी-सी किसी ने अपनी बात नहीं मानी, मन के लायक काम नहीं किया तो क्रोध हो गया। कारण कि शिक्षा ग़लत है। यह विचार नहीं करता

Scanned by CamScanner

कि 'मैं दूसरे के मन लायक कितना काम करता हूँ जो दूसरा मेरे लायक करे?' या 'मेरे पदार्थ को दूसरा इस प्रकार नज़र लगायेगा तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा तो मैं दूसरे के पदार्थ पर नज़र क्यों लगाऊँ?' नज़र लगने का मतलब बस इतना ही है, बाकी 'नज़र लगना' तो सब अंधविश्वास है। 'यह चीज़ मेरी हो जाये' यही नज़र लगना है। इसलिये काम क्रोध का 'स्वभाव' तो शिक्षा की भूल से है। उसे ठीक ढंग से शिक्षा नहीं मिली, बस और कुछ नहीं है।

कुछ हमने देखा है कि क्रोध का कारण सांस्कृतिक भी होता है। कुछ कल्पनायें हम लोगों को बचपन से मनवा दी जाती हैं जिनसे क्रोध होता रहता है। जैसे मान लो हमें बचपन से समझाया है कि हमारे सामने आते ही अमुक को हट जाना चाहिये, नहीं हटता है तो नालायक है। यह चूँकि संस्कार पड़ा हआ है इसलिये लोगों को हमने कहते सुना है कि 'देखिये विश्वनाथ की गली में सफाई करने वाले गली के बीच में खड़े ही रहते हैं, एक तरफ नहीं होते।' यह सांस्कृतिक कारण हुआ। आगे उनसे कोई कहे कि 'सड़क तेरे बाप की है? जैसे सड़क पर अधिकार उसका वैसे ही तेरा। तेरा अधिकार बढ़ कैसे गया? कोई संविधान में थोड़े ही लिखा है।' उसका जवाब है कि हमारी संस्कृति है। यह संस्कार के कारण है। बहुत से क्रोधों को यदि देखोगे तो उनका आधार केवल सांस्कृतिक है। एक ब्राह्मण लड़का है, वह पाँच सात साल पहले अमरीका चला गया। अब वह किसी लड़की से ब्याह करना चाहता है। यह खबर सुनते ही उसके पिता को हार्ट अटैक हो गया और माता मूर्च्छित हो गई। हमसे कहा कि उसे समझाओ। हमने कहा कि जब वह यहाँ से जा रहा था तब हमने कहा था कि उसका ब्याह करके भेजो, तब तुमने कहा था कि 'बिना बड़े का किये छोटे का कैसे करें?' ठीक है। तो तुम उसे यहीं रखते। तुमने अपनी संस्कृति छोड़कर उसे विदेश भेज दिया। संस्कृति का यह हिस्सा तो माना कि 'बिना बड़े का ब्याह किये छोटे का कैसे करें', 'समुद्र लंघन मत करो' यह नहीं माना। अब जब उसका परिणाम सामने आया तो कहते हो कि 'हम मर जायेंगे, उसे समझाइये।' यह तुम्हारी सांस्कृतिक मान्यता की भूल है। बहुत से हम लोगों के जो क्रोध हैं वे सांस्कृतिक कारणों से हैं। गलग ढंग से संस्कृति हमें सिखा दी जाती है और वही हमारे क्रोधों का कारण बनती रहती है।

यहाँ प्रकृति का मतलब स्वभाव किया, जिसे साधारण भाषा में स्वभाव कहते हैं, वह अर्थ यहाँ नहीं है। स्वभाव हमारा जानने का है तो कोई समय ऐसा नहीं जब हम जानते न हों। वह अपने स्वरूप से गिर जाये, यह कभी भी नहीं हो सकता। यह स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव गर्म होना है तो वह कभी भी ठण्डी नहीं हो सकती अन्यथा उसका स्वरूपनाश-प्रसंग हो जायेगा। 'भू सत्तायाम्' धातु से निष्पन्न स्वभाव शब्द है। धातु क्रिया को बताता है और यहाँ उस क्रिया करने वाली चीज़ का नाम स्वरूप है। जैसे अग्नि का स्वभाव गर्मी अर्थात् जलना उसका स्वरूप है।।२१।।

●

Scanned by CamScanner

किसी को यह शंका हुई कि उत्पत्ति होने से पहले जो ब्रह्म था वह अमृत था, वह कारण ब्रह्म हो गया। फिर सृष्टि काल में वही जीव आदि भावों से उत्पन्न हो गया और मर भी जायेगा। प्रलय के बाद फिर अमृत हो जायेगा। ऐसा मान लो अर्थात् सृष्टि के पहले अमृत, सृष्टिकाल में मर्त्य और फिर अमृत बन जायेगा, ऐसा मान लो। वह मरता भी है और अमर भी है। सृष्टि काल में वह मरता है, यह और सृष्टि के आगे पीछे अमर रहता है, यह उसका स्वभाव ही मान लो तो क्या हर्ज़ा है? समाधान करते हैं :

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ।।२२।।

जिस वादी के मत में स्वभाव से अमृत और मर्त्य के भाव प्राप्त होंगे तो मृत्यु के बाद ही वह अमर बनेगा। इसलिये किसी काल के अन्दर किसी न किसी क्रिया के द्वारा वह अमर बना है तो उसकी स्थिरता कैसे हुई? प्रलय के बाद फिर पैदा होने वाला और फिर मरण होने वाला हो जायेगा। वह अमरणधर्मा नहीं होगा। हम लोगों के जैसा ही होगा। इतना ही फ़रक रहेगा कि हम थोड़े दिनों में मरते हैं और वह ज़रा लम्बे समय में मरने वाला हो जायेगा।

जिस वादी के मत में स्वभाव से ही अमृत मर्त्य हो जाता है अर्थात् सचमुच पैदा हो जाता है, उसकी 'उत्पत्ति के पहले उसका अमरण धर्म है, वह स्वभाव है' ऐसी जो प्रतिज्ञा है वह ग़लत होगी, बन नहीं सकती। उसका स्वभाव तो कुछ करके अमरणधर्म को प्राप्त करना हुआ तो वह फिर हमेशा अमरणधर्मा नहीं रहा। जो कभी न बदले वह अमरणधर्मा हुआ, वह ऐसा नहीं रहा। उसको अमृत स्वभाव वाला कैसे कहोगे? उसको कहना पड़ेगा कि मर्त्य स्वभाव वाला है क्योंकि बार बार मरता और पैदा होता रहता है। इस प्रकार जो तो यह मानते हैं कि परमात्मा उत्पन्न होने वाला है उनके यहाँ वस्तुतः अज नाम की कोई चीज़ रहेगी ही नहीं। सब कुछ मृत्युधर्मा ही उनके यहाँ मानना पड़ेगा।

तात्पर्य यह हुआ : मृत्यु का मतलब क्या है? मृत्यु का मतलब ही होता है अनित्यता। जब तुमने ब्रह्म को कभी मरने वाला, कभी अमरणधर्मा माना तो उसका स्वभाव अनित्य हो गया, नित्य स्वभाव नहीं रहा। अनित्य स्वभाव वाला ही विनाशी कहा जाता है। मृत्यु का वास्तविक तात्पर्य अनित्यता हुआ। यदि तुम उसे सृष्टि के बाद अमर और सृष्टि काल में मरणधर्मा मानोगे तो नित्य स्वभाव न होने से अनित्य स्वभाव हुआ, और अनित्य स्वभाव वाले पदार्थ को विनाशी, मरणधर्मा, कहा जाता है। फिर मोक्ष नाम की तो कोई चीज़ ही नहीं रहेगी क्योंकि मुक्त हो भी गये तो भी फिर पैदा हो जाओगे!।।२२।।

Scanned by CamScanner

अब प्रश्न होता है कि आखिर श्रुति ने जीव, जगत् की उत्पत्ति बताई है। अगर तुम ब्रह्म को अज मानोगे तो यह बात समझ में नहीं आती; क्योंकि जिस श्रुति ने उसे अज कहा उसी ने फिर सृष्टि को, जीव को बता दिया। इस पर कहते हैं :

भूततोऽभूतते वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत्।।२३।।

ठीक है सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियाँ रहो लेकिन सृष्टिप्रतिपादक श्रुति यदि सचमुच सृष्टि हुई हो तो भी बन जायेगी, और झूठमूठ सृष्टि हुई हो तो भी बन जायेगी। श्रुति दोनों तरह से बन सकती है। उत्पत्ति नहीं हुई यह तो हम कह नहीं रहे हैं। प्रश्न इतना है कि सच्ची उत्पत्ति हुई या झूठी हुई? सृष्टिप्रतिपादक श्रुति एक जैसी ही दोनों तरह से लग जायेंगी।

फिर दोनों को सच्ची ही क्यों न मान लो? जैसे 'प्रकृतेः अन्यथाभावः न कथंचित् भविष्यति' यह एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया वैसे अब दूसरा सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। जो बात वेद के द्वारा या प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा निश्चित हो अर्थात् अनुभूत हो और वह युक्तियुक्त हो, युक्ति से सिद्ध हो तभी वह सच्ची हुआ करती है। सिद्धान्त-प्रतिपादन के ये नियम याद रखने के हैं। पहली चीज़ कोई व्यक्ति कहता है कि 'मेरा ज्ञान निश्चित है कि मुझे ऐसा दीखा, मैंने ऐसा सुना।' पहले तो यह निर्णय करना चाहिये कि उसको दीखा या नहीं, क्योंकि बहुत बार आदमी देखता कुछ है और कल्पना करता है कि ऐसा देखा। आगे खोदकर पूछते हैं तो इधर की उधर लगाता है। फिर कहता है कि बात तो यही है, ऐसा मान लो। वहाँ समझ लेना चाहिये कि इसका अनुभव निश्चित नहीं है।

अब अगर उसका अनुभव भी निश्चित हो गया तो भी मान मत लो। उसने जो बात कही वह युक्तियुक्त है या नहीं, यह देखना पड़ेगा। कोई हमें बता रहा था कि एक आदमी ने एक लेख छापा है कि जब जब क्वीन ऐलिज़बेथ सैकेण्ड हरे रंग का कपड़ा पहनती है तो मुझे जुखाम होता है! उसमें उसने तारीखें भी बताई हैं। इस प्रकार दो तीन साल की एक रिसर्च छाप दी। साधारण आदमी को झट लग जायेगा कि दोनों में कार्य-कारण-भाव है। लेकिन ऐसा होने पर भी यह युक्तियुक्त नहीं है। निश्चित होने पर भी दोनों का कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। इसलिये उसे सच्चा नहीं मान सकते। यहाँ तक तो ठीक है कि दोनों का साहचर्य (coordination) हो रहा है, लेकिन सचमुच उसके कारण पैदा होता हो यह नहीं कहा जा सकता। अधिकतर जो हम लोगों के कार्य-कारण-भाव हैं वे ऐसे ही चलते हैं। किसी मैडिकल रिसर्च को देखोगे तो छापेंगे कि अमुक औषधि दी, इतने रोगियों को रखा, उसमें से इतने प्रतिशत ठीक हुए और इतने प्रतिशत ठीक नहीं हुए। लेकिन कोई वैद्य यह रिकार्ड नहीं बतायेगा। वह कहेगा कि 'अमुक रोगी

Scanned by CamScanner

इतना भटका, फिर हमारे पास आया हमने उसे दवाई दी और वह ठीक हो गया।' वह व्यक्ति भी कहेगा 'हाँ जी बहुत भटका, आखिर इन्होंने ठीक कर दिया।' आगे उनसे पूछो कि आखिर कितने रोगियों को कन्ट्रोल में रखा, उसमें से कितने रोगियों को औषधि दी, कितनों पर असर हुआ इत्यादि; तो ये सारे प्रयोग वे नहीं करेंगे। साधारण आदमी ने तो 'हरे रंग को देखकर जुखाम होता है' इस कार्य-कारण-भाव को निश्चित कर दिया। विवेकी कहेगा कि तुम्हारा निश्चय ठीक है कि हरा रंग पहनने से जुखाम होता है लेकिन यह सच्ची बात नहीं है क्योंकि युक्तियुक्त नहीं है।

प्रत्यक्ष आदि अनुभवों से निश्चय करना पड़ता है कि अनुभव ठीक हुआ। तब आगे युक्ति सोचनी पड़ती है कि युक्तियुक्त है या नहीं। उसी प्रकार वेद ने क्या कहा इसको पहले निश्चित करना पड़ेगा क्योंकि हो सकता है कि वेद ने कोई बात आगे कही है लेकिन तुमने एक दो मंत्र देखकर निश्चय कर लिया। पहले सारे वेद को देखकर निश्चय करो कि वेद यह कह रहा है। वेद ने सृष्टिप्रतिपादक श्रुति कही है। वेद ने अज ब्रह्म से सृष्टि को बताया। लेकिन वेद ने यदि कह भी दिया और युक्तियुक्त नहीं है तो वास्तविक उत्पत्ति सृष्टि की मान लोगे जो ठीक नहीं है। निश्चित हो भी गया तो इन युक्तियों से उसका खण्डन हो जायेगा। इसलिये जो चीज़ निश्चित हो लेकिन युक्तियुक्त न हो वह गलत हुआ करती है। अयुक्तियुक्त चीज़ वेद के कहने पर भी नहीं माननी चाहिये। यह एक सिद्धान्त प्रतिपादन हुआ।

इतना और समझ लो कि भाष्यकारों का सिद्धान्त है 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम।' जो प्रमाणसिद्ध हो वह अनुपपन्न नहीं होता। इसलिये या प्रमाण से जो तुमने निर्णय किया वह गलत है और या जिसे तुम विरुद्ध युक्ति समझ रहे हो वह ग़लत है, युक्त्याभास है। अतः दोनों की परीक्षा ज़रूरी है : प्रामाणिक निर्णय ठीक है या नहीं? और उसका विरोध करती लगती युक्ति ठीक है या नहीं? दोनों ठीक होंगे नहीं, अतः जो परीक्षा से ठीक निकलेगा उसी के अनुसार दूसरे को लगा लेना पड़ेगा।

अधिकतर कर्मकाण्डियों के अन्दर अंधविश्वास हो जाता है कि जैसा लिखा है मान लो। हम उनसे कहते हैं कि पहले तात्पर्य तो समझें, तब मानेंगे। इसीलिये दूसरे लोग वेदांती को प्रायः नास्तिक बताते हैं क्योंकि वह कहता है कि ऐसा किसी ने कहा इतने मात्र से हम तो मानने वाले हैं नहीं।

सृष्टि को सच्ची मानकर भी सृष्टिप्रतिपादक श्रुति की व्यवस्था भी बन गई और झूठी मानकर भी व्यवस्था बन गई। लेकिन यदि सच्ची मानते हैं तो युक्ति से विरोध और झूठी मानते हैं तो युक्ति के अनुकूल पड़ जायेगी। अतः श्रुति झूठमूठ की सृष्टि बता रही है यही निश्चय है।

Scanned by CamScanner

कोई शंका करता है : जो अजातवादी है अर्थात् जो नहीं मानता है कि सृष्टि सच्ची है, उसके लिये सृष्टि को बताने वाली श्रुतियाँ प्रमाण नहीं रह जाती हैं। वेद में दोनों बातें कहीं, तो दोनों को एक जैसा प्रमाण मानो। अज ब्रह्म से सृष्टि हुई इसे भी प्रमाण और वह सृष्टि सच्ची हुई यह मानो। अर्थात् अजातवादी के मत में सृष्टि की श्रुतियाँ प्रामाणिक नहीं रह जायेंगी।

सिद्धांती कहता है : सृष्टि की उत्पत्ति बताने वाली श्रुतियाँ हैं, यह जो तुमने कहा, वह ठीक है। हम भी मानते हैं कि श्रुति ने सृष्टि को बताया। लेकिन श्रुति का तात्पर्य सृष्टि को बताने में नहीं है। हम पहले बता आये हैं कि सृष्टि का प्रतिपादन केवल उस आत्मतत्त्व को समझने के लिये किया गया, ऐसी हमारी मान्यता है। उसी बात को फिर क्यों उठाते हो? पहले कहा था 'उपायः सोवताराय नास्ति भेदः कथंचन।'

कोई पूछे कि फिर ग्रंथकार ने ही वह पुराना प्रसंग पुनः क्यों उठा लिया? तो वह इस विचार के लिये है कि सृष्टिश्रुति के प्रतिपादक जो अक्षर हैं उन्हें जैसा वहाँ लिखा है वैसा ही क्यों न मानें? मिथ्या सृष्टि को स्वीकार करने पर वेद का तात्पर्य तो लग जाता है लेकिन वेद का शब्दार्थ तो ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि शब्दों में तो वेद ने कहा नहीं कि सृष्टि सच्ची है या झूठी। जैसे अज ब्रह्म कहा वैसे ही सृष्टि कही। इसलिये इन शब्दों से तो दोनों को सच्चा मानना चाहिये। 'तत्तेजोऽसृजत' 'स ऐक्षत' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा झूठमूठ सृष्टि को मानना, ऐसा श्रुति ने नहीं कहा। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुति ने तो यही कहा। यह शंका आजकल भी लोग करते हैं कि वेदों में तो नहीं कहा लेकिन केवल दार्शनिक दृष्टि से लोगों ने मान लिया है। इसलिये उस असामंजस्य का विरोध हटाने के लिय यहाँ पुनः कह रहे हैं।

'भूततः' भाष्यकारों ने इसका अर्थ कर दिया परमार्थतः। यह तो परिणामवाद में बनना है जैस दूध दही बनता है। यह एक बनना हुआ। और रस्सी साँप बन जाती है, यह दूसरा बनना हुआ 'अभूततः'। शब्द तो दोनों जगह एक ही प्रयोग करते हैं। दोनों जगह 'बन गया' कहने पर भी एक जगह परिणामवाद है कि सचमुच दूध दही बन गया, और दूसरी जगह विवर्तवाद है कि रस्सी रहते हुए ही साँपवत् प्रतीत हो रही है। परिणामवाद अर्थात् भूततः भवन, और विवर्तवाद अर्थात् अभूततः भवन। परिणाम में भूतदृष्टि से चीज़ों की उत्पत्ति मान ली, और विवर्त में अभूततः, अर्थात् अपरमार्थतः जैसे माया के द्वारा मायावी सृष्टि कर लेता है वैसी मान ली। इन दोनों के अन्दर जो चीज़ बनकर पैदा हुई वह तो तुम्हारा काम निकाल ही देगी, जैसे दही का व्यवहार हो रहा है वैसे ही साँप का व्यवहार होता रहेगा। जितनी देर तक मायावी माया का खेल दिखाता है वह सच्चा ही दीखता रहता है।

Scanned by CamScanner

कई बार लोग सोचते हैं कि जो थोड़े समय तक रहे वह मायावी-सृष्टि और जो लम्बे समय तक रहे वह सच्ची। तीन साल से जो अंगूठी हमारे पास है या तीन मिनट से हमारे पास है, उसमें क्या फ़रक पड़ता है? क्योंकि वह तो इसपर निर्भर करता है कि माया कितनी तगड़ी है। और ज्यादा तगड़ी माया होगी तो तीस साल तक भी दीखती रह सकती है। कमज़ोर माया होगी तो तीन सैकेण्ड तक दिखाई पड़ेगी। लेकिन उससे उसकी सत्यता सिद्ध नहीं होगी। Hypnotists रोगियों को जो suggestions दे देते हैं, संमोहन करके जँचा देते हैं, उसके आधार पर वे लोग दसों सालों तक वही काम करते रहते हैं। आखिर हम लोग भी जो अधिकतर कार्य करते हैं विचार से वे भी तो एक तरह के suggestion ही दे दिये गये हैं, हमें जँचा दिया गया है, वह सत्य थोड़े ही है! वेदांत तो विचार की दृष्टि है। हमने तुम्हारे कान में एक मंत्र फूँक दिया और कहा कि अब तुम संन्यासी बन गये। वह मंत्र कान में फूँकने से क्या तुम्हारे में कोई परिवर्तन आ गया? विचार की दृष्टि से कुछ परिवर्तन नहीं आया। लेकिन तुमको यह जँच गया कि 'मैं संन्यासी हूँ'। उसके बाद संन्यासविरुद्ध आचरण करोगे तो अन्दर ही अन्दर घृणा होगी कि 'ग़लत कर रहा हूँ।' एक आदमी-औरत को खड़ा करके चार आहुतियाँ डलवा दीं। हुआ क्या? उससे कोई पतित्व या पत्नीत्व थोड़े ही घुस गया। लेकिन अब दूसरी औरतों की तरफ देखोगे तो होगा कि 'पाप कर रहा हूँ।' अगर जँचा नहीं है तो चार साल तक एक ही कमरे में सोओ, रहो, फिर भी दूसरी औरत की तरफ दृष्टि होगी तो मन में नहीं होगा कि 'पाप कर रहा हूँ।' अब विचार करो कि यह जो हवन कराकर गृहस्थ बना दिया, या कान फूँक कर संन्यासी बना दिया यह बन जाना hypnotistic suggestion (संमोहन से जँचना) है या और कुछ? लेकिन अब वह काम करता रहेगा जब तक नहीं मरेगा। जब आदमी कहता है कि 'तीन साल से अंगूठी दीख रही है', तो हम कहते हैं कि हमारा मंत्र तीस साल तक दीखता रहता है। इसलिये उससे तीव्र हुआ। अपने उसी को सच्चा नहीं मानते तो इसको कहाँ से सच्चा मानेंगे?

इसलिये कह दिया कि जो चीज़ उत्पन्न होकर अनुभव में आती है, वह चाहे मायिक हो चाहे सच्ची, उससे कोई फ़रक नहीं पड़ता। वैसे तो शास्त्रों में बता ही दिया है कि सृष्टि मायिक है। गीता में साफ कहा 'मम माया दुरत्यया' और विष्णुपुराण में भी कहा 'माया ह्येषा' इत्यादि। इसी प्रकार आसाम की तरफ कुछ लोग हैं जो अच्छे भले मनुष्य को माया से बकरी बना देते हैं! जब श्रुति ने कहा 'तेत्तेजोऽसृजत' 'तद् ऐक्षत' तो यह ठीक है कि श्रुति ने नहीं कहा कि माया से हुई, लेकिन उसने यह भी तो नहीं कहा कि सत्य रूप से हुई। तुम्हारा कहना यह है कि यह नहीं कहा कि झूठमूठ बनी, लेकिन सचमुच बनी यह भी तो नहीं कहा। इसलिये सचमुच और झूठमूठ में तुम 'सचमुच' शेष करते हो, हम 'झूठमूठ' करते हैं। श्रुति ने केवल कहा कि सृष्टि हुई। तुम कहते हो सचमुच हुई मानो, हम कहते हैं झूठमूठ हुई मानो। श्रुति ने दोनों बातें नहीं कहीं।

Scanned by CamScanner

वादी कहता है कि एक बात है : जहाँ गौण और मुख्य दोनों एक जैसे प्राप्त हों, एक जैसी सम्भावना हो, वहाँ मुख्य में ही शब्द का तात्पर्य हुआ करता है। जैसे किसी ने कहा कि 'यह लड़का तो आग है'। यहाँ तो लड़के के लिये आग शब्द का प्रयोग होने पर भी क्योंकि लड़का आग नहीं हो सकता इसलिये मानना पड़ता है कि झूठमूठ कह रहे हैं अर्थात् बकता बहुत है, या गुसैल है, यह मतलब है। लेकिन जहाँ सीधा कहा जाये कि 'आग को ले आओ', वहाँ भी कहो कि झूठमूठ आग लाने को कह रहे हैं, तो यह नहीं होगा। गौण और मुख्य की सम्भावना प्राप्त होने पर मुख्य को ही ठीक मानना चाहिये।

सिद्धान्ती कहता है यह जो तुमने शंका की वह ठीक नहीं। यहाँ गौण व मुख्य की एक जैसी सम्भावना नहीं है। यदि तुम यह मानोगे कि सृष्टि सचमुच हुई तो फिर उस सृष्टि को तुम सिद्ध ही नहीं कर सकोगे। यह हम पहले युक्ति दे आये हैं कि अज और अमर कभी भी सचमुच जायमान और मरणधर्मा हो नहीं सकता। अगर सचमुच जायमान व मरणधर्मा है तो सचमुच अजन्मा नहीं हो सकता। एक को सच और दूसरे को झूठ मानना ही पड़ेगा। और किसी भी प्रकार से यदि तुम मानोगे तो काम नहीं बनेगा। सृष्टि में तात्पर्य स्वीकार कर लोगे तो भी सत्य सृष्टि सिद्ध नहीं होगी।

यह भी पहले बता आये हैं कि तिल से तेल निकलता है, बालू से तेल नहीं निकलता क्योंकि तिल में तेल होता है इसलिये। कहने को कहते हैं तिल से तेल बना, लेकिन बना कुछ नहीं। इसी प्रकार कहने को कहते हैं कि मिट्टी से घड़ा बना लेकिन बना नहीं। मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति पहले मौजूद थी, नहीं तो पत्थर से घड़ा बना लो! जहाँ मुख्य सृष्टि बतायी जाती है वहाँ भी तात्पर्य यही होता है कि वह चीज़ पैदा नहीं हुई, केवल प्रकट हुई। इसलिये यदि यह अर्थ करते हो कि परमात्मा पहले अमरणधर्मा था और वह जीवरूप से मरणधर्मा बना, और यदि सृष्टि को सत्य मानते हो, तो मरणधर्मापन पहले ही ब्रह्म में बैठा हुआ था यह मानना पड़ेगा। वह जब मान लिया तो फिर अज ब्रह्म की श्रुति का बाध करना पड़ेगा। तुम यह व्यवस्था बनाना चाहते थे कि उसे अज और सृष्टि काल में जन्मवाला मान लेंगे, लेकिन यदि तुमने सृष्टिकाल में सचमुच जन्मवाला माना तो अज श्रुति को तो छोड़ना ही पड़ेगा।

अगर कहो कि परमात्मा सचमुच मरणधर्मा रहता है और साधना आदि करने से अमरणधर्मा हो जाता है, तो फिर ऐसा बताना निष्प्रयोजन हो जायेगा। कोई प्रयोजन इसलिये नहीं कि मुक्त होने वाला जब फिर बद्ध ही होना है, तो मुक्ति किस लिये? श्रुति ने सृष्टि को क्यों बताया? श्रुति ने नहीं कहा कि मिट्टी से कौन कौन से बर्तन बन सकते हैं, वह तो प्रत्यक्ष-अनुमान गोचर है। बनाते रहो। ऐसे ही बदलने वाला परमात्मा तो सृष्टि को देखकर समझ में आ जाता है। जैसे सृष्टि की सब चीज़ें बदलती रहती हैं वैसे ही मूलकारण सृष्टि का एक ईश्वर होगा जो संसाररूप बन गया। इसके लिये वेद आदि

Scanned by CamScanner

बाँचने की क्या ज़रूरत है? क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष मूलक प्रमाण से ही पता लग जायेगा कि जगत् का भी एक परिणामी कारण है। सांख्यादि मानते ही हैं। यह पहले प्रतिपादित कर ही आये हैं।

इसलिये अविद्या से सृष्टि को विषय करने वाली ही सारी सृष्टि श्रुतियाँ हैं। श्रुति ने स्वप्न सृष्टि बतायी, वह भी अविद्या से है और जाग्रत् सृष्टि बतायी तो वह भी अविद्या से ही है। अविद्या के रहने पर ही स्वप्न और जाग्रत् की सृष्टि है। सृष्टि परमार्थ रूप से नहीं हो सकती। श्रुति परमात्मा को जैसा कहती है वह तभी बैठेगा जब सृष्टि आविद्यिक है। 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' वही अन्दर-बाहर और वही अज है यह श्रुति परमात्मा को स्पष्ट बता रही है कि वह अज है। इसलिये एक ही अद्वय, अज और अमृत ब्रह्म हुआ। चूँकि युक्ति के द्वारा भी उसी की सिद्धि होती है इसलिये उसे हीं स्वीकार करना चाहिये। यह पहले भी कई श्लोकों में दोहरा कर कहा है। निश्चित भी हो और युक्तियुक्त हो वही वेद का तात्पर्य हुआ करता है। केवल ब्रह्म के विषय में नहीं, बाकी भी जितने विषय हैं वहाँ भी कोई चीज़ युक्तिविरुद्ध हो तो नहीं मान लेना। मूलकार ने 'कदाचिदपि' नहीं कहा इसलिये शंका हो सकती है कि ब्रह्मजिज्ञासा में भले ही युक्ति लगाओ, बाकी सब जैसा लिखा है वैसा मान लो। इसलिये भगवान् भाष्यकारों ने कह दिया 'कदाचिदपि' कि कोई भी बात युक्तिविरुद्ध होने पर ठीक नहीं हुआ करती।।२३।।

●

कोई कहता है कि हम केवल वेद से निश्चय करना चाहते हैं। ये युक्तियाँ हमारी समझ में नहीं आतीं। तो कहते हैं कि तुम्हें भी समझा देते हैं—

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ।।२४।।

अब प्रत्यक्ष श्रुतियाँ सुना देते हैं। अब तक तो सिद्धांत के रूप में बातें कही। अब वेद के मंत्र सुनना चाहो तो सुन लो। 'नेह नानास्ति किंचन' यह श्रुति स्पष्ट कह रही है कि 'इह' अर्थात् 'प्रतीतिकाले'; क्योंकि प्रलयकाल में तो वेद बोल नहीं रहा है! इसलिये प्रतीति काल में ही भेद जो दीख रहा है वह नहीं है। इसलिये जो हमने सृष्टि को असत्य कहा तो यह वेद मुँह से कह रहा है कि नानात्व नहीं है। दूसरा वेद कह रहा है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' माया शब्द से स्पष्ट कह रहे हैं कि इन्द्र अर्थात् परमात्मा माया के द्वारा ही अनेक रूप धारण करता है।

यह भी श्रुति हो गई 'अजायमानो बहुधा विजायते' बिना पैदा हुए ही बहुत प्रकार से जन्म लेता है, जैसे बिना साँप बने हुए ही रस्सी साँप रूप में होती है। ये सारी श्रुतियाँ स्पष्ट कह रही हैं कि वह माया से ही पैदा होता है।

Scanned by CamScanner

सिद्धान्त हुआ कि तथ्य युक्ति से सिद्ध होना चाहिये और यहाँ पर प्रत्यक्ष श्रुतियों से भी निश्चय करा दिया। श्रुति का निश्चय कहाँ करें? तो कहा कि इन मंत्रों से करो। यदि सचमुच ही सृष्टि बनी होती तो जो नाना या अनेकता है वह सत्य होती। फिर 'वह नाना नहीं है' यह बताने वाले जो वेद के मंत्र हैं उनका कुछ अर्थ नहीं लगेगा। और 'इह नाना किंचन न अस्ति' इस प्रकार का वेद मंत्र मिल रहा है जो द्वैतभाव का प्रतिषेध करता है। इसलिये यह तात्पर्य निकला कि आत्मा की एकता का ज्ञान कराने के लिये ही वेदों ने सृष्टि बताई है। वस्तुतः सृष्टि बताना श्रुति का तात्पर्य नहीं है। जैसे प्राणसंवाद अर्थात् वाणी, कान आदि आपस में बातें करते हैं ऐसी कथायें वेदों में आती हैं तो सचमुच थोड़े ही बात करेंगे! ऐसे ही सचमुच सृष्टि नहीं हो जायेगी। और 'इन्द्र माया के द्वारा बहुत रूप को धारण करता है' यहाँ बिना हुए जो चीज़ प्रतीत हो उसे बताने वाला जो माया शब्द है उसका स्पष्ट ही उपदेश किया गया।

अब कोई कहता है कि माया के अनेक अर्थ होते हैं। महर्षि यास्क ने माया का एक अर्थ प्रज्ञा भी किया है। यह शंका प्रायः आर्यसमाजी भी किया करते हैं। पहले भी किसी ने शंका की होगी, उसका समाधान करते हैं। कहते हैं माया शब्द प्रज्ञा अर्थ वाला भी निरुक्त के अन्दर कहा है यह ठीक है। प्रज्ञा भी अर्थ होता है। लेकिन कहीं वह अर्थ है इतने मात्र से सर्वत्र उसे ही लें यह ज़रूरी नहीं। अगर कहो नहीं यही ठीक है, इसलिये प्रज्ञा अर्थ को लेकर ही व्यवस्था माननी पड़ेगी, तो भी बन जाती है। वहाँ जो प्रज्ञा कही है वह ब्रह्मचैतन्यरूप प्रज्ञा तो है नहीं क्योंकि अन्यत्र माया की सम्पूर्ण निवृत्ति भी श्रुति ने बतायी है 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'। अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही मायाशब्दित प्रज्ञा समझा जा सकता है। इंद्रिय की जो प्रज्ञा अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है वह तो अविद्यामय ही है। इसलिये अविद्यामय होने से उसे माया मान लो। इसमें कोई दोष प्राप्त नहीं होता। फिर भी मिथ्यार्थता तो वैसी की वैसी रह गई।

अब तीसरे पाद का अर्थ करते हैं जो नारायण ऋषि का दृष्ट पुरुषसूक्त का मंत्र है। 'अजायमानो बहुधा विजायते' जो बिना उत्पन्न हुए ही उत्पन्न होने वाला प्रतीत होता है। जो चीज़ बिना हुए प्रतीत हो उसी का नाम माया से उत्पन्न होना है। यहाँ तु-शब्द अवधारण अर्थ में है अर्थात् माया से ही। कोई चीज़ अजायमान भी हो और एक साथ बहुत जन्म ले यह सम्भव नहीं होता। जैसे कोई कहे 'अग्नि ठण्डी और गरम है' तो नहीं बन सकता। आत्मा के एकत्व का ज्ञान श्रुति के अन्दर सफल बताया है इससे भी निश्चय है कि यही वेद का अर्थ होगा। 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' जब एकता का मनुष्य अनुभव कर लेता है तो मोह शोक से निवृत्त हो जाता है। यह ईशावास्य उपनिषद् की श्रुति तब बनेगी जब एकता में श्रुति का तात्पर्य हो। ऐसा वेद में कहीं नहीं कहा कि सृष्टि को सच्ची मानने का यह फल मिलेगा। उलटा सृष्टि के अन्दर जिसकी भेददृष्टि है उसकी निंदा की है कि जो अनेकता को देखता रहता है वह जन्म

Scanned by CamScanner

मरण में पड़ा रहता है 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'। इसलिये जिसका फल बताया जाये उसमें तात्पर्य हुआ करता है। उसका फल नहीं बताया इसलिये उसमें तात्पर्य नहीं है।।२४।।

●

अब ईशावास्य उपनिषद् में ही बताई गई संभूति और असंभूति को समझाते हैं—

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ।।२५।।

संभूति का अपवाद किया अर्थात् उसे बुरा बताया। सम्भूति अर्थात् यह सारा संसार जो परमेश्वर की ही सम्यक् भूति अर्थात् ऐश्वर्य है, वैभव है। जो परमेश्वर के इस ऐश्वर्य को ही सब कुछ मानता है वह अँधेरे लोकों को जाता है। यह उसकी बुराई बताई। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि यह जो सम्भव अर्थात् सृष्टि है यह वास्तविक नहीं है क्योंकि वास्तविक होती तो उसकी निंदा नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार अन्यत्र वेद का कथन है इस सृष्टि को कौन पैदा करे? अर्थात् यह पैदा हो ही नहीं सकती। इसलिये कारण का भी प्रतिषेध ही कर रहे हैं। कठोपनिषद् में भी कहा 'न यह किसी से पैदा हुआ, न कोई इससे हुआ।' इन श्रुतियों से निश्चय कर लो कि सृष्टि बताने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ईशावास्य की श्रुति ने यह जो सारी सृष्टि का ऐश्वर्य है— हिरण्यगर्भ, विराट् जो भी समझ लो— उसके उपास्यत्व का निषेध कर दिया कि उसकी उपासना करने से कोई वास्तविक अच्छा फल नहीं। इससे सारे ही कार्य का निषेध हो गया। जब परमेश्वर के सारे ही ऐश्वर्य का निराकरण कर दिया तो अपने आप ही सारा हट गया और उसकी अवस्तुता अपने आप सिद्ध हो गई। यहाँ सम्भूति का मतलब हिरण्यगर्भ भी लोगों ने लिया है तो वहाँ भी वही अर्थ समझ लेना कि परमेश्वर से जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ वह हिरण्यगर्भ है, जब उसी को कह दिया कि वह कुछ नहीं है तो फिर उससे उत्पन्न होने वाली चीज़ें कुछ नहीं, यह तो अपने आप ही सिद्ध हो गया। इसलिये सम्भव का, कार्य का अपवाद हो गया। परमार्थतः यदि सचमुच ही इसको कहना होता कि यह सब उसका ऐश्वर्य सच्चा है तो फिर उसकी निंदा नहीं बनती। निंदा हमेशा चीज़ों के असत्त्वख्यापन के लिये होती है कि यह कुछ नहीं।

किसी ने शंका की कि यह तात्पर्य यहाँ नहीं कि संभूति कुछ नहीं है, उसकी निंदा की हो, ऐसा नहीं है। इसके आगे ही कहा है 'संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह' इसके द्वारा बताया कि श्रुति को दोनों के समुच्चय का विधान करना है। इसलिये समुच्चय-विधान के लिये एक-एक की निंदा की गई है। 'वह कुछ नहीं है' इस अर्थ में निंदा

Scanned by CamScanner

न लो, केवल यह लो कि उसमें से किसी एक को मानना ठीक नहीं। अर्थात् कर्म उपासना के समुच्चय के विधान के लिये उपासना की निंदा की। जैसे इससे पहले अविद्या और विद्या के समुच्चय का विधान करना था तो 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' से अविद्या की निन्दा कर दी थी। ऐसी ही यहाँ समुच्चय विधान के लिये किया।

कहते हैं कि यह अर्थ तुम्हारा गलत नहीं है। निंदा समुच्चय-विधि के लिये भी होती है। यह हम भी मानते हैं कि देवता का दर्शन अर्थात् उपासना संभूति का विषय हो गया और विनाश शब्द का वाच्य हो गया कर्म, इनके समुच्चय के विधान के लिये अर्थात् कर्म उपासना को मिलाकर करने के लिये सम्भूति को बुरा बताया गया है। इसलिये यह बात तुम्हारी ठीक ही है। लेकिन ज़रा इसके अन्दर घुसकर तात्पर्य देखो, ज़रा और अच्छी तरह विचार करो। समुच्चय का विधान हो लेकिन किसके साथ समुच्चय का विधान है? जैसे हमने किसी से कहा कि 'यहाँ नहीं बैठो, गृहस्थों के साथ बैठो', तो गृहस्थों के साथ बैठने में तात्पर्य तो है, लेकिन जब उनके साथ बैठने को कह रहे हैं तो तुम्हें भी गृहस्थ ही बता रहे हैं। इसी तरह किसके साथ देवता की उपासना को कर रहा है? अविद्या से होने वाले कर्म के साथ। यही तो हम पहले सीधी भाषा में कह रहे थे! अब समुच्चय करके कह दिया तो और बुरा हो गया, कर्म के साथ करने के लिये कह दिया तो और नीचत्व की प्राप्ति करा दी। वह तुम्हें इष्ट है लेकिन हमने पहले इतनी कड़ी बात नहीं कही तो तुम्हें सहन नहीं हुआ। विनाश के साथ उसका समुच्चय बता रहे हैं और विनाश से कर्म सभी लेते हैं। कर्म के अन्दर तो स्वाभाविक अज्ञान के द्वारा प्रवृत्ति होती है। जैसे वहाँ कहा कि कर्म से मृत्यु का अतितरण होता है अर्थात् मृत्यु को पार करता है तो मृत्यु का कर्म से पार होना असम्भव है लेकिन कुछ लाभ होता है यही तात्पर्य है। उसी प्रकार से देवता की उपासना का और कर्म का समुच्चय भी उस पुरुष प्रमाता के अन्दर कुछ संस्कार, शुद्धि, ला देगा, इतना ही है। जिसे कर्म के फल में राग होगा वही कर्म करेगा। उसी प्रकार जिसको किसी फल की इच्छा होगी वह उपासना करेगा।

यहाँ मूल का अर्थ करते हुए जो ऐश्वर्य कहा था उसमें दोनों ऐश्वर्य ले लेना : सारे संसार के ऐश्वर्य या हिरण्यगर्भ या सारी उपासनायें, उसमें कोई साध्य और कोई साधन होगा। इन दोनों की एषणा भी बनी रहेगी कि हमें स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो और साधन तिल, जौ इत्यादि मिलते रहें ताकि आहुति करते रहें। इसी प्रकार वैकुण्ठ आदि लोकों की प्राप्ति की इच्छा भी बनी रहेगी और उसका साधन माला भी न टूटे, जप चलता रहे। जो मृत्यु का अतितरण है वह केवल पुरुष-संस्कार को लेकर कहा है। साध्य-साधन दोनों की एषणाओं को मृत्यु समझना चाहिये। पहले साध्य पक्का हो, फिर उसकी प्राप्ति के साधन मिलें, इसका नाम ही मृत्यु है। जो इनसे वियुक्त हो गया, ऐसा पुरुष ही संस्कृत कहा जाता है। इसलिये कहा गया कि मृत्यु के अतितरण के लिये देवता की उपासना और कर्म का समुच्चय करे। दोनों अविद्या ही हैं।

Scanned by CamScanner

एक बात यहाँ याद रखना क्योंकि ईशावास्योपनिषद् का भाष्य पढ़ोगे तो यहाँ से भी विरोध मिलेगा और ऐसा ही विरोध ब्रह्मसूत्र में भी मिलेगा। ईशभाष्य में कुछ और तथा उन्हीं मन्त्रों का ब्रह्मसूत्र में अर्थ कुछ और ही कर दिया। कई बार शंका होती है कि ये अलग अलग अर्थ क्यों किये? ईशावास्य की दो शाखायें हैं माध्यंदिन और काण्व। काण्व पर भाष्य है और जो माध्यंदिन शाखा है उसको लेकर यहाँ और ब्रह्मसूत्र में अर्थ किया है। ज्यादा प्रचलित माध्यंदिन शाखा है।

अगर आधुनिक दृष्टि से विचार करो तो गौडपादाचार्य भी उत्तर भारत के रहने वाले थे। गौड होने से चाहे बंगाल के मानो चाहे जयपुर अलवर के मानो। और व्यास जी भी उत्तर भारत के थे, हस्तिनापुर के पास के थे। इन दोनों के यहाँ माध्यंदिन शाखा ज्यादा चलती थी। इसलिये गौडपादीय कारिका में और ब्रह्मसूत्र में स्वाभाविक ही माध्यंदिन शाखा को लेकर विचारप्रवृत्ति हुई। काण्वशाखा दक्षिण भारत में ज्यादा प्रचलित थी। भगवान् भाष्यकर दक्षिण के थे। इसलिये स्वाभाविक था कि उसका भाष्य लिखें। जो इस शाखाभेद को नहीं याद रखता है वह गड़बड़ा जाता है। माध्यंदिन शाखा में अंतिम मंत्रों में कुछ भेद है। वहाँ 'ॐ खं ब्रह्म' में जाकर समाप्ति हो जाती है। काण्व में अन्त में मार्ग-प्रार्थना इत्यादि है। माध्यंदिन में संभूतिवाक्य पहले हैं और विद्यावाक्य बाद में हैं। इसलिये वहाँ अविद्या का अर्थ कर्म-उपासना समुच्चय और विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या; संभूति का अर्थ कार्यब्रह्म विराट् और असम्भूति का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है। माध्यंदिन शाखा चूँकि 'खं ब्रह्म' में समाप्त है इसलिये यहाँ विद्या से विद्या ही अर्थ करते हैं।

मूल श्लोक में अविद्या और विद्या नहीं था लेकिन ईशावास्य का प्रसंग आ गया तो अर्थ कर दिया। यहाँ कर्म व उपासना का समुच्चय किया और ये दोनों अविद्या हो गये। एषणालक्षण वाली अविद्या मृत्यु है। एषणा के विषय साध्य और साधन हो गये : साधन की एषणा का विषय कर्म और साध्य परमात्मा का सगुण रूप हो गया। यह एषणारूप ही मृत्यु है। उससे जो अतितीर्ण हो गया वह विरक्त है जिसे न साध्य और न साधन चाहिये। जो दोनों से विरक्त होता है वही वस्तुतः उपनिषद् शास्त्र के तात्पर्य का विवेचन करने में समर्थ होगा। उसको तो बिना किसी व्यवधान के ही परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार अविद्या पहले होने वाली है। अविद्या अर्थात् कर्म-उपासना की अपेक्षा बाद में होने वाली ब्रह्मविद्या है जो साक्षात् मोक्ष का कारण हुई। इसलिये अविद्या और विद्या का क्रम-समुच्चय हुआ। जिसने अविद्या को पहले छोड़ दिया वह फिर विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति करेगा। इसीलिये इसी पश्चाद्भाविनी विद्या को लेकर गीता में कहा 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।' पश्चाद्भाविनी विद्या अमृतत्व का साधन है।

इस प्रकार अविद्या और विद्या के समुच्चय द्वारा विद्या की श्रेष्ठता और अविद्या की गौणता बताई। उसी अविद्या के दो भेद सम्भूति और विनाश; यह भी निंदा ही

Scanned by CamScanner

हुई, इसलिये छोड़ने के लिये बताया। उस ब्रह्मविद्या की अपेक्षा से निंदा के लिये कथन हुआ इसलिये संभूति का अपवाद फिर भी सिद्ध हो गया।

उसने कहा कि समुच्चय का विधान काहे के लिये किया? तो इसलिये विधान किया कि ये कर्म-उपासना करने से तुम्हारी अशुद्धि दूर होगी। ब्रह्मप्राप्ति होगी इसके लिये समुच्चय नहीं किया। यदि अशुद्धि-वियोग के हेतु से विधान किया तो अपवाद क्यों? जब तक अशुद्धि दूर न हो तब तक कर्म-उपासना करे लेकिन उसमें ही न फँसा रहे इसलिये। कर्म उपासना की उपादेयता होने पर भी उसमें अटका न रहे। इसलिये अपवाद करना ज़रूरी हो गया। सम्भूति का चूँकि अपवाद हो गया इसलिये सम्भूति उसकी अपेक्षा सत्य हुई उसकी निरपेक्ष सत्यता नहीं। परमार्थ सत् जो आत्मा की सत्यता है उसकी अपेक्षा ही अमृत नाम की सम्भूति का प्रतिषेध बन सकेगा।

इस प्रकार जो मायानिर्मित जीव है, अविद्या से ही जो प्रत्युपस्थापित अर्थात् प्रतीत हो रहा है, उसे अविद्या का नाश हो जाने पर स्वाभाविक रूप की प्राप्ति हो गई। फिर सचमुच इस सृष्टि को कौन पैदा करे? अर्थात् कोई नहीं करता। रस्सी में अविद्या से आरोपित सर्प को जब विवेक के द्वारा नष्ट कर दिया तो फिर उत्पन्न नहीं होता। अब मोक्ष बन जायेगा कि अविद्या के कारण पैदा हुआ, अविद्या नष्ट हुई तो मोक्ष हो जायेगा। अविद्या से जो उत्पन्न हो और नष्ट हो उसे उत्पन्न करने वाला कोई सच्चा कारण नहीं हुआ करता यह तात्पर्य हो गया। 'नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' यह ब्रह्म किसी से पैदा भी नहीं हुआ और इससे भी कोई पैदा नहीं हुआ, यह कठ-श्रुति भी इसी बात को बता रही है।।२५।।

●

जो चीज़ निश्चित और युक्तियुक्त हो वही माननी चाहिये। अब निश्चित कैसे किया जाये कि अद्वैत ही परमार्थ है द्वैत नहीं? इसके लिये साक्षात् जो तद्विषयक श्रुतियाँ हैं उनका प्रमाण दे रहे थे। अब बृहदारण्यक का प्रमाण देते हैं।

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ।।२६।।

क्योंकि श्रुति ने 'यह नहीं, यह नहीं' द्वारा उस मूर्त-अमूर्त सब का निषेध कर दिया जिसकी खुद ही व्याख्या की थी, इसलिये 'वह यह' इत्यादि से जिसे बताना प्रारंभ किया उस आत्मतत्त्व को अविषयतया समझाना इष्ट है। मूर्त-अमूर्त का निषेध किये बिना आत्मा को निर्विशेष बता नहीं सकते अतः उसका निषेध क़िया। सारा अध्यारोप हट जाने पर वह अज ख़ुद-बख़ुद प्रकाशता है।

'अथातआदेशो नेति नेति' श्रुति कहती है। पहले 'न इति' से स्थूल का प्रतिषेध, दूसरे 'न इति' से सूक्ष्म का प्रतिषेध और वीप्सा से कारण का प्रतिषेध किया। अतः स्थूल

Scanned by CamScanner

सूक्ष्म कारण तीनों का निषेध कर दिया। केवल इतना ही न कहकर बार बार बताया कि वह 'अदृष्टो नहि दृश्यते' वह अदृश्य होने से देखा नहीं जा सकता इत्यादि। इस प्रकार मूर्त अमूर्त आदि को कहकर उनका निषेध किया। जो कुछ भी दृश्य द्रष्टा, मंता, घ्राता, श्रोता बताये थे उन सबका निषेध कर दिया। इसका मतलब ही हुआ कि इनके प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। जैसे गणित के अन्दर हिसाब लगाने की सुविधा के लिए एक तरफ पाँच जोड़ देते हैं और उसके बाद जब उत्तर निकलता है तो पाँच घटा देते हैं। वहाँ पाँच जोड़े रहने में तात्पर्य नहीं है। हिसाब का हल करने के लिये जोड़ा गया और बाद में निकाल दिया गया। जब कपड़ों को सुखाते हैं तो उनमें गाँठ बाँध देते हैं जिससे उड़ न जायें। जब कपड़ा सूख जाता है तो गाँठ खोल देते हैं। वहाँ गाँठ लगाने में तात्पर्य नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य को जगत् की प्रतीति हो रही है इसलिये प्रतीति का प्रकार बताने के लिये सृष्टि-प्रक्रिया बताई और फिर कह दिया कि यह नहीं है। उससे समझ में आ गया कि जिसकी हम प्रतीति कर रहे हैं वह तद्रूप नहीं है। इसी को निह्नव कहते हैं।

एक उत्प्रेरक होता है जिसे अंग्रेजी में catalitic agent कहते हैं, किसी कार्य को करवाने में मदद करता है लेकिन स्वतः उस कार्य का अंग नहीं बनता। यह कैमिस्ट्री में चलता है। ऐसे ही आत्मतत्त्व समझाने के लिये जो कुछ भी श्रुति ने प्रतिपादन किया था वह catalytic की जगह था अतः उस सबका निह्नव कर दिया। हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता। वैसे हटा दिया के अर्थ में अपह्नव शब्द हिन्दी में कुछ रूढ है, लेकिन निह्नव शब्द रूढ नहीं है। जो कुछ भी प्रतिपादन किया उस सबको अग्राह्य बताया। अग्राह्य मायने वही 'अदृष्टो नहि दृश्यते अश्रुतो नहि श्रूयते' अर्थात् वह दर्शन श्रवण का विषय नहीं। विषयताभांव बताया कि वह चरम तत्त्व किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया जा सकता। किसी भी प्रकार से ज्ञान का विषय नहीं बन सकता, अग्राह्यभाव रूप कारण से। इस प्रकार अज ब्रह्म का प्रकाशन अर्थात् प्रतिपादन कर दिया। 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च' मूर्त और अमूर्त दो प्रकार से ब्रह्म का प्रतिपादन किया और फिर उसका अपह्नव कर दिया, दोनों को हटा दिया कि न वहाँ मूर्त है, न अमूर्त है। तब कूटस्थ आत्मा वैसा का वैसा अविषय रह गया। इसीलिये कहा कि मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का जो प्रारंभ किया था उन दोनों का निषेध किया। अमूर्त कारण और मूर्त कार्य हुआ करता है। जैसे परमाणु अमूर्त हैं तो कारण और मिट्टी मूर्त है तो उन परमाणुओं का कार्य है। आकाश और वायु को वहाँ उपनिषद् में अमूर्त बताया है और तेज, जल, पृथ्वी को मूर्त बताया है। मूर्त और अमूर्त दो रूपों का प्रतिपादन करने के बाद जब उसका निषेध कर दिया तो निर्विशेष वस्तु का ज्ञान स्वतः हो गया। यहाँ सारे विशेषों का अर्थात् मूर्त और अमूर्त दोनों का प्रतिषेध हो गया। यदि सर्व का यथाश्रुत अर्थ बिना उपनिषद् प्रकरण समझे हुए लगाओगे तो शून्यवाद प्रसक्त हो जायेगा!

Scanned by CamScanner

लोग प्रायः ऐसी गलती करते हैं क्योंकि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में लिखने वाला यह मानकर लिखता है कि उपनिषद्-विचार में प्रवृत्त व्यक्ति ने उपनिषद् तो पहले ही बाँच रखी हैं। इसलिये उनका संदर्भ अपने आप समझना पड़ता है। जैसे व्यास जी ने यह थोड़े ही कहा है कि 'जन्माद्यस्य यतः'' तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली से लिया है। जानते हैं कि सुनते ही आदमी को 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' याद आ जायेगा। इसी प्रकार 'नेति नेति' सुनते ही 'नहीं है' अर्थ नहीं करेगा बल्कि बृहदारण्यक उपनिषद् याद आ जायेगी और किस चीज़ का निषेध किया है यह भी उसे पता लग जायेगा। आजकल जिन्हें वह याद नहीं होता है वे अर्थ का अनर्थ भी कर जाते हैं। गीता में कई जगह भगवान् ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'यहाँ तक हमने सांख्य प्रक्रिया कही अब आगे योग विषयक बुद्धि हम बताते हैं।' 'यहाँ तक' तो कहा लेकिन 'कहाँ से यहाँ तक' यह भगवान् ने नहीं कहा, अर्थात् कहाँ से सांख्य प्रक्रिया शुरू की, यह बहुतों को नहीं पता चलता है। यह ग़लती प्रायः हिन्दी अंग्रेजी अनुवादक भी कर जाते हैं। इसी प्रकार यदि सर्व-प्रतिषेध का मतलब सब का प्रतिषेध करोगे तो शून्यवाद-प्रसक्ति आ जायेगी। इसलिय सर्व मायने अमूर्त और मूर्त अर्थात् कारण और कार्य दोनों का प्रतिषेध किया गया। शब्द मूर्त व अमूर्त हैं जिनका अर्थ कार्य तथा कारण है।

'अथात आदेशो नेति नेति'। अथ अनंतरम्, अर्थात् मूर्त-अमूर्त ब्रह्म के प्रतिपादनानंतर आत्मविद्या का उपदेश करने के लिये यह उपदेश किया जाता है। हिन्दी में आदेश का अर्थ आज्ञा होता है। संस्कृत में भी कहीं कहीं यह अर्थ होता है लेकिन प्रायः आदेश का अर्थ उपदेश ही होता है। हिन्दी में आदेश शब्द इस अर्थ में केवल एक जगह रूढ रह गया है। अगर कभी किसी नाथ संप्रदाय वाले से मिलो तो कहेगा 'आदेश महाराज!' वहाँ इसी वैदिक अर्थ में रूढ है। लेकिन बाकी जगह आज्ञा (command) अर्थ ही होता है। लेकिन वेदों में प्रायः आदेश शब्द का प्रयोग उपदेश अर्थ में होता है। इसलिये मूर्त अमूर्त ब्रह्म के प्रतिपादन के अनंतर निर्विशेष आत्मतत्त्व को बताने के लिये यह प्रकरण बताया जा रहा है। 'नेति नेति' से उपदेश दिया जा रहा है कि वह स्थूल सूक्ष्म दोनों नहीं है। अब जब कहते हैं कि वह स्थूल और सूक्ष्म नहीं है तो अपने आप मनुष्य में जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि फिर वह क्या है? स्थूल सूक्ष्म कारण ही तो हमने आज तक समझा है। या कोई चीज़ स्थूल या कोई सूक्ष्म या उनका कारण होती है। अब जब कहते हैं वह दोनों नहीं है तो यह जिज्ञासा को उत्पन्न करने वाला वाक्य हो गया। इसीलिये इसको आदेश कहा। अर्थात् यह उपदेश का प्रकार हो गया। यह ज़रा कठिन विषय है क्योंकि बृहदारण्यक का सारा प्रकरण तो यहाँ है नहीं। इस प्रकार जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह आत्मा है।

यहीं नहीं; श्रुति ने अनेक जगह सृष्टि-प्रक्रिया को बताया। श्रुति समझती है कि मनुष्य के लिये यह स्थूल सूक्ष्म कारण से अतीत जो आत्मतत्त्व है वह समझना दुर्बोध

Scanned by CamScanner

है, यह उसकी समझ में नहीं आयेगा इसलिये कहीं उसे पंचकोशों के द्वारा, कहीं तीन अवस्थाओं के द्वारा, कही पंचीकरण प्रक्रिया के द्वारा समझाया। अनेक प्रकार से इसलिये समझाना ज़रूरी हो गया क्योंकि यह तत्त्व दुर्बोध है, जल्दी समझ में नहीं बैठता। किसी को कब कौन सी बात बैठ जायेगी इसका कुछ ठिकाना नहीं। इसीलिये उपनिषदों ने तरह तरह से समझाया और इसीलिये कहा गया है कि जो आत्मतत्त्व के ज्ञान में प्रवृत्त हो वह बार बार उपनिषदों का विचार करता चला जाये। कई बार आदमी सोचता है कि यह उपनिषद् मैंने पढ़ ली तो इस बात को मैंने समझ लिया, लेकिन उसने समझा नहीं है। जिस क्षण समझ पैदा होगी उस क्षण तो काम ही बन जायेगा। इसलिये बार बार उसका अध्ययन करते करते कब कौन से प्रकरण से तुम्हारे मन में चीज़ ठीक बैठ जायेगी यह कोई नहीं कह सकता।

जैसे अभ्यास करने वाला ध्यान रोज़ लगाता है तो एक दिन समाधि लग जाती है। ध्यान लगाते लगाते ही समाधि लगती है। अब प्रश्न होता है कि उस ध्यान की विशेषता को समझ लो, और रोज़ समाधि लगा लो, तो नहीं हो पाता। वह तो ध्यान का प्रयत्न करते करते ही होना है। जैसे साइकिल का पैडल मारते मारते ही तुम्हारी साइकिल तेज़ हो गयी। अब कोई कहे कि अंतिम पैडल जिस ढंग से मारा, वह पहले ही मार देते तो तेज़ हो जाती! तो यह नहीं हो सकता। जैसे वहाँ ध्यान कोई ऐसी चीज़ नहीं कि यह खटका करोगे तो समाधि लगेगी नहीं तो नहीं लगेगी। उसी प्रकार अंतःकरण के अन्दर आत्मज्ञान उत्पन्न होने का कोई एक प्रकरण, कोई एक कोश या एक शब्द नहीं है। तरह तरह से उसको समझते समझते किसी समय खट बैठ जायेगा। कैसे?— कोई नहीं कह सकता। किसी के लिये कुछ बैठ जाता है, और किसी के लिये कुछ बैठ जाता है।

इसलिये सिद्धान्त हुआ 'यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रिया साध्वी' जिस जिस प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य को प्रत्यगात्मा के बारे में समझ आ जाये वही वही प्रक्रिया ठीक समझना। लोग पूछते हैं कि वेदांत में आखिर इतने विकल्प दिये हैं, कोई त्रिवृतकरण, कोई पंचीकरण, कोई तीन अवस्थायें मानता है, कोई पंचकोश; सिद्धांतलेशसंग्रह में जीव के बारे में मत बताये, कोई परिच्छिन्न, कोई प्रतिबिम्ब और कोई आभास जीव को मानता है, इनमें से सच्ची बात कौन सी है? सच्ची बात तो यह है कि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ और ये सब उसी चीज़ को समझाने के लिये हैं। इसलिये जिसको जिस ढंग से यह बात समझ में आ जाये बस उसके लिये वही ठीक है। किसी को एक ढंग से और किसी को दूसरे ढंग से समझ में आती है। प्रक्रियाओं में कोई सच्ची और कोई ग़लत हो ऐसा कुछ नहीं है।

जैसे हम कई बार लोगों को कहते हैं कि संसार के अन्दर तीन चौथाई लोग यह मानते हैं कि परमेश्वर एक बार जन्म देकर भेज देता है और परीक्षा कर लेता है, तदनुसार

Scanned by CamScanner

स्वर्ग नरक में या जिसको मुक्ति में भेजना होता है वहाँ भेज देता है। आखिर तुम भी तो चावल के एक कण को देखकर पता लगाते हो कि चावल पका या नहीं। बाकी एक चौथाई हम लोग मानते हैं कि बार बार जन्म लेते रहे हैं और उसी के कारण फल भोग रहे हैं। उनकी व्यवस्था भी चल रही है और हमारी व्यवस्था भी चल रही है। अगर पुनर्जन्मवाद ही ठीक है, तो तीन चौथाई को कैसे जँच रहा है? उनका काम भी चल रहा है। यह कहना कि एक बार ही जन्म होता है, यह भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि हमारा काम कैसे चल रहा है? इसलिये यदि जीव उत्पन्न हुआ होता, सृष्टि हुई होती तो उसकी एक निश्चित व्यवस्था भी होती। कल्पित चीज़ में क्या व्यवस्था बनाओगे? जो सृष्टि पैदा ही नहीं हुई उसमें विचार करके देखो तो यह जन्म ही सिद्ध नहीं और अविचार से चाहे हज़ार चाहे एक जन्म मानो। विचार करने वाले को एक जन्म ही सिद्ध नहीं और अविचार से ही जब करना है तो जो मर्ज़ी सो मानो। हर आदमी जो अविचारी है कहता है कि थोड़ा तो विचार करो, ज्यादा न करो, अर्थात् हमारी बात सिद्ध होने तक विचार करो, आगे का मत करो।

कल ही हम लोगों से कह रहे थे कि ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण होता है यह बात तो आज के लोग मानने को तैयार नहीं है। कहते हैं 'जन्म से क्या होता है? कर्म से निश्चय करो।' आगे हमारा प्रश्न है कि देसवाली का बेटा देसवाली, मद्रासी का बेटा मद्रासी, जर्मन का बेटा जर्मन और भारतीय का बेट भारतीय क्यों होता है? यहाँ भी फिर गुण कर्म से मानो कि भा मायने प्रकाश में जो रत हो उसे भारतीय कहो, जो युद्ध आदि में प्रवृत्त होने वाला है उसे जर्मन और जो खूंखार हो उसे रशियन मानो। तब कहते हैं कि इतने विस्तार में मत जाइये, लेकिन ब्राह्मण और गाय को छोड़ो क्योंकि ब्राह्मण और गाय तो दीन हैं इसलिये इन्हें खत्म करो। वहाँ तो जर्मन को जर्मन, मद्रासी को मद्रासी और भारतीय को भारतीय मान जायेंगे। विचार दृष्टि से वहाँ भी यही बात है और अविचार दृष्टि से ही मानना है तो ब्राह्मण ने कौन सा अपराध किया! इसी प्रकार यदि विचार करोगे तब तो यह जन्म ही सिद्ध नहीं होता है और अविचार से मानना है तो जो परम्परा एक जन्म मानती हैं उन्हें वह मानने दो और जो परम्परा पुनर्जन्म मानती हैं उन्हें वह मानने दो। अविचार से आगे नहीं बढ़ सकते।

यह जो अत्मतत्त्व का विचार है यह कैसा है? दुर्बोध्य होने के कारण इसको समझाने के लिये अनेक साधनों को करना पड़ता है, अनेक उपायों से मानना पड़ता है। इसको दुर्बोध्य मानने कि लिये श्रुति बार बार उपायांतरों से कहती है। उपायांतर मायने प्रक्रियांतर। जिसको आजकल प्रायः प्रक्रिया कहते हैं उसी को यहाँ उपाय कहा। उस दुर्बोध्य आत्मतत्त्व का ही प्रतिपादन करने की श्रुति को इच्छा है। श्रुति का तात्पर्य न पंचकोश, न पंचमहाभूत, न त्रिवृतकरण ही बताना है। वह सब कुछ नहीं, वह तो उपायांतर हो गया। उसको इच्छा तो आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करने की है।

Scanned by CamScanner

किसी को यह संदेह हो जायेगा कि जो श्रुति ने कहा है वह ठीक होगा। इसलिये जो जो बातें श्रुति ने कहीं उन सबको फिर कह देते हैं कि इनको तुम ठीक नहीं समझना।

अब 'सर्वम् अग्राह्यभावेन' को स्पष्ट करते हैं। जो जो उत्पन्न होता है वही वही ग्रहण का अर्थात् ज्ञान का विषय होता है। जो उत्पन्न ही नहीं होगा उसका ज्ञान कैसे होगा? इसलिये जो उत्पन्न होता है उस सबका श्रुति अपलाप कर देती है। आत्मा की अदृश्यता इत्यादि बता दी। इसलिये इन सब विशेषों को निषेध-मुख से श्रुति ने बताया कि जो दृश्य है वह कार्य है और वही मन, वाणी इत्यादि का विषय होता है। वह सब आत्मतत्त्व नहीं है। यही उसका अपलाप होगा। 'स एष नेति नेति' से पहले 'अर्थात्' कहकर भगवान् भाष्यकार ज़रा कड़वी गोली दे रहे हैं।

पहले ऊपर से कड़वी गोली समझ लो। मनुष्य के बहुत से बंधनों का कारण शब्द है। जिन बहुत सी चीज़ों को हम अनुभव मानते हैं वह अनुभव कुछ नहीं हुआ करता है, वह केवल बचपन से कुछ शब्दों को सुन सुनकर हमारे अन्दर ऐसा दृढ हो जाता है कि उन संस्कारों के कारण हमको वह चीज़ सच्ची लगने लगती है। अनुभव तो उसका होता नहीं है। प्रत्येक दर्शन किन्हीं अनुभवों का विश्लेषण करने के लिये कुछ बातों को मानता है, कल्पना करता है कि इस ढंग से समझेंगे तो यह गुत्थी सुलझ जायेगी। इसलिये वह फार्मूला हुआ। ऐसा समझ लो कि हमको ज्यामिति पढ़ानी है तो यह पढ़ने के लिये पहले कुछ सरल नियमों को समझ लेना आवश्यक है। सरल नियमों को समझने के लिये हमने एक बिन्दु की कल्पना की, एक रेखा की, एक सरल रेखा की, एक वृत्त की और प्लेन की कल्पना की और तब तुम सालिड में पहुँचे। यही ज्यामिति पढ़ाने का तरीका है। अब उसके पहले की जितनी ज्यामिति है, वह सब झूठी है क्योंकि संसार में सिवाय सालिड के कुछ मिलता ही नहीं। न बिन्दु, न रेखा, न सरल रेखा, न वृत्त और न प्लेन; कुछ नहीं मिलता, कहीं आज तक नहीं मिला और न भविष्य में ही होने हैं। यह सबका अपलाप हुआ। लेकिन वहाँ अगर समझ लेते हो तो बाद में सच्ची ज्यामिति पढ़ने लगते हो। उन नियमों से समझ में आने लगता है। यदि सीधे ही variables पढ़ाने लगें तो कुछ समझ में नहीं आना है। इसी प्रकार बारहखड़ी कहीं नहीं मिला करती। कोई कहे कि सीधा ही कमल पढ़ना सिखाओ, किताब बाँचना सिखाओ, आप क्यों कहते हो पहले क ख सीखो? व्यवहार में तो पूरा वाक्य, पूरा शब्द आता है इसलिये वाक्य ही पढ़ने के काम की चीज़ है। फिर पहले क म ल और फिर मिलाकर कमल को पढ़ो ऐसा क्यों? 'कमल को रोटी मिली' यह पहले ही कहो। पतंजलि ने एक बड़ा सुन्दर दृष्टांत महाभाष्य में दिया है। वे कहते हैं कि इंद्र प्रजापति के पास संस्कृत भाषा को पढ़ने के लिये गया। 'इन्द्रः अध्येता प्रजापतिः अध्यापयिता' हज़ारों साल तक पढ़ाते रहे लेकिन भाषा सीखना ख़तम ही नहीं हुआ। भाषा को क्या ख़तम होना! तब फिर इन्द्र ने विचार किया कि यह बड़ा टेढ़ा मामला है। फिर उसने सोचकर सबसे पहले इन्द्र व्याकरण बनाया

Scanned by CamScanner

कि कुछ शब्द और प्रत्यय मान लो तो लोगों को समझ में आ जायेगा। उसको पहले क्रिया के रूप बताओगे तो समझ में नहीं आयेंगे। इसलिये गण, विकरण, प्रत्यय आदि बताओ। नहीं तो हर धातु के रूपों को पढ़ते रहो। न कहीं गम मिलना है और न गम को आदश करके गच्छति होना है। लेकिन बाँचने में गच्छति ही मिलना है। समझ लो तो अगमत्, जगाम आदि सब समझ में आ जायेगा। चाहे वह ज्यामिति हो जहाँ तुम्हें बिन्दु आदि पदार्थ कहीं नहीं मिलने हैं, चाहे भाषा हो जिसकी तुम्हें वर्णमाला नहीं मिलनी है, लेकिन उन्हें पढ़ाने के द्वारा ही आगे की चीज़ समझ में आनी है। इसी प्रकार मनुष्य को सुख दुःख का अनुभव होता है और मनुष्य का मन कहता है कि बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यहाँ मैंने इस सुख-दुःख को प्राप्त करने का कोई काम किया नहीं। तब दर्शन ने एक पूर्व जन्म की कल्पना करके तुम्हारे सामने रखी कि यहाँ नहीं किया तो पहले किया होगा। इसलिये 'पूर्व जन्म हुआ होगा' यह जो एक दार्शनिक कल्पना तुम्हारे सामने आई, बिल्कुल ठीक थी। सबसे पहले यह कल्पना अजातशत्रु ने की ऐसा उपनिषद् बताती है। अब धीरे धीरे हज़ारों सालों से सुनते सुनते हम लोग समझने लगे कि पूर्व जन्म कोई एक सच्ची चीज़ हुआ करती है। हर दार्शनिक को कुछ चीज़ें समझाने के लिये कल्पना करनी पड़ती हैं। वह कल्पना लम्बे समय तक प्रयुक्त होती है तो लोगों के मन में सत्य वस्तु की तरह बैठने लगती है। वह कल्पना अनुभूत तो है नहीं, अनुभूति का explanation देने के लिये, तुम्हारी समझ में लाने के लिये की गई थी। इसलिये वे सारी की सारी झूठी होती हैं। सालिड ज्यामिति में तुम्हें अनुभव समझाया जायेगा कि न बिन्दु है, न सरल रेखा, न प्लेन है, ये सब गप्पें इसलिये मारी थीं कि 'अब जो पढ़ा रहे हैं यह सच्ची बात है', नहीं तो सालिड ज्यामित समझ में न आती।

ठीक इसी प्रकार श्रुति ने विचार किया कि हमने इन्हें समझाने के लिये कई प्रक्रियायें समझाई। थोड़े दिनों में समझने लगोगे कि सचमुच पंकोश हुए होंगे, सचमुच पंचमहाभूत बन गये होंगे। हमसे कई लोग कहते हैं कि 'आजकल लोग ९२ तत्त्व मानने लग गये हैं इनको क्या जवाब देना चाहिये? अपने शास्त्र में पाँच ही तत्त्व बताये हैं।' हम कहते हैं कि जितने कोई मानता है, मानने दो। अरे अपने शास्त्रों में सच्चे थोड़े ही बताये हैं! लेकिन मन में बैठा है कि पाँच वाला हमारा सिद्धांत ठीक है, ९२ तत्त्व वाला उनका सिद्धान्त ग़लत है। उनका सिद्धान्त ख़तम हो जाये तो हम जीत जायें। ये जितनी चीज़ें हैं, अनुभव में आने वाली नहीं हैं, समझने वाली हैं। उनको श्रुति अपने मुख से ही निषेध कर देती है कि हम ही ना कह देते हैं इसलिय कि तुम यह नहीं समझना कि हम वेदसिद्धांत को छोड़ रहे हैं।

और यही वेद की सबसे बड़ी विशेषता है जिससे हम लोगों को कहते हैं कि क्यों हम वैदिक धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। उसका कारण यही है कि बाकी सब तुम्हें धर्म तो

Scanned by CamScanner

बताते हैं लेकिन उन धर्मों से निकलने का रास्ता कोई नहीं बताता। यह केवल वेद ही कहता है 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ति' वेद से यह समझो कि वेद झूठा है! यह बात कहने की हिम्मत और किसी में नहीं है।

वही यहाँ कह रहे हैं। उपाय उपेयनिष्ठ होता है इस बात को जो अधिकारी नहीं, वह नहीं समझ पाता है। उपाय— बिन्दु, रेखा, प्लेन आदि, क, ख, ग, घ, को, ने इत्यादि सब उपाय हुए। और उपेय हो गया पूरे वाक्य को समझना अथवा जो ठोस पदार्थ हैं उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करना। उपेय सालिड ज्यामिति और भाषा है, उपाय बिन्दु आदि या प्रकृति प्रत्यय की कल्पनायें हो गईं। उपाय उपेयनिष्ठ होता है। इसलिये उपेय चीज़ को उपाय से प्राप्त करना है। उपेय को प्राप्त करने में यदि वह सहयोगी है तो सच्चा उपाय और यदि सहयोगी नहीं है तो ग़लत उपाय है। लेकिन इस बात को, उपेयनिष्ठता को साधारण आदमी नहीं समझ पाता है। जैसे साबुन उपाय है और कपड़ों की सफाई उपेय है। अब कोई कहे कि 'हम तो डेढ़ रुपये में बट्टी लाये और तुम कहते हो कि कपड़े में लगाकर पानी से निकाल दो। इतना महँगा साबुन है, हम तो लगा रहने देंगे!' जैसे वहाँ उपेय कपड़ों की सफाई हो गई। यदि साबुन साफ करता है तो सच्चा, नहीं तो साबुन नहीं है। लेकिन जो उपेयनिष्ठता को नहीं समझता है वह उपाय रूप से जिसका प्रतिपादन किया है, जिसको समझाया है, उसे उपेयवत् ग्राह्य समझ लेता है।

शंका हो जायेगी कि जिसे बताया है वह भी तो सच्ची ही बात है। पंचकोश आदि, पुनर्जन्मवाद भी सच्चा ही है। इसलिये जो इस बात को समझता है कि उपाय उपेयनिष्ठ होता है उसके लिये तो 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यों की ज़रूरत नहीं क्योंकि वैसे ही समझ जायेगा कि आत्मा को बताने के लिये उपाय हैं। लेकिन मंदबुद्धि वाले नहीं समझ सकते तो श्रुति ने मुख से कह दिया। इस अग्राह्यता के प्रतिपादन के भाव से, इसे ही कारण अर्थात् प्रयोजन बनाकर, श्रुति ने उसे हटा दिया। यह बड़ी कड़वी गोली है क्योंकि हम उन्हीं उपायों को पकड़कर जन्म भर बैठे रहते हैं और समझते हैं कि आत्मविद् हो गये। इसलिये जब छोड़ने वाली बात आती है तो लगता है सब कुछ हाथ से गया। यह कहने में अच्छा लगता है कि जगत् असत्य है लेकिन जब तक प्रतीत हो रहा है तब तक तुम्हारा सिस्टम बना रहे, यह आग्रह बना रहता है, उसी के अनुसार चलते रहें। इसलिये ही उपाय की उपेयनिष्ठता को जानना है कि उपाय तो केवल उपेयनिष्ठ है, उपेय की प्राप्ति कराने के लिये है। वैसे बुद्ध ने इसके लिये बहुत अच्छा दृष्टांत दिया है। कहते हैं कि नाव पर बैठकर नदी पार की जाती है। लेकिन पार जाने के बाद नाव को सिर पर उठाकर चलना मूर्खता है। उसकी ज़रूरत केवल इतनी है कि वहाँ तक पहुँचा दे। लेकिन बाद में भी कहो कि 'इसकी रक्षा करनी ही है' तो बेवकूफी है। उपेय ही नित्य एकरूप और कूटस्थ रूप रहता है। इसलिये जो उपाय के द्वारा प्राप्त किया जाता है वही बाहर, वही

Scanned by CamScanner

अन्दर और सर्वत्र व्यापक है। इस प्रकार स्वयमेव श्रुति ही आत्मतत्त्व का प्रकाश कर रही है।।२६।।

●

इतने श्रुति वाक्यों के द्वारा पूर्व श्लोकों में एक आत्मतत्त्व का बार-बार प्रतिपादन कर दिया। संदेह हो गया कि वेद में और भी कुछ कहा होगा, इसलिये कहा कि सैंकड़ों श्रुतिवाक्य इसी बात को स्पष्ट करने वाले मिलते हैं। दूसरी बात कही थी कि वेदार्थ युक्तियुक्त भी होना चाहिये। अब युक्ति देते हैं —

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ।।२७।।

जो आत्मतत्त्व हमेशा सन्मात्ररूप है उसका जगद्-आकार में जन्म माया से ही होना संगत है। माया ही ऐसी चीज़ है जो ऐसी बात का समर्थन कर सकती है जिस बात का निरूपण असंभव हो। एकरूप वस्तु सचमुच नानारूप हो नहीं पायेगी। जो वादी कहता है कि जन्म वास्तव में होता है वह अज ब्रह्म का जन्म तो मान नहीं सकता क्योंकि अजता और जन्म का विरोध है। अतः उसे अज से भिन्न अर्थात् जात का ही जन्म मानना पड़ेगा और इसमें अनवस्था दोष स्पष्ट है। इसलिये जैसा बताया वैसा ही वेदार्थ युक्तिसंगत भी है।

जो सत् तत्त्व या सत् है उसका माया से जन्म हो सकता है। 'जनि प्रादुर्भावे', जन्म मायने प्रादुर्भाव। जन्म का मतलब है कि वह चीज़ हो गई। अब जो चीज़ पहले है वह हो कैसे गई? वह तो है ही। 'है' को 'हो गया' माया से ही हो सकता है। अज्ञान से तो 'है' 'हो जायेगा'। जैसे हम ढूँढ रहे हैं कि हमारी चिट्ठी कहाँ गई। कोई कहता है 'आपने लिखी नहीं होगी।' 'नहीं, लिख कर रखी थी। कहाँ गई पता नहीं लग रहा है।' दो दिन बाद पूछते हो 'चिट्ठी का काम हो गया?' हम कहते हैं 'जी।' 'क्या फिर लिखी थी?' 'नहीं; लैटर पैड के नीचे रखी मिल गई।' यहाँ पैड के नीचे से जो चिट्ठी का प्रादुर्भाव हुआ यह केवल अज्ञान से हुआ; क्योंकि लैटर पैड के नीचे चिट्ठी है इस बात का हमको अज्ञान था। अब वह चिट्ठी प्रादुर्भूत हो गई तो अज्ञान हट गया। वह अज्ञान हटने का कारण पैड उठाना भी हो सकता है या दूसरे आदमी का बताना भी हो सकता है। नौकर कहता है कि 'मेज के नीचे गिर गई थी, मैंने उठाकर लैटर पैड के नीचे रख दी थी।' हर हालत में जो चीज़ है यदि उसका हमको अज्ञान है तो हम समझते हैं कि वह नहीं है। अज्ञान होने पर 'नहीं है' की प्रतीति हो गई और वह अज्ञान दूर हो गया तो फिर 'है' की प्रतीति हो गई।

Scanned by CamScanner

जब ब्रह्म सद्रूप है और उस ब्रह्म की सद्रूपता है तो वह 'नहीं है' की स्थिति वाली चीज़ तो है नहीं। यदि उसका जन्म है तो केवल माया से है। अज्ञान से तुमको प्रतीत नहीं हो रहा था और वह अब तुम्हें प्रतीत हो गया। इसको सब जगह समझ लेना। तिलों में तेल है तो पेरने से प्रकट हुआ अर्थात् खली में छिपा हुआ था। था तो पहले ही, अतः सचमुच वह पैदा नहीं हुआ। इस प्रकार की उत्पत्ति सत्य चीज़ की नहीं बन सकती। जो तो यह मानते हैं कि विद्यमान पदार्थ पैदा होता है, उनका तो यह कहना हुआ कि जो पहले ही है, वह पैदा हुआ!

इस प्रकार सैंकड़ों श्रुतिवाक्यों से निश्चित कह रहे हैं कि बाहर-भीतर अद्वय अज आत्मतत्त्व ही है, उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सैंकड़ों वाक्य तो यहाँ कहे नहीं। संस्कृत में शत और सहस्र शब्द अनेकवाची हैं। वैसे हिन्दी में भी हैं, जैसे आदमी कहता है कि 'तुमसे हज़ारों बार कहा, फिर गलती करते हो।' वह कहता है कि 'मुझे आपके यहाँ नौकरी करते हुए साल भर हुआ है और यदि आपने दिन में दो बार भी कहा हो तो भी ७२० बार हुआ, फिर आपने हज़ारों बार कैसे कहा?' यह भूल खासकर जब पुराण आदि साहित्य पढ़ते हैं तो लोग करते हैं। वहाँ आता है कि अमुक ऋषि ने साठ हज़ार साल तक तपस्या की। उसे पढ़कर लोग हिसाब लगाने लगते हैं। उनका यदि यथाश्रुत अर्थ करने लगोगे तो ढंग ही नहीं बैठेगा। सैंकड़ों श्रुति वाक्य कहे तो नहीं हैं लेकिन तात्पर्य है कि अनेकों श्रुतियों के द्वारा यह बात कह दी। वही बाहर है, वही अन्दर है, वही जन्मरहित है, ऐसा जो अद्वितीय आत्मतत्त्व है उससे भिन्न और कुछ नहीं है यह निश्चय हो गया। निश्चित रूप को बताने के बाद अब युक्ति के द्वारा उसी बात को बताना है। उसी का फिर से इस श्लोक में निर्धारण करते हैं।

शंका होती है कि श्रुति ने कहा और आप भी यह बात कह रहे हैं कि वह आत्मतत्त्व मन वाणी इत्यादि किसी का विषय नहीं है। यदि उस आत्मतत्त्व का ज्ञान कभी भी किसी भी प्रकार से हो ही नहीं सकता है तो फिर वह है ही नहीं। जिस चीज़ का कभी भी किसी को ज्ञान नहीं हुआ करता वह झूठी होती है जैसे गधे के सींग; आँख, कान नाक आदि कभी उसे विषय नहीं कर सकते। अतः जैसा आत्मा आपने पहले कहा वह आपकी गप्प ही गप्प है।

समाधान है कि यह जो तुम सदा अग्राह्य समझ रहे हो, वह ऐसा नहीं है। गधे के सींग की तरह वह हमेशा अग्राह्य हो, यह नहीं है। तो फिर इसका ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान हमेशा कार्यलिंग से होगा। ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान तो किसी इन्द्रिय से नहीं लेकिन कार्यलिंग से होगा। जगत् रूपी कार्य को देखकर इसके कारण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। संसार में बहुत सी ऐसी चीज़ें हैं जिनका साक्षात् ज्ञान नहीं होता, केवल कार्य से ही ज्ञान होता है। पहले अपने शरीर में ही देख लो। तुम्हारे आँख है या अंधे हो इसका पता कार्यलिंगक अनुमान से ही लगता है कि यदि तुम्हें बाहर की चीज़ दीखती है तो

Scanned by CamScanner

तुम्हारी आँख ठीक है और नहीं दीखती तो अन्धे हो। कोई डाक्टर तुम्हें नहीं कह सकता कि तुम अंधे हो या नहीं। यह तो तुम्हें खुद ही कहना पड़ेगा कि दीखता है या नहीं। जब आँख की परीक्षा कराने के बाद डाक्टर को फीस देते हैं तो हम डाक्टर से कहते हैं कि 'आधा हिस्सा हमारा भी होना चाहिये।' —वैसे वह बेचारे हमसे कुछ नहीं लेते— क्योंकि डाक्टर बार बार हमसे ही पूछेगा कि 'दीखा या नहीं?' इसलिये यह तो तुम्हारे ऊपर ही निर्भर करता है, कोई डाक्टर थोड़े ही कह सकता है कि तुम्हें साफ दीख रहा है या नहीं। तुम्हीं को कहना पड़ेगा। यही कार्यलिंगक अनुमान हुआ।

इसी प्रकार एक दूसरी कथा महात्माओं में प्रसिद्ध है। एक आदमी बड़ा लोभी था। आजकल श्राद्ध पक्ष चल रहा है। वह एक पंडित को सब जगह ढूँढ रहा था कि ऐसा पंडित मिले तो थोड़े में ही काम हो जाये। उसे एक दुबला पतला पंडित दीखा। उससे पूछा कि 'कितना भोजन करते हो?' पंडित ने कहा 'कोई खास नहीं।' उसे निश्चय हो गया और खाने को बुला लिया। अब उसने घर में जितना बनाया था, वह सब वह पंडित खा गया, दो चार किलो रबड़ी भी खा गया। उसने कहा कि इससे तो अपना ही पुरोहित अच्छा था जो आधा किलो में ही काम चला जाता था। यह तो फिर ज़बर्दस्त निकला! किसी के खाने की कितनी शक्ति है यह कार्यलिंगक अनुमान से ही पता चलेगा, नहीं तो पता नहीं चल सकता कि कितना खाने वाला है।

इसी प्रकार बुद्धि का भी कार्यलिंगक अनुमान होता है। कोई दीखता है कि यह पढ़ा लिखा होगा, समझदार होगा। लेकिन थोड़ी देर में बोलता है तो एक वाक्य शुद्ध नहीं निकलता। तब पता लगता है कि इसका चेहरा ही ढंग का है। उसी प्रकार कई बार ऐसे लोग देखने में आते हैं जिन्हें देखकर समझते हैं कि महागयाबीता होगा, और जब बोलने लगे तो पता चलता है कि विद्वान् है। एक बार हमें यही अनुभव हुआ। यहाँ के राज्यपाल हुक्म सिंह जी हमसे मिलने आये, उनके साथ में एक औरत थी जो देखने में काली कलूटी और दाई जैसी लगती थी। हुक्मसिंह जी देखने में खूब गोरे चिट्टे। उन्होंने समय ले रखा था। जब आये तो उनके साथ ही वह दाई जैसी औरत भी घुसने लगी। हम उसको इशारे से ही कहने वाले थे कि 'वहीं रहो बाद में आना', इतने में उनके साथ जो सैक्रेटरी कपूर थे वे बुद्धिमान् थे, समझ गये और दूर से ही उस औरत का पहले परिचय करा दिया कि 'ये राज्यपाल जी की पत्नी हैं।' हमने सोचा गजब हो गया! अच्छा हुआ मुँह से कुछ नहीं कहा। देखने में दाई लगी लेकिन बाद में पता चला कि उनकी पत्नी है। संसार में अनेक चीज़ें कार्यलिंगक अनुमान वाली होती हैं।

इसी प्रकार जो आत्मतत्त्व है उसका कार्यलिंगक अनुमान से ही ग्रहण होता है। आत्मतत्त्व के सत्त्व का निर्णय कार्यग्रहण से ही हो सकता है, उसके बिना नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में लिखा 'नायम् एकांतेनाऽविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' सर्वथा ब्रह्म अग्राह्य है ऐसा नहीं समझना। स्वरूप से अग्राह्य

Scanned by CamScanner

और कार्य से ग्रहण होता है, अस्मत्प्रत्यय का विषय है। अब अगली शंका यह नहीं करना कि यदि कार्य से ग्रहण हो जाता है तो फिर बिना कार्य के उसका ग्रहण नहीं होगा? यह शंका मत करना, क्योंकि कार्य से जब चीज़ का ग्रहण हो गया तब कार्य निवृत्ति के बाद भी उस चीज़ का ज्ञान बना रहेगा। जैसे दुबले ब्राह्मण को एक बार खिला दिया। अगली बार वह खा तो नहीं रहा है, इसलिये कार्य तो नहीं रहा, लेकिन इतने मात्र से तुम्हारा खिलाने का ज्ञान नहीं रहा, ऐसा तो नहीं है। तब भी तुम्हें वैसे ही पता है कि 'ऐसे को न खिलाते तो अच्छा था, आगे नहीं खिलाऊँगा'। इस प्रकार यह नहीं समझना कि जगत् के बिना यदि ब्रह्म का ज्ञान सम्भव नहीं तो फ़िर बाद में जब मुक्त हो जायेंगे, और जगत् नहीं रहेगा तो ब्रह्मज्ञान कैसे होगा? वह तो जगत्-रूप कार्य से ब्रह्मज्ञान हो गया तो अब जब जगत् नहीं रहेगा तब भी ज्ञान बना रहेगा।

जैसे मायावी सच्चा है। मायावी का ग्रहण कैसे होगा कि यह मायावी या जादूगर है? वह जब जादू दिखायेगा तभी पता लगेगा। कहीं अंगुली से दूध टपका देगा, दाढ़ी से पानी टपका देगा तब पता लगेगा कि यह मायावी है। यहाँ भी यही अनुमान समझ लेना : यह जगत् सदात्मक अधिष्ठान वाला है, कार्य होने से। जैसे मायावी सच्चा है तभी उसका कार्य माया है और वह सच्ची नहीं है। यदि मायावी न होता तो माया का खेल कहाँ से आता? इससे उसकी मायाविता का ग्रहण हो गया। उसी प्रकार यदि ब्रह्म सत्य न होता तो उसके कार्य जगत् की और उसमें सत्यता की प्रतीति कैसे होती? यह घुण्डी अच्छी तरह से साधक को बैठा लेनी चाहिये कि जगत् सच्चा प्रतीत होता है इससे सिद्ध हुआ कि जगत् का कारण सच्चा है। यदि जगत् के कारण ब्रह्म में सत्यता न होती तो जगत् में सत्यता की प्रतीति न होती।

संसार में बहुत से लोग तो तुमको यह उपदेश करेंगे कि संसार को असत्य समझो। वेदांत यह कभी नहीं कहता। वह तो कहता है कि संसार में जो सत्य है उसे ब्रह्म समझो। यह दूसरी बात है कि वेदांत में प्रवेश करने के पहले कुछ वैराग्य की बात भी कही जाती है। वह इसलिये कि मन दूसरी जगहों से नहीं हटेगा तो वेदांत को अच्छी तरह से, पूरी तरह से सुन ही नहीं पायेगा। जैसे बच्चे को कहते हैं कि इधर उधर से मन को हटाकर पढ़ने में मन लगा। इसका मतलब यह नहीं कि वह इधर उधर की बात नहीं सुनेगा। मतलब यह है कि पढ़ने के समय दूसरी बातें मत करो। इसी प्रकार वैराग्य का उपदेश इसलिये किया जाता है कि वेदांत-श्रवण काल में ही यदि वह सोचता रहेगा कि 'दुकान का क्या हुआ, बिक्री बट्टा कैसा चल रहा है,' तब जो सुनायेंगे वह उसकी समझ में नहीं आयेगा। वह विषय दूसरा हुआ। लेकिन दूसरे कहते हैं कि जगत् स्वरूप से असत्य है और वेदांती कहता है कि जगत् स्व-रूप से सत्य है। भूल केवल तुम यह कर रहे हो कि उसकी सत्यता अपने कारण से है, उसका कारण सत्य है। इस बात को भूलकर तुम यह समझते हो कि हरेक चीज़ में सत्यता बार बार पैदा होती है। तुम सोचते हो

Scanned by CamScanner

कि घड़ा उत्पन्न हुआ तब है, और हम कहते हैं कि घड़ा तो हमेशा है ही, तुम्हारे को अज्ञात था अब तुम्हें ज्ञात हो गया। कहोगे कि घड़ा कुम्हार ने बनाया। हमने उसका विरोध कहाँ किया कि नहीं बनाया? हम तो तुमको केवल यह समझाने के लिये कह रहे हैं कि यदि मिट्टी में घड़ा न होता तो क्या कुम्हार बना लेता? इसलिये यह नियम नहीं कि किसी चीज़ के अज्ञान को हटाने के लिये केवल कपड़ा या लैटरपैड ही हटाना पड़े। चीज़ को प्रकट करने का तरीका ही कुम्हार कर रहा है। लेकिन मिट्टी में घड़ा न होता और बनाता तो लकड़ी से घड़ा क्यों नहीं बना लेता? जिसमें जो चीज़ है वही प्रकट होगी। इसी प्रकार तिलों से तेल प्रकट करने का प्रकार अलग और दही से मक्खन निकालने का प्रकार अलग है। लेकिन दोनों जगह तिल में तेल था तो प्रकट हुआ केवल हमको अज्ञात था। उसी प्रकार छाछ हटाने से हमको मक्खन ज्ञात हो गया, लेकिन वहाँ था अवश्य। इसी प्रकार सब जगह समझ लेना। 'घड़ा है' इसमें यह समझने को कह रहे हैं कि घड़ा तो पहले ही था, तुमको अब ज्ञात हुआ। दूसरे लोग तो यह समझाना चाहते हैं कि संसार है ही नहीं और वेदांती कह रहा है कि यह समझो कि संसार या जो कुछ भी तुम्हें प्रतीत हो रहा है वह सब 'है' ही। आज भी है ही, गये कल भी है ही और आने वाले कल भी है ही। तुम्हारे सामने केवल प्रकट या अप्रकट होता रहता है। खाद्य में यह चीज़ स्फुट हो जाती है। आज तुम जो भोजन करते हो वही कल मल बन जाता है। परसों वही मल खाद बन जाता है और छह महीने बाद वही खाद फिर गेहूँ बन जाती है। इसलिये वहाँ यह चीज़ प्रत्यक्षसिद्ध हो ज़ाती है। इसका मतलब यह हुआ कि वह गेहूँ जब तुम समझ रहे हो मल बन गया, तब भी उसमें गेहूँ वैसा का वैसा बैठा है, नहीं तो प्रकट कहाँ से होता? यही सब चीज़ों में समझते जाना चाहिये।

अनुमान हो गया कि यह सारा जगत् सदधिष्ठान वाला है क्योंकि कार्य है। जैसे मायावी से माया का कार्य निकलता है तो मायावी सच्चा है। उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् निकलता है तो ब्रह्म सत्य है। उसका ग्रहण हमको जगत् में हो रहा है। जगत् में सत्यता ब्रह्म की है। इस प्रकार जगत् का जन्म कार्य है जिसका ग्रहण हो रहा है। उससे जो सच्चा मायावी है उसी का पता चलना चाहिये कि मायावी है तब माया सामने आ रही है। जो आत्मा है वही जगत् जन्म की माया का आश्रय हो गया। जगद्रूप कार्य यह ज्ञान करा देता है।

सत् से ही अर्थात् पहले विद्यमान कारण से ही कार्य उत्पन्न होगा। जैसे मायावी माया से हाथी इत्यादि बना देता है, उसी प्रकार जगत् का जन्म सत् से माया द्वारा युक्त हो जाता है। असत् कारण से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये तत्त्वतः अर्थात् सचमुच ही आत्मा का जन्म हुआ ऐसी बात नहीं। केवल वह हमको अज्ञात था, हमारे सामने प्रकट हो गया। फिर जब अप्रकट, अज्ञात हो गया तो नष्ट समझ लेते हैं। इसलिये कारण की सत्ता विवादरहित हो गई। जो असत् हुआ करता है वह कारण नहीं होता। इस प्रकार सत् शब्द को पंचम्यंत मानकर यह व्याख्यान किया, अर्थात् सत् को उपादान कारण मानकर अर्थ किया।

Scanned by CamScanner

'सतः' षष्ठ्यंत भी हो सकता है इसलिये अब सत् को षष्ठ्यंत मानकर व्याख्यान करते हैं। पहले कहा था 'सतः विद्यमानात्' और अब कहते हैं 'सतः विद्यमानस्य', जो वस्तु पहले ही विद्यमान हो उसी का जन्म हो सकता है जैसे रस्सी का जन्म सर्प रूप से होता है क्योंकि रस्सी पहले है। रस्सी होती ही नहीं तो सर्प रूप से उस का जन्म कहाँ से होता? और वह जन्म वास्तविक नहीं। उसी प्रकार से जो सत्, स्वरूप से अग्राह्य है, किसी भी प्रकार ज्ञान का विषय नहीं, उसी का जैसे रस्सी का साँप रूप से जन्म होता है इसी प्रकार माया से जगद्-रूप में जन्म बन जायेगा। सचमुच ही अज आत्मा का जन्म नहीं बनेगा।

जो तो पुनः दूसरे वादी हैं वे यह मानते हैं कि परमार्थ सत् अज होता हुआ ही आत्मतत्त्व जगत्रूप से उत्पन्न होता है। उनका यह कहना सर्वथा वदतोव्याघात दोष से दुष्ट है। अज भी कहा और फिर जन्म लेने वाला भी कहते हैं जो अत्यंत विरुद्ध है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उसे 'जातं जायते' ही कहना पड़ेगा, 'अजं जायते' नहीं कह सकते। इसलिये जो पैदा हुआ है वही फिर पैदा होता है। और यह कहो तो भी अनवस्था हो जायेगी। किसका जन्म? जात का। जात मायने जिसका जन्म हो चुका। वह जन्म किसका? जात का ही। तो यह तीसरा जात आ गया। इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। दूसरे लोग तो अनवस्था का परिहार मान भी लेते हैं क्योंकि उन्हें एक मुर्गी-अण्डे का न्याय मिल जाता है कि मुर्गी के पहले अण्डा, अण्डे के पहले मुर्गी। और फिर बहुत से लोग मान भी लेते हैं कि ऐसी जगहों में यह मान लो। जैसे 'इस जन्म का सुख दुःख क्यों?' 'पूर्व जन्म के कर्मों से।' 'वहाँ संस्कार क्यों पड़े?' 'उसके पूर्व जन्म के कर्मों से।' 'शुरू कहाँ से हुआ?' 'अरे जी! अनादि काल से चला आया है।' ये सब मुर्गी-अण्डे का न्याय मान रहे हैं।

लेकिन भगवान् गौडपादाचार्य कुल्हाड़ी लेकर बैठे हैं। कहते हैं कि बीजांकुर न्याय कौन-सा सिद्ध है? ये जो अनादिकालता मानते हैं ये सब अंधविश्वासी हैं। सूत्रभाष्य में कहा है 'अन्धपरम्परैवैषाऽनादित्वकल्पना।' अनवस्था दोष तो अनवस्था दोष ही है, उसे हल करो। वह क्या उत्तर हुआ कि अनवस्था को ढोना पड़े। ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं जहाँ बीजांकुर न्याय नहीं चला करता। जैसे कहते हैं कि विश्वामित्र ने नारियल बनाया। तो वह किसी बीज से थोड़े ही बनाया। उसके बाद ही बीज परम्परा चली। इसलिये जात का जन्म मानने वालों के यहाँ अनवस्था दोष सच्चा है।

अथवा अनवस्था पंचदशी के ढंग से समझ लो। जब कहते हो 'जातं जायते' तो दो बार जनि धातु का प्रयोग किया। अर्थ हुआ कि जो पहले जनिधात्वर्थ का कर्ता बन चुका है वही दूसरे जनिधात्वर्थ का कर्ता बनेगा। अब यदि दोनों बार कहे जनिधातुओं का अर्थ एक ही है तो आत्माश्रय दोष हो गया। यदि दोनों के अर्थ अलग हैं और पहले धात्वर्थ का कर्ता बनने के लिये उसे पूर्व में जिस धात्वर्थ का कर्ता बनना है वह द्वितीय

Scanned by CamScanner

धात्वर्थ ही है तो अन्योन्याश्रय दोष। यदि तीसरे किसी जनिधात्वर्थ का कर्ता बनकर वह प्रथम धात्वर्थ का—जातम् के जनि का— कर्ता बना है तो उस तीसरे का कर्ता बनने के लिये पूर्व में किसका कर्ता बना था? यदि अपना ही, तो आत्माश्रय; यदि प्रथम का अर्थात् 'जातम्' वाले का, तो अन्योन्याश्रय; और अगर द्वितीय का अर्थात् 'जयते' वाले का, तो चक्रिका। अब कहो किसी चौथे जनिधात्वर्थ का कर्ता बनकर वह तीसरे का कर्ता बना, तो अनवस्था हो गयी।

इसलिये अज मानोगे तो विरोध और यदि जात ही जात मानोगे तो अनवस्था दोष आता है। अतः न अज उत्पन्न होता है और न जात उत्पन्न होता है। कुछ उत्पन्न होता ही नहीं। सब कुछ जैसा है वैसा का वैसा नित्य है। तुम्हारे सामने जो चीज़ प्रकट हो गई उसे उत्पन्न मानते हो और जो चीज़ तुम्हारे सामने से हट गई उसे नष्ट मानते हो। सब जैसा है जैसा था जैसा रहेगा, सब वैसा ही नित्य है। इसलिये सब एक आत्मतत्त्व है, यही सिद्ध होता है।।२७।।

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ।।२८।।

असद्वादी बौद्ध असत् से सत् का या असत् का सद्रूप से जन्म मानते हैं जो असंभव है। असत् का जन्म न सचमुच और न माया से ही हो सकता है। वन्ध्यापुत्र न केवल वास्तव में नहीं पैदा होता वरन् माया से भी पैदा नहीं होता है।

जो सत् है; वैसे सत् मायने ही है, हिन्दी में सत् है कहना पड़ता है। जो है उसका जन्म सम्भव नहीं क्योंकि है ही तो जन्म किस का? अब वेद कहता है कि सत् ब्रह्म से अनुभव में आता है जन्म। दो विरुद्ध बातें हुई। इसका परिहार हुआ कि जो चीज़ है वह अज्ञान से 'नहीं है' की तरह हो जाती है। ज्ञान होने पर लगता है इसका जन्म हो गया। अज्ञान, माया, अविद्या, वेदांत में एकार्थक शब्द हैं। वेद कहता है सत् और अनुभव होता है जगत्। इसका समाधान माया से हुआ।

यह ज़रा कठिन विषय है क्योंकि यह वेदांत का अंतिम ग्रन्थ है। सत् जब अज्ञान से छिप जाता है तब कहते हैं 'नहीं है'। है तब भी। फिर जब उसका ज्ञान होता है तब लगता है पैदा हो गया। जैसे मान लीजिये कि आप दिल्ली में थे तो हमको दीख नहीं रहे थे, आप तो वहाँ थे ही। यदि किसी ने हमारी आँख में गिद्ध की आँख प्रत्यारोपित कर दी होती तो यहीं बैठकर आप हमें दीखते रहते। यदि दीखते रहते तो यह नहीं कह सकते थे कि 'ओझा जी आ गये, या दीख गये' क्योंकि पहले ही दीख रहे हैं। लेकिन हमारी आँख में वह शक्ति नहीं। यहाँ आकर दीख गये तो कह देते हैं कि 'आप आ गये'। बच्चा पेट में है। यदि हमारी आँख ऐक्सरे की हो, तो हमें वह पेट में दीख रहा

Scanned by CamScanner

है, जन्म के बाद ही दीखेगा ऐसा नहीं। अब नहीं दीख रहा है क्योंकि पेट में मौज़ूद है और हमारी आँख में वह शक्ति नहीं। इसी प्रकार क्रम से सब चीज़ें हैं। माता के पेट में आने के पहले बच्चा पिता के अंदर शुक्र रूप में था। सूक्ष्म आँख होती तो लगता कि जैसे यहाँ छोटा बच्चा, वहाँ उससे और छोटा है।

वेद कहता है 'है' और हमको लगता है कि कोई चीज़ नहीं है और फिर हो जाती है अर्थात् प्रादुर्भूत होती है। समाधान हुआ कि अज्ञान से 'नहीं है' प्रतीत हो रही है और ज्ञान से प्रकट हो जाती है। इसलिये सत् का सच्चा जन्म नहीं, माया से जन्म हो जायेगा। अगर कहो कि उत्पन्न होने वाला ही तत्त्व मानो तो युक्ति से जवाब दिया कि अनवस्था दोष होगा, उसका कभी अंत नहीं आयेगा। इसलिये यह बात वेद भी कह रहा है और युक्तिसिद्ध भी है।

असत् को कारण खासकर बौद्ध कहता है। गौडपादाचार्यों के काल में यह शंका बौद्धों की थी जो असत् से उत्पत्ति मानते हैं। कोई भी दार्शनिक सोचता है तो किसी चीज़ पर उसकी दृष्टि ज्यादा रहती है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में प्रायः सोने से गहना, लोहे से कढ़ाई, मिट्टी से घड़ा बन गया; यह उनकी दृष्टि में ज्यादा था। बौद्ध विचारकों की दृष्टि थी कि जब बीज नष्ट हुआ तब अंकुर पैदा हुआ। इसलिये उन्होंने कहा कि बीज अंकुर के प्रति कारण नहीं, बीज का नाश ही अंकुर के प्रति कारण है।

वर्तमान काल में यही सिद्धान्त मार्क्सवाद का है कि किसी चीज़ के नाश से ही आगे उत्पत्ति सम्भव है; यह उनका प्रधान सिद्धान्त है। इसलिये वे कहते हैं कि पहले नष्ट कर दो, उसके बाद जो उत्पन्न होगा वह अपने आप होगा। यह कठिनाई लेनिन को सबसे पहले महसूस हो गई थी। जब वहाँ कम्युनिज्म आ गया तो अब किसी का लेना देना नहीं, अपने आप काम करोगे। लेकिन काम कौन करेगा? इसलिये जिसको जहाँ जो मिला उसने वह उठा लिया। तीन महीने के अन्दर ही वहाँ अराजकता anarchy की स्थिति आ गई तो लेनिन सोचने लगा कि क्या करें? उसका एक प्रसिद्ध वाक्य है कि 'मार्क्स ने यह तो बताया कि सब तोड़ दो, नष्ट करो, वह हमने कर दिया। लेकिन उसके आगे तो मार्क्स ने कुछ नहीं बताया! इसलिये आगे उसे बाँचने से कुछ नहीं होगा।'

तब उसने New Economic Policy (NEP) लागू की कि कम्युनिज्म के बाद क्या करना चाहिये। इसपर लेनिन का बड़ा विरोध हुआ क्योंकि उसमें तो उसने स्टेट कण्ट्रोल में लिया और स्टेट के अन्दर तो सबको समय पर सब काम करना पड़ेगा। बड़ा विरोध हुआ कि यही बंधन तोड़ने के लिये तो हम कम्युनिज्म लाये और तुम वही बात फिर करने लगे। उस समय यह स्थिति हो गई कि लेनिन को कहना पड़ा कि 'मेरा प्रधानमंत्री पद से इस्तीफा है और अब जो वाल्शोव कर सकता है वह करे।' उस जैसे आदमी को इस्तीफा देना पड़ा क्योंकि उसने कहा कि अगर परिवर्तन नहीं मानोगे तो यह देश नहीं चल सकता।

Scanned by CamScanner

वाल्शोव ने उससे कहा कि 'घबराओ नहीं, लोगों के पुराने संस्कार जब तक नहीं जाते, वे काम नहीं करते। लेकिन दस पंद्रह साल में आदत पड़ जायेगी तब जिसको वे कहते हैं 'The Sate will wither away'। उसके बाद दस साल क्या, साठ साल हो गये लेकिन हुआ कुछ नहीं। यह असद्वाद वर्तमान में उनका है। यद्यपि वर्तमान कम्युनिज्म उसे पूर्ण रूप से नहीं मानता, तथापि सिद्धान्त रूप से तो मानता ही है।

बौद्धों ने भी नाश की तरफ ज्यादा दृष्टि की इसलिये उनका कहना है कि बीज-नाश से अंकुर, दूधनाश से घी उत्पन्न होता है। असत् से सत् की उत्पत्ति है। वह कहता है कि तुम कहना चाह रहे हो सत् से माया के द्वारा उत्पन्न होता है। माया की कल्पना करने की अपेक्षा तो हमारा असत् ही मान लो। असत् में कोई तात्त्विक भेद तो है नहीं। जैसे सत् में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं, ऐसे ही असत् में भी कोई भेद नहीं।

उत्तर देते हैं : असत् से सत् की उत्पत्ति में यह दोष है कि जगत् को कैसे समझाओगे? जैसे बीजनाश असत्, कपड़े का नाश भी वैसा ही असत्, लेकिन कपड़े को जलाकर आम पैदा नहीं होता है। यह दोष दिया जाता है। असत् तो हमेशा सब प्रकार के भेदों से रहित एक जैसा, तो आम्रबीज के नाश और नारियल के बीजनाश में तो कोई फ़रक नहीं है, फिर उत्पत्ति में फ़रक कैसे? यही उसके खण्डन में युक्ति दी जाती है। जगत् का वैचित्र्य असत् से उत्पत्ति से नहीं समझा जा सकता। इसलिये बजाय बीजनाश के, बीज को ही कारण मानना पड़ेगा कि बीज ही अपने अवयवों को बदलकर अंकुर हुआ।

जब यह मायासिद्धान्त प्रतिपादित हुआ तो वह बोल पड़ा कि जैसे तुम्हारी अनिर्वचनीय माया सजातीय विजातीय और स्वगत भेदों से रहित ब्रह्म को जगद्रूप में दिखा देती है, ऐसे हमारे असत् को भी दिखा देगी इसलिये बात मान लो। उसका जवाब दिया कि असत् का तो माया से भी जन्म नहीं हो सकता। कोई चीज़ हो तब उसे 'नहीं जाना' यह बने। लेकिन जो चीज़ होगी ही नहीं तो उसे जानना और न जानना क्या है? यदि कोई कहे कि 'गधे के सींग का हमको अज्ञान है' तो बेकार की बात है क्योंकि जो चीज़ है ही नहीं, उसका अज्ञान कैसे? इसलिये असत् का माया से भी जन्म नहीं होता और सचमुच तो बन ही नहीं सकता है, यह पहले ही कह आये हैं।

उसी को दृष्टांत से समझाते हैं कि बाँझ का बेटा न सचमुच पैदा होता है और न माया से ही पैदा हो सकता है। जैसे वंध्या में पुत्र का अभाव है तो वह जो अभावरूप चीज़ है उससे उत्पत्ति माया के द्वारा भी सम्भव नहीं। सत्पूर्वक ही कार्य हुआ करता है। असद्वादी के यहाँ तो असत् पदार्थ से (जो पदार्थ है ही नहीं उससे) चाहे माया से चाहे सचमुच किसी भी प्रकार जन्म बनता ही नहीं, प्रादुर्भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा कहीं देखने में ही नहीं आता।

Scanned by CamScanner

मूल श्लोक का ही सीधा अर्थ भगवान् भाष्यकार ने कर दिया कि वन्ध्यापुत्र न माया से, न तत्त्वतः पैदा होता है। इसलिये असत् से माया के द्वारा उत्पत्ति को बताने का जो मत असद्वादी का है, वह दूर से ही युक्तिविरुद्ध होने से उसका विचार ही नहीं करना चाहिये। अर्थात् जो कार्य-कारण का निरूपण कर रहे हैं उनके बीच में असद्वादी का तो बोलना ही ग़लत है। क्योंकि जिसका कोई स्वरूप ही नहीं है, वही असत् है। जिसका स्वरूप नहीं उसका कार्य अर्थात् जन्म कहाँ से आयेगा?।।२८।।

●

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।।२९।।

जैसे सपने में मन माया से ग्राह्य-ग्राहक दोनों रूपों में भासता हुआ स्पन्दित होता है वैसे जाग्रत् में भी मन ही माया से मानो दोनों रूपों में भासता हुआ स्पन्दित हो रहा है।

अब एक बड़ा गम्भीर प्रश्न उठाया जा रहा है। आगे के दो तीन श्लोक बड़े कठिन हैं। गंभीर प्रश्न यह है कि जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं के अन्दर तुम मन का स्पंदन ही तो स्वीकार करते हो। इसलिये एक मन और एक स्पन्दन, दो चीज़ें हो गई। इस हालत में तुम्हारे अद्वैत सत् ब्रह्म की सिद्धि कैसे? जाग्रत् स्वप्न में मन के स्पंदन के अतिरिक्त तुम्हारा ब्रह्म नहीं मिल रहा है।

जवाब यह है कि स्पन्दन को जब तुमने अलग करके जान लिया तब जिसको तुम मन कहते हो वही तो ब्रह्म है!'संकल्पविकल्पात्मकं हि मनः' संकल्प और विकल्प ही मन का स्पंद है। जब तक मन को स्पन्द रूप समझते हो उसका नाम मन है और जैसे ही स्पन्द वाला मन को समझ लिया, उसी का नाम ब्रह्म है क्योंकि मन का (संकल्प-विकल्प का) अधिष्ठान तो वही है। जैसे मिट्टी घड़ा बनने के लिये कुछ बनी नहीं। इसलिये जैसे ही जान लिया कि घड़ा मिट्टी एक ही हैं तो अद्वैत हो गया। साधारण आदमी कहता है कि इस कड़े या कर्धनी 'में' २० तोले सोना है। लेकिन जहाँ तुमने कड़े को सोना समझ लिया तो वहाँ केवल बीस तोले सोना ही है जिसे मोड़ दिया है।

इसलिये कहते हैं कि स्वप्न में मन माया के द्वारा दो रूप वाला बन जाता है; स्वप्न के अन्दर देखने वाला मन और जिस घड़े को देख रहा है वह घड़ा, दोनों रूप मन के ही तो लिये हुए हैं। मन ही वहाँ देखने वाला और मन ही वहाँ दीख रहा है। इसीलिये द्वयाभास अर्थात् ज्ञाता रूप और ज्ञेय रूप, दो रूपों में भासित हो रहा है। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के अन्दर भी माया के द्वारा मन द्वयाभास है दो रूपों से प्रतीत होता है।

Scanned by CamScanner

यद्यपि भाष्यकारों ने सीधा ही अर्थ कर दिया है 'जाग्रत् जागरिते' जाग्रत् मायने जाग्रत् अवस्था में; तथापि यदि थोड़ा ध्यान दो तो पता लगेगा कि भगवान् गौडपादाचार्य कुछ सूक्ष्म ध्वनि करना चाहते हैं। 'स्वप्ने द्वयाभासम्' में समास नहीं किया और 'जाग्रद्द्वयाभासम्' समास है। तो इसमें उनका कुछ तात्पर्य है। वह यह है कि स्वप्न के द्वयाभास का बाध जैसे होता है ठीक वैसे जाग्रत् के द्वयाभास का बाध नहीं होता। स्वप्न और जाग्रत् में यही तो फ़रक है। स्वप्न का बाध स्वप्न-प्रतीतिकाल में नहीं है। और जाग्रत् का बाध जाग्रत्प्रतीतिकाल में ही है। यह नहीं कि तुम जब समाधि में बैठोगे तब जगत् का बाध होगा; क्योंकि समाधि में तो तुम्हारा अंतःकरण होगा ही नहीं तो त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चय कौन करेगा? यह तो बुद्धि से, मन से ही होगा। यहाँ स्वप्न जाग्रत् का वास्तविक भेद है कि जाग्रत् का बाध जाग्रत् में ही होता है और स्वप्न का बाध स्वप्न में नहीं ही होता है। इसलिये 'जाग्रद्द्वयाभासम्' समास कर दिया और 'स्वप्ने द्वयाभासम्' को अलग कर दिया।

स्वप्न का अभिमानी स्वप्न के बाधक जाग्रदभिमानी से अलग हो जाता है लेकिन जाग्रत् का अभिमानी जाग्रत् के बाधक से अलग नहीं होता है। स्वप्न का बाध जाग्रत् में होता है और जाग्रत् का भी अभावनिश्चय जाग्रत् में ही होगा। इसलिये जाग्रत् का बाध जाग्रत् में ही होगा और स्वप्न का बाध स्वप्न में नहीं ही होगा। यही फ़रक है। क्योंकि स्वप्न में उसी स्वप्न का बाध होना नहीं इसलिये 'सपना लेते हुए द्वयाभास मन है' यह पता नहीं चल सकता। यही पता चलेगा कि सपने में मन द्वयाभास था। यह भी भले ही पता चले कि सपना लेता हुआ भी मन था, लेकिन सपना लेते हुए का और द्वयाभास का इकट्ठे ही पता नहीं चलना है क्योंकि सपने का पता सपना ख़तम होने के बाद ही चलेगा। इधर 'जगते हुए द्वयाभास मन है' यह पता चलना है। उसके जगे होने का और द्वयाभास होने का इकट्ठे ही पता चलेगा। यह समास से व्यक्त किया।

अवस्थाद्वय के अन्दर द्वैत मनःस्पंदित ही है तो फिर सत् का माया के द्वारा जन्म कैसे होगा? जवाब देते हैं कि जिस प्रकार रस्सी में कल्पित किया हुआ सर्प ही प्रकाश कर देने पर रज्जु रूप से सत् दीखने लग जाता है— अंधकार में सर्प और जैसे ही मशाल जली तुरंत वही रस्सी रूप में दीख गया— इसी प्रकार परमात्मज्ञान से आत्मरूप देखा जाता मन सत् है। तुमने मन को देखा, मन का स्पंदन मनरूप है और माया के द्वारा मन ने ग्राह्यग्राहक-भाव ग्रहण कर लिया। अब मन पर ध्यान को एकाग्र किया। शास्त्र कह रहा है कि मन सबको उत्पन्न करने वाला है। अतः जिन्हें उत्पन्न कर रहा है उनसे अलग करके उत्पन्न करने वाले को समझोगे। इसलिये उसको सर्वसंकल्पों से रहित देखोगे तो देखते ही जिसे तुम मन समझ रहे थे वह मन ही तुमको ब्रह्म रूप में दीख गया क्योंकि मन का अधिष्ठान भी सद् ब्रह्म ही है। जैसे जो तुम्हें सर्प दीखता रहे उसी पर आँख जमानी है। ऐसा करने पर ही मशाल जलते ही तुमको रस्सी दीख जायेगी। इसी प्रकार

Scanned by CamScanner

मन पर वृत्ति को एकाग्र करके देखने से जब वेदवाक्य का उपदेश होगा तब वहीं ब्रह्म दीखने लग जायेगा।

वेद का कहना है कि सद्रूप है, यह पारमार्थिक विज्ञप्ति हो गई। उस मन को फिर आत्मरूप से देखना है कि यही तो आत्मा है। वैसे रात दिन के व्यवहार में तो जब आत्मा कहते हैं तो उसका अर्थ मन ही होता है। यह तो लोगों ने कहकह कर जँचाया है कि पुरुष अलग है और मन अलग है, सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्याति से ऐसा जँच गया है। इसलिये व्यवहार मन से आत्मा का करते हो लेकिन जब कोई याद दिलाये तब सोचते हो कि 'मैं द्रष्टा साक्षी हूँ।' वस्तुतः मन स्पंदित होने से अपने रूप से अलग होता प्रतीत होता है। इसी को लेकर सांख्यों ने सत्त्वपुरुष-अन्यता-ख्याति कह दी। जब उसके स्वरूप को समझ लेते हैं तो द्वैत नष्ट हो जाता है। इसलिये परमार्थ विज्ञप्ति के द्वारा आत्मरूप से जब इसे देख लिया तो फिर यह पता चलता है कि ग्राह्य और ग्राहक रूप से यह दो की तरह प्रतीत हो रहा है। घटज्ञान तो एक ही होता है। उसके बाद हम संस्कारवशात् कहते हैं कि देखने वाला मैं अलग और जिसको देखा वह घड़ा अलग है। लेकिन घटज्ञान जिस काल में होता है उस काल में यह सब विश्लेषण थोड़े ही है। जैसे ही इसे समझ लेता है वैसे ही केवल इस ज्ञानप्रवाह को देखता है। फिर ज्ञाता-ज्ञेय-भाव को करने के चक्कर में नहीं जाता। बस यही कहने का तात्पर्य है।

जैसे स्वप्न में तो निर्णीत है कि दो चीज़ें नहीं हैं क्योंकि वही द्रष्टा है और वही दीखने वाला है। स्वप्न में तुम अपनी आँख बनाकर ही देखते हो। स्वप्न के अन्दर आँख बनाई, चश्मा नहीं मिल रहा है तो कहते हैं कि यह किताब नहीं पढ़ पा रहे हैं, चश्मा लाओ। वह किताब मन ही बना हुआ है, उस किताब में क्या अज्ञात है! जैसे वहाँ मान लेते हो कि चश्मा भी चाहिये आँख भी चाहिये। करण आँख और चश्मा भी उसी तरह से हैं जैसे किताब है। वैसे ही जाग्रत् काल में करण मन भी वैसा ही और जिस घट को देख रहा है वह भी वैसा ही है।

इसलिये माया के द्वारा जैसे स्वप्न में या जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति हो जाती है उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के अन्दर माया के द्वारा स्पन्दन करता है। भाष्यकारों को ठीक नहीं लगा कि मन क्या स्पन्दन करेगा! इसलिये कह दिया कि 'स्पंदन करने की तरह होता है।' स्पन्दन भी तो एक ज्ञान ही है, और क्या है? मन क्या स्पन्दन करेगा?

हमने जो कहा कि समास और असमास से दोनों में कुछ भेद इष्ट है, तो प्रश्न होगा कि भाष्यकारों ने क्यों नहीं कहा? यहाँ कहीं भी रज्जु में साँप का दृष्टांत तो मूलकार ने दिया नहीं है फिर भाष्यकार क्यों उस दृष्टांत को यहाँ लाये? क्योंकि रस्सी में सर्प की प्रतीति भी जाग्रत् काल में ही और उस प्रतीति का बाध भी जाग्रत्काल में ही है। अतः इस भेद को उन्होंने दृष्टांत के द्वारा बता दिया, हमने समासविचार से दिखा दिया कि मूलकार ने वह कैसे बताया है।।२९।।

Scanned by CamScanner

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ।।३०।।

स्वप्न में मन अद्वय अर्थात् अकेला ही है यह बात भी निश्चित है और दो के रूप में प्रतीत होता है यह भी निश्चित है। इसमें कोई संशय की बात नहीं। माया के अधीन होकर मन का स्पंदन अवस्तुरूप हुआ करता है। उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के अन्दर भी आत्मा अद्वितीय हुआ हीं दो की तरह प्रतीत हो रहा है। इसमें कोई संशय नहीं है।

द्वैत की स्वीकृति नहीं मान लेना कि मन अलग और स्पन्दन अलग जैसा काश्मीर शैवदर्शन वाले मानते हैं। इसी में उनसे हमारा मतभेद है। प्रायः काश्मीर शैवदर्शन, त्रिक दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, सब अद्वैतवादी ही हैं। वे अद्वितीयता तो मानते हैं, लेकिन मन के स्पन्दन को और मन को, दोनों मिलाकर अद्वितीय मानते हैं। और हम लोग मन को ही सत्य मानते हैं, स्पन्दन को नहीं। वे स्पन्दन की सत्यता को पकड़ लेते हैं इसलिये उनके यहाँ तंत्र, शक्ति आदि की उपासना बन जाती है। दो सौ सालों में क्या हुआ उसकी बात अगर छोड़ दो तो भारत में सम्प्रदायभेद का मूल किंचित् दार्शनिक भेद हुआ करता था। उस भेद को साधारण आदमी नहीं समझ सकता है इसलिये उसे धार्मिक रूप दे देते थे। आधार दार्शनिक ही होता था। बात को न समझकर बहुत गड़बड़ी हो जाती है। जैसे वैष्णवों और शैवों का झगड़ा इस बात को लेकर नहीं कि पूजा का भेद है; एक चतुर्भुजी को मानता है दूसरा पंचमुखी शिव की पूजा करता है, इसको लेकर भेद नहीं है। वह तो सिद्धान्तभेद होता है और उसे बाह्य रूप दे दिया जाता है। वे आत्मा को अणु मानते हैं लेकिन अपने यहाँ कोई आत्मा को अणु नहीं मानता, सभी विभु मानते हैं। वैष्णव और काश्मीर शैव दर्शन वाले ऐसा नहीं मानते। वैष्णवों का पुष्टिमार्ग (वल्लभसम्प्रदाय) और काश्मीर शैव दर्शन दार्शनिक दृष्टि से बहुत मिलते जुलते हैं। एक उसे कृष्ण और दूसरे उसे शिव कहते हैं। वैष्णव उसे राधा और शैव उसे शक्ति कहते हैं। यह पूजापद्धति को लेकर भेद हुआ। लेकिन वल्लभ वाले जो अपने को शुद्धाद्वैती कहते हैं वह इसलिये कि 'तुम माया से ब्रह्म को जगद्रूप में मानते हो और हम कहते हैं कि माया ब्रह्म का अपना ही स्वरूप है। इसलिये हम शुद्धाद्वैती और तुम माया को साथ लेकर चलते हो', ऐसा वल्लभ सम्प्रदाय वाले मानते हैं। हम लोग वैसा क्यों नहीं मानते यह पहले इसमें आ चुका है। यह वल्लभ और काश्मीर शैव दर्शन से भेद है। इसलिये वल्लभ सम्प्रदाय में राधा का प्रधान स्थान कहीं नहीं है, उनके मंदिरों में कहीं राधा की प्रधान मूर्त्ति नहीं, केवल कृष्ण की ही मूर्त्ति है। जैसे नाथद्वारा इत्यादि में वे कहते हैं कि शक्ति को अलग करने की ज़रूरत ही नहीं है। आजकल लोग मोटी दृष्टि से व्यवहार करते हैं इसलिये दार्शनिक पक्ष को या सिद्धान्तभेद को भूल जाते हैं।

जाग्रत् काल में भी अद्वितीय आत्मा रहते हुए भी माया के द्वारा दो की तरह आभासित हो जाता है। वास्तविक द्वैत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। बाधकाल में जैसे रस्सीरूप

Scanned by CamScanner

से सर्प प्रतीत होता है उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से आत्मरूप अद्वितीय सत् रहता हुआ मन स्वप्न के अन्दर द्वयाभास हो जाता है। पारमार्थिक दृष्टि अर्थात् जाग्रत् दृष्टि से आत्मरूप अद्वय मन सत् है, वह स्वप्न काल में दो की तरह प्रतीत हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है। स्वप्न के अन्दर हाथी इत्यादि दिखाई देते हैं। वहाँ ग्राह्य हाथी आदि और उसको ग्रहण करने वाली आँख दोनों ही सिवाय विज्ञान के और कुछ नहीं। केवल ज्ञान ही ज्ञान है, आँख भी ज्ञान और जो हाथी आदि दीख रहे हैं वे भी ज्ञान ही हैं, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत् काल के अन्दर समझ लेना। जैसे वहाँ पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर स्वप्न काल में दो प्रतीत होने पर भी जिससे प्रतीति हो रही है और जिसकी प्रतीति हो रही है वह ज्ञान से अतिरिक्त नहीं। वैसे ही जाग्रत् काल में मैं देखने वाला और घड़ा दीखने वाला भी एक ज्ञानमात्र ही है। वह ज्ञान दोनों जगह एक जैसा ही है। वही अविशिष्ट है, उसमें कोई भेद नहीं।।३०।।

●

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित् सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।३१।।

अब जो कहा कि द्वैत मनोमात्र है, मन के स्पन्दन में ही द्वैत है, इसके अंदर युक्ति प्रमाण देते हैं। जहाँ भी द्वैत है वह मन का ही दृश्य होता है। जहाँ भी द्वैत का अनुभव है वहाँ मन के द्वारा ही देखा जाता है। बिना मन के किसी द्वैत की उपलब्धि नहीं। 'इदं द्वैतम्' को स्वयं खोल दिया कि वह द्वैत जड और चेतन जगत् है। चेतन की प्रतीति भी मन होने पर होती है और जड की प्रतीति भी मन के बिना नहीं होती। 'हि' अर्थात् जिस कारण से जब मन अमन हो जाता है तब भी द्वैत नहीं मिलता। द्वैत की उपलब्धि नहीं होती अर्थात् ज्ञान नहीं होता।

रस्सी में साँप की तरह मन ही द्वैत रूप से विकल्पना रूप को धारण करता है, यह कहा। मन ही द्वयाभास हो जाता है। इस विषय में क्या प्रमाण है जिससे आपने इस बात को मान लिया? कहते हैं कि अन्वय-व्यतिरेक अनुमान से पता लगा कि जहाँ जहाँ मन है वहाँ वहाँ द्वैत-प्रतीति और जहाँ जहाँ मन नहीं है वहाँ वहाँ द्वैत-प्रतीति नहीं है। यही अन्वय व्यतिरेक हो गया; जहाँ जहाँ घड़ा है वहाँ वहाँ मिट्टी यह अन्वय और जहाँ जहाँ मिट्टी नहीं वहाँ वहाँ घड़ा नहीं, यह व्यतिरेक है। इसलिये घट मिट्टीरूप ही है। उसी प्रकार मन और द्वैत का अन्वय व्यतिरेक होने से द्वैत मन-रूप ही है। रस्सी साँप का दृष्टांत उसी रूप से ले लो : जहाँ जहाँ साँप है वहाँ वहाँ रस्सी है और जहाँ जहाँ रस्सी नहीं वहाँ वहाँ साँप भी नहीं। इसलिये साँप भी रस्सी रूप ही है। वह अन्वय व्यतरेक है। यह सूत्र वाक्य हो गया उसी का अर्थ स्वयं करते हैं।

Scanned by CamScanner

मन के द्वारा ही विकल्प्यमान हुआ दृश्य जो होगा अर्थात् जो मन के द्वारा विकल्पित होगा उसी को मन का दृश्य कहेंगे। यह मूल श्लोक के 'इदं द्वैतम्' का अर्थ कर दिया। मूल के सचराचर पद को संक्षिप्त करके 'सर्वम्' कह दिया। यह सारा द्वैत मन ही करता है यह प्रतिज्ञा है। प्रतिज्ञा में दो चीज़ें पक्ष और साध्य होती हैं। यह सारा द्वैत पक्ष और मनोरूपता साध्य है। इसलिये यह प्रतिज्ञा हो गई। भेद अर्थात् द्वैत होता है तो मन के होने पर ही और मन के न होने पर द्वैत का भी अभाव होजाता है। यह अनुमान हो गया।

अब उस व्यतिरेक को स्पष्ट कर रहे हैं : मन अमन-भाव को प्राप्त कर लेता है। अमन-भाव का अर्थ किया कि जब मन निरुद्ध हो जाता है। अर्थात् यहाँ वेदांत के ज्ञाननिरोध को नहीं ले रहे हैं क्योंकि उसे अगले श्लोक में भिन्न करके कहेंगे। यहाँ साख्यों का प्रसिद्ध अमनीभाव है। विवेकदर्शन अर्थात् सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्याति के द्वारा जब दीर्घ काल तक देखते रहो 'मैं अंतःकरण का साक्षी, मैं अंतःकरण का साक्षी' तो अंत में अंतःकरण निरुद्ध हो जाता है। यह सांख्य प्रक्रिया है। वेदांत के शुरू के अभ्यासी के लिये विवेक का अभ्यास बताते हैं। अथवा योगी की प्रक्रिया लेना 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' उनका अभ्यास है कि विष्णु शंकर आदि या अपने शरीर के अन्दर ही मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि किसी केन्द्र को ले लो और उसी के अन्दर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते करते मन स्पंदनरहित हो जायेगा। जहाँ मन स्पंदनरहित हुआ तो द्वैत-उपलब्धि नहीं होगी। इसीलिय भक्ति की चरम सीमा में पहुँचने पर होता है कि 'मैं ही श्याम हूँ' जैसे राधा कहती है कि 'मैं ही श्याम हूँ, तुम किस श्याम को ढूँढने जा रहे हो?' मन का स्पन्दन गया तो वहाँ द्वैत नहीं रह जायेगा। अभ्यास से मन स्पंदनरहित होगा। अथवा बार बार वैराग्य का अभ्यास करने पर भी मन पदार्थों से निकल जायेगा। विवेकदर्शन, अभ्यास, वैराग्य के द्वारा ही यह होगा। इस प्रकार से मन लीन अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किसी ने कहा कि आपने जो दृष्टांत दिया यह सांख्य, योगी, भक्तों को होता होगा, हम सीधे सादे आदमी हैं, हमारा मन कभी लय नहीं होता। अतः लय कुछ नहीं होता, वहाँ भी भक्तों को ज़रूर दीखता रहता होगा। इस पर कहते हैं कि तुम अपना ही अनुभव ले लो। तुमको जो रात में गहरी नींद आती है तो वहाँ कहाँ द्वैत-उपलब्धि है? ऐसे ही समाधि के अन्दर भी द्वैत की उपलब्धि नहीं। यह अनुभव से बता दिया। किसी ने ऊपर से शंका कर दी कि वहाँ आपको दीखता नहीं है, रहता ज़रूर होगा। यह आपको कैसे पता कि वहाँ द्वैत नहीं है? कहते हैं कि अभाव-बोध से ही किसी चीज़ के न होने की सिद्धि करोगे। अभाव की सिद्धि अभावप्रमाण से होगी क्योंकि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमेय तब सिद्ध हो जब तुम्हारे पास प्रमाण है। समाधि सुषुप्ति काल में आज तक जब किसी को द्वैत का अनुभव नहीं हुआ तब वहाँ द्वैत रहता है यह कैसे मान सकते हो? इसलिये द्वैत की असत्यता सिद्ध हो गई।।३१।।

Scanned by CamScanner

पहले जिसने यह शंका की थी कि 'द्वैत वहाँ नहीं है इसमें क्या प्रमाण', उसकी उस शंका का जवाब दे दिया। अब यह अपनी गूढ अभिसंधि को प्रकट करता है। पहली शंका तो उसके शिष्य की थी, यह शंका वह स्वयं करता है। कहता है आप हमारे सिद्धान्त का मतलब नहीं समझे। हम यह नहीं कहते हैं कि वहाँ द्वैत की उपलब्धि है। लेकिन आपने कहा कि वहाँ मन का अभाव है। तो मन नित्य पदार्थ है इसलिये मन नित्य होने के कारण अमन होना सम्भव नहीं। नैयायिक भी मन को नित्य ही मानता है और आप भी अधिष्ठान रूप से थोड़ी देर पहले मन को ही सत् रूप कह चुके हैं। जब मन नित्य है तो नित्य मन का अभाव असम्भव है। इसलिये निरोध काल में केवल यह हो रहा है कि आपका मन काम नहीं कर रहा है लेकिन उसे आप अमनस्ता या अमनी भाव नहीं कह सकते। यह हमारा असली तात्पर्य है। तब उसको जवाब देते हैं कि तुमने असली बात कही तो असली जवाब भी सुन लो।

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ।।३२।।

सुषुप्ति और समाधि के अमनीभाव को वास्तविक तो हम भी नहीं मानते। वह तो हमने समझाने के लिये कहा। हमारा जो अमनी भाव है वह अब बताते हैं। यह वेदांती का निरोध, वेदांत की समाधि है।

आत्मा ही सत्य है इस प्रकार का जब गुरु और शास्त्र के वाक्य से ज्ञान हो गया— गुरु शास्त्र वाक्य के उपदेश के पश्चात् ज्ञान होता है; ऐसा जब अनुबोध हो जाता है कि आत्मा ही सत्य है— तो फिर वह मन संकल्प किसका करे? हमारी जो अमनस्ता है वह यही है। वहाँ द्वैत का ज्ञान नहीं होता है, वह इसलिये कि ग्राह्य का अभाव है।

तुमने सुषुप्ति समाधि में मन को दबाया, ग्राहक को दबाया लेकिन यहाँ आत्मसत्यानुबोध होने पर मन को दबाया नहीं बल्कि पदार्थ ही सारे अग्राह्य अर्थात् ग्रहण के अविषय हो गये। इसलिये यहाँ मन पूर्ण रूप से जागरूक रहेगा। इसी को आगे जाकर कहेंगे कि इसीलिये ज्ञान-समाधि में स्वतंत्र प्रचार है। ज्ञान-समाधि में मन रुकता नहीं है, मन स्वतंत्र होकर काम करता है। ज्ञान-समाधि के अतिरिक्त जो समाधि है उसमें मन को रोका गया है इसलिये मन ने व्यवहार किया और उनकी समाधि गई। समाधि और व्युत्थान चलते रहते हैं। लेकिन यहाँ ग्राह्याभाव से मन अग्रह बनता है। व्यवहार काल में ही हम जानते हैं कि वह सब ग्राह्य नहीं है। इसलिये यहाँ स्वतंत्र प्रचार हो जाता है। इसीलिये यह सहज समाधि है जिसको कबीरदास जी ने कहा है 'आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ साधो सहज समाधि'। जो उसने कहा कि समाधि और सुषुप्ति में अमनीभाव नहीं बनता क्योंकि मन तो नित्य पदार्थ है, उसकी इस शंका का जवाब दे दिया।

Scanned by CamScanner

अब कहते हैं कि सिद्धान्त सुनो : आत्मा ही सत्य है तो फिर अनात्मा क्या है? जब यह कहा जाता है कि घड़ा इत्यादि सत्य नहीं है तो मतलब यह नहीं कि घड़ा इत्यादि सत्य नहीं है । उसका मतलब केवल इतना है कि घड़ा इत्यादि पारमार्थिक नहीं है। पारमार्थिक तो मिट्टी इत्यादि ही हैं। 'आत्मा सत्य' कहने से झट लोगों को बोध होगा कि अनात्मा इससे अलग होकर कुछ और होगा। इसलिये कहा कि मिट्टी की तरह समझना। उसी में श्रुति का प्रमाण दे दिया 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। तात्पर्य हुआ कि संकल्प विकल्प ही मन का रूप है। मन का व्यावहारिक लक्षण यही कह सकते हैं— 'संकल्पविकल्पात्मकं हि मनः'। संकल्प हमेशा संकल्प्य की अपेक्षा करेगा जिसका संकल्प करना है। जब संकल्प्य कोई नहीं रहेगा तो संकल्प का अभाव अपने आप हो गया। जब हम रसगुल्ले को जीभ पर रखकर स्वाद ले रहे हैं उस समय रसगुल्ले का संकल्प थोड़े ही है। वह तो ज्ञान हो रहा है। लेकिन जब उसके दो महीने बाद कोई कलकत्ते से आया तो 'वह रसगुल्ला लाया होगा' यह संकल्प है। संकल्प्य का अभाव होने से संकल्प होता ही नहीं।

मन रुक गया इसलिये नहीं, मन ज्ञान में इतना तल्लीन है कि उसको संकल्प आदि करने के लिये संकल्प्य को लाने की फुर्सत ही नहीं है क्योंकि वह वर्तमान क्षण में इतना डूबा हुआ है। अभी यह करता है कि जिस समय रसगुल्ला खाता है उस समय उसमें नहीं डूबता, बाकी समय कल्पना करता रहता है। जैसे लड़का जिस समय फुटबाल खेलता है तो सोचता है कि 'फिज़िक्स का काम कर लिया होता तो अच्छा था' और फिज़िक्स का काम करते समय सोचता है कि 'मैंने हाफबैक को पीछे कर दिया होता तो एक गोल ज्यादा हो जाता'। पढ़ते काल में खेल में और खेलते काल में पढ़ने में पहुँच जाता है, यह संकल्प्य हो गया। जो इस बात को समझ लेता है कि मन के स्पंदन के अतिरिक्त कुछ नहीं वह उस क्षण के आगे पीछे का कोई ख्याल करता ही नहीं। इसलिये मन संकल्प नहीं करता क्योंकि संकल्प्य का अभाव है। सब कुछ आत्मस्वरूप है ऐसा ज्ञान हो जाने से संकल्प्य का अभाव हो गया। अब मन की मनस्ता नहीं रही। मन का स्वनाश नहीं, स्वरूप से तो वह ब्रह्म ही है। बस उसका संकल्प्य रूप से व्यवहार बन्द हो जाने से उसे अब मन नहीं कहा जा सकता। स्फुरण होता रहेगा, वह कोई लूला लंगड़ा नहीं हो जायेगा! केवल ज्ञान होगा। लेकिन उसे पता है कि जो ज्ञान हो रहा है और जो ज्ञेय है वह सब आत्मरूप ही है।

यही बात श्रुति ने कह दी 'वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। घट आदि जितने हैं ये सारे कार्य वाणी के द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं। जिस जिस चीज़ का नाम रख दो बस वही वही चीज़ बन जाती है। 'विकारो नामधेयम्' यह सारा विकार सिवाय नाम के और क्या है? जिस चीज़ का जिस समाज में नाम होता है वह बंधन

Scanned by CamScanner

का कारण बनती है। और जिस चीज़ का तुम्हारे समाज को नाम पता नहीं वह बंधन का कारण भी नहीं बनती। बहुत से पदार्थ हम लोगों के बंधन का कारण नहीं होते हैं।

जैसे ग्लैडियोलस देखकर हमें बंधन होता है, सूर्यमुखी देखकर बंधन होता है, संकल्प होता है कि हम यह लगायें। कभी हिमालय में चले जाओ तो इन फूलों से अनेक अच्छे अच्छे फूल देखोगे। उनको देखकर आते हो तो बाद में उनका संकल्प नहीं होता है। ग्लैडियोलस नाम है तो उसके कारण बार-बार उसकी याद आयेगी। हमारे यहाँ अधिकतर फूल जो भारतीय हैं उनके नाम का हमें पता ही नहीं है तो उनका संकल्प भी नहीं होता। फूल ही नहीं, हमारे भारतीय कुत्तों का नाम नहीं, इसलिये उन्हें भी नहीं पालते। कोई यह नहीं कि जर्मनी में ही अच्छे कुत्ते होते हों, हमारे कुत्ते भी बड़े अच्छे अच्छे होते हैं, बड़े खूंखार होते हैं। लेकिन चूँकि उनका कोई नाम नहीं इसलिए कोई नहीं पालता; क्योंकि पाले तो पहले लोग कुत्ते का नाम पूछते हैं। कहना पड़ेगा 'देसी है, नाम पता नहीं, ऐसे ही रख लिया था।' दूसरा कहेगा 'मैंने एक जर्मन वूड्रो मंगाया है।' जिस चीज़ का नाम हो जायेगा वह बंधन का कारण बनेगी।

'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' सच्ची चीज़ तो वहाँ सिवाय मिट्टी के कुछ नहीं है इसमें यह श्रुति प्रमाण है। यह आत्मा ही सत्य है और स्पंदित होकर नाम-रूप के द्वारा अनेक रूपों में प्रतीत हो रहा है। शास्त्र और आचार्य के उपदेश के बाद इसका ज्ञान होता है। 'अनु' मायने पश्चात्। इसलिये इसको आत्मसत्यानुबोध कह दिया। अब जब यह आत्मसत्यानुबोध हो गया तो जिसका संकल्प किया जाये उसका अभाव हो गया। जब वह चीज़ ही नहीं रही तो मन संकल्प किसका करे? आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ का अभाव होने से मनःस्पंदन रूप ही पदार्थ है। जब यह जान लिया कि मन के स्पंदन से अतिरिक्त पदार्थ का अभाव है तो जब मन स्पंदन नहीं कर रहा, उस काल में उस पदार्थ के विषय में संकल्प बेकार है, हो नहीं सकता। अंग्रेजी की एक कहावत लोग तो बुरे अर्थ में प्रयोग करते हैं पर वेदन्ती अच्छे अर्थ में प्रयोग करता है `Out of sight out of mind' आँख से ओझल हुआ तो दिमाग से ख़तम। जो सामने आ रहा है वह स्पंदनरूप है। जो है ही नहीं उसका बिना मतलब मन में संकल्प बेकार ही क्यों करता रहे?

दृष्टांत दे दिया कि अग्नि तब तक जलती रहेगी जब तक लकड़ी है। जब लकड़ी खतम हुई तो अग्नि वहाँ उपलब्ध नहीं होती। दाह्य के अभाव में दाहक अग्नि का जलना भी खतम हो जाता है। अग्नि ख़तम नहीं होती। मूल के 'यदा' का अर्थ कर दिया जिस काल में यह जान लिया 'तदा' उसी काल में अमनस्ता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अमनी भाव को प्राप्त हो जाता है क्योंकि वहाँ कोई चीज़ है नहीं जिसका संकल्प किया जाये। वह जो मन है वह अग्रह है अर्थात् ग्रहण की विकल्पना से रहित है। इस चीज़ को पकड़ना है, ग्रहण करना है, जानना है, ऐसी विकल्पना से रहित है। जो है, वह मन का स्पन्द होने से जाना ही जा रहा है; और जो जाना नहीं जा रहा है, वह है नहीं।।३२।।

Scanned by CamScanner

अब झट एक शंका मन में आती है : आपने कहा कि जब दाह्य का अभाव हो गया तो अग्नि जलना बंद कर देती है। उसी प्रकार जब ग्राह्य का अभाव हो गया तो फिर मन किसी चीज़ को नहीं जानेगा। तो वहाँ सद् ब्रह्म है इसका ज्ञान कैसे किसी को होगा? मन जब हो तब जाने लेकिन जब मन रहा नहीं तो कौन और किसको जानेगा? यह शंका होती है। उसका जवाब देते हैं

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाऽभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ।।३३।।

सारी कल्पनाओं से रहित अज इस ज्ञप्तिमात्र को ब्रह्मवेत्ता लोग जानने योग्य ब्रह्म से अभिन्न बताते हैं। ब्रह्मरूप ज्ञान का ज्ञेय भी ब्रह्म ही है! ज्ञेयाभिन्न होने से ही वह अज और नित्य है। आत्मस्वरूप अज ज्ञान से ज्ञेय अज आत्मतत्त्व ख़ुद ही जानता है।

यह तत्त्व ऐसा है जो सारी कल्पनाओं से रहित है, अज भी है, ज्ञान भी है और ज्ञेय से अभिन्न भी है। वह ज्ञानस्वरूप है। जैसे यदि यहाँ पदार्थ हैं तो बिजली का लट्टू उन्हें प्रकाशित करता है। जब सारे पदार्थ चले जायेंगे तब क्या लट्टू बुझ जायेगा? अपने आपको तो प्रकाशित करता ही रहेगा। यह शंका नहीं बनती कि 'लट्टू का वहाँ प्रकाश नहीं क्योंकि है कौन सी चीज़ जिसको वह प्रकाशित कर रहा है?' कारण कि इस काल में भी बाकी सबको प्रकाशित करता हुआ वह अपने आपको प्रकाशित कर ही रहा है। जब सब चीज़ें चली जायेंगी तो बाकी चीज़ें हट जायेंगी लेकिन उसका अपने आपको प्रकाशित करना थोड़े ही हट जायेगा। इसी प्रकार से आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञेय से भी अभिन्न है इसलिये ज्ञान-ज्ञेयरूप है। जब बाकी सब चीज़ों का अभाव, संकल्प्य का अभाव हो गया तो भी वह अपने स्वरूप को अपने ही ज्ञान से प्रकाशित करता रहेगा। इसमें कहाँ रुकावट है? ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग बताते हैं क्योंकि अपनी समझ में यह बात नहीं आ सकती। क्योंकि हमने जब अनुभव किया मन के स्पंद का अनुभव किया। मन की स्पंदन-रहित अवस्था तब समझ में आये जब ब्रह्मवेत्ता कहे कि वहाँ अज्ञान नहीं है। साधारण आदमी समझता है कि वहाँ कुछ पता नहीं रहता होगा। ब्रह्म स्वयं ही ज्ञेय है और अज है, नित्य है, स्वयं अपने आपको जान रहा है।

यदि द्वैत असत् है तो किसके द्वारा अपना यह अज आत्मतत्त्व जाना जाता है? आत्मा का अवबोध कैसे? क्योंकि कोई व्यंजक नहीं रहा। मन व्यंजक था, और जब वह ही अमनस्ता को चला गया तो वह प्रकट कहाँ होगा? हरेक चीज़ मन अर्थात् बुद्धि आदि रूप अंतःकरण में रहकर ही प्रकट होती है। सारी कल्पनाओं से रहित हो जाने से व्यंजक मन का तो अभाव हो गया। अतः आत्मा का ज्ञान असंभव है। यह शंका है।

समाधान है कि स्वरूपभूत ज्ञान से ही आत्मा का अवबोध सम्भव है, अतिरिक्त मन की ज़रूरत नहीं। वह आत्मा अकल्पक है अर्थात् इसमें सारी कल्पनायें बाधित हैं।

Scanned by CamScanner

इसीलिये अज है क्योंकि सर्वकल्पनावर्जित है। कल्पनायें जितनी हैं सब जन्म वाली हैं। यहाँ ज्ञान का अर्थ कर दिया ज्ञप्तिमात्र अर्थात् अनुभूतिरूप है। बाकी सबको प्रकाशित करने के लिये सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा, सूर्य को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं। बाकी सब चीज़ों को जानने के लिये मन के स्पन्दन की ज़रूरत लेकिन मन को स्वयं अपने आपको जानने के लिये स्पंदन की जरूरत नहीं। इसलिये ज्ञान ज्ञप्तिमात्र, अनुभूतिमात्र है। ज्ञेय परमार्थ सत् ब्रह्म है और उससे वह एक ही है। उससे उसका कोई भेद नहीं है। स्वरूपभूत ज्ञान से ही उसका अवबोध हो जाता है। इसलिये अतिरिक्त मन की अपेक्षा नहीं। ब्रह्मवेत्ता लोग जिन्होंने ऐसा अनुभव किया है वे ऐसा कहते हैं। ब्रह्मवादी नहीं अर्थात् जो ब्रह्म के विषय में बोलने वाले हैं वे यहाँ गड़बड़ा जायेंगे। इसलिये कहा कि ब्रह्मवेत्ता लोग ऐसा कहते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रमाण देते हैं 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते'। याज्ञवल्क्य को मैत्रेयी कहती है कि 'यहीं आकर मैं मोह में पड़ गई, मुझे अविवेक हो गया, जब आपने कहा कि ये सब चीज़ें नहीं रहेंगी केवल ज्ञानस्वरूप रहेगा।' कहती है कि यहाँ तक की बात तो समझ में आई लेकिन यहाँ आकर बुद्धि चकरा गई कि कुछ है नहीं और ज्ञान हो रहा है, यह कैसे हो सकता है? तब याज्ञवल्क्य ने यह जवाब दिया कि जो जानने वाला है उसकी जो विज्ञाति अर्थात् जानने की शक्ति है वह कभी भी लुप्त नहीं हो सकती क्योंकि उसकी जानने की शक्ति तो हमेशा ही अविनष्ट रहेगी। हम लोगों के यहाँ से जाने से लट्टू बुझ ही गया ऐसा अगर मानोगे तो फिर तुम्हारे कमरे में आने से जल थोड़े ही जायेगा! जब तुम आते हो तो जला हुआ है इसलिये जब तुम नहीं थे तो अपने आपको प्रकाशित कर रहा था। इसी प्रकार जब ज्ञेय का अभाव होता है तो उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती। जब ज्ञेय सामने आया तो फिर उसे प्रकाशित करती है। दृष्टांत दिया कि जैसे आग की गर्मी कभी नष्ट नहीं होती। जलने वाली चीज न होने से जला नहीं पाती। भोजन न करो तो पेट की अग्नि कुछ नहीं करेगी। तुमको पुष्ट भी नहीं कर सकती। लेकिन वह नष्ट थोड़े ही हो गई! क्योंकि जैसे ही पेट में भोजन डाल देते हो वैसे ही फिर काम करने लगती है। तुम्हारी दियासलाई रखी हुई है। अब वहाँ चूँकि जलाने के लिये कोई चीज़ नहीं इसलिये नहीं जल रही है लेकिन जैसे ही तुमने जलने वाली स्थिति पैदा की वैसे ही भड़क उठती है। लकड़ी आदि में सारी अग्नि उसी अवस्था में है। जैसे ही मौका आयेगा वैसे ही फिर जला देगी।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ उसे स्पष्ट विज्ञानरूप और आनन्दरूप जताती हैं। आनंद एक ज्ञान का नाम है। जब अपने आपको जाना नहीं तो आनंदरूप कैसे कहोगे? ब्रह्म केवल दुःख का अभाव नहीं है। बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि ब्रह्म अवस्था में दुःख नहीं होता है बस। वहाँ तो परम सुख होता है। सुख भावपदार्थ है। अनुभव में भी यही आता है कि साधारणतः आदमी मान लेता है कि दुःख

Scanned by CamScanner

का अभाव सुख है लेकिन ऐसा नहीं है। भूख लगी है उसकी निवृत्ति जैसे कढ़ी चावल से वैसे ही मावे की कचौड़ी से होती है। भूख रूपी दुःख की निवृत्ति तो दोनों से एक जैसी है। फिर जो कचौड़ी खाने में सुख होता है वह दुःख का अभाव नहीं, वह सुख हुआ। दाल-भात से केवल दुःख-निवृत्ति, मावे की कचौड़ी से सुख उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार साहित्य है, काव्य है, पेंटिंग, म्यूज़िक आदि जितनी फाइन आर्ट्स हैं इन सबकी यही विशेषता है कि ये सब सुख देने वाली चीज़ें हैं क्योंकि केवल दुःख को नहीं हटाती। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति से यह बात स्पष्ट पता लगती है।

उसी का विशेषण होगा 'ब्रह्मज्ञेयम्' अर्थात् जो अज ज्ञान है उसीको ज्ञेय कह दिया। वह ज्ञेय ब्रह्म ही है। प्रायः आत्मा को ज्ञानस्वरूप और ब्रह्म को ज्ञेयस्वरूप और फिर 'अयमात्मा ब्रह्म' से दोनों की एकता बता देते हैं। जो ज्ञान वही ज्ञेय है। ब्रह्म अपना ही ज्ञेय है। जैसे आग और आग की गर्मी दोनों अभिन्न हैं। यह जो अपना आत्मस्वरूप है इसके द्वारा ही जो अज ज्ञान है, जो अज ज्ञेय है, उस आत्मतत्त्व को स्वयं ही जान लेता है। आत्मा स्वयं ही अपने को जान लेता है। किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता। इसमें दृष्टांत दिया कि जैसे सूर्य नित्य ही प्रकाश स्वरूप है, हमेशा अपने को प्रकाशित करता रहता है। वह अज नित्य-विज्ञान-एकरसघन है। विज्ञान ही एक रस है; जैसे नमक की डली में नमक ही नमक है वैसे ही इसमें विज्ञान भरा है। इसलिये दूसरे विज्ञान की अपेक्षा इसको जानने के लिये नहीं।।३३।।

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः सं तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ।।३४

विषयमात्र के अभाव से सभी कल्पनाओं से रहित जो निरुद्ध मन आत्मसत्यानुबोध वाला है उसमें प्रत्यगात्मा भासता रहता है, यही उस मन का 'प्रचार' है। इसके प्रति जागरूक रहना चाहिये। इस अवस्था में मन की स्थिति सुषुप्ति में मन की स्थिति के समान नहीं, भिन्न है।

यह बता चुके हैं कि सत्य आत्मा का अनुबोध होने पर अनात्मविषयों का अभाव हो जाता है अतः ईधनरहित आग की तह मन संकल्प न करते हुए प्रशान्त हो जाता है। यह भी कह चुके कि मन जब मन नहीं रह जाता तब द्वैत भी बचता नहीं क्योंकि मन का स्पन्दन ही द्वैत है। वहाँ जाकर फिर मन क्या करता है, किस प्रकार का आचरण करता है यह समझना चाहिये। किसी ने कहा कि 'क्या समझना है! जब मन निगृहीत हो गया, निर्विकल्पक हो गया तो जैसे सुषुप्ति में आदमी हो जाता है, वैसा ही हो जाता होगा।' इसलिये कहते हैं कि सुषुप्ति और इसको एक नहीं समझना, उसके साथ इसकी समानता नहीं। साधारण आदमी सुषुप्तिवादी बन जाता है कि यही असली चीज़ है। उसे

Scanned by CamScanner

पूजा के मंत्र का प्रमाण भी मिल जाता है 'निद्रा समाधिस्थितिः' वह समझता है कि ठीक ऐसे ही वहाँ भी कुछ पता नहीं चलता होगा। हमारे यहाँ लोग खूब भाँग गाँजा पीते रहते हैं। उन्हें निश्चय है कि पीकर एकदम वृत्ति लीन हो जाती है, ब्रह्मस्थिति हो जाती है। उनसे पूछते हैं कि भान क्या हुआ? कहते हैं 'वहाँ भान क्या होना है? निर्विकल्प ब्रह्म था।' लगता है हमेशा से कुछ लोग ऐसे होते रहे हैं। तब निषेध करना पड़ता है कि ऐसा नहीं समझ लेना।

यह क्यों समझना चाहिये कि ऐसी स्थिति में क्या होता है? जो होना होगा सो हो जायेगा। मोक्षशास्त्र और स्वर्गशास्त्र में यही तो फ़रक है। ज्योतिष्टोम को तो पूरी तरह से समझ लेना चाहिये। करोगे तो स्वर्ग जाओगे। आगे स्वर्ग में क्या होगा इसकी ज्यादा चिंता करने की ज़रूरत नहीं। स्वर्ग के लिये कोई ज्यादा चिंता की ज़रूरत नहीं। वहाँ जाओगे तो अपने आप पता लग जायेगा। इस प्रकार मोक्ष स्वर्ग की तरह परोक्ष नहीं है वरन् भोजन करने की तरह प्रत्यक्ष फल है। इसलिये अपने मन के प्रचार या आचार से, अर्थात् जितना जितना अपना मन उस प्रकार से आचरण करेगा उतना उतना अपने आप अपने को तृप्तिबोध होता चला जायेगा। गीता में भी स्थितप्रज्ञ के लक्षण, भगवद्भक्त के लक्षण और त्रिगुणातीत के लक्षण, इन तीनों को तीनों षट्कों में तीन प्रकार से कहने का मतलब यही है। इसलिये यह ज़रूरी है और स्वर्ग का वर्णन समझना ज़रूरी नहीं हुआ करता।

भाष्यकारों ने पहले की ही सारी बातें बताईं। आत्मा ही सत्य है इसके ज्ञान के द्वारा मनुष्य अब संकल्प तो करेगा ही नहीं क्योंकि सम्यक् ज्ञान से पता लग गया कि बाह्य किसी संकल्प के विषय का अभाव है। अतः निर्विकल्पक होने से मन उधर तो जायेगा नहीं। जब उधर नहीं जायेगा, संकल्प नहीं करेगा, तो फिर वह अपने आप ही प्रशांत और निगृहीत हो जायेगा। जैसे ईधन के ख़तम होने पर अग्नि शान्त हो जाती है ऐसे ही मन शांत हो जाता है। जब मन निरुद्ध हो गया तो उसकी मनस्ता हट गई। मन का स्पन्दन नहीं हुआ तो द्वैत का अभाव हो गया।

इस प्रकार मन निगृहीत हो गया अर्थात् रुक गया, निर्विकल्प हो गया, सारी कल्पनाओं से रहित हो गया। क्योंकि कल्पना के द्वारा ही द्वैत था, वह द्वैत अब नहीं रहा तो मन भी ख़तम हो गया। विवेक अर्थात् आत्मसत्यानुबोध होने पर उसका जो व्यवहार है वही उसका प्रचार है। वह प्रचार अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिये, ज्ञेय है। केवल प्रत्यगात्मा में ही उसका प्रचार होगा क्योंकि यही विद्वानों को प्रत्यक्ष होना है। इसलिये योगी अर्थात् जो इस प्रकार के विद्वान् हैं जिन्होंने आत्मसत्यानुबोध को समझ लिया है वे उसे समझ सकते हैं। जिसने अनुभव नहीं किया वह नहीं समझ सकता। जिसने अनुभव किया है वह समझ सकता है कि मन ठीक प्रचार कर रहा है या नहीं। इसलिये

Scanned by CamScanner

विद्वत्प्रत्यक्षता को प्रकट करने के लिये योगी कहा क्योंकि मूलकार ने यह नहीं कहा था। विशेष करके उसे समझना चाहिये जो आत्मसत्यानुबोध को प्राप्त कर चुका है।

कोई पूर्वपक्षी बीच में कहता है कि आप फालतू बात में हमको लगा रहे हैं। सारे प्रत्ययों का, प्रतीति का, अभाव हो जाने पर जैसे सुषुप्ति में स्थित आदमी के मन का प्रचार है वैसे ही निरुद्ध मन वाले का भी हो जायेगा, क्योंकि प्रतीति वहाँ भी नहीं है। प्रत्यय का अभाव रूपी हेतु दोनों जगह एक मिल गया तो दोनों एक ही हैं। यह शंका प्रायः लोगों की होती है। कहते हैं कि घण्टा भर समाधि लगाने से फ़ायदा क्या होगा, मतलब क्या सिद्ध होगा? सत्संग आदि किया और उसके बाद व्यापार में कुछ अच्छी तरह से झूठ बोलकर नफ़ा कर लिया तो समझते हैं कि सत्संग सफल हो गया! यदि कहा कि झूठ बोलना पाप है, तो जब सत्य बोलकर दो हज़ार रुपये का नुकसान हो गया तो सोचते हैं कि 'बेकार है, वहाँ जाकर कुछ नहीं होता!' इसलिये कहते हैं कि समाधि में क्या जानना है? जैसे नींद आती है ऐसे ही वहाँ भी चुपचाप बैठते होंगे। इसलिये वहाँ क्या जानना है?

इसका जवाब देते हैं कि निरुद्ध मन और सुषुप्त मन दोनों का प्रचार बिल्कुल अलग-अलग है। इसलिये इसे समझना चाहिये। बल्कि वहाँ इतना ज्यादा भेद है कि उन्हें एक समझना मुश्किल है। दोनों बिल्कुल अलग चीज़ें हैं। सुषुप्ति के अन्दर तो अज्ञान हो जाता है। जो अच्छा भला जाग्रत् काल में जान रहा था वह भी वहाँ नहीं जान पाता। अगर मकड़ी पैर पर मूत जाये तो सवेरे ही पता लगता है। वहाँ तो ऐसी अविद्याग्रस्तता है कि जो अच्छा भला जाग्रत् में दीख रहा था वह भी नहीं दीख रहा है। और वहाँ मोह अर्थात् चित्तभ्रम होता है। यह सुषुप्ति का फल बता रहे हैं। उस काल में तो पता नहीं, और उठने पर चित्त भ्रमित हो जाता है।

कई बार नई जगह उठो तो पता ही नहीं लगता कि किस तरफ दरवाजा है। एक सज्जन इधर के हैं लेकिन मद्रास में काम करते हैं। एक बार कहीं उन्हें गाड़ी बदलनी थी। पाँच सात घण्टे में वह गाड़ी आनी थी। वह वहीं स्टेशन पर सो गये और पत्नी से कहा कि सामान देखती रहना। अकस्मात् एक चोर उनकी अटैची उठाकर भागने लगा तो उसने पति से कहा 'उठो।' उठते ही उन्होंने पूछा 'क्या हुआ?' कहा 'चोर संदूक उठाकर भागा जा रहा है।' वह तो प्लेटफार्म की तरफ जा रहा था और ये नींद से उठे थे तो सामने ही पटरी की तरफ भागे और धडाम से नीचे जा गिरे! वह चोर तो भाग ही गया, उन्हें चोट और आ गई। सोचा पेटी अच्छी बचाई, सिर और फोड़ लिया। इतने बड़े गड्ढे को नहीं देखा। अस्पताल जाना पड़ा। बाद में हमने पूछा तो कहा कि होश ही नहीं रहा। इसलिये सुषुप्ति से उठने पर सामान्य चित्तभ्रम से भी ज्यादा हो जाता है। और सुषुप्ति के अन्दर 'तमोभिभूतः सुखरूपमेति' तम से अभिभूत हो जाता है। इसलिये वहाँ सर्वथा एक अंधकार की सी स्थिति है।

Scanned by CamScanner

इतना ही नहीं वहाँ अनेक अनर्थों की प्रवृत्ति का बीज भी छिपा हुआ बैठा है। इसलिये मूर्ख सुषुप्ति में जाता है तो उठने पर वैसा ही मूर्ख उठता है। ऐसा नहीं कि सुषुप्ति से बाहर निकले तो अंग्रेज़ी आ गई जो पहले नहीं आती थी। इसलिये अनर्थप्रवृत्ति के सारे बीज वहाँ अंतर्लीन गुप्त हुए पड़े हैं। उस समय प्रकट तो नहीं हैं लेकिन सारी वासनायें वहाँ पर हैं। प्रवृत्तियों के बीज अर्थात् संस्कार भी हैं और वासनायें भी हैं। तमाम दुनिया भर की कामनायें वहाँ छिपी हुई हैं। यह प्रचार तो सुषुप्ति में गये हुए मन का हो गया। इस व्यवहार से पता लग जाता है कि वहाँ अविद्या रह गई, वहाँ चित्त में मोह भी हुआ और उठने पर फिर वही प्रवृत्तियाँ हो गई। जो भाँग, गाँजा आदि लेकर समाधि लेते हैं और कहते हैं कि 'चार घण्टा समाधि में बैठे' तो देख लो कि ये उनमें मिलते हैं या नहीं। पता चलेगा कि सारे के सारे वैसे ही मिलते हैं जैसे पहले थे।

आत्मसत्य का अनुबोध तो मानो अग्नि है। उससे अविद्या जल गई है। जब उस निर्विकल्प अवस्था से, समाधि से, आता है तो उसकी अविद्या जल चुकी होती है। फिर प्रतीति नहीं कि मेरे अन्दर अविद्या है। अर्थात् अपने स्वरूप को समझ लेता है। अविद्या पहला पद और अनर्थप्रवृत्तिबीज अंत में कहकर संकेत कर दिया कि बाकी बीच की चीज़ें भी उसकी ख़तम हो जाती हैं। समाधि से उठने पर चित्त परम शांत हुआ होता है और अनर्थप्रवृत्तियों के बीज सारे जल जाते हैं। इसलिये उसकी कभी भी अनर्थ व्यवहारों में प्रवृत्ति होती ही नहीं। इस प्रकार निरुद्ध मन का अन्य ही प्रचार हुआ। सारे क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश अज्ञानसमेत नष्ट हो गये। उससे अहंता नष्ट हो गई, जानता है कि मैं कुछ नहीं, परमेश्वर ही परमेश्वर है। अहंता जब नष्ट हो गई तो पदार्थों के प्रति राग द्वेष और चीज़ों के प्रति आग्रह भी नष्ट हो गया। ये सर्वक्लेश रूपी रज ही मनुष्य के दोष हैं। ये जिसके निवृत्त हो गये वह प्रशांत अर्थात् अच्छी तरह शांत हो गया। तब समझना चाहिये कि समाधि हुई।

इसलिये समाधि के बाद जो मनःस्पंदन होता है वह वासना संस्कार इत्यादि से दबकर, परतंत्र होकर नहीं होता है। अभी प्रवृत्ति इच्छाधीन है लेकिन उसके बाद बिल्कुल स्वतंत्र होकर, बिना वासना-वेग में दबे हुए कार्य करता है। मन के अन्दर परतंत्रता का या स्वतंत्रता का अनुभव है, यह झट पता लग जाता है। इसलिये भगवान् ने गीता में जहाँ लोकसंग्रह कहा वहाँ भी एक विचित्र बात कही 'चिकीर्षुः' जबकि ऊपर 'कुर्यात्' कहा। 'चिकीर्षुः' अर्थात् यदि इच्छा हो। तो फिर 'कुर्यात्' कहने की क्या ज़रूरत? वहाँ इसलिये ही भगवान् ने दोनों विरोधी बातें कहीं कि वह अनुभव से करता तो है, लेकिन उसे यह अनुभव नहीं होता है कि 'श्रुति स्मृति की आज्ञा है इसलिये करूँ', वरन् लोकसंग्रह वह स्वतंत्र होकर करता है। इसलिये उसके अन्दर इच्छा स्वतंत्र होकर कार्य करती है। स्वार्थों से दबकर नहीं करता है। इसलिये दोनों एक नहीं।।३४।।

Scanned by CamScanner

यह बताया कि सुषुप्ति और समाधि एक नहीं हैं। वह अनेकता क्या है, उनमें भेद क्या है? यह स्पष्ट करते हैं

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ।।३५।।

सुषुप्ति अवस्था के अन्दर तो मन अविद्या इत्यादि जितनी भी चीज़ें हैं उनको लेकर लीन हो जाता है। लीन का मतलब नष्ट नहीं होता, समय आने पर फिर उससे पैदा हो जायेंगे। जैसे लहर समुद्र में गई तो लीन हो गई फिर समय आने पर लहर उदय हो जायेगी। और जब मन निगृहीत हो गया, समाधि की प्राप्ति हो गई, तब अविद्या के अन्दर वह लीन नहीं होता अर्थात् समाधि के अन्दर अविद्या इत्यादि सब नष्ट हो जाते हैं लीन नहीं होते। समाधि से उठने के बाद फिर फिर अगर वैसी ही जगत्-प्रतीति हुई तो सोते रहे हो। वह जो निगृहीत अवस्था में प्राप्ति होती है वह निर्भय अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म है अर्थात् चारों तरफ से वहाँ ज्ञान ही ज्ञान रहता है। सुषुप्ति से उठने के बाद 'मैंने कुछ नहीं जाना', समाधि से उठने के बाद 'मैंने सब कुछ जान लिया'। एक में तो पहले आँख कान से दीखता था वह भी बन्द हो गया और दूसरे में अनंतकोटि ब्रह्माण्ड हाथ में रखे आँवले की तरह हो गये। इतना फ़रक है।

लेकिन इतना याद रखना कि सुषुप्ति-ब्रह्मवाद वेदांत में चलता रहा है, क्योंकि आदमी विचार तो कर लेता है लेकिन अनुभूति करता नहीं है। बिना अनुभूति के जो उसका विचार है उसके अनुकूल शास्त्र को लगाना चाहता है। उसे सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होती तो वह कहता है कि सर्वज्ञता होती ही नहीं है। यह मध्यकाल के अन्दर बहुत चलता रहा है। लेकिन है यह ग़लत क्योंकि यहाँ स्पष्ट वाक्य है 'ज्ञानालोकं समन्ततः'।

भाष्यकार दोनों के फ़रक को स्पष्ट करते हैं कि दोनों प्रचारों में क्या भेद है। मन जब सुषुप्त हो जाता है, तब (अर्थात् उस कारण से) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि जितने भी प्रत्यय हैं, उनका जो बीज और वासनायें हैं उन सबके साथ तमोरूपता को प्राप्त हो जाता है। उसी में शंका होती है कि वह तमोरूपता क्या है? तम को प्रायः लोग जडरूप मानते हैं इसलिये कहा कि वहाँ केवल अविद्या इत्यादि सामान्य रह जाते हैं, उनका विशेष कार्य ख़त्म हो जाता है। इसलिये वहाँ आँख, कान आदि सब कुछ तम-रूप अर्थात् अज्ञानरूप हो गये हैं। यद्यपि जाग्रत् काल में भी सब कुछ अज्ञानरूप है लेकिन यहाँ वह अज्ञानरूप होता हुआ भी विशेष-अज्ञानरूप है कि 'मैं इस चीज़ को नहीं जानता' और सुषुप्ति में सामान्य है कि 'मैं किसी चीज़ को नहीं जानता।' जैसे जब घड़े का चूरा करके मिट्टी बना लिया तो मिट्टी अविशेष भाव को प्राप्त हो गई। यद्यपि उसमें बीजरूप घड़ा, सिकोरा इत्यादि सब चीज़ें हैं तथापि सामान्यरूप से हैं, विशेषरूप से नहीं। जब घड़ा इत्यादि बनाओगे तब फिर वे विशेष रूप से हो जायेंगे।

Scanned by CamScanner

जाग्रत् विशेष रूप, और सुषुप्ति अज्ञान की सामान्यरूपता हो गई। वही विवेक विज्ञानपूर्वक जब निरुद्ध हुआ, निगृहीत हुआ, तब वह लीन नहीं होता अर्थात् तमोबीज-भाव को प्राप्त नहीं करता। तम अर्थात् अविशेषरूप बीजभाव को यदि प्राप्त करेगा तो फिर समाधि से उठने के बाद जगत् की प्रतीति होगी। यह कार्य से पता लगता है। यदि फिर से राग-द्वेष आदि की प्रतीति हो गई तो अभी विवेक अर्थात् आत्मसत्यानुबोध नहीं हुआ। इसलिये बार बार स्थितप्रज्ञ आदि के लक्षण बताये। प्रचारभेद जानना इसलिये ज़रूरी है कि तब तक अभ्यास करो जब तक राग-द्वेष आदि की प्रतीति होती है। उसी कारण से यह भेद है इसलिये दोनों का अलग-अलग व्यवहार है। यह चीज़ बिल्कुल युक्तियुक्त है। जो मन समाहित हुआ और जो मन सुषुप्त हुआ दोनों का यह फ़रक स्पष्ट हो जाता है।

निर्भय ब्रह्म को कहने के बाद उसी को ज़रा और खोलकर कहते हैं कि क्यों वह निर्भय ब्रह्म है? अज्ञान के द्वारा ये दो मल पैदा होते हैं— एक ग्राह्य अर्थात् ज्ञेय और दूसरा ग्राहक अर्थात् ज्ञाता। ज्ञान के अन्दर अविद्या दोष से तुम ज्ञाता-ज्ञेय भेद करते हो। ज्ञान है तो किसी का ज़रूर है। इसी प्रकार समाधि काल में आदमी सोचता है कि वहाँ किसने जाना और किसको जाना? यही अविद्या है। यह ग्राह्य और ग्राहक रूप से अविद्या के द्वारा जो दो मल बनाये गये, उनसे रहित है। इसीलिये द्वैत नहीं रहा, केवल अद्वितीय ब्रह्म रह गया।

ग्राह्यग्राहकभाव-वर्जित होना ही ज्ञानरूपता है। यह बात समझकर भी भूल इसलिये कर जाते हैं कि ज्ञानस्वरूप को भी हम भाव 'का' ज्ञान समझ लेते हैं। घटज्ञान भावपदार्थ का ज्ञान है, घटाभाव का ज्ञान अभाव का ज्ञान है। यहाँ ज्ञाता ज्ञेय दोनों रहते हैं। जब कहते हैं कि समाधि में किसी चीज़ 'का' भान नहीं रहता, तब समझते हैं कि या तो भान ही नहीं रहता और या सुषुप्ति की तरह 'कुछ नहीं' का भान रहता है। जैसे बक्सा खाली हो गया या बक्सा भरा हुआ है ऐसे हम ज्ञान को मानते हैं— कुछ जाना था, कुछ नहीं जाना। लेकिन भाव और अभाव दोनों ज्ञानस्वरूप हैं इसलिये वह ख़ुद न भाव और न अभाव है। न घटज्ञान अर्थात् जगत् की प्रतीति के अन्दर कोई माया है, और न जगत् की अप्रतीति में मोक्ष है क्योंकि अप्रतीति में भी तो ज्ञाता-ज्ञेय का भेद पड़ा हुआ है जैसा प्रतीति में यह भेद पड़ा हुआ है। चाहे भावाकार वृत्ति हो चाहे अभावाकार, ज्ञानस्वरूप तो है ही। इसलिये अनेक ग्रन्थों में यह बताया 'मम तत्त्वं न जानन्ति भावाभावविवर्जितम्'। कुछ कहते हैं अभावरूप ब्रह्म को समझना चाहिये, कुछ पता नहीं लगना चाहिये। और दूसरे कहते हैं कि जगत्-प्रतीति अर्थात् भाव की उपलब्धि नहीं तो ब्रह्म प्रतीति कैसे होगी? लेकिन जो सच्चा तत्त्व मेरा है उसे नहीं जानते हैं कि वहाँ न भाव है और न अभाव है। जिसने यह जान लिया उसको उसकी प्राप्ति हो गई।

इसलिये कहते हैं कि वही निर्भय है क्योंकि द्वैतज्ञान के द्वारा ही भय होता है। कोई भिन्न होगा तो उससे भय की प्राप्ति होगी। द्वैतज्ञान के कारण जो भय होता है उसका अभाव ही अभय हो गया। इस विषय में श्रुति का प्रमाण दे दिया 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'।

Scanned by CamScanner

यह उपशांत ब्रह्म इसलिये अभय है क्योंकि जो इस तत्त्व को जान लेता है वह कभी किसी चीज़ से भय नहीं खाता। वह जो निर्भय ब्रह्म है वही बच जाता है, और कुछ नहीं।

शंका होती है कि यह जो आपने ब्रह्म बताया इस ब्रह्म का ज्ञान है या नहीं? यदि कहते हो ब्रह्म का ज्ञान है, तो किसी न किसी उपाय से होगा, क्योंकि ज्ञान उपायाधीन होता है जैसे आँख के अधीन रूप का ज्ञान है। यदि ऐसा कोई उपाय है तो अद्वितीयता नहीं रही, अतः वदतोव्याघात दोष होगा। यदि कहते हो ज्ञान नहीं है तो ब्रह्मज्ञान से पुरुषार्थ मोक्षको जो बताया है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। दोनों तरफ से गये।

समाधान करते हैं सुन्दोपसुन्द न्याय से। द्वैत को तो तुम समझ रहे हो। जब द्वैत हट गया तो वह अपने आप ही बच गया। वह ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञानमात्र ही बच जाता है। वही आत्मा का स्वभाव चैतन्य है। अंतःकरण के द्वारा चैतन्य में अस्वभावता आई। इसलिये अंतःकरण के द्वारा देखते हैं तो द्वैत दीखेगा। आँख के द्वारा रूप दीखेगा, कान के द्वारा शब्द सुनोगे। इन सबके द्वारा आत्मा का स्वभाव चैतन्य परिवर्तित हुआ प्रतीत होता है। जब वह बंधन नहीं रह गया तो केवल आत्मा का स्वभाव चैतन्य रह गया।

मूल श्लोक में जो ज्ञानालोक कहा था उस ज्ञान का अर्थ कर दिया कि यहाँ घट पट आदि के ज्ञानों की तरह होने वाले ज्ञानों को नहीं लेना। ये वृत्तिज्ञान हैं और वृत्तिज्ञान क्योंकि समाधि में नहीं रहेंगे इसलिये वृत्तिरहित ज्ञान अवस्था है। ज्ञप्तिशब्द इसलिये कहा कि घट पट आदि ज्ञान से व्यावृत्त करके बताया जा सके। वैसे भाषा की दृष्टि से ज्ञप्ति और ज्ञान में कोई फ़रक नहीं। लेकिन ज्ञान चूँकि रूढ शब्द है इसलिये यहाँ ज़रा अलग करके बता दिया कि आत्मा के स्वभावचैतन्य का नाम ज्ञप्ति है, उसी को यहाँ ज्ञान कह रहे हैं। जो वृत्तिरहित है वही प्रकाशरूप है। आत्मस्वभाव चैतन्य ही एकमात्र प्रकाश जहाँ रह गया वह ज्ञानालोक ब्रह्म हो गया। वहाँ केवल विज्ञान एकरसघन है, सिवाय विज्ञान के वहाँ कुछ नहीं अर्थात् अज्ञान का लेश नहीं।

वह सब तरफ निरंतर व्यापक रहता है। जैसे आकाश सब जगह भी है और हमेशा भी है। सर्वतः से देश और काल दोनों का ग्रहण कर लिया। प्रायः समंततः का अर्थ देशतः लेते हैं लेकिन यहाँ समन्ततः का अर्थ समंतात् करके सर्वदेश और सर्वकालों में जो हो, उससे तात्पर्य है। इसलिये कह दिया करते हैं कि आदि काल से जो कुछ भी हुआ है और अनंत देशों में जो कुछ भी होता है वह सब उसके लिये हाथ में रखे आँवले की तरह हो जाता है!।।३५।।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।।३६।।

Scanned by CamScanner

इसी ब्रह्म को बताते हैं कि यह कैसा है : अज है। 'अनिद्रम्' अर्थात् उसमें अविद्यालक्षण निद्रा नहीं है। 'अस्वप्नम्' अर्थात् अविद्यारूप दोष से दीखने वाला द्वैत नहीं है। 'अनामकम्' उसका नाम नहीं। नाम का कारण हुआ करता है जाति, क्रिया, गुण या सम्बन्ध; ये चारों उसमें न होन से उसका नाम नहीं। 'अरूपकम्' उसको किसी भी प्रकार से समझा नहीं जा सकता। वह तो केवल प्रकाशस्वरूप ही है। 'सकृद् विभातम्' एक बार ही अवभासित है। जैसे प्रौढ प्रकाश में रस्सी को देखा और हो गया। यह नहीं हो सकता कि थोड़ी रस्सी तो देख लो, दूसरी बार जब फिर देखोगे तब पक्का पता लगेगा; यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहाँ बतायी समाधि होने के बाद 'कुछ कुछ पलकारा तो हो गया अब और थोड़ा अभ्यास करोगे तो दृढ हो जायेगा', ऐसा कुछ नहीं। वह तो जहाँ अवभासित हुआ तो हुआ। जब तक नहीं हुआ तो नहीं होता है। यह सकृद्विभात का तात्पर्य है। उसी में सर्वज्ञता है और उसके बाद फिर कोई कर्त्तव्य नहीं बच जाता।

अजता के लिये कारण बता दिया कि जन्म के निमित्त या कारण का अभाव होने से ही वह बाहर अन्दर दोनों तरफ अज ही अज है। अविद्या के निमित्त से ही जन्म होता है यह रज्जु सर्प के दृष्टांत से हम पहले बता आये हैं। अविद्या के निमित्त से ही जन्म क्यों होता है? अविद्या क्या है? किसका जन्म होगा? जो जात है वह जात ही है उसका जन्म नहीं हो सकता। और जो अजात है वह अजात ही है, उसका भी जन्म नहीं हो सकता है। इस बात का जब तक मनुष्य ने विवेक नहीं कर लिया तब तक उसे लगता है कि जन्म है। जहाँ इस बात को समझ लिया कि जन्म किसी का नहीं बनता— जात है तो जन्म नहीं बनता, अजात है तो जन्म नहीं बनात; जब यह विचार मनुष्य ने समझ लिया— तो अविद्या हट गई। इसलिये अविद्या के कारण ही जन्म की प्रतीति है जैसे रस्सी में साँप। आगे कोई प्रश्न पूछे कि रस्सी से सर्प कैसे पैदा हुआ? तो बेकार सी बात है। सच्ची बात है कि पैदा हुआ ही नहीं।

आत्मसत्यानुबोध से अविद्या निवृत्त हुई, निमित्त की जब निवृत्ति हो गई तो नैमित्तिक अपने आप हट जायेगा इसलिये फिर चूँकि वह अज है, वही बच जाता है। अब जब आत्मसत्यानुबोध से अविद्या ही हट गई तो अविद्या के कारण होने वाली निद्रा भी अपने आप हट गई। निद्रा का अर्थ है अविद्या लक्षण वाली जो अनादि माया है वह; अज्ञान। 'अनादि' विशेषण इसलिये दिया कि ऐसा प्रतीत हो सकता है कि एक बार अविद्या आई तो फिर आ जायेगी। इसलिये अविद्या भी अज ही है। यदि जन्म वाली होगी तो फ़िर पैदा हो जायेगी।

अस्वप्न का अर्थ कर दिया कि वह जो स्वाप था अर्थात् द्वैतप्रतीति अविद्या के कारण होने वाली थी, उससे जग गया। अद्वय स्वरूप से जगा है इसलिये अस्वप्न हो गया। अप्रबोध (अज्ञान) के कारण ही नामरूप की प्रतीति थी, इसलिये ज्ञान होने के साथ ही रस्सी में साँप की तरह नामरूप दोनों नष्ट हो गये। इसलिये नाम के द्वारा ब्रह्म को नहीं

Scanned by CamScanner

कहा जा सकता और न उसको किसी भी प्रकार से निरूपित ही कर सकते हो कि 'वह इस प्रकार का है'। इसलिये उसका न नाम और न रूप है, वह दोनों से रहित है। इसमें श्रुति का प्रमाण दिया 'यतो वाचो निवर्तन्ते' क्योंकि वहाँ नाम रूप का अभाव है इसलिये वहाँ जाने से वाणी निवृत्त हो जाती है।

अब 'सकृद्विभातम्' को बताते हैं। वह सकृद्विभात है अर्थात् सदैव विभात है। एक बार जिसे वह ज्ञात हो गया, भात हो गया, तो फिर ऐसा नहीं होता है कि कभी न भी भासे। वह हमेशा ही विभात है क्योंकि वह सदा ही प्रकाशरूप है। उसके अन्दर कभी अग्रहण है नहीं अर्थात् वह कभी न जाने ऐसा नहीं। जिस समय मनुष्य बंधन काल में है तब भी उसे अग्रहण नहीं है क्योंकि 'मैं अज्ञानी हूँ' इस बात का ग्रहण ही हो रहा है। ज्ञान का लोप तो अज्ञान काल में ही नहीं तो ज्ञान काल में क्या होना है! अन्यथा ग्रहण भी नहीं इसलिये उल्टा भी नहीं समझता। पहले अज्ञान होने पर ही अन्यथाग्रहण था वह अब नहीं रहेगा। अग्रहण और अन्यथाग्रहण इसलिये नहीं है कि पहले होता यह था कि जब तक अंतःकरणरूप उपाधि के अन्दर अपने को जीवरूप से मानता है, समझता है, तब तक यदि अहंकारात्मिका वृत्ति के अन्दर भी ज्ञान हुआ तब तो समझता है कि 'मैंने जाना', और अहंकार की वृत्ति में यदि उसे ज्ञान नहीं हुआ तो समझता है कि 'मैंने नहीं जाना'। यहाँ टीकाकारों ने बहुत स्पष्ट विचार कर दिया है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य तो कहते हैं कि उपाधितादात्म्यापन्न होने से अहंरूप से ग्रहण का उदय न होने पर जीव अभिभूत रहता है और जब 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार अन्यथाग्रहण उदय होता है तो जीव का आविर्भाव हो जाता है। बिम्बस्थानीय ब्रह्म का तो उपाधितादात्म्य है नहीं अतः उसका न तिरोभाव है और न आविर्भाव। वह सदा ही विभात है। इस प्रकार भाष्य में यथाक्रम अन्वय मत लगाना। अग्रहण से तिरोभाव है, अन्यथाग्रहण से आविर्भाव है, लेकिन यह दोनों से रहित भारूप है। जब अहंकार की वृत्ति के होने न होने को ही अपना उदय अनुदय मान लिया है तो फिर अहंकार की वृत्ति के अन्दर ज्ञान होने पर ग्रहण और न होने पर अग्रहण। 'मैं' के साथ जब उसने एकभाव को प्राप्त किया तब जब 'मैं' को भान हुआ तो मानता है कि ज्ञान हुआ। हम यहाँ जानबूझकर 'मैं' इसलिये कहते हैं क्योंकि हिन्दी में प्रयोग होना चाहिये 'मुझे या मेरे को'; वह कहना इष्ट नहीं है। 'मैं' को ज्ञान हो गया तो कहता है कि ज्ञान हो गया और 'मैं' को ज्ञान नहीं हुआ तो कहता है कि नहीं हुआ क्योंकि 'मैं' के साथ एक हुआ है। जब 'मैं' ख़त्म हो गया तो फिर ज्ञान ही ज्ञान रह गया।

ग्रहण और अग्रहण ही रात और दिन हैं। सूर्य की अपेक्षा से जैसे रात दिन नहीं होते। सूर्य में उदय और अस्त की कल्पना हम लोग करते हैं। हम लोग सोचते हैं कि सूर्य ऊपर आ गया, नीचे चला गया, लेकिन सूर्य ऊपर नीचे नहीं आता-जाता, वह तो वैसा का वैसा रहता है। अगर पृथ्वी सामने आ गई तो उदय, और दूर चली गई तो कहते हो कि अस्त हो गया। ग्रहण हो गया तो दिन और अग्रहण हो गया तो रात्रि हो

Scanned by CamScanner

गई। इसी प्रकार जब तक गुरु और वेद का उपदेश नहीं मिला तब तक तुम मानते हो कि अभी मेरे लिये ब्रह्म अज्ञात है। जब गुरु और वेद का उपदेश मिल गया तब मानते हो कि ब्रह्म ज्ञात है। जैसे पृथ्वी के सूर्य के समाने आने पर सूर्योदय और सूर्य से दूर हट जाने पर सूर्यास्त मानते हो लेकिन ये सूर्य में नहीं, उसी प्रकार अहम् से सम्बन्ध वाला सोचता है कि 'अब तक मुझे उपदेश नहीं मिला इसलिये अभी ब्रह्म अज्ञात और अब मुझे गुरु-शास्त्र का उपदेश मिल गया तो ब्रह्म मुझे ज्ञात हो गया, ब्रह्म का उदय हो गया।' लेकिन ये दोनों कल्पनायें अहम् के सम्बंध से करते हैं। वस्तुतः जब होगा तब अहम् का सम्बन्ध न होने से उसका अनुभव यह नहीं होता कि 'मुझे ज्ञान है' वरन् 'मैं नित्य ज्ञानस्वरूप हूँ' यह अनुभव होता है।

कई बार लोग प्रश्न पूछते हैं 'कैसे पता लगे कि ज्ञान हो गया?' हमारा जवाब रहता है कि यह प्रश्न ही इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान हुआ नहीं। जैसे कोई पूछे कि पेट साफ हो गया यह कैसे पता लगे? जब पेट साफ होगा तो अपने आप ही पता लगेगा। ऐसे ही जब अविद्या मल निकल जायेगा तो अपने आप ही पता लगेगा कि ज्ञान हो गया, अविद्या निकल गई। जैसे रात दिन पृथ्वी के आगे आने और न आने से अंधकार और प्रकाश को लेकर हो गये, वैसे यहाँ भी। तम अर्थात् अज्ञान; 'मुझे ब्रह्म का ज्ञान नहीं' इसी का नाम अज्ञान है, अंधकार है। इसलिये जब तक यह अविद्या बैठी हुई है तब तक तो कभी भी इसे प्रबोध होता ही नहीं। जब अविद्या का अभाव हो गया तब वह नित्य चैतन्य प्रकाशरूप हो गया। इसलिये सकृद्विभात कहा। अर्थात् इसका ज्ञान बार बार नहीं होता।

यह बात ख़ूब याद रखना क्योंकि प्रायः लोग कहते हैं कि 'ज्ञान के बाद भी बार बार अभ्यास करते रहना चाहिये, नहीं तो ज्ञान ढीला पड़ जायेगा।' ज्ञान ढीला कभी नहीं पड़ता। ज्ञान के बीच में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, जो ढीला पड़े!

चूँकि वह केवल ज्ञानस्वरूप है इसलिये ही वह सर्वरूप भी है और ज्ञस्वरूप भी है; अर्थात् वह जो सब चीज़ों को जान लेता है तो अपने से भिन्न होकर नहीं जानता है, 'मैं सर्वरूप हूँ, मैं ही ज्ञानस्वरूप हूँ' यह इसकी सर्वज्ञता है। इसलिये इसको विराट् रूप का दर्शन नहीं समझ लेना। विराट् रूप के दर्शन में तो देखने वाला अलग और जिसको देखता है वह अलग है। विराट् रूप दिखाने वाले का जो अनुभव है वह यहाँ सर्वज्ञता हुई। भगवान् कृष्ण भी कहते हैं कि 'जो देखना चाहो मेरे में देख लो।' दीख तो अर्जुन को सब रहा है लेकिन उसे भिन्न दृष्टि से देख रहा है कि 'उस कृष्ण में मैं देख रहा हूँ'। कृष्ण को दीख रहा है कि 'जो चाहो देख लो' क्योंकि अभिन्न रूप से दीख रहा है। इसलिये कृष्ण का अभिन्नरूपता वाला दर्शन समझना, विराट् का दर्शन नहीं। इस प्रकार से जो ज्ञान प्राप्त कर लेता है ऐसे समाधिस्थ को ब्रह्मस्वरूप की अवस्थिति वाला बताया।

Scanned by CamScanner

जो लोग कहते हैं कि यह ज्ञान होने के बाद भी कुछ समाधि इत्यादि का अभ्यास करते रहना चाहिये, उनको कहते हैं कि जो इस प्रकार से निरुपाधिक स्वरूप को प्राप्त हो गया उसके लिये फिर कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। जब तक सोपाधिक है तब तक तो कर्त्तव्य रह जाता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये कुछ कर्त्तव्य बताया जाता है चूँकि उसे प्राप्त नहीं किये हुए हैं। भाष्यकारों ने व्यतिरेकी दृष्टांत दिया कि जिन अनात्म-वेत्ताओं ने अभी इसे प्राप्त नहीं किया, उनके लिये आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ न कुछ समाधि इत्यादि उपचार रह जाता है। उपचार कर्त्तव्य को ही कहते हैं जैसे भगवान् की षोडशोपचार पूजा में सोलह कर्त्तव्य हो गये, सोलह पदार्थ चाहिये। इसी प्रकार कहीं पंचोपचार पूजा, कहीं एकोपचार पूजा होती हैं। जैसे ये बाह्य पूजा के कर्त्तव्य, ऐसे ही ध्यान धारणा समाधि इत्यादि अंतः उपचार हो गये। लेकिन जो आत्मस्वरूप से स्थित हो गया उसके लिये ये सारे अनावश्यक हो जाते हैं। दूसरों के लिये ही वे कर्त्तव्य हैं। इसके द्वारा बताया कि ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वाला है। यह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव भगवान् भाष्यकार कई जगह कहते हैं कि वही नित्य, वही शुद्ध, वही बुद्ध और वही मुक्त है। नित्य को शुद्ध बुद्ध मुक्त के अन्दर विशेषण भी मानते हैं। अतः किसी भी प्रकार उसके लिये कर्त्तव्य संभव नहीं। अविद्या की दशा में ही सारे व्यवहार होते हैं। जब अविद्या ही नहीं तो व्यवहार सम्भव नहीं।

अब अविद्या के नष्ट हो जाने पर बाधितानुवृत्ति से जो व्यवहाराभास होता है वह व्यवहार नहीं व्यवहाराभास है। वहाँ कोई भी व्यवहार कर्त्तव्यबुद्धि से नहीं होता। व्यवहाराभास बाधितानुवृत्ति से होता है। व्यवहार के अन्दर सत्यत्व की अनुवृत्ति है और व्यवहाराभास के अन्दर सत्यत्व की अनुवृत्ति नहीं। जैसे जिसने रस्सी को देख लिया वह भी दूसरे को समझाते समय कहता है कि 'यह रस्सी का चौड़ा वाला हिस्सा है जो फण दीखता है।' यह कहते काल में भी वह जानता है कि यह फण नहीं है। कोई कहेगा कि 'उसे दीखता होगा तब कहता है', लेकिन दीखने पर भी पता है कि नहीं है। यह बाधितानुवृत्ति है। इसलिये वह व्यवहाराभास है। उसके लिये कर्त्तव्य नहीं। अविद्या हटाने के लिये कर्त्तव्यों की ज़रूरत पड़ती है, जिसकी अविद्या हट चुकी उसके लिये कोई कर्त्तव्य न चाहिये न है।।३६।।

सर्वाभिलाषविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ।।३७।।

ऐसे व्यक्ति के लिये किसी प्रकार के बाह्य करण अर्थात् इन्द्रियों का व्यवहार विगत हो जाता है अर्थात् निवृत्त हो जाता है। वैसे अभिलाप मायने वाणी का व्यवहार, लेकिन यहाँ वाणी से सभी प्रकार के बाह्य व्यवहार ले लेना। वह वाणी इत्यादि के सारे व्यवहारों से रहित हो जाता है।

Scanned by CamScanner

यहाँ एक चीज संस्कृत जानने वालों को खटक जायेगी कि इससे पूर्व के श्लोक में 'अजम् अनिद्रम्' इत्यादि कहकर नपुंसक लिंग का प्रयोग किया और यहाँ पुल्लिंग का प्रयोग कर रहे हैं। ब्रह्मविद् चूँकि ब्रह्म हो जाता है इसलिये विद्वान् के अभिप्राय से पुंलिंग का प्रयोग करके कहते हैं कि वस्तुतः अब जो वर्णन कर रहे हैं वह विद्वान् में प्रत्यक्ष हो जाता है। ब्रह्मविद् और ब्रह्म में कोई फ़रक नहीं है। अथवा ब्रह्म में कोई भी लिंग न होने से लिंग के प्रतिबंध को छोड़कर प्रयोग कर रहे हैं ताकि यह बात स्पष्ट हो। श्रुति भी 'स पर्यगाच्छुक्रम्' आदि प्रयोगों से यह तथ्य प्रकाशित करती है।

सारी चिंताओं से वह ऊपर उठा है। जितने भी मन के व्यवहार हैं उन सबसे ऊपर उठ गया अर्थात् फिर कभी किसी विषय की उसके मन में चिंता नहीं होती। चिंता हमेशा अज्ञात चीज़ को लेकर होती है। 'पता नहीं क्या होगा?' यही चिन्ता का स्वरूप है। अगर घटना का पता है तो उसके फल का पता नहीं, एक फल का पता है तो दूसरे फल का पता नहीं। साक्षात् फल का पता है तो परंपरया होने वाले का पता नहीं। इसलिये 'पता नहीं' बस यही चिन्ताओं का बीज है। किसी चीज़ से चिन्ता हो यह भी ज़रूरी नहीं, बस 'पता नहीं' इसलिये चिन्ता है। संसार के लोगों को चूँकि अविद्या रहती है इसलिये कहते हैं कि 'आपकी सारी बात सत्य तो है लेकिन कुछ बचकर रहना चाहिये।' उनके अन्दर भाव होता है कि 'क्या पता सत्य ही हो, तो?' वह चूँकि नित्य प्रकाशस्वरूप आत्मस्वरूप रहता है इसीलिये उसकी शांति कभी हटती नहीं। जो समाधि की अवस्था वाला है, वही अचल है, वही अभय है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि 'अनामकम्' आदि जो पूर्व श्लोक में कहा था उसी को सिद्ध करने के लिये यहाँ कारण बताते हैं कि क्यों वह नाम रूप आदि से रहित है। जिसके द्वारा अभिलपन किया जाये अर्थात् बोला जाये वह अभिलाप है। लप् धातु का अर्थ बोलना होता है। हिन्दी में लबाड़ी उसे कहते हैं जो ज्यादा होठ हिलाता रहे। रोने को विलाप कहते हैं या वार्तालाप इत्यादि प्रसिद्ध प्रयोग है। इसलिये जिसके द्वारा अभिलपन किया जाये वह वाणी हो गई। सारे ही प्रकार के जो अभिधान अर्थात् शब्द हैं उन सबका उच्चारण वाणी से होना है। ब्रह्म में वागिन्द्रिय नहीं, वह विगताभिलाप है। शङ्का हुई कि वाणी नहीं होगी, नाक आदि होंगे, वह केवल बोल नहीं सकता होगा? इसलिये कहते हैं कि वाणी से सभी इन्द्रियों का उपलक्षण कर लेना। किसी के मन में शंका आ जायेगी कि यदि सारे करणों की उपलक्षणा यहाँ कर लोगे तो फिर आगे सर्वचिंतासमुत्थित क्यों कहा? अतः मन को छोड़कर बाह्य करणों की उपलक्षणा वाणी से कर लेना।

सर्वचिंताका अर्थ कर दिया जिसके द्वारा चिंतन किया जाता है उसी को यहाँ चिंता शब्द से कहा है अर्थात् बुद्धि। उससे समुत्थित हो गया अर्थात् उसको छोड़कर ऊपर उठ गया। अंतःकरण से रहित वह है, यह अर्थ हो गया।

Scanned by CamScanner

शंका होती है कि चिंता शब्द से उपलक्षणा बुद्धि की करें, अभिलाप का अर्थ सारी इंद्रियाँ करें तो मूलकार ने सीधा ही क्यों नहीं लिखा? मूलकार किसी दृष्टि से इसे लिख रहे हैं। वह दृष्टि यह है कि दो चीज़ों से मनुष्य फँसता है। जो इस प्रकार के ग्रंथ पढ़ेगा वह विचारक ही होगा। या तो विचारक दूसरे विचारकों से वाद करने में पड़ जाता है अथवा 'हमने ब्रह्म समझ लिया अब दूसरों को समझायेंगे' इस चक्कर में पड़ जाता है। जब तक मन में ऐसी भावना रहे तब तक समझना कि अभी वादी हो। समाधि की स्थिति नहीं हुई। जैसे वाणी के व्यवहार से मनुष्य को वाद आदि करने की प्रवृत्ति रहती है वैसे ही अंदर ही अंदर चिंतायें करता रहता है। जब तक यह होता रहे तब तक अभिलाप से सारी इन्द्रियों को लेना इष्ट है और चिंता से बुद्धि अर्थात् अंतःकरण को लेना इष्ट है। लेकिन फलमुख शब्दों का प्रयोग कर लिया। क्योंकि जो इतना विवेकी होता है उसके दो ही बंधन रहते हैं; या दूसरों को समझाने जाता है, या मन में ही उठापटक करता रहता है, 'यह बात ज़रूर होगी, इसकी व्यवस्था बनानी चाहिये।' हरेक आदमी कमर कसकर बाहर अन्दर व्यवस्था बनाना चाहता है।

अन्तःकरणवर्जित में श्रुति का प्रमाण दिया 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' सारी इन्द्रियों से रहित है, मन अर्थात् अन्तःकरण से रहित है, शुभ्र है। 'परतः परः' कार्य से परे जो अक्षर, उससे भी परे, अर्थात् कार्य कारण दोनों भावों से रहित हो गया।

सारे विशेषों से रहित अर्थात् घट पट आदि विशेष ज्ञानों से रहित है। अथवा सारे विशेषों अर्थात् विषयों से रहित है, रूप रस आदि से रहित है। इसीलिये सुप्रशांत है। सकृत्-ज्योति अर्थात् सदैव ज्योति है। इसे पूर्व श्लोक में सकृद् विभात से समझा दिया कि आत्मज्योति रूप से हमेशा ही प्रकाशित है।

समाधि का अर्थ कर दिया कि समाधि की निमित्तभूत प्रज्ञा से समझा जाने वाला, अथवा समाधि से होने वाली प्रज्ञा से समझा जाने वाला। अनेक ज्ञानों को इकट्ठा करके जो एक ज्ञान हो जाता है उसे प्रज्ञा कहते हैं। जैसे तुमने यह जान लिया कि किसी भी समकोण त्रिभुज के अन्दर जो समकोण वाली दो भुजाओं का वर्ग है वह तीसरी रेखा के वर्ग के बराबर हुआ करता है, यह प्रज्ञा है। जब तक पता है कि इस त्रिकोण में ऐसा और इसमें ऐसा, तब तक वह प्रज्ञा नहीं, ज्ञान है। जब सारे त्रिभुजों को इकट्ठा ही समझ लिया तो प्रज्ञा हुई। उसी प्रकार समाधि से अनंत आदि ज्ञान आ जाता है इसलिये प्रज्ञा है। अब यदि कोई ऐसा नियम हाथ में आये कि संसार की सभी बातें समझ में आ जायें तो वह सम्पूर्ण प्रज्ञा है। समाधि के द्वारा ही जो आती है वह सम्पूर्ण प्रज्ञा है। अथवा दूसरा अर्थ करते हैं कि जीव-भाव और जीव-भाव की उपाधि दोनों इस ब्रह्म के अन्दर जला दिये जाते हैं अर्थात् प्रक्षिप्त कर दिये जाते हैं इसलिये परमात्मा ही समाधि है। न जीव और न जीवभाव की उपाधि रह जाती है।

Scanned by CamScanner

यह सर्वचलनों से रहित अर्थात् सारी क्रियाओं से रहित है। इसलिये अभय है क्योंकि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं। विकार ही भय हुआ करता है।।३७।।

●

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ।।३८।।

जहाँ चिन्ता नहीं वहाँ न पकड़ना है न छोड़ना। आत्मसत्यानुबोध हो जाने पर ज्ञान आत्मा में ही स्थित रहता है। वही जन्मरहित है, परम समता को प्राप्त है।

ऐसा जो अविक्रिय ब्रह्म है वह तुम्हारे किसी लौकिक और वैदिक शास्त्रों के द्वारा किसी की पकड़ में नहीं आता। तुम भारतीय हो इसलिये भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये मर मिटो। तुम ब्राह्मण हो इसलिये आग्निहोत्र करते ही रहो। ये दोनों ही मनुष्य को पकड़ते हैं। वहाँ कोई पकड़ नहीं हो सकती अर्थात् किसी भी चीज़ का वहाँ ग्रहण नहीं है। फिर सब छोड़कर आलसियों की तरह पड़ा रहता होगा? ऐसा नहीं, वह कोई चीज़ नहीं छोड़ता। वहाँ उत्सर्ग भी नहीं। न किसी को छोड़ना और न किसी को पकड़ना। छोड़ना भी लौकिक शास्त्रों से प्राप्त हो जाता है जैसे 'अमुक चीज खाओ, अमुक चीज़ न खाओ'। 'न खाओ' यह छोड़ना प्राप्त हो गया। ऐसे ही शास्त्र से कुछ करना व कुछ नहीं करना प्राप्त होता है। किन्तु इसे न कुछ लेना है, न कुछ देना है, न कुछ करना है, न कुछ नहीं करना है। उसको कोई चिंता नहीं है। जिस काल में जो चीज़ आ गई सो आ गई। दिल्ली से लोग आते हैं, 'आबू जायेंगे, महीना भर रहेंगे तो वहाँ करेंगे क्या' — यह एक चिंता हुई। या आबू में रहने वाला दिल्ली जायेगा तो सोचेगा कि 'वहाँ जायेंगे बड़ी झँझट में फँस जायेंगे।' लेकिन उसे न यह चिंता है कि दिल्ली जायेंगे तो फँस जायेंगे और न यह चिंता है कि आबू जायेंगे तो क्या करेंगे। जब ऐसी स्थिति हो जाये तो समझ लेना कि तुम्हारा ज्ञान आत्मा में संस्थित हो गया।

शुरु में प्रतिज्ञा की थी, इसी प्रकरण के दूसरे श्लोक में, 'अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्'। जो अजाति और समता की प्राप्ति की प्रतिज्ञा की थी वह यहाँ आकर पूरी कर दी, अर्थात् उस प्रतिज्ञा का उपसंहार कर दिया।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्म ही समाधि स्वरूप है। इसीलिये अचल है, अभय है, यह पूर्व श्लोक में बता दिया। इसलिये उस ब्रह्म में किसी प्रकार का विधि निषेध का ग्रहण भी नहीं है। यह नहीं कि ब्रह्म की, इस समाधि की, प्राप्ति होने के बाद यह कर्त्तव्य है। ऐसी कोई पकड़ नहीं है। उसमें कुछ छोड़ना भी नहीं है। ज्ञान होने के बाद न कोई नया कर्त्तव्य प्राप्त होना है और न किसी चीज़ को छोड़ना ही है। जहाँ किसी न किसी प्रकार का विकार हो, कोई न कोई परिवर्तन हो, तो उस विकार के विषय को लेकर कुछ ग्रहण और त्याग होता है। जैसे तुम ब्रह्मचारी से गृहस्थ बने तो कुछ विकार हुआ। पत्नी घर में आ गई तो नया ग्रह हो गया कि कमाना पड़ेगा, नहीं तो भीख माँगकर

Scanned by CamScanner

गुज़ारा करते। कुछ त्याग भी करना पड़ेगा। पहले जटाजूट बाँधते थे अब बाल कटा दिये। इसीलिये समावर्तन के समय बाल कटा दिये जाते हैं। यहाँ विकार को ही हेतु बना दिया। अभयता में विकार हेतु पूर्व श्लोक में दिया था। इसलिये ग्रह उत्सर्ग दोनों ब्रह्म मे होना सम्भव नहीं हैं। प्रश्न होता है कि कुछ तो फ़रक होता होगा? क्योंकि बाहर फ़रक जब तक न आये तब तक लोगों के मन में बात बैठती नहीं। जवाब देते हैं कि विकार का हेतु कोई दूसरा है नहीं तो फिर वहाँ क्या परिवर्तन आना है! दूसरा हेतु उसी विक्रिया-रहितता में दिया कि वह निरवयव है इसलिये भी विकार संभव नहीं। इसलिये वहाँ न कोई हान और न कोई उपादान है।

यह दूसरी बात लोगों को समझने के लिये बड़ी कठिन है। लोग हमेशा ग्रह और उत्सर्ग को ही सोचते रहते हैं। ज्ञानी पूरा राज्य भी चला सकता है। इसलिये ज्ञानी की अवस्था बताते हुए कहा है 'कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ। वशिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः समाः।।' कृष्ण ने १६१०८ रानियों से ब्याह किया, कृष्ण भोगी और शुकदेव त्यागी थे उन्होंने एक भी ब्याह नहीं किया। जनक और राम राज्य करते रहे और वशिष्ठ अंत तक कर्म करने में लगे रहे। ये पाँचों ही ज्ञानी एक जैसे हैं। इसलिये यह नहीं कि ज्ञानी राज्य नहीं चला सकता, हवन नहीं कर सकता, भोग नहीं कर सकता या त्याग नहीं कर सकता। पाँचों का ज्ञान एक जैसा है। उसमें हान-उपादान नहीं है।

बात यह है कि उसे कभी भी किसी भी चीज़ की चिंता नहीं है। कृष्ण ने १६१०८ ब्याह कर लिये और बाद में आवश्यकता पड़ी तो सब लड़के-बच्चों को मर जाने दिया। यह हुआ 'चिंता यत्र न विद्यते'। नहीं तो आदमी सोचता है कि 'बच्चा आख़िर हमारा ही है, नालायक है तो डाँट दिया; किसी की जान थोड़े ही मारी जाती है?' ज्ञानी जान भी मार देगा! बस यही फ़रक है कि किसी भी प्रकार की चिंता उसे सम्भव ही नहीं होती। जहाँ पर मन-रहितभाव को प्राप्त हो गया वहाँ कहाँ हान-उपादान की चिंता होगी? हो ही नहीं सकता कि इसे छोड़ो, इसे पकड़ो।

महर्षि याज्ञवल्क्य जब जनक के पास गये तो जनक ने उनसे पूछा कि 'आप पैसा अर्थात् गायें (क्योंकि गाय ही उस समय का धन था) लेने आये हैं या ब्रह्मविद्या का विचार करने आये हैं?' याज्ञवल्क्य ने कहा— 'राजन्! दोनों के लिये। ब्रह्मविद्या नहीं सिखाऊँगा तो तू पैसा किस बात का देगा, और मुझे पैसा न लेना होता तो घर छोड़कर आता ही क्यों?' और ज्ञान नहीं होगा तो हान उपादान हैं : पूछें कि 'भूख लगी है तो भोजन करोगे?' वह कहेगा 'इस शरीर को अन्न की ज़रूरत है।' वह तो हम भी जानते हैं। भूख लगी है तो लगी है। इसलिये किसी भी प्रकार की चिंता की वहाँ सम्भावना ही नहीं है।

'आत्मसंस्थम्' का अर्थ कर दिया कि जब आत्मसत्यानुबोध हो गया तब उस समय ही वह आत्मसंस्थ हो गया। यहाँ यह आत्मसंस्थ इसलिये नहीं कि मन को आत्मा में रोक कर रखा है बल्कि आत्मा से भिन्न विषय हैं ही नहीं। जो भी विषय आता है उसे

Scanned by CamScanner

आत्मरूप से देखता है। जैसे आग की गर्मी आग में रह जायेगी ऐसे ही जब कोई विषय नहीं तो वह ज्ञान आत्मा में ही स्थित है। अजात का अर्थ कर दिया जन्मवर्जित है। 'समतां गतम्' अर्थात् वह परम समता को प्राप्त हो जाता है, किसी भी प्रकार का भेद नहीं रह जाता।

इस अध्याय के प्रारंभ में जो प्रतिज्ञा की थी कि अकार्पण्य को बतायेंगे उसके विषय में युक्तियाँ भी दीं और वेद के प्रमाण भी दिये। इस प्रकार उस विषय का उपसंहार कर दिया। किसी ने कहा कि आपने प्रतिज्ञा तो की थी 'अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्।' इसमें अकार्पण्य को तो आपने बताया ही नहीं। आधी बात बताकर आधी छोड़ क्यों गये? कहते हैं कि अजाति समता आदि से जो भिन्न है वही कृपणता है। अकार्पण्य तो तद्रूप ही है इसलिये उसके द्वारा बता दिया। जब कह दिया कि वहाँ किसी प्रकार का ग्रहण और त्याग नहीं है, तो यह अकार्पण्य बता दिया। कृपण तो चीज़ों को ग्रहण करता है। जब कोई चीज़ है ही नहीं तो अपने आप ही अकार्पण्य की प्राप्ति हो गई। जैसे 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' कहकर बता दिया 'मा गृधः'।

कोई पूछता है कि कृपणता तो धन के लेने देने के विषय में प्रसिद्ध है और यहाँ तो कुछ और ही अर्थ आपने कर दिया? कहते हैं कि हमारे यहाँ उपनिषदों में अर्थ कुछ और ही चलते हैं। श्रुति ने कृपण का अर्थ ही यह किया है 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः' जो इस अक्षर को बिना जाने इस संसार में मर जाता है वही कंजूस है। क्योंकि संसार के मोह के कारण संसार का त्याग नहीं किया इसलिये परमात्मा नहीं मिला। जो इस संसार को पकड़े रहें वे कृपण जाति के लोग हो गये और जिसने इस तत्त्व को जान लिया वह कृतकृत्य हो गया। उसी को हमारे यहाँ उपनिषदों में ब्राह्मण कहा गया। इसलिये जिसने जान लिया वह ब्रह्म और जिसने नहीं जाना सब कृपण मक्खी चूस बने रहे।।३८।।

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।।३९।।

वेदान्त विज्ञान से रहित जितने योगी हैं सभी के लिये सर्वसम्बन्धनिवृत्ति का कारण अद्वैतानुभवरूप अस्पर्शयोग बहुत मुश्किल से मिलने वाला है। है यह अभय लेकिन इसमें भय समझते हुए योगी इससे डरते हैं।

जो विषय उठाया था उसका उपसंहार कर दिया। बाकी के श्लोकों में खिल के रूप में बताना है। अद्वैत तो सिद्ध हो गया जिसकी प्रतिज्ञा की थी। अब साधन रूप से कुछ चीज़ों को बताना है। उस खिल को प्रारंभ करने के लिये कहते हैं कि यद्यपि यह

Scanned by CamScanner

बात जैसी हमने बताई वैसी ही है लेकिन जो लोग कुछ न कुछ अपना आपा बचाये रखना चाहते हैं वे योगी हुए। जो अस्पर्शयोग का उपदेश किया वह श्रवण मनन न करने के कारण उनके अनुभव में नहीं आता, उनके लिये यह कठिन पड़ जाता है। इसमें कठिनाई क्या है? ब्रह्म तत्त्वतः अभयरूप है और इनको लगता यह है कि हम ब्रह्म में चले गये तो हमारा अहम् तो गया। अहम् को ही वे अपना स्वरूप माने बैठे हैं। इसलिये उन्हें लगता है कि हम ही मर जायेंगे। ब्रह्म जो अभय है उसके अन्दर उन्हें भय लगता है इसलिये योगी लोग इससे डरते रहते हैं। तात्पर्य हुआ कि जो ऐसे डरने वाले हैं उनके लिये उपायांतर बताते हैं। जो इस अद्वैत ब्रह्म में स्थिति नहीं कर पाते लेकिन वेद आदि सच्छास्त्रों में श्रद्धा वाले हैं उनको इसका मार्ग बताना चाहिये। उसी को आगे बताते हैं। परमार्थ ब्रह्मस्वरूप में संस्थिति रूप जीवन्मुक्ति को देने वाला अद्वैत दर्शन है तो सभी इसको मानकर ज्ञान में स्थित क्यों नहीं हो जाते? क्योंकि इस से डरते हैं। जैसा हमने कहा वैसा ही परमार्थ तत्त्व है लेकिन फिर भी जो इसमें स्थित नहीं हो पाते उनके लिये यह अस्पर्शयोग मुश्किल है। इस योग को अस्पर्शयोग नाम से कहा जाता है। इसी को भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं। स्पर्श का मतलब सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से रहित होने से इसे स्पर्शवर्जित कहा। यह वर्णसम्बन्धों से रहित है। इसलिये ब्राह्मण इससे बहुत डरते रहते हैं कि हमारा ब्राह्मणत्व ही निकल जायेगा! उपनिषदों में बड़ी सुन्दर कथा कही है। दध्यङ्ङाथर्वण महर्षि के पास जाकर इन्द्र ने ब्रह्मविद्या का उपदेश लिया। उन्होंने उपदेश देना शुरू किया। सुनाते सुनाते एक जगह कहा कि 'इन्द्र का पद कुत्ते के समान है।' झट इन्द्र ने कहा 'बस बस रहने दो, हो गया उपदेश। आगे भी किसी को ऐसी बात कही तो मारकर सिर काट दूँगा।' इसी प्रकार कृष्ण को उदंक (उत्तंक) महर्षि ने कहा था कि 'मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश या अमृत दो।' भगवान् ने कहा 'इन्द्र से कह देंगे, वह तुम्हें दे देगा।' उन्होंने इन्द्र से कहा कि 'यह अमृत चाहता है, दे दो।' इन्द्र को देना तो नहीं था क्योंकि जानता था कि अधिकारी नहीं है। उससे कहा कि 'एक बार ही देने आऊँगा, ले लिया तो ठीक नहीं तो फिर नहीं दूँगा।' इन्द्र ने एक चाण्डाल का रूप धारण कर लिया और एक मटके में पेशाब करता हुआ उत्तंक महर्षि के पास आया, कहा 'यह अमृत पी ले।' उसने कहा— 'बस बस रहने दे। मैं तुझ चाण्डाल का पेशाब पियूँगा?' उसने जब छोड़ दिया तो वह इन्द्र बन गया। कहा कि 'मैं तो तेरे को अमृत दे रहा था तूने ना कर दिया।' ब्राह्मण हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि निश्चय चले जायेंगे इस भय के कारण कहता है कि बड़ा कठिन मामला है।

यहाँ आनंदगिरि स्वामी लिखते हैं कि यह वर्णाश्रम आदि धर्म भी एक पाप का मल ही है। ये सब ज़रा कड़वी बातें हैं। पाप का मल इसलिये है कि जो जितना नीचा होता है उसको अभिमान कम होता है। उसको छूटने में उतना खतरा नहीं लगता। किसी चाण्डाल से कहो कि 'तेरा चाण्डालपना हट जायेगा' तो वह बड़ा प्रसन्न होगा। लेकिन

Scanned by CamScanner

ब्राह्मण से कहो कि 'तेरा ब्राह्मणत्व मिट जायेगा' तो सोचता है कि गज़ब हो गया, यह चला गया तो रह क्या जायेगा? सारे धर्मशास्त्र तो कहते हैं कि बड़े पुण्यों से इसकी प्राप्ति होती है। लेकिन आनंदगिरि स्वामी कहते हैं कि यह भी एक पाप मल है क्योंकि इसमें से निकलना मुश्किल हो रहा है। व्यास जी ने महाभारत में एक वाक्य कहा 'धन्यः शूद्रः धन्याः स्त्रियः'। शंका की गई कि ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि स्त्री और शूद्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के सारे टण्टे नहीं। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि को सारे टंटे लगे हुए हैं, इसलिये वृत्ति वहाँ स्थिर नहीं होती है। ये बातें सुनने के साथ ही लोगों को बड़ी घबड़ाहट होती है। लेकिन इस योग में अपने को सभी सम्बन्धों के स्पर्श से रहित करना पड़ता है।

इसे स्मृतियों के अन्दर 'अस्पर्श योग' नाम दिया गया है। अद्वैत का अनुभव ही अस्पर्श है। उपनिषदों में अस्पर्शयोग ऐसा नाम तो नहीं दिया गया, लेकिन 'असंगो ह्यय पुरुषः' अथवा 'न कर्मणा लिप्यते पापकेन' आदि शब्दों से जिसे उपनिषदों में कहा गया है उसी को इकट्ठा करके 'अस्पर्श योग' नाम स्मृतियों में दे दिया गया। इसलिये कोई भिन्न योग नहीं है। स्मृतियों में इस नाम से मिलता है, उपनिषदों में प्रसिद्ध है ही।

उसको समझना कठिन है। इसका मतलब यह नहीं कि इसका ज्ञान होता नहीं होगा, लेकिन दुःख से होता है। यह नहीं कि कोई थप्पड़ मारे, उससे दुःख होकर तब होता होगा। दुःख होता है अर्थात् जो कर्मनिष्ठ बहिर्मुख लोग होते हैं उनके लिये अन्तर्मुखता ही बड़ी कठिन है। बहिर्मुखी को बाहर का काम बताओ तो झट लग जायेगा लेकिन अंदर की चीज़ करने के लिये उसे बड़ा परिश्रम पड़ता है, नहीं कर सकता। अर्थात् कर्मनिष्ठों के लिये, बहिर्मुखों के लिये यह अत्यंत कठिन होता है। वे फलरूप से हर चीज़ को बाहर ही देखना चाहते हैं और बाह्य फल रूप से इसकी प्राप्ति नहीं होती। सारे ही योगियों के लिये यह कठिन है अर्थात् जो वेदांत में बताये हुए विज्ञान से रहित हैं उनके लिये अत्यंत कठिन है। ज्ञानी को भी कई जगह योगी कह देते हैं, उन्हें यहाँ नहीं लेना। वेदांत में प्रत्यग्भूत ब्रह्म को प्रत्यगात्मा रूप से, परमार्थ रूप से बताया, वही कूटस्थ सच्चिदानंद रूप है लेकिन मूढता के कारण वे नहीं समझ पाते हैं। उन्हें वेदांतश्रवण भी करवाओ तो भी उनकी बुद्धि वहाँ मोह में पड़ जाती है, उलटा पुलटा समझते हैं। उन्हें कोई जप इत्यादि करने को कहो तो लग जायेंगे, लेकिन विचार की बात से उन्हें मोह हो जाता है। जो तो आत्मसत्यानुबोध के लिये श्रवण मनन आदि प्रयत्न करते हैं उनको तो प्राप्त हो ही जाता है इसमें संदेह नहीं। इसलिये दुर्दर्श का मतलब सभी के लिये दुर्दर्श नहीं बल्कि जो श्रवण मनन करने में असमर्थ हैं उनके लिये दुर्दर्श है। उन्हें इसकी प्राप्ति नहीं हो पाती। सारे भयों से रहित होने पर भी उन्हें लगता है कि इसका अभ्यास करेंगे तो हम ही कुछ नहीं रह जायेंगे, हम ही नष्ट हो जायेंगे। उनका आत्मा हुआ कि 'हम शिरोधार्य हैं, वेदपाठी हैं, हम ब्राह्मण हैं, हमारी परम्परा हज़ारों सालों से शुद्ध रही

Scanned by CamScanner

है। आप कहेंगे कि 'जैसे तुम वैसे चाण्डाल'। तो यह नहीं जँचता, कुछ तो ऊँचा मानो ही। 'मैं कर्मी हूँ, मैं योगी हूँ' यह अभिमान नहीं छोड़ पाते। कई बार काशी में ऐसे ब्राह्मण कहते हैं कि 'संन्यासी तो बन जाऊँ लेकिन आपकी पंक्ति में तो ब्राह्मणेतर भी बैठ जाते हैं। यह न हो तो काम बन जाये।' हम उनसे कहते हैं कि फिर तुम संन्यास किस बात का करोगे? उनका आश्रम संन्यास तो बना जाता है जिसमें दण्ड आदि ले लेते हैं, तो अभिमान सुरक्षित रह जाता है। अभिमान हटने की बात आये तो सोचते हैं कि अपने ही नष्ट हो जायेंगे। दूसरा भय यह लगा रहता है कि अपने कर्मों को छोड़कर इसमें जायें और कहीं यह भी ठीक नहीं हुआ और नरक चले गये तो! इसलिये कहते हैं कि इस प्रकार भय के निमित्तों को इकट्ठा करके अपना नाश ही देखना जिनको बार बार जँचता है वे अविवेकी हैं। उन्हें अस्पर्शयोग तभी मिलेगा जब श्रवन-मनन का कष्ट उठायेंगे। यही दुःख झेलना पड़ेगा। और कोई रास्ता नहीं है जिससे संसाररूप कीचड़ के स्पर्श से भी बच जायें। क्योंकि यह योग केवल आगे के लिये मुक्त नहीं करता, यह तो अस्पर्श योग है, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों में बंधन का स्पर्श भी न हो— यह इस योग का फल है।।३९।।

●

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ।।४०।।

शुद्ध बुद्धि वाले किंतु कर्मानुष्ठान में निष्ठावाले सभी योगियों को जो समस्त भय की निवृत्ति का साधन आत्मदर्शन होता है वह मनके निरोध के अधीन होता है। दुःखराहित्य, प्रबोध और अक्षय शांति भी उन्हें मन के निग्रह पर टिकी हुई प्राप्त होती है।

उत्तम दृष्टि वालों का जो प्रधान प्रकरण था वह समाप्त हुआ। उत्तम दृष्टि में अद्वैतदर्शन, अद्वैतदर्शन-प्रयुक्त ज्ञेयाभाव और ज्ञेयाभाव-प्रयुक्त मनोनिरोध हुआ। हीन और मध्यम दृष्टि वाले लोगों को यह ज्ञान दुर्दर्श होने से उनके लिये मन के निरोध के अधीन ही आत्मदर्शन होता है। उत्तम दृष्टि वालों का तो अद्वैतदर्शन-प्रयुक्त ज्ञेयाभाव से मन का निरोध और हीन व मध्यम दृष्टि वालों का मनोनिरोध हो तो तत्प्रयुक्त आत्मदर्शन हो। यही पंचदशी के ध्यानदीप प्रकरण का बीज है। जहाँ मनोनिरोधप्रयुक्त आत्मदर्शन होगा वहाँ ज्ञान नहीं होगा और ज्ञान न होने के कारण यावज्जीवन उन्हें निरोध करते रहना पड़ेगा। इस प्रकार के योगी हीन या मध्यम दृष्टि वाले हैं। ऊपर भी 'दुर्दशः सर्वयोगिभिः' कहा था; अर्थात् ज्ञानियों को छोड़कर सारे ही योगियों के लिये अभय पद की प्राप्ति मन के निग्रह के अधीन है। मन निगृहीत हो गया तो लगता है आत्मस्थिति है और जहाँ मन प्रवृत्त हुआ वे समझते हैं कि हमारी आत्मदृष्टि हट गई। इसलिये उन्हें

Scanned by CamScanner

आनंदस्वरूप होने से वह आनंद हमेशा ज्ञात रहेगा, अभिव्यक्त रहेगा। वह शांति स्वभावतः अर्थात् विद्यास्वरूप सामर्थ्य से, उन्हें अनायास ही प्राप्त होती है। इस प्रकार के जो जीवन्मुक्त लोग हैं उनकी यह स्थिति किसी अन्य के अधीन होकर नहीं है, किसी दूसरे साधन से नहीं है। ऐसा नहीं है कि ऐसा करो तब शांति और फिर अशांति है। पहले इसीलिये कह आये हैं कि उनके लिये किसी भी प्रकार का उपचार अर्थात् कर्त्तव्य नहीं रह जाता। यह एक पक्ष विद्वानों का हो गया।

जो तो दूसरे हैं, जो कर्मानुष्ठान में निष्ठा वाले और शुद्धान्तःकरण वाले हैं; अंतःकरण शुद्ध होने पर भी 'कुछ न कुछ करना है, बिना किये कुछ नहीं हो सकता, या उपासना करो या कर्म करो, कुछ तो करो', जिनके मन में यह बैठा हुआ है इसलिये शुद्ध बुद्धि होने पर भी कर्मानुष्ठान में जिनकी निष्ठा है; वे योगी हो गये। वे योगी ज्ञान में अधिकार वाले नहीं हैं। खूब शुभ कर्म, शुभ उपासना कर ली और उस अनुष्ठान के फल से ही उन्हें ब्रह्म में प्रीति हो गई, ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा वाले बन गये हैं। अंतःकरण शुद्ध होने पर भी उनकी दृष्टि हीन और मध्यम बनी रहती है इसलिये तत्त्वज्ञान उनके अंदर उत्पन्न करना सम्भव नहीं। अगर उन्हें तत्त्वज्ञान करा दिया जाता तब तो मनोनिग्रह की ज़रूरत नहीं पड़ती। लेकिन उनकी हीन मध्यम दृष्टि होने से उनमें तत्त्वज्ञान संभव ही नहीं।

यह हीन और मध्यम दृष्टि क्या है, उनमें ज्ञान संभव क्यों नहीं है? उनको हमेशा लगता है कि मन से आत्मा अलग है, यही हीन मध्यम दृष्टि है! आत्मा से मन को सचमुच अलग मानते हैं, सच्चा मानते हैं। कहोगे फिर उन्हें ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? ज्ञान इसलिये नहीं हो पाता कि एक तो श्रवण आदि की सामर्थ्य सब में नहीं होती क्योंकि श्रवण के लिये श्रद्धा पुष्कल चाहिये और वह सबमें नहीं होती। वेद ने कह दिया जगत् नहीं है। बोलने को तो बोल देंगे 'जगत् नहीं है' लेकिन श्रद्धा पुष्कल नहीं होने से लगता रहता है वेद ने तो कह दिया, ठीक है, लेकिन कुछ मतलब होगा, इतना बड़ा जगत् दीख रहा है! श्रवण की पूर्णता नहीं हो पाती, षड्विधलिंग से तात्पर्य निर्णय नहीं हो पाता। योग्य गुरु आदि की उपलब्धि नहीं हो पाती। इसी प्रकार कुछ लोगों का श्रवण हो जाता है तो मनन प्रतिबद्ध हो जाता है। उनके संदेह दूर नहीं हो पाते या उनके अन्दर मनन करने की सामर्थ्य नहीं होती। इसलिये 'मन आत्मा से अतिरिक्त आत्मा में कल्पित है', यह ज्ञान केवल शब्द से उपदेश देकर पैदा नहीं किया जा सकता। रस्सी में जो साँप दीख रहा है उसको चाहे जितना हम तुमको समझायें 'यह रस्सी है', लेकिन यदि रोशनी में तुमको रस्सी नहीं दीखी तो काम नहीं बनेगा।

यदि तुमको रोशनी पर ही संदेह हो जाये तो? और होता है संदेह। रस्सी में साँप के दृष्टांत में चाहे न हो, लेकिन एक कपड़ा बढ़िया नीले रंग का है, देखते ही संदेह हो जाता है कि कहीं ट्यूबलाइट के कारण ही तो नीला नहीं दीख रहा है? अगर यह

Scanned by CamScanner

मन में आ गया तो यह संदेह निवृत्त कैसे होगा? और मान लो उसके सिवाय अन्य कोई प्रकाश है ही नहीं। अब दृष्टांत को एक कदम आगे ले लो। कपड़ा सफेद कहीं इसलिये तो नहीं दीख रहा है कि सूर्य का प्रकाश सफेद है? यह संदेह किसी को हो गया तब सूर्य के प्रकाश से अतिरिक्त प्रकाश लायें कहाँ से? उसका वह संदेह कभी नहीं हटेगा।

इसी प्रकार 'क्या पता वैदिक ऋषियों को जो जँचा सो लिख गये; वैदिक ऋषियों ने जो लिखा वह ठीक ही है इसें क्या प्रमाण?' तब तो ज्ञान हो लिया। क्योंकि वेदातिरिक्त दूसरी कोई रोशनी नहीं इसलिये ऐसे लोगों को ज्ञान सम्भव नहीं। योग्य गुरु नहीं मिला, श्रवण मनन की सामर्थ्य नहीं होती आदि कई कारण होते हैं।

ऐसे लोगों को यह तो समझ में आता है कि 'जब मन शांत तो मैं शांत', इसके लिये तो वेद प्रमाण की ज़रूरत नहीं। यह तो अनुभव से पता लग जाता है। सुषुप्ति के अन्दर मन नहीं होता है तो दुःख नहीं होता है। इसी प्रकार समाधि में मन नहीं है तो दुःख नहीं है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। लेकिन मन दुःखाकार होते हुए भी यह मन तो कल्पित ही है, यह बिना वेद को प्रमाण माने नहीं हो सकता। इसलिये मन से भिन्न आत्मा से व्यतिरिक्त आत्मसम्बन्धी मन है ऐसा जो देखते हैं यही उनकी हीन मध्यम दृष्टि है। हैं तो वे शुद्ध; कर्म उपासना करने वाले होने से उनका अंतःकरण शुद्ध हो गया, संसार के प्रति आसक्ति नहीं है, लेकिन जो मन छलकता है इसको नहीं मना पाते। उन्हें आत्मसत्यानुबोध नहीं हो सकता।

उनको तो मन के निग्रह के अधीन ही अभयपद की प्राप्ति है अर्थात् मन का निग्रह है तो अभयपद, नहीं तो अभयपद नहीं। जब तक जीवन है, मन तो उछलता ही रहेगा। इसलिये जन्मभर समाधि का अभ्यास करते करते मृत्युक्षण में भी वही स्थिति रह गई तो अंतिम स्थिति के अनुसार ही उन्हें आगे प्राप्ति हो जाती है, लेकिन उन्हें मृत्युक्षण तक सावधान बने रहना है। वे ज्ञानी की तरह स्वतंत्र प्रचार नहीं कर सकते। इसलिये मनोनिरोध के अधीन ही उनका कैवल्य है यह तात्पर्य हो गया।

उन्हें जो दुःख की निवृत्ति है वह भी मनोनिग्रह की अपेक्षा से ही है। मन अगर निगृहीत है तो दुःखक्षय और जहाँ मन वापिस आया, फिर अपने को दुःखी समझ लेते हैं। जो अविवेकी लोग हैं अर्थात् आत्मसत्यानुबोध से रहित लोग हैं, उनका मन आत्मसम्बन्धी है। अपने आत्मा से सम्बन्ध वाले मन के प्रचलित होने पर उनके दुःख का क्षय नहीं हो सकता क्योंकि वे आत्मा और मन को सम्बन्ध वाला समझते हैं। इसी प्रकार उनका जो आत्मप्रबोध है वह भी उनके मनोनिग्रह के अधीन है। जब उनका मन निगृहीत हो गया तो लगता है कि आत्मप्रबोध है, आत्मा का स्फुरण हो रहा है, और मन चल गया तो कहते हैं कि फिर अनात्मा का स्फुरण हो गया। इसी प्रकार उनकी जो अक्षय मोक्षरूप शांति है वह भी मन के निग्रह के अधीन ही है।।४०।।

Scanned by CamScanner

उन मुमुक्षुओं का वह मनोनिग्रह कैसे सिद्ध होता है? मनोनिग्रह करने वालों का मामला बड़ा कठिन है, बहुत लम्बा चौड़ा रास्ता है—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ।।४१।।

जिस प्रकार घास के एक तिनके को लेकर एक एक बूँद करके सारे समुद्र को सुखा डालना है ऐसा ही मन का निग्रह है। मन का क्या ठिकाना? इसमें अनंत जन्मों के सारे संस्कार पड़े हैं। एक आयेगा उसको विचार जाग्रत् कर, विवेक कर, दूर करो। वह सूखा तब तक दूसरा आ गया। ऐसे ही मृत्युकाल तक यह मनीराम कुछ न कुछ करता ही रहता है। जैसे कुश के अग्रभाग से समुद्र को सुखाना कठिन है वैसे ही मन का निग्रह भी कठिन है। लेकिन इसमें लगे रहना चाहिये बिना कोई खेद किये हुए क्योंकि हीन मध्यम दृष्टि वालों को कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। अगर मृत्युक्षण तक लगे ही रहेंगे तो अंतिम काल में वैसी वृत्ति होने से ब्रह्मप्राप्ति भी हो ही जायेगी। 'अपरिखेदतः' अर्थात् कुछ दिन करके कहे कि 'इतने दिन हो गये कुछ नहीं हुआ', यह खेद न करे और मृत्युक्षण तक लगा रहे।

उनका मनोनिग्रह ऐसा है जैसे घास के तिनके से एक एक बूँद करके समुद्र को सुखाने का प्रयास है। एक बूँद निकली फिर समुद्र वैसा का वैसा। शोषण तक लगा रहे, उद्योग करता ही रहे। पंचतंत्र मे टिट्टिभ पक्षी की कथा प्रसिद्ध है। उसके अण्डे समुद्र ने चुरा लिये तो वह चोंच से पानी निकाले और ज़मीन पर लाकर डाले। उसने निर्णय किया कि ऐसे ही समुद्र सुखा दूँगा। और भी पक्षी उसके सहायक बन गये। अंत में गरुड को पता चला तो वे आये। उनके पंखों में जो प्रलयंकर वायु है उससे वे समुद्र सुखाने लगे तो अब उसे सूखना ही था। वह तुरंत माफी माँगने आ गया और अण्डे लौटा गया। इसलिये उद्वेग न करे कि 'हाय! हुआ नहीं, दस साल हो गये मन वैसा का वैसा है।' उद्योग में ढील न करे, उद्वेग होने न दे। होता यह है कि आँख मिची तो अंधकार, आँख खुली तो फिर संसार; फिर मिची तो फिर संसार गया। दोनों तरफ से वही मामला है। इसी प्रकार मन को निरुद्ध करो तो लीन अवस्था हो जाती है, कुछ पता नहीं लगता। फिर उसको छेड़ो तो जगत्-प्रतीति होने लग जाती है। यही क्रम चलता रहता है।

अंतःकरण अवसन्न अर्थात् दुःख, उद्वेग वाला नहीं हो जाये। इसका उपाय क्या है? 'अनिर्वेदात्।' अर्थात् 'संसार को हम अनादि काल से भोगते रहे, इस संसार में अनादि काल से संसार में लगे रहे तो क्या मिला? ऐसे ही इस जन्म में शांति नहीं तो अगले जन्म में, उसमें भी नहीं तो फिर अगले जन्म में मिलेगी।' इस प्रकार खेद किये बिना लगा रहता है तब होता है।

Scanned by CamScanner

हीन मध्यम दृष्टि वाला इस में टिक नहीं पाता। जैसे उत्तम दृष्टि वाला बनने के लिय उसके पास श्रवण मनन नहीं, ऐस ही इसमें टिकने के लिये धैर्य नहीं। वह थोड़ी देर में घबरा जाता है। प्रायः हमने देखा है कि इसलिये वृद्धावस्था में जाकर लोगों की वृत्तियाँ फिर संसार को विषय करने लग जाती हैं क्योंकि दस बीस साल में एक तरह का परिखेद आ जाता है कि इतना किया कुछ नहीं हुआ, आगे क्या पता क्या होता है, क्या नहीं होता है!।।४१।।

●

उपायेन निगृहणीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ।।४२।।

योगी को चाहिये कि कामना या भोग करने से मन को रोके। लयावस्था में प्रसन्न हुए मन को भी लयावस्था से हटाये। लय भी कामना की तरह ही हेय है। यह सब अभ्यास उपायपूर्वक करना चाहिये।

इस प्रकार मन के निग्रह रूप से समाधि का जो अभ्यास करने वाला है वह धीरे धीरे इस तत्त्व के साक्षात्कार के प्रतिबंधक लय, विक्षेप और कषाय से उपायों द्वारा मन को दूर करे। ये उपाय गुरुमुख से समझने पड़ते हैं, इसलिये कोई एक उपाय सब के लिये काम नहीं करता। मोटा मोटी तो यहाँ कुछ संकेत कर देंगे, लेकिन जो विशिष्य प्रतिबंधक हैं उनके लिये उपाय गुरु से पता लगाना पड़ता है। इसलिये कहा उपाय करके करे, केवल ज़ोर ज़बर्दस्ती से काम नहीं चलता। अन्यथा समाधि की सिद्धि ही नहीं होती।

किसी का काम और भोग के अन्दर मन विक्षिप्त है तो इसका भी उपाय करना चाहिये। सबको एक जैसी कामना नहीं होती। किसी की स्त्री विषयक, किसी की पुत्रविषयक, किसी की धनविषयक कामना होती है। किसी की स्वादविषयक, किसी की शब्दविषयक, किसी की स्पर्शविषयक कामना होती है। अनंत कामनायें हैं। इनमें से कौन-सी कामना किस को पकड़ ले इसका कोई ठिकाना नहीं है। ज्यादा कामना दुःखदाई वह होती है जो किसी भी समाज में स्वीकृत कामना है। यह साधक की दृष्टि से ठीक से समझना। जैसे मान लो अपने महात्माओं के अन्दर भोजन के स्वाद को लेकर अधिकतर समालोचना नहीं होती। ईसाइयों के साधु समाज में स्वाद विषयक कामना को बड़ा दोष माना जाता है। इसलिये जब वे भोजन करने बैठते हैं उस समय कोई न कोई ग्रन्थ का पाठ एक व्यक्ति करेगा और कहीं भी बीच में रोककर खाने वालों से अकस्मात् पूछ लिया जायेगा कि 'कौन सा अंतिम शब्द था' जो नहीं बोल पायेगा वह भोजन छोड़कर उठकर चला जायेगा। इसलिये ध्यान सारा इस बात पर लगाना पड़ता है कि क्या बोला जा रहा है। उनके भोजन का समय भी सीमित होता है। इसलिये प्रायः उन्हें देखोगे कि भोजन विषयक स्वाद का नियंत्रण हो जाता है। यह इसलिये हो जाता है कि बार-बार उसपर

Scanned by CamScanner

जोर दिया जाता है। अपने यहाँ उस पर ज़ोर नहीं देते। अपने समाज में किसी को यदि भोजनविषयक अभिलाषा है तो वह उसकी मुश्किल से छूटती है। हम लोगों में स्त्री-सम्बन्धी किसी की इच्छा हो तो बहुत बुरी मानी जाती है। इसलिये स्त्रीविषयक इच्छा तो मनुष्य झट दबा लेगा और जीत भी लेगा, उसका उपाय भी ढूँढ लेगा, क्योंकि वह जानता है और सारा समाज जानता है कि बुरा है। लेकिन भोजनविषयक कामना में ऐसा न होने से उसमें रुकावट नहीं आती।

हर समाज में कुछ बुरी चीज़ों को कम महत्त्व दिया जाता है और कुछ बुरी चीज़ों को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। हमारे गृहस्थ समाज में किसी के बीस लड़के हो जायेंगे तो बुरा नहीं माना जाता है क्योंकि अपनी ही पत्नी है। विदेशी उसे भी कामविषयक बुराई मानते हैं। लोभ को हमारे समाज में बुरा माना ही नहीं जाता। किसी गृहस्थ को अगर यह कहो कि 'यह दूसरों की औरतों के साथ दुर्व्यवहार करता है', तो सब कहेंगे कि 'महा गयाबीता है।' लेकिन अगर कहें कि 'इस विषय में किसी को लोभ है, नरक जायेगा', तो यह नहीं जँचता। दूसरी औरत को बिगाड़ा तो नरक जायेगा यह जँच जाता है। तुम्हारा काम ब्लैकमार्किटिंग के बिना नहीं चलता, उसका दूसरी औरत के बिना नहीं चलता! लेकिन यह कहाँ जँचता है? अपने को जँचता है कि वह बुरी चीज़ है यह बुरी चीज़ नहीं है। इसलिये प्रत्येक समाज का कुछ रूप होता है, उस रूप में कुछ बुरी चीज़ें चलती हैं, कुछ नहीं चलतीं। दूसरी तरफ विदेशियों के अन्दर तलाक देकर दूसरे की औरतों से शादी कर लेते हैं कोई समालोचना नहीं होती, लेकिन लोभ को वे बुरा मानेंगे। उनके यहाँ चोरी, घूसखोरी कम होती है।

जो दोष जिस समाज को स्वीकार्य होते हैं वे कठिनाई से निकलते हैं। इसीलिये सबका उपाय भी अलग-अलग होगा। जैसे अपने यहाँ भोजन के विषय में नियंत्रण करने के लिये ऐसा नियम करवा देते थे कि भोजन को पानी से धोकर खाओ। अथवा एक ही खप्पर रखो, उसी में मीठा नमक सब मिलाकर खाओ। जिसे स्वाद प्रतिबंधक है उसके लिये यह हो गया। जिसके लिये स्वाद का प्रतिबंधक नहीं है उन्हें मान या क्रोध प्रतिबंधक हो सकता है। जिसका जो प्रतिबंधक उसको वह हटाना है। जो उसके लिये प्रतिबंधक ही नहीं है उसको यदि छोड़ा तो क्या छोड़ा? इसलिये उपाय गुरुमुख से ही जानना पड़ता है। कामनायें अनंत हैं और हरेक की निवृत्ति का उपाय अलग-अलग होगा। एक उपाय से काम नहीं चलेगा। सामान्य नियम तो बता देंगे लेकिन किस विशिष्ट परिस्थिति में कैसे लगाया जाये, यह सबके लिये अलग-अलग होगा।

उपाय के द्वारा ही मन जब लीन होने लगता है, नींद सी आने लगे, उससे भी मन को हटाये। वह भी उपाय से, क्योंकि लय भी लोगों का भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। सबका एक जैसा नहीं होता है। यह लयावस्था और ज्यादा ख़तरनाक है क्योंकि लयावस्था बिल्कुल नींद की अवस्था नहीं समझ लेना। जब भी मन लीन हो जाता है

Scanned by CamScanner

तो अत्यधिक प्रसन्नता या हर्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये मनुष्य इसे अच्छा समझता है। इसीलिये इस लयावस्था के लिये भाँग, गाँजा, सुलफा आदि द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। कहते हैं 'मस्त बैठे हैं, दुनिया की परवाह नहीं।' उन्हें उसमें प्रसन्नता होती है तो धन आदि की तरफ उनकी प्रवृत्ति कम होती है। लोग कहते हैं कि 'बड़े वैराग्यवान् हैं, इन्हें कुछ नहीं चाहिये।' उनसे कहें कि 'भाँग छनती है, वह क्या है?' तो कहते हैं कि 'वह तो बूटी मिल जाती है इसलिये ले लेते हैं।' अब भगवान् गौडपादाचार्य सावधान करते हैं। जैसे काम (कामना) वैसे ही लय है, इसमें कम ज्यादा दोष वाला कोई नहीं है। इसलिये समाधि की सफलता के लिये उपाय पूर्वक लगना पड़ता है नहीं तो काम नहीं बनता।

कोई प्रश्न करता है कि आपने कहा कि खिन्न न होकर मनोनिग्रह में लगा रहे, इसी से मनोनिग्रह हो जायेगा। क्या यही उपाय है? यह तो आपने बताया कि परिखिन्न न हो और व्यवसाय में लगा रहे, क्या इससे हो जायेगा? बहुत से लोग यही करते रहते हैं; उपाय नहीं समझते।

कहते हैं ऐसी बात नहीं है। अगर ऐसा ही करने से मन का नियंत्रण हो जाये तो फिर श्रवण मनन विधि सब व्यर्थ हो जायेंगी। यहाँ परिखेद को छोड़कर प्रयत्न में जो लग रहा है उसे समझना। जो प्रयत्न ही नहीं कर रहा है वह नहीं। आगे जो उपाय कहे जायेंगे उन उपायों के सहारे से ही काम और भोग से मन का निग्रह होगा। काम अर्थात् मन के अन्दर ही अन्दर जो कामना उत्पन्न होती है। भोग तब जब पदार्थ सामने आ गया। रसगुल्ला आते ही मुँह से पानी निकलता रहे तो भोग और बैठे बैठे ही कल्पना करता रहे तो काम। बहुत से लोगों का यही जीवनक्रम होता है। मन से सोचते रहते हैं। सोचते हैं संसार में प्रवृत्ति नहीं की तो भोग नहीं किया लेकिन वह भोग का चिंतन ही है, वही काम है।

जब पदार्थ सामने आ गया उसी में मन विक्षिप्त हो जाता है, यह भोग में विक्षेप है। उसका निग्रह करे। कहाँ करे? आत्मा में ही निरुद्ध करे अर्थात् जहाँ काम भोग में मन जा रहा है, कामना कर रहा है, वहाँ से मन को हटाकर आत्मविषयक कामना करे, उसी के विषय में सोचता रहे। यदि सामने भोग आया है तो उस भोग के अन्दर भी आत्मदृष्टि करे कि 'मैं इसका द्रष्टामात्र हूँ, इसके लिये मैं क्यों प्रवृत्ति करूँ?'

लय का अर्थ कर दिया जिसमें लीन होता है वह लयावस्था हो गई। मन जब लीन होगा तो सुषुप्ति हो जायेगी। यहाँ सुषुप्ति मायने केवल सुषुप्ति नहीं वरन् जब जब मन लीन अवस्था में पहुँच जाता है। इसलिये यह प्रसिद्ध सुषुप्ति से भिन्न अवस्था समझना। उस लयावस्था में सुप्रसन्नता की प्रतीति होती है क्योंकि किसी प्रकार का वहाँ आयास नहीं होता। दोनों अवस्थायें जाग्रत् और स्वप्न लीन हो गई तो फिर आयास कहाँ है? जैसे गहरी नींद वाले को आयास कहाँ होता है? उठकर प्रसन्न हो जाता है। यद्यपि वहाँ कोई आयास नहीं है। फिर भी उसका निग्रह करे। उसी में प्रसन्न होकर सुषुप्ति-ब्रह्मवादी न बन जाये।

Scanned by CamScanner

किसी ने कहा : जितनी देर सोया बड़ा अच्छा हुआ, कोई व्यर्थ का चिंतन तो नहीं हुआ, वहाँ प्रसन्नता हो रही है तो वहाँ से निग्रह क्यों करें? समाधान बताते हैं कि जैसे काम अनर्थ का हेतु है वैसे ही लय भी अनर्थ का ही हेतु है। इसलिये कामविषयक मन के निग्रह की तरह लय से भी निरुद्ध करे। साधना की दृष्टि से एक नियम हमेशा याद रखना कि आँख खुलने के बाद एक क्षण बिछौने पर नहीं रहना चाहिये। आँख खुलते ही बिछौना छोड़कर खड़ा हो जाये। और जब तक ऐसा न हो कि लेटते ही सो जायेंगे तब तक कभी न लेटो। यह एक ऐसी चीज़ है कि इसके प्रयोग से लय पर काफी नियंत्रण आयेगा। अधिकतर हम लोग बिछौने में पड़े रहते हैं। जब कोई कहता है कि 'रात में नींद नहीं आई' तो हम पूछते हैं कि 'बैठकर कुछ लिखा होगा?' कहते हैं 'नहीं। सोचते रहे कि नींद आ जाये, नींद आ जाये।' बैठकर जप करते तो शायद नींद आ जाती। इसलिये यह नियम लय-निग्रह में आवश्यक है क्योंकि मन इस बात को अभ्यास के द्वारा समझ लेता है कि जहाँ यह आदमी लेटा वहाँ मैं झट से लीन हो जाऊँ और यदि मैंने वहाँ लयावस्था छोड़ी तो यह उठ जायेगा। इसलिये इसके नियंत्रण का यह बहुत सीधा और सरल साधन है। बाकी भोजन आदि उपाय तो हैं ही।।४२।।

अब मोटी दृष्टि से उपाय बताते हैं, सामान्य नियम बता दिया। विशिष्ट नियम तो सबको अपना अपना निकालना पड़ता है।

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ।।४३।।

पहला उपाय वैराग्य बता दिया। जब कभी काम या भोग सामने आये तो झट मन के अन्दर 'सर्वं दुःखम्' का विचार करे। मन के अन्दर के. सी दास के रसगुल्ले की याद आई तो झट याद करे कि रसगुल्ले का टीन खोलते हैं और उसमें हवा पहले से ही घुस गई होती है तो उसे खाकर पेट खराब होता है। न रसगुल्ले का टीन आया होता और न पेट खराब होता। सामने मावे की कचौड़ी आ जाये तो झट 'सर्वं दुःखम्' की वृत्ति बनाये कि कल इस मावे की कचौड़ी ने पेट खराब कर दिया था। दुकानदार ने फिटकरी से मावा फाड़ा और इधर हमारा पेट फट गया। यहाँ कह रहे हैं 'अनुस्मृत्य' काम भोग जब सामने आये तो सब दुःख है इसका अनुस्मरण करे। विचार से तो पहले निश्चय कर ही रखा है। स्मृति तो याद को कहते हैं। जो कृतक है वह नाश वाला है। 'आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः' लेकिन इसे भूल जाते हैं। इसलिये जिसका निश्चय किया है उसको बार-बार याद करे। जब जब जो चीज़ सामने आये उसमें यह वृत्ति बनाये। कहोगे कि जीवन का आनन्द चला जायेगा। जीवन का आनंद लोगे तो परमात्म-आनंद को छोड़ना पड़ेगा। ऐसा आज तक रजनीश के सिवाय किसी ने नहीं

Scanned by CamScanner

कहा कि दोनों मिल जायेंगे। सच्ची बात यह है कि जो कहे दोनों मिल जायेंगे तो समझ लो कि वह महाभ्रम में है।

दूसरा उपाय अभ्यास का बताते हैं 'अजं सर्वमनुस्मृत्य' यह ज्ञान का अभ्यास हो गया। सब कुछ पैदा ही नहीं होता ऐसा बार-बार श्रवण-मनन करे। श्रवण-मनन का फल हीन मध्यम बुद्धि के कारण नहीं उत्पन्न होता, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि न करे। करना ही पड़ेगा। फ़रक केवल यह रहेगा कि इसका श्रवण-मनन परोक्ष ज्ञान ही दे पाता है। इस प्रकार तो हमको निश्चय हो जाता है कि 'एक ब्रह्म है जिसने सृष्टि उत्पन्न की'। लेकिन 'मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मेरे से भिन्न नहीं है' यह निश्चय नहीं होता। बार-बार ज्ञान के अभ्यास से यह निश्चय करे कि यह सब अज है, उत्पन्न ही नहीं हुआ है। 'जातं नैव तु पश्यति' इसलिये कामभोग की निवृत्ति हो गई। अभ्यास वैराग्य दोनों साधन बता दिये। बार-बार उपनिषदों का अध्ययन करे, युक्ति से विचार करे और पदार्थों की दुःखरूपता को सोचे। अब जैसा हमने कहा; किसी को किसी चीज़ में ज्यादा दुःखानुभूति होती है, किसी को किसी चीज़ में, तो उनके लिये अलग-अलग उपाय हो जायेंगे।

भगवान् भाष्यकार और स्पष्ट कर देते हैं। संसार चूँकि आत्मा के अज्ञान से ही उत्पन्न होता है इसलिये अविद्या का ही यह विजृम्भण (जँभाई) है। जैसे जँभाई लेने में मुँह फाड़ते हैं ऐसे ही अविद्या मुँह फाड़कर सारा संसार दिखा रही है। इसलिये यह सब दुःखरूप ही है क्योंकि अज्ञान का फैलाव है। बार-बार यह स्मरण करे कि भगवान् ने यह माया फैलाई है, यह माया का खेल है। तब तो उससे वैराग्य होगा।

वैष्णव कहते हैं कि यह भगवान् की प्रिय शक्ति है, यह ऐश्वर्य है। इससे वह और बंधन में फँस जाते हैं। इसलिये वे भगवान् को पैसे से नापते हैं। 'अमुक देवता कितना अच्छा, उसपर कितना चढ़ावा आता है। देखो वहाँ हीरे का हार चढ़ा है।' वे लोग ऐश्वर्य को प्रधान मानते हैं। अपने को भी लोग चक्कर में डालते हैं कि ऐसा होना चाहिये। होना चाहिये तो तुम्हारे को ज्ञान कहाँ से होना है? लोग समझते हैं कि हम कुछ अच्छाई कर रहे हैं। बुद्धिमान् समझ लेता है कि इसकी संसार से सत्यत्व-बुद्धि नहीं गई इसलिये उसी को बढ़ाना चाहता है। इसलिये याद रखे कि यह सब अविद्या का या माया का खेल है, इसमें कुछ नहीं रखा। माया को सत्य मानकर फिर माया के पुजारी बन जाते हैं। कोई कहता है धन आने के लिये श्रीसूक्त का अनुष्ठान करो, कोई कहता है श्रीविद्या की उपासना करो, दूसरे पर हमारा नियंत्रण हो जाये इसलिये बगुलामुखी की उपासना करो। न जाने किस-किस माया के चक्कर में फँसते हैं।

फिर कहेंगे कि माया के बिना किसी का काम नहीं चलता। तो काम तो अनादि काल से चला ही रहे थे, चलाकर किया क्या? कहोगे व्यवहारकाल में माया की ज़रूरत है। व्यवहार काल तो हुआ ही मायिक! यह कहना वैसा ही है जैसे कहना कि 'रोशनी में रोशनी की ज़रूरत पड़ती है।' रोशनी तो होगी ही रोशनी से। प्रश्न केवल यह है

Scanned by CamScanner

कि उस माया को हम कम करना चाहते हैं या उसे बढ़ाना चाहते हैं? जो तो माया को नष्ट करना चाहते हैं वे माया से व्यवहार तो कर रहे हैं, लेकिन हर क्षण सोच रहे हैं कि यह दुःख है, इसको कैसे कम करें। और दूसरा उसी माया से व्यवहार करके 'व्यवहार में ज़रूरत पड़ती है' यह सोचकर प्रतिदिन माया का व्यवहार बढ़ाने की सोच रहा है। बढ़ाने वाले यही कहेंगे कि 'ज़रूरत तुमको भी पड़ती है।' इसलिये गृहस्थी को हम लोगों की दाल रोटी खटकती रहती है। कहेंगे 'दाल रोटी खाते हो तो आगे भी कुछ करो, समाज में कुछ करो, नहीं तो दाल रोटी क्यों खाते हो?' लेकिन अस्पर्शयोग का साधक कभी माया वृत्तियों को बढ़ाने की तरफ नहीं जा सकता।

कामभोग का ही अर्थ कर दिया 'कामनिमित्तः भोगः' काम को निमित्त बनाकर ही भोग उत्पन्न होगा। जिस चीज़ की कामना नहीं होगी वह पदार्थ सामने आने पर भी हमारा भोग्य नहीं होगा। जैसे मान लो हम लोगों ने बचपन से कभी अंडा नहीं खाया, मांस नहीं खाया। कोई कहे कि 'बढ़िया आमलेट बना है' तो हमारी जीभ में पानी नहीं आता। कोई कहे 'बहुत बढ़िया चूज़ा बना है' तो हमारी जीभ में कहाँ पानी आता है? दूसरी तरफ हम लोगों को पूरी और आलू का साग बहुत अच्छा लगता है। मांसभक्षी को कहो तो कहेग 'और क्या बना है? यह तो जानवरों का खाना है, इसे कोई आदमी खाते हैं!'

पहले काश्मीर जाने के लिये डेरा इस्माइल खां से होकर जाते थे। जब हम पहले पहल काश्मीर गयें तो डेरा इस्माइल खां सवेरे ही सवेरे गाड़ी पहुँच गई। आवाज़ आई 'गोश्त रोटी! गोश्त रोटी!' इस तरफ कभी ऐसे बिकता नहीं था। हमने उसे बुलाकर पूछा 'क्या है?' कहने लगा 'तुम्हारे काम का नहीं है।' हमारे मन में हुआ कि आख़िर चीज़ क्या है, तब उसने कहा कि गोश्त (मांस) है।

इसलिये काम को निमित्त बनाकर ही भोग्य बुद्धि होती है। उसके द्वारा ही मन फूल जाता है। इच्छा की विषयता को लेकर ही मन फूलता रहता है। उसी का निवर्तन करे।

किससे हटाये? वैराग्य भावना से। जो-जो द्वैत विषय सामने आये उसमें दोषानुसंधान करके उसमें वैतृष्ण्यभाव करे, वितृष्णा को बढ़ाये। प्रायः कहते रहते हैं 'वैराग्य करो'। वैराग्य तो मनोभाव है, वहाँ करना क्या है? तो यहाँ बता दिया कि 'वैराग्य करो' का क्या मतलब। आनंदगिरि स्वामी ने रटने लायक लक्षण बता दिया 'वैराग्यभावना— तत्र-तत्र द्वैतविषये दोषानुसन्धानेन वैतृष्ण्यभावना।' मन के निरोध का यह एक उपाय हो गया।

दूसरा जो ज्ञान अभ्यास है उसे बताते हैं कि वह उपाय भी साथ ही करे। 'अजम्' का अर्थ कर दिया ब्रह्म। यह सब कुछ ब्रह्मरूप है ऐसा शास्त्र और गुरु के उपदेश से जो सुना है उसको बार-बार अनुस्मरण करे कि द्वैत ब्रह्म से अभिन्न है। पूर्व साधना और इसमें फ़रक है। उसके अन्दर तो द्वैत ब्रह्म में ही कल्पित है अतः दुःख रूप ही है। और

Scanned by CamScanner

यहाँ द्वैत की दृष्टि नहीं है। बिना ज्ञानदृष्टि के यह करेगा तो उलटा हो जायेगा अर्थात् यह नामरूप में और आसक्ति वाला हो जायेगा क्योंकि बाध नहीं किया है।

कभी-कभी हम कहते हैं कि गृहस्थों को आत्मज्ञान की बात करोगे तो वे कहेंगे कि 'सब कुछ ब्रह्मरूप है' और ज्यादा बच्चे पैदा करने में ही लग जायेंगे, और ज्यादा चोरबाजारी करने लग जायेंगे, कहेंगे कि 'ये भी तो ब्रह्मरूप हैं'। संन्यासी को ब्रह्मरूपता बतायेंगे तो सब कुछ छोड़ने लगेगा। जो कुछ थोड़ी सी चीज़ें थीं उनमें भी उसका वैराग्य होगा। जिसके अन्दर राग है उसको 'सर्वं ब्रह्म' का उपदेश देने पर उसका राग और बढ़ जायेगा। राग बैठा होने से नाम-रूप का बाध नहीं कर सकेगा। नाम-रूप को पकड़ेगा। 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'सुनकर खाने के शौक वाला समझेगा मावे की कचौड़ी ब्रह्मरूप है। मावे की कचौड़ी का बाध होकर सद्रूपता, चिद्रूपता है, उधर उसका मन नहीं जायेगा। जिसे मावे की कचौड़ी में वैराग्य है उसको जब कहेंगे की 'मावे की कचौड़ी में ब्रह्मरूपता है' तो उसकी वृत्ति बनेगी कि यह आनंदरूप नहीं हो सकती, दुःख देती है लेकिन इसमें सत्ता चित्ता तो है ही। इसलिये रागी पुरुष को 'सर्वं ब्रह्म' नहीं कहना चाहिये। उससे विपरीत वैराग्य वाला तो द्वैतजात नहीं देखेगा क्योंकि द्वैतजात है ही नहीं।।४३।।

●

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ।।४४।।

चित्त सोने लगे तो उसे जगाकर ज्ञानाभ्यास में लगाये। यदि वह काम-भोग की ओर जाये तो उसे वैराग्यभावना और अजानुस्मरण से शान्त करे। जब तक मन में राग-बीज देखे तब तक उसे साम्य की ओर ले जाने की कोशिश करता ही रहे। जब साम्यमें वह पहुँच जाये तब उसे विचलित न करे।

ज्ञानाभ्यास और वैराग्य इन दोनों उपायों के द्वारा धीरे धीरे विक्षेप से मन व्यावृत्त हो जाता है। अब लयावस्था में जाने लगता है। जैसे जैसे पदार्थों में भोग्य भावना हटाओगे तो मन अविद्या में लीन होने लगता है जहाँ कुछ भान नहीं। संसार से हटाये, जहाँ देखे कि मन लीन हो रहा है तो फिर श्रवण-मनन रूप ज्ञानाभ्यास में, आत्मविवेक में लगा दे। 'लीन हो रहा है', इस लीन का ज्ञान किसे हो रहा है? यह छेड़ने का ढंग है। श्रवण मनन में लगाये, यह नहीं कि लीन हो जाने दे कि 'भान नहीं हो रहा है, बड़ा आनंद आ रहा है।' ऐसा अभ्यास का दुःख उठाने से काम होता है। केवल मीठा मीठा रसगुल्ला खाने से काम नहीं होता है! लयावस्था में जाने लगे तो चित्त का सम्बोधन आत्मचिंतन में चाहे ओंकार से लगाये, चाहे श्रवण-मनन से लगाये; किसी भी प्रकार से लगाये। जहाँ मन को छेड़ा तो वह फिर काम भोग में जायेगा, फिर विक्षिप्त होगा। तब कहे कि

Scanned by CamScanner

'इसका विचार करके क्या होगा?' फिर उसके सामने विषयदुःखों को लाये ज्ञानाभ्यास और वैराग्य को बार-बार करेगा तो लय और विक्षेप धीरे-धीरे व्यावृत्त होंगे।

तब वह मन क्या करेगा? वह मन न लीन अवस्था में जायेगा, न वैषयिक चिंतन में और न आत्मचिंतन ही करेगा। यह तीसरी अवस्था आती है, इसी को कषायावस्था कहते हैं। लीन भी नहीं, जगा हुआ भी है, वैषयिक चिंतन भी नहीं कर रहा है, लेकिन आत्मचिंतन भी नहीं कर रहा है। इसे कषाय अवस्था इसलिये कहते हैं कि इसमें राग प्रतिबंधक बैठा हुआ है। इसलिये जहाँ थोड़ी देर असावधान हुआ फिर संसार-चिंतन करने लगता है। कषाय एक रंग होता है। जब उससे कपड़ा रंग गया तो चाहे जितना कपड़ा धोओ उसमें एक न एक दाग रह जाता है। इस अवस्था में जाने कि अभी इसका राग बैठा हुआ है। इसलिये उसमें फिर वैराग्य भावना को प्रारंभ करा दे कि 'यह माया का विजृम्भण है', 'सर्वं दुःखम्' की अनुवृत्ति कराये।

यह सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। यह सविकल्प समाधि है। इसमें न कुछ विषयचिंतन और न लीन अवस्था है, लेकिन सविकल्प इसलिये है कि जब उससे उठता है तो संसार के पदार्थों का राग पैदा हो जाता है। इसलिये बीजरूप से छिपा हुआ था। यह कषाय अवस्था कोई मामूली चीज़ नहीं है।

उस संप्रज्ञात समाधि में विज्ञान को उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। उसमें टिका न रहे। तब फिर निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करेगा अर्थात् बीज ढीला पड़ जायेगा। अब जब असम्प्रज्ञात में पहुँचे तो फिर उसमें अपने को चलायमान न करे। फिर जब चलायमान होगा तो जगत्-प्रतीति होगी। शरीर आदि के लिये भोजन आदि की ज़रूरत है तो उतना व्यवहार करना ही पड़ेगा, लेकिन यदि किसी और कारण से व्युत्थान होता है तो फिर वैराग्य और ज्ञान का अभ्यास प्रारंभ कर दे। समप्राप्ति होने के बाद फिर अपनी तरफ से न चलाये। प्रारब्धवेग से चले तो जीवन के आवश्यक कार्य निपटा दे, नहीं तो ध्यान ही नहीं लगेगा, असम्प्रज्ञात समाधि नहीं होगी। जीवन-निर्वाह के लिये भिक्षाटनादि कर ले। बाकी तो फिर वैराग्य और ज्ञान का अभ्यास करे।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ज्ञान का अभ्यास और वैराग्य, दो उपाय बता दिये। इससे जब सुषुप्ति अर्थात् लीन अवस्था में जाने लगे तो मन को वहाँ से संबुद्ध करे, जगाये। जगाने का मतलब है कि आत्मविवेकदर्शन में उसको लगाये। ज्ञान का अभ्यास श्रवण-मनन की आवृत्ति है और वैराग्य विषयों को क्षयिष्णु समझकर उनमें दोषदर्शन है। अब तक तो मन शब्द का प्रयोग कर रहे थे, इस श्लोक में आकर चित्त कह दिया। चित्त और मन दोनों के अर्थ में भेद न मानकर ही यहाँ चित्त शब्द का प्रयोग किया है। संकल्प विकल्प वाला मन होता है और चित्त उसे कहते हैं जिसमें संस्कार पड़े रहते हैं। यहाँ मन के अर्थ में ही चित्त का प्रयोग कर दिया।

Scanned by CamScanner

काम भोगों में चित्त विक्षिप्त होने लगे तो उसको वहाँ से हटाये, व्यावर्त्तन करे। जहाँ मन जगा और तुमने आत्मविवेक में लगाया तो वह करते-करते मन अनात्मा में चला जायेगा। अनात्मा से उसे वापिस लाओ। फिर लय में जाने लगेगा तो लय में मत जाने दो, उसे आत्मा में लगाओ। इस प्रकार का अभ्यास बार-बार करो कि लय से जगाया और विषयों से व्यावृत्त किया।

प्रश्न होगा कि दोनों तरफ से मन हट गया तो यही निर्विशेष ब्रह्मरूपता होती होगी? कहते हैं— अभी नहीं। लय विक्षेप से तो हटा, लेकिन समता, ब्रह्मभाव को तो प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मरूपता को प्राप्त नहीं हुआ। यह मन की अंतरालावस्था है। कषाय का अर्थ कर दिया सराग। वहाँ राग तो है नहीं क्योंकि कोई पदार्थ नज़र नहीं आ रहा है। राग तो नहीं है लेकिन बीज वहाँ राग का पड़ा हुआ है। बाद में राग आता है इसलिये राग का बीज पड़ा हुआ है। बाद में विषय में प्रवृत्ति होती है इसलिये बीज है इस प्रकार से जाने।

केवल जानने से क्या होना है? कहते हैं केवल यह नहीं कि जान लिया, वहाँ से उसको आगे सम्प्रज्ञात समाधि की तरफ ले जाये। ततः अर्थात् उस अंतरालावस्था से लय और विक्षेप से बचाकर सम्प्रज्ञात के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कराये। यहाँ 'यत्नतः' कहकर भाष्यकार बहुत सूक्ष्म संकेत यह कर रहे हैं कि जब तक सम्प्रज्ञात समाधि होगी तब तक प्रयत्न होता रहेगा। कैसे पता लगे? मन लय में जा तो नहीं रहा है और मन किसी विषय को सोच भी नहीं रहा है लेकिन अभी प्रयत्न है। थोड़ा सा प्रयत्न शिथिल हुआ तो फिर लय में या विषय में मन चला जायेगा। जब तक चेतन मन से नियंत्रण (Conscious control) अपेक्षित है तब तक सम्प्रज्ञात है। इसी से उसकी बीजावस्था का पता लग जाता है। जब समप्राप्ति हो जाये तब, अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिद्वय के द्वारा समप्राप्ति होने पर तो मन सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मरूपमात्र से समाप्त हो जाता है।

प्रश्न होगा कि फिर तो काम हो गया। तब इसकी जीवन्मुक्ति हो जानी चाहिये? भाष्यकार कहते हैं कि वह उस असम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर ब्रह्मप्राप्ति के अभिमुख तो हो गया लेकिन सर्वथा ब्रह्म नहीं होता क्योंकि वह तो ज्ञान से ही होता है। समप्राप्ति का मतलब है कि अभिमुख हो जाता है। यहीं तक पहुँच सकता है, आगे नहीं जा सकता। वहाँ से फिर विचलित न करे। जितनी देर रह सके, रहे। वहाँ से फिर किसी विषय की तरफ मन को न ले जाये। जहाँ निर्विशेष वस्तु की प्राप्ति का अभिमुखीभवन हो गया बस उसके बाद मन को चलाने का प्रयत्न न करे।।४४।।

●

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ।।४५।।

Scanned by CamScanner

जब असम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करता है तो वहाँ पहुँचने पर बड़ा आनन्द आता है। सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात में पहुँचे, जैसे ही उसमें जाओगे तो ब्रह्म सामने आ जाता है इसलिये आनंद आने लगता है। वहाँ उस सुख का आस्वादन न करने लग जाये। उस आनन्द के सामने संसार के आनंद कुछ नहीं हैं, लेकिन उसका आस्वादन न करे क्योंकि वह सुख फिर मन के अधीन होने से वहीं अटक जायेगा। उस सुख को कैसे छोड़े? बार-बार प्रज्ञा के अभ्यास से निःसंगता को प्राप्त करे। वहाँ सुख विषय होने से वह ठीक अवस्था नहीं। अर्थात् ब्रह्म 'के' सुख की अभिलाषा को भी छोड़ो। भक्त लोग यहीं अटक जाते हैं, इसी को नहीं छोड़ पाते। वहाँ का सुख भी अज्ञान-विजृम्भित है, मिथ्या है। इस प्रकार का ज्ञान प्रज्ञा से होता है तो मनुष्य वहाँ स्पृहा को छोड़कर असंग बन जाता है।

चित्त निश्चल है। बहुत काल के वैराग्य के उपाय से जिस चित्त ने पदार्थों में चलना छोड़ दिया वह चित्त निश्चल हो गया अर्थात् वैराग्य रूपी उपाय से विषयों की तरफ जाना जिस चित्त ने छोड़ दिया वह निश्चल चित्त है। अब चित्त कहाँ जाता है? प्रत्यगात्मा में ही जाता है। यह चित्त निश्चर हो गया। चित्त निश्चल भी है और बार-बार श्रवणादि करने से प्रत्यगात्मा की तरफ जा भी रहा है इसलिये निश्चर भी है। उसको प्रयत्न से आत्मा में ही एकाग्र करे।

अगर किसी कारण से प्राचीन संकल्प या संस्कार आदि के द्वारा बाहर जाने की इच्छा करे तो भी और दृढ प्रत्यगात्मप्रवण होकर वहाँ स्थिर रहना चाहिये। इसलिये सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिरूप प्रयत्न करता रहे। विषयों की तरफ जाने लगे तो सम्प्रज्ञात की तरफ लगाये, विषयों से हटकर लय होने लगे तो फिर असम्प्रज्ञात में लगाये, वहाँ सुख की तरफ जाने लगे तो फिर प्रत्यगात्मा में लगाये। जो जो अवस्था आये उसके अनुसार व्यवहार करता जाये तब वह आत्मा के साथ एक हो जायेगा और जब हो जायेगा तब परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्मसत्तात्मक हुआ स्वयं रह जायेगा।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि समाधि की इच्छा वाला जो योगी है, समाधि का अभ्यास करते हुए उसे जो सुख होता है उसका आस्वादन न करने लग जाये। उस समाधि अवस्था में रज न जाये अर्थात् उसी में न फँस जाये, उसी में आसक्ति न कर ले। 'वही सब कुछ है' ऐसा न समझे। उसमें न रजे इसमें क्या उपाय है? प्रज्ञा से निःसंगता होगी निःसंग अर्थात् निःस्पृह; अर्थात् इस प्रकार का जो सुख है उसमें अनुराग से रहित हो, 'मुझे वह सुख बार-बार मिले' ऐसी उसमें आसक्ति न करे। इस प्रकार विवेकरूपी जो बुद्धि है वह प्रज्ञा है, उस प्रज्ञा के द्वारा निःसंगता करे। सुख आया जैसे साँप रस्सी में आता है; आया है तो अनित्य है। यह विवेकबुद्धि है कि जिस सुख का भोग हो रहा है वह अविद्या से परिकल्पित है, अविद्या के कारण है। अविद्यापरिकल्पित होने से मृषा है ऐसी भावना बार-बार करे। उसका भी तात्पर्य हुआ कि वहाँ से भी अर्थात् सम्प्रज्ञात

Scanned by CamScanner

असंप्रज्ञात समाधि में जो सुख हो रहा है वहाँ से भी अर्थात् उस सुख के राग से भी हटाये अर्थात् उसमें भी निग्रह करे।

जब उस सुख के राग से आदमी अपने आपको हटा लेता है अर्थात् जब बार-बार समाधि का अभ्यास करता है और जब सुख का निग्रह करता है तो फिर वह निश्चल स्वभाव वाला हो जाता है अर्थात् चित्त सुखराग वाला और उसके उपाय में राग वाला नहीं रहता। सुख के प्रति भी राग हट जाता है और उसके उपाय के प्रति भी राग हट जाता है। फिर वह चित्त बाहर की तरफ जाने लगता है। जब चित्त बाह्य विषयाभिमुखी हुआ तो फिर श्रवण मनन आदि में, ज्ञान अभ्यास, वैराग्य में लगा दिया।

ये सब उपाय करता रहे कि चारों ओर से उसके जाने का रास्ता ऐसा रोके कि वह कहीं जा न पाये। फिर उस परब्रह्म के अन्दर ही उसे एक करता चला जाये। यह कैसे करे? प्रयत्नपूर्वक करे अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से ही करे। यही प्रयत्न है। जब ऐसा करेगा तो अंत में वह चित्स्वरूपसत्तामात्र को प्राप्त कर लेगा, उसकी ज्ञानस्वरूपसत्ता रह जायेगी। न विषयों में, न बीजावस्था में, और न सुख में वह जायेगा। इसे प्रयत्न करके वहाँ रोकना पड़ता है। बस फिर ज्ञानस्वरूप सत्तामात्र में रह जायेगा।।४५।।

●

यथा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ।।४६।।

जब इन सारे प्रतिबंधों से रहित हो जाता है, लयावस्था से भी बच जाता है और विक्षेपावस्था से भी बच जाता है, कषाय अवस्था का रसास्वाद भी नहीं रहता है तब वह इंगन अर्थात् कंपन भी नहीं करता है और उसके अंदर किसी भी प्रकार का आभास अर्थात् प्रतीति भी नहीं होती है। उस काल में वह चित्त ब्रह्मस्वरूप हो गया।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ऊपर कहे हुए उपाय ज्ञानाभ्यास श्रवण-मनन, वैराग्य आदि के द्वारा जब चित्त विषयों से हट गया, निगृहीत हो गया, निद्रा अवस्था भी उसमें नहीं रही, तब अनिंगन अर्थात् अचल हो जाता है। राग आदि वासना से शून्य होने से ही अचल है, इधर उधर नहीं होता है। उस अनिंगन में दृष्टांत दिया कि जैसे बत्ती बिना हिले डुले हवा न होने के कारण बिल्कुल एक जैसी जलती ही रहती है वैसे मन डोलता नहीं। तब किसी भी कल्पित विषय के रूप में उस चित्त का अवभासन नहीं होता है। जब चित्त का यह लक्षण हो जाये तब वह चित्त नहीं रह गया, अब तो वह ब्रह्म हो गया अर्थात् ब्रह्माकार वाला ही हो गया। ब्रह्मस्वरूप से वह चित्त ही निष्पन्न हो जाता है अर्थात् चित्त ही ब्रह्म बन गया।।४६।।

●

Scanned by CamScanner

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ।।४७।।

असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में जब चित्त इस प्रकार ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है तब वह चित्त ब्रह्मरूप हुआ ही स्वस्थ है क्योंकि उसका स्व ब्रह्म है उसी में स्थित हो गया। उससे हटा तब मन बना और पुनः वहाँ पहुँचकर स्वरूप में स्थित हो गया। अर्थात् ज्ञेय ब्रह्म और ज्ञान करने वाला मन दोनों एक हो गये। ज्ञान में भी यही स्थिति थी, लेकिन वहाँ द्वैतबाध से ज्ञानस्थैर्य हुआ था और यहाँ ज्ञाननिरोध होने से ज्ञेय से एक हो गया। इसलिये ज्ञेय से मन अव्यतिरिक्त हो गया। शांत हो गया, सारे अनर्थ इसके उपशांत हो गये। कैवल्य की प्राप्ति इसे हो गई। वहाँ जो उत्तम सुख होता है वह कथनी का विषय नहीं रहा, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। अज जो ज्ञेय है उसके साथ एक है। ख़ुद भी ज्ञान अज है। वही सर्वज्ञ रूप से कहा जाता है, सर्वज्ञ ब्रह्म है ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधिरूप जो ब्रह्म है यही परमपुरुषार्थ है। यह सुख ही मोक्ष है। उसके पहले का जो सुख रसास्वाद था वह अविद्याविजृम्भित था। यह परमपुरुषार्थ होने से ही सुख है। यह वैषयिक सुख नहीं है बल्कि इसमें रसास्वाद की भी निवृत्ति है। आत्मसत्यानुबोध ही इस सुख का लक्षण है। क्योंकि आत्मा का जो सत्य वेद और गुरु के उपदेश में सुना था, वैसा ही इसका स्वरूप है इसलिये यह आत्मसत्यानुबोध हो गया। बिना गुरु और वेदवाक्य के उपदेश के इस ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। उस बोध के द्वारा ही इसकी प्राप्ति होती है। इसलिये आत्मसत्यानुबोध ही लक्षण है जिसका अर्थात् उसके द्वारा ही जिसकी प्राप्ति होती है।

वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है इसलिये स्वस्थ है। सब प्रकार के अनर्थों की वहाँ उपशमता है। सनिर्वाण का अर्थ कर दिया निर्वृत्ति अर्थात् कैवल्य है क्योंकि निरतिशय आनंद की अभिव्यक्ति है। जब सारे ही अनर्थों का उच्छेद हो गया तो निरतिशय आनन्द की अभिव्यक्ति हो जायेगी। उसी का नाम कैवल्य है। वह निर्वाण के साथ रहता है इसलिये सनिर्वाण कह दिया। निर्वाण क्या है? निर्वृत्तिरूप निर्वाण है।

वह कैसा है? कभी भी दूसरे को बताया नहीं जा सकता क्योंकि स्वसंवेद्य है। अपने ही अनुभव से जाना जा सकता है। कोई पूछता है कोई दृष्टांत दे दो, रसगुल्ला, गुलाब जामुन जैसा होता होगा? कहते हैं कि आज तक जितने विषय तुमने देखे हैं उन सबसे अत्यंत विलक्षण है इसलिये उसे कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वहाँ दो नहीं हैं। बाकी सुख तो दो रहते हुए, लेकिन यह अपना ही सुख है। यह जो निरतिशय सुख है यह योगी को प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। बाकी किसी को यह नहीं मिलता। इसलिये अभ्यास करने वाले को ही मिलता है।

Scanned by CamScanner

वह सुख अजरूप है क्योंकि कभी उत्पन्न नहीं होता। यह वैषयिक सुख नहीं है। यह तो नित्य सुख है। अज ब्रह्म हो गया, वही ज्ञेय हो गया उससे वह सुख अव्यतिरिक्त है अर्थात् भिन्न नहीं है। ऐसा हुआ अपने सर्वज्ञरूप से है। सर्वज्ञ ब्रह्म ही यहाँ सुखरूप है ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। यह तो हीन मध्यम दृष्टि वालों के लिये बता दिया।।४७।।

●

अब अंतिम श्लोक में कहते हैं कि इन उपायों को और उपायों के लिए अपेक्षित जीवादिभेदों को भी सत्य मत समझ लेना नहीं तो गड़बड़ हो जायेगा, अद्वैतहानि होगी। इसी प्रकरण के ३९वें श्लोक में जो अस्पर्शयोग वाले बताये, वे यह याद रखें क्योंकि 'अजं सर्वमनुस्मृत्य' (श्लो. ४३) को उपाय बताया था।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ।।४८।।

स्वभाव स अज इस अद्वितीय आत्मा का कोई कारण नहीं है अतः कोई जीव पैदा नहीं होता। उपायरूप से कई सत्यों की अपेक्षा यह उत्तम पारमार्थिक सत्य है जिस सत्यरूप ब्रह्म में कुछ भी पैदा नहीं होता।

किसी के मन में शंका हुई कि इन सब उपायों को बताया, ये उपाय अगर सच्चे हैं तो आपके अद्वैत की हानि हो गई क्योंकि एक उपाय और एक अद्वैत ब्रह्म हो गया। ये सब करो तो ब्रह्म नहीं तो ब्रह्म नहीं। ऐसा करने पर उसकी प्रमिति और न करने पर प्रमिति नहीं। समाधान करते हैं कि यह तो बीच में हीन मध्यम वालों के लिये बता दिया। भूलते क्यों हो कि सच्ची बात तो पहले ही कह आये हैं कि आज तक कोई जीव उत्पन्न हुआ ही नहीं। यदि कहो कि कोई जीव हुआ, तो बताओ कहाँ हुआ? इसकी उत्पत्ति कैसे होगी? जीव ब्रह्मरूप है या ब्रह्म से भिन्न है? ब्रह्मरूप है तो अज है और भिन्न है तो मिथ्या है। न सत् की उत्पत्ति और न असत् की उत्पत्ति है। इसलिये जो उत्तम अधिकारी है उसके लिये तो यह सत्य है कि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है, यह अजात ही मुख्य है। अब जो हीन मध्यम दृष्टि वाले सन्मार्गगामी हैं, परमात्ममार्ग में लगे हुए हैं, वे इस प्रकार की उठापटक करें। उसको लेकर अद्वैत सिद्धान्त पर कोई हानि नहीं।

यहाँ जितने भी हमने मन का निग्रह आदि उपाय बताये, व्यावहारिक सत्य रूप से इन्हें उपाय बता दिया। जैसे कोई कहे कि 'सिर में दर्द है' तो कहा 'अनासिन ले लो।' उस पर यह नहीं कहना कि 'अनात्मवृत्ति ही दुःख है, बिना आत्मज्ञान के दुःख निवृत्ति नहीं।' हमारा वहाँ तात्पर्य नहीं कि अनासिन से सारे दुःख दूर हो जायेंगे। परमार्थ सत्य तो वही है; सर्वदुःखनिवृत्ति तो आत्मज्ञान से ही होनी है।

Scanned by CamScanner

जैसे मिट्टी से घड़ा इत्यादि बन जाता है लेकिन जानने वाला जानता ही है कि मिट्टी ही सत्य है, व्यावहारिक सत्य है ही। पानी भरकर लाना है तो यह नहीं कि मिट्टी में ले आओ। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि यह मान लिया कि मिट्टी और घड़ा अलग हैं। इसी प्रकार सोने से गहने बन गये तो यह मतलब नहीं कि सोना और गहने अलग हैं, सब कुछ स्वर्णरूप है तो कर्धनी क्या है? अथवा यह नहीं कि शिवलिंग में सर्प सोने का क्यों बनवाते हो, ऐसे ही सोने की डली उठाकर रख दो। लेकिन यह सब होने पर भी हमारी सोने की दृष्टि नहीं हटती। इसी प्रकार वेद आदि में सृष्टि कही, हमने भी बता दी। यहाँ हमने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि को पारमार्थिक सत्य के ज्ञान के उपाय रूप से ही बताया है। ये उपाय हमने परमार्थ सत्यरूप से नहीं बताये।

शंकावादी कहता है कि अगर तुम उसे अपारमार्थिक मान लोगे तो उससे होने वाला ज्ञान भी अपारमार्थिक हो जायेगा क्योंकि अवास्तविक से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी अवास्तविक होता है। इसका जवाब है कि काँच में दीखने वाला मुख प्रातिभासिक है और उससे व्यावहारिक मुख का ज्ञान हो जाता है। जब यह हो जाता है तो व्यावहारिक से पारमार्थिक का ज्ञान क्यों नहीं हो जायेगा? इसी प्रकार यदि सपने में लाल रंग की साड़ी पहने हुए औरत दीख जाये तो जो अनुष्ठान कर रहा है उसका वह अनुष्ठान सिद्ध हो जाता है। यहाँ भी लाल रंग की साड़ी प्रातिभासिक है लेकिन उससे होने वाला ज्ञान कि 'तुम्हारा अनुष्ठान सिद्ध हो जायेगा', यह व्यावहारिक है। प्रातिभासिक से व्यावहारिक ज्ञान के बहुत से दृष्टांत मिलते हैं इसलिये यह नियम नहीं कि व्यावहारिक से ही व्यावहारिक ज्ञान हुआ करे। उपाय व्यावहारिक है, उससे जो तुम हमारे पारमार्थिक अद्वैत में दोष देना चाहते हो वह नहीं बनेगा।

पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव उत्पन्न ही नहीं होता। कर्त्ता भोक्ता का नाम ही तो जीव है। 'मैंने नहीं किया और न मैं भोग रहा हूँ' यही तो जानना है। इसलिये कर्त्ता-भोक्ता-पन सिद्ध नहीं होता क्योंकि यह सिद्ध होने के लिये शरीर आदि के साथ सम्बन्ध चाहिये। जहाँ यह माना तो हजारों दोष आ जायेंगे। लेकिन पहले ही यह बता देंगे तो नहीं जँचेगा। जैसे पहले तो कहना पड़ता है कि समय पर जाओ, दुकान पर बैठो, बिना काम किये कुछ नहीं मिलता। पहले ही सच्ची बात बतायें कि बहुत से सवेरे से शाम तक जुटे रहते हैं और पाँच मक्खियाँ मारकर आते हैं और बहुत से घर में बैठे बैठे ही टेलीफोन पर हजारों रुपया कमा लेते हैं, तो निश्चय नहीं होता। इसलिये कहते हैं कि करो।

लेकिन जीव न माया से उत्पन्न हुआ है और न वास्तविक उत्पन्न हुआ है। जीव उत्पन्न होता ही नहीं। वह तो अकर्त्ता अभोक्ता बना रहता है। कर्त्ता-भोक्तापन लादे हुए है। यह इतना लादा हुआ है कि 'मैं अकर्त्ता अभोक्ता हो गया' तो फिर शंका करता है कि 'मेरे शरीर को कौन चलाता है?' यह नहीं समझता कि जो सूर्य, वायु, नदियाँ, समुद्र

Scanned by CamScanner

चलाता है वह क्या इतने से टुकड़े को नहीं चला पायेगा! यह ज्ञान नहीं होता। इसलिये सोचते हैं कि ज्ञान हो जायेगा तो शरीर तो चल ही नहीं सकता। ये ज्ञानी हैं तो कैसे चला रहे हैं, ऐसे ही बैठे रहते!

इसलिये स्वभाव से तो यह जो अज एक आत्मा है इसका कोई भी कारण नहीं है। स्वभाव से अज है, किसी कारण से हो ऐसा नहीं है, साधना से अज हो गया ऐसा नहीं। जीव का कोई कारण ही नहीं है। ब्रह्म तो अज है इसलिये वह तो उत्पन्न हो नहीं सकता और कोई दूसरा उत्पन्न होने वाला नहीं। चूँकि जीव का कोई कारण नहीं तो बिना कारण के पैदा कहाँ से होगा? सम्भव ही नहीं। स्वभावतः को अजात का हेतु कर दिया। एक तो जीव का कोई कारण नहीं और दूसरा ब्रह्म में किसी प्रकार से कर्त्ता-भोक्तापन बनता नहीं। पहले हमने कई उपाय पूर्व ग्रन्थ में बताये, वे सब उपाय ही बताये। उन उपायों में उत्तम पुरुषों के लिये तो यही सत्य समझना कि सत्यस्वरूप ब्रह्म के अन्दर अणुमात्र भी कुछ उत्पन्न नहीं होता है। बस यही सच्चा सत्य है।

इस प्रकार अद्वैत प्रकरण में 'शिवमद्वैतम्' श्रुति के 'अद्वैतम्' की व्याख्या कर दी। प्रारंभ में जिस अकृपणता की प्रतिज्ञा की थी उसे पूरा किया। उत्पत्ति से पहले अज था, 'जायमानं न जायते' (श्लो.२) उत्पन्न होता हुआ अज था और जब उत्पत्ति का बाध हुआ तब भी अज है। साधनों सहित प्रतिपादन होने से यह अपने में भी एक पूरा प्रकरण हो गया। वशिष्ठ महर्षि ने माना है 'असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञानमात्मनः' किसी के लिये योग मुश्किल है और किसी के लिये विचारमार्ग। दोनों प्रकार के साधकों के लिये यहाँ उपाय बताकर गौडपादाचार्य ने सभी पर कृपा की है।।४८।।

तृतीय प्रकरण समाप्त

Scanned by CamScanner

अलातशान्ति प्रकरण

प्रथम प्रकरण आगम क्योंकि उसके अन्दर प्रधान रूप से उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय बताया। उपनिषद् ने कहा कि सब कुछ ब्रह्मरूप है और आत्मा ब्रह्मरूप है। सबकुछ ब्रह्मरूप है इसको सिद्ध करने के लिये वैतथ्य प्रकरण बताया कि क्या केवल उपनिषद् ने कह दिया 'सर्वं ब्रह्म' इसलिये मानें? अथवा इसमें कोई युक्ति भी है? वैतथ्य प्रकरण में युक्ति के द्वारा सिद्ध किया कि यह जैसा दीखता है वैसा नहीं है। द्वैत के मिथ्यात्व की सिद्धि वैतथ्य प्रकरण में की। द्वैत के मिथ्यात्व की तरह वैसी ही युक्तियों से अद्वैत ब्रह्मात्मा भी कोई मिथ्या ही न समझ ले यह बताने के लिये अद्वैत प्रकरण है। अद्वैत प्रकरण में बताया कि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। लेकिन प्रतीत तो होता है अतः इसमें दृष्टांत अलात का देते हैं। अलात मायने मशाल या टार्च। लोग समझते हैं कि टार्च केवल उसी का नाम है जो आजकल बैटरी से जलाते हैं। पहले मशाल ही टार्च कही जाती थी साहित्य में उसी अर्थ में प्रयोग मिलता है। उसके बाद बिजली की मशाल हो गई तो उसे भी वे लोग टार्च ही कहते रहे। अतः मशाल की विशेषता हुई कि एक बिन्दु में रोशनी रहते हुए ही चक्र इत्यादि रूप प्रतीत होते हैं। मशाल जब तेज़ी से घुमाओ तो उसे भिन्न भिन्न प्रकार से घुमाने पर कभी नंबर आठ कभी नंबर एक, सभी चक्र, कभी अण्डा इत्यादि भिन्न भिन्न चीज़ें दीख जायें, लेकिन क्या वे चीज़ें मशाल से बाहर आती हैं? नहीं आतीं। क्या वापिस मशाल में लीन होती हैं? नहीं होती। है वहाँ पर केवल मशाल ही। उसी प्रकार एक ब्रह्म अनंत आकार वाला दीखता है, लेकिन दीखते काल में भी अनंत आकारों वाला बना हुआ नहीं है। वैसा का वैसा है। न कभी यहाँ, न कभी वहाँ के अनंत पदार्थ उसमें से निकलते हैं और न वापिस उसमें लीन होते हैं। जैसे अलात सारे रूपों को धारण करते हुए भी स्वरूप से शान्त है ऐसे ही विज्ञानमात्र में स्थित हो जाने पर जगत् के अनंत पदार्थों, अनंत व्यवहारों के अन्दर शान्ति अखण्ड बनी रहती है। न कुछ निकलता है और न कुछ जाता है। जो है सो है ही और जो नहीं सो नहीं ही है। यही अजात है। अलातशान्ति प्रकरण के द्वारा इस अज ब्रह्म का प्रतिपादन करना है।

हमारे यहाँ नियम है कि ग्रन्थ के आदि मध्य और अंत में मंगलाचरण करना चाहिये। आदि में तो उपनिषद् ॐ शब्द का उच्चारण करती है 'ॐ इति एतत्', तो ॐ आदि का मंगल हो गया। अंत में मंगल करेंगे ही। उस अद्वितीय परमात्मा का नामग्रहण स्वरूप मंगल पहला किया, अंत में विषयकथन स्वरूप मंगल कहेंगे। वेदांत शास्त्र में जो परदेवता

Scanned by CamScanner

है वह गुरु ही है। इसलिये अब मध्य में गुरुरूप परदेवता को नमस्कार करते हैं। वेदांत शास्त्रों में चूँकि गुरु ही परदेवता है इसलिये यहाँ जिस परदेवतास्वरूप गुरु ने उपदेश किया उसको नमन करते हैं।

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ।।१।।

अपने ज्ञेय से अभिन्न ज्ञान आकाश की तरह है, उससे जो गगनतुल्य धर्मों को भली भाँति जानते हैं उन पुरुषोत्तम की मैं वन्दना करता हूँ।

यह नमस्काररूप मंगल हो गया। जीवात्माओं को आकाश की तरह सर्वव्यापक बताया। जो जीव होने से अपने को साढ़े तीन हाथ के शरीर में समझता था उसको बता दिया कि 'तू कण कण और क्षण क्षण में विद्यमान है।' यह उपदेश गुरु ने किस रूप में किया? यहाँ बताया कि जैसे आकाश सर्वव्यापक वैसे ही ज्ञान सर्वव्यापक है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसका ज्ञान न हो क्योंकि ज्ञान नहीं तो चीज़ नहीं। इसलिये सर्वव्यापक ज्ञान हुआ। 'हे धर्म! तू बता तेरा स्वरूप क्या?' वह भी ज्ञान ही है। इसलिये जैसे आकाश व्यापंक वैसे ही तू भी व्यापक।

ज्ञान के दृष्टान्त के लिये आकाश (space) और धर्म के लिये गगन (sky) शब्द का प्रयोग करके क्या बताया? इनमें फ़रक यह है कि यद्यपि आकाश में नक्षत्र, बादल इत्यादि कोई विकार पैदा नहीं करते, आकाश तो वैसा का वैसा है, तथापि प्रतीत होता है कि आकाश में बादल इत्यादि से धुँधलापन आ गया, नक्षत्र इत्यादि से चमक आ गई। इसी प्रकार जीवभाव के अन्दर अंतःकरण आदि धर्मों से कोई फ़रक न आने पर भी फ़रक आ गया ऐसी प्रतीति होती है, होता भले ही कुछ नहीं है। अंतःकरण सुख दुःख इत्यादि वृत्ति बनाता है लेकिन जैसे बादल के आने से आकाश धुँधला प्रतीत होता है, बन नहीं जाता, उसी प्रकार अंतःकरण की वृत्ति उत्पन्न होने से आत्मा में दुःख आदि धर्मों की प्रतीति हो जाती है, वस्तुतः दुःख आदि नहीं होते। इसलिये गगन और आकाश का प्रयोग करके थोड़ा सा फ़रक कर दिया।

प्रश्न होता है कि ठीक है, ज्ञान व्यापक हो गया, लेकिन जहाँ होगा वहाँ एक ज्ञेय भी तो रहेगा; ठीक है ज्ञान के बिना घड़ा नहीं, लेकिन घड़ा भी तो है? अद्वैत प्रकरण आदि के द्वारा यह भी पहले बता चुके हैं कि ज्ञेय घट से भी आत्मा अभिन्न है। जैसे स्वप्न में घड़ा भी मन ही बना और घड़े को देखने वाली आँख भी मन ही बना, उसी प्रकार आत्मा ही द्रष्टा और आत्मा ही दृश्य जाग्रत् काल में भी बना है। इस प्रकार जिसे प्रतिपादित किया गया वह 'संबुद्धः' जिसने जाना; और जनाया, उसने केवल जाना ही नहीं जनाया भी। वह जो परमेश्वर है जिसने जाना और जनाया उसको मनुष्याकार में गुरु रूप से देखकर हम नमस्कार करते हैं। 'द्विपदां वरम्' (दो पैरों वालों में श्रेष्ठ) कहकर बताया कि वे पुरुषोत्तम हैं।

Scanned by CamScanner

ऐतिहासिक दृष्टि से गौडपादाचार्य ने यह ज्ञान भगवान् नारायण से प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि सबसे पहले वेदांत का प्रतिपादन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में है। पुरुषसूक्त वे द्रष्टा ऋषि नारायण हैं। इसीलिये हम लोगों की परम्परा भी नारायण से ही प्रारंभ होती है 'नारायणं पद्मभवं वशिष्ठम्'। नारायण ऋषि वहाँ स्पष्ट कहते हैं 'पुरुष एवेदं सर्वम्', 'अतो ज्यायांश्च पूरुषः'। यद्यपि पुरुषसूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल में आता है और इसलिये कुछ लोग पुरुषसूक्त को परवर्ती मानते हैं तथापि ऐसा मानना ठीक इसलिये नहीं है कि जिस सप्तम मण्डल को वे लोग भी प्राचीन मानते हैं वह वशिष्ठ महर्षि का दृष्ट है और वशिष्ठ महर्षि नारायण महर्षि से तीसरी पीढ़ी में हैं। इसलिये सप्तम मण्डल यदि वशिष्ठदृष्ट तो पुरुषसूक्त उससे पूर्ववर्ती ही हो सकता है, परवर्ती नहीं। वशिष्ठ महर्षि का सप्तम मण्डल भी सारा का सारा वेदांत-निष्ठा वाला है। उन्हीं नारायण महर्षि के ऊपर आश्रित होकर इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया इसलिये उनको ही यहाँ नमस्कार कर रहे हैं। इसीलिये जब कभी हम संन्यासी को नमस्कार करते हैं तो उसे भी उसी नारायण का स्वरूप समझते हैं क्योंकि उन्हीं से परम्परा प्राप्त हुई। इसीलिये 'ॐ नमो नारायणाय' कहते हैं। वैसे गौडपादाचार्यों के साक्षात् गुरु शुकदेव थे। लेकिन आदिगुरु को मानकर के यहाँ कहा है। साक्षात् नाम इन्होंने यहाँ लिया नहीं। उसका यह हेतु है कि आदि आचार्य नारायण और साक्षात् आचार्य शुक, दोनों एकरूप ही हैं क्योंकि दोनों ही मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं ही। कुछ व्याख्याकार इसलिये इस श्लोक को शुकदेव जी की वन्दना में भी लगाते हैं।

इस श्लोक के ऊपर कुछ लोगों ने विचित्र कल्पनायें की हैं। विचित्र कल्पना का मतलब यह है कि नारायण को नमस्कार किया इतने मात्र से झट लोगों ने अर्थ निकाल लिया कि चतुर्भुजी विष्णु को ले लो। विदुशेखर भट्टाचार्य का कहना है कि गौडपादाचार्य बौद्ध थे इसलिये बुद्ध को नमस्कार किया है, क्योंकि यदि विष्णु को नमस्कार करना होता तो चतुर्भुजी कहकर नमस्कार करते! प्रायः सनातन धर्म के ग्रन्थों में देवताओं को मनुष्यों में श्रेष्ठ नहीं कहा जाता है।

उन लोगों की पहली भूल तो यह है कि यहाँ नारायण नाम कहा नहीं इसलिये यह बेकार की बात है कि पहले मान लिया कि यहाँ चतुर्भुजी विष्णु की वन्दना है और फिर कहा नारायण चूँकि भगवान् हैं, चतुर्भुजी हैं, इसलिये उन्हें 'द्विपदां वरम्' कहना बनता नहीं इसलिये बुद्ध को लो! नारायण शब्द कहा होता तो कल्पना बनती। वेदांत का सिद्धांत है कि गुरु ही परा देवता है। किसी गुरु के द्वारा ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये वही परा देवता है। चाहे नारायण को लो, चाहे शुकदेव को, यहाँ नमस्कार गुरु को है।

भाष्यकार पूर्वोत्तर प्रकरणों के सम्बन्ध को बताते हैं। आगम ने अर्थात् वेद ने प्रतिज्ञा की कि ओंकार का निर्णय करेंगे कि ओंकार क्या है; 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' ओंकार क्या है इस बात का उपव्याख्यान करेंगे अर्थात् यह किस

Scanned by CamScanner

प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करने का स्पष्ट उपाय है इस बात को बतायेंगे। ओंकार के द्वारा ही ब्रह्मप्राप्ति होती है। ओंकार के निर्णय के द्वार से वेद ने यह प्रतिज्ञा की। वह प्रतिज्ञा अद्वैत तत्त्व की हो गई यह भी वेद ने ही बता दिया 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतम्'।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धि के प्रारंभ में ही कहते हैं कि अद्वैत की सिद्धि मायने द्वैत की असिद्धि। द्वैत नहीं है इस बात को ही सिद्ध करना है। अतः वैतथ्य प्रकरण के अन्दर बाह्य विषयों के भेद के मिथ्यात्व को युक्ति से सिद्ध कर दिया। फिर वह अद्वैत सचमुच ठीक है इस बात को बताने के लिये अद्वैत प्रकरण में शास्त्र और युक्ति दोनों बताये। जो चीज़ निर्णीत हो और युक्तियुक्त हो; अर्थात् शास्त्र से निर्णीत हो कि इसी बात को शास्त्र कहता है, और युक्ति से युक्त हो; उसमें पक्की सत्यबुद्धि हो जाती है। इसलिये वेदांतनिष्ठा श्रवण मनन से ही है।

उत्तम व्यक्ति को केवल श्रवण से ज्ञान होता है। मध्यम व्यक्ति को श्रवण और मनन से हो जाता है। अंत में इसमें यह भी बता दिया था कि जो अतिनिकृष्ट है उसे निदिध्यासन की भी ज़रूरत पड़ जाती है। उलटा नहीं कि पहले श्रवण करे, तब मनन और फिर निदिध्यासन करे। साक्षात् ज्ञान का कारण श्रवण है। श्रवण करने पर भी यदि संदेह हो तो मनन करे और मनन करने पर भी यदि ज्ञान न हो पाये तो कम से कम मरने तक ध्यान करे। उत्तम श्रवण, मध्यम मनन और निकृष्ट निदिध्यासन हुआ। अजातवाद में ज्ञान ही प्रधान है इसलिये मध्यम और हीन दृष्टि वालों के लिये ध्यान बता दिया। कई उपनिषदों के द्वारा बता दिया था कि शास्त्र का तात्पर्य भी इसी में है और इसी में युक्तियों को भी बता दिया था। द्वितीय प्रकरण में शास्त्र और युक्ति के द्वारा वैतथ्य के अभाव से अद्वैत को घुमाकर (indirectly) सिद्ध किया था और अद्वैत में उसे साक्षात् निर्धारित कर दिया।

इससे वे लोग ग़लत सिद्ध हो जाते हैं जो कहते हैं कि वेदांत केवल द्वैत-मिथ्यात्व को सिद्ध करके ही चुप हो जायेगा। बहुत से लोग समझते हैं कि ब्रह्म अभाव है इसलिये अभावाद्वैत है। वे कहते हैं सत्य का मतलब केवल है ब्रह्म का बाध नहीं होता, ज्ञान का मतलब केवल है ब्रह्म अज्ञान रूप नहीं है, आनंद का मतलब केवल है कि वहाँ दुःख नहीं है। न्याय के ज़ोर से बहुत से लोग ऊटपटांग अर्थ किया करते हैं और कहते हैं ब्रह्म का कोई स्वरूप लक्षण नहीं है, केवल तटस्थलक्षण ही मानो। लेकिन ये सब अनुभवहीन विचार हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो अद्वैत प्रकरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जैसे निषेधमुख से ब्रह्म का प्रतिपादन, वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' से साक्षात् प्रतिपादन किया। इसलिये केवल दुःख मिट जाता है ऐसा नहीं, परम आनन्द की प्राप्ति होती है। भावरूप पदार्थ है, इसलये ऐसा नहीं कि वहाँ कुछ पता नहीं रहता वरन् भान ही भान रहता है। यह बात साधक को हमेशा याद रखनी चाहिये नहीं तो लीन अवस्था में चले जातें है।। बीच में ध्यान आदि भी बताया था लेकिन वह प्रसंग से बताया था।

Scanned by CamScanner

उपसंहार किया 'एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते', अजातवाद के अन्दर समाप्ति की थी। मध्य में दूसरा प्रकरण आ भी गया लेकिन उसे प्रधान नहीं समझना। इसलिये अंत में अद्वैत प्रकरण में इसी को सिद्ध किया।

अब इस चतुर्थ प्रकरण की भूमिका बाँधते हैं। प्रथम वाक्य के अन्दर तो पूर्व तीनों प्रकरणों का तात्पर्य संक्षेप में बता दिया। ऐसे वाक्य याद रखने चाहिये जिनसे पता रहता है कि प्रकरण में प्रधान क्या कहा, नहीं तो आदमी सोचता है कि यह भी कहा होगा, वह भी कहा होगा। इसी प्रकार भाष्यकार गीता के प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में भी पूर्व अध्याय का असली प्रकरण एक दो वाक्यों में बता देते हैं। अकस्मात् कोई एक श्लोक पूछे कि अमुक में क्या कहा तो उस वाक्य को अध्याय में याद करो। उस अध्याय का मुख्य अर्थ सामने रहेगा तो आगे पीछे के श्लोक से उस श्लोक का अर्थ भी याद आ जायेगा। लोग सोचते हैं कि भगवान् गप्पे मार रहे थे! जैसे शुरू किया था 'माओ मर गया' और खतम किया कि 'इन्दिरा जी कहाँ गई हुई हैं'। सम्भवतः हो सकता है कि भगवान् ने इधर उधर की बातें की होंगी। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि जो उपदेश का प्रकरण था उसको व्यासजी ने 'सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबंध'। यह प्रकरण गीताकार कृष्ण का कहा हुआ या लिखा हुआ नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो उन्होंने बात कही उसके आधार पर ग्रन्थरचना की। जैसे अब हम यह ग्रन्थ पढ़ा रहे हैं तो कुछ इधर उधर की बातें भी हो जाती हैं। ग्रन्थ बनाने में वे निकाल दी जायेंगी जो असम्बद्ध होंगी। इसी प्रकार यहाँ भी भगवान् भाष्यकार चुतर्थ प्रकरण की भूमिका बाँधते हुए पूर्व तीन प्रकरणों के तात्पर्य को बता देते हैं।

प्रकरण के अन्दर उपनिषदों ने जिसे बताया वह अद्वैत दर्शन सिद्ध हो गया। लेकिन बहुत से इसको सहन नहीं कर पाते, इसलिये प्रतिपक्षी खड़े हो जाते हैं जो अद्वैत को स्वीकार करने वाले नहीं हैं। वे कहते हैं कि 'हम अद्वैत सिद्ध नहीं होने देंगे'। विरोधियों में एक द्वैती लोग हुए जो भेद को ही सत्य मानते हैं।

आजकल के दृढ द्वैती कम्युनिष्ट हैं। वे कहते हैं कि संघर्ष ही उन्नति का मूल है। इसीलिये हम कहते हैं कि पूँजीवाद (Capitalism) और साम्यवाद (Communism) दोनों सिद्धान्त एक ही हैं। हम लोगों को बार बार जो कहा जाता है कि एक समाजवाद है और एक पूँजीवाद है, यह हम लोगों को बेवकूफ़ बनाया जाता है। फ़रक केवल इतने हिस्से को लेकर है कि सारे उद्योग (Industry) का नियंत्रण एक अधिकारी के हाथ में चला जाये, या दस पाँच अधिकारियों के हाथ में रहे। क्योंकि पूँजीवाद में भी या एकाधिकार, monopoly, चलेगा और या कुछ बहुराष्ट्रीयों के, multinationals के, हाथ में सब कुछ रहेगा। ऐसे ही कम्युनिज्म में या अधिनायक, डिक्टेटर हो जायेगा और या पाँच-दस मंत्रियों के हाथ में रहना है। इसलिये दोनों सिद्धान्तों में कोई फ़रक नहीं है। दोनों कहते हैं कि नियंत्रण थोड़ों के हाथ में हो और दोनों ही यह कहते हैं कि भोगवाद

Scanned by CamScanner

ही ठीक है। भोगवाद के बिना लोगों का regimentation या संगठन नहीं हो सकता। कौन राजा बने, किस प्रकार राजा बने, बस इसी में थोड़ा बहुत भेद है, और कुछ फ़रक नहीं है। सिद्धांततः भेद नहीं है।

दोनों भेदवादी हैं जो भेद पर ज़ोर देते हैं। एक haves & have nots पर ज़ोर देते हैं कि संघर्ष के आधार पर उन्नति होगी। इसलिये इसी संघर्ष को बढ़ाते जाओ। पूँजीवाद भी इसी पर ज़ोर देता है। वह कहता है कि एक जो काम करते हैं और एक जो काम नहीं करते। इस भेद पर वे ज़ोर देते हैं। जो haves हैं, जिनके पास शरीर मन बुद्धि इत्यादि की ताकत है, वे बढ़कर बड़े बन जाओ, और जो have nots हैं अर्थात् जो यह न कर सकें, वे पीछे रहें। इसलिये थोड़ा सा भेद हो गया लेकिन दोनों में से कोई भी इस बात को नहीं मानता कि संघर्ष बुरा है। संघर्ष से उन्नति होगी यह उनका सद्धान्त हुआ।

भेद इतना ही है कि एक तो कहते हैं कि काम करोगे तो Polit Bureau के सदस्य बन जाओगे और दूसरे कहते हैं कि अंत में Multinational के सदस्य बन जाओगे! कहने को कहते हैं कि हमारे यहाँ प्रजातंत्र (Democracy) है। कभी विचार करो; बड़ा हल्ला मचाते हैं कि वाटरगेट में निक्सन हट गया। यह ज़रा कड़वी बात है। विरोधी दल बराबरी का होने पर वाटरगेट हुआ तो हल्ला मचा और वह हटा। लेकिन साधारण पुलिसमैन पर जब कोई रिपोर्ट करता है तो उस गरीब को कौन देखता है? ऐसे ही जब चाऊ ने एक को प्रधानमंत्री बनाया और फिर झगड़े हुए तो अंत में उसे हटाया भी गया। बड़े स्थलों में प्रजातंत्र और तथाकथित साम्यवाद का प्रदर्शन है भी लेकिन छोटे स्थलों पर सब के लिये दोनों जगह नहीं है। इसलिये उनमें कुछ तत्त्व नहीं है।

वह तो जो हम लोगों की वर्णाश्रम व्यवस्था है वही अद्वैतवाद के आधार पर है। उसमें यह संघर्षवाद नहीं है। जब तक यह वर्ण व्यवस्था रहेगी तब तक न पूँजीवाद आ सकता है और न साम्यवाद ही आ सकता है। हम बड़े आदमी बन गये तो दस आदमी हमारे मुँह पर थूक कर कहेंगे कि 'तुम्हारी विधवा बुआ भूखी बैठी है, तू अपना धन बढ़ाये जा रहा है? तुम्हारी भतीजी और मामा के लड़के का क्या हाल है?' इसलिये जहाँ एक आदमी आगे बढ़ा तो उसे सारी की सारी कुटुम्ब-परम्परा को साथ ले चलना पड़ेगा। दूसरी तरफ यदि हम पिछड़ गये तो जो दूसरा आगे बढ़ा है उसके साथ हमारा सम्बन्ध है ही, वह हमारा सहारा बनेगा। यह सम्बन्ध किसी भी धन-सम्पत्ति को लेकर नहीं है; न तो योग्यताओं को लेकर है कि वे योग्य हैं इसलिये मदद करो, और न ही धन को लेकर है। वह तो जन्म से है ही। प्रत्येक घर से दो लड़कियाँ लायेंगे, चार भेजेंगे। फल यह होता है कि यह संघर्ष हमारे यहाँ नहीं बन सकता।

एक ब्राह्मण था वह मार्क्सवादी बन गया और अब जेल में चला गया है। हमने उससे एक बार पूछा कि 'तू कम्युनिस्ट तो बन गया लेकिन सच्ची बात बता कि ब्राह्मण haves वाला है या have nots वाला है? तेरे बाप की क्या स्थिति है और दूसरे ब्राह्मणों

Scanned by CamScanner

के पास कितना पैसा है? और दूसरी बात बता कि तेरे पास कोई ब्राह्मण और कोई जिसे आजकल अनुसूचित जाति वाला कहते हैं वह आयेगा तो किसको haves और किसको have nots मानेगा?' कहने लगा कि प्रश्न तो मेरे मन में उठता है लेकिन क्या करें!

यह इसलिये कह रहे हैं कि आज हम लोगों की वर्णव्यवस्था को इतना बदनाम कर दिया गया है कि थोड़ा पढ़ा लिखा भी बिना विचार किये हुए कहता है कि 'इसका विचार मत करो, आगे चलो।' हमारी समाज-व्यवस्था संघर्ष को नष्ट करने वाली है क्योंकि हम लोगों ने देखा कि चाहे जितना संघर्ष हो, बिना मिल-जुलकर काम किये हुए उन्नति नहीं होती। इसके लिये ही हमने वर्ण व्यवस्था बनाई।

एक बात और समझ लेना कि क्या कारण है कि हमारी व्यवस्था में संघर्ष संभव नहीं। आज अगर एक सरदार कहीं चला जाये, कहीं घुस जाये, तो देखोगे कि उसके सारे नौकर सरदार होते हैं। सरदार खाती भी है, भिश्ती भी है, राज भी है। वे तो सरदारों को ले लेंगे। अब अगर हम ब्राह्मण हैं और हमारे अन्दर communalism 'जातिवाद' आ भी जाये तो हमको ब्राह्मण खाती ब्राह्मण राज, ब्राह्मण भिश्ती मिलने वाले नहीं हैं। इसलिये बाध्य होकर हमें सब लोगों को लेना पड़ेगा। लेकिन जहाँ यह हुआ कि सब काम ब्राह्मण कर सकता है वहीं संघर्ष आ जायेगा। अभी संघर्ष इसलिये नहीं कि थोड़े थोड़े ही होने लगें हैं। जब पर्याप्त होंगे तो हम कान्य कुब्ज हैं और हमें जूते चाहिये तो जो कान्यकुब्ज जूते वाला होगा उससे लेने जायेंगे तो वर्णसंघर्ष होना ही है। जब अपने वर्ण धर्म में रहोगे तो एक मिनट संघर्ष से नहीं चल सकते, क्योंकि सबको एक दूसरे की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिये शास्त्रों ने जो यह व्यवस्था बनाई थी यह इन विरोधी द्वैतवादियों के विरुद्ध खड़ी रहने वाली व्यवस्था है। आजकल के और प्राचीन काल के सभी भेदवादियों का यहाँ प्रतिपक्षियों में संग्रह कर लेना।

दूसरे वैनाशिक हैं जो निरात्मवादी हैं। वे कहते हैं कि आत्मा कुछ है ही नहीं। जो नैरात्म्यवाद को स्वीकार करने वाले हैं वे भी नष्ट करने में लगे रहेंगे क्योंकि किसी चीज़ को निरंतर बनाये रखना नहीं चाहते। इसलिये वे लोग कहते हैं कि परम्परा किसी तरह टूटे। परम्परा जहाँ टूटी वहाँ फिर जितने भी हमारे नैतिक स्तर हैं वे गड़बड़ा जाते हैं। आज जब लोग कहते हैं कि 'हमारे देश में अनैतिकता (immorality) और नास्तिकता बढ़ रही है', तो हम कहते हैं बिल्कुल नहीं बढ़ रही है और न बढ़ेगी। पहले यह बताओ कि नास्तिकता कहते किसको हैं? हमारे सामान्य व्यक्तियों को दिग्भ्रम इस बात का है कि किस चीज़ को नीति कहें। जिसको प्राचीन शास्त्रों के आधार पर नीति माना उन सबको तुमने कह दिया कि वे सब अनीतियाँ हैं, यह नहीं कि उनमें दो चार मानने वाली हों, दो चार हटा दें। और नई नीतियाँ जो तुम कह रहे हो, वे न तुम मान रहे हो और न कोई और मानता हुआ दीख रहा है। आज चाहे कोई सत्य न बोले लेकिन हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर हमारे हृदय में जीवित हैं। आज कोई स्त्री अपने मन को पवित्र न रख

Scanned by CamScanner

सके लेकिन सीता और सावित्री हमारे हृदय में स्थित हैं। आज न दीखने पर भी हमारा काम चलेगा क्योंकि मन से माने हुए हैं कि वे थे। अब तुमने उन प्राचीन नीतियों को तो छोड़ने को कहा लेकिन नवीन नीतियाँ गायब ही हैं। फिर वह नवीन नीति हमारे हृदय में कैसे बैठे जब तुम स्वयं उनका आचरण नहीं करते और कोई और भी करने वाला नहीं दीखता? सनातनी हिन्दू कभी अनैतिक नहीं होता लेकिन उसे पता नहीं कि वे कौन सी नितियाँ हैं जिन्हें माने।

जब सारी नीतियाँ मनुष्य के सामने से हट जाती हैं तब वह जो सफलतापूर्वक प्राप्त करता है उसे नीति मान लेता है। यह किसी को पढ़ाने सिखाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। फ्रायड जैसा व्यक्ति, जिसने धर्म का काफी खण्डन किया, अंत में जाकर लिखता है ('Future of Imagination' ग्रन्थ में कहता है) कि 'धर्म है तो बिल्कुल झूठा, न ईश्वर है, न आत्मा है, कुछ नहीं है। लेकिन बच्चों को जब तक हम कोई निश्चित ढंग नहीं सिखायेंगे तब तक बच्चे समाज में रहने लायक बनेंगे नहीं और अब तक की जितनी भी योजनायें हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ योजना धर्म की ही है। इसलिये यह सर्वथा झूठ होने पर भी बच्चों को धर्म ही सिखाना पड़ेगा।'

इसी प्रकार हम लोगों का कहना है कि यदि इस नतीजे पर भी कुछ विचारक पहुँच चुके हैं कि रामायण, महाभारत इत्यादि कल्पनायें हैं तो भी वह अपने तक सीमित रखो। समाज को तो रामायण महाभारत से चलना पड़ेगा। उसको गड़बड़ाओगे तो काम नहीं चलेगा। अब वे चूँकि संदेहास्पद कर दिये गये हैं इसलिये आधुनिक बच्चों के सामने कोई आदर्श है ही नहीं, तो वे बेचारे करें क्या? वैनाशिकों का दृष्टिकोण है कि पुराना सब बिगड़ जाये, ग़लत सिद्ध हो जाये। और नवीन वे दे नहीं पाते। प्राचीन काल में बौद्ध वैनाशिक हुए क्योंकि वे भी यही मानते थे कि प्राचीन वेद की परम्परायें सब तोड़ो, नष्ट करो। उनकी यह बुद्धि थी।

इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यदि ये द्वैती किसी एक मत को मानने वाले होते तो व्यवहार में उसी को स्वीकार कर लेते, अथवा इन वैनाशिकों के अन्दर भी कोई एक सिद्धान्त होता कि 'इससे चलना चाहते हैं और यह नष्ट करना चाहते हैं', तो भी मान लेते; क्योंकि हम अद्वैतियों को किसी से झगड़ा नहीं करना है। लेकिन ये तो आपस में ही झगड़ते हैं। किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँचते। पहले पूँजीवाद और साम्यवाद दो खड़े हुए। फिर इनके अन्दर भी कई भेद बन गये। न वैनाशिक और न द्वैती किसी एक निश्चय पर पहुँच पाते हैं। कोई कहता है कि समाज को देखो और कोई कहता है कि इसके अन्दर सारी राज्य की परम्परा तोड़ो। जैसे कहते हैं कि रामायण महाभारत की परम्परा तोड़ो। उनसे कहते हैं कि 'फिर अकबर वाली परम्परा?' तो कहते हैं 'यह रहने दो।' सावरकर का कहना है कि सौ साल पहले वाली परम्परा को पकड़ो। इसलिये इन सबमें परस्पर अन्योन्य विरोध है। वे ऐसा इसलिये करते हैं कि इन सबको

Scanned by CamScanner

अपनी अपनी बात पर राग है और सामने वाले से द्वेष है। सब अपनी अपनी बात को ही ठीक मानते हैं, दूसरों को ग़लत। दूसरों से कहते हैं कि हमारी बात को मानो वही ठीक है।

वेदांती जैसे वर्ण-धर्म के विषय में वैसे ही सब धर्मों के विषय में एक दृष्टिकोण को मानता है। जिसे अंग्रेजी में Polinuclear society कहते हैं, उसे मानता है। वह कहता है कि सब लोगों का एक nucleus या केन्द्र नहीं हो सकता। उपर्युक्त सारे वादी uninuclear वाद मानना चाहते हैं कि हमारी एक की बात के अनुकूल सब बनो। वेदांती कहता है कि अनेक प्रकार के लोग हैं, उनकी अनेक मान्यतायें हैं। इसलिये समाज में अनेक प्रकार की योजनायें चलने दो। सबको एक ही ढंग से चलाओ, यह ठीक नहीं। धर्म में भी उसका यही दृष्टिकोण है। इसीलिये यहाँ कोई मरियम्मा को मानता है, कोई शीतला को मानता है तो वह उनसे झगड़ता नहीं। वह कहता है कि मानते रहो जो मानते हो। जब आगे बढ़ेंगे तो उन सबकी देवी से एकता कर देंगे। आगे देवी को शक्ति से, शक्ति को शिव से एक करके अंत में अद्वितीय तत्त्व में पहुँच जायेंगे। हम यह नहीं कहते कि तुम शीतला को छोड़कर दुर्गा पर पहुँतो तब होगा। चाहे जितने पिछड़े हुए हैं लेकिन उसे वहाँ से उखाड़ना हम ठीक नहीं मानते।

जैसी हमारी धर्म में दृष्टि वैसी ही आचरण में दृष्टि है। बहुत से लोग जब वेद, मनुस्मृति इत्यादि बाँचते हैं तो उसमें बड़े बड़े प्रकरण इसी बात पर मिलते हैं कि किस मांस को खाना, किस को नहीं खाना, कैसे खाना इत्यादि। लोग आश्चर्य करते हैं कि इनमें मांस खाना लिखा है। हम कहते हैं कि शराब का भी वर्णन है। विवाह के प्रकरण में आता है कि दूसरे की लड़की को शराब पिलाकर बिगाड़ दो और उसके साथ विवाह करा लो। आठ विवाहों में यह भी एक विवाह है। हम मानते हैं कि संथाल जैसे भी लोग होंगे। हम सबको ज़बर्दस्ती एक रूप में कैसे करेंगे? वह होगा नहीं। इसलिये कहते हैं 'अच्छा, आज तुमने इसको बिगाड़ा तो शादी करनी पड़ेगी।' बजाय इसके कि बिगाड़ कर छोड़ दो। क्योंकि उनकी मान्यता ही वैसी है इसलिये इसके बिना व्यवस्था नहीं बनेगी। जब एकरूपता लाने जाओगे तो उन्हें तो सिखा पाओगे नहीं और इसलिये अपने बच्चों को भी उनके स्तर का बना कर छोड़ दोगे। एकरूपता जो लानी हुई! समाज में मांस खाने वाले, न खाने वाले, सर्वथा सात्त्विक सर्वथा तमोगुणी, सभी रहेंगे। इसलिये Polinuclear society (बहुकेन्द्रीय समाज) का विचार हमारा रहा।

इस प्रकार की समाजरचना विचारपूर्वक सर्वत्र हो कि जिसमें हरेक अपनी अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखे। धीरे धीरे उन सबमें एक अभेद दृष्टि आपस में आ जाये, इतना ही हमारा काम है। उन अन्य वादियों में यह बात नहीं, भेदवादियों से, वैनाशिकों से यह सहन नहीं होता। वे कहते हैं 'हमारी बात सब मानें।' वे अपनी चीज़ों में राग और दूसरे से द्वेष रखते हैं। इसलिये उनके जितने दर्शनों का निर्माण होता है सब क्लेश ही पैदा करते हैं क्योंकि झगड़ा जहाँ होगा वहाँ क्लेश है।

Scanned by CamScanner

यह हम प्रत्यक्ष में देख रहे हैं। हम लोग आरक्षण बढाकर अफसर बनाते जा रहे हैं। अफसरी की दृष्टि उनमें नहीं आ पाती क्योंकि इन्हें ज़बर्दस्ती बनाया। वे जिस काम को अच्छे ढंग से कर सकते थे वह अब कर नहीं पा रहे हैं। आज इस बात को सत्ताइस साल हो गये। धीरे-धीरे जिस काम के लायक हैं वह उसके योग्य भी रह नहीं जायेंगे। दूसरे कामों में सभी लोग प्रतियोगी बनकर खड़े रहेंगे। आज नहीं तो कल, बिना आरक्षण वालों को भी एक जुट होना पड़ेगा नहीं तो उनकी रोजी रोटी के रास्ते नहीं रहेंगे। इसलिये यह भेद सबके लिये झगड़े का कारण बनेगा। भेद मायने फूट। ये फूट डालने वाले दर्शन हुए।

मिथ्या जगत् में व्यवहार करने के लिये केवल व्यवहार-योग्यता ही आधार होता है (Pragmatism)। मिथ्या मायने व्यवहारयोग्य। Polinuclear society को ठीक रखने वाली चीज़ Pragmatism है। इसमें बीच में यह मत लाओ कि आत्मा एक है। आत्मा एक है इसको मना नहीं करते हैं। सब घड़ों में, सिकोरों में हम मिट्टी देखते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सिकोरे को हम कुएँ में डालकर पानी भरना चाहते हों और घड़ा लेकर कढ़ी परोसने बैठ जायें! सबमें मिट्टी एक जैसी, लेकिन व्यवहारयोग्यता जिसमें जो हो तदनुकूल व्यवहार होना चाहिये। यदि द्रोणाचार्य में सेनाध्यक्ष की व्यवहारयोग्यता देखी तो उनसे वह काम ले लिया, उन्हें सेनाध्यक्ष बना दिया। भीष्म में धर्मोपदेश की व्यवहारयोग्या देखी तो उनसे सारा का सारा अनुशासन पर्व का उपदेश ग्रहण कर लिया। जो जो व्यवहारयोग्यता देखो उसके अनुसार करते जाओ। इसी प्रकार यदि जगजीवनराम व्यवहारयोग्यता में ठीक से काम कर रहे हैं तो किसी को उनके साथ झगड़ा नहीं करना है। व्यवहारयोग्यता रखते हुए सब अपने काम में चलें।

गड़बड़ी वहाँ शुरू हुई जहाँ व्यवहारयोग्यता को हटाया। वह इसलिये हटाया कि द्वैती भेद की पत्थर की दीवाल बना लेते हैं। वेदांती ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सारे भेद व्यवहारयोग्यता को लेकर करता है, इसलिये उसका भेद जल की लकीर है। जैसे एक प्रसिद्ध दृष्टांत भगवान् भाष्यकारों के जीवन का है। भाष्यकार काशी विश्वनाथ का दर्शन करने जा रहे थे। रास्ते में चाण्डाल मिला। उससे कहा 'दूर हट जा।' कथा है कि विश्वनाथ परीक्षा लेने आये थे। वह उनसे कहता है कि 'किसको दूर करने को कह रहे हो। पांचभौतिक शरीर जैसे तुम्हारा वैसे हमारा, ज्ञानस्वरूप जैसे तुम में, वैसे हम में।' भाष्यकारों ने कहा 'अगर तुमने इस बात को समझा है, जैसा तुम्हारे कहने से पता लगता है, तब तुम और मेरे गुरु और परमात्मा एक ही है।' 'चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम'। इसी से द्विजता होती है। जैसी व्यवहारयोग्यता देखी वैसा व्यवहार कर लिया। यहाँ पहले व्यवहारयोग्यता देखी कि झाड़ू लगा रहा है, तो कह दिया 'हट जा।' वहाँ भी यह नहीं कि 'आत्मा एक है'। और जब ज्ञान देखा तो कहा 'स तु द्विजोऽस्तु'। वह भी व्यवहार है जो ज्ञान देख कर किया। आत्मा एक है सो तो अज है। वहाँ चाण्डाल नहीं तो ब्राह्मण भी तो नहीं है।

Scanned by CamScanner

यह वेदांती की व्यवहारयोग्यता की सामान्य दृष्टि है। लेकिन द्वैती तो पत्थर की दीवाल बना लेते हैं कि अब कुछ नहीं कर सकते; मानो जन्म से कुछ सत्य होता हो! इसलिये भेदभाव का रूप विकृत होता है। वे क्लेशास्पदता को पढ़ाते हैं, राग-द्वेष को बढ़ाते हैं इसलिये वह उचित विचार नहीं। अद्वैत दर्शन न स्वयं क्लेशास्पद होना चाहता है कि 'सबको अपने अनुसार बना लूँ,' और न क्लेश पाना चाहता है दूसरे के अनुसार बनकर। जैसी मान्यता है, समाज को वैसा चलने दो।

रमण महर्षि ब्राह्मण थे लेकिन थे वेदांती। उनके ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों प्रकार के शिष्य बन गये। अरुणाचल में उनका आश्रम था। वहाँ झगड़ा शुरू हुआ। ब्राह्मणों का कहना था कि महर्षि अलग पंक्ति में हमारे साथ बैठा करें। दूसरों का कहना था कि गुरु सबके एक जैसे हैं इसलिये आप हमारी पंक्ति में भोजन किया करें। अलग अलग पंक्ति को लेकर झगड़ा हुआ। तब महर्षि ने कहा कि 'हम बीच में बैठ जायेंगे, हमारे एक तरफ ब्राह्मण और एक तरफ अब्राह्मण बैठ जायेंगे।' उससे दोनों को संतोष, हो गया। किसी ने उनसे पूछा कि 'आप क्या मानते हैं?' उन्होंने कहा 'हम कुछ नहीं मानते। ब्राह्मणों को अब्राह्मणों के साथ बैठकर विरोध होता है तो उन्हें ज़बर्दस्ती क्यों साथ बैठाया जाये? और जिसको विरोध-प्रतीति नहीं उसे ज़बर्दस्ती अलग क्यों किया जाये?'

इसलिये जो जिस मान्यता से आता है उसे मानता रहे। फिर कोई झगड़ा नहीं क्योंकि दोनों में कोई सत्यता नहीं। अद्वैत दर्शन न अपने को किसी की मान्यता पर लदने देता है और न दूसरों को अपने पर लादता है। जिस समाज को जैसे संस्कार हों वह वैसा करे। जो तुम्हें नहीं जँचेगा वह तुम नहीं करोगे।

क्लेश-अनास्पद होने के कारण ही सम्यक् दर्शन अद्वैत दर्शन है। 'क्लेशाऽनास्पदत्वाद् आत्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनम्' यह लक्षण भाष्यकार का हमेशा याद रखना। आज की दूसरी जितनी विदेशी विचारधारायें हैं उनका झगड़ा व्यवहार का है। कैसे पता लगे कि कौन सा दर्शन या विचार ठीक है और कौन सा ग़लत है? जो अपना और दूसरे का क्लेश बढ़ाये वह ग़लत और जो अपने और दूसरे के क्लेश को न बढ़ाये वह सच्चा है। इसलिये अद्वैत दर्शन की स्तुति कर दी।

अगले प्रकरण में क्या करना है? उसकी सम्यक्-दर्शनता कैसे बनेगी? यदि कहोगे द्वैतदर्शन खराब है तो तुम भी राग द्वेष वाले हो गये क्योंकि अपने को ठीक और दूसरे को ग़लत मानते हो।

कहते हैं ऐसा नहीं। हमको न वैनाशिकों से झगड़ा करना है और न द्वैतियों से झगड़ा करना है। हम द्वैतियों को द्वैतियों का विरोध दिखायेंगे कि नैयायिक एक प्रकार का द्वैती है और सांख्यवादी दूसरे प्रकार का द्वैती है। दोनों का आपस का झगड़ा दिखाकर कहेंगे कि आपस में मत झगड़ो, झगड़ा न हो वह उपाय सोचो। इसी प्रकार वैनाशिकों के अन्दर जैन बौद्ध हैं। उनका आपस का विरोध दिखाकर

Scanned by CamScanner

कहेंगे कि उन दोनों में आपस में विरोध न हो, यह तरीका सोचो। हम खुद सांख्य का, नैयायिक का, बौद्ध का खण्डन नहीं करेंगे। हम करते तब तो हमारे ऊपर तुम्हारा दोष ठीक था कि हम भी अपने पक्ष में राग वाले हैं। हम सांख्य और नैयायिक दोनों को कहेंगे कि तुम आपसी झगड़े का समाधान कर सकते हो यदि ऐसा मान लो। इसी प्रकार वैनाशिकों के साथ व्यवहार करेंगे। इसका कुछ संकेत वैतथ्य प्रकरण में कर दिया था। उनके सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन अब कर देंगे। इस प्रकार से उनकी असम्यक् दर्शनता का प्रदर्शन कर देंगे कि वे क्लेश के आस्पद है। उनके प्रतिषेध से अद्वैत दर्शन अपने आप सिद्ध हो जायेगा क्योंकि हमारा किसी के साथ झगड़ा नहीं होता। यही उपसंहार का विषय बन गया।

एक बात हमेशा याद रखना कि हमारे सनातन धर्म का आधार चूँकि अद्वैत दर्शन रहा इसलिये हमारे अंदर Missionary zeal, कुछेक मान्यताओं के प्रति आग्रहभावना न आई और न आ सकती है। प्रायः यह दोष हम पर दिया जाता है कि खूब कसकर दूसरे को ज़बर्दस्ती मनाने वाली भावना हमारे में नहीं है। एक ईसाई सब कुछ छोड़कर यहाँ आकर परिश्रम करके दूसरे को जँचाना चाहता है कि हमारे ईसा सच्चे हैं। लोग कहते हैं कि हिन्दुओं में यह नहीं है। सनातनी में यह सरगर्मी (zeal) न रही और न रहेगी क्योंकि उसे तो यह लगता है— यदि अपने हृदय से पूछो तो अपने मन में होता है— आखिर ईसा ने अमरीका या यूरोप के अन्दर प्रचार किया तो अच्छा ही होगा। कैसे कहें कि महागया-बीता था? दिल नहीं कहेगा कि ईसा महाबुरा था अथवा मुहम्मद महाभ्रष्ट था। यह कहते हैं कि उस संस्कृति में ठीक कहा, गयाबीता नहीं कह सकते। और इसके बिना Missionary zeal नहीं आती। जब तक यह आग्रह न हो कि हम सच्चे और बाकी सब गये-बीते हैं, सीधे नरक ही जायेंगे, तब तक अपनी बात मनवाने में आग्रही नहीं बन सकते। ज़बर्दस्ती जब आपत्ति आ जाये, मुसलमान तलवार लेकर आ जायेगा तो बचने के लिये कुछ करेंगे; लेकिन जहाँ शांति हुई फिर कहो कि 'उन्हें मारने चलो', तो नहीं जा सकते। कोई मारने आयेगा तो चाहे मार देंगे लेकिन अपने आप नहीं जायेंगे। कहेंगे 'क्यों किसी को मारना? भगवान् की सृष्टि है, वह अपनी आप सम्भालेंगे।' हम लोगों से असम्यक् दर्शनों का प्रतिषेध तो हो सकता है। जब वे कोई क्लेश की बात करें तो निषेध कर सकते हैं लेकिन अपनी तरफ से अद्वैत दर्शन की सिद्धि करने जायें, यह हम लोगों से नहीं बनता। हमारा रास्ता ही यह है।

इसी मार्ग से अब उपसंहार करना है। किस प्रकार करेंगे? इसमें उपाय करेंगे आवीत न्याय अर्थात् व्यतिरेकी न्याय का, 'अवीत' शब्द से भी इसका व्यवहार होता है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य के अनुसार तो यहाँ भी भाष्य में अवीत ही पदच्छेद है। लेकिन आनंदगिरि स्वामी का पाठ आवीत मानकर था। अतः उन्होंने अवीत शब्द बनाकर 'अवीत एव आवीतः' ऐसा स्वार्थ में तद्धित किया है। अद्वैत दर्शन सत्य है यह हम नहीं कहेंगे

Scanned by CamScanner

या वह क्लेश-अनास्पद है यह भी नहीं कहेंगे।। हम तो केवल यह कहेंगे कि दूसरे सब दर्शन क्लेशास्पद हैं। जब क्लेश के कारण वे छूट जायेंगे तो उनके प्रतिषेध से अद्वैत दर्शन स्वतः सिद्ध हो जायेगा!

इसीको आवीत न्याय कहते हैं। जैसे 'यत्कृतकं तद् अनित्यम्' जो पैदा होता है वह अनित्य होता है। यह अन्वय हुआ। जितनी चीज़ें देखोगे वे पैदा होकर नष्ट होने वाली देखोगे। इससे यह निर्णय किया कि जो नित्य होता है वह पैदा नहीं होता। यह व्यतिरेक है। अन्वय से—जो पैदा होता है वह अनित्य, और व्यतिरेक से सिद्ध किया कि जो अनित्य नहीं होता वह पैदा भी नहीं होता। इसी प्रकार द्वैत वादी दर्शन क्लेश पैदा करते हैं, वैनाशिक दर्शन क्लेश पैदा करते हैं, इससे अपने आप सिद्ध हो गया कि जो क्लेश नहीं पैदा करेंगे वे द्वैतवादी और वैनाशिक नहीं तो वे अद्वैती ही होंगे। इसलिये अलातशान्ति को प्रारंभ करते हैं।

अब तक कहा कि आगम से जिसको बताया और तर्क से जिसको सम्भावित किया अर्थात् सम्भव सिद्ध किया कि वह बात ठीक बनती है जो आगम ने कही, वह सम्यक् है। अब बताना पड़ेगा कि जो सम्यक् नहीं होता वह आगम और तर्क के अनुकूल नहीं होता। इसीलिये अन्य सिद्धान्तों का विचार लाना पड़ेगा कि वे तर्क और शास्त्र के अनुसार नहीं इसलिये असम्यक् हैं। अद्वैत कोई 'पक्ष' नहीं है जिसके कि दूसर प्रतिपक्षी हों। कोई प्रतिपक्ष सिद्ध हो तो अद्वैत पक्ष बने। बाकी का जब अपाकरण हो गया, वे सिद्ध नहीं हुए, तो किस की अपेक्षा से अद्वैत को पक्ष कहोगे? वे एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं, हमारे प्रतिपक्षी नहीं हैं।

एक बार दिल्ली में यही प्रश्न उठा था। दो तीन लोग हमारे पास आये कि अपने त्यौहार दो दो दिन पड़ते हैं इसकी कोई व्यवस्था बनाई जाये। उन्होंने कहा कि वैष्णवों के त्यौहार वैसे मान लिये जायें जैसा वे मानते हैं, शैवों के जैसा शैव मानते हैं, शाक्तों के त्यौहार जैसा शाक्त मानते हैं। ऐसी व्यवस्था बन जाये ताकि एक ही त्यौहार दो दिन न मने। हमने कहा यह बात ठीक सोची लेकिन हमारा क्या होगा? हम तो विष्णु, शक्ति, शिव सबको मानते हैं। हमारा भी तो कोई मानोगे! हम कहते हैं कि तीनों के लिये आधारभूत सिद्धान्त बनाकर अगर एकता लाओ तो ठीक है लेकिन तीनों को अलग अलग मानकर झगड़ा करना ग़लत है। जो तीनों को मानने वाला है, फिर उसका क्या बनेगा? और हमने कहा कि अगर ईमानदारी से गणना करो तो आज भी नब्बे प्रतिशत हमारे साथी मिलेंगे जो तीनों को मानते हैं। जो केवल एक को मानकर करने वाले हैं वे दस प्रतिशत ही मिलेंगे। दस प्रतिशत की प्रसन्नता के लिय नब्बे प्रतिशत को बदलना चाहते हो? यह बात समझ में नहीं आती।

इसलिये अद्वैत दर्शन एक पक्ष नहीं है, किसी एक को मानने वाला नहीं है। बाकी दर्शनों की असम्यक्ता बताने से ही अद्वैत दर्शन की सम्यक्ता कह दी जायेगी। इसीलिये

Scanned by CamScanner

यह चौथा प्रकरण प्रारँभ किया। इसमें अलात का दृष्टान्त विशेष है, इसे प्रायः अन्यत्र दृष्टान्त नहीं बनाया है। अतः इस विशेष दृष्टान्त के आधार पर इसका नाम ही 'अलातशान्ति' रख दिया।

अद्वैत दर्शन के प्रतिपादन के लिये यह आदि का श्लोक है। अद्वैत दर्शन के सम्प्रदाय को चलाने वाला अद्वैतस्वरूप ही है, अज ही है। अद्वैत सम्प्रदाय के दर्शन को करने वाले, इस ज्ञानपरम्परा को प्रारंभ करने वाले, भगवान् नारायण हैं। सम्प्रदाय का मतलब आजकल sect कहते हैं। संस्कृत में यह अर्थ कभी नहीं होता। 'सम्यक् प्रदीयते' जो भली प्रकार से शिष्य-प्रशिष्य को परीक्षा करके दिया जाये उस ज्ञान-परम्परा को सम्प्रदाय कहते हैं। 'सैक्ट' को हमारे यहाँ मतवाद कहते हैं। सम्प्रदाय वह है जो भली प्रकार समझबूझ कर दिया जाये। वैसे प्रदाय शब्द तो इसी अर्थ में हिन्दी में भी प्रयोग करते हैं जैसे 'जलप्रदाय विभाग'। अद्वैत दर्शन को जिन्होंने ठीक प्रकार से परीक्षा करके योग्य शिष्य को दिया वे सम्प्रदाय चलाने वाले हैं। कठोपनिषद् आदि में भी सम्प्रदायविधि आयी है कि जो व्यक्ति संसार के पदार्थों से विरक्ति वाला है, परमेश्वर के रास्ते में जाने के लिये जो लगा हुआ है वही इस विद्या का अधिकारी है। ऐसे ही श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि में और गीता में भी सम्प्रदाय का विधान बना दिया है।

क्योंकि वे स्वयं ही अद्वैतस्वरूप हैं इसलिये यहाँ परदेवता और सम्प्रदायकर्ता गुरु का अद्वैत स्वरूप से ही नमस्कार किया जा रहा है। प्रश्न होगा कि फिर आद्य श्लोक के अन्दर परदेवता को ही नमस्कार करते जो अद्वैत स्वरूप है, अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये गुरु को नमस्कार करना कैसे बनता है? मुंडक उपनिषद् में बताया है 'तस्माद् आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः'। गुरु की पूजा से मनुष्य का जो भी आंतरिक अभिप्राय होता है वह पूर्ण हो जाता है। सब अभिप्रेत अर्थों की सिद्धि गुरु की पूजा से हो जाती है। एक एक ज़रूरत की पूर्ति करने करने के लिये एक एक देवता की पूजा की जाती है। जैसे कार्य समाप्त करना है तो गणेश जी की पूजा, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये देवी की पूजा, धन आदि की प्राप्ति के लिये श्री की पूजा लेकिन समग्र अभिप्रायों की पूर्ति के लिये गुरुपूजा एक ही साधन है। इसलिये कह दिया 'आचार्यपूजा हि अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्था इष्यते' कि हमारे यहाँ आचार्य की पूजा सब अभिप्रेत अर्थों की सिद्धि के लिये स्वीकार की गई है। इसीलिये प्रत्येक शास्त्र के आरंभ में गुरु को नमस्कार किया जाता है।

भगवान् भाष्यकार मूल के पद आकाशकल्प का अर्थ करते हैं। सीधा आकाश न कहकर कल्प इसलिये कहा कि आकाश जड और ब्रह्म चेतन (ज्ञान) है। इसलिये आकाश से थोड़ा इधर ही कहा जाता है, अर्थात् आकाश से पूरी समानता नहीं कर पाता। थोड़ा भेद है। आकाश व्यापक तो है लेकिन जड है जबकि ब्रह्म व्यापक और चेतन है। तात्पर्य हुआ कि आकाश के जैसा समझना, आकाश ही नहीं समझ लेना! यद्यपि 'इव' 'वत्'

Scanned by CamScanner

'यथा' आदि उपमार्थक शब्दों से यह अर्थ निकल ही सकता है तथापि 'कल्प' व्याकरण में ही इस 'ईषदसमाप्ति' अर्थ के लिये प्रसिद्ध है अतः इसके प्रयोग से वह स्पष्ट किया। वह जो आकाश जैसा व्यापक ज्ञान है उससे धर्मों को अर्थात् आत्मा को जाना है। आत्मा के अर्थ में धर्म-शब्द का प्रयोग पहले भी किया था। इसको लेकर लोगों की यह व्यर्थ शंका है कि गौडपादाचार्य पर बौद्धों का प्रभाव था क्योंकि बौद्ध भी धर्म शब्द का प्रयोग आत्मा के लिये करते हैं। यह ठीक नहीं क्योंकि कठोपनिषद् में भी धर्म का प्रयोग जीवार्थक है। जब उपनिषद् में मिल रहा है तो वही इसका बीज हुआ। फिर कोई कहे कि परवर्ती काल में उस अर्थ में रूढ क्यों नहीं रहा तो एक शब्द एक समय एक अर्थ में रूढ हो जाता है दूसरे समय नहीं भी रहता है। लेकिन यदि धर्म शब्द का प्रयोग उपनिषदों में जीव अर्थ में न मिलता तो मानते कि बौद्धों से लिया। उपनिषदों से लेकर ही बौद्धों ने भी प्रयोग किया, हमने भी किया। जैसा पहले भी कहा, विदुशेखर भट्टाचार्य इन्हीं तीन चार प्रमाणों से यह सिद्ध करना चाहते हैं। नागार्जुन की कारिकाओं से भी कुछ साम्यादि दिखाकर कहते हैं कि गौडपादाचार्य बौद्ध थे। ये सब व्यर्थ प्रयास हैं।

वे धर्म गगनोपमा वाले हैं अर्थात् उनकी उपमा गगन है। गगन की उपमा विभुत्व में ही समझना। अथवा जैसे आकाश असंग रहता है, पानी बरसने से आकाश गीला नहीं होता, धूप में सिकुड़ता नहीं है, वैसे ही धर्म असंग है। यहाँ 'धर्मान्' बहुवचन उपाधिकल्पित भेद के अभिप्राय से समझना। अंनत उपाधियों के कारण उसमें बहुवचन है, सचमुच आत्माओं में बहुत्व का प्रतिपादन करने के लिये नहीं।

उस ज्ञान को ही फिर विशेषण के द्वारा बताते हैं। सब ज्ञेय आत्मा चिन्मात्र व्यापक ज्ञान से अभिन्न हैं। ज्ञेय से भी ज्ञान अभिन्न है। ज्ञेय भी आत्मा ही है। अथवा ज्ञेयों के साथ ज्ञान भी अभिन्न है। ज्ञेय भी अभिन्न; ज्ञान भी अभिन्न इसलिये ज्ञेय ज्ञान दोनों एक है। जैसे आग और गर्मी दो चीज़ें नहीं हैं। फिर भी कहते हैं कि आग गर्म है। इसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञेय है चाहे कह दें 'ज्ञेय का ज्ञान'। है ज्ञान ज्ञेय ही। कह देते हैं 'सूर्य और प्रकाश', लेकिन सूर्य प्रकाशरूप ही है। अंतःकरण में होने वाला ज्ञान तो आकाश की तरह व्यापक नहीं, परिच्छिन्न है। ज्ञेय का आत्मस्वरूप अर्थात् असलियत ज्ञान ही है।

इस प्रकार के व्यापक आत्मस्वरूप को जिसने जान लिया, जो इस प्रकार से व्यापक ज्ञान से ज्ञेय की अभिन्नता को जान लेता है, वही वस्तुतः ईश्वर है और वही सम्प्रदायकर्ता नारायणरूप से आया। नारायण ही ईश्वर और ईश्वर ही नारायण है। दोनों का अभेद है। जब उसे साध्यरूप से कहते हैं तब उसी को ईश्वर कह देते हैं क्योंकि अधिष्ठान तत्त्व ईश्वर हुआ। ईश्वर मायने शिव। इसीलिये अमरकोश में ईश्वर का अर्थ शिव ही बताया। नारायण को विष्णु का स्वरूप मानते हैं। जब उसका अधिष्ठानरूप से, साध्य रूप से, प्रतिपादन करते हैं तब उसे ईश्वर, शिव शब्द से कह देते हैं। उसीका जब सिद्ध रूप से वर्णन करते हैं तब उसे नारायण कह देते हैं। साध्य और सिद्ध तो एक ही चीज़ हुआ करती है। जैसे 'पर्वतो

Scanned by CamScanner

वह्निमान्' में वह्नि साध्य है। धुएँ वाला होने से, जहाँ जहाँ धुआँ वहाँ वहाँ अग्नि, जैसे महानस में वैसे ही धुआँ यहाँ है इसलिये सिद्ध हो गया कि पर्वत पर वह्नि है। जो साध्य है वही तो सिद्ध हुआ। इसी प्रकार जब साध्य रूप से वर्णन किया तब ईश्वर और जब सिद्ध रूप से वर्णन करते हैं तब नारायण कह देते हैं। यहाँ उसी का अभिवादन करते हैं। जैसे अपनी परम्परा में नारायण शब्द का ऐसे ही पुरुषोत्तम शब्द का प्रयोग है। गीता में भी बताया 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'।। उत्तम पुरुष आत्मा से अभिन्न है। उत्तम पुरुष ही, अर्थात् 'मैं' इसके अन्दर जो परमात्मा है वही ईश्वर है। जब परमात्मा को 'मैं' के अन्दर जान लेते हो तब वही ईश्वर का ज्ञान है। जब तक परेश्वर को अपने से भिन्न देखते हो तब तक वह देव, और जब अपने से अभिन्न करके जाना तो महादेव कहते हो। छांदोग्य उपनिषद् में भी उसे उत्तम पुरुष कहा है। पुरुषोत्तम शब्द का प्रयोग वेदांतों में प्रायः होता है। अतः अगर 'द्विपदाम्' का मतलब 'पुरुषाणाम्' करो तो भी ईश्वर को 'द्विपदां वरम्' कहना उपनिषद् और गीता के अनुकूल है।

द्विपद् का मतलब पक्षी भी होता है। कइयों ने यह अर्थ लिया है। शुक-शब्द से सुग्गा-पक्षी भी कहा जाता है। गौडपादाचार्यों ने चूँकि शुक से उपदेश प्राप्त किया, इसलिये 'द्विपदां वरम्' कहा, ऐसा अर्थ कई लोग करते हैं।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह ठीक है कि दूसरे प्राणी भी दो पैर वाले होते हैं लेकिन यहाँ वह मतलब नहीं। वस्तुतः हमारे यहाँ द्विपद् का विशेष मतलब होता है। चार पैरों से चलने का मतलब होता है जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पैरों पर चले। अर्थात् इन चारों उद्देश्यों की पूर्ति में जाये वह चतुष्पद् हुआ। जो केवल काम और अर्थ को ही प्रधान मानकर चले वे द्विपद् हैं। अब जो परब्रह्म और अपरब्रह्म अर्थात् ब्रह्म के मायाविशिष्ट और माया रहित, पहले जिसको सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि कहा था, इन दोनों का सहारा लेकर चले वह भी द्विपद् कहा जायेगा। इसलिये भाष्यकार उपलक्षणा करते हैं कि उससे केवल मनुष्यमात्र मत समझ लेना, परब्रह्म अपरब्रह्म के साधकों को लेना। धर्म अर्थ आदि जितनी भी चीज़ें प्राप्त करने के योग्य हैं उन्हें जिसने छोड़ दिया और जिसके पर और अपर दोनों रूप हैं उस ब्रह्म के सिवाय जिसका और कोई उद्देश्य नहीं वह द्विपद् हुआ।

वैसे यह भी प्रसिद्ध है कि बदरिकाश्रम के अधिपति भगवान् नारायण हैं। वहाँ रहकर भगवान् गौडपादाचार्य ने दीर्घ काल तक तपस्या की थी। अभी भी वह गुफा बनी हुई है जहाँ उन्होंने तपस्या की थी। इस दृष्टि से भी ठीक है कि वहाँ रहकर तपस्या की थी और नारायणप्रसाद से प्राप्त किया।

द्विपद् से उपलक्षित पुरुष हो ही गया। पर अपंर ब्रह्म के अनुसंधान में लग हुए पुरुषों में श्रेष्ठ जो उन्हें नमस्कार है। यह पुरुषत्व का लक्षण याद रखना 'पूर्णत्वात् पुरुषः'। यह स्वयं भाष्यकारों ने अर्थ किया है; अर्थात् जिसकी समग्र कामनायें पूर्ण हो जाने से जो केवल परमेश्वर के ही अन्दर लगा हुआ है। परमेश्वर की कामना कामना नहीं है।

Scanned by CamScanner

जब तक उसे अपने से भिन्न मानोगे तभी तक कामना है। जब वह है ही हमारा आत्मस्वरूप तो कामना कहाँ! यह कोई थोड़े ही कहता है कि 'मेरे को मेरी नाक की कामना है' क्योंकि वह तो प्राप्त ही है। आत्मस्वरूप से ब्रह्म प्राप्त ही है इसलिये उसकी कामना नहीं कह सकते। पुरुष शब्द का इस अर्थ में प्रयोग जगह जगह भाष्यकार करते हैं। 'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता' विवेक-चूडामणि में भी कहते हैं 'पुंस्त्वम्'। इसलिये बाकी चीज़ों को छोड़कर जो केवल ब्रह्मप्राप्ति के अन्दर ही लगा है वह पुरुष है। ऐसे पुरुषों में नारायण प्रधान हैं क्योंकि उनसे ही यह परम्परा प्रारंभ है। यही उनकी प्रधानता है, उनको अभिवादन करते हैं।

इस प्रकार प्रकरण के प्रारंभ में भगवान् नारायण जिनसे इस विद्या की प्राप्ति हुई और जो परमेश्वररूप होने से सबके परम गुरु हैं उन उपदेष्टा को नमस्कार किया।।१।।

●

गुरु की वन्दना से बताया क्या? प्रकरण में जो बताने जा रहे हैं वह बता दिया। यहाँ कह दिया कि ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता में भेद नहीं। ज्ञान आकाशकल्प, धर्म गगनोपम और फिर ज्ञान ज्ञेयाभिन्न। इस भेदनिषेध से सभी प्रतिपक्षों का प्रतिषेध हो गया क्योंकि इस भेद के आधार पर ही बाकी सब चलेंगे। निरात्मवादी इन्हें भिन्न भले ही न माने लेकिन अभिन्न भी तो नहीं कहेगा! और यहाँ ज्ञेयाभिन्न कह दिया। 'सम्बुद्धः' यही सम्यग्बोध है। इससे पारमार्थिक तत्त्व के दर्शन की प्रतिज्ञा हो गयी। ये दोनों बातें आगे बतायेंगे। इनको यहाँ गुरुनमस्कार से सूचित कर दिया।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहं।।२।।

वह जो अद्वैत दर्शन है उसकी स्तुति करते हैं कि यह जो अस्पर्श योग नाम का सिद्धान्त है उस सिद्धान्त के प्रतिपाद्य या प्रमेय को नमस्कार है। वह सारे ही अंतःकरणों को सुख देने वाला है। सब लोगों के सुख का कारण है, ऐसा नहीं कि किसी को सुख दे और किसी को न दे। कुछ चीज़ें सुखकारी होने पर हितकारी नहीं होती जैसे भांग। यह ऐसा नहीं, कल्याणकारी भी है। उसका किसी के साथ विवाद भी नहीं है और उसका किसी के साथ विरोध भी नहीं है। ऐसा जो योग शास्त्र से उपदिष्ट है उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

यह प्रमेय को अर्थात् सिद्धान्त को नमस्कार हो गया। गुरु के नमस्कार के बाद अद्वैत दर्शन का जो योग है उसको नमस्कार किया। उसके नमस्कार का उद्देश्य क्या हुआ? गुरु को नमस्कार से तो अभीष्ट सिद्ध होंगे। इसका उद्देश्य क्या? नमस्कार का प्रयोजन स्तुति भी होता है। किसी आदमी को नमस्कार करो तो दूसरा समझता है कि यह बड़ा आदमी है। इसलिये अपने यहाँ नमस्कार को लेकर भी बड़ा झगड़ा चलता

Scanned by CamScanner

रहता है। विदेशियों के अन्दर यह बात नहीं है, उनमें एक आदमी दूसरे से मिलेगा तो यह चक्कर नहीं कि कौन पहले नमस्कार करे। हमारे यहाँ उसमें स्तुति पड़ी हुई है इसलिये झगड़ा होता है। स्तुति का उद्देश्य है कि जिस चीज़ की स्तुति की जाये उसमें मनुष्य प्रवृत्ति कर लेता है।

'अस्पर्श योग' अद्वैत दर्शन का नाम कहा। स्पर्श अर्थात् सम्बध, इसका नाम योग होने पर भी उसका किसी अन्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। प्रायः योग का अर्थ मिलना होता है। न मिलना ही जिसका मिलना है। गीता में भी कहा 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' अर्थात् दुःखयोग से वियोग होना ही योग है। वही यहाँ अस्पर्शयोग है। यद्यपि योग कुछ नहीं फिर भी योग कहते हैं। किसी चीज़ से भी सम्बन्ध नहीं और किसी भी काल में इसका सम्बन्ध नहीं है। यही अस्पर्श योग है। यह ब्रह्म का स्वभाव है कि किसी चीज़ से कभी सम्बन्ध वाला न बनना। तात्पर्य हो गया कि किसी साधन से प्राप्त नहीं है, स्वभावसिद्ध है। गीता में भी भगवान् ने कहा 'पश्य में योगमैश्वरम्'। उसका स्पष्टीकरण किया कि मैं सब में हूँ लेकिन सब मेरे में नहीं हैं! सब चीज़ों को पैदा करता रहे और उनसे स्पर्श नहीं, जैसे रस्सी साँप आदि को पैदा करती है लेकिन उनसे सम्बन्ध वाली नहीं बनती।

'वै नाम' प्रसिद्धि बताते हैं क्योंकि ब्रह्मवेता लोगों के अन्दर यह अस्पर्शयोग प्रसिद्ध है। वह सब अंतःकरणों अर्थात् देह धारण करने वालों के लिये सुख देने वाला है। यही इसकी सर्वसत्त्वसुखता है। इसके द्वारा बताया कि जो भी वेदांत सिद्धान्त में चलता है वह हमेशा देखता है कि जितने प्राणी, जितने शरीरधारी हैं, अंतःकरण वाले हैं, उनमें हमेशा सुख पैदा हो, क्लेश पैदा न हो। क्लेशाऽनास्पद से यह पहले बता ही दिया था लेकिन वह केवल अभावात्मक भी हो सकता है कि गुफा के अन्दर बैठे हुए किसी को क्लेश प्राप्त नहीं होगा। इसलिये कहा कि सबको सुख हो इसके लिये निरंतर प्रयत्नशील रहना है। हमारा चलना, बोलना, उठना, खाना, पीना सब प्राणियों को सुख देने वाला हो। पूर्णता तो परमात्मा में होती है, इसलिये सर्वतः सबको ही सुखकारी हो सके यह तो नहीं हो सकता, लेकिन कोशिश यह होनी चाहिये। दूसरों का कहना है कि Dictatorship of the Prolitariate अर्थात् जिनके पास कुछ नहीं वे सुखी होवें। अथवा कुछ कहते हैं कि अधिकतर लोगों को सुख हो। ये दोनों वेदांती को इष्ट नहीं। सबको ही सुखकारी होता हो तो ठीक है। केवल यह मानकर कि दूसरे को क्लेश नहीं होगा, काम नहीं चलेगा। इसलिये सबके सुख के लिये प्रयत्नशील बनना पड़ेगा। सुखरूप ही नहीं, सबको सुख देता है यह ब्रह्म का स्वभाव है।

कोई चीज़ ऐसी होती है जो अत्यंतसुख का साधन तो है, स्वर्ग आदि की प्राप्ति करा देगी, लेकिन ख़ुद दुःख वाली होती है; जैसे तपस्या, अत्यंत सुख का साधन तो है, बहुत बड़ा सुख देगी, लेकिन स्वयं दुःखरूप है। ऐसा यह नहीं है। इसलिय वेदांती यज्ञ को छोड़ता है। मतलब है कि यज्ञ की विचारधारा है किसी के लिये कुछ छोड़ना

Scanned by CamScanner

'देवतोद्देश्यकमंत्रपूर्वकद्रव्यत्यागः'। किसी के उद्देश्य से कुछ त्याग कर देना यज्ञ है, जिसे अंग्रेजी में sacrifice और हिन्दी में बलिदान कहते हैं। जैसे 'मैं अपनी इच्छाओं का बलिदान करता हूँ'। पति अपनी सारी इच्छाओं का बलिदान अपनी पत्नी को खुश करने के लिये करता रहता है। या कोई देश के लिये अपने आपको बलिदान करता है। यहाँ जिसके लिये त्याग कर रहा है उसको सुख हो रहा है लेकिन सर्वतः सुखसाधनता नहीं है। वेदांत का यह सिद्धान्त नहीं। वह किसी के लिये कुछ नहीं छोड़ता। वह अपने लिये ही छोड़ता है इसलिये उसमें उसे सुखरूपता है। यज्ञ में किसी उद्देश्य से छोड़ते हो; यह तो अपना आत्मस्वरूप है। यही वेदान्ती का यज्ञत्याग है। यदि गरीब की मदद इसलिये कि 'गरीब की मदद हो, चलो मेरे को नहीं मिला तो कोई बात नहीं' तो इसका नाम धर्म है। वेदांत यज्ञ का, धर्म का, त्याग करवाता है क्योंकि ग़रीब के अन्दर खाने वाला मैं हूँ। उसका बोध यह नहीं कि इसको खिला रहा हूँ वरन् इस शरीर के द्वारा खाने वाला मैं हूँ। इसलिये किसी के खाते समय उसे ही आनंदरूपता है। अतः यह तो सबका ही सुखकारण बनता है।

अब कहते हैं कि इतना ही कह देते कि 'सर्वसत्त्वसुखः', हित क्यों कहा? मान लो गरीब ने रोटी खाई; यहाँ तक तो वैषयिक उपभोग हुआ। कल कहो कि 'इसकी शराब पीने की इच्छा भी मेरी इच्छा है इसलिये शराब पिलाकर मुझे ही सुख हुआ!' कोई कोई ऐसे विषयोपभोग होते हैं जो सुखकारी होने पर भी हितकारी नहीं होते। इसलिये वेदांती जो जिसे चाहे उसे वह दे नहीं देता, उसकी हितदृष्टि भी रहती है कि आगे वह चीज़ उसका हित करेगी या नहीं? इसलिये वह सुख के साथ हितदृष्टि रखता है। हित की दृष्टि क्यों रखता है? क्योंकि वह तो नित्य अप्रचलित स्वभाव वाला है। शराब वाले को शराब पिला दी और वह सुखी हो गया, लेकिन कल वह शराब की आदत से जो दुःखी हुआ तो उसमें दुःखी होने वाला भी तो मैं ही हूँ। चुनाव के समय दूसरों को सुखी करके वोट ले लो। उसके बाद वह जन्मभर रोते रहें, मेरा पाँच साल का काम तो बन गया। इस भावना वाला त्याग उनके सुख की दृष्टि तो रखेगा, हितदृष्टि नहीं। लेकिन गाँव का चौधरी यह नहीं कर सकता क्योंकि उसे तो रोज़ वहीं रहना है और यदि कुछ ऐसी धोखा-धड़ी का काम करेगा तो सारे गाँव वाले उसकी छाती पर चढ़ बैठेंगे। जहाँ सम्बन्ध अनित्य होता है वहाँ तो हितदृष्टि हटाकर सुख पहुँचाने की प्रवृत्ति हो सकती है लेकिन यह सारे अंतःकरणों में अपने को नित्य देख रहा है। ऐसा देखता हो कि 'यह सुखी, यह दुःखी' ऐसा नहीं। नित्य ही अप्रचलित है, चलित कभी नहीं होता कि आज काम चला और फिर छोड़ दिया। यहाँ वेदांत के व्यवहार का रूप बताते जा रहे हैं।

यह वेदांत सिद्धान्त कैसा है? कहते हैं यह अविवाद सिद्धान्त है अर्थात् दूसरों से विरुद्ध बात करना इसमें नहीं है। विरुद्ध वदन है कि दूसरा जो कहे उसे काटना ही है, या उसे अपना विरोधी मानकर ही बोलना है। किसी ने एक बात कही तो जन्म भर गाँठ

Scanned by CamScanner

बाँध ली, इसलिये अब वह जो बात कहे उसे काटना ही है। मान लो कोई आदमी कोई ग़लत बात कह रहा है तो उस ग़लत बात कहने के पीछे या उसका कोई स्वार्थ है या भूल है। यदि स्वार्थ है तो उसके स्वार्थ की पूर्ति का दूसरा उपाय निकाल लो तो वह खुद ही कहेगा कि 'मैं यही चाहता था'। 'ग़लत है' ऐसा केवल कहते मत रहो। और यदि भ्रान्ति से है, तो भ्रम के कारण को हटा दो। यह अविरुद्ध वदन हुआ। यहाँ वाणी से सभी इन्द्रियों की उपलक्षणा समझना। ऐसा नहीं कि कहो 'आपने अविवाद कहा था, थप्पड़ मत मारना तो नहीं कहा था!' यह तुम्हारा पक्ष और यह हमारा प्रतिपक्ष या इस प्रकार का कोई परिग्रह कि जीवन भर पकड़कर बैठे रहना, यह जिसके अन्दर नहीं रहता उसी को अविवाद कहा गया। यह अपना सिद्धान्त हुआ।

ऐसा क्यों? कहते हैं कि यह जो हमारा आत्मप्रकाश है, ब्रह्मस्वभाव है यह सबसे अविरुद्ध है। अविरोध इसका स्वभाव है क्योंकि सारे रूपों को धारण करने वाला यही है। इसलिये बाण का बाण से विरोध तो हो सकता है लेकिन बाण में रहने वाली लकड़ी को किसी से विरोध नहीं हो सकता। इसी प्रकार हीरे से हीरे को काटते हो, लेकिन हीरेपने का विरोध दोनों में नहीं। इसी प्रकार सम ब्रह्म को हम लोग देखने वाले होने से किसी को पक्ष नहीं बना सकते। सब हमारा ही स्वरूप हैं। हम ही कर रहे हैं, उपाधियों में ग़लती है, स्वरूप हमारा एक ही है। आत्मप्रकाश कभी किसी के विरुद्ध नहीं हुआ करता है। सबके अन्दर एक जैसा बना रहता है।

इस प्रकार का जो अस्पर्श योग है इसकी दिशा ही शास्त्र ने बताई इसका उपदेश दिया। इसके द्वारा सम्प्रदायागतता बता दी। हम अपना कोई सिद्धान्त नहीं बना रहे हैं। भगवान् नारायण से लेकर आज तक इस प्रकार परम्परा से हमें यह प्राप्त है। मैं सिद्धान्त की स्तुति कर रहा हूँ ताकि लोग उसके उपायों में प्रवृत्त हो जायें और श्रवण मनन के द्वारा इस अविरुद्ध (अस्पर्श) योग को प्राप्त करें, यही आचार्यों का उद्देश्य हो गया।।२।।

●

पूर्व दो श्लोकों में तात्पर्य का निरूपण करके उसमें जो अविवाद और अविरोध कहा था उसी को आगे बतयेंगे।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ।।३।।

आपस में विवाद करते हुए कुछ ही वादी भूत का अर्थात् विद्यमान वस्तु का जन्म मानते हैं और दूसरे बुद्धिमान् अभूत अर्थात् अविद्यमान वस्तु का जन्म माना करते हैं।

भूतवादी अर्थात् सांख्यवादी, योगी आदि। सांख्यवादी कारण में कार्य का अनुगमन अर्थात् सूक्ष्मस्थिति मानने वाले हैं अर्थात् सत्कार्यवादी हैं। मूलकारों ने साक्षात् सांख्य,

Scanned by CamScanner

योग, वैशेषिक नाम नहीं लिये, भाष्य में तो इनका नाम आयेगा। इसलिये यह ज़रूरी नहीं की किसी एक मतवाद की दृष्टि हो। दो ही तरह की सम्भावनायें होती हैं; या सत्कार्यवाद या असत्कार्यवाद अर्थात् कार्य या सच्चा है या झूठा है, कारण में कार्य मौज़ूद है अथवा नया कार्य उत्पन्न होता है। भाष्यकार उसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग में ले जाते हैं क्योंकि उनके समय में और आज भी न्याय वैशेषिक वाले मानते हैं कि नया कार्य उत्पन्न होता है, कारण में कार्य नहीं होता। सांख्य का कहना है कि कारण में कार्य मौज़ूद होता है और उत्पन्न अर्थात् प्रकट हो जाता है। इसलिये उन्हें सत्कार्यवादी और न्याय वैशेषिक वालों को असत्यकार्यवादी कहा जाता है। जो नहीं था वह बना यह मानने वाले नैयायिक वैशेषिक हैं और जो पहले से उपस्थित था वह बना यह कहना है सांख्य का। इदानीम् काल में भी असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद सभी दर्शनों में हैं। चाहे वे भारतीय दर्शन हों अथवा भारतेतर संस्कृतियों के दर्शन हों, सर्वत्र सत्यकार्यवाद या असत्कार्यवाद की दृष्टि है। भाष्य के अनुरोध से सांख्य योग ले लेना, वैसे सभी को ले लेना।

भूतस्य अर्थात् वर्तमानस्य। भूत अर्थात् जो पहले से मौज़ूद हो, जो पहले है; भू सत्तायाम् होने से जो सत्ता में आ गया उसे भूत कहेंगे। जो सत्ता में आया हुआ है उसी का कहते हैं कि जन्म होगा, तो यह विरुद्ध बात है। सत्ता में आया हुआ है तो जन्म कैसे? अद्वैत दर्शन अविरुद्ध और अविवाद है इसलिये उसका जवाब हम नहीं देते। पहले तो दे ही आये हैं कि भूत की उत्पत्ति नहीं हो सकती, लेकिन यहाँ फिर से इन बातों को कह रहे हैं कि यहाँ जो कह रहे हैं वह हमारी युक्तियाँ नहीं हैं, इनकी आपस की युक्तियाँ हैं।

दूसरे जो अपने आपको बड़े बुद्धिमान् समझने वाले हैं वे कहते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि जो चीज़ पैदा नहीं हुई वही तो पैदा होगी। दोनों के दृष्टांत कैसे हुआ करते हैं? एक तो तिल से तेल का दृष्टांत ज्यादा लेता है कि तिल में तेल है तब पैदा हो गया। यह सांख्यवादी का दृष्टांत होगा। नैयायिक वैशेषिक का दृष्टांत होगा जैसे बीज से वृक्ष हो गया अथवा जैसे धागे से कपड़ा हो गया। अपने अपने दृष्टांत को लेकर दोनों ही ज्यादा रगड़ते रहेंगे। अभूत अर्थात् जो सत्ता वाला है ही नहीं उसमें सत्ता आयेगी कहाँ से? 'धीराः प्राज्ञाभिमानिनः' अर्थात् बुद्धि के अभिमानी लोग। दूसरा संकेत भी है, धैर्य वाले को भी धीर कहते हैं। अनादि काल से गौतम, कणाद, पतंजलि और कपिल के शिष्य खूब दम ठोक कर कहते रहे लेकिन कोई नहीं हारा। एक हार गया हो ऐसा नहीं है। हज़ारों सालों से लड़ ही रहे हैं और आज तक नहीं निपटे।

ये द्वैती परस्पर विरोधी कैसे हैं? उसी को बताते हैं। जो चीज़ पहले से ही विद्यमान है, उसी के जन्म अर्थात् उत्पत्ति की इच्छा करने वाले कुछ वादी ऐसे हैं जिनमें सांख्य

Scanned by CamScanner

प्रसिद्ध है। 'एव' के द्वारा कहा कि केवल सांख्य ही ऐसा मानते हैं। यदि सारे द्वैती ऐसा मानते होते तब तो कोई बात नहीं थी।

यह याद रखना कि प्रायः व्यवहार के अन्दर हम लोग भी सांख्यवाद को मानकर चल लेते हैं क्योंकि न्याय वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य का सिद्धान्त व्यवहार के लिये ज़रा ज्यादा समीचीन है। वेदांती चूँकि हमेशा व्यवहार के अन्दर व्यावहारिकता मानता है इसलिये उसमें किसी नवीन चीज़ या प्रक्रिया को लाना नहीं चाहता। व्यवहार में अपने को तिलों से ही तेल पैदा करना पड़ता है यह नियम है। इसमें क्या कोई आग्रह रखेगा? ब्रह्मसूत्र इत्यादि में भी हम लोग सांख्य को स्वीकार इस कारण से करते हैं कि दूसरों की अपेक्षा वे ज्यादा युक्तिसंगत हैं, व्यवहार के ज्यादा योग्य हैं। यह नहीं कि हम लोग उस सिद्धांत को स्वीकार करते हों। पुराण आदि में भी अधिकतर सांख्य प्रमेय से ही व्यवस्था बनाई है। वह भी इसी दृष्टि से। मनु इत्यादि ने भी सांख्य प्रक्रिया को ही स्वीकारा है।

लेकिन वह सब सिद्धान्त के रूप में नहीं है। अगर उससे ज्यादा व्यावहारिक व्यवस्था अन्यत्र हो, तो वेदांती उसमें नहीं अटकेगा क्योंकि उसका सिद्धान्त है कि व्यवहार में जो चीज़ चले वही ठीक है। इसलिये व्यवहार के लिये वह सिद्धान्त बनाने के टंटे में नहीं फँसता। सिद्धान्त तो यह है कि सब कल्पित है और कल्पना में जैसा व्यवहार चले, चला लो। जैसे सब लोगों ने निर्णय कर लिया कि हमको जात-पात नहीं माननी है तो वेदांती बैठकर रोता थोड़े ही रहेगा! वह कहेगा कि बिना माने ही चलो। क्योंकि हम तो चाहते हैं कि बिना संघर्ष के जो चले उसे चलाओ। हम व्यवस्था बनायेंगे कि तुम जो मानते हो उसके नियम बना लो और तदनुसार चलो। प्रायः सिद्धान्त में कच्चे लोग भूल जाते हैं और प्रक्रियाओं में फँसकर निकलने का तरीका नहीं ढूँढ पाते।

गौडपादाचार्यों ने पहले ही कहा कि वादी की व्यवस्था केवल आत्मज्ञ ही कर सकता है। उसका दृष्टिकोण यही है कि ज़ो आत्मज्ञ नहीं होगा वह युग आदि कुछ नहीं देखेगा। वह तो जैसा बाप ने पकड़ा दिया उसी को पकड़कर चलता रहेगा। इसलिये नये अतिदेश नहीं कर सकेगा।

एक जगह आनंदगिरि स्वामी के सामने बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रश्न आया कि 'भिक्षचर्यं चरन्ति' में भिक्षा का मतलब क्या? कई नियम बनाये हैं कि यह न हो तो यह कर लो, यह न हो तो यह कर लो। अंत में यदि ऐसी परिस्थिति आ जाये कि कोई दे ही नहीं तो कहते हैं कि खेती ही कर लो, लेकिन जितना देहधारण के लिये अपेक्षित है उससे अधिक कार्य न करो और उसमें भी अपना अधिकार न मानो। बस इतना ही मतलब है। देहातिरिक्त कार्य के लिये कोई प्रयत्न नहीं और देह धारण के लिये जो मिलता है उसमें अधिकार न समझो। समझो कि परमेश्वर ने दिया। यह भिक्षा का तात्पर्य है। यह विचारधारा आज से सात आठ सौ वर्ष पूर्व— जब साधुओं को भिक्षा की कमी की कल्पना भी समाज में नहीं रही होगी तब— ही आनंदगिरि स्वामी लिख गये थे। उनका काल सन् १३३६ है। यह वह नहीं कह सकता जो आत्मज्ञानी नहीं होगा। वह तो केवल उसकी नियमावलि को पकड़ कर बैठ जायेगा।

Scanned by CamScanner

सारे ही द्वैती ऐसा नहीं मानते हैं, यह आप कैसे जानते हैं? 'अपरे' का अर्थ कर दिया वैशेषिक कणाद के शिष्य और नैयायिक गौतम के शिष्य। एक बार व्यासजी और गौतम में झगड़ा हो गया। व्यासजी ने गौतम से पढ़ा था। बाद में सिद्धान्त-भेद को लेकर झगड़ा हो गया। गौतम को इतना गुस्सा आया कि उनका मुँह ही नहीं देखते थे जब वे सामने आयें तो मुँह फेर लेते थे। व्यासजी ने बहुत हाथ पैर जोड़े कि ऐसा मत करो। तब गौतम ने कहा 'मैं तुम्हें देखूँगा लेकिन जैसी इच्छा होगी वैसे देखूँगा।' उन्होंने अपने पैर में एक आँख बना दी। जब व्यासजी उनके सामने आते थे तो उस पैर की आँख से उन्हें देखते थे। इसलिये उनका नाम अक्षपाद पड़ गया।

व्यासजी ने गौतम से आरंभवाद सीखा था और बाद में परिणामवाद का प्रतिपादन करने लगे जो झगड़े का कारण था। इस पौराणिक कथा का तात्पर्य है कि आरंभवाद से ही परिणामवाद मनुष्य की समझ में आता है। आरंभवाद पूर्वपीठिका और परिणामवाद उत्तरपीठिका है। इस दृष्टि से व्यासजी ने गौतम से पढ़ा। इसलिये इसका मतलब है कि पहले आरंभवाद समझ में आयेगा तभी परिणामवाद समझ में आयेगा। गौतम परिणामवाद को नहीं मानते। इसलिये जब व्यास जी ने परिणामवाद पुराणों में चलाया तो गौतम का वह आरंभवाद उन्हें पहले प्राप्त था। यदि उनसे आरंभवाद को प्राप्त न करते तो परिणामवाद की सिद्धि भी किससे होती? गौतम के बताये हुए न्याय के नियमों से ही तो होगी।

अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ ज्ञान होने का साधन हो गई और पाद— 'पद्यते गम्यते ज्ञायते' जिससे ज्ञान हो उसी को पाद कहा जाता है। केवल इन्द्रियों से देखो तो आरंभ ही दीखेगा। घड़ा नहीं है, बन गया। तेल नहीं है, बन गया। दही नहीं है, जम गया। यही अक्षपाद की गुरुता, पूर्वभाविता है। परिणामवादी होने पर व्यासजी गौतम के द्वारा आरंभवाद से और अनुमान आदि प्रमाणों से अनुगृहीत हैं। उन्होंने ही अनुग्रह किया तभी आगे विचार हुआ। परिणामवाद की सिद्धि के लिये भी नियम विचार के तरीके, वही लेने पड़ते हैं जिसके द्वारा सही अनुमान आदि गौतम ऋषि ने बताया है। गौतम के अक्षपाद नाम का यही मतलब है। इसलिय कहीं कहीं कह भी देते हैं कि गौतम और पाणिनि सब शास्त्रों के उपजीव्य हैं। पाणिनि को नहीं जानोगे तो भाषा-ज्ञान नहीं होगा और गौतम को नहीं पढ़ोगे तो विचार करने के तरीके का ज्ञान नहीं होगा। इसलिये ये बाकी सभी शास्त्रों के उपजीव्य हैं। इनके बिना शास्त्रज्ञान नहीं हो पाता।

वे धीर हैं तो उनकी बात मान ली जाये क्योंकि वे बुद्धिमान् लोग हैं? तब कहते हैं कि यह तो हम लोग छींटाकसी में कह रहे हैं, सचमुच हम उन्हें बुद्धिमान् नहीं मानते हैं। वे 'प्राज्ञाभिमानिनः' हैं। चूँकि हम उनके चिंतन करने के नियमों को लेते हैं इसलिये उनकी बुद्धिमत्ता में तो संदेह नहीं है, लेकिन वे प्रज्ञाभिमानी इसलिये हैं कि युक्ति से विचार करते हुए भी प्रत्यक्ष आदि को भूल जाते हैं। उनमें प्रज्ञा तो है, यह नहीं कि मूर्ख हों क्योंकि सोचने के तरीके उनके ठीक हैं, लेकिन सोचने के तरीके को हमेशा अनुभव

Scanned by CamScanner

के साथ मिलाना चाहिये और वे कभी अनुभव के साथ युक्ति को नहीं मिलाते। प्रमाण प्रमेय के लक्षणों का ही विचार करते रहते हैं। कभी जाकर देखेंगे नहीं कि वह लक्षण कहीं है भी या नहीं। जैसे वायु का लक्षण करेंगे। अब उनसे पूछो वह वायु है कहाँ? क्योंकि उनके लक्षण से वायु में गुरुत्व नहीं होगा और यहाँ उपलब्ध वायु में तो गुरुत्व मिल रहा है। ऐसे ही वायु में परिमाण है तो कौन सा परिमाण है? 'मध्यम' तो कोई परिमाण हुआ नहीं, घटादि सभी मध्यम परिमाण वाले हैं। वायु के परमाणु भले ही मानो, व्यवहार में आने वाली वायु का परिमाण क्या मानते हो? संख्या; तो बताओ वायु कितनी है? और कहते हैं उसका अनुष्णाशीत स्पर्श है। तो उष्ण कितने गर्म को और शीत कितने ठण्डे को कहते हो जो अनुष्णाशीत का पता चले? किस स्थान की किस मौसम की वायु को स्वाभाविक स्पर्श वाला कहोगे? इनका कोई भी जवाब वे लोग नहीं देते। न उनके प्राचीन ग्रंथों में है और न आज के उनके अनुयायी इनका परिहार करने की कोशिश करते हैं। एक वायु ही नहीं, लगभग इनके सभी पदार्थलक्षणों की यह स्थिति है। नैयायिक ज्ञानेन्द्रियाँ मानते हैं। यदि कर्मेन्द्रियों को गोलकरूप मान लिया तो ज्ञानेन्द्रियों को अलग से क्यों माना? कहीं मिलती हैं क्या? आँख-इन्द्रिय एक मानेंगे जबकि सबका अबाधित अनुभव है 'कि हमारी दो आँखें हैं'। विचित्र कल्पनायें करते हैं। एक धागा निकालो तो सारा ही कपड़ा ख़तम और एक नया कपड़ा पैदा हो गया! डाली काटी— या एक पत्ता ही तोड़ लिया— तो पूरा पेड़ नष्ट हो गया, रह ही नहीं गया। नया पेड़ उत्पन्न हो गया। अब ये सारी मान्यतायें कहीं अनुभव से मेल नहीं खाती। इसी को हम कहा करते हैं कि ये प्रज्ञाभिमानी हैं। यदि ऐसे नहीं होते तो कह देते कि प्रत्यक्ष से जैसा सिद्ध है वैसा मान लिया जाये। लेकिन नहीं मानते हैं इसलिये प्रज्ञाभिमानी हैं।

'विरुद्धं वदन्तः विवदंतः' एक दूसरे से विवाद करते रहते हैं अर्थात् केवल बोलकर चुप नहीं रहते। एक दूसरे को हराना चाहते हैं। इसके द्वारा बताया कि ये लोग वाद नहीं करते। आपस में इसलिये नहीं बैठते कि दोनों मिलकर अपने किसी एक सत्य पर पहुँचें। एक सत्य पर कभी नहीं पहुँचते। वे तो 'हम तुम्हें हरायें' इसके लिये बैठते हैं। यह लक्षण प्रज्ञाभिमानी का समझ लेना। जहाँ तुम सत्य को समझना चाहते हो वहाँ तो यह विचार रहता है कि सत्य ठीक प्रकार से हमारे हृदय में आये, या दूसरा कोई ग़लत समझ रहा हो तो हम उसे ठीक समझा दें कि यह ग़लती है। ऐसा भले आदमियों में हुआ करता है। लेकिन ये पहले ही माने बैठे हैं कि सत्य तो हमारे पास ही है। वेदांती कहता है कि यदि सत्य की बात करो तो वह ब्रह्म है। लेकिन ये उलटे चलते हैं कि जो हम मानते हैं वह सत्य है, हम सिद्ध करके दिखायेंगे। वेदांती कहता है कि सिद्ध तो कुछ भी हो सकता है और कुछ भी खण्डित किया जा सकता है। गवेषणा करो, पता लगाओ, जो सत्य हो उसी को स्वीकार करो।

वेद में भी दूसरे के प्रति युक्तियाँ तो देते हैं लेकिन उसमें दोनों चाह रहे हैं कि सत्य का पता लगायें। लेकिन जिसको प्रज्ञाभिमान हो जाता है कि 'हमारे पास अंतिम

Scanned by CamScanner

तत्त्व आ गया', उसमें फिर विनय नहीं रहता। 'विद्या ददाति विनयम्' होना तो चाहिये कि विद्या से विनय आये कि 'हो सकता है उसकी बात में भी सत्य का अंश हो', लेकिन उनमें विनय की जगह अभिमान आ जाता है कि 'हमें पता लग गया।' प्रज्ञाभिमानी वे हुए जो एक दूसरे को हराना चाहते हैं 'अन्योन्यमिच्छन्ति जेतुम्'। मूल कारिका में तो यह नहीं था। मूल में तो 'धीराः' था, उसीको समझाने के लिये यह प्रज्ञाभिमानी कह दिया था। भाष्यकारों ने प्रज्ञाभिमान का बाहर में व्यक्त रूप स्पष्ट कर दिया। इस भावना के आते ही समझ लो कि प्रज्ञाभिमान आ गया। यह नियम प्राप्त हो गया कि हम लोगों को, वेदांत को मानने वालों को, कभी प्रज्ञाभिमान नहीं होना चाहिये।।३।।

●

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते ।
विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ।।४।।

एक का कहना यह है कि जो चीज़ मौज़ूद है वह उत्पन्न नहीं होती, यह न्याय और वैशेषिक ने कहा। जो उत्पन्न है वह क्या उत्पन्न होगा! यह बात हमने उसकी मान ली। सांख्यवादी ने यह प्रमाण दिया कि जो चीज़ नहीं है वह कहाँ से पैदा हो सकती है? नहीं तो बालू से तेल निकालो। यह बात भी उसकी ठीक है। जो चीज़ पैदा होती है वह पहले से है— इस बात का एकने खण्डन कर दिया और जो चीज़ पहले से नहीं होती है वह पैदा होती है— इस बात का दूसरे ने खण्डन कर दिया। यह दोनों के विवाद का विषय हुआ। अब हमने दोनों की युक्तियों से निकाला कि जो है वह पैदा नहीं होता, जो नहीं है वह पैदा नहीं होता; और चीज़ों की ये दो ही जातियाँ होती हैं— या है या नहीं है। इसलिये उन दोनों ने मिलकर यह सिद्ध कर दिया कि कुछ भी पैदा नहीं होता! यहाँ पक्षद्वय-निषेध मुख से यह निकल आया कि दोनों के जन्म का निषेध मान लो।

जो एक दूसरे से विरुद्ध बोलते हैं और एक दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध करते हैं, उससे आपको क्या ज्ञान हुआ? ऐसा पूछने पर जवाब दिया कि ये बातें उनकी हमारी समझ में आ गई हैं। विद्यमान वस्तु उत्पन्न नहीं होती क्योंकि है ही, पैदा क्या होगी? यह बात ठीक समझ में आ गई, जैसे आदमी पहले से मौज़ूद है तो पैदा नहीं हो सकता है। इस प्रकार से कहते हुए जो असत्कार्यवादी है वह सांख्य-पक्ष का प्रतिषेध करता है कि जो है उसका जन्म नहीं। ऐसे ही जो अविद्यमान है, नहीं है, वह है ही नहीं तो पैदा कहाँ से होगी? जैसे खरगोश के सींग नहीं हैं तो पैदा कहाँ से होंगे? यह कहते हुए सांख्य ने असत्कार्यवादी पक्ष, जो नैयायिक वैशेषिक का पक्ष है, उसका खण्डन कर दिया, असत् के जन्म का प्रतिषेध कर दिया।

इस प्रकार जो विरुद्ध बोलने वाले द्वैती लोग हैं, जो द्वय को मानते हैं, इन्होंने एक दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध कर दिया। इन दोनों ने मिलकर अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा

Scanned by CamScanner

यह सिद्ध कर दिया कि अनुत्पत्ति है, कुछ उत्पन्न हुआ ही नहीं। सत् और असत् से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। सत् और असत् पैदा नहीं होते, यह अलग अलग सिद्ध कर दिया तो दोनों की सिद्धि को हमने स्वीकार कर दिया। यह अर्थापत्ति प्रमाण हुआ। अर्थात् देवदत्त दिन में नहीं खाता तो रात में ज़रूर खाता है। इस प्रकार उत्पत्ति नहीं तो अनुत्पत्ति अपने आप हो गई। उन्होंने ही यह ज्ञापन कर दिया, प्रकाशित कर दिया।।४।।

●

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ।।५।।

उनके द्वारा जिस अजाति का प्रतिपादन हो गया उस अजाति से ही हम प्रसन्न हैं अर्थात् दोनों ने मिलकर जिस चीज़ को सिद्ध कर दिया बस उसी में हम प्रसन्न हैं। क्योंकि कोई कहेगा कि प्रतिवादियों के द्वारा कही होने के कारण आपको उनका खण्डन करना चाहिये; इसलिये कहते हैं कि हम क्यों खण्डन करें? हम तो प्रसन्न हैं कि वे हमारा काम कर रहे हैं। जैसे फिज़िक्स वाले ने जो रिसर्च की, कैमिस्ट्री वाला उसे मान लेता है, झगड़ा नहीं करता। ऐसे ही सत्कार्यवाद और असत्कार्यबाद पर दोनों ने रिसर्च की; हमें दोनों स्वीकार हैं, इसलिये हम क्यों उनका खण्डन करने जायें? अपने क्यों विवाद करें! हे शिष्य! यह सिद्धान्त जान लो कि जिस चीज़ में किसी को विवाद न हो वही सत्य हुआ करती है।

इन विवादों से रहित तत्त्व को तुम लोग समझा करो यह वेदांत दृष्टि है। यह नहीं कि सबसे झगड़ा करते रहो। यह श्री हर्ष का काम है, इसीलिये उन्होंने सबका खण्डन किया। अंत में उनसे किसी ने पूछा कि 'फिर आप अपना सिद्धान्त बताओ?' कहते हैं 'हम कुछ नहीं बोलते! हम खण्डन के मूड में हैं इसलिये हमसे पूछोगे तो हम अपना ही खण्डन करने लग जायेंगे! अगर हमारा सिद्धान्त जानना चाहते हो तो उपनिषद् बाँच लो। झगड़ा करना हो तो हम कर सकते हैं क्योंकि सबकी युक्तियाँ हमारी समझी हुई हैं।'

भाष्यकार कहते हैं कि उनके द्वारा जो इस प्रकार अजाति, अजन्मता, बता दी गई ऐसा ही स्वीकार हो। हम केवल दोनों की युक्तियाँ सुन कर प्रसन्न होते हैं। उनके साथ हम पक्ष-प्रतिपक्ष का ग्रहण या विवाद नहीं करते। सामने नैयायिक आये तो उसे सांख्य प्रक्रियायें बोलो, और सामने केवल सांख्यवादी हो तो उसे न्याय की युक्तियाँ सुना दो। दोनों मिल जायें तो अपने चुपचाप बैठ जाना चाहिये कि तुम लोग एक दूसरे का खण्डन करते रहो, हम सुनते हैं। जैसे वे एक दूसरे का पक्ष प्रतिपक्ष लेते हैं, दोनों परस्पर विरोधी युक्तियाँ बोलते रहते हैं, वैसा हम नहीं करते। हम उनकी तरह पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं लेते। द्वैती का द्वैती से मतभेद होता है। द्वैती का अद्वैती से मतभेद हो नहीं सकता क्योंकि सिद्धान्त ही अलग हो गया!

Scanned by CamScanner

किसी शिष्य ने कहा कि ये एक दूसरे का खण्डन कर रहे हैं आप कुछ नहीं बोलते। हम आपके शिष्य हैं, आप क्या मानते हैं? उससे कहते हैं कि दोनों के विवाद में जो समान अंश (common denominator) हो वह मान लिया करो, वही सत्य हुआ करता है। इसलिये विवाद से रहित जो हिस्सा है वही परमार्थ दर्शन है और वही सच्चा होता है। उसके लिये हमने भी तुम्हें अनुज्ञा दे रखी है कि जहाँ जहाँ अविवाद वाला तत्त्व है, वह मान लिया करो, यही शिष्यपना है। यह जो अविवाद है, यह हमसे सीख लो और उसे ढूँढ लिया करो।।५।।

●

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ।।६।।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।७।।

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ।।८।।

सारे ही सत्-असत्-कार्य वादी जिस बात को कहा करते हैं उसे इन श्लोकों में कह दिया। पहले (३.२०-२२) इन श्लोकों की व्याख्या कर आये हैं। पहले के श्लोकों को फिर से क्यों लिखने लग गये? कहते हैं जिन श्लोकों का अर्थ पहले कह आये हैं उन्हें यहाँ इसलिये फिर से कह दिया है कि परवादियों के पक्ष ये ये हैं और उससे ख्यापित हो गया कि हमने जो युक्तियाँ बोली थीं वे हमारी नहीं थीं। वहाँ हमने यह नहीं कहा था कि ये युक्तियाँ दूसरों की हैं। वहाँ भी हम किसी का खण्डन करने नहीं गये थे। यह अनुमोदन बताने के लिये कर दिया था।।६-८।।

●

'प्रकृतेरन्यथाभावः' में प्रकृति शब्द का अर्थ वहाँ नहीं किया था वह अब अगले श्लोक में कर देते हैं—

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ।।९।।

जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती है उसी को प्रकृति कहा जाता है। उसमें दृष्टांत दिया; जैसे योगी लोग अणिमा आदि ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं तो फिर उनमें वह हमेशा बना रहता है। जो ऐसी सिद्धि हो कि तुम्हारे अन्दर आकर हमेशा बनी रहे वह

Scanned by CamScanner

सांसिद्धिकी हो गई। स्वाभाविकी जैसे आग स्वभाव से ही गर्म होती है। ऐसा नहीं कि अग्नि देवता ने तपस्या करके यह सिद्धि प्राप्त की हो। सहज— जन्म के साथ ही आती है वह भी प्रकृति है। पक्षी आकाश में उड़ता है। उसने न सिद्धि प्राप्ति की है, न स्वाभाविकी है बल्कि उत्पन्न होने के साथ ही सहज है। अकृता— जो किसी के द्वारा नहीं की गई, जैसे पानी हमेशा नीचे को ही बहता है। यह सिद्धि स्वाभाविक नहीं, अग्नि उष्णता की तरह स्वाभाविक नहीं है, सहज भी नहीं है बल्कि यह किसी के द्वारा नहीं की हुई है। ये चारों प्रकार के दृष्टांत प्रकृति में दिये। नियम सब जगह यह है कि वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती है।

यहाँ प्रकृति को बता दिया। भाष्यकार कहते हैं कि पारमार्थिक चीज़ों को तो जाने दो, जो व्यवहार में रात दिन देखी जाती है वह लौकिकी प्रकृति— जो योगी आदि स्थल में किसी कारण से आई या कुछ हुआ तब आई, जब वह— भी नहीं बदलती है तो फिर जिसकी अजायमान प्रकृति है वह कैसे बदलेगी? सांख्यवादी अपनी प्रकृति को अजायमान मानता है और फिर कहता है कि वह जायमान भी है अर्थात् बदलकर जायमान हो जाती है! तो फिर अज अमृत स्वभाव का क्या बनेगा? जो अज अमृतस्वभाव प्रकृति है वह अपनी प्रकृति कैसे बदल सकती है, जब लौकिक ही नहीं बदली?

लौकिक प्रकृतियाँ कौन सी हैं? भाष्यकार ने सम्यक् सिद्धि इसलिये कहा कि साधारण योगाभ्यास करने वाले में कुछ सिद्धियाँ आ जाती हैं लेकिन वे सांसिद्धिकी नहीं कही जा सकतीं क्योंकि थोड़े समय के बाद निकल जाती हैं। इसलिये सम्यक् सिद्धि ही संसिद्धि है। जो सिद्धगण हैं उनको अच्छी प्रकार संसिद्धि की प्राप्त होती है। योग का अनुष्ठान जब समाधि तक परिसमाप्त हो जाता है तब जो सिद्धि प्राप्ति होती है वह संसिद्धि है। जो बीच बीच में आती है और निकल जाती है वह नहीं। उस संसिद्धि में जो हो वह सांसिद्धिक है। जैसे योगियों के अन्दर जिनके पास अणिमा आदि ऐश्वर्य है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में भी कहा है 'सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्'। वह उनकी प्रकृति हो गई। एक बार जो सिद्धि प्राप्त हो गई तो फिर भविष्य काल में उसका विपर्यय नहीं होता। जन्म जन्मांतर में भी नहीं जाती। इसलिये अपने यहाँ सिद्धों की जाति ही अलग मानते हैं। उनकी पूजा ही अलग होती है। अलौकिक अजा प्रकृति ऐसी ही है।

दूसरा दृष्टांत दिया जो द्रव्य के स्वभाव से हो। जैसे अग्नि में गर्मी या प्रकाश होता है। वह भी वैसा का वैसा भूत भविष्य काल में बना रहता है। यह प्रकृति केवल कालान्तर मे ही नहीं देशान्तर में भी नहीं बदलती। ऐसा नहीं कि मंगल ग्रह में अग्नि ठण्डी मिल जायेगी। द्रव्य-स्वभाव का विचार करके वे लोग वहाँ पहुँच जाते हैं। अपने रात बेरात हो तो अनादरा प्वाइंट से आने में ही डरते हैं, लेकिन वे ठेठ चन्द्रमा में पहुँच जाते हैं, मंगल में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उन्हें पता है कि द्रव्य का ज्ञान जैसे यहाँ वैसे ही

Scanned by CamScanner

वहाँ। यह विश्वास करके वे वहाँ पहुँच जाते हैं। देशान्तर में भी द्रव्य का स्वभाव कभी नहीं बदलता। भाष्य की यह पंक्ति हमेशा याद रखनी चाहिये क्योंकि कई बार लोग कह देते हैं कि 'ऐसा भी हो ही सकता है'। कैसे हो सकता है? अगर बदलाव है तो स्वभाव नहीं है।

अपने साथ ही जो पैदा होती है वह सहज होती है। जैसे पक्षी इत्यादि में आकाशगमन मिलता है। और अकृत जो किसी ने नहीं की, जैसे पानी नीचे की तरफ जाता है। यहाँ चार से भिन्न अगर कोई पाँचवीं मिल जाये तो घबराना नहीं कि इन चार में ही सबको खींचकर लाओ। कोई भी चीज़ जो साथ न छोड़ती हो वह प्रकृति समझ लेना। जब जो मिथ्या कल्पित लौकिक पदार्थ हैं उनमें भी प्रकृति नहीं बदलती है तो फिर अज स्वभाव जो परमार्थ-वस्तु है जिसे सब लोग अमृत लक्षण वाला कहते हैं, उसकी प्रकृति न बदले इसमें क्या कहना है!।।९।।

●

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषयश्च ।।१०।।

प्रसंग आ गया तो जीवों की प्रकृति बता देते हैं। जीवात्मा स्वभाव से ही सारी विक्रियाओं से रहित हैं। वे देहतादात्म्याध्याससे अपने में जरा-मरण की कल्पना कर लेते हैं उसी चिन्ता के कारण अपने अजस्वभाव से विचलित बने रहते हैं।

किसी भी आत्मा या जीवात्मा को क्या आज तक कभी भी यह प्रतीति हुई है कि 'मैं बुड्ढा हो गया?' प्रतीति होती है कि 'यह शरीर पता नहीं काम क्यों नहीं करता।' यह तो लगता है कि यह घुटना ठीक होता तो बाकी सब ठीक है। पेट ज़रा गड़बड़ रहता है, लेकिन बाकी हमारे में कोई कमी नहीं आई। यदि हमारा बुढ़ापे का स्वभाव होता तो ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार 'मरना मेरा स्वभाव है' यह किसी को नहीं लगता। लगता है कि ज़बर्दस्ती मरना पड़ता है। 'शरीर धोखा दे रहा है। अच्छा डाक्टर नहीं मिल रहा है।' अगर किसी डाक्टर ने कह दिया कि 'तुम्हें अमुक रोग है लेकिन उसकी दवाई अमरीका में निकली है। कहो तो मँगा दें।' तब यह नहीं कहेगा कि 'मरना स्वभाव है', बल्कि झट कहेगा कि 'ज़रूर मँगवाओ। यही तो चाहिये, बस इससे ठीक हो जाऊँगा।' स्वभाव से ही वह जरामरणनिर्मुक्त है।

फिर यह गड़बड़ी कैसे होती है, इसका कारण क्या है? यद्यपि स्वभाव से तो वह जरामरण से रहित है लेकिन अपने अन्दर विक्रियाओं की कल्पना कर लेता है। उस वासना से वासित होकर अपना स्वभाव मानो बदलना चाहता है। जरा-मरण के अन्दर अपनी वासना से संकल्प करता है 'मैं बुड्ढा हो गया', प्रतीत ऐसा नहीं होता। इसमें दोनों बातें

Scanned by CamScanner

हैं। एक तो दूसरे करा देते हैं कि 'अब घुटना तो खराब होगा ही, बुड्ढे हो गये', यह कह कहकर करा दिया जाता है। इसी प्रकार 'अब तो मरोगे ही।' स्वयं वासनाओं की उत्पत्ति भी हो जाती है : दूसरे के शरीर को बुड्ढा देखकर हमने वहाँ आत्मा को बुड्ढा कहा, उस वासना से वासित अंतःकरण होने पर अपने को लगता है कि 'मैं भी बुड्ढा हो गया।' यह प्रत्यक्ष अनुभव देखा है। कोई भी देख सकता है। ८० साल वाले अमरीकन से और ६० साल वाले हिन्दुस्तानी से मिलो तो यह स्पष्ट हो जायेगा। अमरीकन को ८० साल से पहले 'मैं बुड्ढा हो गया' यह अभिमान नहीं होता। इसलिये वह ८० साल वाला कभी बुड्ढे जैसा व्यवहार भी नहीं करता। हमारे यहाँ साठ साल तक पहुँचते पहुँचते आदमी को निर्णय हो जाता है 'मैं बुड्ढा हूँ' क्योंकि वह दूसरे साठ साल वालों को बुड्ढा देखते हुए उस वासना से वासित हो गया। फिर उन वासनाओं को उद्बुद्ध करने वाले दूसरे भी हो जाते हैं 'अब तुम बुड्ढे हो गये।' वहाँ अस्सी साल वाला अपनी दो पेटियाँ उठाकर चल देता है और अपने यहाँ साठ साल में ही आदमी सोचता है कि 'कुली आता तो अच्छा था, मेरा शरीर अब कमज़ोर हो गया है।'

लेकिन यह शरीर आदि की कमज़ोरी कुछ नहीं है। कल ही हम पढ़ रहे थे। लंदन में तीन साल की गवेषणा (research) होकर परिणाम (results) निकले हैं। उन्होंने तीन साल तक कुछ लोगों को पक्का निरामिष (strict-vegetarian) रखा जिन्हें दूध भी पीने को नहीं दिया गया। केवल दाल रोटी साग ही खाते थे। बाकी सामिष वाले थे। उन्होंने पता लगाया कि निरामिष वालों का हृदय सामिष वालों की अपेक्षा मज़बूत रहा। कैंसर की सम्भावना तथा रोगों का प्रभाव भी उनपर सामिषों की अपेक्षा कम आया। उन्होंने यह निर्णय किया है कि निरामिष और सामिष दोनों में निरामिष भोजन ही शरीर में ज्यादा मज़बूती पैदा करता है। यह इसलिये कह रहे हैं कि लोग कहते हैं 'वे मांसमिट्टी खाते हैं इसलिये उनकी ताकत ज्यादा होती है और हम दाल रोटी खाने वाले, कहाँ से ताकत आये!' ये सब बेकार बातें हैं।

अपने यहाँ साठ साल होते ही आदमी कामकाज छोड़ने लगता है और कुछ नहीं करते करते शरीर की मांसपेशियों की ताकत क्षीण होती चली जाती है क्योंकि जिस अंग का प्रयोग नहीं करोगे वह थोड़े दिनों में बेकार हो जायेगा। इसलिये जब लोग बार बार कहते हैं कि हमारी प्रतिव्यक्ति उम्र बढ़ गई है तो हम हमेशा कहते हैं कि इस बात को प्रचारित करना चाहिये, बढ़ी हो चाहे न बढ़ी हो। पहले औसत उम्र इसलिये कम लगती थी कि बच्चे छोटी उम्र में ही मर जाते थे। एक बच्चा एक साल की उम्र में मरा और दूसरा अस्सी साल की उम्र में मरा तो औसत उम्र चालीस साल निकल आई! वस्तुतः औसत उम्र कुछ नहीं बढ़ती है, बढ़ती तो इसलिये है कि बालमृत्यु दर (Rate of child mortality) कम हो गई है, और कुछ नहीं हुआ। प्रचार इसलिये करना चाहिये कि इतना विवेचन कोई कोई समझेगा लेकिन मन की दृढ भावना ज़रूर होगी कि 'उम्र बढ़ गयी' और उस संकल्प के कारण लोग ज्यादा समय तक काम करते रहेंगे। यही उसकी उपादेयता है।

Scanned by CamScanner

भगवान् गौडपादाचार्य यहाँ एक बड़ा गंभीर मानस रहस्य बता रहे हैं और गाँधी जी के जीवन में यह बात प्रत्यक्ष हुई। आज़ादी के कुछ साल पहले वे कहा करते थे कि 'मैं ११० साल तक ज़रूर जियूँगा। पहले तो १२० साल जीने की इच्छा थी लेकिन मैंने जीवन में कुछ गलतियाँ की हैं इसलिये ११० साल तो ज़रूर जियूँगा।' और जैसे ही सन् ४६ में दंगे शुरू हुए, उन्हें रास्ता नहीं सूझने लगा, वैसे ही मन में आने लगा कि 'मैं मर जाऊँ तो अच्छा है'। परिस्थिति का सामना करने की मन में नहीं आई कि जब तक ये दंगे ही नहीं खत्म होंगे, पाकिस्तान की बात ही न ख़त्म हो, मुझे जीना है। यह वृत्ति लाते तो सम्भवतः ज़रूर जी रहे होते। लेकिन दूसरी वृत्ति आ गई कि 'मैं जो नहीं देखना चाहता था वह होने लगा। इसलिये मेरी आँखें मिच जायें तो अच्छा है।' यह अभावात्मक वृत्ति आई और तद्वासना से वासित होकर दो साल में मर गये। यह हो जाता है। मनुष्य किसी चीज़ को जब नहीं देखना चाहता तो मरना चाहता है इसलिये उन मन की वासनाओं से स्वाभाविक हानि हो जाती है। इसलिये उसका चिंतन करते करते तद्भावभावित हुआ बुड्ढा हो जाता है, मर भी जाता है। ऐसे ही सभी विक्रियायें समझ लेना। जैसी जैसी विक्रिया मन में आने लगती है वैसा वैसा ही होने लगता है। ये सब आचार्यों के अनुभव के वाक्य हैं।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं प्रकृति किसी चीज़ में रहेगी। जिसको प्रकृति विषय करेगी वह प्रकृति का आश्रय हो गया। प्रकृति की ग़लत कल्पना करें तो उसमें दोष क्या है? कहते हैं हानि है, यही दोष है। आत्मा के विषय में ही उनकी यह कल्पना है अर्थात् आत्मा की प्रकृति के विषय में ही उनका अन्यथा-ज्ञान है। बाकी कल्पना में हमें कुछ नहीं कहना लेकिन आत्मविषयक कल्पना उनकी ठीक नहीं।

यहाँ जरा मरण सुनाया, जन्म आदि छोड़ दिया लेकिन 'जरा मरण से रहित' का मतलब है सारे विकारों से रहित होना। अगर 'जन्मा हूँ' भी, तो यह तो हो चुका, उसके विचार से कोई फ़ायदा नहीं। जन्माकार वृत्ति बने या नहीं, इसका कुछ प्रयोजन नहीं! ऐसे ही जरा मरण की वृत्ति मत बनने दो। अब मैं बड़ा हो गया, बालक नहीं रहा— ये विचार बेकार हैं। 'मैं बुड्ढा नहीं और मर नहीं सकता' यह विचार व्यावहारिक लाभ का हुआ अतः इसे कह दिया। तात्पर्य यह है सारी विक्रियाओं से रहित हो।

ऐसा जरा-मरण आदि से रहित कौन है? सारे धर्म अर्थात् आत्मा। कोई ब्रह्मा विष्णु आदि ऐसे हुए होंगे जो सोलह साल के नित्य युवा बने रहते होंगे, ऐसा कुछ नहीं। तुम सब जीवात्मा ही जरा-मरण से रहित हो। किसी के मन में आया कि कुछ साधन योग आदि का करेंगे तब बुढ़ापा मिटेगा? कहते हैं वह सब कुछ नहीं करना है। यह तो वेदांत शास्त्र है, 'मैं बुड्ढा नहीं हूँ' यह भावना ही करनी है। यह तो स्वाभाविक है, यह कोई साध्य नहीं है जो प्रयत्न करना पड़े। यह बात भगवान् भाष्यकार ने कह दी क्योंकि सांसिद्धिकी सहजा अकृता की व्यावृत्ति करके कहा कि स्वभाव से है। गौडपादाचार्य ने भी स्वभावतः कहा, प्रकृतितः कह सकते थे लेकिन तब संदेह होता कि सिद्धि प्राप्त करने से होती होगी।

Scanned by CamScanner

इन आत्माओं के अन्दर जरा-मरण की वासना पहले अन्य में देखकर पैदा होती है, उसको देखकर फिर अपने अन्दर भी हो जाती है। उसे उद्‌बुद्ध कराने वाले दूसरे भी मिल जाते हैं। मूल में 'इच्छन्तः' पद में तीनों बातें आ जाती हैं : पहले अन्य को जरा-मरण वाला समझता है। उनके शरीर को बुड्‌ढा देखकर उन्हें ही बुड्‌ढा होने वाला मान लेता है। वहाँ संस्कार या वासना पड़कर जब अपने शरीर को देखता है तो अपने शरीर में यह भाव आ जाता है। फिर दूसरे साथी यह भाव उद्‌बुद्ध करा देंगे।

इसको हटाने का तरीका हुआ कि जब भी किसी को बुड्‌ढा देखो विचार करो कि 'यह बुड्‌ढा कैसे हो सकता है? यह नित्य युवा है।' उसी प्रकार अपने शरीर में कोई ऐसी चीज़ आये तो यही सोचो कि 'और एक चीज़ आ गई, हुआ क्या?' आखिर बचपन की कई चीज़ों को साथ नहीं लिये फिरते। बचपन में हाथ पैर दोनों पर चल लेते थे अब नहीं चल सकते तो यह थोड़े ही सोचते हो कि 'हाय! क्यों वह वक्त चला गया!' ऐसे ही पहले दौड़कर चलते थे, अब नहीं चल पाते तो दुःखी क्यों? जब घोड़ी लेकर चले तब किताब नहीं बाँचते थे, जवानी में विवेक जाग्रत् नहीं था, हमेशा मटरगश्ती ही सूझती रहती थी। अब वह चीज़ चली गई, बुद्धि में विवेक आया, उसे देखो। घुटने में दर्द है, पैर से चलना कम हो गया, उसे क्यों देखो? दूसरे में यह दृष्टि करो, अपने में करो और फिर जब किसी साथी में जरामरण आये तो उसे भी हटाने की चेष्टा करो।

किसी ने कहा ऐसी इच्छा कोई नहीं करता। समझाते हैं कि सचमुच तो आदमी ऐसी क्या इच्छा करे! लेकिन अंतःकरण आदि धर्म से ऐसी इच्छा वासनाओं के कारण हो जाती है। इसलिये कहा 'मानो इच्छा कर रहा है'। जैसे हिन्दी में कहते हैं 'अब यह पेड़ गिरा चाहता है।' पेड़ की कोई गिरने की इच्छा नहीं है, गिरने वाला ही है, यही इच्छा का मतलब है। अर्थात् इच्छा की तरह। जैसे रस्सी में साँप-कल्पना, ऐसे ही अपने में जरा-मरण की कल्पना है।

आत्मा में इस प्रकार कल्पना करता हुआ अपने स्वभाव से च्युत हो जाता है यह जवाब दे दिया। कल्पनामें क्या दोष है? जरा-मरण धर्मों की कल्पना आत्मा में करने का दोष यह बताया कि स्वभाव से गिर जाता है। ऐसा बार-बार मनीषा से अर्थात् मन बुद्धि में निश्चय करने से होता रहता है। जन्म मरण का निश्चय रहता है और उस भाव से भावित दोष को प्राप्त करके फिर बेचारा जन्म जाता है, मर भी जाता है। यह दोष है क्योंकि जन्म मरण का चक्र इसी कारण से है।।१०।।

●

यह जो प्रकरण प्रकृति का बीच में आ गया था उसे स्पष्ट कर दिया। अब उसे छोड़कर मूल प्रकरण जो गौतम-कपिल का चला था उसी को उठाते हैं।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ।।११।।

Scanned by CamScanner

जिस वादी के यहाँ कारण ही कार्य रूप से उत्पन्न होता है उसको यही मानना पड़ेगा कि कारण ही उत्पन्न होता है। अब यदि कारण उत्पन्न होता है तो वह अज कैसे होगा? तुम यह भी मानते हो कि महत् आदि रूप से प्रकृति ही पैदा होती है। कारण कार्य का अभेद है और फिर उसे अज कहते हो। यह कैसे होगा? तुम जिस प्रधान या प्रकृति को मानते हो उसमें तीन गुण और मानते हो। सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों की और कल्पना कर रखी है। जिसके अन्दर यह तीन प्रकार का भेद है, वह टुकड़े वाली चीज़ नित्य कहाँ से हो सकती है? इसलिये वह प्रकृति नित्य भी नहीं और अज भी नहीं फिर भी तुम उसे नित्य मानते हो!

सत् का ही जन्म होता है ऐसा मानने वाले सांख्यों की यह मान्यता किस प्रकार अनुपपन्न है अर्थात् युक्ति से विरुद्ध है, इस बात को वैशेषिक बोल रहा है। यह वैशेषिक के खण्डन का प्रकार हुआ। सांख्य परिणामवादी है। कारण से यहाँ उपादान कारण समझो, निमित्त कारण तो इनके यहाँ पुरुष है, प्रकृति उपादान कारण है। कारण ही कार्य है ऐसा वे मानते हैं। उसी को स्पष्ट कर दिया कि कारण ही अर्थात् मिट्टी ही कार्यरूप में अर्थात् घड़े के परिणाम को प्राप्त होती है। उस सांख्यवादी के यहाँ अज रहते हुए ही प्रधान आदि कारण है। वही महत् आदि कार्य रूप से उत्पन्न होता है। यहाँ भाष्य में पाठभेद है। यदि 'प्रधानमादिकारणम्' पाठ हो तो प्रधान ही आदि कारण है। और 'प्रधानादि' पाठ हो तो सत्त्व-गुण, रजोगुण, तमोगुण इन उसके अवयवों को समझना चाहिये। सांख्य सिद्धान्त में अंतःकरण सत्त्वगुण से, प्राण और कर्मेन्द्रियाँ रजोगुण से, बाह्य विषय तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। महद् आदि के आदि से अहंकार, तन्मात्रायें ले लेना। महद् आदि आकार से उत्पन्न होता है तो प्रधान अज कैसे है? उल्टी बात है कि पैदा होता है और अज है।

इतना ही नहीं वे उस प्रकृति को नित्य भी मानते हैं। तुम्हारी जो प्रकृति है उसमें सत्त्व रज तम तीनों अलग अलग हैं, बीच बीच में फूटा हुआ है तभी उसमें तीन हैं। एक दूसरे से तब मिलेंगे जब जगह छोड़ोगे! तब यह कैसे नित्य होगा? नियम है कि जो सावयव होता है वह अनित्य हुआ करता है, जैसे सावयव घट आदि। टुकड़े वाले का एक देश फूट सकता है। ऐसा पदार्थ नित्य कभी नहीं देखा जाता।

किसी ने कहा— 'हे नैयायिक! तू तो ज़बर्दस्ती का अनुमान करता है, हमारी सांख्य स्मृति को तू नहीं मानता। हम मानते हैं कि वह एकदेश से अज और एकदेश से पैदा हो जाती है।' पुराणों में आया कि अनंत ब्रह्म के एक छोटे से देश में जगत् उत्पन्न हो रहा है, माया के एक देश में सब उत्पन्न होता है। ऐसी ऐसी कथायें वहाँ आती हैं। इसी प्रकार इन्होंने कहा कि प्रकृति एकदेश में अज और एकदेश में जन्म लेती है। वैष्णव मानते हैं कि कृष्ण का एकदेश गोलोक में बना रहता है और एक रूप से यहाँ भी बैठे रहते हैं; नहीं तो वहाँ गद्दी खाली हो जायेगी!

Scanned by CamScanner

लेकिन यह तो विप्रतिषिद्ध बात है। कैसे विप्रतिषिद्ध है? एक आदमी की मुर्गी रोज़ अण्डा देती थी और उसके घर वाले रोज़ अण्डा खाते रहते थे। एक दिन उस आदमी को मुर्गी खाने की इच्छा हुई। घर वाली से कहा कि 'मुर्गी बना कर खिला।' उसने कहा कि 'रोज़ अण्डा मिलता है।' तब उस आदमी ने कहा कि 'उसका अगला हिस्सा बनाकर खिला दे, पिछले हिस्से से अण्डा निकलता रहेगा!' ऐसे ही यह सिद्धांत विप्रतिषिद्ध है कि एक देश से प्रकृति विकारी और दूसरे देश से अज बनी रहेगी।।११।।

●

इसी को आगे बिल्कुल स्पष्ट करते हैं—

कारणाद्यद्यनन्यत्वं ततः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात् कारणं ते कथं ध्रुवम् ।।१२।।

कार्य और कारण का तुमने अभेद माना। इसमें दो पक्ष हो सकते हैं : या कारण से अभिन्न कार्य, या कार्य से अभिन्न कारण है। ये दो विकल्प हैं। प्रथम विकल्प के अन्दर यदि कारण से अभेद मानते हो तो फिर जब तुम कारण को अज मानते हो तो कारण से कार्य अभिन्न होने से कार्य भी अज हो गया। इसलिये जब उसे अज माना तो उसे जायमान नहीं मान सकते। इसमें यह दोष आ जायेगा। दूसरा विकल्प— कार्य से कारण अभिन्न है। यदि जायमान जो कार्य है उसके साथ कारण की एकता है तो फिर तुम कारण को ध्रुव नहीं मान सकते। या उसे अनित्य मानो या अजायमान मानो। दोनों बातें कैसे हो सकती हैं?

जो पूर्व श्लोक में कहा था उसी को ज़रा स्पष्ट करके कह रहे हैं। बात कोई नई नहीं है। जायमान कैसे अज हो सकता है? उसी को दो विकल्पों से स्पष्ट करते हैं कि दोनों नहीं बनते। कारण को तुम अज मानते हो उससे यदि तुम कार्य की एकता स्वीकार करते हो तो फिर कार्य को अज ही मानना पड़ेगा। यह तुम्हारे ऊपर एक और विरोध आ जाता है। कार्य कारण का अभेद मानने पर यह दोष आ जायेगा कि उसको तुम कार्य भी कहोगे और अज भी कहोगे। कार्य हुआ ही वह जो पैदा होता हो। उसे अज नाम से कैसे कहोगे? यह भी बोलना विरुद्ध हो जायेगा।

इसमें भाष्यकारों ने 'तव' लिखकर स्पष्ट कर दिया कि तुम्हारे यहाँ ही ऐसा प्राप्त होगा। क्योंकि हो सकता है कि सांख्यवादी हम लोगों से दोस्ती करने लग जाये और कहे कि 'तुम भी ऐसा ही मानते हो कि कारण अज और कार्य जायमान है। फिर तुम किस युक्ति से बचते हो?' हमारे यहाँ यह नहीं होगा क्योंकि हमारे यहाँ तो अनन्यता मायिक है। हमारे यहाँ जैसे रस्सी से साँप पैदा हुआ, ऐसी उत्पत्ति है, समानसत्ताक नहीं। इसलिये यह दोष हमारे ऊपर नहीं आयेगा। मृगमरीचिका से अणुमात्र भी बालू गीली

Scanned by CamScanner

नहीं होगी। तुम कहते हो कि 'सच्चा जल मानो और गीला न होने दो', यह नहीं हो सकता। झूठा मानकर तो हो सकता है।

एक बात और भी है कि कार्य और कारण को अनन्य मानते हो तो यह नित्य और ध्रुव तुम्हारी प्रकृति कैसे सिद्ध होगी? यह तो वही बात हुई कि मुर्गी के एक देश को पकाकर खा लो और एक देश से प्रसव होता रहे! यह काम नहीं बन सकता। कार्य को अनित्य, कारण को नित्य; उससे उसको पैदा होने वाला भी मान लो, यह सब कैसे हो सकता है।।१२।।

●

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ।।१३।।

और भी तुम्हारे यहाँ दोष आ जाते हैं। प्रधानवादी या प्रकृतिवादी मानता है कि अज प्रकृति से अभिन्न महद् आदि उत्पन्न होते हैं। इस में कोई न कोई दृष्टांत देना पड़ेगा। अज प्रकृति से महद् आदि की उत्पत्ति तूने बताई, लेकिन इसका दृष्टांत तेरे को कहाँ मिलना है? क्योंकि लोक में हर कारण किसी न किसी का कार्य ही है, अज कोई नहीं। और कार्य से ही उत्पत्ति मानने में अनवस्था स्पष्ट है।

अगर कहो कि 'दृष्टांत नहीं मिले तो भी मान लो'; तो क्यों मानें? हम वेद की आज्ञा को तो बिना दृष्टांत के मान लेते हैं, लेकिन तुम प्रक्रियाओं को युक्ति के बल से सिद्ध करना चाहते हो, वह बिना दृष्टांत के नहीं बनेगा। चाहे सांख्यवादी हो चाहे काणाद हो। इनका कहना है कि 'हम अनुमान के बल से ही चीज़ सिद्ध करेंगे।' आँख मीचकर वेद मानना हो तब तो व्यवस्था बन जाती है। युक्ति में तो दृष्टांत देना पड़ेगा, नहीं तो अनुमान नहीं बनेगा। प्राचीन सांख्यवादी प्रत्यक्ष और अनुमान, दो ही प्रमाण मानते थे। वैशेषिकों की भी यही प्रक्रिया है। थे आस्तिक दर्शन वाले इसलिये वेद को प्रमाण तो मानते थे लेकिन वे वेद को अनुमान के अंतर्गत प्रमाण मानते थे। उनका अनुमान यह होता था कि अप्रतिहत वाक्य सत्य होता है जैसे पिता का वाक्य। पिता ने जो बात कही वह अप्रतिहत होती है, कटती नहीं। आजकल के पिता नहीं समझना! ऐसे ही वेद की आज्ञा कटती नहीं है, अप्रतिहत होती है इसलिये वह सत्य है। इस प्रकार वे शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानते थे; स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते थे। इसलिये उनसे कहते हैं कि हर हालत में दृष्टांत तो देना पड़ेगा। लेकिन दृष्टांत तुम्हें कहीं मिल नहीं सकता जहाँ अज से जन्म हो।

तो कोई बोल पड़ा कि 'यदि अज नित्य वस्तु से जन्म स्वीकार नहीं कर सकते हैं तो जात से ही जन्म मान लो। हम प्रकृति को भी जात ही मान लेंगे। यह पैदा होकर आगे इससे जायमान सृष्टि होती जायेगी।' कहते हैं कि जो उत्पन्न हुआ है उसी से जायमान मानते

Scanned by CamScanner

हो तो उत्पन्न की उत्पत्ति से आगे तुम व्यवस्था बना नहीं पाओगे। सिद्धान्त छोड़ दो, प्रकृति की अजता छोड़ भी दो, फिर भी समाधान नहीं होना है। जैसे किसी बीमार को कहा कि 'लहसुन खा ले तो ठीक हो जायेगा।' उसने भी सोचा कि नरक जायेंगे तो जायेंगे, अभी तो रोग दूर हो और उसने लहसुन खा लिया। लेकिन रोग फिर भी दूर नहीं हुआ। वही बात हो जायेगी कि धर्म भी गया और रोग भी ठीक नहीं हुआ। इसी प्रकार यह सोचकर कि प्रकृतिवाद असिद्ध हो जाता है अपना सिद्धान्त छोड़ भी दोगे तो भी व्यवस्था नहीं बनेगी।

भाष्य में समझाते हैं कि जिस वादी के यहाँ अज वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है उसको दृष्टांत नहीं मिलेगा और दृष्टांत के अभाव में यह सिद्ध होगा कि अज से कुछ उत्पन्न नहीं होता। अज प्रकृति को माना, उससे उत्पन्न होने वाली चीज़ कोई नहीं मिली तो निश्चित है कि कोई उत्पन्न नहीं हो सकता। तुमने ब्रह्म को छोड़कर प्रकृति इसलिये मानी कि जगत् दीखता है तो कारण होना चाहिये, उसके लिये प्रकृति मानी। अब पता चला कि उससे उत्पन्न नहीं हो सकता, तो केवल ब्रह्म ही मानो! क्योंकि प्रकृति मानकर भी व्यवस्था नहीं बननी है।

उसने कहा कि 'दृष्टांत के अभाव से यदि दूसरी बात मान लें तो?' तब तुम्हें जात से जायमान वस्तु को स्वीकार करना पड़ेगा। जब उसे जात कह दिया तो फिर वह दूसरे से पैदा होगी, वह फिर आगे तीसरे से पैदा होगी। इसलिये फिर व्यवस्था की तो प्राप्ति होगी ही नहीं, अनवस्था हो जायेगी।।१३।।

●

अब दूसरा द्वैती, कर्मकाण्डी और उपसाक, अर्थात् मीमांसक खड़ा हुआ 'आपने बड़ा अच्छा किया जो सांख्यों का खण्डन किया। ये त्रिगुणात्मिका प्रकृति, सत्त्व, रज और तम से उत्पत्ति मानते हैं। ये पक्के आस्तिक नहीं हैं। पक्के आस्तिक तो हम ही हैं।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ।।१४।।

हम मानते हैं कि आदमी शुभ अशुभ कर्म करता है उससे अगले शरीर की प्राप्ति होती है। उससे फिर कर्म-उपासना करके फिर शरीर मिलता है। ऐसे संसार चल रहा है। सांख्यवादी जो प्रलय आदि मानते हैं वह ठीक नहीं। हमारे यहाँ तो आदमी कर्म की खेती बोता है, उसे काटता है। फिर बोता है और फिर काटता है।' इस प्रकार कर्म-उपासना मानने वाले के यहाँ धर्म-अधर्म आदि कारण हो गया और उससे फल शरीर आदि की प्राप्ति हो गई। दूसरी तरफ फिर उस फल से हेतु की उत्पत्ति हो गई अर्थात् शरीर से फिर धर्म अधर्म कर लिया। इसलिये वह कहता है कि हमारी व्यवस्था ठीक हो गई। हम वेद मानने वाले भी हैं और वेदों में ऐसा लिखा भी है। हमको कोई दृष्टांत भी नहीं देना पड़ेगा। हम तो जैसा लिखा है वैसा ही मानते हैं।

Scanned by CamScanner

उससे कहते हैं कि एक बात बताओ : तुम धर्म-अधर्म आदि को अनादि मानते हो या सादि मानते हो? यदि कहते हो कि धर्म-अधर्म अनादि हैं, तो फिर शरीर से करने से कैसे पैदा होंगे? और यदि धर्म-अधर्म को अनादि नहीं मानते हो तो यह बताओ कि ये धर्म-अधर्म किसने बनाये? दोनों में से एक पक्ष मानना पड़ेगा। सादि मानोगे तो धर्म पौरुषेय हो जायेगा और अनादिता बनने वाली नहीं है। इस तरह दोष ही दोष आ जायेंगे। यहाँ द्वैत का निरास श्रौत विद्वदनुभव को लेकर किया है कि श्रौत बात भी विद्वानों के अनुभव के विरुद्ध नहीं हुआ करती।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि मीमांसकको यह बोलने का साहस हुआ क्योंकि वेदवाक्य मानकर हम अद्वैत मानते हैं तो उसने सोचा हम भी इनके साथी हैं। पारमार्थिक दृष्टि से द्वैत का अभाव श्रुति ने बताया है। लेकिन यह उस श्रुति का ही आश्रयण कर वास्तविक द्वैत कहते हैं। धर्म-अधर्म वगैरा का आदि अर्थात् कारण देह वगैरा का संघात है और देहादिसंघात फल उसी धर्म-अधर्म वगैरा का है। उसी प्रकार धर्म-अधर्म वगैरा फल देहादिसंघात का है। इसलिये हेतु और फल एक दूसरे के कार्य कारण हैं अर्थात् शरीर कार्य हुआ धर्म अधर्म का और आगे फिर धर्म-अधर्म का कारण हो गया। इसी प्रकार धर्म-अधर्म आदि कारण शरीर के हो गये। इस प्रकार एक दूसरे के प्रति कार्य-कारण-भाव चलता रहता है।

इस प्रकार इतरेतर कार्यकारणता को वे आदि भी कह रहे हैं। जब उत्पन्न होने वाला हुआ तो आदि वाला हुआ। फिर कहते हो कि हमारा धर्म-अधर्म नित्य है, अनादि काल से चला आया है, क्योंकि वेद अनादि हैं और धर्म-अधर्म को करने वाले जीव भी अनादि हैं। दोनो में से हरेक को सादि और फिर दोनों को मिलाकर कहते हैं कि अनादि हो गया! यह कैसे होगा? खुद ही कार्य कारण रूप से कह रहे हो और फिर अनादिता भी कहते हो। इस प्रकार तुम बिल्कुल ही विरुद्ध बात कैसे कहते हो?

कोई पूछे कि फिर आदमी के बंधन का कोई कारण तो होता ही होगा? तो हम मानते हैं कि नित्य कूटस्थ आत्मा में हेतु-फलता नहीं है। यह तो माया के कारण, अज्ञान के कारण प्रतीत हो रही है।।१४।।

●

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ।।१५।।

जिन वादियों के यहाँ हेतु का कारण कार्य हुआ करता है— जैसे कार्य हो गया शरीर और उस शरीर का कारण धर्म-अधर्म आदि, धर्म-अधर्म आदि का कारण शरीर और उस शरीर का कारण फिर धर्म-अधर्म आदि— यदि उनकी बात सच्ची होने लगे तो बाप से बेटा पैदा हुआ और वह बेटा ही फिर अपने बाप का बाप बन जाये! यह अच्छा कर्मकाण्ड का सिद्धान्त चलाया!

Scanned by CamScanner

उन्होंने जो माना वह विरुद्ध कैसे है यह खोलकर बताते हैं। संसार को वे अनादि मानते हैं। संसर में दो ही चीज़ें मिलती हैं— हेतु और फल। हेतु से उत्पन्न हुआ तो फल है उसी से वे कारण का जन्म मान लेते हैं। इसलिये उनका तो ऐसा उलटा बोलना है जैसे बेटे से बाप की उत्पत्ति मान लो।।१५।।

●

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।
युगपत्संभवे यस्मादसम्बन्धो विषाणवत् ।।१६।।

कारण और कार्य की उत्पत्ति में आपको क्रम मानना पड़ेगा क्योंकि दोनों का इकट्ठे ही जन्म हो तो परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध नहीं होगा जैसे साथ ही उत्पन्न होने वाले दो सींगों का आपस में हेतुफलभाव नहीं होता।

शरीर से धर्म-अधर्म और धर्म-अधर्म के कारण शरीर— यह हमको प्रत्यक्ष दीख रहा है। धर्माधर्म प्रत्यक्ष तो नहीं लेकिन कार्यानुमेय है। पैदा होते हुए कोई बड़ा कोई छोटा पैदा हो रहा है इस प्रतीति के अनुसार हम मानते हैं कि धर्माधर्म इस भेद का कारण है। अतः शरीर-धर्मादि-शरीर इस कार्यकारण परंपरा का अपलाप कैसे करते हो?

इस पर कहते हैं कि धर्म, अधर्म और शरीर दीख रहे हैं इसको ना नहीं करते लेकिन इनमें कार्यकारणता क्यों माननी? कार्यकारणभाव के लिये दोनों में कोई न कोई क्रम भी मानना पड़ेगा क्योंकि दोनों एक साथ होंगे तो परस्पर हेतुफलभाव वाले नहीं होंगे। जैसे गाये के दायें और बायें सींग एक साथ होते हैं तो उनमें एक, दूसरे का कारण नहीं होता। अतः युगपत् जन्म मानने से व्यवस्था बनेगी नहीं। क्रम भी व्यवस्था नहीं बना सकता यह आगे (श्लोक-१९) बतायेंगे।।१६।।

●

अधिकतर संसार के लोग यही मानते हैं कि कार्य से कारण और कारण से कार्य होता है। पूर्व श्लोक में कहा कि यदि कार्य और कारण तुम मानते हो तो कारण हमेशा कार्य के पहले होना चाहिये जबकि कार्य और कारण दोनों तुमको एक साथ दीखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गाय के सींगों की तरह दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं। अब इस व्याप्ति का अनुग्राहक तर्क बताते हैं —

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ।।१७।।

फल से जो उत्पन्न होगा वह कारण कैसे बन जायेगा? अर्थात् जिसकी सत्ता फल के अधीन है वह फल के पहले कैसे रहेगा? और बिना फल के बाद रहे वह कारण

Scanned by CamScanner

नहीं हो सकता क्योंकि तुम्हारा कहना है कि कार्य से कारण (और कारण से कार्य) यों एक दूसरे के प्रति हेतु होते हैं। जो हेतु बिना फल के स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकता वह अविद्यमान हुआ कैसे किसी चीज़ को पैदा कर सकता है? यदि कोई चीज़ बिना हुए ही फल को उत्पन्न करे, तो खरगोश के सींग या वन्ध्यापुत्र से भी कुछ उत्पन्न हो जाना चाहिये।

जो चीज़ होगी वही तो किसी चीज़ को पैदा करेगी। शरीर के हुए बिना जो सिद्ध ही नहीं हो सकते वे धर्म-अधर्म शरीर का कारण कैसे बनेंगे? हेतु पहले ही सिद्ध नहीं है तो वह आगे फ़ल को कैसे उत्पन्न करेगा? इससे सिद्ध हुआ कि हेतु-फल-भाव ही असिद्ध है अर्थात् कार्य-कारण-भाव ही असिद्ध है। जब कार्य और कारण में कोई क्रम नहीं फिर उनमें कार्यकारणभाव रूप जो सम्बन्ध है, यह सिवाय कल्पना के क्या है?

जो क्रमवर्ती नहीं है ऐसे कार्य और कारण में, धर्माधर्म और शरीर में सम्बन्ध नहीं है, इसमें प्रमाण क्या है? बताते हैं : फल वह होता है जो पैदा होता है। तुम मानते हो कि जो जन्य— होने वाला— है उसी से आगे हेतु को पैदा होना है। तो फिर फलकाल में हेतु कहाँ मिलेगा, क्योंकि फल के आगे हेतु को उत्पन्न होना है? स्वतः अर्थात् स्वरूप से; कारण जब फल से जन्य है तो उसके अधीन लब्धस्वरूप होगा। फल तो अभी है ही अलब्धस्वरूप, तो हेतु उससे कैसे पैदा होगा? शरीर से धर्मादि को पैदा होना है। जब शरीर है ही नहीं तो धर्मादि कैसे पैदा होंगे? शरीर क्यों नहीं है? क्योंकि शरीर को धर्मादि से पैदा होना है। जब धर्मादि ही नहीं हैं तो शरीर कैसे पैदा होगा? जैसे खरगोश के सींग या वंध्यापुत्र जब उत्पन्न नहीं हुआ तो आगे उससे फल कैसे बन सकता है? जैसे खरगोश के सींग नहीं तो उससे कुछ पैदा नहीं हो सकता, वैसे ही जो कारण मौज़ूद ही नहीं वह कार्य को कैसे उत्पन्न कर सकता है? अतः हेतु अप्रसिद्ध हुआ अर्थात् कारण उत्पन्न हो सकता ही नहीं। तो जिसका स्वरूप अभी अलब्ध है, जिसकी सत्ता अभी हुई नहीं है, इस प्रकार असद्रूप हुआ वह फल को उत्पन्न नहीं कर सकता यह सीधी सी बात है।

हैं ये सब सत्कारणवादी जो सत् से उत्पत्ति मानते हैं असत् से उत्पत्ति नहीं मानते। 'तव' के द्वारा बताया कि यह सत्कारणवादी के मत में दोष है। उससे कहते हैं कि तू शून्यवादी बौद्ध तो है नहीं जो असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है।

इसलिये बिना हुआ जो फल है वह हेतु को कैसे उत्पन्न करेगा? जो एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध है— कार्य हो तब कारण सिद्ध हो, कारण हो तो कार्य की सिद्धि— और बिना एक दूसरे के खुद खरगोश के सींग की तरह हैं, उनका कार्य-कारण-रूप से कहीं भी सम्बन्ध नहीं देखा गया है। किसी और प्रकार से भी उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। 'और प्रकार' जैसे आधार-आधेय-भावादि। कार्य और कारण दोनों युगपत्

Scanned by CamScanner

ही मिल रहे हैं इसलिये दोनों में से कोई एक पूर्वक्षण में रहे ऐसा नहीं कह सकते। जब पूर्वक्षण में कार्य नहीं तो उससे उत्पन्न होने वाला कारण किससे पैदा हो? ऐसे ही जब पूर्वक्षण में कारण नहीं तो कार्य किससे पैदा हो? इसिलये युगपत् वाला पक्ष असंभव हो जाता है।।१७।।

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ।।१८।।

पूर्वमीमांसक कहता है कि तुम भी वेद मानते हो और वेद कहता है 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' पुण्य करने से मनुष्य को पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है। श्रुति से धर्म-अधर्म और फलों में हेतु-फल-भाव की प्राप्ति हो जाती है।

यह शंका होती है तो उसका जवाब देते हैं कि श्रुति भी जो सम्भव अर्थ हो उसी को बता सकती है। असम्भव चीज़ को वेद नहीं कह सकता। वेद के कहने से असम्भव सम्भव थोड़े ही हो जायेगा! हेतु की फलसे और फल की हेतु से सिद्धि मानो तो यह कैसे निर्णय करोगे कि पहले कौन है?

फिर वेद की व्यवस्था क्या है? यह ज़रा कठिन विषय है। वेद यह कहता है 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' तो वेद ही यह भी कहता है 'एनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' जिसको ऊपर उठाना होता है परमेश्वर उससे शुभ कर्म करवा लेते हैं। इसका मतलब हुआ कि जिसको पुण्य लोक में ले जाना होता है उसको पुण्य कर्म के माध्यम से ले जाते हैं। तो इसमें कार्य-कारण कहाँ है? कभी शांति से बैठकर विचार करो तो अपने आप ही पता लगने लगता है। 'हम आज शुभ कर्म क्यों कर रहे हैं?' कहोगे 'पहले शुभ कर्मों का संस्कार उदय हुआ है इसलिये।' 'फिर दो ही मिनट बाद दूसरे को गाली क्यों देते हैं?' 'क्योंकि अशुभ संस्कार का उदय हुआ है।' तो दस मिनट पहले अशुभ संस्कार उदय क्यों नहीं हुआ? दस मिनट बाद ही क्यों हुआ? विचार करके अपने ही आप पता लग जाता है कि कुछ कारण नहीं है। वह संस्कार न शुभ कर्म के कारण और न अशुभ कर्म के कारण उदय हुआ है। बजाय इस व्यवस्था के सीधा ही मान लो 'ईश्वरः सूर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति', इसलिये कार्य कारण भाव को छोड़ो।

वेद आदि ने जो 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' कहा तो वह संकेत हो गया : अर्थात् यदि अपने मन में शुभ संस्कार उदय होते चले जा रहे हैं और शुभ कर्म होते चले जा रहे हैं तो संकेत मिल रहा है कि भगवान् स्वर्ग ले जाना चाहते हैं। यदि अशुभ संस्कार उदय होने के कारण अशुभ कर्म हो रहे हैं तो संकेत है कि भगवान् नरक ले जाना चाहते हैं। सचमुच तुम कर रहे हो यही तो भ्रांति है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि असम्बन्धता रूपी दोष को जब हमने अच्छी प्रकार से तुमको समझा दिया तो हेतु-फल-भाव को हटा दिया कि हेतु-फल भाव नहीं बनता।

Scanned by CamScanner

कार्यकाल में कारण नहीं, कारणकाल में कार्य नहीं तो कार्य कारण दोनों एक साथ कैसे बनेंगे? इतने पर भी यदि कार्य-कारण-भाव की अन्योन्यसिद्धि तुम वेद प्रमाण से ज़बर्दस्ती मानना ही चाहते हो, तो फिर यह बताओ कि दोनों में से पहले कौन हुआ? कारण-कार्य-भाव मानते हो तो यह बताना पड़ेगा जिसको लेकर तुम आगे होने वाले की सिद्धि करो।

श्रुति ने कहा 'पुण्य कर्म करके पुण्य लोक में जाता है' तो हमारा प्रश्न है कि पुण्य कर्म यदि कारण है तो सारे क्यों नहीं कर लेते? फिर बलात् कहना पड़ेगा कि 'पहले के किये हुए संस्कार कारण हैं'। तो फिर इस पुण्य को कारण क्यों, संस्कार को कारण मानेंगे। वे संस्कार क्यों पड़े थे? इन प्रश्नों का जवाब मीमांसक को देना चाहिये।।१८।।

●

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ।।१९।।

फिर तुम यही कहोगे कि यह तो पता हमको नहीं लग सकता है कि पहले धर्म है या पहले शरीर है। यह अशक्ति है अर्थात् अज्ञान है। यह निग्रहस्थान होता है। जिस बात का तुमको पता नहीं उसकी तुम प्रतिज्ञा कर रहे हो। जब प्रश्न उठे तब उत्तर की जानकारी न होना 'अप्रतिभा' नामका दोष है जिससे वादी की असमर्थता व्यक्त होती है और वह हारा माना जाता है। और अगर क्रम मानो नहीं तो तुम्हारी प्रतिज्ञा का त्याग हुआ, यह भी दोष है। इस प्रकार विद्वान् अजाति का प्रकाशन करते हैं।

अनुभव में यह आता है कि मनुष्य के शरीर और मन का यदि ठीक प्रकार से विश्लेषण करके देखो तो मनुष्य कैसा बनेगा, यह उसके माता पिता और उसके अन्दर होने वाला जो स्वरूप है— आजकल 'जीन्स' कहने लगे हैं— वह उससे बहुत ज्यादा निर्णीत-सा ही लगता है। जो हम लोग यह मान लेते हैं कि मन की स्वतंत्रता है वह कुछ खास है नहीं। साधारणतः अनुभव करके देखो कि तुम्हारे मन में बड़ी चिंता हो रही है। हम तुमसे कहते हैं 'मन की चिंता को छोड़ दो।' तुम कहते हो 'कोशिश कर रहे हैं, छूट नहीं पा रही है।' तुम्हारा मन चिंता को नहीं छोड़ पा रहा है। हमने तुम्हें बढ़िया सुन्दर भाँग का गोला बना कर दिया तो तुम हँसी मज़ाक से बातें करते हो। वह चिंता कहाँ गई? इसका मतलब हुआ कि शरीर के परमाणुओं के अधीन तुम्हारा मन हुआ। अब जब शरीर के परमाणुओं के अधीन है तो यदि तुम्हारा बाप अत्यंत चिंता करने वाला था तो उसके शुक्र कीट में चिंता वाला पदार्थ आया और उससे तुम्हारा शरीर-निर्माण हुआ तो तुम चिंता ही करोगे, और तुम करोगे क्या? इसी प्रकार सारी चीज़ों में समझ लना। जितना विकार का विचार करो तो उसके अन्दर शरीर के तत्त्व मिल जाते हैं। हम लोग मानते हैं कि हम बड़े स्वतंत्र हैं लेकिन बौद्धिक दृष्टि से विचार करो तो कुछ स्वतंत्रता नहीं। अब प्रश्न होता है कि हमारा शरीर ऐसा क्यों बना? कहोगे हमारे

Scanned by CamScanner

पिता के ऐसे विचार थे, ऐसे कीटाणु थे। आखिर पिता के कीटाणु ऐसे क्यों थे? कहोगे यह तो पता नहीं, अशक्ति अर्थात् अप्रज्ञान है।

दूसरा दोष क्रमकोप का देते हैं। यदि कहो कि हमको पता नहीं लेकिन यहाँ तो धर्म से शरीर और शरीर से धर्म दोनों को एक दूसरे के अनंतर मानते रहेंगे, तो भी बिना क्रम को बताये हुए कार्य-कारण बताना बेकार है क्योंकि कारणता का मतलब नियतपूर्ववृत्तिता है, यह नहीं बन सकेगी तो फिर क्रमकोप रूप दोष हो जायेगा। इस प्रकार जो वेदांत तत्त्व को समझने वाले लोग हैं उन्होंने सब प्रकार से अजाति को ही प्रकाशित किया है। हेतु और फल में जब तक यह पता नहीं कि यह पहले और यह बाद में, तब तक कार्य-कारण-भाव नहीं बनता।

भाष्य में कहा कि यदि यह नहीं बता सकते हैं कि पहले क्या और बाद में क्या तो उत्तर के अवसर पर उत्तर का जो अपरिज्ञान है वह अशक्तिसूचक निग्रहस्थान है। उसको अप्रतिभा कहते हैं। आजकल के लोगों की तरह नहीं कि उनसे कहो कि 'यह बात कैसे कही?' तो कहते हैं 'यही तो पता नहीं, यही तो आपसे पूछ रहे हैं।' खुद ही प्रतिज्ञा करे और खुद ही कह दे कि पता नहीं, तो यह अशक्ति है, अपरिज्ञान है अर्थात् तत्त्व का अविवेक है। 'कह नहीं सकते' का मतलब है कि तुम जानते नहीं हो, सीधा कहो। इसी का नाम मूढता है। मूढता का लक्षण है कि जो खुद बोले और खुद ही न समझे। उससे पूछो कि 'तुम्हारा मतलब क्या?' तो कहता है कि 'यह तो हमें भी पता नहीं।'

मूल में वा पद था, भाष्यकार अथवा के द्वारा दूसरी सम्भावना करते हैं। तुमने जो क्रम माना था, वह सिद्ध कर नहीं पाये तो वही क्रम है यह निश्चित नहीं रहा। क्रम का मतलब है नियत पूर्व-अपर-भाव। अर्थात् निश्चित यह पहले ही होता है और निश्चित यह बाद में ही होता है। कारण का मतलब है जो नियमतः पहले रहे। अगर यह क्रम निर्णीत नहीं कर पाओ तो कार्यकारणता भी असिद्ध हो जायेगी। हेतु और फल निश्चित रूप से एक दूसरे के बाद हों यह नियम नहीं रहा इसलिये क्रमकोप हो गया, क्रम कुछ नहीं रहा। नियतपूर्ववृत्तिता हो तब कारणत्व होगा। यह दूसरा दोष प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान की प्राप्ति हो गयी।

यदि कहो कि कारण है ज़रूर लेकिन नहीं कहा जा सकता तो यह अप्रतिभा दोष है। यदि कहते हो कि ये हैं एक दूसरे के कारण तो प्रतिज्ञा हुइ कार्य-कारण की। कारण वह जो नियतपूर्व रहे। अब कहते हो कि नियतपूर्व कोई है ही नहीं, तो प्रतिज्ञा-हानि रूप निग्रहांतर तुम्हारे को प्राप्त हो गया।

इस प्रकार एक दूसरे के प्रतिपक्ष के द्वारा सत्य को बता दिया कि दोनों नहीं बनते। न क्रम से उत्पत्ति बता पाये और न अक्रम से बता पाये और इन दो ही तरह से उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये दोनों तरह से उत्पत्ति की अनुपपत्ति हो गई। जब दोनों तरह से

Scanned by CamScanner

उत्पत्ति असम्भव सिद्ध हो गई तो बस जो हम मानते हैं कि उत्पत्ति कभी होती ही नहीं, यही आदरणीय है। इस प्रकार हेतु-फल-भाव, कार्य-कारण-भाव अनुपपन्न हुआ। सबकी अजाति अर्थात् अनुत्पत्ति, किसी भी चीज़ की उत्पत्ति नहीं होती यह पता लग गया।

अब कहते हैं कि यहाँ हमने कुछ नहीं बोला; हमने तो तुम लोगों को एक दूसरे की युक्तियाँ सुना दीं। न्याय वैशेषिक को सांख्य योगी के साथ लगा दिया, सांख्य योगी के साथ पूर्व मीमांसक को लगा दिया, पूर्वमीमांसक के साथ बौद्ध को लगा दिया। सब एक दूसरे का खण्डन करते चले गये। असत्कार्यवाद का खण्डन सांख्य ने, सत्कार्यवाद का खण्डन मीमांसक ने और धर्म अधर्म की कार्यकारणता का खण्डन बौद्ध ने कर दिया। इसलिये उत्पत्ति का कोई प्रकार नहीं बना। हम किसी का दोष नहीं निकालते। तुम लोग अपने आप ही एक दूसरे का दोष निकालते रहते हो। इस प्रकार अजाति का प्रतिपादन पंडित अर्थात् आत्मज्ञानी लोगों ने कर दिया। वे एक दूसरे की युक्तियों को भिड़ा देते हैं और अजाति की ख्यापना उससे हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि जो इस प्रकार की उत्पत्ति मानते हैं उन्हें विरुद्ध युक्तियाँ दे देनी चाहियें और फिर अनुत्पत्ति का निश्चय हो जाता है।।१९।।

●

अब वह कहता है कि आप हमारा मतलब नहीं समझे। हमारा मतलब यह है कि जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज, ऐसे कार्य से कारण और कारण से कार्य, धर्म से शरीर और शरीर से धर्म। जैसे वहाँ नहीं कह सकते कि बीज पहले या अंकुर पहले लेकिन बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है। ऐसे ही यहाँ मान लो। इस पर कहते हैं—

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टांतः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ।।२०।।

जो बीजांकुर का दृष्टांत दिया वह दृष्टांत ही तो सिद्ध करना है! क्योंकि साध्य की कोटि का दृष्टांत हुआ। कारण और कार्य के विचार का एकदेश बीज-अंकुर और कारण व कार्य के सम्बन्ध में दृष्टांत उसी एकदेश बीज-अंकुर का दे रहे हो। कार्य और कारण एक दूसरे के बाद चलते रहते हैं यह जब सिद्ध हो जाता तब बीज अंकुर के प्रति कारण और अंकुर बीज के प्रति कारण हो सकता था। इस अंकुर का कारण उसका बीज उस बीज का कारण पहले वाला अंकुर— तो यह अनवस्था दोष है। जब हेतु-फलभाव अभी सिद्ध नहीं हुआ तो बीजाङ्कुर को हेतु-फल रूप से उदाहृत कैसे करोगे? जैसे साध्य निश्चित नहीं किया जा सका है ऐसे ही दृष्टान्त रहा। ऐसा दृष्टान्त साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता। यहाँ हेतु का मतलब दृष्टांत किया है यह ख्याल रखना। इसलिये जो बीजांकुर दृष्टांत से सिद्ध करना चाहते हो सो नहीं होना है।

Scanned by CamScanner

वादी कहता है कि तुमने हमारे साथ धोखा-धड़ी की। हम भी वैदिक हैं। हमारा मतलब था कि इस शरीर से जो धर्म अधर्म होगा वह दूसरा है और इस शरीर को उत्पन्न करने वाला धर्म अधर्म दूसरा है। धर्म नं. १ से शरीर नं. १ और शरीर नं. १ से धर्म नं. २। धर्म नं. १ से ही शरीर नं. १ पैदा होता है, धर्म नं. २ शरीर नं. १ का कारण नहीं है। क बीज से क अंकुर और क अंकुर से ख बीज पैदा होगा। इसलिये वह पहले वाला बीज थोड़े ही पैदा होता है। तुमने जो कहा कि कारण से कार्य उत्पन्न होता है और कारण पहले सिद्ध नहीं, यह धोखा-धड़ी का मामला हुआ क्योंकि हम तो बीज-अंकुर-न्याय से बोल रहे हैं। पहले वाला बीज थोड़े ही पैदा कर रहे हैं! इसलिये यह बात कहकर तुम हमें ज़बर्दस्ती दबा रहे हो। तुमने शब्दमात्र को पकड़ा। हमने कहा धर्म से शरीर, शरीर से धर्म और तुमने, केवल शरीर व धर्म शब्दों को पकड़ लिया। हमारा मतलब था धर्म नं. १ से शरीर नं. १ और शरीर नं. १ से धर्म नं. १ नहीं धर्म नं. २। इसलिये जो हमने कहना चाहा उस अर्थ को न पकड़कर शब्द को पकड़ लिय। कहने वाले का अभिप्राय कुछ हो, उसे छोड़ कर अन्य अर्थ पकड़ा, तो यह छल हुआ। इसीसे तुमने कहा कि हमारी बात ऐसी है जैसे बेटे से बाप पैदा हो जाये। हमने यह थोड़े ही कहा था कि राम पिता से लव पुत्र और उससे उत्पन्न होने वाला राम पिता। उस पुत्र से तो दूसरा पिता होगा। यह हमारा मतलब था। इसलिये यह छल तुम्हार ही हुआ। इसी प्रकार 'फलादुत्पद्यमानः सन् न ते हेतुः प्रसिध्यति' (श्लोक सं. १७) फल से उत्पन्न होने वाला हेतु प्रसिद्ध नहीं होता आदि कहना ठीक नहीं। हम कर्मकाण्डी द्वैतियों के द्वारा जो कारण अभी पैदा नहीं हुआ अर्थात् जो धर्म आगे होने वाला है उससे इस शरीर की उत्पत्ति थोड़े ही कही गई है। इसी प्रकार से सिद्ध जो फल शरीर है उससे ही हमने हेतु अर्थात् अगले धर्म-अधर्म की सिद्धि कही थी। इसलिये तुम हमारा मतलब नहीं समझे। हम बीज और अंकुर की तरह कार्य-कारण-भाव मानते हैं। वह जो पहले उत्पन्न हुआ उससे थोड़े ही अंकुर पैदा होता है। इसलिये दोष देना ठीक नहीं।

परिहार करने वाला कहता है कि यह जो दृष्टांत तुमने दिया उसके विषय में अब हम बताते हैं। बीजांकुर का जो दृष्टांत है वह मुझ मायावादी के मत में तो साध्य के तुल्य ही है। बीज से अंकुर और अंकुर से बीज पैदा होता है तो यहाँ भी हम कहते हैं कि विचार करो। वह सिद्ध कहाँ है? जिसे तुम सिद्ध कह रहे हो उसी का तो विचार चल रहा है। इसलिये मेरे लिये वह साध्यतुल्य है। पहले कार्य-कारण-भाव सिद्ध हो तब सिद्ध है कि बीज से अंकुर पैदा होता है। वही सिद्ध करने तो चल रहे हैं।

वादी कहता है कि तुम बीजांकुर कैसे नहीं मानते? यह तो प्रत्यक्ष-उपलब्ध होता है। इसलिये यह साध्य के समान नहीं माना जा सकता। सभी को बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की उत्पत्ति प्रत्यक्ष है और यह अनादि होने से ऐसे ही चला आया है। पहले कौन हुआ यह कोई नहीं कह सकता। ऐसा ही हम मानते हैं।

Scanned by CamScanner

जवाब देते हैं कि इसकी अनादिता कहाँ प्रत्यक्षसिद्ध है? बीज से अंकुर पैदा होता है यहाँ तक तो ठीक है, लेकिन यह अनादि है यह कैसे सिद्ध होगा? विकल्प यह उठता है कि क्या तुम बीज-व्यक्ति को अंकुर-व्यक्ति के प्रति कारण मानते हो? क बीज के प्रति क अंकुर को कारण मानते हो? जैसे राम व्यक्ति के प्रति दशरथ व्यक्ति को कारण मानते हैं? यदि कहते हो कि राम-व्यक्ति के प्रति दशरथ पिता व्यक्ति की तरह बीजांकुर को मानते हो तो जब न राम अनादि और न दशरथ अनादि तब फिर बीजांकुर की अनादिता का मतलब क्या हुआ? तत्तद् व्यक्ति मे कोई अनादि दीख नहीं रहा है। लव का कारण राम आदि वाला, राम का बाप दशरथ भी आदि वाला, दशरथ का बाप अज भी आदि वाला, जितने भी पूर्व चले जाओ सब आदि वाले ही निकलेंगे। बाद में आने वाले जैसे आदि वाले, वैसे ही पूर्व वाले भी आदि वाले हो जायेंगे। इसलिये आदिमत्ता तुम्हें स्वीकार कर लेनी पड़ेगी और फिर उसे अनादि नहीं कह सकते।

इसी को आगे भाष्यकार स्वयं दृष्टांत से समझाते हैं : जैसे आज जो बीज से उत्पन्न हुआ अंकुर वह बीजरूप कारण वाला है क्योंकि बीज से पैदा हुआ, अतः आदि वाला है। बीज भी पहले किसी अंकुर से पैदा हुआ। अतः आदि वाला ही है। इस प्रकार क्रम से जो व्यक्ति उत्पन्न हैं वे सारे ही व्यक्ति आदिमत् होंगे। अब बीजांकुर होने के कारण यह नहीं कह सकते कि सत्ययुग में एक बीज हुआ करता था वह अनादि हुआ करता था! इस प्रकार पूर्व पूर्व में भी जहाँ तक अंकुर बीज होंगे सब आदि वाले ही होंगे। अतः जितना भी बीजांकुर समूह उत्पन्न हुआ वह सारा ही आदि वाला है। तो उसमें से किसी को भी तुम अकस्मात् अनादि कैसे मान लोगे?

धर्म से शरीर भले ही मानो लेकिन अनादिता की बात छोड़ो। यह धर्म जो आज तुम कर रहे हो वह इस शरीर से पैदा हुआ। इस शरीर से पहले जो धर्म किया वह भी उत्पन्न हुआ और उस धर्म के कारण शरीर भी उत्पन्न हुआ। तो फिर शरीर और धर्म अनादि कहाँ हुए? आदि वाले ही हुए। सब कार्य-कारणों में यह समझ लेना। बीज-व्यक्ति और अंकुर-व्यक्ति इस प्रकार अनादि सिद्ध नहीं हो सकते कि एक दूसरे के प्रति कारण भी हों और अनादि भी हों, यह युक्तिसिद्ध नहीं बनेगा।

अब दूसरा विकल्प उठाते हैं। बीज और अंकुर व्यक्तियों को हम अनादि नहीं कह रहे हैं। 'बीज अंकुर की जो संतति, सन्ततभाव है उसको हम अनादि मानते हैं'— ऐसी शंका करो तो यह भी नहीं कर सकते। मतलब यह है कि बीज-संतति और अंकुर-संतति इन दोनों को अलग अलग अनादि मानते हो और इनमें एक दूसरे की कारणता मानते हो, तो भी नहीं बनेगा। बीज-जाति वाले से अंकुर-जाति वाला और अंकुर-जाति वाले से बीज-जाति वाला, इस प्रकार उत्पन्न होते हुए मिलते हैं; इसी प्रकार हेतु-जाति वाले से फल-जाति वाला और फल-जाति वाले से हेतु-जाति वाला इस प्रकार इनकी परंपरा समझाओगे। लेकिन यह इसलिये नहीं बनेगा कि सन्तति नाम की कोई चीज़ युक्तिसिद्ध नहीं है। व्यक्ति को छोड़कर तुम संतति नाम की चीज़ अर्थात् बीजांकुर को छोड़कर बीज

Scanned by CamScanner

या अंकुर संतति दिखाओ तो कि संतति कहाँ है? प्रत्यक्ष है बीज अंकुर, लेकिन तुमको संतति कहाँ दीखी? वह हमें भी दिखा दो। इसलिये सारे बीजों की एक बीजसंतति— ऐसी कोई एक चीज़ नहीं घटती।

उसी को स्पष्ट करते हैं। बीज और अंकुर से अतिरिक्त अर्थात् जो बीज भी नहीं, अंकुर भी नहीं, ऐसी बीजांकुर-सन्तति नाम की कोई एक चीज़ कहीं नहीं मिलती है। इसी प्रकार कहीं हेतु-फल-संतति नहीं मिलती है। उसको अनादि मानने वाला इसको कैसे दिखायेगा? उसको जो अनादि मानने वाले हैं उनको तत्तद् व्यक्तियों के अन्दर ही हेतुता माननी पड़ेगी। बीज-संतति या अंकुर-संतति किसी को आज तक नहीं दीखी। फिर बीज-संतति से अंकुर-संतति उत्पन्न होती है और उसे अनादि मानेंगे यह गप्प ही हुई। तुमने बीजांकुर को छोड़कर एक बीज-संतति और एक-अंकुर-संतति मानी और वे एक दूसरे से उत्पन्न होने वाली मानी तथा यह अनादि परम्परा मानी, किन्तु यह सब किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। एक और दोष इसमें यह है कि यदि बीज और अंकुर संतति अनादि है तो एक दूसरे के कार्य कारण बनेंगे कैसे? अतः अन्योन्याश्रय या अनवस्था माननी पड़ेगी। इसलिये दोनों की कार्यकारणभावता किसी भी तरह से नहीं कही जा सकती। दृष्टांत और दार्ष्टान्ति दोनों ही अनुपपन्न हैं, युक्तिसिद्ध नहीं होते।

इसलिये गौडपादाचार्यों ने ठीक कहा, तुमको छलकर नहीं कहा। हेतु और फल दोनों की अनादिता का कैसे वर्णन कर रहे हो? बीजांकुर-संतति अनादि मानकर उनमें एक दूसरे के प्रति कार्यकारणभाव भी मान रहे हो। बीज-प्रवाह और अंकुर प्रवाह दोनों को अनादि मानकर दोनों का कार्य-कारण-भाव कैसे बनेगा? इसलिये यह अन्योन्याश्रय दोष या अनवस्था आ जायेगी। इस प्रकार तुमने जो दृष्टांत दिया वह किसी भी प्रकार से तुम्हारे कार्य-कारण-भाव को पुष्ट करने के लिये समर्थ नहीं होता। अतः हमने जो कहा पुत्र से पिता हो गया वह हमने तुम्हें समझाने के लिये ठीक ही कहा था। अगर अलग-अलग बीज अंकुर मानना चाहो तो भी वही दोष आता है। इसलिये छल करना हमारा काम नहीं है।

उत्तरार्द्ध का अभिप्राय है : लोक में कभी भी साध्यसम हेतु का प्रयोग नहीं किया जाता, वह साध्य की सिद्धि के लिये समर्थ नहीं होता है। प्रमाण में कुशल इसका प्रयोग नहीं करते। इससे कहा कि यदि तुम प्रमाणकुशल होते तो ऐसा दृष्टांत न बोलते! हेतु पद मूल में है इसका अर्थ दृष्टांत लेना। यहाँ अकस्मात् हेतु का अर्थ दृष्टांत कैसे कर दिया? प्रसंग से अर्थ लगाना पड़ना है। इसलिये प्रकरण की समार्थ्य से मुख्य अर्थ को छोड़कर गौण अर्थ लिया। क्योंकि इन्होंने बीजांकुर दृष्टांत दिया था इसलिये दृष्टान्त का यहाँ प्रकरण चल रहा है, हेतु का प्रसंग नहीं है। यहाँ तक हेतु-फल-भाव की अनुपपत्ति को बता दिया।।२०।।

Scanned by CamScanner

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ।।२१।।

अजाति अर्थात् प्रत्येक पदार्थ जन्मरहित है यह परीक्षकों के द्वारा, पंडितों के द्वारा, बुद्धिमानों के द्वारा प्रतिपादन कर दिया गया। अब यह अजाति किस प्रकार ज्ञापित कर दी इसे बताते हैं। कौन सी चीज़ पहले और कौन सी चीज़ बाद में इसका अज्ञान अजाति को बताता है। जो बाद में होती है वह कार्य और जो पहले होती है वह कारण होती है। इस पूर्वापरता का हमेशा अज्ञान रहेगा, यह कभी निश्चित नहीं हो सकता। यह जो निश्चय का अभाव है वह अजाति का बोधक है। दूसरे कहते हैं कि 'हम पता लगा रहे हैं।' वेदांती कहता है कि लाखों साल हो गये लगे ही हुए हो! इसीलिये सीधा ही मान लो कि कभी पता ही नहीं लग सकता। आगे और पीछे का अपरिज्ञान है। वेदांती सच्ची बात कहता है कि इसका पता आज तक न लगा और न आगे लगेगा। दूसरे अपनी हठधर्मिता नहीं छोड़ते। कहते हैं 'पता लगाना है।' सब कुछ अज है यही इससे प्रकाशित है। अगर कोई चीज़ उत्पन्न होने वाली होती तो उसके कारण का ग्रहण पहले क्यों न हो गया होता? और होता है नहीं। इससे सिद्ध होता है कि कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, अज है।

बुद्धिमानों ने अजाति का किस प्रकार प्रकाशन किया यह भाष्यकार बताते हैं। हेतु और फल के अन्दर पूर्व और अपर का परिज्ञान नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण में यह सिद्ध नहीं होता कि पहले कौन, पीछे कौन। इसी प्रकार धर्म और शरीर में भी पूर्वापर का परिज्ञान कभी नहीं। यही अजाति का परिदीपक हो जाता है, अर्थावबोधन करा देता है। नियत पूर्वापर-भाव सिद्ध हो तब जन्म सिद्ध होता है और वह आज तक कभी किसी का सिद्ध नहीं हुआ। छोटे से छोटे रोग सिर दर्द की दवाई आज तक पता नहीं चल पाई। रोज़ नई दवाइयाँ निकल रही हैं। यह सब बताता है कि कुछ पैदा हुआ ही नहीं। नियतपूर्वापर का निश्चय होने पर ही जन्म सिद्ध हो सकता है और नियतपूर्वापर के सिद्ध न होने से अजाति अपने आप सिद्ध है।

आगे यह प्रश्न नहीं करो कि आप सिद्ध करो कि सब अज है। सब अज है यह सिद्ध नहीं करना पड़ता। अगर कोई कहे 'यहाँ गोपाल बैठा है' तो इसे सिद्ध करना पड़ेगा। यदि हम कहते हैं कि 'गोपाल नहीं बैठा, दिखाओ।' तो क्या दिखाओगे? दीख नहीं रहा इसलिये मानो कि नहीं है। नियत पूर्वापर-भाव कोई नहीं बता पाता इसलिय अजाति सिद्ध है।

कार्य जायमान होता है। जब उत्पन्न होता हुआ कोई भी पदार्थ दीखेगा तो उससे पहले रहने वाले कारण का ज्ञान अपने आप होना चाहिये। वह होता नहीं तो कार्य की उत्पत्ति कैसे मानें?

पूछोगे कि उसका ज्ञान हो रहा है तो उसकी अजाति कैसे सिद्ध होगी? जिस चीज़ का ज्ञान हो रहा है वह पहले नहीं थी और सामने दीख रही है तो कैसे कहते हो कि

Scanned by CamScanner

उत्पन्न नहीं हुई है? पाँच दिन पहले हमारे यह दाद नहीं थी और अब ज्ञायमान है, दीख रही है, फिर कैसे कहते हो कि पैदा नहीं, हुई? अर्थात् कार्य का ग्रहण जब हो रहा है तो उसकी अजाति कैसे सिद्ध करोगे?

उत्तर है : फिर कारण का भी तो ज्ञान होना चाहिये। जब कारण का भी ज्ञान और कार्य का भी ज्ञान हो तभी कार्यकारणता पता चलती है क्योंकि इनका यह भाव तो अन्योन्याश्रित है। और फिर कारण को भी जायमान मानना पड़ेगा। यदि कहते हो कि प्रतीति ज़रूर हो रही है तो प्रतीति तो कारण के कारण की भी होती है। वह भी पैदा होने वाला हुआ इसलिये अनादि कोई चीज़ नहीं है। यदि कहते हो कि उत्पन्न होने वाला होने से ही हमको कार्य प्रतीत हो रहा है तो फिर कारण भी प्रतीत होने वाला होने से कैसे गृहीत नहीं होता? 'यह कार्य है' यह तब कह सकते हो जब साथ में कारण का ज्ञान हो। इसलिये कार्य का ग्रहण होते हुए कारण का ग्रहण कैसे नहीं होगा? जायमान का ग्रहण है तो उसके जनक का भी ग्रहण कर ही लोगे। उत्पन्न होती हुए चीज़ों को देख रहे हो तो जिससे उत्पन्न होती हैं उसे भी साथ ही देखोगे। जब साथ ही साथ दोनों को देखा तो कारण पहले कैसे हुआ? और जन्य-जनक का जो सम्बन्ध है वह अलग अलग होकर होता नहीं है। इसलिये जन्म का ज्ञान ग़लत है।

इससे पता लगा कि सारी चीज़ें अजात हैं। अगर तुमको कारण से कार्य उत्पन्न होता हुआ दीखा तो साथ साथ दीखा, और उत्पन्न होता हुआ दीखा नहीं तो फालतू मान रहे हो, उसमें कोई प्रमाण नहीं। इस प्रकार अजाति का ज्ञान हो जाता है।।२१।।

●

यहाँ तक एक दृष्टिकोण हो गया। अब कहते हैं कि दूसरी दृष्टि से सोचो—

स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्धिस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ।।२२।।

न ख़ुद से कुछ पैदा होता है न किसी दूसरे से। न सत् पैदा होता है, न असत्। सदसत् तो कुछ होता ही नहीं जो पैदा होवे। अतः कोई भी वस्तु पैदा नहीं होती।

कहते हैं किसी भी वस्तु का यदि जन्म होगा तो उसमें छह सम्भावनायें हैं। वे छह विकल्प यदि संभव नहीं हैं तो कोई चीज़ पैदा नहीं होगी। उन छहों विकल्पों को समझाते हैं। कोई चीज़ स्वतः अर्थात् अपने आपसे पैदा होगी या किसी दूसरे से पैदा होगी। अब न कोई चीज़ ख़ुद अपने आप से पैदा होती है और न किसी दूसरे से पैदा होती है। या ख़ुद और दूसरे से मिलकर पैदा होगी; तो वह भी विरुद्ध है। या कोई चीज़ पहले है और पैदा होती है या नहीं है और पैदा होती है और या जो 'है और नहीं है' वह पैदा होती है। ये तीनों भी असंभव हैं। इसलिये कुछ भी पैदा नहीं होता क्योंकि छहों नहीं मिलते।

Scanned by CamScanner

भाष्यकार कहते हैं कि कुछ पैदा नहीं होता इसमें यह श्लोक और भी कारण बता रहा है। जो जायमान वस्तु है वह या स्वतः, परतः, स्वतः-परतः मिलकर, सत् होकर, असत् होकर, या सत्-असत् होकर उत्पन्न होगी। ये सब चीज़े नहीं बनती हैं इसलिये किसी भी प्रकार इसका जन्म नहीं बनता है। इन छहों विकल्पों का एक एक करके खण्डन करेंगे। अगर कहो अपने आप से पैदा होती है तो इसका मतलब है कि पैदा होने के पहले है ही नहीं। जो चीज़ पैदा होने के पहले है ही नहीं वह कारण कैसे बनेगी? अर्थात् स्वतः अपने स्वरूप से खुद ही पैदा हो जाये यह कैसे बनेगा? क्योंकि जो ख़ुद ही जायमान कार्य है वह अपने ही स्वरूप से उत्पन्न हो तो मतलब है कि पहले ही है, और पहले ही है तो उत्पन्न क्या होगा? इसलिये यह नहीं बन सकेगा। जैसे यह घड़ा अपने आप से पैदा नहीं होता, उसी घड़े से वही घड़ा पैदा नहीं होता है, नहीं तो अपनी सिद्धि से अपनी सिद्धि यह आत्माश्रय दोष हो जायेगा।

यदि किसी दूसरी चीज़ से पैदा हो जाये तो क्या अन्यता या भिन्नपना प्रयोजन है? दूसरे से दूसरा पैदा हो तो घड़े से कपड़ा पैदा होना चाहिये! अन्यता जनकत्व में प्रयोजक नहीं हो सकता। भिन्न होना किसी चीज़ का जनक बनने में कारण हो यह नहीं कह सकते, नहीं तो घड़े से कपड़ा बन जाना चाहिये! इसमें कोई यह शंका कर सकता है कि हम यह मान लेंगे कि उत्पादकत्व योग्यता विशिष्ट जो चीज़ है वह जनक होती है। किसी चीज़ कों उत्पन्न करने की योग्यता हो और हो उससे भिन्न, जैसे मिट्टी में घड़ा उत्पन्न करने की योग्यता भी है और घट से भिन्न है, तो मिट्टी से घड़ा बनता है; यह पर से उत्पन्न हुआ। यह निवेश कोई करना चाहे तो भी बेकार है क्योंकि कार्य उत्पन्न होने से पहले तुम्हें क्या लगेगा कि इस कारण से यह कार्य उत्पन्न होना ही है? उत्पादकत्व की योग्यता तो उत्पन्न होने के बाद ही पता लगेगी। शादी के बाद ही पता लगेगा कि औरत बाँझ है या नहीं। अब तुम कहो कि उससे शादी करेंगे जिसमें पुत्र उत्पन्न करने की सामर्थ्य हो, तो कैसे पता लगाओगे? कुछ लोग कहते हैं कि मिट्टी से घड़ा तो निश्चित होता है, किन्तु घड़ा उत्पन्न होने के पहले कैसे मान लेंगे कि इस मिट्टी में अमुक घड़े का उत्पादकत्व है? और जब वह कार्य घट उत्पन्न हो गया, तब कारण मिट्टी तो ख़त्म हो गई! मिट्टी रहे, किन्तु वह कारणावस्था में नहीं है। अब वह उसी घट को पैदा करने की योग्यता वाला नहीं है। या एक कपड़े से दूसरा कपड़ा भी पैदा नहीं होता।

अब कहो कि स्वतः और परतः दोनों मिलकर ही पैदा हो जाये, तो उसमें भी विरोध है। वे उत्पत्ति के प्रति कारण कैसे पड़ेंगे? जैसे घट पट के द्वारा न घड़ा उत्पन्न होता है और न कपड़ा उत्पन्न होता है। यह कहीं भी अनुभव में नहीं आता। इस प्रकार जायमान वस्तु न अपने से और न अन्य से और न मिलाकर दोनों से पैदा होती है।

प्रश्न होगा कि संसार में हम सब जगह देखते रहते हैं कि मिट्टी से घड़ा पैदा होता है। योग्यता को लेकर शंका है। लेकिन योग्यता का निरूपण असम्भव है। इससे यह

Scanned by CamScanner

चीज़ पैदा होगी ही जैसे बाप से बैटा पैदा होता है। शंका यह हुई कि जो चीज़ें अन्य हों और जिनमें जन्य-जनक-भाव प्रत्यक्षसिद्ध हो वहाँ कार्य-कारण-भाव मान लिया जाये क्योंकि प्रत्यक्ष से बाप से बेटा पैदा होता हुआ देखा जाता है। कहते हैं बात तो तुमने ठीक कही है कि प्रत्यक्ष के अनुसार शब्द प्रत्यय को चलना चाहिये। कहते हो कि बेटा है और बेटा पैदा होता है। तुम यह मूर्खों की तरह बात करना चाहते हो। है और उत्पन्न हो रहा है यों दोनों कैसे हो सकते हैं? या लड़का है दीखेगा या लड़का नहीं है दीखेगा। उत्पन्न होने के पहले तुमको लड़का कहाँ दीखा है? प्रत्यक्ष के विरुद्ध हम जाने वाले नहीं। लड़का या है दीखा, या पहले नहीं है दीखा, लेकिन उत्पत्ति का क्या मतलब? उत्पत्ति कभी किसी को किसी चीज़ की दीखी है? उत्पत्ति का मतलब है कि 'नहीं है' मैं 'है-पना' आया और यह कभी नहीं हो सकता। जिस काल में नहीं है उस काल में 'नहीं है' का ज्ञान है; है, तो है का ज्ञान है। दोनों का एक साथ ज्ञान कैसे होगा? यदि प्रत्यक्ष मूर्खों का मानें तो वे 'जायते' भी कह देंगे 'अस्ति' भी कह देंगे। शब्द का प्रयोग तो कर देते हैं लेकिन विचार नहीं करते क्योंकि अविवेकी हैं। उन्हीं शब्दों का और ज्ञान का विवेकियों के द्वारा परीक्षण किया जाता है कि जिस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, हमको जो ज्ञान हो रहा है, उनमें कुछ ढंग भी है या ऐसे ही हो रहा है।

प्रत्यय तो तुम्हें भी और हमें भी होता है। भूगोल पढ़ो तो भी सूर्य उदय होता हुआ दीखेगा और न पढ़ो तो भी सूर्योदय होता हुआ दीखेगा। पढ़ा हुआ जानता है कि पृथ्वी के सामने सूर्य आ रहा है और बिना पढ़े हुए को लगता है कि सूर्य ही इधर से उधर आ रहा है। शब्द-ज्ञान पर विवेकी विचार करता है। दूसरा तो बिना विचार के ही मानता रहता है। इसलिये विवेकी का अनुभव दूसरा नहीं है। फ़रक यही दोनों में है कि अविवेकी शब्द और अनुभव को लेते ही उखड़ जाता है और विवेकी उन्हीं शब्द-प्रत्ययों का विचार करता है। जैसे मान लो कोई ब्रह्मचारी किसी को गुस्सा होकर कहता है 'अबे साले।' मूर्ख को गुस्सा आता है लेकिन विवेकी कहता है कि 'इसकी पत्नी ही नहीं है, ब्रह्मचारी है, तो यह प्रयोग खरगोश के सींग की तरह कर रहा है।' यही विवेकी और अविवेकी का फ़रक है। इसलिये शब्द-प्रत्यय तो दोनों के लिये प्रत्यक्षानुसारी हैं लेकिन उन्हीं शब्द-प्रत्ययों का परीक्षण विवेकी करता है। वह यह परीक्षण करता है कि वे सचमुच सच्चे हैं या झूठे हैं।

अब जितने भी शब्द और प्रत्यय हैं, जब हम उनका परीक्षण करते हैं तो जन्म शब्द की सिद्धि का विषय क्या वस्तु है? जन्म एक शब्द हुआ, यह शब्द किस ज्ञान को विषय करता है? आज तक कभी भी तुमको जन्म शब्द के विषय की प्रतीत हुई क्या? यह चीज़ पैदा हो रही है यह अनुभव कभी नहीं होता। अनुभव तो यह है कि पैदा होगा या पैदा हुआ। इसलिये जन्म शब्द से किस ज्ञान को विषय किया जाता है इसका परीक्षण विवेकी करता है। अविवेकी तो बिना सोचे शब्द का प्रयोग करता रहता

Scanned by CamScanner

है, जैसा उसका प्रयोग चला आ रहा है। शब्द-प्रत्यय का विषय वस्तु चाहे घड़ा हो, चाहे पुत्र, जो भी हो वे सभी शब्द मात्र ही हैं। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इसीलिये श्रुति कहती है कि वाणी से ही सब आरंभ होता है। सारे कार्यों की प्रतीति वाणी के द्वारा ही होती है। परमार्थ से कभी कार्य-कारण की प्रतीति नहीं होती। चीज़ की प्रतीति होती है लेकिन यह कार्य है, किसी से उत्पन्न होता है, यह तो शब्दमात्र है। 'है' इतना तो हमको अनुभव होता है, बाकी तो लोगों से सुन-सुनाकर समझते रहते हो। असत्य आलम्बन को लेकर ही जन्म शब्द और जन्म प्रत्यय को स्वीकार करना पड़ेगा। प्रयोग तो यह वेदांती भी करेगा, लेकिन जानेगा कि झूठा आलम्बन है। दूसरे को नोट देते हुए भी जानता है कि झूठ बोल रहा है, कागज का एक टुकड़ा ही दिया, रुपया कहाँ दिया? इस बात को जानता है।

अब चौथा विकल्प लेते हैं कि सत् उत्पन्न होता है। सत् मायने है; यदि है तो उत्पन्न क्या होगा? वह तो पहले ही है। जैसे मिट्टी या बाप पहले ही है तो उत्पन्न होने वाला कैसे कहोगे? यदि कहो नहीं है, तो पैदा क्या होगा? असत् होना ही न उत्पन्न होने में कारण है। जैसे खरगोश के सींग नहीं हैं तो पैदा नहीं होते। यदि दोनो मान लो— है भी और नहीं भी है; फिर भी पैदा नहीं हो सकता क्योंकि एक ही चीज़ है और नहीं है दोनो हो जाये यह असम्भव है। इसलिये छहों विकल्पों का निरास हो जाने पर सिद्ध हो गया कि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।

अब ऊपर से भाष्यकारों ने एक बात कह दी। किसी ने शंका की कि इन छह का खण्डन किया लेकिन एक और पक्ष विज्ञानवादी का है। वह कहता है कि विज्ञानभिन्न कोई चीज़ पैदा नहीं होती। विज्ञान ही उत्पत्ति है और विज्ञान ही वह है जो चीज़ उत्पन्न होती है। इनके यहाँ क्रिया, कारक, फल एक विज्ञान ही है। ऊपर बताये हुए दोष तो क्रिया, कारक, फल अलग मानने पर होंगे। यदि एक ही को क्रिया, कारक और फल मानें तो छहों दोष उसे नहीं लगेंगे। और वे विज्ञान वस्तु की क्षणिकता को भी स्वीकार करते हैं। इस तरह वे सब तरफ से बचना चाहते हैं। लेकिन ऐसी असम्भव परिकल्पना करने वाले जो क्रिया, कारक, फल को एक मान लें और विज्ञानों को क्षणिक भी मान लें, वे तो न्याय से अत्यंत बाह्य हैं अर्थात् किसी भी युक्ति के अनुसार विचार करने वाले नहीं हैं। इसलिये उन्हें तो दूर से ही छोड़ दिया अर्थात् इसीलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने उनके विषय में कुछ नहीं कहा।

कोई बोला कि बौद्धों ने तो बड़ा न्याय का सहारा लिया है और उन्होंने बड़ी युक्तियाँ दी हैं। तो विचार करो, क्या युक्तियाँ दी हैं? किसी भी चीज़ को युक्ति से सिद्ध करने के लिये 'यह ऐसा ही है' ऐसा निश्चय करने के क्षण तो वह चीज़ ही इनके यहाँ नहीं रहती! हरेक चीज़ क्षणिक है। निश्चय तब हो जब एक बार प्रतीति हो और फिर विचार करो। जब एक क्षण में चीज़ ही नष्ट हो गई तो उसका विचार क्या करो? दूसरे क्षण

Scanned by CamScanner

जब रहती ही नहीं तो फिर उसकी अनुभूति कैसे होती है? विज्ञाता भी पैदा होते ही नष्ट हो गया तो अनुभव किसको होगा? और फिर उसकी स्मृति भी नहीं आयेगी। सर्वथा सारी व्यवस्था का लोप होगा— न किसी चीज़ की उत्पत्ति और न अनुभव होगा। जिस क्षण में निश्चय कर रहे हो वह क्षण वस्तु वाले क्षण से अन्य ही है क्योंकि वस्तु का निश्चय कर रहे हो। जब निश्चयक्षण में वस्तु है ही नहीं; क्योंकि तुम उसे क्षणान्तरावस्थायी मानते नहीं, तब उसका निश्चयानुभव असंभव है और बिना अनुभव के स्मृति असम्भव है। ऐसे में उसकी क्षणिकता का अनुभव या निश्चय कैसे करोगे? जिस चीज़ का अनुभव ही नहीं तो स्मृति भी नहीं होगी। जिस वस्तु के विषय में ये दोनों असिद्ध हों, न अनुभूति और न स्मृति हो, तो उससे क्या व्यवहार बनेगा? इसलिये व्यवहार-असिद्धि तुम्हारे मत में हो गई। अतः यह बिल्कुल बनने वाली बात नहीं है।।२२।।

●

अजाति में आगे और हेतु देते हैं—

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ।।२३।।

अनादि फल से हेतु और अनादि हेतु से फल, दोनों स्वभावतः हो जाये यह मान्य है नहीं। जिसका कारण नहीं उसका जन्म नहीं होता। इस प्रकार हेतु और फल दोनों अज ही हैं।

अब कर्मकाण्डी मीमांसक ने हथियार डाल दिये। उसने कहा कि बात तो ठीक है कि धर्म और शरीर का कोई कार्य-कारण-भाव सिद्ध नहीं हो पाता। लेकिन हम तो वेद मानने वाले हैं, हम क्या मानें? उससे कहते हैं कि सीधी सी बात है : हेतु धर्म हो गया, अनादि होने से धर्म भी पैदा नहीं होता। और फल अनादि ही होने के कारण शरीर भी पैदा नहीं होता है। अनादि होने से कारण और कार्य दोनों पैदा नहीं होते। हम तो सनातन धर्मी हैं। तुम ही कहते हो कि पहले करो तब धर्म होगा 'क्रियमाणो हि धर्मो भवति' सत्य बोलो तब धर्म उत्पन्न हो। हमारे यहाँ यह सब कुछ नहीं है।

अगर कहो कि 'स्वभावतः' बिना कारण के पैदा होता है, तो यह तुम भी नहीं मानते। अनादि होने के कारण भी कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं और स्वभाव से उत्पत्ति तुम भी नहीं स्वीकारते; क्योंकि स्वभाव मायने ही 'बिना कारण के' और इससे उत्पत्ति तुम नहीं मान सकते। तुम कारणवादी हो।

इसलिये जिसका आदि (कारण) नहीं उसका आदि (जन्म) नहीं है, सीधी सी बात है! जो चीज़ है सो है। जब हेतु और फल की अनादिता मान ही रहे हो— कि अनादि काल से ऐसा प्रवाह चल ही रहा है ऐसा तुम स्वीकार करते ही हो— तो तुमको मानना ही पड़ेगा कि दोनों ही पैदा नहीं होते। कारण-कार्य से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, इसलिये कुछ भी पैदा नहीं होता। इसलिये किसी भी वस्तु का वास्तविक जन्माभाव ही रहता है यह तात्पर्य हो गया।

Scanned by CamScanner

अनादि फल से कारण क्यों नहीं पैदा हो जाता? क्योंकि अनादि अर्थात् अनुत्पन्न। अनुत्पन्न फल से हेतु का जन्म तुम्हारे को भी स्वीकृत नहीं हो सकता। इसी प्रकार हेतु अर्थात् कारण भी अनादि होने से अनुत्पन्न हेतु से फल भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। और स्वभावतः बिना कारण के हो जाये, यह भी तुम स्वीकार नहीं करते हो। तुम्हारे यहाँ— चाहे प्रभाकर हो चाहे कुमारिल भट्ट— सब सृष्टि को अनादि मानते हैं। इसलिये तुम वैदिक लोग जो अनादि मानने वाले हो, तुम्हें तो धर्म और शरीर दोनों को ही अज मान लेना चाहिये। वैदिक हो तो पूरे वैदिक बन जाओ। चूँकि लोक में भी यह देखा जाता है कि जिसका कारण नहीं होता है उसका पहले कहे हुए प्रकार से जन्म भी सम्भव नहीं होता। कारण भी आदि वाला माना जाता है। जो कारण वाला नहीं होता है उसे आदि वाला नहीं माना जाता। जैसे लोक में यह प्रसिद्ध है ऐसे ही यहाँ है। इसलिये कोई कठिनाई इसमें नहीं है। कार्य-करण-संघात और धर्म, दोनों ही नित्य हैं। जैसे हैं वैसे ही नित्य हैं। यही मानो और कार्य-कारण-भाव मानकर फँसना छोड़ दो।।२३।।

अब बाह्यार्थवाद का प्रश्न उठाते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ।।२४।।

ज्ञान को सविषय मानना पड़ेगा। अन्यथा ज्ञानवैचित्र्य असंगत होगा। दुःख भी सहेतुक अनुभव में आ रहा है। इसलिये शास्त्रान्तरप्रसिद्ध बाहरी पदार्थ मानने चाहिये। अजाति कैसे मान ली?

यहाँ तक आस्तिक दर्शनों का विचार हो गया। अब बौद्धों की तरफ से शंका उठ रही है। ये बाह्यर्थवादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक हैं जिन्हें हीनयानी कहते हैं। इन्हें हीनयानी कहो तो बिगड़ते हैं। इन्हें हीनयान नाम महायानियों ने दिया है। वे अपने को थेरवादी कहते हैं। उनकी तरफ से यह शंका उठ रही है कि तुमने जिस कार्य-कारण-भाव का विचार किया वह तो दूसरा कार्य-कारण-भाव है जिससे आस्तिकों का निषेध किया। हम तो ज्ञप्ति में कार्य-कारण-भाव मानते हैं, उत्पत्त में नहीं। क्योंकि बाह्य-अर्थवादी भी तो बाह्य पदार्थों में कार्य-कारण-भाव नहीं मानते। इनका कहना है कि घड़ा है तो घड़े का ज्ञान होता है इसलिये घड़ा कारण और घटज्ञान कार्य है। उत्पत्ति के कार्य-कारण-भाव का तुम खण्डन करो, हम भी करते हैं; आस्तिक जो धर्म-अधर्म मानता है वह तो हम भी नहीं मानते। धर्म-अधर्म को तुमने नहीं माना, यह तो अच्छा किया। लेकिन बाह्य पदार्थों को तो मान लो नहीं तो ज्ञान कैसे होगा? अर्थात् जो रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि की प्रतीति होती है उसका कोई निमित्त होना चाहिये। बाहर कोई पदार्थ होगा तभी उसका ज्ञान होगा।

Scanned by CamScanner

यह बाह्यार्थवादी आस्तिक का खण्डन करेगा। फिर इसका जवाब विज्ञानवादी बौद्ध से मिलेगा। जब दोनों भिड़ेंगे तो हम कहेंगे 'अजाति सिद्ध है!' विज्ञानवादी कहेगा कि ज्ञान भी किसी चीज़ से नहीं होता। बिना चीज़ के ज्ञान होता है और यह कहता है कि बाहर की चीज़ से ज्ञान होता है। इसलिये दोनों से यह सिद्ध होगा कि आज तक ज्ञान पैदा ही नहीं हुआ!

बाह्यार्थवादी कहता है कि ज्ञान किसी कारण से होना चाहिये। यदि तुम ऐसा नहीं मानोगे तो ज्ञान तो एक हुआ, उसके अन्दर जो भेद आता है वह द्वय अर्थात् भेद नष्ट हो जायेगा। यदि घड़ा कपड़ा अलग-अलग चीज़ें न हों तो घटज्ञान पटज्ञान अलग कैसे होंगे? इसलिये ज्ञेयभेद न हो तो ज्ञानभेद नष्ट हो जायेगा। इतना ही नहीं, दर्द होता है, पेट खराब होता है, कोई सिर पर दण्डा मारता है तो संक्लेश होता है, महादुःख पैदा होता है। अगर सिर्फ़ ज्ञान हो तो यह दुःख क्यों? इसलिये बाहर कोई चीज़ है। कीड़ा काटता है तो दर्द होता है। संक्लेश की उत्पत्ति है तो मान लो कि ज्ञान दुःखरूप ही है, ऐसा भी नहीं; क्योंकि रसगुल्ले से सुख भी होता है। इसलिये ज्ञान का रूप न सुख और न दुःख। इसके लिये बाहर कोई कारण मानना पड़ेगा। यह चकार से कह दिया। इसलिये ज्ञान किसी न किसी बाह्य विषय के अधीन होता है। प्रत्यय-वैचित्र्य देखने के कारण जो अन्य शास्त्रों में पदार्थ बाहर कहे गये हैं, उनकी अस्तिता मान लेनी चाहिये। चीज़ है यह मान लो तभी ज्ञान होता है।

सचमुच वस्तु का जन्म अयुक्त है यह बता दिया। इसलिये विज्ञान ही एक मात्र चीज़ है। यहाँ तक विज्ञानवादी बौद्ध पहुँच जाता है। वे प्रज्ञप्तिमात्र को सिद्ध करते हैं कि ज्ञान ही ज्ञान है, लेकिन ज्ञान को ऐसा मानते हैं कि जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं, ऐसे ही ज्ञान में लहर उठी तो वह घटाकार पटाकार प्रतीत होता है। उन्हीं से मिलते-जुलते हमारे यहाँ भी कुछ लोग ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानकर ब्रह्म ही जगदाकार में प्रतीत होता है, ऐसा मानते हैं।

भाष्यकार कहते हैं कि ऊपर कहे हुए अर्थ अर्थात् अजातिता को दृढ करने के लिये फिर से आक्षेप उठाते हैं। प्रज्ञप्ति मायने प्रज्ञान। रूप, रस, गंध आदि की प्रतीति किसी न किसी कारण से होनी चाहिये, उनका कोई न कोई निमित्त होना चाहिये अर्थात् विषय होना चाहिये। घटज्ञान हुआ तो घट विषय होना चाहिये। इसी को सनिमित्तता और सविषयता कहते हैं। हमारी यह प्रतिज्ञा है कि अपने आत्मा से अर्थात् विज्ञान से भिन्न कोई विषय ज़रूर है। विज्ञान की ही विषयरूपता तो विज्ञानवादी भी मान लेता है, लेकिन यह विज्ञान से व्यतिरिक्त विषयता मानता है कि बिना शब्दादि विषय के शब्द आदि की प्रतीति नहीं होती है। विचित्र ज्ञान सनिमित्त होता है। यह विषयता यदि नहीं मानोगे निर्विषय मानोगे, बिना विषय के ज्ञान होता है ऐसा मानोगे, तो फिर शब्द का ज्ञान, नीले का ज्ञान लाल का ज्ञान आदि प्रत्यय-विचित्रता अर्थात् जो ज्ञानभेद होता है उसका अभाव हो जायेगा क्योंकि आत्मा तो एकरूप है। प्रत्यय-वैचित्र्य ही न मानो तो क्या हर्ज़ा है? वह प्रत्यक्ष

Scanned by CamScanner

दीख रहा है इसलिये उसे नकार नहीं सकते। इसलिये प्रत्यय-वैचित्र्य की अन्यथानुपपत्ति से, द्वैतदर्शन के कारण मानना पड़ेगा कि पदार्थ हैं। विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ मानने वाले दूसरों के तंत्र अर्थात् शास्त्र हैं। जो आत्मा या विज्ञान से भिन्न पदार्थ मानते हैं वे पर-तंत्र बाह्यार्थवादी शास्त्र हो गये। वे ज्ञान से व्यतिरिक्त पदार्थों की सत्ता मानते हैं। प्रज्ञप्ति अर्थात् जो ज्ञान प्रकाशमात्र स्वरूप है, उसका स्वभावभेद से वैचित्र्य नहीं हो सकता क्योंकि उसका स्वरूप तो केवल ज्ञान ही है। उसमें भेद कैसे होगा? बिना बाह्य आलम्बनों का सहारा लिये हुए भेद कैसे होगा? जैसे स्फटिक के अन्दर यदि कभी लाल नीला दीखता है तो कोई चीज़ सामने आती है तभी दीखता है। उसी प्रकार ज्ञान के सामने घट पट आदि आते हैं तो तदाकार का ज्ञान बन जाता है, नहीं तो कैसे बनेगा?

एक और कारण यह भी है क्यों दूसरे तंत्रों में बाह्य पदार्थों की ज्ञान से भिन्न सत्ता है। देखने में आता है कि आग जला देती है। यदि बाह्य अग्नि आदि पदार्थ न होते, केवल ज्ञान ही ज्ञान होता, तो आग अपने आपको कैसे जला देती? और जलाती हुई का अनुभव सब को होता ही है। जलने आदि का दुःख नहीं होना चाहिये और दुःख होता है, इसलिये हम मानते हैं कि बाह्य पदार्थ हैं। केवल एक विज्ञानमात्र को मान लोगे तो दुःख की व्यवस्था नहीं बनेगी। यदि उसको दुःखस्वरूप मान लोगे दो दूसरे देश काल में दुःख नहीं भी होता है। इसलिये बाह्य पदार्थ मानना पड़ेगा जिसके कारण जगत्-वैचित्र्य प्रतीति और दुःख का अनुभव भी बन जायेगा। यह शंका हुई। इसका जवाब आगे देंगे।।२४।।

अब विज्ञानवादी इसका जवाब देगा। पूर्व पक्षी ने संक्लेश की उपलब्धि और प्रत्ययवैचित्र्य की उपलब्धि दो हेतु दिये थे बाह्यार्थसिद्धि में। उस पर कहते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्याऽनिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ।।२५।।

तुम युक्ति समझकर विषयज्ञानों को सकारण मानते हो तो हम भी परमार्थ को समझकर और भ्रमस्थलों में विषय के बिना विषयज्ञान देखकर यह मानते हैं कि जिन बाह्य विषयों को तुम ज्ञानवैचित्र्य और संक्लेश का निमित्त कह रहे हो, वे उन विचित्रता और क्लेश के हेतु हैं नहीं।

प्रज्ञप्ति सनिमित्त है। प्रज्ञप्ति अर्थात् रूप रस आदि का ज्ञान किसी न किसी कारण से है क्योंकि यदि घट पट आदि नहीं मानोगे तो घट पट आदि का ज्ञान नहीं बनेगा। यह तुमने कहा 'युक्तिदर्शनात्'; अर्थात् अनुभव के बल पर नहीं, युक्ति का विचार करने पर कहा कि घटज्ञान हुआ तो घट ज़रूर चाहिये। इसलिये युक्ति से ही जवाब देंगे क्योंकि तू अनुभव से तो कह नहीं रहा है। यह विज्ञानवादी महायानी बोल रहा है कि जिसे निमित्त

Scanned by CamScanner

बता रहे हो वह निमित्त नहीं है। क्यों? 'भूतदर्शनात्'। यह बताओ कि मिट्टी से अतिरिक्त घड़ा कुछ है क्या? नहीं है तो मिट्टी और घड़ा एक है और दीखता अलग अलग है। इसलिये चीज़ एक होने पर भी भिन्न भिन्न दीख सकती है। तुमने यह कारण बताया कि घटज्ञान और पटज्ञान का भेद घट-पट निमित्तक है; उसका जवाब हुआ कि मृत् और घट में क्या भेद करोगे? कुछ नहीं कर सकते हो। अब यदि मिट्टी और घड़ा एक हुआ भी ज्ञान का भेद करा सकता है तो किसी भी पदार्थ के भेद की ज़रूरत नहीं। अथवा संधिच्छेद से ऐसा पाठ समझ लेना चाहिये 'इष्यते अभूतदर्शनात्' अर्थात् जैसे रस्सी में साँप दीखता है तो क्या साँप होता है? जैसे बिना हुए साँप दीखता है ऐसे ही बिना हुए रस्सी भी दीख जायेगी!

भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं। 'अत्र' अर्थात् बाह्यार्थवाद की प्राप्ति होने पर उसका निराकरण विज्ञानवादी से करवा देते हैं। 'बाढम्' अर्थात् यह सत्य है कि द्वय और संक्लेश की उपलब्धि है, लेकिन जितना कहना चाहिये था उससे ज्यादा तुम बढ़ गये। कहना चाहिये था कि घटज्ञान पटज्ञान में भेद है, और बढ़कर घट पट में भेद मानने लग गये! प्रज्ञप्ति की सनिमित्तता (सकारणता) द्वय (वैचित्र्य) की और संक्लेश अर्थात् दुःख की उपलब्धि से तुम मानते हो। अब अपने पैरों को खूब तगड़ा कर लो क्योंकि अब चाँटा पड़ने वाला है! तुम केवल प्रतीतिमात्र का सहारा तो नहीं ले रहे हो। यदि कोई प्रतीति-मात्र को मानते हो तो उसे हलका थप्पड़ मारना चाहिये क्योंकि वह सीधा सादा होता है। जब यह देख लिया कि सामने वाला युक्तिबाज है, तो उसे दण्डा मारना चाहिये। इसलिये तुम अपने पैर ठीक कर लो। ऊपर कहे हुए युक्तिदर्शन के द्वारा तुम यह स्वीकार कर रहे हो कि बाह्य पदार्थ सच्चे हैं, प्रज्ञप्ति के विषय हैं। अब इनका खण्डन युक्ति से ही करने जा रहे हैं।

वह कहता है कि मैंने युक्तिदर्शन के द्वारा स्वीकार किया तो कौन-सी बुरी बात की? विचारदृष्टि का सहारा लेकर मैं कोई बात कह रहा हूँ तो विचार कोई बुरी चीज़ थोड़े ही है? चीज़ का विचार तो करना ही चाहिये। इसमें लांछन क्यों लगा रहे हो? बाह्यार्थवादी कह रहा है कि युक्ति का सहारा लेने में क्या दोष है।

विज्ञानवादी कहता है कि दोष कुछ नहीं है। मैं तो सिर्फ यह कह रह हूँ कि तुमने यह माना कि वस्तु की सच्चाई मानने में युक्ति कारण होती है। इस बात को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया। यह याद रखना क्योंकि अब हम युक्ति से ही जब खण्डन करें तो घबराना नहीं। तुमने कहा कि घटप्रज्ञप्ति का आलंबन घट है, वह निमित्त है जिससे घटज्ञान हो गया। उसको हम लोग घटज्ञान का निमित्त नहीं मानते। उसके सहारे से घटज्ञान होता है ऐसा हम नहीं मानते। ज्ञानों की विचित्रता के प्रति कारणता हम नहीं मानते। क्यों? भूतदर्शन अर्थात् वास्तविकता के अनुरोध से।

यह शास्त्रार्थ का ढंग है कि पहले अपना सिद्धान्त कहो, फिर उसमें हेतु कहो। तुम लोग तो भिड़ते रहते हो क्योंकि विचार नहीं करते कि प्रतिज्ञा क्या है, हेतु और दृष्टांत

Scanned by CamScanner

क्या है। जो मन में आया वह मुँह से निकाल दिया। यह विचार का तरीका नहीं। हम कई बार कहते हैं कि भगवान् अगर ऐसा मीटर लगा दे कि हर शब्द पर एक आना लगेगा तो नियंत्रण हो जाये! नहीं तो आदमी बोलता रहता है यह बिना विचारे कि ठीक बोल रहा हूँ या नहीं, हेतु, दृष्टांत है या नहीं। केवल झगड़ा कर लेते हैं। जब उनकी बात न रहे तो रूठ जायेंगे।

विज्ञानवादी कहता है कि तुम्हारे कहने से निमित्त, आलम्बन, वैचित्र्यहेतुता थोड़े ही हो जायेगी! 'भूतदर्शनात्' मूल का पद था, इसका अर्थ कर दिया 'परमार्थदर्शनात्' अर्थात् सचमुच उस अर्थ की सत्यता को देखते हैं तो तुम्हारा घट कारण नहीं बनता। यह सूत्र वाक्य हो गया, उसी का अर्थ करते हैं। घड़ा ठीक रूप से मृद्रूप ही है। उस मिट्टी की दृष्टि जब कर लेते हैं तो वह घड़ा मिट्टी से अलग नहीं मिलता है। ठीक ठीक देखने से पृथक् नहीं मिलता। जैसे घोड़ा, भैंस हमेशा अलग अलग मिलते हैं। ऐसा नहीं कि घोड़े को ध्यान से देखें तो भैंस दीखने लग जाये! लेकिन घड़े को ध्यान से देखने पर मिट्टी ज़रूर दीखने लगती है, बल्कि वही मिट्टी हो जाता है। ऐसे ही कपड़ा धागे से अलग नहीं होता है। अब आगे चलते हैं; जो धागा होता है वह रूई से अलग नहीं है। इस प्रकार उत्तर उत्तर उसकी यथार्थता देखते जाओ अर्थात् उसकी सत्यता ठेठ तक देखते जाओ कि उसका कारण क्या, उसका कारण क्या?

कहाँ तक देखते जायें? जब तक तुम्हें शब्द मिलना बन्द न हो जाये; जब तक तुम्हें यह न कहना पड़े कि इसका कारण तो पता नहीं; जब तक उसकी सत्यता की खोज करते करते तुम्हारा ज्ञान निरुद्ध न हो जाये। और आगे चलो तो आकाश तक। और बहुत से तो वायु तक ही अटक जाते हैं। इसलिये भूतदर्शन तब तक जब तक शब्द-प्रत्यय का निरोध न हो जाये। यह विज्ञानवाद के अनुभव के लिये आवश्यक है।

इसीलिये हम कहते हैं कि घटज्ञान के प्रति घट कारण नहीं क्योंकि घट मिट्टी है। इस प्रकार अन्त पर्यन्त चलते जाओ तो निमित्त नहीं मिलता। जिसको तुम कारण कह रहे हो वह कारण सिद्ध नहीं होता, अर्थात् घट आदि अपने कारण से व्यतिरिक्त होकर प्रत्ययवैचित्र्य को पैदा नहीं करते। इसमें अनुमान यह लेना : पटज्ञान पटनिमित्तक नहीं है, प्रत्यय या ज्ञान होने से, घटज्ञान की तरह। घट चूँकि मिट्टी से भिन्न नहीं तो घटज्ञान का हेतु मिट्टी सिद्ध हुई, घट कहाँ सिद्ध हुआ? आगे मिट्टी भी नहीं सिद्ध हुई। इसलिये किसी भी ज्ञान का वास्तविक आलम्बन—विषय या निमित्त— है यह नहीं माना जा सकता।

घट आदि की सिद्धि बाह्यार्थवादी ने अनुभव से नहीं युक्ति से की थी। युक्ति से ही उसका यौक्तिक तत्त्वदर्शन ख़त्म हो गया। जैसे तन्तु से पट अलग हुए बिना तन्तुज्ञान और पटज्ञान अलग, वैसे ही पट घट से अलग हुए बिना ही पटज्ञान और घटज्ञान अलग हैं। उसने हेतु लिया था कि चीज़ अलग हुए बिना ज्ञान अलग नहीं हो सकता। उसका

Scanned by CamScanner

जवाब हुआ कि चीज़ें अलग हुए बिना भी ज्ञान अलग अलग हो सकते हैं जैसे तंतु व पट बिना अलग हुए भी दो ज्ञान पैदा करते हैं। इसी प्रकार सारे ज्ञान-विषयों के अलग हुए बिना ही ज्ञान पैदा होते रहेंगे।

इसी के अन्दर संधि को बदलकर दूसरा हेतु बना दिया 'अभूतदर्शनात्' अर्थात् अभूत दर्शन के कारण बाह्य पदार्थ ज्ञानभेद में कारण नहीं हैं ऐसा स्वीकार किया जाता है। जैसे रस्सी में साँप भी दीखता है तो बिना हुए ही दीख रहा है। फिर कैसे पता लगे कि रस्सी बिना हुए नहीं दीख रही है? उसका कहना था कि ज्ञानभेद का कारण विषयभेद और अब जवाब है कि बिना विषयभेद के भी ज्ञानभेद है जैसे रस्सी आदि अधिष्ठान में आरोपित सर्प आदि देखे जाते हैं। इसलिये दीखने मात्र से उसका जो आलम्बन है वह मानना पड़े यह ज़रूरी नहीं कि साँप दीखा तो साँप मानें!

विज्ञानवादी कहता है ज्ञान ज्ञेयाकार, बाह्यार्थवादी कहता है ज्ञेय से ज्ञान में आकार, वेदांती कहता है ज्ञान ज्ञेय दोनों सच्चे नहीं क्योंकि एक दूसरे के बिना किसी की सिद्धि नहीं। चूँकि साधारण आदमी बाह्य विषय को मानता है इसलिये प्रायः कहा जाता है कि ज्ञान से अतिरिक्त उनकी सिद्धि करो। जैसे कोई संसार के पदार्थों में राग वाला बनकर आया, तो उसे वैराग्य का उपदेश दिया कि 'छोड़ो।' यदि वैराग्य वाला बनकर आया तो उससे कहेंगे कि 'ब्रह्म से भिन्न कुछ दीख रहा है क्या? यदि दीख रहा है तो ज्ञान तुम्हें हो नहीं सकता।' राग वाला हुआ तो उसे वीतरागी बनना है। वैराग्यवान् आ जाये तो कहो कि 'तू कह रहा है संसार छोड़ना चाहता हूँ और संसार ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता वाला नहीं है तो फिर छोड़ना क्या चाह रहा है?'

वैद्यक के दृष्टांत से समझ लो। कोई दुबला पतला आता है तो कहते हो कि 'घी शक्कर खा, तब स्वस्थ होगा।' मोटा ताजा आता है तो कहते हो कि 'घी खाना छोड़ क्योंकि पतला होगा तो स्वस्थ होगा।' अब कोई कहे कि आपका उलटा मामला है! तुम कहोगे कि 'दोनों रोगी हैं इसलिये इन्हें ठीक स्वस्थता प्राप्त करनी है।'

इसी प्रकार संसार के पदार्थों में आसक्ति वाला होकर फँसता है तो भी बीमार है और संसार के पदार्थों को देखते ही छछूँदर की तरह चमके, तो यह भी बीमारी है। विषय देखकर घबरा जाना; 'महाअशांत हो गया! कहाँ फँस गया!' और दूसरी तरफ विषय न मिलें तो 'हाय! विषय नहीं मिले।' दोनों रोगों को दूर करने का उपदेश देना पड़ता है।

यह बात दूसरी है कि हिन्दुस्तान में अधिकतर दुबले पतले लोग बीमार होते हैं। इसलिये हमारे यहाँ अधिकतर समस्या इसकी है कि आदमी को पौष्टिक आहार मिले। अमरीका आदि में रोगों का कारण अधिकतर स्थूलता (obesity) है इसलिये अधिकतर दवाइयाँ भी पतला बनने की दी जाती हैं। लेकिन असलियत यह है कि दोनों को स्वस्थ करना है। स्वस्थता का मतलब तो दोनों के रोग को दूर करना है।

Scanned by CamScanner

'ज्ञेय है तो ज्ञान है' यह भी भ्रम और 'ज्ञान है तो ज्ञेय है' यह भी भ्रम ही है। ज्ञान ज्ञेय अभिन्न हैं। भ्रान्ति-दर्शन की विषयता होने से जिसे तुम निमित्त कहते हो वह अनिमित्त बन जाता है। भ्रान्ति-दर्शन का विषय रस्सी में साँप और वह साँपज्ञान का निमित्त नहीं अनिमित्त है। इसलिये जो चीज़ भिन्न दीख रही है वह भिन्न दीखना निमित्त नहीं है। यहाँ अनुमान समझ लेना कि बाह्य अर्थ सचमुच ज्ञान के प्रति आलम्बन नहीं है, भ्रान्ति का विषय होने से, रस्सी में सर्प की तरह।

भ्रान्ति का अभाव होने पर बाह्यार्थ का अभाव हो जाता है। उसी को स्पष्ट करते हैं। भ्रान्ति दर्शन का जहाँ अभाव है वहाँ बाह्य पदार्थ का भान नहीं होता है। जैसे सुषुप्ति में ज्ञेय पदार्थ बाहर पड़ा हुआ है लेकिन प्रतीति कहाँ होती है? इसी प्रकार समाहित व्यक्ति को समाधि काल के अन्दर भी प्रतीति नहीं। जो मुक्त हो जाते हैं उन्हें भी प्रतीति नहीं। सुषुप्ति के अंदर कारण है मन की वृत्ति बनाने की सामर्थ्य का अभाव। समाधि में मन के स्वरूप में लीन हो जाने के कारण बाह्यार्थ की प्रतीति नहीं। और मुक्ति हुई जहाँ भ्रान्ति दर्शन मिट गया। न सुषुप्ति में न समाधि में और न मुक्तों को आत्मा से अतिरिक्त बाह्य अर्थ की उपलब्धि होती है।

अब किसी को शंका हुई कि सुषुप्ति समाधि तो ठीक है लेकिन मुक्तों को भान होता होगा। जब तक शरीर से सम्बन्ध है तब तक बाह्य पदार्थों का भान अवश्व होना चाहिये। इसलिये हे क्षणिक विज्ञानवादी अर्थात् अद्वयवादी! यह जो तुमने मुक्त वाली बात कही यह बात समझ में नहीं आई।

समाधान करते हैं कि चार आदमियों में तीन ने भाँग छान ली। उन तीनों को भाँग के नशे में नज़र आ रहा है कि यह दरवाजा है ही नहीं। जिसने बूटी नहीं छानी उस चौथे को भी नज़र आता हो कि दरवाजा नहीं है ऐसा थोड़े ही है! उन्मत्त या पागल अवस्था के अन्दर जो चीज़ दीखती है वह जो उन्मत्त नहीं हैं उनको भी वैसी ही दीखती हो ऐसा थोड़े ही है! इसी प्रकार बद्धों को संसार दीखता है तो मुक्तों को भी भेद ज़रूर दीखता होगा, ऐसा थोड़े ही है।

इस युक्ति से विचित्र संदर्शन और संक्लेश की उपलब्धि से वास्तविक भेद का निवारण किया। तत्त्वज्ञानी पुरुष को स्फुरण से अतिरिक्त कहीं किसी चीज़ की उपलब्धि नहीं होती। न वैचित्र्यदर्शन और न क्लेश की उपलब्धि होती है। कोई अगर ऊपर से शंका करे कि व्यवहार के अन्दर उनको पदार्थ-प्रतीति होती है ऐसा हमें प्रतीत होता है। तो वह तुम्हें दीखता है। उनका व्यवहार तो पूर्वभ्रमसमारोपितस्वप्न की तरह हो जाता है। उसी प्रकार दुःख भी उसी व्यवहार का अंग हो जाता है। जैसे वह बाकी सबको स्वप्न की तरह देखता है वैसे उसे भी वह स्वप्न की तरह देखता है, जानता है कि यह सत्य नहीं है। इसलिये यह नहीं कि वहाँ सत्य पदार्थ की आवश्यकता हो। बिना सत्य पदार्थों के स्वप्नवत् प्रतीति हो जाती है।।२५।।

●

Scanned by CamScanner

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ।।२६।।

चित्त अर्थात् स्फुरण वस्तुतः न पदार्थ से सम्पर्क वाला है और न कुछ पदार्थाभास है जिससे वह सम्पर्क वाला हो। बाह्यार्थ तो हैं नहीं यह बता चुके और आभास चित्त से भिन्न कहाँ होंगे कि उनसे वह सम्पर्क वाला हो!

कहते हैं कि ज्ञान तो किसी न किसी आलम्बन से ही प्रसिद्ध है। घड़े को लेकर घटज्ञान, कपड़े को लेकर कपड़े का ज्ञान हुआ। यदि तत्त्व दृष्टि से ज्ञेय का अभाव है तो ज्ञान भी नहीं होना चाहिये। अगर तत्त्वज्ञानी के लिये ज्ञेय की असत्यता है तो उसको ज्ञान भी नहीं होना चाहिये। ज्ञानभेद है तो ज्ञेयभेद होना ही चाहिये। यह शंका प्रायः उठती है। यदि उनकी दृष्टि में घट पट नहीं तो उनकी दृष्टि में घटज्ञान पटज्ञान कैसे अर्थात् विषयों का स्फुरण कैसे?

उसी का जवाब दे रहे हैं कि सच्ची बात यह है कि जो अज्ञानी हैं उनका भी जो चित्त है वह किसी पदार्थ का स्पर्श थोड़े ही करता है! यह जो सब सांख्यवाद ने मान रखा है कि मन इन्द्रियों से बाहर निकलकर घट-पट आदि स्थल में जाता है, तदाकार वृत्ति बनती है तब ज्ञान होता है; ये सब गप्पे हैं, कुछ तत्त्व नहीं है।

आज के ज़माने में तो बिल्कुल स्पष्ट है। ऐसे ऐसे नक्षत्र हैं जहाँ से यहाँ रोशनी आने में पाँच सौ साल या एक हज़ार साल लग जाते हैं। सांख्यवादी कहता है कि अंतःकरण की वृत्ति आँख से जाकर देखती है, और पाँच सौ साल तो तुम्हारी उम्र ही नहीं है! पहले के लोग मानते थे कि आँख के द्वारा वृत्ति बाहर जाती है। आज के लोग मानते हैं सूर्य की रश्मियाँ आँख के रैटिना में आती हैं तब दीखता है। दोनों की व्यवस्था चलती रहती है। इसलिये चित्त अर्थ का संस्पर्श नहीं करता। त्वक् और आँख के विषय में ही अर्थस्पर्श की बात उठती भी है, बाकी इन्द्रियों से तो पदार्थ के स्पर्श कोई भी नहीं मानता। पदार्थज्ञान किससे होता है? आँख से ही होता है यह सभी दार्शनिक मानते हैं। कान से शब्द का ज्ञान होगा पदार्थ का ज्ञान नहीं। यह कुर्सी है इस बात का ज्ञान तो आँख से ही होना है। नासिका से गंध, जीभ से स्वाद का ग्रहण होना है। पदार्थ ग्रहण को हर हालत में आँख से होना है और आधुनिक विज्ञान कहता है कि पदार्थ के साथ आँख का स्पर्श नहीं। अब पदार्थ के ज्ञान का और कोई साधन है नहीं। इसलिये चित्त कभी भी पदार्थ का स्पर्श नहीं करता।

स्फुरण सकर्मक नहीं है। स्फुरण धातु सकर्मक नहीं अकर्मक धातु है। इसलिये स्फुरण को कर्म की अपेक्षा ही नहीं है। अब कहोगे कि 'स्फुरण शब्द को आप पकड़ रहे हो। यह तो व्याकरण में फँसने चले गये। सीधा ज्ञान को कहो और जानना तो सकर्मक धातु है।' लेकिन वस्तुतः जानने को भी क्रिया की फलकल्पना से सकर्मक कहते हो।

Scanned by CamScanner

क्रिया का फल क्या हुआ करता है? 'मैंने रोटी को खाया।' 'खाया' क्रिया, 'रोटी' कर्म हुई। खाना क्रिया से रोटी में तुमने परिवर्तन किया, चबाया, पेट में डाल दिया। इसी प्रकार 'मैं गाँव गया।' यहाँ 'गया' क्रिया से 'गाँव' में परिवर्तन किया; गाँव का एक आदमी बढ़ गया तो गाँव में परिवर्तन आया। 'मैंने घड़ा बनाया।' 'बनाया' क्रिया से 'घड़े' में परिवर्तन किया; घड़ा पहले नहीं था जो अब दीखने लग गया। 'मैंने साग या पैंसिल को छीला' तो कुछ क्रिया की, परिवर्तन किया। 'मैंने दूध को फाड़ लिया', यहाँ भी क्रिया से दूध में परिवर्तन किया। 'उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।' कोई भी क्रिया कर्म के ऊपर चार फल उत्पन्न कर सकती है। या उत्पन्न करेगी, या उसे प्राप्त करेगी या उसे शुद्ध करेगी या उसे बिगाड़ेगी। इन चार में से कोई न कोई क्रिया का फल कर्म पर होगा। इसलिये क्रिया के द्वारा कर्म के साथ एक सम्बन्ध हुआ। अब 'मैंने घड़े को जाना' इससे घड़े में मैंने क्या परिवर्तन किया? न घड़ा मेरे जानने से उत्पन्न हुआ, न मैं उसपर चढ़ बैठा, न मैंने घड़े को सुधारा और न कोई बिगाड़ किया। क्रिया का फल कर्म पर होना चाहिये, लेकिन जानने को सकर्मक क्रिया मानने पर भी कर्म के साथ उसका फल वाला सम्बन्ध नहीं है। इसलिये ज्ञान के साथ क्रिया के फल की कल्पनामात्र है वास्तविक नहीं। इसलिये यह कहना कि 'स्फुरण' शब्द को पकड़कर व्याकरण से हम दबाना चाहते हैं सो नहीं है। स्फुरण इसलिये कहा कि वहाँ अकर्मकता स्पष्ट है। जानना भी स्वरूप से अकर्मक ही है क्योंकि इस क्रिया का कर्म पर कोई फल नहीं होता, सकर्मक होते हुए भी। चित्त का स्पर्श मायने ज्ञान; तो चित्त कोई पदार्थों को छूता थोड़े ही है।

वादी बोला : अरे! जरा सम्भलो। तुमने हमारा सिद्धान्त अभी नहीं पढ़ा। यह तो मान लिया कि पदार्थ का सम्बन्ध न हो, लेकिन पदार्थाभास का सम्बन्ध हो जायेगा। आधुनिक विज्ञान की भाषा में घट तो नहीं दीख सकता, लेकिन घट का प्रतिबिम्ब तो हमारे रैटिना पर पड़ गया। इसलिये अर्थाभास से स्पर्श तो होना चाहिये।

इस पर कहते हैं कि इसी प्रकार अर्थाभास को भी नहीं छूता है। यह कैसे कह दिया? जाग्रत् काल में रस्सी में साँप दीखता है और स्वप्न काल के अन्दर सभी पदार्थ दीखते हैं। न उन पदार्थों के साथ सम्बन्ध और न पदार्थाभास के साथ ही सम्बन्ध है। स्वप्न के अन्दर कोई पदार्थाभास थोड़े ही बना है! न रस्सी में साँप का आभास बना है जो दीख रहा है। दोनों में चित्त से भिन्न अर्थ नहीं है। स्वप्न का पदार्थ भी चित्तरूप और रस्सी में साँप भी चित्तरूप ही है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं चूँकि बाह्य कोई निमित्त या पदार्थ नहीं है, इसलिये चित्त का स्पर्श भी नहीं है। बाह्य कोई पदार्थ होता तो चित्त छूता, तदाकार वृत्ति आदि का टंटा करता। जब बाह्य अर्थ है नहीं तो चित्त बाह्यार्थ को आलम्बन, विषय करता या पदार्थ को छूता नहीं। इसी प्रकार अर्थाभास को भी नहीं छूता क्योंकि वह भी सिर्फ

Scanned by CamScanner

चित्त है। स्वप्न का चित्त स्वप्न के पदार्थ और आभास को छूता थोड़े ही है, कोई वृत्ति थोड़े ही बनानी पड़ती है। ऐसे ही यहाँ भी है। स्वप्न में मानना पड़ेगा कि कोई पदार्थ है नहीं जिसको चित्त छूता है। स्वप्न में चित्त ही तदाकार भान हो रहा है। वहाँ अर्थाभास थोड़े ही है। इसी प्रकार रस्सी में भी साँप चित्त ही बन गया। जैसे स्वप्न चित्त वैसे ही जाग्रत् के अन्दर भी बिना हुए भी स्वप्न के पदार्थों की तरह बाह्य शब्द आदि अर्थ भासते हैं। यहाँ अनुमान है कि पदार्थ नहीं होता है, पदार्थ होने के कारण, स्वप्न पदार्थ की तरह। जो जो पदार्थ हुआ करता है वह वह नहीं हुआ करता है जैसे स्वप्न के पदार्थ। पदार्थत्व ही पदार्थ न होने में हेतु है। यह पहले भी बता आये हैं कि पदार्थ अपने विषय के ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, भ्रान्ति-विषय होने के कारण, रस्सी में साँप की तरह या स्वप्न पदार्थ की तरह।

प्रश्न होगा कि पदार्थ से जन्य ज्ञान न भी हो, लेकिन पदार्थाभास से ही पैदा हो जाये। पदार्थ की तरह वहाँ कुछ तो ज़रूर होता होगा। उत्तर देते हैं कि अर्थाभास भी नहीं है। बात यह है कि चित्त से भिन्न कोई चीज़ नहीं है। चित्त ही घट आदि रूप में भासित होता रहता है जैसे स्वप्न में न पदार्थ और न पदार्थाभास है।।२६।।

●

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ।।२७।।

तीनों कालों में कभी भी चित्त विषय का स्पर्श करता है नहीं तो चित्त को—ज्ञान को— कभी भी बिना कारण भ्रम कैसे माना जाये?

बाह्यार्थवादी कहता है कि एक बात बताओ : आप कहते हैं कि स्वप्न के पदार्थ भ्रांति से हैं। लेकिन भ्रान्ति के पहले कोई सच्चा पदार्थ होगा, तब भ्रांति कहोगे। जाग्रत् के पदार्थ हैं तब स्वप्न-पदार्थ भ्रान्ति हैं। कहीं कोई सच्ची चीज़ हो तब दूसरे को भ्रम कहोगे। यदि ज्ञान का कभी कोई आलंबन होता ही नहीं है तो फिर किसी ज्ञान को 'सच्चा ज्ञान' कहना भ्रान्ति होगा। तथा कोई ज्ञान सच्चा हो उसे निमित्त बनाकर ही दूसरे को झूठा या भ्रान्ति कहोगे। जब चित्त ही साँप रूप और चित्त ही रस्सीरूप बना, तो कैसे कहोगे कि साँप के आकार का चित्त भ्रम है? जब विषय ही नहीं तो सत्य-असत्य का कैसे निर्णय होगा? भ्रान्ति हमेशा अभ्रान्ति की प्रतियोगी होगी। यहाँ अन्यथाख्याति के अनुसार शंका है। सच्चा क्या है— पहले यह बताओ। तुमने कहीं सच्चा साँप देखा, तब यहाँ देखकर झूठा कहा। वहाँ भी जब सच्चा नहीं तो इसे झूठा कैसे कह रहे हो?

जवाब देते हैं कि यह कोई नियम नहीं है। यह अन्यथाख्याति का नियम कि कहीं एक जगह सच हो तब दूसरी जगह झूठ हो, भ्रांति अभ्रांति की प्रतियोगी होती है, यह

Scanned by CamScanner

ठीक नहीं है। क्योंकि चित्त भूत, भविष्य, वर्तमान किसी भी काल में , जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति किसी भी अवस्था में किसी भी बाह्य अर्थ का स्पर्श करता ही नहीं है।

यहाँ लोगों की हिम्मत जवाब देने लगेगी। जब कहते हो 'यह आदमी बुरा है' तो क्या ज्ञान होना चाहिये? मेरे में बुराई भरी है तब बुराई दीख रही है। यह कभी नहीं हो सकता कि मैं चोर नहीं तो मुझे चोर दिखाई दे। मेरे में झूठ है तो मुझे झूठ दिखाई देता है। उस दिन उपाध्याय जी यही बात कह रहे थे। स्त्रीनिंदा का प्रकरण चला था। जब तक अपने मन में नहीं भरा हुआ होगा तब तक कोई किसी की निंदा क्यों करेगा? इसलिये चित्त कहीं भी स्पर्श नहीं करता। अतः उसकी अपेक्षा से तुम किसी को असत् और किसी को सत्, ऐसा नहीं कहते।

फिर क्या है? बिना निमित्त के विपर्यास कैसे सिद्ध होगा? प्रसिद्ध दृष्टांत है कि शृंगी महर्षि ने औरतों को देखा तो उन्हें औरतों के स्तनों में फोड़ों का स्फुरण हुआ। शृंगी विभांडव के पुत्र थे। उन्होंने शृंगी को सर्वथा स्त्री से दूर रखा। जब राजा दशरथ को अश्वमेध यज्ञ के लिये आवश्यकता हुई तो तय हुआ कि ऐसे व्यक्ति को यज्ञ का पौरोहित्य दिया जाये जिसके मन में स्त्रीजन्य संस्कार न हों, तभी उसके द्वारा अश्वमेध यज्ञ होगा। शृंगी को बुलाने का विचार हुआ लेकिन जानते थे कि विभाण्डव तो भेजेंगे नहीं। तब कुछ गणिकाओं को भेजा गया। उन्होंने जाकर शृंगी महर्षि को खिलाना पिलाना शुरू किया, बातचीत करना शुरू किया। उन्हें स्त्री स्पर्श का संस्कार तो था नहीं। उनके पिता ने उसके ढंग में फ़रक देखा तो कहा कि 'कोई मिलने तो नहीं आया था?' तब उन्होंने बताया कि 'तुंगभद्रा नदी के किनारे कुछ ऐसे लड़के आये हुए हैं जिनकी छाती पर बड़े बड़े फोड़े हैं। मैंने कहा कि 'दवाई करो' तो कहने लगे कि 'ये फोड़े नहीं, इन्हें चूस कर देखो।' विभांडव ने जान लिया कि यह स्त्रियों से मिल आया है, अब संस्कार उदय होंगे। तब उनके पौरोहित्य में यज्ञ कराया गया।

दृष्टांत केवल इस अंश में है कि 'ये स्तन हैं' ऐसा जिसको स्फुरण नहीं, उसको फोड़ा दीख गया। फोड़े का स्तन रूप से, स्तन का फोड़े रूप से स्फुरण संस्कार से हो जाता है। शृंगी महर्षि को संस्कार होता तो स्तन रूप से स्फुरण होता। वासना ही कारण है। संस्कारों के कारण चित्त का स्फुरण होता चला जाता है। पदार्थ के साथ स्पर्श आवश्यक नहीं।

भगवान् भाष्यकार ने सामान्य लोगों की शंका को दिखाया है कि जहाँ घट आदि न हो वहाँ चित्त का घट आदि रूप में आभासित हो जाना विपर्यास (उलटा ज्ञान) हो गया यह बात स्वीकार करने पर कहीं तो बताना पड़ेगा कि जहाँ घट का सच्चा ज्ञान है, तभी उसे मिथ्या ज्ञान कहोगे। कहीं सर्प दीखा तब यह रस्सी में सर्प भ्रान्ति होती है। तात्पर्य हुआ कि घट आदि बाह्य अर्थ यदि कहीं भी ग्रहण न हों तो तुम उसके आभास को ज्ञान का विपर्यास नहीं कह सकते। 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' जो चीज़ जैसी न हो वैसी

Scanned by CamScanner

उसकी प्रतीति होना विपर्यास है। चित्त वहाँ सर्पाकार है ही और यदि उसका सच्चा कारण कहीं भी न होता तो वह 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' कहाँ हुई? चित्त घटाकार का बना तो घटज्ञान हुआ, उसे मिथ्या ज्ञान कैसे कहोगे?

इस शंका का जवाब देते हैं कि यह जो सिद्धान्त तुमने किया वह बिल्कुल ठीक है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में चित्त कहीं भी विषय का स्पर्श नहीं करता। यदि कहीं पर वह छूता तो उसको परमार्थ रूप से अविपर्यास अर्थात् सच्चा ज्ञान कहा जा सकता था। उसकी अपेक्षा से घट न होने पर घट के आभास को मिथ्या ज्ञान भी कहा जा सकता था। लेकिन ऐसा सच्चा ज्ञान कहीं नहीं है। कहीं भी चित्त विषय को स्पर्श नहीं करता। इसलिये सच्ची बात तो यह हुई कि अनिमित्त अर्थात् बिना किसी विषय के ही प्रतीति सब जगह एक जैसी है। बिना विषय के प्रतीति होकर तुम विषय मानते हो, बस यही विपर्यास है। इसलिये चित्त को कभी भी ग़लत ज्ञान नहीं होता है। तुम जो चित्त की 'वृत्ति' से अलग किसी चीज़ को मानते हो, बस यह विपर्यास है। इसको छोड़कर और कोई भी विपर्यास नहीं है।

जैसे तुमने रस्सी में साँप देखा वैसे ही तुमने धागे में रस्सी देखी, वही कौन सा सच्चा ज्ञान है? धागे को रूई में देखा। इसी प्रकार आगे चलते चले जाओ तो आकाश में तुमको यह सब दीख रहा है। तो इसलिये यह सारा मिथ्या ज्ञान हुआ। इसीलिये भ्रान्ति ज्ञान यही है कि चित्त की वृत्ति से अतिरिक्त कोई पदार्थ है जिसको छुआ जा रहा है। और अभ्रान्ति के अभाव से भ्रांति भी असम्भव है। बस, घट आदि न होने पर भी घट आदि हैं ऐसा आभास है, इतना ही कहो।

फिर इसका कुछ कारण तो बताओ? यही तो चित्त का स्वभाव अर्थात् अविद्या है। चित्त का विषय अज्ञान ही तो है! बिना किसी विषय के हुए ही, घट आदि विषयों के न होने पर भी, घट की तरह अवभास होता रहता है। यही चित्त का स्वभाव अर्थात् अविद्या है। भ्रान्ति अभ्रान्ति पूर्वक है, यह नियम नहीं। पहले कहीं अभ्रम हो तभी दूसरी जगह भ्रम हो ऐसा नहीं। सारा ही झूठा ज्ञान होता चला जाता है। यही अविद्या है कि बिना हुए चीज़ों की प्रतीति करा देना, जैसे रस्सी बिना साँप हुए साँप की तरह प्रतीत होती है। कहीं रस्सी सच्चा साँप बनी होगी ऐसा नहीं। यह उसका स्वभाव है कि अज्ञात होने पर साँप की तरह प्रतीत होना। वैसे ही विषय कहीं प्रतीत नहीं लेकिन चित्त का 'स्वभाव' है कि भिन्न भिन्न रूप से प्रतीत हो। तुमने कहा बाह्य अर्थ रस्सी सच्ची है, तब 'साँप' झूठा ज्ञान होगा। हमने कहा कि जैसे रस्सी से सर्प प्रतीति होना भ्रम है उसी प्रकार यहाँ भी चित्त सारे आकारों से बनता रहता है, यही अविद्या है। यह विज्ञानवादी की बात हुई। केवल बाह्यार्थवादी का निषेध विज्ञानवादी ने किया।।२७।।

●

Scanned by CamScanner

अब कहते हैं कि यह विज्ञानवाद भी ठीक नहीं है—

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।।२८।।

इसलिये जैसे चित्त के दृश्य उत्पन्न नहीं होते ऐसे ही चित्त कीं उत्पत्ति भी हुए बिना प्रतीत होती है। जो चित्त की सचमुच उत्पत्ति मानते हैं वे तो आकाश में पदचिह्न भी देखते होंगे!

विज्ञानवादी से कहते हैं : तुम मानते हो कि चित्त बदलता रहता है। प्रत्येक क्षण में चित्त उत्पन्न होता है। चित्त उत्पन्न होना तो तुम मान रहे हो। क्या चित्त कोई अर्थ है जो उत्पन्न हो? जैसे घट आदि आकार से चित्त बनता है वैसे ही बनना आकार से चित्त बनता है, वहाँ बनना या प्रतिक्षण उत्पन्न होना कहाँ? तुम घट पट आदि नहीं मानते, घटज्ञान, पटज्ञान को मानते हो। एक कदम और लो। जैसे चित्त के दृश्य पैदा नहीं होते ऐसे ही चित्त भी पैदा नहीं होता। तुमने अब तक जो युक्ति दी थी उसी युक्ति से बात कर रहे हैं : घट का आभास होता है तो घट नहीं है। एक कदम और आगे चलो कि घटज्ञान की प्रतीत होती है तो घटज्ञान भी नहीं है। तुम कहते हो घट प्रतीत होने पर भी नहीं है। फिर तुम्हें चित्त की प्रतीति हो रही है तो चित्त भी नहीं हैं! दोनों मानो, केवल बाह्यार्थवाद का खण्डन मत करो, अपना भी खण्डन करो। हे क्षणिकविज्ञानवादी! उस चित्त को भी जो पैदा होने वाला समझना चाहते हो वह तुम्हारा व्यर्थ का आग्रह है। अन्यथा तुम तो आकाश में चिड़ियों के पंजों की छाप देखकर अनुमान लगाते हो कि चिड़िया कहाँ गई! अर्थात् असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हो। इतने बड़े संसार को तुमने उड़ा दिया, लेकिन अंत में चित्त में फँस गये। प्रतिक्षण विज्ञान का जन्म जो विज्ञानवादी के द्वारा देखा जाता है वह भी बनता नहीं। इसलिये अजाति निश्चित हो गई।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि पच्चीसवें श्लोक से सत्ताइसवें श्लोक तक विज्ञानवादी बौद्ध ने जो बात कही वह भगवान् गौडपादाचार्यों ने अनुमोदित कर दी कि बाह्यार्थवादी का खण्डन करके बढ़िया काम कर दिया। उनका कहना था कि जैसे विज्ञान वैसे ही बाह्य पदार्थ। बाह्यार्थवाद बाहर के पदार्थ को मानता था। इसने यह तो सिद्ध कर दिया कि बाह्य पदार्थ नहीं है। बाह्य पदार्थों को न मानना हमको भी इष्ट है। इसको हम भी दूषण मानते हैं। लेकिन विज्ञानवादी जो क्षणिक चित्त माने बैठा है वह एक और भूल है। घट आदि बिना हुए ही घट आदि का आभास होता है। यह घट आदि आभास ही विज्ञान या क्षणिक विज्ञान है यह जो तुमने कहा उसी को अब हम हेतु करते हैं अर्थात् तुम्हारी ही बात को कारण बना रहे हैं तुम्हारी मान्यता के खिलाफ़। कोई नया कारण नहीं कह रहे हैं।

Scanned by CamScanner

घट आदि के न होने पर भी चित्त का घट आदि रूप में अवभासन विज्ञानवादी ने स्वीकार कर लिया, उसका हमने भी अनुमोदन कर दिया क्योंकि भूतदर्शन है। अर्थात् घट आदि मिट्टीमात्र ही हैं। मिट्टीमात्र रहते हुए ही, बिना घट वस्तु के ही घटज्ञान होता है। ऐसे ही विज्ञान भी बिना पैदा हुए ही पैदा हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् चित्त भी घटाकार बने बिना ही घटाकार प्रतीत होता है! जैसे तुमने घट को मृद्रूप देखा वैसे हमने मिट्टी आदि सब को विज्ञप्तिमात्र देखा। वही सबका तत्त्व है। तुम्हारे पास शास्त्रचक्षु नहीं, लेकिन हमारे पास तो है। इसके लिये फिर क्षणिक विज्ञान की ज़रूरत नहीं है। भूतदर्शन हेतु से ही चित्त भी जो उत्पन्न होता हुआ अवभासित होता है वह बिना हुए ही वैसा प्रतीत होता है, यह मानना युक्त है। इसलिये चित्त भी पैदा नहीं होता, जैसे चित्त का दृश्य पैदा नहीं होता। द्वितीय पाद को दृष्टांत में लगा दिया। अनुमान समझ लेना कि चित्त रूपी विज्ञान का भी जन्म नहीं होता, चित्त भी अज ही है, प्रतीत होने से, घट आदि की तरह। इसलिये उस चित्त का भी जो घट पट आदि आकार से जन्म दीखता है वह है नहीं।

बौद्ध संतुष्ट नहीं होता क्योंकि उसके गुरु जी ऐसी पट्टी पढ़ा गये हैं। 'सर्वं दुःखं दुःखं, सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं शून्यं शून्यम्' यह पट्टी पढ़ा गये इसलिये हमेशा चित्तवृत्ति से डरता रहता है और कहता है कि 'कब ऐसा समय होगा जब चित्त कोई वृत्ति ही नहीं बनायेगा, मन कुछ न बनाये यह स्थिति कब आयेगी!' अर्थात् ईंट पत्थर बनना चाहता है क्योंकि गुरु जी समझा गये कि सारा संसार दुःखरूप है। इसलिये बौद्ध लोग ज्यादा नहीं तो थोड़े दिन के लिये वैराग्य लेकर मठों में रहते हैं कि जितना संसार छोड़कर रहो वही सुखी और सच्चा जीवन है। मध्यकालीन संतपरम्परा भी यही मानती रही। रामदास, मधुसूदन सरस्वती आदि कुछ हिम्मत वाले निकले, बाकी अधिकतर तो संसार को महादुःखरूप समझकर उससे बचते रहे। यह ठीक है कि राग की अतिशयता होने पर संतुलित बनाने के लिये वृत्ति बनानी पड़ती है, लेकिन वस्तुतः न जब सुखाकार है तो सुखी और न जब दुःखाकार है तो दुःखी। सब कुछ न सुखरूप है और न सब कुछ दुःखरूप है। सृष्टि के नियमों के अनुकूल काल में पुण्यवश सुखरूप है और सृष्टि के नियमों के विपरीत होने पर पापवश दुःखरूप है। वेदांती की सीधी दृष्टि है कि सुख सुख है, दुःख दुःख है। न सब दुःखरूप और न सब सुखरूप है। जितना-जितना धर्म उतनी-उतनी सुखरूपता और जितना-जितना पाप उतनी-उतनी दुःखरूपता है।

विज्ञानवादी केवल इतना ही मानता तो कोई बात नहीं थी। वह तो क्षणिक भी समझ लेता है, शून्य भी समझ लेता है, और ये सब अनात्मा ही हैं। आत्मा को भी वह अनित्य ही मानता है क्योंकि उनके यहाँ आत्मा भी एक प्रतीतिमात्र है। वस्तुतः तो चित्तरूप विज्ञान का जन्म ही नहीं हो सकता। इसलिये वह जो उसके तात्त्विक जन्म को देखता है तो आकाश में मानो पक्षी के पदचिह्न देखना चाहता है। अर्थात् असम्भव बातों

Scanned by CamScanner

को मान लेता है। वस्तुतः चित्तरूप विज्ञान का जन्म नहीं। विज्ञानवादी विज्ञान में अनात्मत्व मानता है; घटज्ञान पटज्ञान से अलग; पटज्ञान से अलग— इस प्रकार विज्ञान में अलगाव मानता है; उसे क्षणिक मानता है; उनमें अन्योन्य सादृश्य भी मानता है। घड़ा जब बाद में दीखता है तो वैसा ही घड़ा दीखता है, जैसा पहले दीखा था, ऐसा मान लेता है।

यह बताओ कि तुम कहते हो चित्त बदल रहा है, तो चित्त की उत्पत्ति को कौन देखता है? घटज्ञान को पैदा होता हुआ देखने वाला कौन? यह तो कह नहीं सकते कि घटज्ञान अपने आपको देखता है क्योंकि स्व में स्व की वृत्ति अनुपपन्न है। और जब तक उसमें दृश्यता न आये, वह विज्ञान दृश्य न बने, तब तक उसमें रहने वाले धर्म की दृश्यता असम्भव है। क्षणिक विज्ञान रूप चित्त को कौन देखेगा? कोई दूसरा आत्मा बौद्ध मानता नहीं, वह चित्त अपने आपको देख नहीं सकता, स्व में स्ववृत्ति हो नहीं सकती। जब चित्त ही नहीं दीखेगा तो फिर उसमें रहने वाली क्षणिकता, दुःखिता, शून्यता कहाँ से दीख गई? उलटा दण्डा गुरु ने पकड़ा दिया तो वही पकड़ कर चल दिया! चित्तस्पन्द हुआ विज्ञान, उसकी दुःखरूपता, शून्यरूपता, क्षणिकता किस को दीख रही है? इसलिये बौद्ध अपने आपको समझता है कि 'बहुत बड़ा हूँ, वेदांती के नज़दीक आ जाता हूँ', लेकिन वह तो दूसरे द्वैतियों से भी ज्यादा साहस करता है। वे तो कम से कम चित्त के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, घट को विषय करते हैं और यह उस ज्ञान के द्वारा उस ज्ञान को ही विषय करता है! बनता बुद्धिमान् है लेकिन काम उलटा कर रहा है। यहाँ तक क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन किया।

शून्यवाद का खण्डन मूलकार ने नहीं किया इसलिये भाष्यकार ऊपर से कहते हैं : जो शून्यवादी हैं वे देखते हुए ही सर्वशून्यता कहते हैं! देखना कभी ख़त्म नहीं होता है। वह कहता है कि 'कुछ नहीं है, आत्मा भी नहीं है', तो देख ही रहा है। इस बात को देखते हुए भी कि देखना कभी ख़त्म नहीं होता है, ऐसा कहता है कि 'मैं नहीं देख रहा हूँ।' अविलुप्त दृग्रूपता को देखते हुए, सब चीज़ों को शून्य मानते हुए जो उनका 'दीखना' है उसको भी शून्य मान रहा है। दृष्टिबल से ही तो उसका अभाव सिद्ध होता है। उस दृष्टि का अभाव कैसे सिद्ध होगा? दृक् रहा ही नहीं तो अभाव को कैसे बतायेंगे? अगर अभाव को बता रहा है तो दृग्रूप है कैसे नहीं? एक काल में ही वह रह भी जाये और अपने अभाव को देख भी ले यह कैसे हो सकता है? शून्यवादी मानता है कि अंतिम मुक्ति के समय वह अपनी शून्यता को विषय करके उसके साथ ही ख़त्म हो जाता है। लेकिन वह अंतिम क्षणमें, उसी एक क्षण में रहेगा भी और अपना अभाव जान भी लेगा यह कैसे सम्भव हो सकता है? अभाव है तो जान कैसे लेता है? शून्यता भी तो तुम्हारा दर्शन है। फिर शून्यता की प्रतिज्ञा कैसे करते हो? अगर तुम्हारा दर्शन ही कुछ नहीं अर्थात् ज्ञान ही नहीं है तो तुम्हारी पक्ष-असिद्धि हो गई। इसलिये यह विज्ञानवादी से

Scanned by CamScanner

ज्यादा साहस करने वाला है। वह आकाश के अन्दर पक्षी के पैर देखता है और यह आकाश को मुट्ठी में बंद करके देखना चाहता है अर्थात् ज्यादा ऊटपटांग बात मानता है।।२८।।

●

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।२९।।

प्रकृति तो अजाति है अतः अजातरूप प्रकृति का जन्म किसी तरह नहीं होता। 'उत्पन्न होता है' ऐसा जिसे समझते हैं वह अजात ब्रह्म ही है।

विज्ञान जो हुआ वह न बाह्य विषय को आलम्बन करता है, न क्षणिक है, न शून्य है; यह सब सम्भव नहीं होता। जो अजात चित्त है वही ब्रह्मरूप हो जाता है। जहाँ चित्तकी अजातता को जाना तो वही ब्रह्म है। चित्त न विषयाकार, न ज्ञानाकार बनता है, दोनों आकारों को ग्रहण नहीं करता। न वह ज्ञानाकार, न ज्ञेयाकार, अर्थात् कुछ बना ही नहीं। दो ही चीज़ों का अनुभव होता है— ज्ञान और ज्ञेय, जब दोनों ही नहीं बने तो ज्ञान ज्ञेय दोनों कल्पनाओं से रहित चित्त ही ब्रह्म है। यही अजात का हो जाना है। विज्ञान ही उसका वास्तविक स्वभाव है; बदलता हुआ, जन्म लेता हुआ दीखता है, यही भ्रम है। जो जिसका स्वभाव है वह बदलता नहीं और ब्रह्म का स्वभाव ही अज है। न्याय वैशेषिक से लेकर विज्ञानवादी तक सब ने सिद्ध कर दिया कि अज एक ब्रह्म ही है, यही सिद्ध हो गया। इसलिये आदि में जो प्रतिज्ञा की थी कि अकार्पण्य, अजाति को बतायेंगे, वह पूरी हो गयी। इसलिये यह उपसंहार का श्लोक हो गया।

कूटस्थ जो अद्वितीय ब्रह्म है वह अज है सिद्ध हो गया। इसी की प्रतिज्ञा की थी। उसका जन्म किसी भी प्रकार से निरूपित नहीं हो सकता। उपर्युक्त सब लोगों ने जो कारण दिये इनसे यह सिद्ध हो गया कि किसी भी कारण से उसका जन्म नहीं हो सकता। अजात जो चित्त है वह ब्रह्म ही हो जाता है, ब्रह्मरूप ही है। दूसरे जितने वादी लोग हैं वे सारे के सारे भिन्न-भिन्न कल्पनायें करते रहते हैं। यही अजात की उत्पत्ति या हानि हो गई। जैसी जैसी कल्पना करते जाओ वैसा वैसा वह अजात उत्पन्न होता हुआ दीखता है। अजन्मा ही प्रतीति और कल्पना से जन्म वाला हुआ लगता है।

चूँकि प्रकृति किसी की बदलती नहीं इसलिये जो अजातरूप प्रकृति का है उसका अन्यथाभाव अर्थात् वह दूसरे प्रकार से हो जाये, अर्थात् अज का जन्म हो जाये, यह किसी भी प्रकार से नहीं बन सकता। इसलिये चित्त का जो स्फुरण है वह अजात है। इस बात को जहाँ समझा बस वहाँ वह ब्रह्मरूप हो गया। यह कूटस्थरूपता है कि सब रूपों में प्रतीत होता हुआ भी वह अपनी अजरूपता को छोड़ता नहीं। यही उसकी कूटस्थता है। मूर्खों

Scanned by CamScanner

की तरह नहीं कि ईंट पत्थर की तरह हो जाये! कुछ लोग ऐसे ज्ञानी की फोटो बनाते हैं जो टट्टी पेशाब में पड़ा हुआ है। यह ज्ञान का नहीं मूर्खता का लक्षण है।

सारी प्रतीतियों के होने पर भी अपनी अजायमानता को पकड़े रहना ही कूटस्थता है। सुनार की कूटस्थता है जो सारे गहने बनाते हुए भी सोने का दाम कभी नहीं भूलता। बढ़िया से बढ़िया गहना भी उसके सामने आयेगा तो वह पहले कसौटी पर कसेगा, घड़ाई की सुन्दरता नहीं देखेगा। कसकर भाव लगा दिया तो फिर गहने की घड़ाई के भी कुछ पैसे दे देगा। सारे गहनों को देखते हुए भी सोने के भाव से चूकता नहीं। उसी प्रकार सारे व्यवहार को करता हुआ भी अपनी अजातरूपता को वह पहले पकड़ता है कि इसके बिना कुछ नहीं है; केवल प्रतीति ही है और प्रतीति अजात है इसलिये ब्रह्मरूप है।

हम कई बार लोगों से कहा करते हैं कि बाकी सब लोग तो या भविष्य में या भूत में जीते हैं; भविष्य में जीने वाले : कमा लेंगे, पैसा जमा करा देंगे, इतना ब्याज आयेगा, आराम से रहेंगे। इसलिये अभी कोई सुख प्राप्त नहीं करते। कुछ लोग भूत में जीते हैं : वह ज़माना देखा है जब दो आना सेर दूध मिलता था। जो इस अजातवाद को समझ लेगा वह हर क्षण वर्तमान में पूर्ण ब्रह्म को देख रहा है। इसलिये यदि उसे पत्थर उठाना है, खड्डा खोदना है, उसमें भी वह उतने ही आनंद से मशगूल है जितने आनंद में जब माला करता है। जिस समय खड्डा खोदता है उस समय में भी अजात ब्रह्म की प्रतीति और जप के समय भी अजात ब्रह्म की ही प्रतीति। जिस समय निर्विकल्प समाधि लगाता है तो उस रूप में भी वही अजात ब्रह्म है। 'मैं खड्डा खोदकर रात में आराम से सोऊँगा' यह अजात नहीं। हर बार खड्डा खोदने में उसे निर्विकल्प समाधि हो रही है।

इसको करने का प्रथम साधन कर्मफल को छोड़ना कहते हैं तो वह इस अजातवाद की दृष्टि से कहा जाता है। कर्मफल की इच्छा वाला भविष्य में जीता है और जब कर्मफल की इच्छा छोड़ेगा तब कर्म में खुद आनंद लेगा। इसलिये यह उसका पहला कदम हुआ।

स्फुरण रूप से चित्त अजात है और यही ब्रह्म की कूटस्थता है। इसको ठीक से समझना, क्योंकि लोग प्रायः ग़लत समझते हैं। जिसपर लोहा कूटा जाता है उसे कूट कहते हैं। जब सारे लोहे हट गये तो वह लोहा थोड़े ही कूटा जायेगा। कूटे जाने पर भी नहीं कूटा जाता। केवल निर्विकल्प समाधि में कहे कि 'मैं कूटस्थ हूँ' तो काहे का कूटस्थ है!

संसार के घोर से घोर व्यवहार उसपर हो रहे हैं लेकिन उसमें कोई परिवर्तन नहीं, इसलिये वह कूटस्थ है। कोई कहे कि 'बारह साल से ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हूँ।' उससे पूछें कि 'रहे कहाँ?' कहता है 'हिमालय की कन्दरा में।' तो फिर वहाँ करता क्या? जहाँ ब्रह्मचर्य के खण्डन की सम्भावना हो और फिर ब्रह्मचर्य रखा तो ही ब्रह्मचर्य का पालन हुआ। रहा एकांत में और कहे 'झूठ नहीं बोला।' वहाँ था कौन? शाखायें? तो

Scanned by CamScanner

झूठ बोलता किससे? प्रारंभ में तो साधना के लिये कई चीज़ें करनी पड़ती हैं, लेकिन पहुँचना कहाँ है यह नहीं भूल जाना चाहिये।

वह कूटस्थ एक-स्वभाव है, कभी उत्पन्न होता ही नहीं। माया के द्वारा ही उसके जन्म की कल्पना होती है। उसकी अजातता ही उसकी प्रकृति, उसका स्वभाव है। आनंद रूप से प्रतीत होना स्वभाव है। यदि वह आनंद रूप से प्रतीत न हो तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाये। कोई कहे कि चित्त अनेक प्रकार का क्यों दीखता है? ब्रह्म रूप अजात का स्वरूप ही है कि अपने स्वभाव अर्थात् अविद्या के द्वारा अनंत रूपों का प्रतीत होना। कभी विचार करो, यदि ब्रह्म अनंत न बने तो उसके ब्रह्मपने का क्या मतलब हुआ! उसका प्रयोजन यह ज्ञान हुआ कि अनंत रूप से प्रतीत होने वाले ब्रह्म को न भूले कि बिना बदले हुए अनंत रूप में प्रतीत हो रहा है।।२९।।

●

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ।।३०।।

अनादि संसार की सान्तता युक्ति से सिद्ध नहीं होगी और प्रारम्भ होने वाले मोक्ष की अनन्तता भी हो नहीं सकेगी।

यदि तुम संसार को सत्य मानोगे तो जो संसार अनादि है उसका अन्त सिद्ध नहीं होगा। जो अनादि पदार्थ होता है और सत्य होता है, उसका नाश नहीं होता। इसमें यह अनुमान समझ लेना कि संसार समाप्त नहीं हो सकता अनादि भावपदार्थ होने से आत्मा की तरह। आत्मा अनादि भी है और भाव पदार्थ है। भाव पदार्थ कहना इसलिये ज़रूरी है कि अभाव पदार्थ का तो नाश हो जाता है। जैसे यह घड़ा कब से पैदा नहीं हुआ? अनादि काल से। जब पैदा हो गया तो अनादि काल से उसका जो अभाव था वह नष्ट हो गया। इसलिये संसार अंत वाला नहीं है, अनादि भाव पदार्थ होने से, आत्मा की तरह। यदि तुम इसको वास्तविक मानोगे तो संसार का अंत नहीं हो सकेगा।

क्षणिकविज्ञानवादी और शून्यवादी दोनों ही यह मानते हैं कि मोक्ष होता है और मोक्ष आदि वाला है। वह फिर अनन्त नहीं हो सकेगा। मोक्ष का प्रारम्भ हुआ तो फिर इसका अंत भी आ जायेगा। इसमें भी यह अनुमान समझ लेना कि मोक्ष अनंत नहीं होगा, आदि वाला भाव पदार्थ होने से, घड़े की तरह। घड़ा भाव पदार्थ है और आदि वाला है तो अंत वाला भी है। ये दोनों अनुमान आर्य समाजी लोग दिया करते हैं यह बताने के लिये कि वस्तुतः मोक्ष असम्भव है। लेकिन अपने जिनको युक्ति दे रहे हैं वे तो बौद्ध हैं, मोक्ष को मानने वाले हैं। ये दोनों दोष भी विज्ञानवादी को प्राप्त हो जायेंगे।

भाष्यकार समझाते हैं कि यह दोष उन पर और आता है जो आत्मा के बंधन अर्थात् संसार और मोक्ष को सचमुच ही सच्चा मानते हैं। अनादि का अर्थ कर दिया अतीतकोटि

Scanned by CamScanner

से रहित अर्थात् पहले नहीं था ऐसा जिसके बारे में नहीं कहा जा सके। अनादि का अर्थ कारण रहित यहाँ नहीं लेना। अतीतकोटि जिसकी नहीं थी, पहले नहीं था ऐसा जिसका अवच्छेद न हो सके उसे अनादि कहते हैं। ऐसा जो संसार है उसकी समाप्ति या अंतवत्ता युक्ति से किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। अनादि चीज़ हो और ख़त्म होने वाली हो यह नहीं हो सकता। अनादि होता हुआ कोई भी पदार्थ अंत वाला संसार में देखा नहीं गया है।

किसी को शंका हुई कि बीज से अंकुर और अंकुर से बीज इस प्रकार बीजांकुर का जो हेतुफलभाव वह अनादि है और भाव रूप पदार्थ भी है। अब यदि तुमने बीज को जला दिया तो वह समाप्त हो गया। इसलिये जो कहा कि कोई पदार्थ देखा नहीं गया, तो बीजांकुर संतति देखी गई है। बीज और अंकुर का जो सम्बन्ध है वह निरंतर भाव से बना रहता है और उसका नाश देखा गया है। ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि यह नहीं बनेगा क्योंकि यह तो हम पहले ही अपोदित कर चुके हैं, खण्डन कर चुके हैं। क्योंकि तुम किसको वहाँ अनादि मान रहे हो? हरेक बीज जब पैदा हो रहा है और हरेक अंकुर पैदा हो रहा है तो अनादि किस को कह रहे हो? भाव पदार्थ का जो आवर्तन हो रहा है वह अनादि नहीं है। तुम एक सम्बन्ध की कल्पना कर रहे हो; तो सम्बन्ध या बीज में या अंकुर में रहेगा। जब प्रत्येक बीज या प्रत्येक अंकुर पैदा होगा तो उनका सम्बन्ध भी सादि होगा। इसलिये जो तुम यह मानना चाहते हो कि बीजांकुर सम्बन्ध अनादि है, यह पहले ही हटा आये हैं। बीजांकुर सम्बन्ध नाम की कोई चीज़ थोड़े ही है! बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं जिनके शब्दों का प्रयोग करते हुए आदमी विचार नहीं करता। बीजांकुर का सम्बन्ध बीजांकुर से और जब ये दोनों पैदा होने वाले हैं तो उनका सम्बन्ध अपने आप ही पैदा होने वाला हो गया। इसलिये यह भी नहीं बनेगा।

इसी प्रकार मोक्ष तुम्हारे यहाँ तब उत्पन्न होगा जब तुम्हें इस विज्ञान की, चाहे क्षणिकत्व के चाहे शून्य के विज्ञान की प्राप्ति होगी। इस प्रकार का जो मोक्ष आदि वाला है वह अनंत नहीं हो सकेगा। जो आदि वाला होता है वह अनंत नहीं होता है। जैसे घट इत्यादि आदि वाले हैं तो अनंत नहीं देखे गये।

कोई बोला : घट आदि का जो विनाश हो जाता है, घड़े को फोड़ दिया तो घट का प्रध्वंसाभाव हुआ, वह तो हमेशा रहता है। घट आदि के विनाश की तरह यदि हम मोक्ष को बन्ध का नाशरूप मान लें तो वह सादि अनन्त हो ही सकता है। मोक्ष को कोई भाववस्तु स्वीकार नहीं करेंगे। जैसा कहा कि कृतक होने पर भी घट आदि का प्रध्वंसाभाव नित्य है, ऐसे ही बंधध्वंस भी नित्य हो जायेगा।

उसे जवाब देते हैं कि फिर जो मोक्ष को परमार्थ सद्भाव कहते हो वह नहीं बनेगा क्योंकि अभाव में सत्ता थोड़े ही है। और मोक्ष को तुम लोग परमार्थ सत्य मानते हो। एक और दोष ऊपर से देते हैं कि यदि तुम इसको असत् मानते हो तो शशविषाण की

Scanned by CamScanner

तरह असत् होने के कारण पैदा भी नहीं होगा। इसलिये मोक्ष की सत्ता दोनों तरह से असिद्ध हो जायेगी।।३०।।

●

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ।।३१।।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ।।३२।।

इन दोनों श्लोकों की व्याख्या वैतथ्य प्रकरण में (श्लो. ६-७) कर आये हैं। यहाँ संसार से मोक्ष के अभाव के प्रसंग में कह दिये हैं। संसार और मोक्ष यदि आदि अंत वाले हैं तो बीच में भी इनकी सिद्धि नहीं होगी। मोक्ष आदि वाला हो तो उसका मतलब हुआ कि पहले अर्थात् आदि में नहीं था। अब वह भावरूप है तो सादि होने से अन्त वाला हुआ अर्थात् बाद में नहीं रहेगा। जब पहले और बाद में नहीं है तो जब प्रतीत हो रहा है तब भी नहीं हो सकता। यह अनुमान हो जायेगा— मोक्ष वास्तविक नहीं है, क्योंकि आदि-अन्त वाला है, जैसे मृगमरीचिका का जल। तब उन्हें सच्चा मानना मूर्खों की बात ही होगी। अब यदि कहो कि मोक्ष सुखप्राप्ति या दुःखनिवृत्ति रूप प्रयोजन सिद्ध करने वाला है इसलिये सच्चा मानो, तब सपने के पदार्थों को याद कर लो जो प्रयोजन सिद्ध भी करते हैं और सच्चे भी नहीं हैं। अतः मोक्ष को सत्य मानने के लिये उसे अज ही स्वीकारना पड़ेगा।।३१-३२।।

●

जिन हेतुओं से स्वप्न के मिथ्यात्व का प्रतिपादन कर आये हैं वे ही हेतु जाग्रत् में भी मिलते हैं। इसलिये जाग्रत् भी जन्मरहित संविद्मात्र ही है। इसी बात को बताने वाले ये श्लोक हैं। इस विषय का विचार भी पहले आ चुका है।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ।।३३।।

स्वप्न में सारे ही धर्म मिथ्या होते हैं। धर्म अर्थात् सारे ही जीव दीखते हैं और हैं नहीं क्योंकि शरीर के अन्दर दीख जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ जो महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इत्यादि दिखाई देते हैं वे भी विराट् शरीर में ही दिखाई दे रहे हैं। जैसे स्वप्न में शरीर में दीखने के कारण मिथ्या, वैसे ही विराट् के शरीर में दीखने के कारण यह बाह्य जगत् भी मिथ्या है। देह के अन्दर दीखने से जैसे स्वप्न को मिथ्या मानते हो वैसे ही विराट् के अन्दर दीखने के कारण यह सब भी मिथ्या है।

Scanned by CamScanner

अगर सामने वाला कहे कि हम विराट् पुरुष को नहीं मानते, और स्वप्न को हम इसलिये मिथ्या मानते हैं कि वहाँ योग्य प्रदेश नहीं है या जगह छोटी है। तो फिर हे विज्ञानवादी! यह बता कि तेरे विज्ञान में कितनी जगह है? वहाँ कोई बहुत जगह थोड़े ही है, वह भी संवृत प्रदेश ही है। अथवा आत्मा को मानता है तो आत्मा में कहाँ जगह है जो संसार घुसे? वह तो प्रज्ञानघन है। उसमें संसार कहाँ दीख सकता है? इस प्रकार किसी भी प्रकार से अर्थात् तीनों ही प्रकार से संसारदर्शन बनता नहीं। स्वप्न तो फिर भी बन जाये, क्योंकि नाडी में कुछ जगह रहती है; लेकिन विज्ञानघन में तो उतनी भी जगह नहीं है। स्वप्न सत्य हो भी जाये लेकिन जाग्रत् तो सत्य बिल्कुल नहीं हो सकता। छोटे से प्रदेश में नहीं जैसा ही है। 'निमित्तस्य अनिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्। (श्लो. ४-२५) से जो कहा था उसी का यहाँ व्याख्यान कर रहे हैं।।३३।।

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद् गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ।।३४।।

जैसे देश का नियम नहीं, योग्य देश नहीं बन पाया, वैसे ही काल का भी कोई नियम नहीं बनता। स्वप्न के अन्दर यहाँ पर बैठे बैठे ही रात में दीखता है कि चिलचिलाती धूप पड़ रही है। जैसे वहाँ दर्शन इष्ट नहीं है वैसे ही यहाँ भी मानते हैं कि मरकर अर्चिरादि मार्ग से जाकर वैकुण्ठ, गोलोक आदि में ब्रह्मदर्शन होता है। जैसे वहाँ योग्य देशकाल नहीं वैसे ही यहाँ भी नहीं। यहाँ से हरद्वार पहुँचने में जितना समय लगना चाहिये उतना नहीं लगा, क्षणभर में पहुँच गये अतः स्वप्न में जाना मिथ्या मानते हो। इसी तरह मर कर दूर लोक में जाने में समय नहीं लगता। जैसे स्वप्न में काल का नियम नहीं वैसे ही यहाँ भी नहीं है। जैसे ही गजराज ने पुकारा, विष्णु खट आ गये। इससे पता लगता है कि सचमुच नहीं आये। इसी प्रकार अर्चिरादि मार्ग, देवयान, पितृयाण आदि से जाते हैं इत्यादि न जाने क्या क्या मानते रहते हैं।

जिस देश में स्थित होकर स्वप्न का अनुभव करता है, जगने पर वहाँ नहीं उठता इसलिये सपना मिथ्या मानते हैं। ऐसे ही जिस शरीर रूप देश में स्थित होकर संसार का अनुभव करता है विज्ञान या शून्यज्ञान हो जाता है तो उस देश में अर्थात् शरीर में नहीं उठता, परिपूर्ण ब्रह्मरूप से स्थिति हो जाती है। अतः जाग्रत् को भी मिथ्या मानो।

जाग्रत् काल में गति और आगमन का काल नियत है कि इतनी देर में इतनी दूर चल सकते हो। देश भी नियत है कि जहाँ लेटे थे वहीं जगते हो। इन दोनों का नियम नहीं होने से सपने में यह नहीं माना जाता कि व्यक्ति दूसरे देश में गया था। इतना कहकर ही भाष्यकारों ने श्लोक का तात्पर्य बताया है। अभिप्राय है कि इन्हीं हेतुओं से जाग्रत् को भी मिथ्या समझ लो।।३४।।

Scanned by CamScanner

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।३५।।

स्वप्न के अन्दर मित्र आदि के साथ मिल आते हो लेकिन जगने के बाद उनसे पूछो तो वे कहते हैं कि 'हमसे मिलने नहीं आये थे।' हम कहते हैं 'स्वप्न में मिले थे' और वे कहते हैं 'नहीं मिले थे', इसलिये स्वप्न को अप्रमाण मानते हो कि स्वप्न सच्चा नहीं होता है। इसी प्रकार जाग्रत् काल में भी 'हमको कल्याण प्राप्त करना है' ऐसा मानकर ब्रह्मवेत्ताओं के साथ विचार कर रहे हैं। विचार करके जब अविद्यानिद्रा खुल जाती है, प्रतिबुद्ध हो जाता है, तो इसका निश्चय होता है कि कल्याण कभी साध्य था ही नहीं, मैं नित्य कल्याणस्वरूप हूँ। जैसे वहाँ मित्र के साथ बातचीत की और फिर जगे तब पता लगा कि मित्र आदिकों के साथ विसंवाद है, उसी प्रकार यहाँ जगे तो पता लगा कि साधना की ही नहीं, ब्रह्मवेत्ताओं के साथ विचार किया ही नहीं था। इससे निश्चय होता है कि आत्मा सभी देशकालों में नित्यमुक्त है। बंधन कभी होता ही नहीं। पहले लगा कि बंधन है फिर पता लगा कि बंधन नहीं है। इसलिये वह झूठा सिद्ध हो गया।

जैसे स्वप्न के अन्दर उपदेश आदि मिल जाता है लेकिन उठने पर लगता है कि नहीं मिला था वैसे ही यहाँ भी जब आत्मज्ञान होता है तो लगता है कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य सुना ही नहीं। गृहीत उपदेश आदि भी विद्वान् को लगता है कि नहीं हुआ। अथवा लोकदृष्टि से शरीर आदि धारण के लिये वस्त्र, उदक, अन्न इत्यादि किसी से लेते हैं। ज्ञान के बाद उससे पूछो कि 'लिया?' वह कहता है 'नहीं।' गीता में भगवान् ने कहा 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।' लेता दीख भी रहा है और उसका निश्चय है कि नहीं ले रहा हूँ। जैसे वहाँ बातें कीं और उठकर पता लगा कि नहीं की, इसी प्रकार से आत्मदृष्टि वाले को लगता है कि नहीं ले रहा हूँ। अन्य प्रत्यय का बाध होने से कार्य सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती। पूरा राज्य चला रहा हो तो और शस्त्र चला रहा हो तो, पूछो 'क्या करता है?' कहता है 'कुछ नहीं।' जैसे यहाँ उठने के बाद होता है कि वहाँ साथियों से बात नहीं की थी। बात सीधी सी है, समझने में कठिनाई नहीं है लेकिन अनुभव करना कठिन है।।३५।।

●

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ।।३६।।

स्वप्नावस्था में हिता नाम की नाडी इत्यादि में जिस शरीर से घूमता है वह शरीर उसे उठने पर मिथ्या लगता है क्योंकि उससे भिन्न निश्चल शरीर यहाँ बिछौने पर पड़ा हुआ था। निश्चय हुआ कि यह शरीर सत्य और वह मिथ्या है। वैसे ही जाग्रत् काल में

Scanned by CamScanner

परमहंस परिव्राजक आदि शरीर को प्राप्त करके लोगों के द्वारा निंदा और प्रशंसा प्राप्त करता है। कोई गालियाँ देता है और कोई माला पहनाता है। लेकिन वह अचल आत्मा उनसे भिन्न दीखता रहता है। इससे जानता है कि ये सब मिथ्या हैं क्योंकि मेरा कूटस्थ देह वैसा का वैसा पड़ा हुआ है। शरीर की तरह ही चित्त के जितने दृश्य हैं वे सब अवस्तु हैं।

इसी को भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं। स्वप्न में जो घूमते हुए शरीर देखा जाता है वह झूठा होता है क्योंकि स्वप्न के अन्दर घूमने वाले शरीर से पृथक् दूसरा शरीर वहाँ बिछौने पर पड़ा हुआ है। जैसे स्वप्न में दीखने वाला शरीर झूठा वैसे ही चित्त के द्वारा जो देखा जाता है वह सभी अवस्तु है। जाग्रत् के अन्दर भी चित्तदृश्य होने से मिथ्या होता है। जो जो दृश्य होता है वह वह मिथ्या होता है जैसे स्वप्नदृश्य। स्वप्न में जैसे शरीर मिथ्या वैसे ही सारे चित्तदृश्य मिथ्या हैं। स्वप्न के जैसा ही जाग्रत् भी असत् है यह प्रकरण का अर्थ हो गया।।३६।।

●

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ।।३७।।

सपना जाग्रत् की तरह दीखता है इसलिये मानते हैं कि उसका हेतु जाग्रत् है। क्योंकि वह जाग्रत् का कार्य है इसलिये जिसे सपना दीखता है उसी के लिये उसका जाग्रत् सच्चा होगा, सबके लिये तो नहीं। और जो सबके लिये सच्चा नहीं होता, सिर्फ़ देखने वाले के लिये होता है, वही तो सपने की तरह मिथ्या होता है।

जैसा जाग्रत् वैसा ही स्वप्न यह बता दिया। अब दूसरी तरह से विचार करते हैं। कहते हैं स्वप्न को तो तुम झूठा मानते हो और स्वप्न को जाग्रत् के संस्कारों से पैदा हुआ मानते हो। जैसे रूई के धागे से बना हुआ कपड़ा रूई का ही होगा। यदि कपड़ा रूई का है तो निश्चय होता है कि धागा भी रूई का है। वैसे ही स्वप्न तुमको झूठा दीखता है तो झूठे स्वप्न के कारण जाग्रत् के संस्कार भी झूठे होने चाहिये। अगर जाग्रत् संस्कार सच्चे होते तो उनसे उत्पन्न होने वाला स्वप्न भी सच्चा होता।

इसके अतिरिक्त, स्वप्न-द्रष्टा सच्चा है क्योंकि स्वप्नद्रष्टा का जाग्रत् में बाध नहीं और जाग्रत् द्रष्टा स्वप्न में भी मौज़ूद है। इसलिये वह दोनों काल में सच्चा है और स्वप्न के पदार्थ झूठे हैं तो उनका कारण जाग्रत् के पदार्थ और उनका संस्कार भी झूठा है। स्वप्न में ग्राह्य ग्राहक रूप से ग्रहण होता है इसलिये जाग्रत् की तरह होने से तुम स्वप्न को जाग्रत् का कार्य मानते हो। अतः उस स्वप्न का जो कारण है अर्थात् जाग्रत् वह भी उसी जाति का हो गया।

Scanned by CamScanner

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इस कारण से भी जाग्रत् वस्तु असत् है। 'जागरितवत्' मूल का पद था उसका अर्थ कर दिया जाग्रत् की तरह, 'ग्रहणात्' अर्थात् स्वप्न की ग्राह्य-ग्राहक-रूपता होने से। जाग्रत् स्वप्न का कारण है। अतः स्वप्न को तद्धेतु कह दिया। जाग्रत् का कार्य होने से उसी स्वप्नद्रष्टा का वह जाग्रत् भी है। इसलिये वह जाग्रत् भी वैसा ही है जैसा स्वप्न है। दूसरे को स्वप्न के पदार्थ थोड़े ही दीख रहे हैं! जिसने यहाँ देखा उसी को दीख रहे हैं। जैसे स्वप्न स्वप्नद्रष्टा को दीखता है वैसे ही जाग्रत् भी जाग्रद्द्रष्टा को दीखता है। जिस प्रकार से स्वप्न स्वप्नद्रष्टा को साधारण लगता है कि 'सबको दीख रहा है,' उसी प्रकार जाग्रत् में भी यही कह सकते हो कि साधारणतः लगता है कि सबको दीख रहा है। लेकिन सबको दीखने वाली कोई विद्यमान वस्तु वहाँ नहीं है, स्वप्न की तरह ही। यह एक और हेतु दे दिया।

शंका होती है कि स्वप्न के बाध में प्रमाता की बाध्यता तो होती नहीं है। प्रमाता के रहते हुए ही स्वप्न का बाध हो जाता है। जिसे वह स्वप्न दीखा था वही बाध कर देता है इसलिये स्वप्न का मिथ्यापना है। प्रमाता वही रहा और उठने पर उसी ने सबका बाध कर दिया। लेकिन यह बात जाग्रत् के बाध में नहीं होती है क्योंकि ज्ञान होने पर प्रमाता भी बाधित हो जाता है। किंच कार्य मिथ्या होने पर कारण को भी मिथ्या मानना पड़ेगा यह नियम कहाँ? साँप मिथ्या होने पर भी रस्सी सच्ची होती ही है। अतः केवल ग्राह्यग्राहक रूप से दीखने की समानता से जाग्रत् को मिथ्या कैसे मानें? इसके समाधान के लिये बता दिया कि जाग्रत् यदि सर्वसाधारण होता तो सच्चा मानते। वह भी जब केवल स्वप्नद्रष्टा को ही दीखता है तो उसे सच्चा मानें कैसे? मिथ्या ही मानना पड़ेगा। 'सर्वसाधारण को दीख रहा है' ऐसा प्रतीत होना— यह स्वप्न की तरह जाग्रत् में होने से जाग्रत् को मिथ्या सिद्ध कर रहा है यह तात्पर्य है।।३७।।

●

कोई शंका करता है कि कार्य-कारण-भाव स्वप्न और जाग्रत् में रहो लेकिन फिर भी, अर्थात् कार्य-कारण-भाव रहने पर भी स्वप्न के मिथ्या होने से जाग्रत् को मिथ्या मत मानो क्योंकि वे अत्यन्त विषम, अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। स्वप्न के पदार्थ तो वापिस स्वप्न में जाते हैं तो नहीं मिलते लेकिन जाग्रत् के पदार्थ वापिस जाग्रत् में आते हैं तो मिल जाते हैं। बार बार उन पदार्थों के मिलने के कारण उनको असत्य नहीं मान सकते। जाग्रत् के पदार्थ स्थिर रहते हैं और स्वप्न के पदार्थ अस्थिर हैं इसलिये स्वप्न भले ही मिथ्या हो जाग्रत् तो सत्य है।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम्।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन।।३८।।

Scanned by CamScanner

उत्तर दिया कि अविवेकियों की दृष्टि से तो ऐसा है लेकिन विवेकियों की दृष्टि में तो उत्पत्ति ही अप्रसिद्ध है। इसलिये जाग्रत् में फिर वही पदार्थ दीखते हैं, यह कैसे सिद्ध करोगे? किसी भी वस्तु की उत्पत्ति अप्रसिद्ध होने से सभी अजायमान है। 'भूतात्' अर्थात् जो विद्यामान पदार्थ हैं उनसे अभूत अर्थात् अविद्यमान पदार्थों की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है।

जाग्रत् से स्वप्न की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। जाग्रत् पदार्थ स्थिर और स्वप्न के पदार्थ अस्थिर कहते हो लेकिन दोनों के पदार्थ अज हैं। सारे के सारे सब समय अज हैं। पूर्वपक्षी का कहना था कि कार्य-कारण-भाव होने पर भी स्वप्न से जाग्रत् को भिन्न मानो। जवाब हुआ कि कार्य-कारण-भाव है ही नहीं। जाग्रत् के पदार्थ अनुत्पन्न हैं, स्वप्न के पदार्थ भी वैसे ही अनुत्पन्न हैं।

भाष्यकार समझाते हैं कि कोई शंका करता है कि स्वप्न का कारण होने पर भी जाग्रत् वस्तु को जो अवस्तु सिद्ध कर रहे हो यह ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्न तो अत्यंत चल है और जाग्रत् तो स्थिर रहता है। वह चंचलता और स्थिरता को हेतु बना रहा है। वस्तुतः यह बेवकूफी का हेतु है क्योंकि जाग्रत् में भी कई चल पदार्थ हैं, जैसे बिजली का पलकारा। सारे पदार्थों की एक ही उम्र जाग्रत् में भी नहीं होती है। फिर कितनी देर स्थिर रहने वालों को स्थिर मानोगे? और स्वप्न भी कई ऐसे होते हैं जो कई दिन चलते रहते हैं। एक किताब है `Mr. Jakal & Mr. Hide' उसमें वही सपना दिन भर चलता था और रात में फ़िर वही स्वप्न दिखाई दे जाता था! हम लोगों के प्रधान बंधन के कारण राग द्वेष भी अत्यंत चंचल हैं जो जाग्रत् में ही होते हैं। पहले एक नौकर रखा तो कहते हो 'बड़ा अच्छा है।' फिर थोड़े दिन बाद कहते हो 'यह ठीक काम नहीं करता, निकाल दिया जाये।' 'तुमने ही तो कहा था कि अच्छा है?' तो कहते हो 'तब क्या पता था!' लेकिन विचार करके देखो तो यह अत्यंत मूर्खता की बात है।

अविवेकियों को तो ऐसा ही लगता है कि जाग्रत् स्थिर और स्वप्न चंचल है। जो विचार करने वाले हैं उन्हें तो यह भेद नज़र ही नहीं आता। यदि तुम कहते हो कि मूर्खों को लगता है, तो हम भी स्वीकार करते हैं। लेकिन यदि कहो कि विवेकियों को भी ऐसा लगता है, तो विवेकियों को तो ऐसा नहीं लगता है। क्योंकि उनको तो किसी भी वस्तु की उत्पत्ति प्रतीत ही नहीं हो पाती। कैसे प्रतीत नहीं होती— यह पहले बता आये हैं। उत्पत्ति मायने पहले नहीं है और फिर हो; यह असम्भव है। इसलिये सब कुछ अनुत्पन्न होने से सभी कुछ अज लगता है। जैसे विवेकियों को लगता है वैसे ही वेदांत शास्त्र भी कहता है कि 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' बाहर अन्दर सब अज ही अज है। यदि तुम मानते हो कि सच्चे जाग्रत् से असत् स्वप्न उत्पन्न होता है, तो वह भी ग़लत बात ही मानते हो। विद्यमान जो चीज़ है उससे अभूत अर्थात् 'नहीं है' की उत्पत्ति लोक में भी

Scanned by CamScanner

नहीं देखी गई है। असत् शशविषाण आदि की उत्पत्ति किसी भी प्रकार से कहीं नहीं देखी गई है। इसलिये स्वप्न भी हमारे यहाँ असत् नहीं, अज ब्रह्मरूप है।।३८।।

●

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।३९।।

जाग्रत् में भी असद् वस्तुएँ ही देखता है और उनकी वासनाओं से सपने में भी असत् पदार्थ देखता रहता है। सपने में भी असत् चीज़ें देखकर उठता है तो उन चीज़ों को नहीं देखता। बस इस प्रायिक अनुभूति से जाग्रत् को स्वप्न का हेतु कह देते हैं, स्वप्न को जाग्रत् का नहीं कहते। वास्तविक कारणता में तात्पर्य नहीं।

शंका होगी कि तुमने ही कहा था कि स्वप्न जाग्रत् से उत्पन्न होता है और स्वप्न मिथ्या है इसलिये जाग्रत् को मिथ्या मानो, और अब कह रहे हो कि किसी से कछ उत्पन्न ही नहीं हो रहा है! उत्पत्ति की अप्रसिद्धता कहना ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् की कार्य-कारणता तुमने ही स्वीकार की थी।

समाधान करते हैं : हम उत्पत्ति भी नहीं मानते। हमारा उत्पत्ति का तात्पर्य यह है कि जाग्रत् के अन्दर असत् पदार्थों का अनुभव करके तन्मय हो जाता है अर्थात् चित्त में उनकी वासनाओं वाला हो जाता है। तन्मय हुआ ही उन्हीं चीज़ों को स्वप्न में देखता है। कारण उसका द्रष्टा की तन्मयता है। हमने यह नहीं कहा कि जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न पदार्थों के प्रति कारण हैं। हमने तो कहा था कि जाग्रत् पदार्थों से तन्मयता स्वप्न के प्रति कारण होती है। असत् पदार्थों को स्वप्न में देखकर जब उठ जाता है तो स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता है। इसलिये स्वप्न को जाग्रत् के प्रति कारण नहीं जाग्रत् को स्वप्न के प्रति कारण कहा। जाग्रत् पदार्थ स्वप्न के प्रति कारण नहीं। जाग्रत् पदार्थों के साथ तन्मयता स्वप्न के प्रति कारण है। इसको न समझकर तुमने मान लिया कि जाग्रत् से स्वप्न की उत्पत्ति है। इसलिये हमारे यहाँ जाग्रत् द्रष्टा स्वप्न के प्रति कारण है।

'अपि च' कहकर भगवान् गौडपादाचार्य कह रहे हैं कि यदि स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में देखे जाते हैं तो वह भी तन्मय होने के कारण। स्वप्न में जो आदमी मरा दीखा, जगने पर भी कभी वह मरा दीखता है। स्वप्न में किसी को लड़का हुआ देख लेते हैं तो जाग्रत् में भी दीख जाता है। यह भी तन्मयता से हो जाता है।

भाष्यकार स्पष्ट करते हैं : तुमने ही यह बात कही थी कि स्वप्न जाग्रत् का कार्य है। फिर यह तुम कैसे कह रहे हो कि उत्पत्ति ही अप्रसिद्ध है? पूर्वापर का विरोध हो गया। इसका जवाब देते हैं, ज़रा चित्त को एकाग्र करके, मन समाहित करके सुनो।

Scanned by CamScanner

स्वप्न और जाग्रत् के विषय में जैसा कार्य-कारण-भाव हमको अभिप्रेत है उसे ध्यान से सुनो। हमने यह थोड़े ही कहा था कि जाग्रत् पदार्थ सच्चे हैं। बिना हुए ही रज्जुसर्प' की तरह दीखते हैं। जैसे रस्सी में साँप विकल्पित, ऐसे ही ब्रह्म में जगत् विकल्पित है। इसलिये विकल्पित वस्तु को ही तुमने जाग्रत् के अन्दर देखा। रज्जु सर्प के द्वारा बताया कि शशविषाण की तरह तुच्छ नहीं है, मिथ्या है। विकल्पित के द्वारा बताया कि दर्शन की आभासता है। लगता है दीख रहा है, है विकल्पित। तुच्छ नहीं है, दीख रहा है तो केवल आभासमात्र है, कल्पित है।

जिसको जाग्रत् में देखा उस भाव से भावित हो गया अर्थात् तन्मय हो गया। 'सदा तद्भावभावितः' गीता में भी भगवान् ने यही कहा कि जैसी भावना करते हैं वैसी प्रतीति लोगों को होती रहती है। इसलिये जो पंचमुख का ध्यान करे तो उसे सविकल्प समाधि में दर्शन भी पंचमुख का, जो चतुर्भुजी का ध्यान करेगा उसे चतुर्भुजी का दर्शन सविकल्प समाधि में होगा। लम्बी लम्बी दाढ़ी वाले खुदा का ध्यान करो तो खुदा का दर्शन हो जाता है। औरत का ध्यान करो तो देवी का दर्शन हो जाता है। उसी को सच्चा मानते रहते हैं कि 'दीख गया।' इसलिये कारण वासना पड़ी।

जिस चीज़ की वासना ज्यादा करोगे वैसी ही प्रतीति हो जायेगी। जाग्रत्दृष्ट पदार्थ स्वप्न में इसीलिये देखे जाते हैं कि उन पदार्थों की वासना दृढ हो गई। जिन पदार्थों की वासना दृढ नहीं उनको जाग्रत् में देखते हुए भी वे सपने में नहीं देखने में आते। दृढ वासना वाले पदार्थ ही देखने में आते हैं। यहाँ वासना-अधीनता से ही स्वप्न को जाग्रत् का कार्य कह देते हैं। जाग्रत् के पदार्थों की कारणता नहीं, वरन् पदार्थों की वासना कारण है। इसीलिये साधक को स्वप्न पर हमेशा ख्याल रखना चाहिये क्योंकि स्वप्न के द्वारा पता चल जाता है कि हमारे अन्दर कौन सी वासना दृढ है। जो वासनायें दृढ होती हैं उनको हटाने का प्रयत्न जाग्रत् में करना चाहिये। जाग्रत् की तरह स्वप्न में भी ग्राह्य-ग्राहक-रूप से अनुभव होता है। अपने को ग्राहक— जानने वाला, और ग्राह्य पदार्थ बना लेता है।

फिर स्वप्न की वासनाओं से जाग्रत् भी दीख जाना चाहिये? ऐसा होता नहीं है। स्वप्न के अन्दर असत् पदार्थों को देखने पर जग जाने पर वे नहीं दीखते क्योंकि उनका विकल्प नहीं करते। कारण यह है कि स्वप्न से उठते ही उनका बाध कर देते हैं। इसलिये उसकी वासना दृढ नहीं होती। अगर उनका बाध न करता तो यहाँ भी उन्हें देखता रहता।

इसी प्रकार जो ज्ञानी है, प्रतिबुद्ध है, वह जाग्रत् के पदार्थों को देखता हुआ उनका बाध करता रहता है। इसलिये उनकी वासना दृढ नहीं हो पाती। जैसे जैसे ज्ञान की स्थिति बढ़ेगी और बाध बढ़ेगा वैसे वैसे वासनायें क्षीण होती चली जायेंगी। व्यवहारकाल में व्यवहार किया, आगे पीछे कुछ नहीं। प्रतिबुद्ध को दोनों तरफ लगा लेना, उधर स्वप्न से जाग्रत् के लिये और इधर ज्ञान के लिये।

Scanned by CamScanner

चकार के द्वारा समझना कि जाग्रत् और स्वप्न की कार्य-कारणता भी नियत नहीं है। जो जाग्रत् में दीखे वह ज़रूर स्वप्न में दीखे यह नियम नहीं है। स्वप्न में बहुत सी चीज़ें कभी नहीं दीखती हैं जाग्रत् में दीखने पर भी। इसलिये प्रायः स्वप्न जाग्रत् की वासना के अधीन है। इसका मतलब यह नहीं कि जाग्रत् परमार्थ सत्ता वाला है इसलिये स्वप्न उसका कार्य है। यह हमने नहीं कहा। वह तो प्रसिद्धि से हमने कह दिया था समझाने के लिये।।३९।।

●

व्यवहार दृष्टि से स्वप्न और जाग्रत् की कार्य-कारणता बता दी। कहते हैं सच्ची ही कार्य-कारणता क्यों नहीं मान लेते? व्यावहारिक मानते ही हो। सच्ची इसलिये नहीं मानते कि विचार से कार्यकारणता कहीं भी सिद्ध नहीं होती। जब तक विचार न करो और जब तक वस्तु का अज्ञान रहता है तब तक लगता है कि यह चीज़ कार्य और यह कारण है, लेकिन जब तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं तो सभी कार्य अवस्तु लगते हैं और जब कार्य अवस्तु तो कारण अपने आप अवस्तु है। कार्य वस्तु हो तो कारण भी हो।

नास्त्यसद्धेतुकमसत् सद् असद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत् कुतः ।।४०।।

असत् से असत् पैदा नहीं होता जैसे खरगोश के सींग से कुछ पैदा नहीं होता। असत् से सत् पैदा नहीं हो सकता। घड़ा खरगोश के सींग से पैदा हो जाये यह भी नहीं हो सकता। जो सत् है वह भी सत् से पैदा नहीं हो सकता क्योंकि पहले ही है। और जो है उससे 'नहीं है' कहाँ से पैदा होगा?

ये ही सम्भावनायें हैं कि या असत् से सत्, या सत् से असत् या असत् से असत् या सत् से सत् पैदा हो। चारों उत्पत्ति चूँकि बनती नहीं इसलिये कहीं भी हम अज ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरी चीज़ पाते ही नहीं हैं। व्यावहारिक दृष्टि को छोड़कर जब सच्ची चीज़ का विचार करते हैं तब तो किसी भी चीज़ का किसी भी प्रकार से कार्य-कारण-भाव उपपन्न नहीं हो पाता अर्थात् युक्ति से सिद्ध नहीं होता। शून्यवादी मानता है कि शून्य से सत् कार्य उत्पन्न हो जाये। यह भी नहीं बनता है। असत् से असत् उत्पत्ति नहीं बन पाती। सांख्यवादी सत् से सत् उत्पत्ति मानता है, वह भी नहीं बनती। कुछ लोग मानते हैं सत् ब्रह्म कारण और मिथ्या प्रपंच सृष्टि कार्य है, तो सत् से मिथ्या उत्पत्ति भी नहीं बनती है।

कोई पूछता है कार्य-कारण-भाव कैसे नहीं बनता है? प्रसिद्ध कार्य-कारणता तो किसी न किसी प्रकार से बनानी चाहिये, क्योंकि सारे संसार में प्रसिद्ध है कि कार्य-कारण-भाव होता है। यह सब नष्ट हो जायेगा।

Scanned by CamScanner

उससे कहते हैं कि तुम ही कोई तरीका बताओ कि कैसे बनायें! असत् चीज़, खरगोश के सींग, कैसे असत् का, आकाशपुष्प का कारण हो जायें? कुछ भी असत् से उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार से सत् जो घट पट आदि वस्तु हैं वे खरगोश के सींग अर्थात् असत् से उत्पन्न हों, यह भी नहीं होता। वैसे ही सत् अर्थात् जो मौज़ूद घट आदि हैं वे सत्, मौज़ूद, घटादि से उत्पन्न हों यह भी नहीं बनता। और जो सत् कार्य हैं वे असत् से कैसे पैदा हो जायेंगे? सत् का कारण असत् नहीं बनता है।

अपने तो यह मानते हैं कि कार्य-कारणता मायास्वरूप अनिर्वचनीय है। है नहीं फिर प्रतीति क्यों होती है? क्योंकि अनिर्वचनीय है। यही प्रसिद्धि की व्यवस्था है क्योंकि मन में जो भरा है तदनुकूल प्रतीति होती रहती है। यही वेदांत की असली चीज़ है और इसी के अन्दर साहस चाहिये कि जो मन में भरा हुआ है वही प्रतीत हो रहा है। मन में शुद्धि है तो सर्वत्र शुद्धि, और मन में अशुद्धि है तो सर्वत्र अशुद्धि है। अन्य अर्थात् युक्ति द्वारा जो सिद्ध हो सके ऐसा कोई कार्य-कारण-भाव नहीं मिलता। केवल प्रतीतिमात्र है। उसके कारण ही कार्य-कारण-भाव मानते रहते हैं। किसी प्रकार की कल्पना करना सम्भव ही नहीं है। इसलिये विवेकियों को तो किसी चीज़ का कार्य-कारण-भाव सिद्ध ही नहीं होता है, असिद्ध ही बना रहता है। योग्य अनुपलब्धि रहती है, कोई भी योग्य पदार्थ मिलता नहीं जिसको कारण या जिसको कार्य कहा जा सके।।४०।।

●

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ।।४१।।

स्वप्न और जाग्रत् पदार्थों में वस्तुतः कार्य-कारण-भाव नहीं है क्योंकि जिस प्रकार विपर्यास के कारण अर्थात् अविवेक से, मिथ्या ज्ञान से, विपरीत ज्ञान से, जाग्रत् काल के अन्दर अचिन्त्य, जिनको सोच भी नहीं सकते ऐसे रस्सीसर्प आदि पदार्थों को सच्चा समझ कर देखता है वैसे ही स्वप्न काल के अन्दर भी विपर्यास से, अविवेक के कारण, जीवों और पदार्थों को देखता रहता है। जाग्रत् स्वप्न दोनों अविवेक के कारण हैं। विवेकियों के लिये दोनों कालों में पदार्थ नहीं हैं।

जाग्रत् स्वप्न दोनों ही झूठे हैं, उनकी परस्पर कारणता नहीं है। दोनों ही मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हैं। विपर्यास अर्थात् अविवेक अर्थात् रस्सी को रस्सी रूप से नहीं जाना। ऐसे ही ब्रह्म को ब्रह्म रूप से नहीं जाना तो जगत् प्रतीत होता है। ऐसी जगह विपर्यास या अविवेक से अज्ञान समझना चाहिये। जाग्रत् काल के अन्दर जिन भावों का चिंतन नहीं कर सकते हो, रस्सी में साँप की तरह जिनका चिन्तन करना भी असम्भव है, वे सच्चे की तरह दीखते हैं। है ही नहीं, लेकिन कल्पना करते हैं कि आँख से प्रत्यक्ष दीख रहा

Scanned by CamScanner

है! उसी प्रकार कोई स्वप्न के अन्दर विपरीत ज्ञान के कारण सच्चा हस्ति आदि देखता है। वहाँ पर भी उसी प्रकार से कल्पना करके देख लेता है। जाग्रत् से उत्पन्न हस्ति को देखता हो, ऐसा नहीं है।।४१।।

●

अब शंका होती है कि यदि कार्य-कारण-भाव किसी तरह से सिद्ध नहीं होता तो बादरायण महर्षि ने ब्रह्मसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' यह ब्रह्म का लक्षण क्यों बनाया? उसका जवाब देते हैं

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ।।४२।।

संसार में जो साधारण लोग होते हैं वे यह मानते हैं कि जो चीज़ मिलती है वह हुआ करती है। उपलब्ध मायने प्राप्ति। वैसे लम्भन मायने स्पर्शन अर्थात् छूना भी होता है। इसलिये जो चीज़ मिलती है अर्थात् छूने में आती है, पकड़ में आती है, वह हुआ करती है, ऐसी मूर्खों की मान्यता है। इसलिये लोग कहते भी हैं कि 'यदि नहीं है तो ठोकर मारकर देखो है या नहीं।' जैसे आँख से रूप का ज्ञान हुआ वैसे ही छूने से स्पर्श का ज्ञान हुआ, उससे वह चीज़ सत्य कैसे सिद्ध हो जायेगी? लेकिन लोगों की ऐसी मान्यता है।

दूसरी मान्यता है कि जो वर्णाश्रम की मान्यता हमारे पूर्वज हमेशा से मानते आये हैं वह सत्य है। बहुत लम्बे समय से चली आई हुई बात सत्य होती है यह दूसरी मान्यता है। "बहुत समय' का तुम्हारा लक्षण क्या है?' यह कोई पूछे तो उसका कोई जवाब नहीं है। चीज़ों की उपलब्धि होने और समाचार से अर्थात् लम्बे समय से चीज़ों के चले आने से, इन दो हेतुओं से पदार्थ हैं ऐसी जिनकी मान्यता है उन लोगों को 'अस्तिवस्तुत्ववादी' कहते हैं। पदार्थ हैं क्योंकि मिलते हैं और हमेशा से चले आये हैं, ऐसा मानने वाले व्यक्तियों को कहो कि 'ये सब पैदा ही नहीं हुए' तो उन्हें त्रास होता है, घबरा जाते हैं, भाग जाते हैं। वे भाग न जायें इसके लिये पंडित लोगों ने कह दिया कि 'ये सब चीज़ें ब्रह्म से पैदा हुईं।' फिर वे भागेंगे नहीं, सोचेंगे यह भी मानता है कि पैदा हुई। केवल अज ब्रह्म के विषय में सुनकर लोगों को त्रास हो जाता है। वे त्रस्त न हो जायें इसलिये मूर्खों के विवेक के उपाय के लिये कार्यकारण को भगवान् बादरायण ने स्वीकार कर लिया।

जहाँ कहीं कहते हैं 'जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ' और 'जगत् का एकमात्र कारण परमेश्वर है', वे सारे वाक्य मूर्खों के लिये कह दिये जाते हैं। बुद्ध— अद्वैतवादी अर्थात् अद्वैतसिद्धान्त को समझने वाले ज्ञानी उन अविवेकियों को वास्तविकता समझाने के लिये

Scanned by CamScanner

जन्म कह देते हैं। दूसरे जो जन्म कहते हैं वे अद्वैतवादी नहीं इसलिये सत्य मानकर कहते हैं। साधारण आदमी जब कहता है कि 'संसार को परमात्मा ने उत्पन्न किया' तो उसका मतलब है कि सचमुच उत्पन्न किया। लेकिन अद्वैतवादी जो कहीं कहीं कहते हैं तो उनका तात्पर्य उत्पत्ति में नहीं है। उनका मतलब केवल अज की भूमिका समझाने में होता है।

जैसे बच्चा जब पहली क्लास में कहता है 'क मायने कमल' तो वह सचमुच समझता है कि क मायने कमल। मास्टर जो पढ़ा रहा होता है वह जानता है कि क मायने कमल नहीं होता। अद्वैत वेदांती जब कहता है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ तो वह जानता है कि उत्पन्न नहीं हुआ और दूसरे जब कहते हैं कि उत्पन्न हुआ तो वे उसे सच्चा मानते हैं कि उत्पन्न हुआ।

'उपलम्भात्' का अर्थ भाष्यकारों ने कर दिया उपलब्धि। भाव में प्रत्यय करके पंचमी-प्रयोग हो गया। हिन्दी में यह शब्द ज़रा कठिन हो जाता। गमन तो हिन्दी में भी चल जाता है जैसे आवागमन आदि, लेकिन 'गम' शब्द हिन्दी में प्रसिद्ध नहीं है। कुछ शब्द प्रसिद्ध भी हैं। जैसे 'ज' शब्द हिन्दी वालों की कम समझ में आता है, 'अज' तो ज्यादा प्रसिद्ध है। अज सभी समझ लेते हैं लेकिन ज में गड़बड़ा जाते हैं। पदार्थ की उपलब्धि से, अर्थात् मिलता है इसलिये उसे सच्चा मानते हैं।

'समाचारात्' अर्थात् अच्छी प्रकार से, परम्परा से, अनादि काल से जो आचार चले आये हैं। हमारे पूर्वज भी इसी वर्णधर्म को मानते रहे, उनके पूर्वज भी मानते रहे। हमारे पूर्वज भी यही आश्रम मानते रहे, उनके पूर्वज भी मानते रहे। समाचार का हेतु आजकल के लोगों में कमज़ोर पड़ गया है लेकिन 'उपलम्भात्' हेतु जँच जाता है। 'पुरानों ने किया है' यह आजकल के लोगों को सच्चाई में हेतु नहीं जँचता। जो चीज़ दीखती है वह सच्ची मान लो, यह सरल पड़ता है। किसी को कोई हेतु और किसी को कोई हेतु ठीक लग जाता है।

जो अनादि काल से चले आये आचार हैं वे इसलिये सत्य हैं कि परमेश्वर ने चलाये हैं तभी सत्य होंगे। इसलिये वे लोग उपलम्भ और समाचार इन दो हेतुओं से ऐसा मानते हैं कि पदार्थ हैं, वस्तुएँ हैं। ऐसा तो व्यवहार में सभी कहते हैं, हम लोग भी कहते हैं लेकिन ये ऐसे हैं जिनको दृढ आग्रह है कि ये वर्ण और आश्रम धर्म सच्चे ही हैं। ऐसा न करने से पाप लगेगा ही।

कहने को अपने भी कहते हैं, लेकिन अपने को तो, जैसा कि आगे बतायेंगे, किसी चीज़ में कोई आग्रह नहीं है। जिसकी जैसी मान्यता है वह उसको पाप-पुण्य मानता है और वैसी भावना से भावित होकर उसे पाप -पुण्य लगता है। इसलिये हम लोग आग्रह वाले नहीं हैं। अधिकतर लोग जो मानते हैं तदनुकूल उनका आचरण हम स्वीकार लेते

Scanned by CamScanner

हैं कि यह तुम्हारे समाज की मान्यता है तो ऐसा मानते रहो और करो। लेकिन ये दृढ आग्रह वाले हैं कि 'ऐसा ही है, नहीं करोगे तो दोष ही लगेगा। हमेशा से चला आया है।'

हैं वे लोग श्रद्धालु, हम लोगों में भी श्रद्धा रखते हैं कि ये अद्वैती भी परम्परा से चले आये हैं तो ठीक ही कहते हैं। लेकिन विवेक इनका मन्द है। जैसे मान लो यदि सच्चे श्रद्धालु हों तो इनमें विवेक जाग्रत् हो और सोचें कि कहीं आता है कि एक औरत एक पति करे और फिर द्रौपदी को पाँच पति करके, कुन्ती को भी तीन पति करके अच्छी औरतें मानते हैं। उन्हें भ्रष्ट नहीं माना गया। इसमें तात्पर्य व्यास जी का है कि न एक करने में धर्म है, न पाँच करने में अधर्म है। ब्राह्मण का धर्म गीता में कहा कि शम दम से रहे और द्रोणाचार्य को भ्रष्ट ब्राह्मण नहीं कहा, अश्वत्थामा को भी भ्रष्ट ब्राह्मणों में नहीं गिना। इससे व्यास जी का तात्पर्य हुआ कि जो जैसा मानता है उनके लिये वैसा ही ठीक है। विवेकी को तो यह बात समझ में आ जायेगी। जो विवेकी नहीं होते वे सोचते रहते हैं कि 'कोई और विलक्षण बात होगी। यह तो अच्छा ही है, यह बुरा ही है।' ऐसे आग्रह वाले रहते हैं।

विवेकी तो कोई भी ग्रंथ देखता है तो व्यास जी ने ऐसे ऐसे संदेह बीच में रख दिये हैं कि जिससे मनुष्य को निश्चय हो जाये कि मान्यता ही मान्यता है, सच्चा कुछ नहीं है। मन्द बुद्धि वाले उल्टा सवाल पूछते हैं कि 'द्रौपदी ने ऐसा किया तो दोष क्यों नहीं?' उन्हें सच्ची बात कहें कि ये मन की कल्पनायें हैं, इनमें क्या दोष लगना है, तो कहते हैं 'नहीं, कुछ भेद तो ज़रूर होगा, वह बताओ।' फिर भेद बतायेंगे कि उसने पूर्व जन्म में ऐसे ऐसे प्रार्थना की। ऐसा कुछ कारण बता दो तो वे खुश हो जाते हैं कि यह ठीक हो गया।

उन मन्द बुद्धि वालों को भी बताने का कुछ उपाय होना चाहिये जो संसार को सच्चा मानते हैं लेकिन हैं श्रद्धा वाले। उनके बोधन के उपाय रूप से जन्म उपदेश कर दिया। 'द्वैत है' ऐसा जिनका निश्चय है और कार्य-कारण-भाव को हमेशा स्वीकार करते हैं, उनको यदि ब्रह्म-कारणता बतायें तो उन्हें बात बैठ जायेगी, नहीं तो वे घबराकर भाग जायेंगे। मन्द विवेकी में विवेक उत्पन्न करने का यह उपाय है, यही मतलब है। पहले यह तो समझ लो कि सिवाय ब्रह्म के और कोई कारण नहीं। कोई परमाणु को और कोई प्रकृति को कारण बतायेगा और हम अज ब्रह्म कहेंगे। अज उनकी समझ में नहीं आयेगा तो दूसरी तरफ जाकर ब्रह्म से अतिरिक्त चीज़ों को कारण मानने लग जायेंगे। उन्हें जँचा है कि उत्पन्न ज़रूर हुआ है और हम कुछ कारण नहीं कहें, क्योंकि उत्पन्न हुआ ही नहीं, तो वे धर्म-अधर्म, परमाणु, प्रकृति इत्यादि को कारण बताने वालों की बात मान लेंगे।

जब उनसे कहेंगे कि ब्रह्म कारण है तो कम से कम दूसरी तरफ नहीं जायेंगे। इसलिये तब तक अपने उसे स्वीकार करते हैं। जैसे कह देते हैं कि 'अंतःकरण की शुद्धि के लिये

Scanned by CamScanner

कर्म कारण है, इसलिये जब तक अंतःकरण शुद्ध न हो तब तक वर्ण-आश्रम धर्म का पालन करो'। तब उन्हें संतोष हो जाता है कि रास्ते चल रहे हैं, पहुँच ही जायेंगे। जब आते रहेंगे तो समझ में आ जायेगा कि करने कराने से कुछ नहीं होगा। पहले ही सुनकर कि 'जो कुछ कर रहे हो वह सब कुछ नहीं है' वह भाग जायेगा, सत्संग करेगा ही नहीं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि साधक के प्रयोजन से ही उपदेश करना पड़ता है। जिसं व्यक्ति को वर्ण-आश्रम धर्म का अभिमान नहीं है, उसे पहले यह न कहो कि 'वर्णाश्रम धर्म मानो।' जो मानता है तो उसे कहो कि 'मानो।' जब सामने वाले को 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अभिमान ही नहीं, उसे ज़बर्दस्ती अभिमान कराने जाओ, तो यह प्रयोजन नहीं हुआ। जो मानता है उसको कहते हैं कि तदनुकूल आचरण करो। विवेकी तो जानता है कि उस आचरण से कुछ नहीं आना जाना है। किन्तु सामने वाला साधक आग्रह वाला है लेकिन श्रद्धा वाला है। जो जिस चीज़ के आग्रह वाला है उस आग्रह को वह छोड़ नहीं पाता है इसलिये उसको उस आग्रह में रहने देना पड़ेगा। इसी को गीता में भगवान् ने कहा कि जो जिस श्रद्धा वाला है मैं उसकी उसी श्रद्धा को दृढ करता हूँ 'तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।' जो कहे 'मैं मनुष्य हूँ' तो उसे तदनुकूल आचरण समझाओ। यह खूब याद रखना चाहिये। नहीं तो, आदमी जो नहीं मानता उसी को मनाने में उपदेशक का सारा प्रयत्न चला जाता है।

जब वेदांत का वह श्रवणादि करता रहेगा तो यह अभ्यास करते रहने का फल होगा ही। क्योंकि जब उसने समझा कि संसार का कारण ब्रह्म है, तो अब वह ब्रह्म के विवेक में लगेगा। तब उपनिषदों को बाँचेगा। वेदांत का अभ्यास करते करते उसको अपने आप आत्मविषयक विवेक हो जायेगा और कहेगा कि 'व्यर्थ ही मान रखा था कि जगत् उत्पन्न होता है!' पहले जब उसे कहोगे कि ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है तो उसे निश्चय होगा कि जैसे मिट्टी से बने हुए बर्तन मृद्रूप हैं ऐसे ही ब्रह्म से बना हुआ जगत् भी ब्रह्मरूप है। यह वेदांत की पर्यालोचना से होगा।

वैसे ही जो वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानने वाला है उसको भी यदि पहले-पहल कहोगे कि 'शास्त्र कहता है कि अजात ही है इसलिये कोई कहीं व्यवस्था नहीं है। श्रवणादि से तत्त्वज्ञान होगा। उसे भी सच्चा मानो यह हम कहते नहीं। तुम्हारा अज्ञान हट जायेगा, जो अज्ञान कभी हुआ ही नहीं।' तो वह सब उसे जँचेगा नहीं और कहेगा कि 'यह वेदांत भी इन्होंने अपने अपने ढंग से बना लिया है जैसा औरों ने ढंग बना रखे हैं।' फिर वह आगे असली बात सुनेगा ही नहीं। इसलिये तात्पर्य इतना ही है कि वेदांत की पर्यालोचना करानी है। आगे दृढ बुद्धि होगी तो बोध हो जायेगा। इसलिये जो जैसी मान्यता लेकर आया है उसे उसी पर टिका कर वेदान्तों की तरफ उन्मुख करना है। अद्वैत श्रुति और न्याय से सिद्ध है, इसलिये पारमार्थिक दृष्टि लेकर जन्मादि नहीं कहा गया है।

Scanned by CamScanner

वे लोग हैं तो श्रोत्रिय अर्थात् वेद का पाठ करते रहते हैं लेकिन हैं मोटी बुद्धि के। उन्हें किसी दिन वसंतपूजा में बैठा दो तो उसमें मंत्रपाठ करना शुरु कर देंगे। लेकिन उनसे पूछो कि 'इस मंत्र का मतलब क्या है?' तो कहते हैं कि 'इसका मतलब गुरुजी जानें, उनसे पूछो। हम तो लगे हुए हैं। वेद इस प्रकार तार ही देगा।' अब तो और स्थूल बुद्धि वाले हो गये हैं जो वेद की मूर्त्ति बनाने लग गये हैं और उसकी आरती भी उतारते हैं! वे लोग अज ब्रह्म से हमेशा डरते रहते हैं मानते हैं कि इसमें तो अपना सब नष्ट हो जायेगा। अगर तुम ब्रह्मविद्या में लग गये तो लोग कहेंगे 'ब्रह्म की प्राप्ति कहीं इस कलियुग में होनी है! और महापाप में फँस जाओगे। इसलिये इसी व्यवस्था में लगे रहो।' दूसरे लोग अंतःकरण को अपना स्वरूप मानते हैं और अंतःकरण नष्ट होने से अपना नाश भी मान लेते हैं।

अतः कहते हैं कि जन्मादिवर्णन उसे सच्चा मानने के लिये नहीं है। वह केवल समझाने का तरीका है जिसे 'उपायःसोवताराय नास्ति भेदः कथंचन' इस श्लोक में (३-१५) पहले भी बता आये हैं।।४२।।

●

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ।।४३।।

जो लोग अजाति से डरने के कारण परमसिद्धान्त से थोड़ा हटकर मान लेते हैं कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ है, वे भी क्योंकि विवेकमार्ग पर चल रहे हैं इसलिये ब्रह्म को सर्वथा न मानने वालों को जिन दोषों की प्राप्ति जगत् के जन्मादि मानने से होती है उन दोषों की इन्हें प्राप्ति नहीं होती। थोड़ा दोष तो हो ही जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान न हो पाने से बन्धन से नहीं छूट पाते, लेकिन भटकते नहीं अतः शीघ्र ही सद्बुद्धि पा जाते हैं।

जो अजाति अर्थात् अज ब्रह्म से त्रास को प्राप्त करने वाले लोग हैं उनको संसार दीखता है, इतने से ही मानते हैं कि है। ऐसे जो विरुद्ध द्वैत मानने वाले लोग हैं, द्वैत को जिन्होंने सच्चा मान लिया है, जब उन्हें भी जगत् का कारण ब्रह्म को बता देंगे तो वे ब्रह्म को कुछ तो समझने लगेंगे इसीलिये जन्म मानने के दोष उनको प्राप्त नहीं होंगे। अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त चीज़ों को संसार को उत्पन्न करने वाला मानना रूप दोष उन्हें प्राप्त नहीं होगा।

वेद ने कह दिया 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' जो थोड़ा भी अन्तर करता है उसको भय होता है, नानात्व से मनुष्य को दुःख होता है। अतः उनको थोड़ा दोष तो होगा, क्योंकि उनकी जीवन्मुक्ति तो नहीं होनी है, इतना ही दोष होगा, लेकिन

Scanned by CamScanner

बाकी दोषों से बच जायेंगे, बार बार स्वर्ग-नरक के चक्र से बच जायेंगे। क्योंकि जब ब्रह्म का ध्यान या विचार करेंगे तो ब्रह्मलोक को जायेंगे और ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के उपदेश से मुक्त हो जायेंगे। यह तो ठीक है कि उन्हें जीवन्मुक्ति की प्राप्ति नहीं, लेकिन जन्म-मरण के चक्र की प्राप्ति से बच जायेंगे। नहीं तो परमाणु और प्रकृति के चक्र में पड़कर बार बार जन्म मरण लगा रहेगा।

जो इस प्रकार अद्वैत, शांत और अज पदार्थ को जन्म वाला समझते हैं क्योंकि अज ब्रह्म से त्रास को प्राप्त करते हैं, वे विरुद्ध चले जाते हैं क्योंकि अज का जन्म है तो नहीं लेकिन इन्होंने मान लिया। फिर भी हैं ये ब्रह्मवादी, ब्रह्मको ही कारण मान रहे हैं। दूसरे लोग तो द्वैतवादी की शरण में चले जाते हैं। उन्हें अजाति बैठती नहीं तो कहते हैं कि द्वैत ही सच्चा मान लो। लोग कहते हैं 'ये बड़ी ऊँची ऊँची बातें हैं, हमारी समझ में कहाँ आयेंगी? हम तो 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' मन्त्रोच्चारण करके गणेश जी को लड्डू ही चढ़ायेंगे, काम हो जायेगा। बाकी सब ऊँची बातें हैं! हम लोगों से कहाँ होनी है!'

ऐसे व्यक्तियों से, जो अजात से त्रास पाने वाले हैं लेकिन श्रद्धालु हैं, सत् ब्रह्म के मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं, उनसे जब कह देते हैं कि 'ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ', तो वे सत्संग में आते हैं। अगर प्रारंभ में उनकी बुद्धि के लायक कुछ नहीं कहें तो आगे नहीं आयेंगे और द्वैतियों के चक्कर में चले जायेंगे। दूसरी चीज़ों से सच्चा जन्म मानने वाले जो दोष हैं वे उन्हें प्राप्त नहीं होंगे। उनमें श्रद्धा है, कुछ विवेक भी है, सच्चा मानते हुए सत्कर्म करते रहेंगे लेकिन साथ में विवेक मार्ग में लगे रहेंगे तो धीरे धीरे उनकी द्वैत प्रवृत्ति कम होती जायेगी। सत्संग से विवेक आयेगा। यदि केवल कहो कि 'जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ' तो दूसरी जगह के द्वैत के संस्कार ही दृढ होंगे। जब ब्रह्म को कारण कहते हैं तो इस भावना से आते रहेंगे तो अंतःकरण शुद्ध होगा। कहेंगे 'इनके यहाँ भी देवी जी की पूजा होती है इसलिये चलो।' यदि हम कहेंगे कि कुछ नहीं है तो कहेंगे कि 'भागो यहाँ से।' जहाँ जायेंगे, सोचेंगे वही सच्चा है। इसलिये शुद्धि को प्राप्त नहीं करेंगे।

इसका मतलब यह नहीं समझना, जैसा कि बहुत से लोग समझते हैं, कि दिखावे के लिये करते हैं। यह दिखावे के लिये करना नहीं है। यह तो जैसे छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिये मास्टर क लिखकर कहता है 'क मायने कमल' तो मतलब यह नहीं कि मास्टर दिखावा कर रहा है। या पार्ज़िंग करके समझाता है कि यह संज्ञा और यह सर्वनाम है, अथवा इकारान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं यह नियम बताता है तो मतलब यह नहीं है कि दिखावा कर रहा है, या उसे पता नहीं कि घी, दही इत्यादि शब्द पुल्लिग हुआ करते हैं। यह पता है, लेकिन बच्चे को पढ़ाने के लिये कुछ चीज़ें सिखानी पड़ती हैं। इसका मतलब दिखावा नहीं हुआ करता। जहाँ दूसरे को ठगने की प्रवृत्ति हो वह दिखावा होता

Scanned by CamScanner

है। यहाँ तो दृष्टि है कि यह आदमी स्थिर हो। यदि यह दृष्टि होती कि 'द्वैती है, संसार में ही फँसा रहे' इसलिये अंदर की बात न बताकर ऐसी बात बताओ कि हमारे यहाँ पड़ा रहे, तो दिखावा है hypocracy है। लेकिन यह भावना है कि इन्हें धीरे धीरे सिखाना है, तो दिखावा नहीं है। वेद-मार्ग में, सत्संग में, लग गया तो एक दिन समझ जायेगा। 'नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति' और 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' भगवान् ने भी गीता में कहा कि ठीक रास्ते लगा हुआ है तो अंत में वहाँ पहुँच ही जायेगा।

कोई कहे कि उन्हें दोष नहीं लगेगा तो हम भी विवेक के टंटे में क्यों फँसें, उधर ही चलें? तो उसे कहते हैं कि जन्म मानने वालों को थोड़ा दोष तो होगा ही क्योंकि विवेक प्राप्त नहीं हुआ। जब शास्त्र कहता है 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यस्तु नानेव पश्यति' अथवा 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' तो उस शास्त्र की भी कोई प्रवृत्ति होगी। जैसे एक शास्त्र ने कहा कि रास्ते लगे हो तो पहुँच जाओगे, वैसे ही दूसरे शास्त्र ने दोष भी बताया। दोनों ही शास्त्र गतार्थ होंगे। लेकिन वह दोष थोड़ा ही होगा अर्थात् यदि विवेक ज़रा अच्छी तरह हो गया तो एक दो जन्मों में उसकी मुक्ति हो जायेगी। गीता में भगवान् ने कहा 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' और आगे कहा 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। बहूनाम् अर्थात् तीन जन्मों में। अतः इन्हें गर्भवास का प्रवेश रूपी अल्प दोष हो जायेगा। यदि उपासना दृढ हो गई तो ब्रह्मलोक में चले जायेंगे। सम्यक् दर्शन अर्थात् जीवन्मुक्ति की प्राप्ति न होने के कारण से जितना दोष होना है वह तो होगा ही। लेकिन बाकी सबके चक्कर में पड़कर तो अनादि अनंत दोष हैं, वे प्राप्त हो जायेंगे।

इसलिये अपना उद्धेश्य किसी भी प्रकार मनुष्य को इस अद्वय ब्रह्म में प्रवृत्त कराना है। उसके मन में जो मान्यतायें हैं उन्हें हटाकर दूसरी मान्यतायें उसके मन में थोपना हमारा उद्देश्य नहीं है।।४३।।

●

किसी ने कहा कि यह हम भी मानते हैं कि जो चीज़ मिलती है और हमेशा से चली आई होती है अच्छे अच्छे आदमियों द्वारा मानी हुई होती है, वह सच्ची होती है। इसलिये हमें समझाओ कि वह झूठी कैसे है। कहते हैं सीधी सी बात है समझ लो।

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचाराद् अस्ति वस्तु तथोच्यते ।।४४।।

जैसे जब जादूगर तुम्हें हाथी दिखाता है तो उसे बाँधकर उसपर चढ़ता है। उसपर हौदा भी रखता है। उपलब्ध भी हो रहा है और आचरण भी कर रहा है; हौदा रख रहा

Scanned by CamScanner

है, चढ़ भी रहा है। और इसी प्रकार राजाओं के लिये यह हौदा हमेशा से रखता चला आया है। लेकिन वह माया-हस्ती उपलब्ध और समाचार होने से सच्चा थोड़े ही हो गया! वैसे ही यहाँ भी उपलब्धि और हमेशा से चली आई परम्परा होने से केवल 'है है' इस शब्द का प्रयोगमात्र है, और कुछ नहीं है।

भाष्य में शंका करते हैं कि उपलब्धि और समाचार प्रमाण है अतः द्वैत वस्तु है ही ऐसा हमें भी जँचता है। तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा उलटा न जँचाओ क्योंकि उपलब्धि और समाचार कोई अव्यभिचारी हेतु नहीं। यह 'है' और 'नहीं हैं' दोनों जाति वाली चीज़ों में हो सकता है। व्यभिचार कैसे है? उसे कहते हैं कि मायाहस्ती भी मिलता है या नहीं? मानना पड़ेगा कि मिलता है, लेकिन है नहीं। मायाहस्ती भी जात की तरह दीखता है, उसके साथ सारे व्यवहार भी होते हैं। उसे बाँध भी लेता है, उसपर चढ़ भी लेता है आदि जो जो हाथी के साथ किया जाता है वह सब उसके साथ करता है। कहता भी है कि 'यह हाथी है', शब्दप्रयोग भी है और व्यवहार भी है। अब कोई अंगूठी निकाल कर कहता है कि 'यह छह महीने से हमारे पास है' तो हम कहते हैं कि अनादि काल के संसार को ही हम नहीं मानते, तू छह महीने को लिये घूम रहा है! इसलिये है नहीं और सारे व्यवहार होते हैं। उसी प्रकार से उपलब्धि और समाचार से जो द्वैत भेदरूप है इस सबको लोग तरह तरह से कहते भी हैं, लेकिन वस्तुतः नहीं है। इसलिये ये उपलम्भ और समाचार वस्तु की सच्चाई को सिद्ध करने वाले हेतु नहीं हुआ करते यह तात्पर्य हुआ।।४४।।

●

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ।।४५।।

अज, अचल और अवस्तुता वाला (दृश्यार्थता से रहित) जो शान्त अद्वय विज्ञान है वही जाति की तरह, चलने की तरह और वस्तु की तरह प्रतीत होता है।

इस प्रकार की सब चीज़ें एक परमार्थ विज्ञान में प्रतीत होती हैं। यह देवदत्त ब्राह्मण जाति का है ऐसी प्रतीति हो जाती है। अथवा जाति मायने जन्म, 'देवदत्त पैदा हो गया, यह देवदत्त चल रहा है' इत्यादि प्रतीति हो जाती है। लेकिन है वहाँ ब्रह्म ही। ब्रह्म में ही प्रतीति है कि 'चल रहा है, इसके अन्दर ब्राह्मणत्व आदि धर्म रहता है', ऐसी प्रतीति हो गई। एक में ही सब प्रतीत हो जाता है। जैसे स्वप्न दृष्टांत के अन्दर केवल एक चित्त में ही सब प्रतीतियाँ होती हैं कि 'अमुक आदमी पैदा हो गया, है और चला गया।' वहाँ न जन्म है, न चलना है, न वहाँ कोई धर्म है। ऐसा अद्वितीय शान्त विज्ञान ही वहाँ

Scanned by CamScanner

है। यह उपसंहार श्लोक समझना। 'निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्।' इस (४-२५) श्लोक में भूतदर्शन का जो प्रसंग चला था उसकी समाप्ति करनी है इसलिये सबका संग्रह करके कह दिया।

वह परमार्थ सत् वस्तु कौनसी है जिसको विषय करती हुई यह जाति आदि बुद्धि उत्पन्न होती है? उसका स्वरूप बताते हैं : जिसका कभी जन्म नहीं हो सकता, जो अज है, अचल है। अज का जाति-आभास, अचल का चल-आभास और अवस्तु का वस्तु-आभास। अर्थात् जन्म लेता हुआ प्रतीत होता है; यह जाति-आभास हो गया, जैसे 'देवदत्त पैदा हो गया।' अचल होता हुआ भी वह 'चल रहा है' ऐसी प्रतीति होती है, जैसे 'यह देवदत्त जा रहा है।' वस्तु-आभास— वस्तु मायने द्रव्य, और द्रव्य का लक्षण है गुण कर्म का जो आश्रय हो। इसलिये धर्मी मायने जिसमें गुण-क्रिया रहें। गुण और क्रिया वाला वह प्रतीत होता है। इसलिये वस्तु-आभास वाला कह दिया। जैसे यह प्रतीति कि 'देवदत्त लम्बा है, गोरा है', गौरत्व दीर्घत्व आदि के द्वारा द्रव्यता स्फुट कर दी। पारमार्थिक दृष्टि से वह अज अचल अवस्तु या अद्रव्य है। कौन सी ऐसी चीज़ है जो इन सब रूपों को धारण कर रही है? विज्ञान ही इन सब रूपों में प्रतीत हो रहा है। जन्म आदि से रहित है इसलिये शांत है, अद्वितीय है, ऐसा ब्रह्म है। यह उपसंहार कर दिया।।४५।।

●

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ।।४६।।

इस प्रकार चित्त उत्पन्न नहीं होता यह हमने सिद्ध कर दिया। चित्त और ब्रह्म अज हैं। 'अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्' इस श्लोक के द्वारा यह प्रतिज्ञा की थी कि अज ब्रह्म को बतायेंगे। इस प्रकार बता दिया कि चित्त किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं होता। और इसीलिये जो जीवात्मा (धर्म) हैं वे सारे के सारे अज हैं। इस प्रकार जिनका अनुभव हो जाता है वे फिर इस संसार को देखते हुए भी कभी द्वैतरूपी गड्ढे में नहीं गिरते।

जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब होने से सूर्य थोड़े ही पैदा होता है। प्रतीति होती है कि पैदा हो गया। वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिये। जब इसे समझ लिया कि बिम्ब रूप ब्रह्म है और संसार के सारे प्राणी प्रतिबिम्बभूत हैं, अपना ही प्रतिबिम्ब हैं, तब फिर न वहाँ राग और न द्वेष है। प्रेम ही प्रेम है। इसलिये वेदांती सबसे प्रेम ही कर सकता है, और कुछ नहीं कर सकता। जो इस बात को नहीं समझते वे सोचते हैं कि वेदांती ईंट पत्थर की तरह होता है। ठीक उससे विपरीत होता है। सबके साथ उसका प्रेम होता है।

उपर्युक्त कारणों के द्वारा ही चित्त जन्म नहीं लेता क्योंकि जन्म लेने में कार्य-कारण-भाव होगा और इस कार्यकारणभाव को किसी भी प्रकार समझ नहीं सकते। चाहे जैसे

Scanned by CamScanner

समझना चाहो नहीं समझ सकते। इसलिये जब तक उत्पन्न होने वाला समझते हो तब तक चित्त, जब तक 'विज्ञान बदल रहा है' ऐसा समझते हो और धारणा कर रहे हो तब तक चित्त, लेकिन जब जान लिया कि वह न उत्पन्न होता है और न बदलता है, भले ही बदलता-पैदा होता प्रतीत हो जाये, तो उसी का नाम चित् अर्थात् अद्वैत ब्रह्म है। प्रतिबिम्ब बिम्ब रूप ही हुआ करता है, और कुछ नहीं। इस प्रकार से अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से जीवात्मा सारे के सारे अज ही हैं। ऐसा ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है।

कोई शिष्य बीच में कहता है कि 'अनेक जीवात्मा सारे ब्रह्मरूप हैं', इसका मतलब है कि जीवात्मा अलग-अलग हैं। अतः बताते हैं कि यहाँ 'धर्माः' बहुवचन का प्रयोग शरीरों के भेद को लेकर है। वस्तुतः तो एक अज ब्रह्म ही इन सारे शरीरों में रहने वाला है। 'धर्माः' ऐसा गौण प्रयोग है, सचमुच बहुवचन कहने में तात्पर्य नहीं है। यह अनुभव होगा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' अनेक हृदय प्रदेश हैं इसलिये प्रतीति अलग अलग है। लेकिन वस्तुतः एक ही सब हृदयों में बैठा हुआ चला रहा है।

एक आदमी घोड़े पर जा रहा था। उधर एक बुढ़िया अपनी जवान लड़की को ले जा रही थी। उसकी लड़की थक गई थी। उसने घोड़े वाले से कहा कि 'मेरी लड़की को अगले गाँव में पहुँचा दो।' उसने कहा 'नहीं, मैं तेरी लड़की को नहीं ले जाता।' थोड़ी दूर गया तो उसके मन में आया कि 'लड़की जवान थी, ले ही आया होतो तो अच्छा था। गाँव का रास्ता है जो चाहे सो कर लेता।' उधर बुढ़िया के मन में आया कि 'अच्छा ही हुआ वह नहीं माना, नहीं तो क्या पता, लड़की को खराब करता।' वह अपने घोड़े को लेकर वापिस आ गया और बुढ़िया से कहा— 'अच्छा बैठा दे, छोड़ दूँगा।' बुढ़िया ने उससे कहा— 'भैया। जो तेरे कान में कह गया वह मेरे कान में भी कह गया है! इसलिये अब नहीं भेजूँगी।'

सबके हृदय में बैठने वाला ईश्वर एक ही है। फिर शरीरभेद से बहुवचन का प्रयोग कर दिया जाता है— मेरा अन्तरात्मा, तुम्हारा अन्तरात्मा। अन्तरात्मा एक ही है, अलग अलग थोड़े ही हैं। विज्ञान का अर्थ कर दिया कि जन्म आदि सब भावों से रहित अद्वितीय आत्मतत्त्व का जो अनुभव है; विज्ञप्तिरूप ही उसका अनुभव है।

यह अनुभव किनको होगा? जिन्होंने पुत्र, वित्त और लोक की एषणाओं को छोड़ दिया। जिन्होंने धन की, संसार के लोकों की, ब्रह्मा, विष्णु आदि लोकों की, और पुत्र स्त्री आदि की सब एषणाओं को छोड़ दिया, उन्हीं को यह तत्त्वज्ञान होगा। जो इन एषणाओं को पकड़े रहेंगे उन्हें तत्त्वज्ञान नहीं होगा। विपर्यय का ही अर्थ कर दिया कि अविद्या रूप अंधकार समुद्र में वह नहीं पड़ता। उन्हें फिर अज्ञान कभी नहीं होता, हमेशा ही विद्या का प्रकाश बना रहता है। 'तत्र को मोहः कः शोकः' इसमें श्रुति का

Scanned by CamScanner

प्रमाण दिया कि जो एक ब्रह्म का दर्शन कर लेता है उसे न मोह और न शोक होता है क्योंकि जानता है कि एक अखण्ड ब्रह्म के अन्दर विपर्ययों की प्रतीति है, और कुछ नहीं है।।४६।।

●

यह जो कहा कि अज अचल विज्ञान है, वही इन सब रूपों में प्रतीत होता है इसे दृष्टान्त से कहते हैं। जो बात समझा रहे थे वह तो समझा चुके, उसी को दृष्टांत से समझाते हैं।

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ।।४७।।

जिस प्रकार मशाल को हिलाओ, उसमें स्पन्दन करो, तो कहीं सीधा, कहीं टेढ़ा आकार बनता जाता है। जैसा जैसा स्पन्द करो वही वही आकार बनता जाता है। जैसे ये आभास प्रतीत होते हैं उसी प्रकार विज्ञान का स्पन्द ही ग्रहण-ग्राहक की प्रतीति है।

'मैं घड़े को जानता हूँ।' मैंरूप से और घड़ारूप से वही स्पन्दन होकर प्रतीत हो रहा है। अपने पूर्व स्वरूप को बिना छोड़े हुए अनेक आकारों में प्रतीत हो जाना यह जिस प्रकार मशाल में है वैसे ही विज्ञान में भी है। वह अपने स्वरूप को बिना छोड़े हुए अनेक रूपों में प्रतीत हो जाता है। यही विवर्त है 'अप्रच्युतप्राच्यस्वरूपस्य असत्य-नानाकारावभासो विवर्तः स्पन्दितम्।'

ऊपर कहा हुआ जो परमार्थ दर्शन है, भगवान् कारिकाकार इसी का विस्तार करते हैं। दृष्टांत से समझाना ही विस्तार है। इसी विस्तार को करते हुए कहते हैं : जिस प्रकार लोक में सीधा टेढ़ा इत्यादि प्रकार से मशाल या उल्काका जो स्पन्दन है वह आभास की तरह प्रतीत होता है। अलात और उल्का में थोड़ा सा फ़रक है। देवदारु की लकड़ी को जला दो तो वह लकड़ी मशाल की तरह जलने लग जाती है। उसी को उल्का कहते हैं जिसे जलता हुआ चैल भी कहते हैं। चैल को संस्कृत में उल्का कहते हैं। अलात पर कपड़ा बाँधकर जलाया जाता है। उसी प्रकार विज्ञान का जो स्पन्द है वह सारा का सारा ग्रहण-ग्राहक-आभास हो जाता है। ग्रहण विषय और ग्राहक विषयी— 'ग्रहण कर रहा हूँ' ऐसी प्रतीति और 'घड़े का ग्रहण कर रहा हूँ' ऐसी प्रतीति। ग्राहक और ग्राह्य घड़ा दोनों मिथ्या हैं, बोध के लिये उन्हें सच्चा मान लेते हैं। लेकिन जैसे विषय झूठा ऐसे ही ग्रहण करने वाला भी झूठा है। यह अंकुश ही नहीं निकलता है। आदमी दूसरी चीज़ों को झूठा कह देता है लेकिन अपने को सच्चा मानकर बैठा रहता है। वह भी विज्ञान का स्पन्द ही है।

जब यह कहा तो क्योंकि द्वैत के संस्कार दृढ होते हैं इसलिये किसी ने झट कह दिया, 'एक विज्ञान और एक उसका स्पन्द दो हो गये।' स्पन्द एक सम्प्रदायप्रसिद्ध शब्द है और 'स्पन्दकारिका' काश्मीर वालों का एक ग्रन्थ है। वे मानते हैं कि दो हैं, एक विज्ञान

Scanned by CamScanner

और एक स्पन्द। अतः सिद्धान्ती कहता है कि वह स्पन्द आदि भी होता नहीं है। वह भी प्रतीति ही है कि स्पन्द हो रहा है। ऐसा क्यों हो जाता है? क्योंकि उन्हें इसका अज्ञान है इसलिये हो जाता है। मुख्य स्पन्द ही क्यों नहीं मान लेते? जो अचल है, अर्थात् जो निरवयव वस्तु हुआ करती है वह वास्तविक चलन वाली नहीं होती। जैसे आकाश। आकाश यदि हिलता हुआ दीखता है तो मानना पड़ेगा कि बिना हिले हुए दीख रहा है। कुछ लोगों को याद होगा कि सन् '३४-'३५ में भूकम्प आया था। तब देखा होगा तो आकाश चलता हुआ नज़र आया होगा। आकाश हिल नहीं सकता क्योंकि निरवयव पदार्थ है। इसीलिये कह दिया कि क्योंकि वह अज और अचल है, इसलिये उसका सच्चा स्पन्द नहीं। स्पन्द भी एक प्रतीति अविद्या से है।।४७।।

●

४५वें श्लोक में जो कहा था 'विज्ञानं शान्तमद्वयम्' उसी को स्पष्ट करते हैं।

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ।।४८।।

जब उसी मशाल को स्थिर कर दो तो फिर कहाँ लगता है कि सीधा टेढ़ा इत्यादि है, केवल एक बिन्दु ही रह जाता है। वह स्पन्दरहित है। उसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में, निर्विकल्प अवस्था में, जब विज्ञान नहीं हिलता है, या सुषुप्ति में अथवा मुक्त का विज्ञान नहीं हिलता है, तो फिर उससे सृष्टि उत्पन्न हुई भी प्रतीत नहीं होती। तब वह अज रह जाता है।

अस्पन्दमान का अर्थ कर दिया स्पन्द-रहित। वही अलात जब स्पन्द से रहित हो गई तो सीधा टेढ़ा इत्यादि प्रतीत नहीं होते। अनाभास और अज हो जाता है। वैसे ही अविद्या से स्पन्दमान जो विज्ञान था, जब अविद्या की उपरामता हो गई, सुषुप्ति समाधि या मुक्त अवस्था में, तब जाति आदि आकार से न होते हुए अज और अचल ही रह जाता है।।४८।।

●

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ।।४९।।

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ।।५०।।

उसी बात को समझा रहे हैं कि अलात के स्पन्द होने पर जो ऋजु वक्र आदि चीज़ें हैं वे किसी अन्य जगह से आई हुई हों ऐसा तो नहीं है। कमरा बन्द कर दो तो भी वे

Scanned by CamScanner

ऋजु वक्र आदि भाव अलात में आयेंगे। बाहर से नहीं आये हैं। जब तुमने उसे हिलाना बन्द कर दिया तो उसमें से निकलकर वे सारे भाव गये कहाँ? यह भी नहीं कह सकते कि अलात के अन्दर घुस गये क्योंकि चारों तरफ उसमें देखते हैं तो कुछ नज़र नहीं आता कि घुस गये। वे अलात से बाहर निकले, ऐसा भी नहीं क्योंकि कोई द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार से विज्ञान में भी होता है क्योंकि आभास एक जैसे ही हैं। जैसे वहाँ प्रतीति, वैसे ही यहाँ प्रतीति। न वह प्रतीति कहीं से निकली और न वापिस गई, न बाहर से आई। इसी प्रकार विज्ञान से न जगत् निकला और न वापिस विज्ञान में गया और न कहीं दूसरी जगह से परमाणु, प्रकृति इत्यादि से आया।

इसी बात को भाष्य में कहते हैं कि अलात के हिलाने पर ऋजु वक्र आदि भाव कहीं दूसरी जगह से आकर अलात में घुस गये हों ऐसा नहीं होता है। जब उसे हिलाया जाता है तो किसी देशांतर से आ गये हों और फिर उसमें चले गये हों ऐसा नहीं होता क्योंकि किसी देशांतर से आते नहीं दीखते, कमरा बन्द करके देख लिया। जब उस अलात को निस्पन्द कर दिया तो निकलकर कहीं दूसरी जगह भी नहीं जाते क्योंकि कहीं दूसरी जगह ढूँढने पर मिलते भी नहीं हैं।

अलात के दृष्टान्त में तो आदमी को यह बात झट से समझ में आती है लेकिन विज्ञान-स्पन्द में लगता है कि 'कहीं किसी को तो दीखता ही होगा, तुम्हें नहीं दीखता।' क्योंकि अविद्या है उसके कारण ऐसी प्रतीति होती है। कहो कि उस निस्पन्द अलात में घुस गया हो, तो वह भी वहाँ किसी प्रकार से नहीं पाया जा सकता। न बाहर से आया न बाहर को गया, न वापिस अलात में गया।

यदि कहो : 'स्पन्द निमित्त से अलात के अन्दर वह पैदा हुआ, स्पन्दन को निमित्त कारण और अलात को उपादान कारण मान लो।' ऐसा भी कुछ लोग कह देते हैं कि हिलाना निमित्त कारण और उपादान कारण अलात को मान लो। इसमें क्या दोष आयेगा?

घड़े का निमित्त कारण कुम्हार होता है। कुम्हार के हट जाने पर भी घड़ा बना रहता है। ऐसे ही यदि स्पन्द निमित्त और अलात उपादान कारण मानोगे, तो निमित्त के हट जाने पर भी वहाँ ऋजु वक्र आदि भाव बने रहने चाहिये। इसलिये यह मानने से भी व्यवस्था नहीं बन सकती।

वे आभास अलात से बाहर नहीं निकले। जैसे घर आदि होता है तो उसमें दरवाज़ा होता है जिससे चीज़ें बाहर निकल जाती हैं, ऐसा अलात में नहीं है क्योंकि उन भावों में द्रव्यता नहीं है। द्रव्यता अर्थात् द्रव्य का भाव। उसका अभाव द्रव्यता-अभाव हो गया। द्रव्यत्व के अभाव की युक्ति से ही अर्थात् उसमें वस्तुता नहीं है इसलिये उसे घुसने-निकलने वाला नहीं मान सकते। जो चीज़ हुआ करती है वही प्रविष्ट हो और बाहर निकले। अब इसमें प्रवेश और बाहर निकलना आदि नहीं हो रहा है तो सिद्ध हो गया कि वह

Scanned by CamScanner

वस्तु नहीं है। विज्ञान में भी जाति आदि का आभास हो जाता हैं क्योंकि प्रतीति दोनों जगह एक जैसी है।।४९-५०।।

●

दृष्टांत को स्पष्ट करने के बाद अब दार्ष्टान्तिक को स्पष्ट करते हैं—

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ।।५१।।
न निर्गतास्ते विज्ञानाद् द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ।।५२।।

ऊपर वाली सारी बातें फिर से कह दीं। दृष्टांत में अलात था, यहाँ विज्ञान कह दिया। विज्ञान का जब स्पन्द होता है तो जाति आदि आभास न विज्ञान से निकलते हैं, न विज्ञान में जाते हैं। अब इसका नतीज़ा निकालते हैं कि जैसे उन भावों में कोई कार्य-कारणता नहीं है इसलिये वे सब अचिंत्य हैं। न उसे कार्य, न कारण; कुछ नहीं कहा जा सकता। तुम्हारे मन वाणी से अतिदूर हैं। केवल प्रतीत होते हैं यही कह सकते हो। 'क्या होता है, कैसे होता है' यह कुछ नहीं कहा जा सकता। अलात के समान ही विज्ञान की भी सारी बातें समझ लेना।

किसी ने कहा फिर दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक एक हो गया और दोनों सर्वथा एक जैसे हों तो दृष्टांत नहीं बनता। समझाते हैं कि वहाँ तो यह है कि मशाल कभी चलती भी है और यहाँ विज्ञान तो कभी चलता ही नहीं! बाकी सब दृष्टांत जैसा है। ऋजु आदि आभास वहाँ स्पन्द के कारण हुए, विज्ञान में जाति आदि आभास कैसे आ जाते हैं? बस कार्यकारणता का भाव तुम्हारे हृदय में है इसलिये हो जाता है। सच्ची कार्य-कारणता का अभाव है। युक्ति से भी नहीं कह सकते कि वह जन्य यह जनक है। इसका अभाव होने से वे चिंतन के विषय नहीं हैं। इसलिये हमेशा वे अचिन्त्य रहते हैं। जिस प्रकार केवल अलात के अन्दर ऋजु वक्र आदि भावों की प्रतीतियाँ हो रही हैं यद्यपि ऋजु वक्र आदि कुछ नहीं हैं, उसी प्रकार जाति आदि के न होने पर भी विज्ञानमात्र में जो जाति आदि की बुद्धि होती है वह झूठी ही होती है। यह समुदायार्थ अर्थात् चारों श्लोकों का अर्थ हो गया।।५१-५२।।

●

यह बता दिया कि सब अज है क्योंकि कार्य-कारणता किसी प्रकार से बनती नहीं। प्रतीति का कारण केवल माया है। माया मायने जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, केवल अनुभवमात्र किया जा सके। जिसका अनुभव तो हो, प्रतीति तो हो, लेकिन अन्वेषण करने जाने पर न मिले। यह माया का लक्षण हमेशा याद रखना। माया कोई चीज़ नहीं है।

Scanned by CamScanner

विवेक द्वारा देखने पर उपलब्ध न की जा सके और विवेक न करने तक प्रतीत होती रहे, वह माया है। इसलिये वेदांत सिद्धान्त में माया और सांख्यों का प्रधान या प्रकृति एक चीज़ नहीं है। सांख्यों की प्रकृति तो एक वास्तविक तत्त्व है इसलिये उससे माया एक नहीं। न इसको matter की energy की तरह पदार्थगत शक्ति कहा जा सकता है। वेदांत में केवल अज्ञात ब्रह्म का नाम ही माया है। जब तक ज्ञान न हो तब तक प्रतीत हो और ज्ञान होते ही निवृत्त हो जाये, यही माया है। इसीलिये अंतिम चीज़ 'अचिन्त्याः सदैव ते' कार्य-कारण इत्यादि जितने भाव हैं सब अचिंत्य हैं अर्थात् विचार करके सिद्ध नहीं होते। अब नैयायिक वैशेषिक के मत से भी कार्यकारणभाव का प्रयोजक ठीक तरह निरूपित न हो सकने से भी अज ही परमार्थ है यह बताते हैं।

इतना याद रखना कि आज के Philosophy of Matter या Philosophy of Science को हम लोग न्याय वैशेषिक कहते हैं। पदार्थ मीमांसा अगर हमारी समझनी है, हमारे विज्ञान को अगर समझना है तो उसे न्याय वैशेषिक से समझना पड़ेगा। हमारे यहाँ के मनोविज्ञान को (Philosophy of psychology) को समझना है तो सांख्य योग को समझना पड़ेगा और हमारे उद्भव शास्त्र (Philosophy of Cosmology) को समझने के लिये पुराण पढ़ने पड़ेंगे कि सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई इत्यादि। ये व्यवस्थित विषय हैं। इसको न समझने के कारण ही बड़ी गड़बड़ी होती है। गड़बड़ी यह होती है कि सांख्य के ढंग से हम पदार्थ को समझने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार सब गड़बड़ होता रहता है। यह ठीक है कि दोनों में कुछ सम्बन्ध तो होगा ही लेकिन विज्ञान के नियम सब जगह एक जैसे नहीं चल सकते क्योंकि विज्ञान अलग अलग हुआ। लोग करते यही हैं। ठीक जैसे एक भोजन सत्त्वगुणी और एक भोजन रजोगुणी है। भोजन तो पदार्थ हुआ, उसमें सत्त्वगुण रजोगुण नहीं आयेंगे। इस भोजन से मानसिक वृत्ति सत्त्वगुणी या रजोगुणी उत्पन्न होगी यह तो हो सकता है। इसीलिये गीता में भगवान् ने यह नहीं कहा कि यह भोजन सत्त्वगुणी या रजोगुणी है। बाकी सब चीज़ों को तो सात्त्विक राजस तामस कहा, लेकिन द्रव्यों में एक ही चीज़ अन्न का नाम आया और वहाँ कहा कि यह अन्न सात्त्विक पुरुषों को प्रिय है, यह राजस पुरुषों को प्रिय है। उलटा नहीं कहा कि यह भोजन सत्त्वगुणी या रजोगुणी है। बहुत से लोग कहते हैं कि 'हम सत्त्वगुणी भोजन करते हैं लेकिन क्रोध नियंत्रण में नहीं आता।' भोजन क्या करेगा? वह तो अंतःकरण सत्त्वगुणी या रजोगुणी है। इसी को लेकर मध्यकाल के कवियों ने कहा भी है कि हाथी केवल वनस्पति खाता है जो महाकामुक है और शेर मांस खाता है लेकिन एक बार ही संतति उत्पन्न करता है।

न्याय वैशेषिक का जब वर्णन करते हैं तब वैज्ञानिक बुद्धि बना लेनी चाहिये। उसमें फिर मनोविज्ञान बीच में नहीं सोच लेना चाहिये। इसी प्रकार आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है। इनके अनुसार दो प्रकार की कारणता होती है— एक समवायिकारणता और

Scanned by CamScanner

एक असमवायिकारणता। तन्तु से कपड़ा बनता है। उसमें दो प्रकार की कारणता है। तंतु नामक द्रव्य से कपड़ा नामक द्रव्य और तंतु में रहने वाले रंग नामक गुण से कपड़े में रहने वाला गुण उत्पन्न होगा। कपड़े का रंग सूत से नहीं, सूत के रंग से आया। सूत का रंग कपड़े के रंग का असमवायी है और सूत कपड़े का समवायी है। नियम हुआ कि द्रव्य (matter) से द्रव्य ही उत्पन्न होगा। द्रव्य में दो चीज़ें रहेंगी, गुण और क्रिया। धागे में रहने वाले रंग से कपड़ा द्रव्य पैदा नहीं हो सकता, रंग गुण ही पैदा होगा। इसी प्रकार हमने एक बाल या गेंद यहाँ से फैंकी, उसमें क्रिया आ गई। वह अगर दूसरी गेंद से लगती है तो उसे भी धक्का देकर आगे ले जाती है अर्थात् उसमें भी क्रिया हुई। उसमें क्रिया का कारण गेंद में रहने वाली क्रिया है। उस क्रिया से क्रिया तो उत्पन्न हो जायेगी लेकिन केवल उस क्रिया से दो गेंदें बन जायें यह नहीं हो सकता। हर हालत में एक द्रव्य से जो द्रव्य पैदा होगा वह कारणद्रव्य से अलग ही होगा। इसी को लेकर कहते हैं कि आत्मा को अज मानना होगा।

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्याद् अन्यद् अन्यस्य चैव हि ।
द्रव्यत्वम् अन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ।।५३।।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कारण होता है। धर्म (आत्मा) न तो द्रव्य हैं और न उनसे भिन्न कुछ हैं अतः आत्मा न कार्य और न कारण हो सकता है।

हे कणाद के अनुयायी! तुम्हारे सिद्धान्त में द्रव्य द्रव्य से ही पैदा होता है अर्थात् द्रव्य द्रव्य का हेतु है और द्रव्य से भिन्न गुण व क्रिया गुण व क्रिया के ही असमवायी हेतु होते हैं। अब यह बताओ कि जो धर्म अर्थात् आत्मायें हैं उन आत्माओं को तुम द्रव्य मानते हो क्या? आत्मा कोई पदार्थ या द्रव्य तो है नहीं। ऐसा तो नहीं कि किसी आदमी को एक दम वैक्यूमप्रूफ (vaccum proof) कमरे में बंद कर दो तो वह मर ही नहीं सकता क्योंकि आत्मा निकलकर जायेगा कहाँ! नहीं तब तो लोगों को अमर बनाना बड़ा सरल हो जाये और अपने राजा लोग तो पहले ही ऐसा बना लें और उसमें बैठे बैठे ही दूसरों को हुक्म लिखकर दिया करें; न मरेंगे और न गद्दी दूसरों को देनी पड़ेगी। इसलिये आत्मा को दूसरा द्रव्य तो मान नहीं सकते। और न उसे गुण व क्रिया वाला मान सकते हो। युक्ति से न यह द्रव्य और न अन्यभाव सिद्ध होगा।

अब यदि कहो कि वैशेषिक तो आत्मा को द्रव्य मान लेते हैं और उसके अन्दर रहने वाले ज्ञान, सुख, दुःख, संस्कार, इच्छा आदि सबको गुण मान लेते हैं। ज्ञान, सुख, दुःख, आदि गुण जिसमें रहें वह आत्मा द्रव्य है। आत्मा को वे ऐसा ही मानते हैं। तो उनसे यह पूछना पड़ेगा कि तुम आत्मा को यदि द्रव्य मानते हो तो यह बताओ कि आत्मा व्यापक है या एकदेशी है। वह आत्माओं को व्यापक मानता है और कहता है कि जैसे

Scanned by CamScanner

आकाश और काल व्यापक द्रव्य हैं ऐसे ही आत्मा व्यापक द्रव्य है। ऐसा मानने पर उनके आत्मा के अन्दर ज्ञानगुण, संस्कारगुण आदि सर्वत्र रहेंगे। तुम्हारा मन जहाँ है वहाँ हमारा आत्मा भी है। तुम्हारे मन के साथ हमारे आत्मा का संयोग हो जायेगा तो हमें तुम्हारे आत्मा के अन्दर होने वाली बातों का ज्ञान हो जाना चाहिये। लेकिन हमें पता नहीं लगता। यदि तुम आत्मा को द्रव्य मानो तो भी बनता नहीं क्योंकि आस्तिक होने के नाते व्यापक आत्मा मानते हो और व्यापक आत्मा मानने से किसी के मन का किसी के आत्मा से सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध हो गया तो वहाँ ज्ञान, इच्छादि पैदा हो जायेंगे। तुम्हारे आत्मा के साथ हमारे मन का संयोग हुआ तो हमारे आत्मा में ज्ञान हो जायेगा कि हमें भूख लगी है जबकि अभी खाकर उठे हैं। लेकिन ऐसा नहीं होता है।

इसलिये परवर्ती नैयायिक मध्व आदि वैष्णव लोगों ने फिर आत्मा को अणुपरिमाणी मान लिया। यह दोष ऐसा ज़बर्दस्त था और उन्होंने मान लिया कि यह ज़बर्दस्त दोष है, इसका कोई निराकरण होना चाहिये। इसलिये परवर्ती आचार्यों ने इसे व्यापक मानना छोड़ दिया। लेकिन अपने छहों आस्तिक दर्शनों में— न्याय, योग, सांख्य, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा— कोई आत्मा को अणु नहीं मानता, सब व्यापक ही मानते हैं। यहाँ यह नहीं पूछना कि उसका खण्डन क्या होगा। क्योंकि गौडपादाचार्यों के काल में इनका विचार नहीं था इसलिये यहाँ इनका खण्डन भी नहीं है। बाद में फिर इनका खण्डन किया गया।

किंच अवयव द्रव्यों को मिलाकर अवयवी द्रव्य उत्पन्न होता है जैसे अवयव द्रव्य तन्तुओं को मिलाकर अवयवी द्रव्य कपड़ा उत्पन्न हो गया। अब यदि जीवात्मा को उत्पन्न होने वाला मानते हो तो उसके अवयव कौन से हैं? यह जो निरवयवत्व रूप हेतु है यह आत्मा को अणु मानने वालों के यहाँ भी लग जायेगा। यदि आत्मा को अणु मानत हो तो अणुपरिमाणी आत्मा उत्पन्न कैसे होगा? क्योंकि उसका अवयव मान नहीं सकते, अणु का अवयव होता नहीं है। जैनियों ने तो मध्यम परिमाणी आत्मा माना है अर्थात् जितना बड़ा शरीर उतना बड़ा आत्मा। उनका खण्डन इसलिये हो जाता है कि वे भी जन्मांतर मानते हैं, ईसाई और मुसलमानों की तरह नहीं हैं जो जन्मान्तर नहीं मानते। जब एक चींटी हाथी के शरीर में जायेगी तो कैसे होगा? और हाथी चींटी के शरीर में जायगा तो क्या होगा? इसलिये आत्मा को विभु मानो तो भी द्रव्य सिद्ध नहीं, अणु मानो तो भी नहीं और मध्यम परिमाणी मानो तब भी नहीं बनता।

ईसाई मुसलमान तो जन्मान्तर मानते ही नहीं और शरीर परिमाणी ही आगे भी आत्मा मानते हैं। उनपर दोष यह आता है कि आत्मा को वे केवल शरीरपरिमाणी ही नहीं मानते, शरीर से उसका नित्य सम्बन्ध भी मानते हैं। चूँकि शरीर से नित्य सम्बन्ध मानते हैं इसीलिये शव को इतना बचाकर रखते हैं। जब कयामत का दिन (Day of

Scanned by CamScanner

Deliverence) आयेगा तब वे सारे शरीर इकट्ठे होकर खुदाताला या गोड महोदय के पास जायेंगे। लेकिन यहाँ शरीर सड़ते रहते हैं उनका क्या होगा? इसका उनके पास कुछ जवाब नहीं है।

हर हालत में आत्मा को द्रव्य मानने पर ये सब दोष आ जाते हैं। इसलिये आत्मा को द्रव्य नहीं मान सकते।

और आत्मा को अन्य भी नहीं मान सकते अर्थात् गुण या क्रिया रूप भी नहीं मान सकते। युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता है क्योंकि गुण हो तो रहेगा किसमें? ऐसे ही क्रिया रहेगी कहाँ? अतः वह गुण या क्रिया रूप नहीं है। उसमें गुण व क्रिया हो यह भी ठीक नहीं। गुणादि यदि नित्य हों तो अनुभवविरोध और अनित्य हों तो आत्मा विकारी अतः अनित्य होने लगेगा जो दोनों अनिष्ट हैं।

इस श्लोक का दूसरा तात्पर्य भी समझ लेना। अथवा ऐसा मान लो कि द्रव्य द्रव्य का कारण होता है यह एक बात ज़रूरी है और दूसरी ज़रूरी बात है कि वह अन्य द्रव्य हो और तब अन्य द्रव्य का कारण बने। जैसे धागा अन्य द्रव्य है तो उससे अन्य द्रव्य कपड़ा पैदा होता है। यह तो कह नहीं सकते कि उस धागे से वही धागा बनता है। आत्मा द्रव्य भी नहीं और किसी से भिन्न भी नहीं है। आत्मा सबका आत्मा है, सर्वस्वरूप है। द्रव्य न होने से और किसी से भिन्न न होने से किसी का भी कारण नहीं बन सकता है। कारणता के प्रति तो द्रव्यत्वमात्र पर्याप्त नहीं है, अन्य भी होना चाहिये क्योंकि उसी घट से उसी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्मा जब किसी से भिन्न है ही नहीं तो कारण कैसे बनेगा?

भाष्य में इसी को स्पष्ट करते हैं कि अब तक यह सिद्ध हो गया कि वह अज है अर्थात् अवयव-अवयवी विभाग से रहित है और एक है अर्थात् गुण-गुणिभाव से रहित है। इसलिये हमने सिद्ध किया कि आत्मा कार्यकारणभाव से रहित तत्त्व है अर्थात् उस आत्मतत्त्व के विषय में जो लोग कार्यकारणभाव की कल्पना करते हैं, वह नहीं बनता है। वही द्रव्य उसी द्रव्य का कारण हो यह नहीं हो सकता। देवदत्त ही देवदत्त का कारण हो यह नहीं हो सकता। यदि कहो कि 'उसे अद्रव्य मान लेंगे, गुण या क्रिया मान लेंगे, द्रव्य से भिन्न मान लेंगे' तो भी नहीं बनेगा क्योंकि अद्रव्य किसी दूसरे अद्रव्य का स्वतंत्र होकर कारण नहीं होता। कपड़े में रहने वाला पीला रंग पैदा हुआ तन्तु में रहने वाले पीले रंग से। पीले रंग से कपड़े का पीला रंग सीधा उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि गुण व क्रिया किसी द्रव्य के बिना कहीं नहीं रहेंगे। किसी न किसी द्रव्य में रहकर तो गुण-क्रिया किसी दूसरे के प्रति कारण बन जायेंगे, लेकिन स्वतंत्र गुण या क्रिया किसी गुण या क्रिया के प्रति कारण नहीं पड़ेंगे। गेंद में रहने वाली क्रिया तो दूसरी गेंद की क्रिया के प्रति कारण पड़ जायेगी, लेकिन बिना द्रव्य में रहे नहीं बनेगी।

Scanned by CamScanner

यदि ज्ञान को तुम गुण मानते हो और परमेश्वर का गुण यदि तुम्हारे में आता है तो उसका एक एक टुकड़ा भी टूटकर आना चाहिये, नहीं तो कैसे आयेगा? परतंत्र अर्थात् धागे के अधीन हुआ धागे का रंग कपड़े के रंग का कारण बन सकता है, स्वतंत्र होकर नहीं बन सकता। इसलिये इसमें स्वतंत्र शब्द बहुत ज़रूरी है।

'धर्माणाम्' का अर्थ कर दिया 'आत्मनाम्'। आत्माओं की न द्रव्यता युक्तिसिद्ध है न अन्यता। अन्यत्व अर्थात् द्रव्य से अन्य गुण क्रिया भी सिद्ध नहीं होते हैं जिससे कि दूसरे का कारण या कार्य वह बने। इसलिये अद्रव्य और अनन्य होने से अर्थात् सबसे एक होने से आत्मा न किसी का कारण और न कार्य है। अनन्यता किससे सिद्ध करोगे? सन्मात्रता से ही सिद्ध होगी। सभी चीज़ें 'है' से अन्वित होती हैं। 'है' आत्मा हुआ और वह किसी से भिन्न नहीं हो सकता। सबके साथ उसकी अभिन्नता है।

न्याय वैशेषिक का खण्डन हो गया कि तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार भी बताओ कि आत्मा को कार्य-कारण कैसे मानोगे? उनकी अपनी दृष्टि से भी कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। नैयायिक का कहना यह था कि 'हम आस्तिक हैं, हमें भी समझाओ।' उससे कह दिया कि तुम्हारे ही शास्त्र में जन्य-जनक-भाव की सिद्धि नहीं होती। यह तुम्हारे ही सिद्धान्तानुकूल न होने से तुमने ज़बर्दस्ती मान रखा है। इसमें वेदांती की गूढ अभिसंधि यह है कि आत्मा को व्यापक मानने वाले कणाद और गौतम वेदांती ही थे। यदि उन्हें वेदांत से भिन्न कोई मतवाद इष्ट होता तो उन्होंने आत्मा को व्यापक न माना होता। वे प्रवृत्त हुए थे बाह्य जगत् का विश्लेषण करने के लिये। बाहर कोई पदार्थ व्यापक है नहीं इसलिये अव्यापक चीज़ों के नियम बनाये। आत्मा को व्यापक कहा है। आत्मा के विषय में तो वे यह मानते थे कि वेदांत सिद्धान्त ठीक है। बाह्य विषयों की मीमांसा उन्हें करनी थी क्योंकि बाह्य जगत् के विषय में वेदांत कुछ नहीं कहेगा, उसका उससे कोई प्रयोजन नहीं है। यदि ऐसा न होता तो कणाद गौतम आदि ने परिष्कार कर रखा होता। नहीं किया तो मतलब है कि जैसा आत्मा के विषय में वेदांत कहता है वही ठीक है।

आस्तिक दर्शनों का लक्षण आत्मा की व्यापकता को स्वीकार करना, अज्ञान के कारण जगत्-प्रतीति मानना और आत्मज्ञान से उसकी निवृत्ति मानना। इसमें छहों आस्तिक दार्शनिकों का कोई मतभेद नहीं है। आत्मज्ञान कैसे होगा— इसमें मतभेद है। न्याय वैशेषिक कहते हैं कि अनात्मा को जान लोगे, तो फिर उनसे विलक्ष आत्मा समझ आयेगा। सांख्य योगी कहते हैं कि मन की वृत्तियों को जान लोगे तो आत्मा को उनसे अलग जान लोगे। मीमांसक आत्मज्ञान का मतलब आत्मोपासना लेता है और कर्मोपासनासमुच्चय से मोक्ष मान लेता है। वेदांत कहता है कि साक्षात् ही ब्रह्मरूप से आत्मा को जानना है।।५३।।

Scanned by CamScanner

यह व्यवहारसिद्ध है कि जिसे बनाना चाहते हैं उस घट आदि की जानकारी से वह घट आदि उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर फिर अपना प्रत्यक्षादि ज्ञान पैदा कर देता है। अतः ज्ञान अर्थात् चित्त और बाह्य पदार्थों में परस्पर कार्यकारणभाव देखने में आ रहा है तो इसे मना कैसे करते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वाऽपि न धर्मजम् ।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ।।५४।।

पूर्वोक्त विस्तृत विचार से जब निश्चित हो गया कि विज्ञानस्वरूप आत्मा ही चित्त है तब यह नहीं हो सकता कि बाह्य पदार्थ चित्त से और चित्त बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हो, क्योंकि तब चित्त का जाति-सम्बन्ध हो जायेगा जिससे वह अज आत्मा का स्वरूप नहीं रह सकेगा। इसी तरह धर्मादि हेतु से देहादि फल और देहादि फलों से धर्मादि हेतु भी पैदा नहीं होते। ब्रह्मवेत्ता यह निश्चय रखते हैं कि आत्मा में हेतु और फल का अभाव ही है।

जो हेतु पहले बता दिये कि आत्मस्वरूप निर्विकार है, द्रव्य नहीं है इत्यादि, इन्हीं हेतुओं से चित्त तो केवल आत्मस्वरूप, विज्ञानस्वरूप ही है। उससे पैदा कुछ नहीं होता। ऐसा होने के कारण जो बाह्य धर्म या पदार्थ घट आदि या ज्योतिष्टोम आदि हैं, वे चित्त अर्थात् आत्मा से उत्पन्न होने वाले नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि जीव परमात्मा से जन्म ले यह बनता नहीं है और न बाह्य धर्मों से चित्त ही पैदा होगा कि घट हो तब घटज्ञान हो। क्यों नहीं होगा? क्योंकि जीव प्रतिबिम्ब की तरह हैं। जैसे प्रतिबिम्ब दिखाई देता है लेकिन है बिम्बरूप। उसी प्रकार ये जीव दिखाई देते हैं, हैं ब्रह्मरूप। बिम्ब प्रतिबिम्ब बनता थोड़े ही हे। बिम्ब प्रतिबिम्ब बनने पर कोई बदल थोड़े ही गया। हमारे सामने काँच आ गया तो हुआ क्या? बिम्ब में कोई परिवर्तन थोड़े ही आ गया। इसी प्रकार केवल विज्ञानस्वरूप की प्रतीतिमात्र सारे जीव हैं। 'हेतुफलाजातिम्' का समास खोल लो तो अर्थ होगा कि हेतु से फल उत्पन्न नहीं होता और न फल से हेतु उत्पन्न होता है। हेतु और फल दोनों की अजाति भाष्यकार बता रहे हैं। ऐसा वे मनीषी ब्रह्मवेत्ता लोग निश्चय कर लेते हैं। इसलिये आत्मा में न हेतुरूपता है और न फलरूपता है। इन दोनों के अभाव की प्रतिपत्ति अर्थात् इनका ज्ञान ब्रह्मवेत्ताओं को हो जाता है, यह तात्पर्य है।।५४।।

●

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ।।५५।।

न फल से हेतु और न फल हेतु से उत्पन्न होता है यह तत्त्वदृष्टि से बता दिया। अब जो अभी मुमुक्षु हैं, तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, उनके मन में तो अभिनिवेश बैठा हुआ है

Scanned by CamScanner

कि शुभ कर्म करेंगे तो पुण्य होगा, उससे शुभ वृत्तियाँ बनेंगी, सुख मिलेगा। पाप करेंगे तो दुःख होगा। ऐसा आग्रह किये बैठे हैं। उनका यह अभिनिवेश जब तक है तब तक इस आग्रह के होने और न होने से उत्पत्ति अनुत्पत्ति होती रहती है।

'यावत्' से दोनों ले लेना कि जब जब और जो जो कार्य-कारण-भाव जमा हुआ है; जैसे वैदिकों को जमा हुआ है कि ज्योतिष्टोम करेंगे तो स्वर्ग जायेंगे। ऐसे ही घर की औरतों को जमा हुआ है कि गंगा स्नान करेंगे तो स्वर्ग जायेंगे। ऐसे ही मारवाड़ के लोगों को जमा हुआ है कि बद्रीनारायण का दर्शन करेंगे तब मुक्ति होगी। जिस जिस को जब जब जो जो जमा हुआ है— जैसा पहले बताया कि जिस गुरु ने जो दंडा पकड़ा दिया वही पकड़कर चल रहे हैं— तब तक उन्हीं उन्हीं कारणों से वे वे कार्य होते रहेंगे।

एक प्रत्यक्ष चीज़ देखने में आती है : आज अच्छे अच्छे आस्तिकों को बताते हैं कि सोमयाग में सत्रह पशुओं की बलि देनी होती है तो यह सुनते ही आस्तिक लोग काँप उठते हैं और हमसे यही कहलाना चाहते हैं कि 'बलि तो बुरी चीज़ है।' लेकिन शतपथ ब्राह्मण में जब महर्षि याज्ञवल्क्य से सब ऋषि मिलकर प्रश्न करते हैं कि 'इस यज्ञीय बलि के अन्दर क्या कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता?' तब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'तुम चाहे जितना झगड़ा करो मैं बलि दूँगा ही।' उन्हें दृढ अभिमान है, नहीं तो विस्तार से इतना वर्णन थोड़े ही करते। कुछ लोग कह देते हैं कि 'गेहूँ चावल की बलि कर दो', और गेहूँ चावल का बकरा भी बना देते हैं! उसमें तो लिखा है कि उसका यकृत निकालकर अमुक मंत्र से हवि देनी है, इसी प्रकार हृदय निकालकर, फेफड़ा निकालकर हवि देनी है, उन सबके अलग अलग मंत्र हैं। लेकिन आज के मनुष्यों को हेतुफल का आग्रह है कि किसी प्राणी को मारना पाप है। अब यदि याग में उनसे पशु मरवाओगे तो उन्हें पाप ही लगेगा क्योंकि अपने को सोच रहे हैं कि 'पाप कर रहे हैं।' प्राचीन सिद्धान्ती का निश्चय है कि यज्ञीय हिंसा पाप नहीं है, उसे उसी सोमयाग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है।

आज से पचास साल पहले किसी मुसलमान के बर्तन में खाने वाले को खाते ही निश्चय था कि 'मैं हिन्दू नहीं रहा' और आकर प्रायश्चित्त पूछते थे। और आज मुसलमान के साथ बैठकर प्रेम से एक थाली में खाने में भी फलावेश नहीं होता कि भ्रष्ट हो गये। उलटा कहते हैं कि 'कुएँ में गौ की हड्डी डाल देते थे। कोई उस कुएँ का पानी ग़लती से पी लेता था तो ब्राह्मण भी उसे ज़बर्दस्ती कहते थे कि 'भ्रष्ट हो गया'। यह ग़लत करते थे।' क्योंकि वे आज की दृष्टि से बोल रहे हैं।

लोग कहते हैं 'काश्मीर के मुसलमान हिन्दू बनना चाहते थे, हिन्दुओं ने ग़लती की जो नहीं बनाया।' ठीक इसी प्रकार आज से पाँच हज़ार साल बाद कोई कहेंगे कि 'काश्मीर में मुसलमान रहते थे, पाकिस्तान चाहता था तो दे देना चाहिये था।' तब अगर

Scanned by CamScanner

राष्ट्रवाद (Nationalism) की जगह मानवतावाद (Humanism) आ गया तो कहेंगे कि 'वे कितने मूर्ख लोग थे! बेकार इतने आदमियों को मरवा दिया।' जैसे आज हम लोगों को लगता है कि काशी के ब्राह्मण मूर्ख थे, मुसलमानों को अपने साथ मिला क्यों नहीं लिया; अथवा काश्मीर दे क्यों नहीं दिया। अगर राष्ट्रवाद (Nationalism) ज्यादा बढ़ा तो कहेंगे कि 'कितने मूर्ख लोग थे कि जीता जिताया बंगला देश वापिस दे दिया, अपने में मिला क्यों नहीं लिया?'

वेदांत कहता है कि अगर तुम्हारा आग्रह है कि मांस खाने से पाप लगेगा तो मत खाओ। हमारे अंदर पाप की वृत्ति नहीं, तो तुम्हारे कहने से कुछ नहीं होगा। यह आधारभूत सिद्धान्त हुआ कि व्यवहार में जिसका जिस चीज़ में जैसा चल रहा है वैसा 'हाँ जी, हाँ जी' कर लेना चाहिये। पूर्व मीमांसक पर यह दंडा बड़ा ज़बर्दस्त है। लेकिन व्यवहार में यह सीमित ही हो सकता है। जब तक जैसी जैसी धर्म-अधर्म और उससे उत्पन्न होने वाली पुण्य-पाप की वृत्ति है तब तक वैसा ही होता रहेगा।

संन्यासी के सर्वकर्मसंन्यास पर जो इतना ज़ोर दिया वह इसीलिये कि यदि संन्यासी भी यह मानने लग जायेगा तो यह तत्त्वज्ञान कभी नहीं होना है। 'अमुक काम करूँगा तो पुण्य और अमुक करूँगा तो पाप है' इसका मतलब है कि उसका हेतु-फलावेश हटा नहीं। यदि कहो कि 'करता है लेकिन मन से सोचता है नहीं है' तो यह तो गृहस्थ भी कर लेता है, वह भी यह कहता है कि 'करता हूँ, मानता नहीं'। पहले जब तक करना नहीं छोड़ोगे तब तक अंदर से मानना जाता नहीं। विश्वेश्वरीय ग्रंथ 'यतिधर्मसंग्रह' के अन्दर बताया है कि यदि संन्यासी किसी दिन संध्या कर ले तो उसका क्या प्रायश्चित्त करे, क्योंकि फिर पुराना हेतुफलावेश आ गया। ब्राह्मण है, बुड्ढा है, सांठ साल तक गृहस्थी रहा, संध्या-वंदन करता रहा। साठ साल बाद संन्यास ले लिया तो एक दिन भूल जाता है और फिर करने बैठ जाता है। फिर किसी ने कहा कि 'साधु बन गया, फिर संध्या क्यों करता है?' तो वह उसका प्रायश्चित्त करता है। दूसरा समझता है कि अच्छा किया, भगवान् का भजन पूजन ही करता है। लेकिन हेतुफलावेश हो जायेगा कि यह अच्छा और यह बुरा काम है। इसलिये सर्वकर्मसंन्यास करके जब कुछ नहीं करेगा तब धीरे धीरे जो अभिनिवेश हुआ है वह हटेगा, नहीं तो अन्दर बैठा रहेगा।

जब यह हेतुफल, धर्म-अधर्म से शरीरों की प्राप्ति रूप जो आवेश है, वह क्षीण हो जाता है तब फिर धर्म अधर्म और शरीर आदि की उत्पत्ति भी नहीं है। यह श्लोक महाकठिन श्लोक है! समझने में कठिन नहीं है, लेकिन निश्चय रहता है कि ज़रूर कुछ अच्छा और ज़रूर कुछ बुरा काम होगा।

तत्त्वदर्शियों की बात कही कि मनीषी लोग हेतुफल की अजता जान लेते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि जो हेतुफल को दृढता-पूर्वक मानने वाले हैं, उसमें पूर्ण आग्रह वाले

Scanned by CamScanner

हैं, उनको भी फिर जन्मांतर की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि आप कहते हो कि है ही नहीं। यह शंका प्राप्त होने पर कहते हैं कि ऐसा नहीं। जब तक यह रहेगा 'मैं धर्म और अधर्म का कारण हूँ; मैंने सत्य बोला तो धर्म और झूठ बोला तो पाप कर लिया, इसका कारण मैं हूँ; मैं कर्त्ता इस क्रिया को करूँगा; मैं नहीं हूँ तो यह शव कैसे कर सकता है? इसलिये यह धर्म अधर्म मेरा है।' तब तक उसका जो फल होना है वह किसी कालान्तर में किसी प्राणिशरीर में पैदा होकर होगा ही। चाहे वह इन्द्र के पद पर हो चाहे कुत्ते में हो। धर्म किया तो इन्द्र और अधर्म किया तो कुत्ता होकर पैदा हो जायेगा।

महाभारतकार कहते हैं कि पाप करने से भी ज्यादा दोष पाप कराने वाले को लगता है। जैसे तुम्हें कहा कि 'इसे मार दो', तो तुमसे ज्यादा पाप हमें लगेगा क्योंकि प्रवर्तक हेतु हैं। भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर से झूठ बुलवाया। लेकिन युधिष्ठिर नरक गये और कृष्ण नहीं गये। कारण यह है कि कृष्ण जानते थे कि 'मैं हेतु नहीं हूँ', कृष्ण ज्ञानी थे। लेकिन युधिष्ठिर ज्ञानी तो थे नहीं, यह मानते रहे कि 'काम तो मैंने ग़लत ही किया।' इसलिये उन्हें जाना पड़ा।

इसी प्रकार 'धर्म से इन्द्र और अधर्म से कुत्ता होकर पैदा हो जाऊँगा और वहाँ जाकर फल भोगूँगा' जब तक यह हेतुफलावेश रहता है अर्थात् आग्रह रहता है तब तक यह काम चलता रहता है। आग्रह है, आत्मा पर अध्यारोपण कर देता है कि आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही फल भोग करेगा। यह ज़बर्दस्ती आत्मा के माथे चढ़ा दिया गया है।

यह नहीं हो सकता कि पाप का आग्रह छूट जाये और पुण्य का रह जाये। कहने से नहीं होगा। पाप करके तो बचना चाहते हो लेकिन पुण्य करके भोगना चाहते हो तो यह नहीं बनेगा। केवल पाप के फल से बचना चाहते हो तो नहीं होगा। इसलिये कहते हैं जब तक यह है कि 'मैं करने वाला और इस कर्म का यह फल होगा' तब तक हेतु और फल का उद्भव भी होता रहेगा। जब तक यह आग्रह है तब तक धर्म, अधर्म उसका फल शरीर कभी छूटने वाला नहीं है।

इसलिये हे पूर्व मीमांसक! तुमने बात बिल्कुल ठीक कही, कर्मफल अवश्यंभावी है, लेकिन आगे जो कहा कि इसका भोगने वाला आत्मा है, वह ठीक नहीं है। उतने अंश में तुम गड़बड़ी कर गये। आत्मा बीच में कहाँ आ गया? शरीर आदि ही करने वाले और भोगने वाले हैं। बीच में इस प्रवाह को कोई रोकना चाहे तो नहीं रोक सकता।

लोगों को ग्रहावेश हो जाता है। किसी को माँ भूत बनकर आती है, किसी को बाप भूत बनकर, किसी को सास भूत बनकर या 'देवी' भूत बनकर आती है। वह उसी

Scanned by CamScanner

ग्रह वाला होकर कहता है कि 'मैं काली हूँ', या अपनी सास के नाम से कहते हैं कि 'मैं अमुक हूँ'। आजकल की भाषा में इसे schizophrenia कहते हैं। कहते हैं नेहरू जी एक बार रांची के मानसिक अस्पताल में गये। वहाँ उन्होंने एक पागल से पूछा 'तेरा नाम क्या है?' वह उलटा पूछने लगा कि 'तू बता तेरा क्या नाम है?' उन्होंने कहा 'मेरा नाम जवाहर लाल नेहरू है।' वह पागल कहता है कि 'घबरा नहीं, ठीक हो जायेगा। मैं जब यहाँ भरती हुआ था तो मेरा नाम मोतीलाल नेहरू था, इसलिये तू ठीक हो जायेगा।' ग्रहावेश होने पर उसपर मंत्र आदि का प्रयोग करो तो चला जाता है अथवा दवाई दो तो चला जाता है।

जैसे इनके प्रभाव से ग्रहावेश हट जाता है वैसे ही ऊपर बताये हुए अद्वैत दर्शन के द्वारा हेतुफल का जो आग्रह आज तक तुम्हारे ऊपर चढ़ा हुआ है, वह हट जायेगा। कर्त्ता भोक्ता कौन है? जैसे वह मोती लाल नेहरू बन गया, वैसे ही ये हेतुफलावेश में आग्रह वाले बनकर कष्ट पा रहे हैं। लेकिन जिस क्षण में अर्थात् जैसे ही वह आवेश सकारण क्षीण हो जाता है तो फिर न धर्म, न अधर्म और न उससे उत्पन्न होने वाला शरीर है; उसी क्षण दोनों की निवृत्ति हो जाती है।।५५।।

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ।।५६।।

जब तब ज्ञान के द्वारा यह हेतुफलावेश नहीं हटा है तब तक यह जन्म-मरण का चक्र बढ़ता ही रहता है। 'इस कर्म का यह फल होगा' जब यह हेतुफलावेश ज्ञान के द्वारा क्षीण हो जाता है तो फिर उसे जन्म-मरण की प्रतीति नहीं होती। इस अभिनिवेश को ही हटाना है।

पूर्वमीमांसक ने कहा कि हेतुफल को चलता रहने दो, इसमें कोई दोष तो है नहीं। कहते हैं दोष है। जब तक सम्यक् दर्शन से यह कार्यकारण-भाव निवृत्त नहीं हो जाता तब तक संसार क्षीण नहीं होता, जैसा है वैसा ही बना रहता है। रोज़ रोज़ नये नये धर्म अधर्म बनते रहते हैं। आज से सौ साल बाद जो सन्तोषी का व्रत नहीं करेगा तो लोग कहेंगे 'यह ठीक नहीं।' जैसे कोई पौराणिक व्रत छोड़ दिया हो। जितने ये पुण्य बढ़ेंगे, उतना पाप ज्यादा बढ़ना है, क्योंकि जितनों को धर्म कहोगे उतने अधर्म बढ़ ही गये। हज़ार धर्म हो गये तो उनको न करने से अधर्म भी हज़ार हो जायेंगे। जब धीरे धीरे दस हज़ार धर्म कर लिये तो न करने से उतने ही अधर्म हो गये। इसलिये यह संसार दीर्घ होता जायेगा, यही नुक्सान है।

Scanned by CamScanner

जब हेतुफलविवेश क्षीण हो जाता है तो फिर संसार के जन्म-मरण के चक्र की प्रतीति नहीं रहती क्योंकि कारण अभिनिवेश हट गया।।५६।।

अब बीच में कोई बौद्ध बोल पड़ा कि अभी तो आप कह रहे थे कि एक अज ब्रह्म है और अब आप कहने लग गये कि जब तक ज्ञान नहीं होगा तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। तब तो आपने उत्पत्ति भी मान ली और जन्म मरण संसार को भी मान लिया। उसका जवाब देते हैं—

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ।।५७।।

यह जो हमने कहा कि 'संसार लम्बा होता चला जाता है' यह अविद्या से होता है। हमने यह कहाँ कहा कि संसार सचमुच बढ़ता है? अविद्या से ही बढ़ने के कारण ही यह कहा कि जब तक ज्ञान नहीं तब तक यह संसार हमेशा चलता रहता है, लेकिन अविद्या से। शाश्वत है ऐस हमने नहीं कहा। वस्तुतः तो सब अज है अतः हेतु फल आदि किसी का विनाश भी नहीं है।

अविद्या के कारण लगता है कि 'यह शरीर मिला है तब ज़रूर कर्म किये होंगे।' धर्म अजात हैं और फिर भ्रान्ति है कि 'अब कर रहे हैं तो आगे फिर होगा।' स्वप्न में भी तो ऐसा ही लगता है कि ऐसे ही चला आया है। वहाँ भी नौ बजे एक काम और नौ बजकर दस मिनट पर दूसरा काम होता है। लगे हुए हैं लोग! हिमालय कब पैदा हुआ? हज़ारों लाखों रुपये लगाकर पता लगा रहे हैं कि है तो कब पैदा हुआ है? उनसे पूछो कि पहले अपने ही जन्म का समय बताओ? ज्योतिषी लोग भी पूछते हैं कि जन्म का ठीक समय बताओ। उनसे पूछो कि 'सिर बाहर निकलने को जन्म मानते हो या पैर निकलने को जन्म मानते हो? उतना ही नहीं, सिर भी एक बार बाहर नहीं निकलता, एक बार निकलकर फिर अन्दर चला जाता है। या बीज वाला, गर्भाधान वाला काल लें?' कहते हैं यह तो कहीं नहीं लिखा है। फिर ठीक समय से क्या होना है? कोई भी समय मान लो और कुण्डली बना लो। मिलनी होगी तो मिल जायेगी। मिल जायेगी तो तुम्हारा चेला बन ही जायेगा, नहीं मिलेगी तो वह अपना भोगे।

इसलिये कहते हैं कि बिना ज्ञान हुए यह नष्ट इसलिये नहीं होता कि जब तक किसी भी चीज़ के साथ तुम सत्ता का सम्बन्ध रखोगे तब तक वह अज है। जब तुम्हें प्रतीत हो रहा है कि 'यह धर्म है', तो वह शाश्वत लगेगा। इसलिये धर्म अधर्म को किसी धर्म के द्वारा अछूता करना चाहोगे तो कभी नहीं होना। यह होगा तो इस ज्ञान से ही होगा। जिस चीज़ के साथ सत् को लगा दोगे तो वह फिर अज ही रह गई। अज हो

Scanned by CamScanner

गई तो फिर अज का नाश हो नहीं सकता। इसलिये जब तक कर्म चलता रहेगा, हेतुफलावेश— धर्म-अधर्म बने रहेंगे, तब तक तत्त्वनिष्ठा नहीं होगी।

भाष्य में श्लोक का अवतरण करते हैं कि यह तो पूर्वापर विरोध हो गया। तुमने कहा था कि अज आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है तो फिर किस प्रकार कार्य-कारण-भाव और संसार की उत्पत्ति और विनाश कह रहे हो? ज्ञान हुआ तो विनाश और नहीं हुआ तो संसार की उत्पत्ति, ये दो बातें विरुद्ध कह कैसे दीं? उत्तर देते हैं, मन को एकाग्र करके सुनो, हमने क्या कहा। हमने यह कब कहा कि आत्मा का जन्म और विनाश होता है? वह तो कूटस्थ है। न उससे भिन्न किसी की उत्पत्ति बताई। यदि किसी भिन्न को बताया होता तब तो दोष आ जाता। वह अद्वितीयता वैसी की वैसी जन्मरहित है, आत्मा की उत्पत्ति विनाश, दोनों को हमने नहीं बताया। एकाग्र होकर सुनो, हमने तो यह बताया है : संवृति से उत्पत्ति है।

'संवृत्या' का अर्थ कर दिया संवरण अर्थात् सिकोड़ लेना। इसलिये अविद्या का विषय ही संवृति हुई अर्थात् जिसको अविद्या विषय करे। वह लौकिक व्यवहार को विषय करेगी। उस अविद्या के द्वारा यह सब उत्पन्न होता हुआ दीख रहा है। जहाँ जहाँ अविद्या रहेगी वहाँ वहाँ यह दर्शन भी होता रहेगा। चूँकि अविद्या का विषय सारे लौकिक व्यवहार हैं इसलिये ये शाश्वत नहीं हो सकते। जो अविद्या का विषय होता है वह नित्य नहीं हुआ करता। इसलिये हमने कहा कि अविद्या के द्वारा उत्पन्न होने के कारण ही यह संसार जो उत्पत्ति-विनाश-लक्षण वाला है, वह दीर्घ होता रहता है। बिना अविद्या के नहीं होता। सत्ता की दृष्टि से तो सब कुछ अज आत्मरूप ही है। चूँकि संसार का जन्म हमने सच्चा कहा नहीं इसलिये इसका सच्चा नाश भी नहीं हो सकता। यदि सच्चा संसार जन्मा होता तो किसी धर्म से इसका नाश भी कर देते। यह तो केवल कल्पना से उत्पन्न होता है। इसलिये कल्पना को, अविद्या को, छोड़ना ही विनाश का हेतु है।

जैसे सामने रस्सी में साँप किसी को दीख रहा है, हमें नहीं दीख रहा है। फिर भी हम कहते हैं कि 'यह सर्प नहीं रस्सी है'। इस प्रकार कहने वाले को तुम कहो कि 'कुछ तो इसे भी साँप दीखा होगा, तब कह रहा है कि साँप नहीं है, नहीं तो काहे के लिये कहता!' यह प्रश्न बेकार है। जिसको साँप दीख रहा है उसके लिये वाणी का उच्चारण है। इसी प्रकार जिन्हें अविद्या-प्रतीति है उनके लिये यह बात कही है। इसलिये कहने वाले को भ्रांत नहीं कह सकते। भ्रांत पुरुष तो अपने ही अपराध से साँप की कल्पना कर डर से भाग रहा है। वह जब कह रहा है कि 'साँप दीख रहा है' तो स्वकीय अपराध से। इसलिये विवेकी और अविवेकी दोनों में फ़रक है। अविवेकी मूढ है। इसलिये व्यवहार-सिद्ध जन्म आदि और परमार्थ कूटस्थ अज मानने वाले के लिये यह विरोध नहीं है। वास्तविक न जन्म है, न उच्छेद। जिसे जन्म की प्रतीति है उसके लिये शास्त्र और आचार्यों का उपदेश है। अतः पूर्वापर विरोध नहीं।।५७।।

Scanned by CamScanner

संवृति अर्थात् अज्ञान से सब पैदा होता है यह जो कहा उसी को स्पष्ट करते हैं—

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ।।५८।।

जो तो ऐसी कल्पना है कि जीवात्मा उत्पन्न होता है, उसमें भी जीवात्मा तत्त्वतः सचमुच पैदा नहीं होता। कहोगे कि 'हम लोगों को प्रतीति कैसे होती है कि इसका जन्म होता है?' लेकिन जन्म नहीं होता हमने यह कब कहा? हमने कहा कि तात्त्विक दृष्टि से पैदा नहीं होता। मायिक जन्म तो मानते ही हैं। जैसे रस्सी में साँप का जन्म, इसे ना नहीं करते। उन धर्मों की उत्पत्ति माया से है। 'तो फिर क्या कोई माया है जो पैदा करती है? जैसे राम के साथ सीता, ऐसे ही ब्रह्म के साथ माया बैठती होगी?' माया शब्द का अर्थ है 'न विद्यते' नहीं है इसी का नाम माया है। जो दीखे और देखने जाओ जो पता लगे कि नहीं है, यही माया है। कोई चीज़ नहीं जो ब्रह्म के साथ बैठी रहे! जैसे राम के साथ सीता बैठी है ऐसा नहीं है।

हम लोग तो आत्मा से दूसरे जीवात्मा पैदा होते हैं इस प्रकार की कल्पना करते हैं, वह किस प्रकार से करते हैं? ऊपर कही हुई संवृति से निर्देश करते हैं। 'संवृत्या जायते सर्वम्' अर्थात् अज्ञान से उन जीवों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार लौकिक माया से जन्म होता है वैसे ही यहाँ माया से उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये। माया नाम की कोई चीज़ हो जो किसी को सचमुच संसार के रूप में पैदा करती है, सो कुछ नहीं है। माया कोई चीज़ नहीं है। माया मायने 'न विद्यते'। उसी को स्पष्ट कर दिया 'मायेत्यविद्यमानस्याख्या' कि जो चीज़ मौज़ूद नहीं होती है उसकी आख्या, उसका एक नाम माया है। 'यह चीज़ मायिक है' अर्थात् नहीं है, यह अभिप्राय है।।५८।।

●

यथा मायामयाद् बीजाज्जायते तन्मयोङ्कुरः ।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ।।५९।।

पूर्व श्लोक के 'जन्म मायोपमम्' को खोलकर कह रहे हैं। जैसे मायामय बीज से मायामय अंकुर ही उत्पन्न होता है। उसे न नित्य कह सकते हैं और न नाश वाला कह सकते हैं। उसी प्रकार न जीवात्माओं को तुम नित्य कह सकते हो और न नष्ट होने वाला कह सकते हो। मायिक होने से जब है ही नहीं तो न नित्य और न नष्ट होने वाला कह सकते हैं।

माया की उपमा से उन धर्मों का जन्म होता है यह कैसे कहते हो? मायामय आम इत्यादि का जो बीज है उससे तन्मय अर्थात् मायामय अंकुर पैदा हो जाता है। उस अंकुर

Scanned by CamScanner

को नित्य भी नहीं कह सकते हो क्योंकि उस बीज से पैदा दीख रहा है। और न उस अंकुर का नाश होता है, क्योंकि हुआ ही नहीं तो नाश क्या होगा! इसी प्रकार सभी प्राणियों के, जीवात्माओं के जन्म नाश आदि का सम्बन्ध है। पारमार्थिक दृष्टि से न उन जीवों का जन्म होता है और न वे नष्ट होते हैं।।५९।।

●

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ।।६०।।

जितने भी धर्म या चित्त हैं वे सारे के सारे अज हैं। इसलिये न उन्हें नित्य कह सकते हो और न अनित्य कह सकते हो। नित्य अनित्य दोनों कथा उसे विषय नहीं कर सकतीं। जहाँ शब्दों की गति ख़त्म हो जाती है वह आत्मतत्त्व है। वहाँ हम तुम्हें नित्य अनित्य ऐसा विवेक करके कैसे बतायें? नित्य कहें तो मोक्ष असम्भव, अनित्य कहें तो मोक्ष असम्भव। नित्य कहें तो बंधन असम्भव, अनित्य कहें तो बंधन असम्भव। इसलिये नित्य-अनित्य मानने से मोक्ष व बंध की व्यवस्था बनती ही नहीं।

सच्ची बात पूछने पर तो आत्मा अज है, नित्य एकरस है, विज्ञप्तिमात्र ही उसकी सत्ता है। इसलिये शाश्वत, नित्य अनित्य कोई भी शब्द वहाँ प्रवृत्ति नहीं कर सकता। अविद्या की दृष्टि से यदि अनित्य मानते हो तो नित्य समझा देते हैं, अविद्या की दृष्टि से जो नित्य मानने वाले होते हैं उन्हें बता देते हैं कि उस दृष्टि से नित्य भी नहीं कह सकते। लेकिन वह दोंनों से परे है। 'वर्णाः' का अर्थ कर दिया शब्द। व्युत्पत्ति कर दी कि जिनसे वर्णना होती है अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थों का वर्णन होता है। शब्दों के द्वारा ही पदार्थों का वर्णन होता है। वे शब्द उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं, अर्थात् उसको बताने में, प्रकाशित करने में उनकी सामर्थ्य नहीं है। विवेक का मतलब होता है पृथक् करके निश्चय— यह नित्य ही है या अनित्य ही है। जहाँ दूसरे से अलग करके बताया जाये वह विवेक है। लेकिन उस आत्मतत्त्व 'में' कुछ है ही नहीं। जो जिस रूप को मानता है उसे उस रूप की प्रतीति होती रहती है। इसलिये वह नित्य अनित्य नहीं कहा जा सकता। तत्र अर्थात् आत्मतत्त्व के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। शब्दों से नहीं कहा जा सकता, इसमें श्रुतिप्रमाण दे दिया 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' उससे वाणी निवृत्त हो जाती है।।६०।।

●

Scanned by CamScanner

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।।६१।।

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ।।६२।।

ये दोनों श्लोक पहले (३-२९, ३०) आये हुए हैं। आत्मा में शब्द की गोचरता नहीं है, यदि ऐसा कहते हो तो व्याख्याता के द्वारा शब्द से ही इसका ज्ञान क्यों कराया जाता है? शब्द का विषय ही नहीं है और मानते हो 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', उपनिषदधिगम्य। उपनिषद् शब्द ही तो हैं। एक तरफ कहते हो शब्द का विषय नहीं और व्याख्याता शब्द के द्वारा ही उसका ज्ञान कराता है।

यह शंका होने पर पूर्व श्लोकों को पढ़ दिया कि यह तुम्हारे चित्त का स्पन्दनमात्र है। वह शब्दों का विषय नहीं। वह शब्दों का विषय है यह केवल तुम्हारा चित्तस्पन्दन है। बिना विचारे तो यह युक्ति बड़ी अच्छी लगती है लेकिन विचार करने पर यह युक्ति बेवकूफी की लगती है। प्रतिपाद्य और प्रतिपादक इस द्वैत को हमने सत्य कब कहा? हमने यदि कहा होता कि शब्दों से सचमुच प्रतिपादन होता है तब तो तुम्हारा कहना ठीक था। शब्दों के द्वारा तो जो तुमने मान रखा है वह मान्यता हट जाती है। बाकी विज्ञप्तिमात्र तुम्हारा स्वरूप वैसा का वैसा बना रहता है। जब हम किसी का ग्रहावेश मंत्र या औषधि से हटाते हैं तो कहते हैं 'ठीक हो जायेगा।' उसमें औषधि या मंत्र की प्रयोजनीयता है लेकिन ग्रहावेश उतर जाने पर उसका जो खुद का रूप है वही रह गया। था देवदत्त और आवेश में समझ लिया कि मैं हनुमान् जी हो गया। आवेश उतरा तो हनुमान् जी हट गये। किसी देवदत्त ने प्रवेश नहीं किया। उसी प्रकार जो मान्यता तुमने मान रखी है उसे शब्दों के द्वारा हटा दिया। उसके बाद विज्ञप्तिमात्र तो स्वयं ही स्फुट होता है।

इसमें दृष्टांत दिया कि स्वप्न में प्रतिपाद्य पदार्थ द्वैत अर्थात् घट भी और प्रतिपादक इंद्रिय, शब्द या गुरु भी चित्तस्पंद ही है। जाग्रत् में भी इसी प्रकार होता है। दोनों में कोई भेद नहीं है। कोई कहेगा कि इससे तो पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा; लेकिन वह दोष नहीं। वहाँ तो कहा था कि स्वप्न में जैसी असत्यता वैसी जाग्रत् में, और यहाँ कह रहे हैं कि प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव स्वीकार करना असत्य है। वस्तुतः जो अद्वय है उसे वाणी का गोचर मानना मन का स्पन्दमात्र ही है, सच्चा नहीं है।।६१-६२।।

●

वाणी का गोचरीभूत जो द्वैत है वह असत् है इसको समझाने के लिये स्वप्न का दृष्टांत आया। उसी को खोलते हैं।

स्वप्नदृक् प्रचरन् स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान् स्वेदजान् वापि जीवान् पश्यति यान् सदा ।।६३।।

Scanned by CamScanner

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ।।६४।।

स्वप्न को जो देखने वाला है वह स्वप्न में चारों तरफ घूमता हुआ दसों दिशाओं में ऊपर-नीचे, अगल-बगल सब तरफ देखता है। वहाँ जुएँ लीखें भी चलती हैं! स्वप्न में जिन जीवों को देखता है वे सब स्वप्न-द्रष्टा के चित्त के ही तो दृश्य हैं। स्वप्न-द्रष्टा के चित्त से भिन्न हुआ तो वहाँ कुछ है नहीं। उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा का चित्त भी तो उस स्वप्न-द्रष्टा का ही दृश्य है! यह तुम भी मानते हो। चित्त से भिन्न दृश्यों को भी देखता है और चित्त को भी वही देखता है। जैसे चित्तदृश्य होने के कारण दृश्यों को चित्त से अभिन्न मानते हो ऐसे ही स्वप्नदृक् का दृश्य होने से चित्त भी उससे पृथक् मत मानो।

जो स्वप्न को देखता है उसी को स्वप्नदृक् कहते हैं। स्वप्न स्थान में दसों दिशाओं में घूमता रहता है। वहीं दीखने वाले प्राणी कैसे हैं? अण्डज, स्वेदज इत्यादि प्राणियों को हमेशा देखता रहता है। ऊपर से इतना शेष-कर लेना कि वे हैं नहीं। स्वप्नद्रष्टा के द्वारा जो भेद वहाँ दीख रहा है उससे द्वैतभाव के मिथ्यात्व में क्या आया? स्वप्नद्रष्टा का जो चित्त है उस से वे जीव दृश्य हैं। वे स्वप्नद्रष्टा के चित्त से अलग नहीं हैं क्योंकि उसी से वे देखने में आते हैं। चित्त ही अनेक जीव आदि भावों के आकार से दीखा करता है। उस चित्त से पृथक् उनकी सत्ता नहीं है। चित्त से अपृथक् ही उनकी सत्ता है। चित्त ही अनेक जीव आदि भेद के आकारों से विकल्पित होता रहता है। उनकी उससे पृथक् सत्ता नहीं है।

उसी प्रकार द्रष्टा जैसे दृश्यों को देखता है वैसे ही चित्त को भी देखता है। इससे यह नहीं मान लिया कि सपने में द्रष्टा और चित्त ये दो पदार्थ हैं। वह जो स्वप्नद्रष्टा का चित्त है वह भी उस द्रष्टा का दृश्य ही है। इसलिये स्वप्नद्रष्टा से अतिरिक्त चित्त भी नहीं है। वहाँ दीखने वाले अण्डज स्वेदज आदि प्राणी चित्त से एक, और चित्त स्वप्नद्रष्टा से एक, यह क्रम बाँध दिया।।६३-६४।।

●

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान् स्वेदजान् वापि जीवान् पश्यति यान् सदा ।।६५।।
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ।।६६।।

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटा रहे हैं। वहाँ स्वप्न था, वैसे ही यहाँ जाग्रत् है। जाग्रत् अवस्था के अन्दर दसों दिशाओं के अन्दर अण्डजों और स्वेदजों को देखता है। जिनको देखता हैं वे जाग्रत्-चित्त के द्वारा देखे जाते हैं इसलिये वे जाग्रत्-चित्त रूप

Scanned by CamScanner

हैं। वह चित्त भी जाग्रत्-द्रष्टा के द्वारा देखा जाता है कि 'आज मेरा मन नहीं लगा।' अतः जाग्रत्-दृश्य भी द्रष्टा से पृथक् नहीं है।

जाग्रत् अवस्था में पुरुष जिन जीवों को अर्थात् कार्य-करण-संघातों को देखता है उनके अन्दर रहने वाली चेतना को थोड़े ही देखता है! कल्पना करता है कि चल रहे हैं तो ज़रूर जीवात्मा होंगे। अनुमान कर लेता है।

इन दो श्लोकों में अनुमान करके बता रहे हैं। जाग्रत् रहने वाले पुरुष के दृश्य जो दूसरे जीव हैं वे उस जाग्रत्-द्रष्टा के चित्त से भिन्न नहीं हैं, चित्त के द्वारा दीखने के योग्य होने से; जैसे स्वप्न के अन्दर स्वप्नद्रष्टा के चित्त द्वारा देखे जाने वाले जीव उससे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही जाग्रत् के दृश्य जीव जाग्रत् वाले के चित्त से भिन्न नहीं हैं।

दूसरा अनुमान है : वह जो जीव का ईक्षणरूप चित्त है वह भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है, द्रष्टा के द्वारा देखे जाने के कारण, स्वप्न के चित्त की तरह। बाकी अक्षरव्याख्यान तो जैसा दृष्टांत में वैसा यहाँ समझ लेना।।६५-६६।।

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति चोच्यते।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते।।६७।।

दृश्य और दर्शन दोनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं। दूसरे जीवादि को विषय करे तभी चित्त (दर्शन) कहा जाता है और चित्त से विषय किये जायें तभी दूसरे जीवादि (दृश्य) हुआ करते हैं। अतः इन्हें प्रत्येक को 'है' ऐसा क्या कहा जाये! ये स्वरूपतः हैं इसमें प्रमाण नहीं मिलता। तन्मतता अर्थात् दृश्यनिरूपित दर्शनता या विषयनिरूपित चित्तता ही वह दोष है जिससे सारा विभाग दीखता है।

चित्त और चित्त के द्वारा जो जाना जाता है चैत्य, वे एक दूसरे के दृश्य हैं। घटज्ञान को छोड़कर घट का ग्रहण नहीं होता और न घट के परामर्श के बिना घटज्ञान होता है। दोनों को अलग अलग करके दोनों का लक्षण नहीं कर सकते हो। किसी से पूछो 'घड़ा है इसमें क्या प्रमाण है?' तो कहता है 'घटज्ञान हुआ।' 'घटज्ञान ही हुआ इसमें प्रमाण?' तो कहता है 'घड़ा पड़ा हुआ है।' दोनों केवल अपने में लक्षणशून्य हो गये। घड़े में ज्ञान प्रमाण नहीं कह सकते क्योंकि तब पटज्ञान भी घट में प्रमाण होने लगेगा! इसलिये घट में प्रमाण घटज्ञान। और घटज्ञान में प्रमाण घट है। इस प्रकार दोनों का परस्पर ही वर्णन होगा, प्रत्येक तो लक्षणशून्य हो गये। तुम्हारे सिद्धान्त से ही इस प्रकार का विरोध आ रहा हैं। बताना यह है कि दृश्य और दर्शन एक दूसरे की अपेक्षा करके सिद्ध होते हैं। एक दूसरे से लक्षण करने जाओ तो एक दूसरे का अवच्छेद पड़ जाता है। इसलिय अन्योन्याश्रय होने के कारण न दृश्य है और न दर्शन है। प्रमाण से सिद्ध वे तब होते जब एक दूसरे से स्वतन्त्र उनका लक्षण होता।

Scanned by CamScanner

यह न्याय सर्वत्र लगता है। वेद क्यों प्रमाण है? भगवान् ने कहा, मनु ने कहा इसलिये। मनु का वाक्य क्यों प्रमाण? वेदानुकूल वाक्य है इसलिये। इस ढंग से दोनों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि प्रमाण न होने पर सम्भावना से भी प्रवृत्ति हो जाती है कि ऐसा मान लो, सम्भव हो सकता है। कई जने कह देते हैं कि 'चलो, निश्चय नहीं है ईश्वर है, लेकिन हो भी सकता है। अगर हुआ और संध्या नहीं की तो ठीक नहीं, इसलिये पन्द्रह मिनट संध्या कर लो तो तुम्हारा बिगड़ा क्या? यदि हुआ और संध्या नहीं की तो नरक मिलेगा।' लेकिन यहाँ तो दृश्य व दर्शन की सम्भावना भी नहीं बनती कि निरपेक्ष होकर सम्भव भी हो सकें। दृश्य बिना दर्शन के है यह सम्भव भी तो नहीं है।

जीव और चित्त दोनों ही चित्तचैत्य हैं अर्थात् चित्त के द्वारा जाने जाते हैं। अथवा 'जीवचित्ते' को ही समझा दिया कि चित्त से तो चित्त अर्थात् विषयज्ञान लेना और जीव चैत्य अर्थात् विषय हो गये। ये एक दूसरे के दृश्य और एक दूसरे को जानने वाले हो गये। जीव आदि विषय की अपेक्षा करके ही उसका नाम चित्त पड़ता है। जीव होंगे तभी चित्त की सिद्धि होगी। चित्त की अपेक्षा से आगे जीव आदि जितने दृश्य हैं वे आयेंगे। इसलिये वे एक दूसरें के दृश्य हो गये। इसलिये हम यह नहीं कहते कि कुछ है। न चित्त है और न चित्तेक्षणीय है। क्या है? इस बात को विवेकी नहीं कहा करते हैं। जैसे स्वप्न में न हाथी और न हाथी का चित्त है। ऐसे ही जाग्रत् अवस्था में भी विवेकी के लिये न पदार्थ और न उसमें रहने वाले जीव हैं। इतनी बड़ी बात कैसे कह दी? क्योंकि लक्षणशून्य हैं। इनका लक्षण नहीं मिलता। जिसके द्वारा किसी चीज़ को बताया जा सके वह लक्षणा अर्थात् प्रमाण होता है। चित्त और चैत्य दोनों ही प्रमाण से रहित हैं। जिस चीज़ का तुमने मत कर लिया अथवा निश्चय कर लिया, अध्यवसाय कर लिया, अभिनिवेश कर लिया, चित्त रूप से उसका निश्चय करके उसी को पकड़ लेते हो। जिसने चित्त पकड़ा उस चैत्य का निश्चय, जिसने चैत्य को पकड़ा उस चित्त का निश्चय। इसलिये भेद-कल्पना प्रामाणिक नहीं।

लौकिकों की और सारे परीक्षकों, दार्शनिकों की भी प्रमाण-प्रमेय-विभाग-प्रवृत्ति तभी है जब उनके एक मत को मान लो। जहाँ उनकी व्यवस्था को संदेह की दृष्टि से देखा तो उनका महल गिर जाता है! विचार करने पर कुछ नहीं रहता है। इसलिये लोग कहते हैं कि एक सिद्धान्त को पकड़ कर चलना। वह कहने का तात्पर्य ही यह है कि यदि दूसरे सिद्धांत की बात लगाई तो उनकी सिद्धान्त ताश के पत्तों की तरह बिखर जायेगा। घट का निश्चय किये बिना घट की सिद्धि नहीं, घटज्ञान नहीं, और न घट का निषेध करके घट का निश्चय है! यह अन्योन्याश्रय प्रसंग हो गया। इसलिये किस को तुम प्रमाण और किस को तुम प्रमेय मानोगे? यह बनता ही नहीं। घट में प्रमाण केवल ज्ञान को

Scanned by CamScanner

नहीं कह सकते, उसमें प्रमाण घटज्ञान है। घटज्ञान तब हो जब पहले घट सिद्ध हो। इसलिये अन्योन्याश्रय दोष को किसी प्रकार नहीं हटा सकते। जब तक ये दोष हैं तब तक प्रमाण प्रमेय नहीं बन सकते। तत्त्वानुभूति को या यथार्थज्ञान को तार्किक प्रमा मानते हैं किन्तु इन दोनों मान्यताओं की कमियाँ थोड़ा विचार करते ही दीख जाती हैं। इसी श्लोक के व्याख्यान में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने काफी स्पष्टता से इन बातों को समझा दिया है।।६७।।

●

अगर ऐसी बात है तो हमें ऐसी प्रतीति होती क्यों रहती है? हमने यह कब कहा कि दीखना बन्द हो जायेगा।

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।६८।।

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।६९।।

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।७०।।

इन तीन श्लोकों में समझाते हैं कि यह जो तुमको दर्शन या प्रतीति हो रही है, यहाँ जो अण्डज आदि जीव दीखते रहते हैं, इनके भेदग्राहक प्रमाण की किसी भी प्रकार से सिद्धि नहीं क्योंकि बिना पदार्थ के भी अन्यदर्शन सम्भव है। इसमें तीन दृष्टांत दिये। स्वप्न के अन्दर सारे जीव दिखाई देते हैं और स्वप्न में लगता है मेरे बेटा पैदा हुआ, मेरा बाप मर गया। इतने मात्र से क्या वहाँ बाप से बेटा पैदा हो गया? या रोगादि से बाप मरा? वैसे ही ये जितने जीव दीख रहे हैं, लगता है पैदा हो गये और फिर हो गया कि नहीं रहे।

दूसरा दृष्टांत दिया कि जब मायावी खेल खेल में गधा घोड़ा सब खड़ा कर देता है, तथा वहाँ कुछ नहीं है। ऐसे ही यहाँ सब कुछ है। जैसे आजकल टेस्ट ट्यूब में बच्चे पैदा कर दिये जाते हैं; पहले भी होता था, आजकल भी होता है। वे बच्चे पैदा होते दीखते हैं और मर भी जाते हैं। ये सारे के सारे यहाँ भी उस जैसे ही हैं, इनमें कोई फ़रक नहीं है। मायावी पहले मंत्र इत्यादि से भी जीव बना देते थे, आजकल मंत्र इत्यादि से नहीं तो औषधियों से बना ही लेते हैं, योगी अपनी सिद्धि से भी जीवों का निर्माण कर लेता है। जैसे वे निष्पन्न हुए भी, हैं नहीं। जैसे स्वप्न, माया और निर्मितक अण्डज आदि जीव पैदा भी होते हैं और मरते भी हैं, वैसे ही यहाँ भी मनुष्य आदि जीव जो दिखाई देते हैं वे बिना हुए ही चित्त की विकल्पनारूप ही हैं और कुछ नहीं है। संवित्

Scanned by CamScanner

से अतिरिक्त होकर अण्डज आदि परमार्थतः नहीं हैं क्योंकि उनकी सत्ता प्रतीति के अधीन है। जन्म आदि बिना हुए ही स्वप्नादिवत् प्रतीत होते हैं।।६८-७०।।

●

इसलिये सच्ची बात क्या है? इसे आगे बताते हैं—

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ।।७१।।

सच्ची बात यह है : व्यावहारिक सत्य के स्तर पर जीवों के जन्म मरण आदि हम स्वप्न आदि जीव की तरह मायिक कहते हैं। बीच में मत पूछो कि यह कैसे कह देते हो? श्रेष्ठ जो परमार्थ सत्य है वह यह है कि जीव कभी पैदा नहीं हुआ।

श्लोकार्थ पहले (३.४८) कह आये हैं। सत्य जन्म आदि का वहाँ भी निषेध और यहाँ भी निषेध है। वहाँ प्रकरण था वस्तुतः पैदा नहीं होते। यहाँ प्रकरण है कि व्यावहारिक दृष्टि से कभी पैदा होते हुए कह देते हैं तो भी समझ लेना कि पारमार्थिक उत्पत्ति नहीं है।।७१।।

●

फिर क्या है?

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसंगं तेन कीर्तितम् ।।७२।।

जो ग्राह्य और ग्राहक की प्रतीति कि घट ग्राह्य और मैं ग्राहक घट को जानने वाला हूँ, ये दोनों ही चित्त का स्पन्दन ही है और कुछ नहीं है। यह स्पन्दन होने पर भी चित्त स्वरूप से हमेशा ही निर्विषय है। इसलिये श्रुतियों में इसे 'असंगो ह्ययं पुरुषः' के द्वारा बताया गया है।

संवित् कल्पित दृश्य द्वारा उपहित रूप से दृश्य है इसलिये द्रष्टा से व्यतिरिक्त उसकी सत्ता नहीं है। संवित् का वस्तुतः दृश्यसम्बन्ध नहीं हैं, केवल उपहित रूप से है। जो कुछ भी ग्राह्य ग्राहक है वह सब चित्तस्पंदन ही है। वस्तुतः तो चित्त पारमार्थिक ही है। जिसको हम लोग साक्षी कहते हैं उसी को यहाँ चित्त बता दिया। साक्षी का ज्ञान उपहित होता है। घटज्ञान से उपहित साक्षी और घटज्ञानविशिष्ट प्रमाता। पारमार्थिक दृष्टि से चित्त आत्मा ही है। इसलिये सचमुच उसके साथ कभी उपाधि नहीं आती। निर्विषय होने से वह नित्य ही असंग है। इसीलिये श्रुति कहती है 'असंगो ह्ययं पुरुषः'। विषय के साथ हो तो विषय में उसका लेप भी हो। निर्विषय होने से चित्त हमेशा ही असंग है।।७२।।

●

Scanned by CamScanner

पूर्व श्लोक में बताया कि चित्त निर्विषय है, असंग होने के कारण। तब शंका होती है कि 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' तथा 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादि शास्त्र उसमें वेद की विषयता बताते हैं। जब ब्रह्म वेद का विषय है तो उसे फिर निर्विषय कैसे कह सकते हो? उसका जवाब अब देते हैं—

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः।।७३।।

जो पदार्थ कल्पित अविद्या के द्वारा होता है वह पदार्थ सचमुच नहीं हुआ करता। यदि वेद ने कहा होता कि हमारा विषय ब्रह्म है तब तो हो भी जाता। उलटा वेद ने कहा 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' वहाँ वेद भी अवेद हो जाता है। इसलिये कल्पित अविद्या के द्वारा ब्रह्म वेदों का विषय है, वस्तुतः नहीं। सचमुच यह वेद का भी विषय नहीं है। किसी ने कहा 'वेद चाहे उसे कल्पित संवृति का विषय माने, लेकिन वैशेषिक इत्यादि तो आत्मा को पारमार्थिक दृष्टि से ही अपने सिद्धांत का विषय मानते हैं।' उससे कहते हैं कि दूसरे शास्त्र यदि किसी प्रकार की कल्पना करते हैं तो उस कल्पना से हमारा ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से विषय नहीं हो सकता। दूसरों की विषयता हम मानते नहीं और अपनी विषयता का वेद स्वयं निषेध कर देता है। इसलिये अपनी पारमार्थिक दृष्टि से वह निर्विषय ही रह गया।

कोई शंका करता है कि चित्त के निर्विषय होने से असंगता है यदि ऐसा कहते हो तो भी असंगता सिद्ध नहीं होती क्योंकि शास्ता उपदेष्टा, शास्त्र वेद, शिष्य उपदेश ग्रहण करने वाला इस प्रकार के विषयों के मौज़ूद रहते हुए उसको असंग कैसे कह सकते हो?

कहते हैं यह दोष नहीं है। क्यों नहीं है? तुमने जो पदार्थ शास्त्र, शास्ता और शिष्य कहे, वे सारे के सारे अविद्या से कल्पित हैं। ऐसी अविद्या की कल्पना वेद आदि शास्त्रों ने क्यों की? वह इसलिये कल्पित है कि इससे परमार्थ का ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार साबुन भी एक मैल है, मैल भी एक मैल है। इसलिये साबुन लगाने के बाद उस साबुन को भी धो देना पड़ता है, तभी कपड़ा साफ होता है। कपड़ा साबुन से साफ नहीं, साबुन के निकल जाने के बाद साफ होता है। इसी प्रकार वेद आदि के द्वारा ज्ञान नहीं होता। वेद आदि दूसरे अज्ञान को नष्ट करके खुद भी नष्ट हो जायेंगे तब ज्ञान होगा। सर्वत्र यही बात है। जैसे राग है तो वैराग्य के द्वारा हटाना है। जब राग हट गया तो वैराग्य बन्धन बन सकता है! इसलिये वीतराग अवस्था में दोनों छोड़ने पड़ते हैं। परमार्थ के ज्ञान के उपाय रूप से ही ये सब कल्पनायें हैं। जब ज्ञान हो गया तो सब बेकार हैं। जो संवृति से अर्थात् अज्ञान से हुआ करता है वह पारमार्थिक दृष्टि से नहीं होता है। यह बात पहले ही कह आये हैं। ज्ञान होने के बाद शास्ता, शास्त्र और शिष्य कोई द्वैत नहीं रहता यह आगम प्रकरण में (श्लो-१८) कह आये हैं।

Scanned by CamScanner

कोई कहता है कि वैशेषिक तो छह पारमार्थिक पदार्थ मानते हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य और समवाय। सातवें पदार्थ को तो इन्होंने बाद में माना। अभाव की स्वीकृति बाद में हुई। तर्क संग्रह में सात पदार्थ बताये हैं, लेकिन कणाद महर्षि ने तो छह लिये हैं। अतः टीकाकार 'षट्पदार्थान्' कहते हैं लेकिन प्रकृत प्रसंग में तो सातवाँ भी लेना ही है। भाष्य में तो केवल परशास्त्रव्यवहार कहा है अतः वैशेषिक ही नहीं सभी परकीय शास्त्रों में परिकल्पित पदार्थों का ग्रहण करना है। इसी अर्थ में परतन्त्र शब्द पहले (श्लो. २४) भी आया था। वैशेषिकादि इन सब पदार्थों को सच्चा मानते हैं। वैशेषिकों के पारिभाषिक पदार्थों की व्यवहार के लिए कल्पना है। विचार करने पर वह विरुद्ध और असंगत ही होती है।

क्या विरुद्धता है? द्रव्य का लक्षण हुआ जो गुणादि पाँच से भिन्न है। गुण का लक्षण है जो द्रव्य आदि पाँच से भिन्न है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो गया। द्रव्य का पता गुण से, गुण का पता द्रव्य से! इस प्रकार इनके सारे लक्षण विरुद्ध हुआ करते हैं। वस्तुतः जितने शास्त्र हैं उन सबके लक्षण विरुद्ध हुआ करते हैं क्योंकि लक्षण किसी चीज़ का हो नहीं सकता। ये लक्षण हमेशा ऐसा करते हैं जो या अन्योन्याश्रय दोष से दुष्ट या अनवस्था दोष से दुष्ट होता है। अब उन्हें यह बात समझाओ तो पलटकर कहते हैं कि तुम लक्षण करो। हम तो कह ही रहे हैं कि लक्षण नहीं हो रहा है!

हम दृष्टांत देते हैं कि थाली के ऊपर तुमने भोजन रखा तो थाली का निचला हिस्सा कैसे जूठा हुआ? यदि कहो कि तत्सम्बन्ध से जूठा मानते हो तो फिर जिस समय खीर परोसेंगे तब तत्सम्बन्ध से हमारी कर्छी भी झूठा हो जायेगी। इसलिये यदि जूठे का लक्षण करने लगो तो कुछ सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार सब चीज़ों में है, जिसका लक्षण करने जाओ, यही होता है। एकादशी का व्रत करने से पुण्य होता है। अब एकादशी कब से कब तक मानें? कौन सा लक्षण करें? उदयातिथिसे मानो तो कई बार होता है कि उस तिथि को एकादशी ख़त्म हो गई और पूर्व सारा दिन रही। यदि मध्यरात्रि की तिथि मानो तो, और प्रातः काल चार बजे से मानो तो वही दोष आता है। किसी भी प्रकार से लक्षण करो, कोई भी उपाय नहीं कि सारी एकादशी में तुम्हारा व्रत हो सके। इसलिये जितना विचार करो किसी चीज़ का लक्षण नहीं होता। बिना लक्षण के केवल प्रतीतिमात्र हरेक चीज़ की मानी जा सकती है।

इसी प्रकार वैशेषिक लोग द्रव्य गुण आदि का बड़ा लक्षण करते हैं लेकिन उनसे पूछने जाओ तो कुछ जवाब नहीं। समवायी कारण वह जो कार्य को उत्पन्न करे और कार्य वह जो समवायी कारण से उत्पन्न हो। जैसे भात क्या? जो चावल पकने के बाद हो। चावल का मतलब क्या? पकने के बाद जो भात बन जाये। इसी प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इत्यादि के जितने लक्षण होते हैं वे सब इन्हीं दोषों से दुष्ट हैं। प्रमाता जो जाग्रत् के पदार्थों को जाने, जाग्रत् के पदार्थ वे जिनको प्रमाता जाने। जाग्रत् के अभिमानी का नाम ही प्रमाता है। सारे ही लक्षण दोषयुक्त होते हैं। इनमें कुछ तत्त्व नहीं है।

Scanned by CamScanner

इन लक्षणों का अभिमान लोगों को होता है कि 'कुछ होता होगा', इसलिये न्याय आदि शास्त्र पढ़ने पड़ते हैं। तब पता लग जाता है कि सारे बेवकूफ़ी के लक्षण हैं। सारे शास्त्रों को पढ़ने का मतलब है कि सारे शास्त्र बेकार हैं यह निश्चय हो जाये। हर शास्त्र वाला दूसरे शास्त्र वालों से डरता रहता है, सोचता है कि उसके पास कोई लक्षण होगा। लेकिन है कुछ नहीं। यहाँ भाष्यकारों ने अन्योन्याश्रय दोष नहीं कहा। यहाँ तो केवल 'व्यवहारेण' कहा अर्थात् उन्होंने अपनी परिभाषा बना रखी है कि इसे द्रव्य और उसे गुण कहेंगे। न द्रव्य की सिद्धि और न गुण की सिद्धि है। जो दूसरों के पारिभाषिक व्यवहार का शास्त्र हुआ करता है, उसकी जब सच्चाई देखने जाओ तो नहीं मिलती। इसलिये यह चीज़ भगवान् गौडपादाचार्य ने ठीक ही कही कि वह असंग है।।७३।।

●

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ।।७४।।

परिणामादिवादी शास्त्रों में प्रसिद्ध जन्म भ्रम से आत्मा का समझ लिया जाता है। पहले तो जन्म ही वादियों द्वारा परिकल्पित, और फिर आत्मा से उसका सम्बन्ध कल्पित कि 'आत्मा पैदा हुआ'। उस कल्पित जाति का निषेध अज कहकर करते हैं। 'अज' ऐसा कहना कल्पित संवृति से ही है, भ्रम ही है। परमार्थतः उसका 'अज' ऐसा व्यवहार नहीं है।

अब कोई वादी, सम्भवतः शून्यवादी ही कहता है कि यदि बाकी सब कल्पनायें संवृति-सिद्ध हैं तो फिर इसकी अजरूपता कैसे सिद्ध होगी? शास्त्र आदि भेद-कल्पना संवृति अर्थात् अविद्या से ही सिद्ध है, और शास्त्र ही इसको अज भी कहता है। अज की कल्पना भी शास्त्र ने ही की। तब वह भी अविद्यासिद्ध ही है, क्योंकि जैसे शास्त्र ने दूसरी बातें कहीं वैसे ही शास्त्र ने अजता कही। इसलिये बाकी यदि अविद्यासिद्ध तो यह भी अविद्यासिद्ध होना चाहिये। तुम कैसे कहते हो पारमार्थिक दृष्टि के यह अज है?

उत्तर देते हैं : यह तुमने ठीक कहा। इसकी अजता भी कल्पित अविद्या से ही है। सच्ची बात पूछने जाओ तो यह अज भी नहीं है। जो दूसरे शास्त्र हैं वे आत्मा में जायमानता की कल्पना करते हैं वे ब्रह्म को जायमान मानते हैं कि ब्रह्म जगत् रूप में हो गया। ऐसी उनकी कल्पना है। परिणामवाद के द्वारा इसके जन्म को ये स्वीकार करते हैं। इसलिये उसका निषेध करने के लिये अज की कल्पना करनी पड़ी। वे कहते हैं कि जगत् बनता है तो हमें कहना पड़ा कि नहीं बनता है।

अगर अज भी आपका कल्पित है तो फिर है क्या? कहते हैं : जायमान भी तो यही है। अविद्या के द्वारा उत्पन्न होने वाला भी ब्रह्म है। जब अविद्या के द्वारा ब्रह्म पैदा

Scanned by CamScanner

होने वाला है तो ब्रह्म को अज कैसे कह सकते हो? अविद्या की दृष्टि से वही जायमान और विद्या की दृष्टि से वही अज। दोनों दृष्टियों को छोड़कर उसकी सिद्धी कहाँ है? इसलिये यदि कोई कहे कि ब्रह्म जगत् रूप में नहीं बना तो उसे कहेंगे कि बता सिवाय ब्रह्म के और कुछ चीज़ बनी? यदि कोई कहे कि बनी, तो कहेंगे कि सचमुच बनी या झूठमूठ? यदि कहेगा कि झूठमूठ है तो कहेंगे कि ठीक, हम भी यही कहते हैं। यदि कहेगा कि सचमुच बनी तो हम ब्रह्म की अजता सिद्ध करेंगे। इसलिये संवृत्या, अविद्या कल्पना से वही तो पैदा हो रहा है, और कौन पैदा होने वाला है? परिणामवाद का निवारण करने के लिये उसकी अजता का प्रतिपादन है। भ्रान्ति से आत्मा उत्पन्न होता हैं, इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है। इसलिये अज भी हम परतंत्र से ही कहते है। परिणामवादी के सामने पड़ते हैं तो अज कहना पड़ता है।

इसलिये जगत् को देखते हुए, जगत् का व्यवहार करते हुए वेदान्ती को निर्विकल्प समाधि से कोई फरक नहीं लगता है क्योंकि अन्तःकरण की निरुद्ध अवस्था करो तो ब्रह्म निरुद्ध हुआ प्रतीत होता है। निरुद्ध अवस्था न करके अन्तःकरण को विक्षिप्त करो तो ब्रह्म विक्षिप्त हुआ प्रतीत होता है। ब्रह्म निरुद्ध अथवा विक्षिप्त किसी भी अवस्था में हो, क्या फरक हुआ? इसलिये कहा 'आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ हँस हँस रूप निहारूँ साधो सहज समाधि' यह आनंद का मार्ग है। नित्य निरतिशय प्रतिक्षण आनंद ही है।

भाष्य में वादी शंका करता है कि शास्त्र आदि जब अविद्यारूप हैं तो क्या अजायमान की कल्पना भी अविद्यारूप ही है? कहते हैं तुमने ठीक बात कही। वादी यह सोच रहा था कि घबरा जायेंगे क्योंकि बड़ी मुश्किल से जो अजायमानता सिद्ध की, वह अजायमानता जायेगी तो घबरा कर कहेंगे कि यह बात तो मान ही लो। लेकिन सिद्धान्ती कहता है कि शास्त्र आदि में प्रतिपादित अज भी कल्पित है, इस बात को हम स्वीकार करते हैं।

अब एक बात बता कि प्रश्न तुमने किया और हमने स्वीकार भी कर लिया कि ठीक कहा, लेकिन यह तू समझकर बोल रहा है या बे-समझी से बक बक कर रहा है? क्योंकि बहुत से लोग सवाल पूछते हैं तो उसका मतलब उन्हें खुद ही पता नहीं कि क्या बोल रहे हैं। 'यह आत्मा अज है' इस व्यवहार को कल्पित मान रहा है अर्थात् आत्मा की अजरूपता की वृत्ति बनाना 'यह आत्मा अज है' ऐसा मुँह से बोलना, तू इसे कल्पित कह रहा है, या आत्मा की अजरूपता से उपलक्षित जो उसका स्वरूप है उसको कल्पित कह रहा है? यदि तू कहता है कि 'यह अज है' ऐसा मन से सोचना और मुँह से कहना कल्पित है, तब तो हमारी स्वीकृति है, लेकिन यदि उपलक्षित स्वरूप को कह रहा है तो कुछ समझा ही नहीं। 'यह अज है' इस प्रकार का कहना, सोचना आदि सब तो अविद्याप्रयुक्त है इसलिये उसकी कल्पितरूपता तो हमें इष्ट है, लेकिन कैवल्य अवस्था के अन्दर जो उसकी उपलक्षित अज अवस्था है वह तो नित्य है, वह कभी हटने वाली नहीं है। 'यह अज है' इसके द्वारा जो ज्ञान उसकी अजता का हुआ वह नित्य है। जैसे

Scanned by CamScanner

'यह कौए वाला घर' कहा, कौआ उड़ गया लेकिन घर तो रह गया। उसी प्रकार यह आत्मा अज है, अज-ता तो उड़ गयी, लेकिन आत्मा अज रह गया। तब संसार के सभी पदार्थों के रूप में जायमान दीखने पर भी अजता नहीं हटती क्योंकि वह वृत्ति के अधीन अजता नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र आदि के द्वारा कल्पित अज्ञान के द्वारा ही 'अज' इस प्रकार का व्यवहार हुआ करता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो यह अज भी नहीं है।

आत्मा के अन्दर जो अजता का व्यवहार है उसको आप कल्पित क्यों कहते हैं? यह इसलिये कहते हैं चूँकि दूसरे वैशेषिक आदि शास्त्र उसे जायमान मानते हैं, उनके शास्त्र की सिद्धि को अपेक्षित करके हम जिसको अज कहते हैं।वह संवृति अथवा अविद्या के द्वारा जायमान भी है, यह कहना है। वे सचमुच जायमान मानकर कहते हैं इसलिये हम निषेध करते हैं। झूठा जायमान है, इसलिये अज नहीं कह सकते, क्योंकि झूठा जन्म तो लेता ही है। दूसरा कारण है कि परिणामवादी परिणाम को लेकर सिद्धि करता है कि जगत् ब्रह्मरूप में बन गया। उसके निषेध के लिये अज कहते हैं। वही आत्मा संवृति के द्वारा उत्पन्न होता ही है। अज फिर भी वैसा ही रह गया। सचमुच जायमान नहीं है, झूठा जायमान है, अर्थात् सचमुच अज है।

इसलिये जो अजत्व आदि के व्यवहार से उपलक्षित है वह स्वरूप से अकल्पित है क्योंकि वही कल्पना का अधिष्ठान है। अब यह नहीं कह सकते कि कल्पित शास्त्र आदि के द्वारा अकल्पित का ज्ञान कैसे होगा, क्योंकि प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब की प्रमिति अर्थात् ज्ञान हो जाता है। प्रतिबिम्ब कल्पित है, जैसे दर्पण में मुख दीखा तो वह कल्पित है, लेकिन उससे सच्चे मुख का ज्ञान हो गया। ऐसे ही अजता शास्त्र द्वारा कही गई कल्पित है लेकिन उसके द्वारा स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।। ७४।।

कल्पित शास्त्र आदि से जन्य ज्ञान हुआ। उस ज्ञान को भी आपने मिथ्या मान ही लिया। शास्त्र आदि के द्वारा अज ब्रह्म का ज्ञान हुआ लेकिन ज्ञान कराने वाले शास्त्र आदि भी कल्पित और अज का ज्ञान भी कल्पित है। सच्चे ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मानी गयी है, मिथ्या ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं मानी जाती। 'अज' यह मिथ्या ज्ञान होने के कारण इसके द्वारा अविद्या की निवृत्ति भी नहीं होगी। अविद्या निवृत्त नहीं हुई तो जन्म मरण का चक्कर भी नहीं मिटेगा। यह शंका है। इस पर कहते हैं—

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ।।७५।।

यदि कोई सच्चा संसार होता तो उसकी निवृत्ति के लिये सच्चे साधन की ज़रूरत पड़ती। 'यक्षानुरूपो बलिः' न्याय है। भैरों देवता की पूजा करोगे तो बकरा चढ़ाना पड़ेगा।

Scanned by CamScanner

विष्णु की पूजा करोगे तो तुलसी चढ़ानी पड़ेगी। यह नहीं कि भैरव को तुलसी और विष्णु को बकरा चढ़ाने से काम चल जाये। इसी प्रकार झूठे संसार को हटाने के लिये झूठा ज्ञान ही चाहिये, सच्चे ज्ञान से कहाँ हटेगा! यदि कोई सच्चा संसार होता तो उसे हटाने के लिये भी सच्चे साधन की ज़रूरत होती।

यह संसार कैसा है? अभूत अभिनिवेश अर्थात् केवल आग्रह करके पकड़े बैठे हो। मिथ्या अभिनिवेश मात्र ही है। इसलिये मिथ्या उपाय के द्वारा इस अभिनिवेश के विरुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो गया तो उससे इसकी निवृत्ति हो जायेगी। उस ज्ञान को सच्चा होने की ज़रूरत नहीं क्योंकि तुमने केवल आग्रह से ही इसे ज़बर्दस्ती पकड़ रखा है। इसके सिवाय कुछ नहीं है। इस आग्रह को हटाने के लिये दूसरा झूठा आग्रह भी काम कर जायेगा। एक आग्रह को दूसरे झूठे आग्रह से हटा दो।

केवल ख्याल यह रखना चाहिये कि वह दूसरा आग्रह फिर एक राग बनकर न बैठ जाये, क्योंकि अगर तुमने उसे पकड़ लिया तो फिर वही एक राग हो जायेगा। ब्रह्म जायमान है यह प्रतीति हटाने के लिये ब्रह्म अज समझ लो, लेकिन ब्रह्म की अजता का विचार ऐसा नहीं होना चाहिये कि ब्रह्म की अजता सिद्ध करने के चक्कर में पड़ जाओ, क्योंकि फिर उसी में अभिनिवेश हो जायेगा। उसे आग्रह नहीं बनाना है।

जैसे लोगों को भूत लग जाता है तो हाथ में चावल आदि लेकर 'ओं हुं फट्' कहकर मोरपंख को जरा इधर उधर करो तो थोड़ी देर में वह भूत उतर जाता है। वैसे उससे क्या भूत हटना है! जैसे भूत झूठा ऐसे ही वह सारी लीला भी झूठी ही है। सामने वाले को यह निश्चय होना चाहिये कि इसने ज़ोरदार मंत्र बोला है। उसके लिये ही सारी तैयारी है। नहीं तो किसी को कहो कि 'भूत कुछ नहीं है' तो वह कहेगा कि इसको पता नहीं है, मेरे तो भूत चढ़ा हुआ ही है। इसलिये जितना घटाटोप सामने वाले को करके दिखाओ तो उसे जँच जाता है।

कलकत्ते में एक डाक्टर थे। एक जगह किसी रोगी को देखने गये तो गुदा में थर्मामीटर लगाया। वैसे जब हैजा हो तो गुदा में लगाया जाता है। उसे सिर्फ बुखार था। बाद में हमने उनसे पूछा कि वहाँ क्यों लगाया? कहने लगे 'उसने पचास मील दूर से मुझे बुलाया है, फीस दी है तो कुछ नया काम होना चाहिये। उसे भी संतोष होना चाहिये कि कुछ नई चीज की।'

वस्तुतः द्वैत है थोड़े ही। जब अद्वय भाव को समझ लिया तो फिर कोई निमित्त नहीं रह गया। फिर आगे उत्पन्न कहाँ से होगा? हो ही नहीं सकता। यह सारा संसार असत् है, और कुछ नहीं है। उसमें जो अभिनिवेश है वह केवल माना हुआ ही है। जैसे रस्सी में साँप बना नहीं, लेकिन 'यह साँप है' ऐसा अभिनिवेश है। संसार एक अभिनिवेश मात्र ही है और कुछ नहीं है। यह शरीर जी रहा है यह एक आग्रह ही है। इसी अभिनिवेश

Scanned by CamScanner

से सारे काम चलते रहते हैं। हमें अभिनिवेश था कि सोमनाथ का शिवलिंग प्रत्यक्ष लिंग है, इसे कोई नहीं तोड़ सकता। सबको यही आग्रह था कि भगवान् को कौन तोड़ सकता है? लेकिन मुहम्मद गोरी हिन्दुस्तानी नहीं था, उसे यह अभिनिवेश भी नहीं था, तो तोड़ दिया। एक अभिनिवेश ही है, नहीं तो वहाँ तो भाटा ही था। उसके लिये पूजा, पाठ, तंत्र, मंत्र सब इसलिये करना पड़ता है कि उनका अभिनिवेश दूर हो कि यह शंकर जी हैं। वस्तुतः द्वैत तो है ही नहीं यह मिथ्या अभिनिवेश मात्र ही जन्म का कारण है। 'मैं जीव हूँ, मैनें कर्म किया है और मुझे आगे इसका फल भोगना पड़ेगा'—इस अभिनिवेश से ही सब होता है। जिसने द्वयाभाव को समझ लिया उसका मिथ्या द्वैत का अभिनिवेश हट गया। इसलिये फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।।७५।।

●

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ।।७६।।

पूर्व श्लोक में जो कहा था 'निर्निमित्तो न जायते' उसी बात को समझाते हैं कि निमित्त क्या है? चित्त के जन्मान्तर का कारण नहीं मिलता है। जन्मान्तर के कई कारण हैं उत्तम, अधम, और मध्यम। उत्तम कारण अर्थात शुभ कर्म करके देवलोक ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति करेंगे। अधम कारण पापकर्म किया है तो तिर्यक् आदि योनियों को प्राप्त करेंगे। और मध्यम कारण बीच के काम किये तो मनुष्य आदि लोकों को प्राप्त करेंगे। जिसे अकर्तृत्व-आत्मबोध है उसे यह कोई कारण नहीं मिलता है इसलिये आगे चित्त पैदा नहीं होता। आगे पैदा नहीं होता का मतलब केवल मरकर नहीं, जीवन्मुक्ति काल में भी उसे प्रतीति नहीं कि मुझे कोई भोग हो रहा है या मैं कर रहा हूँ। केवल चित्त ही एक विषयी हुआ अविद्या से विषयों की प्रतीति करता जाता है।

यहाँ ऐसा नहीं कि पूर्वजन्मों के कर्मों का फल भोग रहा हूँ क्योंकि वह जानता है कि एकमात्र चित्त ही इन सब आकारों को पकड़ता चला जा रहा है। और कब तक पकड़ता रहेगा? अनंत काल तक पकड़ता रहेगा। लेकिन मेरा इससे कोई संबंध नहीं है क्योंकि मैं उसकी अजरूपता को जानता हूँ। क्योंकि हेतु का अभाव हो गया इसीलिये तो फल नहीं है। बिना कारण के कार्य कहाँ से आयेगा? मूर्खों की मान्यता की तरह नहीं कि एक समय आयेगा कि मरने के बाद घुम्म हो जायेंगे, सुषुप्त की तरह पड़े रहेंगे। ज्ञानी जानता है कि अविद्या तो मेरा स्वभाव है। अनंत कोटि ब्रह्माण्ड के रूप में बनना ही तो मेरा स्वभाव है। यही तो मेरी अनंतता प्रकट हो रही है।

भाष्यकारों ने उत्तम मध्यम और अधम कर्म बताये कि किस कर्म का क्या फल होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति के लिये और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि आश्रमों के लिये जिन धर्मों का विधान किया उनको जो करता है, जाति और आश्रम

Scanned by CamScanner

के अनुकूल कर्मों को जो करता है, और उन्हें भी कैसे करता है? फल-तृष्णा से रहित होकर अर्थात् कर्मफल का त्याग करके निष्काम कर्म करता है, इस प्रकार अनुष्ठित धर्मों से मनुष्य स्वर्ग आदि लोकों को प्राप्त करता है। केवल धर्म वैकुण्ठ, गोलोक आदि को ले जाने वाले उत्तम कर्म हैं। केवल अधर्म की व्यावृत्ति के लिये कहा, अर्थात् केवल धर्माचरण करता है, अधर्म का आचरण नहीं करता। यहाँ आनंदगिरि स्वामी सूचित करते हैं कि कितना भी सावधान होकर करोगे, कुछ न कुछ अधर्म करोगे ही, इसलिये प्रधान रूप से जो धर्म ही करता है वह उत्तम कहा जा सकता है।

धर्म और अधर्म दोनों मिल कर जो हम लोग करते हैं वह मध्यम है। सवेरे उठकर ध्यान करते हैं और फिर गुस्सा करके दूसरे को चाँटा भी मार देते हैं कि वह घण्टा भर दुःखी होता रहे। वे मनुष्यत्व आदि योनियों की प्राप्ति के लिये मध्यम कर्म हो गये। तिर्यक् आदि पशु, पक्षी, कुत्ता, सूअर आदि योनियों को प्राप्त करने के लिये अधर्म ही जिनका लक्षण है ऐसे शास्त्रप्रतिकूल आचरण करना अधम हो गया।

वे उत्तम मध्यम अधम सारी योनियाँ अविद्या से परिकल्पित हैं अर्थात् अविद्वानों को ये हेतु प्रतीयमान होते हैं। विद्वानों को ज्ञानियों को, इसका भान नहीं होता। इसलिये अविद्या से हेतु परिकल्पित है। एक ही अद्वय आत्मतत्त्व सारी कल्पनाओं से रहित है ऐसा जब तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जान लेता है तब इस वाक्यीय ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति हाती है। जैसे ही यह उत्पन्न हुआ, काम बना। फिर वह उत्तम, मध्यम, और अधम हेतुओं को नहीं देखता है अर्थात् जानता है कि ये सब करने वाले भोगने वाले कार्यकरण संघात हैं, मेरे को क्या मतलब।

दृष्टांत से समझाते हैं कि जैसे बालकों को आकाश के अन्दर धूल दिखाई देती है, कहते हैं 'आकाश धूमिल हो गया', लेकिन विवेकी जानता है कि धूल धूल है, आकाश आकाश है। आकाश में धूल थोड़े ही लगी है। आकाश दीखता दोनों को एक जैसा है लेकिन विवेकी जानता है, अविवेकी नहीं जानता है। इसी प्रकार कार्य-कारण-संघात की क्रियाओं को देखते तो ज्ञानी अज्ञानी दोनों हैं, लेकिन ज्ञानी जानता है कि आत्मा असंग है, अज्ञानी नहीं जानता है। तब फिर यह चित्त आगे उत्पन्न नहीं होता है। जब कारण ही नहीं रहा तो कार्य अपने आप नष्ट हो गया। जैसे बीज अगर ख़त्म हो गया तो सस्य अपने आप ख़त्म हो गया।।७६।।

●

अब किसी के मन में शंका आई कि आपने कहा 'तब चित्त पैदा नहीं होता, हेतु न होने पर फल कैसे होगा?' इसका मतलब है कि पहले जन्म हुआ था, तब अर्थात् ज्ञान होने के बाद जन्म होना बन्द हो गया। इससे कालपरिच्छेद उक्त है। इसलिये यह आगंतुक है और फिर एक दिन ख़त्म भी हो जायेगा।समाधान करते हैं कि ऐसी बात नहीं है, ठीक से समझो।

Scanned by CamScanner

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया ।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ।।७७।।

चित्त बिना किसी कारण के नित्यशुद्ध है। चित्त अनिमित्त है। किसी निमित्त को लेकर ज्ञान के द्वारा इसकी उत्पत्ति बन्द हुई ऐसा नहीं है। यह तो हमेशा ही एक जैसा ही है। उसकी तो हमेशा ही अनुत्पत्ति है। सारा अद्वैत जात है क्योंकि चित्तदृश्य है। चित्तदृश्य होने से मिथ्या है। इसलिये चित्त स्वरूप से नित्य शुद्ध परिपूर्ण है।

इस चित्त का जन्म कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये उसकी अनुत्पत्ति ज्ञान से नहीं है। ज्ञान से पहले भी अनुत्पत्ति ही है। ज्ञान से उसकी अनुत्पत्ति की प्रतीति हो जाती है, है तो पहले ही अनुत्पन्न। रोशनी से साँप रस्सी बन थोड़े ही जाता है। रोशनी से रस्सी प्रकट हो जाती है। जब साँप दीख रहा था तब भी रस्सी ही थी। इसी प्रकार ज्ञान से अजन्मरूपता प्रकाशित हो जाती है। बाकी जब अपने को जन्मा समझ रहे थे तब भी थे अजन्मा ही। इसलिये ज्ञानी का यह अनुभव नहीं कि 'इतने काल तक बद्ध था अब मुक्त हो गया'। तब होता है कि मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव हूँ।

कारण के अभाव से चित्त उत्पन्न नहीं होता यह पहले कहा गया है। यह चित्त की अनुत्पत्ति कैसी? स्वाभाविक है या उत्पन्न होने वाली है? जन्मभ्रम की निवृत्ति की अपेक्षा से ही 'तदा न जायते' कहा जाता है, है तो स्वाभाविक ही। जन्मकल्पना-काल में भी उसका जन्म नहीं, लेकिन जन्मभ्रम हुआ, उसकी निवृत्ति की अपेक्षा से कहा गया कि तब वह उत्पन्न नहीं होता। परमार्थ दर्शन के द्वारा अर्थात् वास्तविक ज्ञान होने पर पता लगा कि धर्म अधर्म निरस्त हैं। इनका कभी उदय ही नहीं हुआ। धर्माधर्म ही उत्पत्ति के निमित्त थे। जब वे निरस्त हो गये तो चित्त बिना निमित्त का हो गया।

उसकी जो मोक्ष नाम की अनुत्पत्ति है वह सभी अवस्थाओं में एक जैसी रहती है अर्थात् केवल मोक्ष अवस्था में रहती हो ऐसा नहीं बल्कि हमेशा ही रहती है। घटज्ञान के अन्दर भी ज्ञान अनुत्पन्न ही है। यह नहीं कि घटज्ञान हो गया तो निर्विशेष ज्ञान कहीं चला गया। शुरु में घट पट आदि ज्ञान से बँधे हुए हैं इसलिये घट रहित ज्ञान को दिखाना चाहते हैं, लेकिन घटज्ञान में जैसा ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि में भी वैसा ही ज्ञान, दोनों ज्ञानों में फरक कुछ नहीं है। इसलिये द्वैती नहीं होना चाहिये कि ये सब प्रतीति न हो तो अद्वैत और प्रतीति हो तो अद्वैत चला गया! ऐसा नपुंसकों का अद्वैत नहीं है। इसलिये केवल मोक्ष अवस्था में ही नहीं वरन् घटज्ञान काल में भी निर्विशेष है। समा अर्थात् निर्विशेष एक जैसा। घटज्ञान काल में भी वह निर्विशेष ही है, उस समय उसमें कुछ विशेषता आ जाती हो ऐसा कुछ नहीं है। वह अद्वय है।

यह बताओ कि जितने भी चित्त प्रतिबिम्ब हैं वे सारे ही क्या बिम्ब के अनुरूप ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं? कभी अगर सर्कस देखने जाओ तो वहाँ कई तरह के काँच लगा

Scanned by CamScanner

कर रखते हैं। एक काँच में तुम अपने को लम्बा, एक में तुम अपने को मोटा देखते हो। कहीं चमकीली चीज़ हो वहाँ भी ऐसा हो जाता है। क्या उन रूपों में तुम नहीं हो? तुम ही हो। जितने भी चित्तों का प्रतिबिम्ब पड़ता है वे सारे प्रतिबिम्ब ब्रह्म के ही हैं। घटज्ञान, मठज्ञान, कटज्ञान रूप से चाहे प्रतिबिम्ब हो, वे सारे मेरे ही रूप हैं; और किसी के नहीं हैं! यह निर्विशेष अद्वय है। इसलिये पूर्व रूप में भी अजात अनुत्पन्न था। जब घट आदि आकार में बन रहा था तब भी नहीं था। इसलिये वह चित्त अद्वितीय है।

उसी में हेतु देते हैं कि चूँकि जब तुम्हें इस अद्वितीयता का विज्ञान नहीं था तब भी चित्त का दृश्य द्वैत और जन्म नहीं था। जब जन्म ही नहीं तो चित्त का जन्म कहाँ होता है! जैसे रस्सी में साँप दिखाई देता है तो साँप कोई पैदा थोड़े ही हो जाता है। और जब बत्ती आती है तो कहीं भाग थोड़े ही गया। सब कुछ अजातरूप है। हमेशा ही चित्त की अजातता है। निर्विशेष अद्वितीय रूप से अनुत्पत्ति ही है। ऐसा नहीं कि ज्ञान होने के बाद उत्पत्ति न होती हो और ज्ञान होने के पहले होती हो, वरन् वह तो हमेशा से एकरूप ही बना हुआ है।।७७।।

●

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथाऽकाममभयं पदमश्नुते ।।७८।।

अपनी वास्तविक अनिमित्तता को समझकर फिर विभिन्न धर्मादि हेतुओं को न बटोरते हुए काम, शोक और भय से रहित पद को प्राप्त करता है अर्थात् पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता।

यह बता दिया कि द्वैताभाव को जहाँ जान लिया वहाँ उत्तम, मध्यम इत्यादि कुछ प्रतीति नहीं होती, अतः निर्निमित्त हो गया। बस यह अनिमित्तता ही सत्य है। द्वैताभाव-उपलक्षित ही इसकी सत्यता है। यही परमार्थ रूप है। द्वैताभाव से उपलक्षित सत्ता अनादि अनंत है, द्वैताभावविशिष्ट नहीं। निर्विकल्प समाधि में द्वैताभाव विशिष्ट ज्ञान है। जैसे जाग्रत् काल में द्वैतविशिष्ट ज्ञान है। अब द्वैतविशिष्ट और द्वैताभावविशिष्ट को छोड़कर द्वैताभाव उपलक्षित ज्ञान है। जैसे घर पर बैठे कौए वाला जो घर था, कौए के उड़ जाने के बाद भी वही घर रहा। कौए के बैठने न बैठने से घर थोड़े ही बदल गया। कौए के बैठने से उसका ज्ञान हो गया। उसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि के काल में और जाग्रत् काल में, दोनों कालों में चित्त तो एक जैसा ही है लेकिन असम्प्रज्ञात समाधि के बैठ जाने से उसका ज्ञान हो गया। अब कभी कौआ बैठेगा तब भी पहचानोगे, नहीं बैठेगा तब भी पहचान लोगे। ऐसे ही यहाँ भी द्वैत दीखने पर भी और न दीखने पर भी अपने स्वरूप को पहचान लेगा।

Scanned by CamScanner

इसे जब जान लेता है तो सत्य अनिमित्तता समझ ली। जो द्वैताभाव उपलक्षित होगा वह धर्म, अधर्म और मिश्र इत्यादि हेतुओं को फिर प्राप्त नहीं करता। अर्थात् पृथक् हेतु सम्पन्न नहीं करता। तब क्या होता है? फिर शोक हट गया। द्वैत को लेकर ही शोक हो रहा था। जब द्वैत हट गया तो शोक काहे का? कोई चीज़ हाथ से निकल जाये तब शोक होता है और जब वह अपना ही स्वरूप है तो शोक कैसे हो? फिर किसी चीज़ की कामना भी नहीं हो सकती । कोई चीज़ अपने से अन्य हो तो उसकी कामना की जाय। इसलिये किसकी कामना किससे करो? यही अभय पद है जिसे याज्ञवल्क्य ने कहा 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि' सारे कारणों से रहित जो स्थिती है, अजता है उसे प्राप्त करता है।

जब शरीर आदि का अभाव है तो द्वैत की असम्भवता अपने आप हो गयी। उपर्युक्त जो युक्तियाँ बताईं उन युक्तियों से इस अनिमित्तता की समझ होती है। दृश्यत्व आदि न्याय से द्वैत रज्जुसर्प आदि की तरह कल्पित सिद्ध हो गया। चैतन्य के जन्म का निमित्त द्वैतदृष्टि थी उस द्वैत का अभाव हो गया। उस अभाव से उपलक्षित सत्ता अनिमित्तता हो गई। उस उपलक्षित अनिमित्तता को ही सत्य अर्थात् परमार्थ रूप से उसने समझ लिया। हेतु मूल का पद था, उसका अर्थ कर दिया कि देव आदि योनियाँ प्राप्त करने के लिये जो धर्म अधर्म आदि कारण हैं उनका यह अनुष्ठान नहीं करता। न देवत्वादि प्राप्ति के लिये धर्मप्रधान होता है न मनुष्यत्व प्राप्ति के लिये मिश्र कर्म करता है और न अधर्म ही करता है। जब धर्म और देवता एक-से चित्तकल्पित हैं तो क्यों क्या करे?

इस प्रकार का जो ज्ञानी होता है वह बाह्य एषणाओं को छोड़ देता है। धर्म अधर्म और उनको मिलाकर किसी प्रकार का अनुष्ठान नहीं करता। जब तक बाह्य एषणा होगी तब तक कर्म होंगे। स्वर्ग की इच्छा है तो धर्म करेगा। और अगर नोटों की इच्छा है तो अधर्म चोरबाजारी, घूसखोरी करेगा। मिली जुली इच्छा है तो दोनों मिलाकर करेगा, चोरबाजारी से धन भी इकट्ठा करेगा और मन्दिर वालों को दान भी करेगा। ये तभी तक करेगा जब तक बाह्य एषणाएँ हैं। उसने तीनों को छोड़ रखा है। यह नहीं कि अधर्म कर लेता है। यह संन्यासी में ही होगा, गृहस्थियों से यह सब कहाँ होना है! क्योंकि उन्हें तो हमेशा ही कोई न कोई कामना मारती रहती है। कभी बेटा जोर देकर करा लेगा, कभी पत्नी, कभी माँ बाप जोर देकर करा लेंगे। इसलिये वह बेचारा कहाँ एषणा को छोड़ सकता है! ख़ुद तो छोड़ना हो जाये लेकिन साथ वाले नहीं करने देते। ज्ञानी काम शोक आदि से वर्जित हो जाता है। काम व शोक तो कार्य हो गये। भय से कारण को ग्रहण कर लेना। कारण अविद्या हट गयी तो काम, शोक और भय नहीं होते हैं। जब तक संसार में सत्यत्व बुद्धि है तब तक काम शोक भय होने ही हैं। अच्छी कामनायें कर लो लेकिन होनी ज़रूर हैं। और कुछ नहीं तो मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया, मैंने वह शुभ दान क्यों नहीं कर दिया, इससे भी शोक होता है। अथवा बाद में शोक होता है कि मैंने नवरात्रि का अनुष्ठान किया होता तो यह फल न हो गया होता। इसलिये भगवान्

Scanned by CamScanner

भाष्यकार ने कहा कि ज्ञानी अविद्या से रहित हो जाता है इसलिये अभय पद को प्राप्त कर लेता है। सारे भय जन्म से ही होते हैं। 'न जायते' का मतलब मरकर जन्म नहीं लेता ऐसा नहीं वरन् ज्ञान होते ही उसे इसका अनुभव होता है।।७८।।

●

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसंगं विनिवर्तते ।।७९।।

न हुए द्वैत को है माननारूप व्यामोह से चित्त व्यामोहानुरूप प्रवृत्ति करता रहता है। साध्य-साधनरूप द्वैत वस्तु का वास्तविक अभाव जब समझ आ जाता है तब सभी अपेक्षाओं से रहित हुआ चित्त उस व्यामोह के क्षेत्र से हट जाता है अर्थात 'उधर' प्रवृत्त नहीं होता।

किसी ने कहा कि यह अभय पद की प्राप्ति तो है ही फिर काहे के लिये इतनी मेहनत करके शास्त्र आदि पढ़ें सुनें। यह सब करने की क्या ज़रूरत है? ज़रूरत इसलिये है कि जो नहीं है उसका जो तुमने आग्रह कर रखा है, चित्त उस अभिनिवेश के अनुरूप ही प्रवृत्ति करता रहता है। अभूत अभिनिवेश जैसे 'मैं ब्रह्मण हूँ, रोज़ सवेरे चार बजे उठता हूँ, न उठूँ तो पाप लगेगा। फिर ठण्डे पानी से नहाता हूँ। फिर बिना कपड़े पहने हुए ही संध्या करता हूँ। फिर जब तक गला न बैठ जाये तब तक वेदपाठ करता रहता हूँ। तब लोगों के पास सीधा पेटिया लेने चल देता हूँ। वे लोग सीधा पेटिया नहीं देते तो, कहता हूँ कि 'बड़ा ख़राब ज़माना आ गया है, लोग धर्माचरण ही नहीं करते, हमें सीधा पेटिया ही नहीं दिया।' मैं ब्राह्मण हूँ अगर यह सब नहीं करूगां तो मेरा ब्राह्मणत्व चला जायेगा।' इत्यादि प्रवृत्ति करते रहते हैं। यह सब अभूत अभिनिवेश से ही करते रहते हैं। ऐसे ही सबकी प्रवृत्ति होती रहती है। इम्तिहान के दिनों काफी चाय पी पी कर पढ़ते रहते हैं। 'हम विद्यार्थी हैं, प्रथम श्रेणी आकर गोल्ड मैडल नहीं मिला तो जीवन बेकार है।' यह सब अभूत-अभिनिवेश है। सारे के सारे लोग उसके सदृश ही प्रवृत्ति कर रहे हैं।

जब ज्ञान हो गया तो समझ लेते हैं कि इन सब वस्तुओं का अभाव है। प्रतीति ही प्रतीति है। वस्तु का अभाव कब समझ में आता है? कई बार पूरी की पूरी किताब पढ़कर जाते हैं और फेल हो जाते हैं। इम्तिहान से पहले बाहर पूछो तो सभी बातों का जवाब ठीक से दे देंगे और इम्तिहान में एक बात का जवाब नहीं सूझा क्योंकि परीक्षा के समय एक धक्का लगता है। जैसे यहाँ भी लोग कहते हैं कि 'जानते तो हैं लेकिन आपके सामने नहीं बोल सकते।' लेकिन स्कूल वाले यह नहीं मानते कि घबराहट से नहीं कह पा रहे हो, वे तो रसगुल्ला ही रख देंगे। कई बार केवल तीन प्रश्न तैयार करके गये और तीनों वही आ गये तो ७५ नम्बर लेकर मूछों पर ताव देकर घूम रहे हैं। जिसने

Scanned by CamScanner

ख़ूब पढ़ा उससे कहते हैं कि 'बस इतनी ही अक्कल है, बहुत पढ़ता है!' और जानता है कि ख़ुद सवाल तो तीन ही याद करके गया था। जब पढ़ने की प्रतीति तब वह प्रतीति, जब गोल्ड मैडल मिल गया तो वह प्रतीति हो गयी, बिना पढ़े पास हो गये तब वह प्रतीति और ख़ूब पढ़कर भी फेल हो गये तो वह प्रतीति। जब जैसी वृत्ति बनी तब तदनुरूप प्रतीति हो गयी। पढ़ने से पास होते हैं या फेल कुछ कारण नहीं है। यहाँ व्यभिचारिता हेतु समझ लेना कि जब इस प्रकार किसी चीज़ का कोई कार्य-कारण-भाव नहीं बनता तब व्यभिचारिता का निश्चय हो जाता है क्योंकि कोई कार्यकारण-भाव नहीं, कोई साधन नहीं, कार्यकारणभाव की कोई सत्ता ही नहीं।

जब इसको समझ लेता है तब उसका चित्त निःसंग हो जाता है। वह फिर प्रवर्तन नहीं करता उसकी स्वरूपभूत निवृत्ति के अनुवर्तन को ही करता रहता है; जो प्रतीति हो रही है सो ठीक है। 'जिस विध राखे साँईयाँ तिस विध रहिये।' यह फरक पड़ता है। अभी जो चीज़ नहीं है उसका आग्रह कर रखा है। 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं विद्यार्थी हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं हिन्दुस्तानी हूँ, मैं पाकिस्तानी हूँ, मैं पुरुष, मैं स्त्री,' न जाने कितने बोझे लोगों ने सिर पर लाद रखे हैं! सब अभूत अभिनिवेश है। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः। शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।' ये सब भेद हैं ही नहीं केवल प्रतीति ही प्रतीति है। द्वैत है ही नहीं, द्वैत न होने पर भी द्वैत का निश्चय अभूत-अभिनिवेश है। और इसके साथ ही अविद्या से होने वाला अविवेक है। पहले तो विवेक में प्रवृत्ति नहीं होती और यथा कथंचित् हो भी जाये तो द्वैत शास्त्रों में फँस जाते हैं। अविद्या-व्यामोह हो जाता है।

'सदृशे' का अर्थ कर दिया कि उसके अनुरूप ही चित्त प्रवृत्ति करता है। जिसने जैसा अभूत अभिनिवेश कर लिया बस उसी के अनुसार चलता रहता है। 'हि' अर्थात् जब जब अविद्या व्यामोह होता है तब तब अभिनिवेश होता है। केवल अविद्या से अभिनिवेश नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में केवल अविद्या है, वहाँ अभिनिवेश कहाँ है? इसलिये जब जब अविद्या का व्यामोह है तब तब ये सब प्रतीतियाँ हैं और सुषुप्ति में अथवा समाधि के अन्दर अथवा मुक्तों को यह नहीं तो उन को प्रतीति भी नहीं। अन्वय-व्यतिरेक बताने के लिये ही कारिकाकार ने 'हि' दे दिया।

अभिनिवेश का विषय शरीर आदि द्वैत हुआ, वह वस्तु ही नहीं है, जब यह समझ लिया तो उस काल में उससे निरपेक्ष हुआ उससे विनिवृत्त हो जाता है। किससे विनिवृत्त हो जाता है? जो नहीं हुआ उसका जो अभिनिवेश किया था उससे निवृत्त हो जाता है। अभूत अभिनिवेश के अनुरूप चित्त की प्रवृत्ति और जहाँ उसकी निवृत्ति वहाँ चित्त विनिवृत्त होता है।।७९।।

●

Scanned by CamScanner

निवृत्तस्याऽप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ।।८०।।

अब बताते हैं कि जो निवृत्त हो गया और फिर किसी चीज़ में प्रवृत्त हुआ नहीं, तब जो उसकी निश्चल स्थिति है वह अज अद्वितीय समता ब्रह्मता है और वह केवल विद्वानों के अनुभव का क्षेत्र है।

यह इसलिये कहा कि संसार में एक निवृत्ति से दूसरे में प्रवृत्ति देखी जाती है। ब्रह्मचर्य आश्रम से निवृत्त हुआ तो गृहस्थ में प्रवृत्त, गृहस्थ से निवृत्त तो वानप्रस्थ में प्रवृत्त हो गया। एक निवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति कराने वाले तो बहुत से शास्त्र हैं। जैसे कहते हैं कि 'तू अपने को ब्राह्मण क्षत्रिय मत मान लेकिन हिन्दुस्तानी ज़रूर मान', या कहते हैं कि 'अपने को आदमी मान'। यदि आदमियत की प्रवृत्ति चाहिये तो ब्राह्मणत्व की प्रवृत्ति ने क्या कसूर किया था?

लेकिन यहाँ परमार्थ ज्ञान होने पर, भूतदर्शन होने पर, एक से निवृत्ति होकर फिर किसी में प्रवृत्ति नहीं। उस काल में निश्चल स्थित हो जाता है। यह विद्वानों के अनुभव का विषय है। इसमें सारी कल्पनायें ख़त्म हो जाती हैं। यह ज्ञानियों का ही विषय है, वही इस बात को समझ पाते हैं। जो समता अज और अद्वय है वह इस प्रकार से विद्वानों के अनुभव का ही विषय है, दूसरा उसे नहीं समझ सकता। इसलिये मोक्ष अद्वय आनंद रूप है यह वही समझ सकता है। नहीं तो लोग डरते हैं कि 'सब चला जायेगा तो क्या करेंगे?' पहले भी कहा था 'अभये भयदर्शिनः।' बिना ज्ञान हुए तो यह समस्या रहनी ही है। हमसे पूछो 'क्या करें?' तो हम कहेंगे 'हमारे बगीचे में अच्छी तरह काम करो!' यहाँ नहीं करना चाहते तो अपने शरीर रूपी बगीचे में करो। दूसरे कहते हैं योगाभ्यास, प्राणायाम, जप, तप, व्रत करो। इसी प्रकार करते हुए कभी धर्म हो जायेगा तो देव आदि योनियों को प्राप्त करेगा। जैसे कर्म होंगे वैसी प्राप्ति भी हो जायेगी।

द्वैत विषय से निवृत्त होना है, ऐसा नहीं कि अद्वितीय विषय से ही निवृत्त हो जाये! दूसरे विषय में कोई प्रवृत्ति नहीं। वह प्रवृत्ति इसलिये नहीं कि द्वैत का अभाव देखता है। इसलिये चलना वर्जित जो स्थिति है वह ब्रह्मस्वरूप से ही स्थिति है। यह जो चित्त की ब्रह्मस्वरूप स्थिति है वह अद्वयरूप, विज्ञानरूप, एक, एकरस अर्थात् आनंदरूप है। ज्ञान, आनंद, एकता, अद्वितीयता उसका लक्षणार्थ स्वरूप है। यह नहीं कि वहाँ ज्ञान या आनंद नहीं होता है। नहीं तो बहुत से भाँग पीकर कहते हैं कि निर्विशेष स्थिति हो गयी। वहाँ आनंद का भान कहाँ है? वह स्थिति कैसी है? वह परमार्थ दृष्टि, जो बुद्ध अर्थात् ज्ञानी लोग हैं उनका ही विषय अर्थात् गोचर है। इसलिये उसे साम्य, पर, निर्विशेष, अज और अद्वय कहते हैं।।८०।।

Scanned by CamScanner

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ।।८१।।

पूर्व श्लोक में जो विद्वानों का, बुद्धों का मोक्ष बताया, उसी को फिर बताते हैं, कोई नई बात नहीं है। उनका भान है जन्मरहित, अविद्यारहित, अविद्याकार्यरहित। न विद्या की, न अविद्या की प्रतीति है, केवल अजभान की प्रतीति है। वह स्वयं ही प्रभात होता है, संसार के सब रूपों में स्वयं ही भासित रहता है। ऐसा नहीं की बीच बीच में नष्ट हो जाता हो। जैसे घटज्ञान नष्ट होकर पटज्ञान होता है ऐसा नहीं; यह वृत्ति समाप्त यह उत्पन्न— ऐसा नहीं, बल्कि निर्विशेष ब्रह्म दीखते हुए ही भावाभाव देखता रहता है। समुद्र में जैसे लहरें एक के बाद एक उठकर ख़तम होती हैं वैसे ही एक विज्ञान के अन्दर वृत्तिभेद हैं और ख़तम हो जाते हैं। यह धातुस्वभाव है अर्थात् वस्तु का स्वभाव है। ऐसा नहीं कि अन्त में मूर्च्छित अवस्था हो जायेगी। इसी को धर्म कह दिया। यह धर्म क्यों है? 'धारणात् धर्ममित्याहुः' कल्पित सारे जगत् को धारण करने वाला होने से आत्मा धर्म कहा जाता है।

यह कभी भी परतंत्र नहीं रहता है केवल अपने स्वभाव में रहता है। जब तक यह धर्म नहीं समझा तब तक दूसरे दूसरे धर्म हैं। सुन्दर रूप को मैं धारण करता हूँ तो कोढ़ी के रूप को भी मैं ही धारण करता हूँ। कोढ़ी भी मेरे चित्त से अभिन्न होकर ही जाना जाता है।

भाष्यकार कहते हैं कि वह स्वयं प्रभात होता रहता है। ऐसा नहीं कि सूर्य हो तो भान हो, नहीं तो न हो। स्वयंज्योति ही इसका स्वभाव है। सकृद्विभात अर्थात् हमेशा ही विभात रहता है। यह आत्मा का लक्षण हो गया। इस लक्षण वाला जो आत्मा है उसी की यह आख्या अर्थात् नामधर्म है। वस्तु का स्वभाव ही यह है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया कि साक्षी रूप से आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व है ही। सुषुप्ति अवस्था में सब कुछ आत्मा में ही लीन होता है। इसलिये अब नहीं, पहले भी इसका ज्ञान है ही। उसका साक्षी स्वरूप स्वयंज्योतिष्ट्व हमेशा ही विभात रहता है क्योंकि सुषुप्ति में भी साक्षी बना रहता है।।८१।।

यदि ऐसा यह एकमात्र शुद्ध आत्मा सब प्रकार के सुखों को देने वाला श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित है तो फिर श्रुतियों को गुरुओं के मुख से सुनकर सब लोग इसका ज्ञान क्यों नहीं कर लेते? जब सीधी सी चीज़ है, कोई झंझट नहीं, तो फिर सब मोक्ष प्राप्त क्यों नहीं कर लेते?

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ।।८२।।

Scanned by CamScanner

बात यह है कि यह जो साक्षात् परब्रह्म परमात्मरूप भगवान् है वह अभूताभिनिवेश के कारण ढका रहता है और उसी कारण दुःख, जो है नहीं वह भी, प्रकट रहता है।

हम जिस किसी भी धर्म को पकड़कर उस पर आग्रह कर लेते हैं, आग्रह कराने वाले करा भी देते हैं और करने वाला भी कर लेता है। जो आता है वह कुछ न कुछ इस बेचारे को पकड़ा देता है। लोक में भी यही देखने में आता है। हमने किसी से कहा कि 'तू सप्तमी का व्रत नहीं करता है?' कहता है 'नहीं, किसी ने नहीं बताया।' 'अरे! सप्तमी के व्रत से धन की प्राप्ति होती है।' यह कह भर दो, झट पकड़ लेगा। और यदि उससे कहो कि 'एकादशी के व्रत में कुछ नहीं रखा है' तो कहेगा 'चलो, कोई फ़रक नहीं पड़ता। भूखे ही तो रहते हैं।' लेकिन मन कह रहा है कि क्या पता कहीं छोड़ें तो दोष ही लग जाये! इसलिये इसे नया दंडा पकड़ाना सरल है, पुराना छुड़ाना मुश्किल है। किसी को अच्छा संस्कृत का हनुमान् जी का मंत्र बतायें तो उसके बाद भी हनुमान् चालीसा करता रहता है। उससे कहें कि जब मंत्र बता दिया तो यह क्यों करता है? कहता है 'चला रखा है, दो मिनट ही तो लगते हैं।' पुराना दंडा छुड़ाना मुश्किल है, नया पकड़ाना सरल है। इसी प्रकार सबने दंडे पकड़े हुए हैं, वे छूटते नहीं।

ऐसे ही एक अद्वितीय आत्मतत्त्व का भी ध्यान कर लेंगे; बाकी सब तो चलना ही चाहिये, उसके साथ घण्टा भर सत्संग भी सुन लेंगे। इसलिये कहते हैं कि यह जो साक्षात् परब्रह्म परमात्मतत्त्व है, जो भगवान् है वह जिस किसी धर्म के आग्रह से बार बार नित्य आवृत होता रहता है। है यह नित्य सुखरूप, लेकिन आवृत हो जाता है। इतना ही नहीं कि इसका स्वरूप आवृत हो गया, विवृति भी आ गयी और यही विवृति दुःखरूप है। इसलिये फिर इसे दुःखप्राप्ति होती रहती है।

प्रश्नकार का प्रश्न था : जब इतनी सरल चीज़ है तो लोग छोड़ते क्यों नहीं? जवाब दिया कि मिथ्या अभिनिवेश के कारण ही नहीं छोड़ पाते। मिथ्या अभिनिवेश से आत्मतत्त्व स्वरूप के सुख को ढाँकते रहते हैं और जो असत् द्वैत है उसे सिर पर चढ़ाकर दुःख को प्रकट करते रहते हैं। इसलिये बार बार श्रुतियों और आचार्यों द्वारा उपदेश दिये जाने पर भी उन्हें आत्मतत्त्व का स्पष्ट भान नहीं होता क्योंकि पुरानी चीज़ें सिर पर बैठी रहती हैं।

जितना तत्त्वज्ञान सुना दो, विज्ञान बता दो, लेकिन वे पुरानी चीज़ें हटती नहीं। उलटा कहते हैं 'देखो हमने ज्ञान भी कर लिया और फिर देखो दुनिया का काम भी चला रहे हैं 'भोगश्च मोक्षश्च करस्थएव' तुम सब तो डरकर भाग गये।' यह नहीं कि चलो अब बहुत कर लिया, अब छोड़कर आनंद से इसमें लगें। लेकिन 'दुखं विव्रियते सदा'। असली बात थोड़ी देर बाद ही कहते हैं 'लड़का कहना नहीं मानता, पत्नी खर्च बहुत करने लगी है।व्यापार डल हो रहा है।' इस प्रकार दुःख ही दुःख प्रकट करते रहते हैं।

Scanned by CamScanner

घूम फिर कर उनके पास एक ही बात रहती है कि तुम संन्यासी लोग भी तो रोटी खाते हो। हम तो आनंद करते हैं तुम भी आनंदी बनो; लेकिन नहीं बनते। ढूँढ ढाँढ कर किसी एक महात्मा को पकड़ कर कहते हैं 'देखो संन्यास में भी सुख नहीं।' तब तुम बड़े खुश होते हो कि 'इसकी प्राप्ति न तो हमें हुई और न इन्हें हुई और ज्ञान जैसा हमें वैसा इन्हें भी होता है।' इस प्रकार सुख का आवरण और दुःख का विवरण होता है।

इसलिये जिस किसी धर्म को पकड़कर फँसना नहीं चाहिये। काशी में पंडित लोग पढ़ाते पढ़ाते संसार सत्यता का प्रतिपादन करते रहते हैं। जो महात्मा उनसे पढ़ते हैं उनको भी वही संस्कार पड़ जाते हैं कि 'संसार का कल्याण करना चाहिये'। यह एक नया दंडा पकड़ा देते हैं। संसार है ही नहीं, कल्याण क्या करना है? बेकार की बात है।

इसी को भगवान् भाष्यकार ने समझाया कि स्वयंज्योतिष्ट्व आदि प्रकार से श्रुति और आचार्य द्वारा समझाये जाने पर भी लौकिक पुरुष इस परमार्थ तत्त्व का ग्रहण क्यों नहीं करते? इस शंका का जवाब देते हैं : जिस किसी द्वय वस्तु को पकड़ लेने के कारण उस तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाते। 'धर्मस्य' का अर्थ कर दिया द्वय वस्तु और 'ग्रहेण' का अर्थ कर दिया 'ग्रहणावेशेन' अर्थात् ज़बरदस्ती पकड़ लेना। उसमें मिथ्या अभिनिविष्ट होकर सुख को ढाँक लेते हैं। सुख तो सहज अवस्था है। मिथ्या अभिनिवेश के कारण तो ज़ोर से, प्रयत्न से सुख करने को कहेंगे तो वह आत्मसुख बिना किसी अन्य प्रयत्न के ही ढक जाता है। उसके लिये कोई बड़ा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसका किया हुआ अभिनिवेश ही कारण बन जाता है और दुःख प्रकट हो जाता है।

ऐसा क्यों होता है? क्योंकि परमार्थ ज्ञान दुर्लभ है। आत्मज्ञान को यथार्थ रूप से जानना कठिन है इसलिये आत्मतत्त्व का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। दुर्लभ इसलिये है कि एक ज्ञान की जगह दूसरा ज्ञान पकड़ने की तो हमारी आदत है लेकिन सारे ज्ञानों को छोड़ने की आदत नहीं है। जब कोई दंडा पकड़ाता है तो सरल लगता है और जब कहते हैं 'सब छोड़ो' तो फिर घबराहट आती है। इसीलिये दुर्लभ है। भाष्य में दुर्लभ कहकर छोड़ दिया। क्यों दुर्लभ है? इसमें कारण यह समझना कि पहले कभी सारे ज्ञानों के परित्याग का उपाय नहीं किया इसलिये आग्रह को छोड़ने का भी एक आग्रह हो सकता है। इसलिये सहज अवस्था नहीं आ पाती।

भगवान् का ही अर्थ कर दिया कि वह अद्वितीय देव ही है। षड्विध ऐश्वर्य वाला भगवान् नहीं समझना। विद्यमान सुख का आवरण और अविद्यमान दुःख का विवरण करते रहने के कारण ही मिथ्या अभिनिवेश से उपनिषदों के द्वारा और गुरुओं के द्वारा बहुत प्रकार से कहने पर भी उसे समझ नहीं पाते। यत्किंचिद् बात बैठे तो भी उस पर स्थिर नहीं रहते। वे तो तात्पर्यपूर्वक तुम्हें बार बार समझाते हैं, लेकिन आग्रहों के कारण उसे समझना कठिन हो जाता है। इसी दुर्लभता के विषय में श्रुति का प्रमाण दिया 'आश्चर्यो

Scanned by CamScanner

वक्ता कुशलोस्य लब्धा'। कठोपनिषद् में कहा है कि आत्मा को बताने वाला और समझने वाला एक आश्चर्य ही है।।८२।।

●

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलंस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ।।८३।।

जो अविवेकी हैं वे 'है' इस चलरूप से या 'नहीं है' इस स्थिररूप से या 'है भी नहीं भी है' इस उभय रूप से और या 'सर्वथा नहीं ही है' इस अभावरूप से चित्त को आवृत ही करते रहते हैं।

जो अबुद्धि वाले लोग हैं वे चाहे जितना अपने को बुद्धिमान् समझते रहें, हैं सब अविवेकी ही। वे किस प्रकार वर्णन करते हैं? कोई कहता है कि यह आत्मतत्त्व है 'अस्ति'। न्याय वैशेषिक ऐसा मानते हैं और पूर्वमीमांसक भी यही मानते हैं कि शरीर आदि से भिन्न प्रमाता है। शरीर से भिन्न सुख-दुःख भोगने वाला, कर्म करने वाला, स्वर्गादि जाने वाला एक आत्मा है। वह देह आदि से व्यतिरिक्त होने पर भी बुद्धि से अलग नहीं है। इसलिये वे कर्ता भोक्ता आत्मा मानते हैं। अधिकतर संसार में लोग यही मानते हैं कि यह कर्म करोगे तो आगे यह फल भोगोगे। देह आदि से व्यतिरिक्त आत्मा है।

दूसरे कहते हैं 'न अस्ति', नहीं है। यह विज्ञानवादी पक्ष है। वे कहते हैं कि विज्ञान (बुद्धि) क्षणिक है और उसे ही तुम आत्मा समझे बैठे हो। इसलिये क्षणिक होने से नित्य आत्मा नहीं है ऐसा मानते हैं। 'अस्ति नास्ति इति' यह जैनियों का पक्ष है। नंगे लोग ऐसा मानते हैं कि है भी और नहीं भी है। शून्यवादी कहता है कि है ही नहीं 'नास्ति नास्ति'। विज्ञानवादी कहता है कि नित्य नहीं है और इसने कहा कि सर्वथा नहीं है। हर हालत में आत्मा के बारे में संभावनाएं चार ही हो सकती हैं। है, नहीं है, है भी नहीं भी, और नहीं ही है। ये ही चार पक्ष बन सकते हैं। अस्ति वाले इसे चल, नास्ति वाले स्थिर, अस्ति नास्ति वाले उभयरूप और नास्ति नास्ति वाले इसे अभावरूप मानते हैं। ये सभी भिन्न भिन्न प्रकार से सच्चे आत्मतत्त्व को ढाँकते ही रहते हैं। उसकी असलियत को समझ नहीं पाते। यहाँ वैशेषिकादि, बौद्ध और जैनों को ही लेना है ऐसा नहीं। आत्मा को चाहे जिस ढंग से मानने वाले सभी को ले लेना क्योंकि अपने अपने ढंग से समझाते हुए वे आत्मा की वास्तविकता को ढाँकेंगे ही। 'है' कहकर भी ढाँकेंगे क्योंकि उसे शरीरादि कुछ ही मानते रहेंगे। 'नहीं है' आदि से तो ढाँकना स्पष्ट है।

ये सारे के सारे कणाद, गौतम, नागार्जुन, महावीर आदि बड़े बड़े बुद्धिमान् लोग हैं। ये पंडितों के अग्रह हैं। आग्रही होकर वे लोग लड़ने आ जाते हैं। जो कहते हैं कि इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, वे ऐसा अगर मानते हों तो झगड़ा क्यों करें?

Scanned by CamScanner

लेकिन एक दूसरे से ही झगड़ते हैं। सूक्ष्म विषयों के पंडित भी भगवान् परमात्मा को आवृत करते रहते हैं। मूर्ख लोग तो घड़े कपड़े से ही आवरण करते रहते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी हैं, इसलिये है, नहीं है आदि में ही लगे रहते हैं। वैशेषिक आदि 'अस्ति' को मानने वाले हो गये कि आत्मा है। 'नहीं है' यह दूसरे वैनाशिक क्षणिक विज्ञानवादी मानते हैं। अर्द्धवैनाशिक दिगम्बर हुए जो कहते हैं है भी नहीं भी है। चूँकि कहीं कहीं नैयायिकों को अर्द्धवैनाशिक कह दिया है इसलिये भाष्यकारों ने कह दिया कि यहाँ उन्हें कह रहे हैं जो नंगे रहते हैं। 'नहीं है नहीं है' ऐसा मानने वाले नागार्जुन हो गये।

अब वह जो चल स्थिर भाव बताया था उसी को स्पष्ट करते हैं। अस्तिभाव चल भाव हो गया। घट आदि अनित्य पदार्थों से ये आत्मा को भिन्न मानते हैं क्योंकि इनके हिसाब से आत्मा सुख दुःख आदि आकारों में बदलता रहता है। यह प्रमाता की अस्तिता हो गयी। घट से अलग प्रमाता है। क्योंकि प्रमाता को सुख दुःख होता है, घट को नहीं होता। जब उसे रसगुल्ला मिल गया तो सुखी हो गया और जब रसगुल्ला मुँह में डाल रहा हो और थप्पड़ मारकर छीन लो तो रोता है। यह चलभाव हो गया। कभी सुखी कभी दुःखी अर्थात् सविशेष हुआ परिणामी है, यह चलरूपता है। घट आदि अनित्य पदार्थों से प्रमाता विलक्षण इसलिये है कि यह पुण्य पाप आदि करके शरीर आदि छोड़कर आगे भी जाता है लेकिन ये घट आदि यहीं नष्ट हो जाते हैं।

जो विज्ञानवादी 'नहीं है' मानता है। उसके यहाँ देह आदि से अतिरिक्त प्रमाता बुद्धि से अतिरिक्त नहीं है। इसलिये वह स्थिर है क्योंकि वह हमेशा ही निर्विशेष रहता है। यह उसका स्थिरभाव हो गया। अपने यहाँ तो रसगुल्ला मिला तो सुखी लेकिन क्षणिकविज्ञानवादी के यहाँ तो मिलना न मिलना एक ही बात है।

तीसरे दोनों को मिलाकर मानते हैं अर्थात् चल भी और स्थिर भी। इनका सप्तभंगी न्याय है, सब चीज़ों में स्याद्वाद है। चौथे हैं शून्यवादी जिनके यहाँ अभाव ही है। ये कहते हैं कि 'है' 'नहीं है' दोनों और मिथ्या (अनुभय), इन चारों प्रकारों का अभाव है। इसे वे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य बोलते हैं। कहने को ये अभावरूप नहीं मानते लेकिन अभाव से भिन्न कहा तो फिर अभाव आ ही गया।इसलिये इनका अभाव ही आत्यन्तिक हुआ। निष्प्रतियोगिक अभाव समझ लो। ये चारों प्रकार चल, स्थिर, उभयरूप और अभाव मानने वाले जो बाल अर्थात् अविवेकी हैं ये सब अद्वय भगवान् को ढाँकते रहते हैं। ये बड़े बड़े पंडित हुए हैं, बड़े बड़े शास्त्रार्थ करने वाले होते हैं, पढ़े लिखे भी बहुत हैं, लेकिन मूर्ख ही हैं क्योंकि परमार्थ तत्त्व को तो जानते ही नहीं। जब ये बड़े बुद्धिमान् लोग ढाँकते रहते हैं तो जो स्वभाव से ही मूर्ख हैं वे ढाँके तो क्या बात है!।।८३।।

●

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ।।८४।।

Scanned by CamScanner

उपर्युक्त चार कोटियाँ हो गयीं जिनके आग्रह से यह भगवान् हमेशा ढका रहता है। वह भगवान स्वरूप से इन सब कोटियों से अस्पृष्ट है। जिसने इस बात को समझ लिया कि चारों उसमें नहीं, वही सर्वज्ञ है।

परमार्थ तत्त्व कैसा है? जिसके ज्ञान से विवेकी पंडित हो जाये। भाष्य की यह पंक्ति रटकर रखने की है 'कीदृक् पुनः परमार्थतत्त्वम्। यदवबोधाद् अबालिशः पण्डितो भवति।' परीक्षक अपनी परिकल्पनाओं से निर्णय का निरूपण करते रहते हैं, 'ऐसा ही है। नहीं जी, ऐसा नहीं ऐसा है' इत्यादि अभिनिवेशों के द्वारा उसको ढाँकते रहते हैं। ये बड़े बड़े किले बाँधते हैं और उसके द्वारा ढाँक देते हैं। जैसे किले में ढँकी हुई चीज़ें नहीं दिखतीं ऐसे हीं इनसे भी जैसा आत्मा है वैसा उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। ये कोटियाँ कौन बाँधते हैं? प्रावादुक अर्थात् बक बक करने वाले लोग हैं जो समझते कुछ नहीं केवल बोलते रहते हैं। ये सारी कोटियाँ ऐसी हैं जिनके ग्रहण से यह आत्मा आच्छादित रहता है। प्रावादुकों को तो ऐसा लगता है लेकिन वह भगवान् अस्ति, नास्ति आदि इन चारों कोटियों से असंग है, अस्पृष्ट है अर्थात् अस्ति आदि कोई कल्पना उसके विषय में नहीं कर सकते।

इस चीज़ को जिस मुनि ने समझ लिया, देख लिया, अनुभव कर लिया, वेदांतों को पढ़कर, उपनिषद के द्वारा, ज्ञानी पुरुष के द्वारा उसे प्राप्त कर लिया, वह सर्वदृक् सर्वज्ञ हो गया। सचमुच पंडित वही है। बाकी सब तो वावदूक लोग हैं, बकबकिये हैं। यदि वास्तविक ज्ञान को जानते होते तो किसी एक निर्णय वाले होते। इन सबका पहले खण्डन कर आये हैं कि ये कोई एक निर्णय वाले नहीं हैं इसलिये केवल उसे ढाँकते रहते हैं। आत्मा को इन्हीं चीज़ों से ढाँकते हैं। इसका ज्ञान तो उन्हें होता है जो उपनिषद् में प्रवीण होते हैं, बार बार विचार करते हैं। वे स्वयं अपने रूप से उसे जानते हैं। उससे भिन्न कुछ नहीं है, अतः उनका ज्ञान निराकांक्ष है, किसी अन्य ज्ञेय की आकांक्षा वाला नहीं।।८४।।

●

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ।।८५।।

इस समग्र सर्वज्ञता को प्राप्त करने से जो मुख्य अद्वितीय ब्रह्मपद है उसकी प्राप्ति हो जाती है। वह पद आदि मध्य और अंत से रहित है। इसके बाद हे मीमांसक! तुम्हारी यावज्जीवादी श्रुतियों की बात वह क्या माने, क्या इच्छा करे!

पूर्वमीमांसक कहता है कि ज्ञान तुम्हें हो गया, मान लिया, लेकिन जैसे और चित्त के स्पंदन होते रहते हैं वैसे ही अपने अपने वर्णाश्रम धर्म, अग्निहोत्रादि कर्म भी करते रहो। लक्कड़पंथी ऐसा कहते रहते हैं कि जैसे दूसरे व्यवहार करते हो ऐसे ही दण्डतर्पण

Scanned by CamScanner

आदि भी कर लिया करो। मीमांसक भी ऐसा मानते हैं 'यावज्जीवेद् अग्निहोत्रं जुह्यात्'। कोई लोककल्याण कोई शास्त्रकल्याण बताएगा। उनकी बातों में नहीं आना चाहिये। जिसने इस प्रकार से समग्र सर्वज्ञता की प्राप्ति कर ली अर्थात् चतुष्कोटिविनिर्मुक्त की प्राप्ति कर ली और जिसके लिये और कुछ जानना शेष नहीं रह गया उसने ब्राह्मण्य पद की प्राप्ति कर ली और वही ब्राह्मण है। यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य वाली मत समझना। उनका चतुष्कोटि रहित सच्चिदानंद नहीं है। हमारा चतुष्कोटिमुक्त सच्चिदानंद है। 'है' इस कोटि से रहित होने पर भी है। सत्य का लक्ष्य होने पर भी सत्य ही है। जैसे गंगा का लक्ष्य तट गंगा नहीं होता ऐसा नहीं समझना। यहां तो 'यह देवदत्त वही है' इसमें 'यह और वही' का लक्ष्य होता हुआ अखण्ड है जो वह भी था यह भी है और दोनों नहीं भी है। यह फ़रक हमेशा याद रखना। ऐसी जानकारी वाले को ही श्रुति ब्राह्मण कहती है 'स ब्राह्मणः' जिस विद्वान् ने ब्रह्म को अपरोक्ष कर लिया। उसके पहले तो गौण ब्राह्मण हैं, आगे ब्राह्मण बनने में लगे रहते हैं तभी ब्राह्मण कहे जाते हैं। नहीं तो सब बेकार हैं। जो 'बाटा शू कंपनी' खोलें वे काहे के ब्राह्मण हैं? उनके बाप दादा उसमें लगे रहते थे इसलिये ब्राह्मण कहलाते थे। अपरोक्ष ब्रह्मसाक्षात्कार किया हुआ ही वेदांत शास्त्र का ब्राह्मण है। यह श्रुति भी इसी बात को कहती है 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य' जो विद्या के फल की अवस्था में है उसकी यह महिमा है, स्वभाव है कि 'न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्' वह कर्म से घटता बढ़ता नहीं। ऐसा ब्रह्मविद् ही ब्राह्मण है। अनेक जगह श्रुतियों में ब्राह्मण का यही मतलब है जिसकी स्वभावस्थ ब्रह्मता है।

उसी ब्राह्मण्य पद को कहते हैं कि आदि मध्य और अंत अर्थात् उत्पत्ति स्थिति और लय उसे अप्राप्त हैं। जहाँ उत्पत्ति स्थिति और लय नहीं होते वह अद्वय पद है। उसको जिसने प्राप्त कर लिया उसे इस आत्मलाभ के बाद और कोई लाभ नहीं है जिसके लिये वह कोई चेष्टा करे। उसके लिये सब कुछ निष्प्रयोजन है। जो ज्ञानवान् है उसको फिर कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता है। फिर तुम उससे क्या वर्णाश्रम धर्म करवाना चाहते हो? भगवद्वाक्य गीता स्मृति का प्रमाण दिया 'नैव तस्य कृतेनार्थः'। अज्ञानी के लिये सारे वर्णाश्रम हैं धर्म हैं, ज्ञानी के लिये नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य तो कहते हैं कि जिसको ज्ञान की इच्छा भी हो गयी उसके लिये ही सब वर्णाश्रम धर्म बेकार हो गये। दृढ ज्ञान के बाद वह जो करता है स्वाभाविक रूप से करता है।।८५।।

●

विद्वान् के लिये प्रवृत्ति की तरह निवृत्ति भी किसी विधि से नहीं, सहज है यह कहते हैं —

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ।।८६।।

Scanned by CamScanner

विप्र अर्थात् वेदार्थ के जानकारों का विनय, शम और दम सब सहज स्वाभाविक है। वह अपने सर्वक्रियारहित परिपूर्णरूप से बना रहता है।

इस प्रकार का जो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है उसका विनय कैसा है? जिसने अपने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया उसका स्वभाव ही विनय का हो जाता है। उसमें कोई उद्दण्डता देखने में नहीं आयेगी। यह नहीं कि किसी ने कहा हो इसलिये विनयी होकर रहे। इसके द्वारा बताया कि जब तक दृढ ज्ञान न हो तब तक जीवन में विनय को बढ़ाता रहे। जो जो सिद्ध के लक्षण हैं वे साधक के लिये प्रयत्नसाध्य होते हैं। बोलने में, चलने में, प्रत्येक व्यवहार में उसकी नम्रता सब जगह चमकनी चाहिये। स्वभाव से उसे शम हो जाता है, नियोगाधीन होकर नहीं करता। उसका मन हमेशा ही शांत बना रहता है। कोई विकार उसके मन में नहीं आता। इसी प्रकार से उसका सारा व्यवहार स्वाभाविक होता है। उसकी इन्द्रियाँ हमेशा निरुद्ध रहती हैं। विनय, शम और दम तीनों चीज़ें उसमें हमेशा स्वभाव से रहती हैं। इस प्रकार का जो ज्ञानी हैं वह हमेशा ही स्वाभाविक जो उपशान्तिरूप है, उसमें बना रहता है। नियोगाधीन कोई कर्त्तव्यता उसकी नहीं है। जिसने कूटस्थ आत्मतत्त्व को जान लिया वह अशेष द्वैतों से रहित हुआ ब्रह्मरूप से रहता है।

विप्र का अर्थात् ब्राह्मणों का जो विनय है अर्थात् हरेक से झुकना वह उसमें रहता है। घमण्ड कार्य-करण-संघात को लेकर होता है। 'मेरी बुद्धि अच्छी, मेरा कुल अच्छा, मेरा अन्तःकरण अच्छा' आदि ये सब शरीर के धर्म हैं। इनको छोड़ दिया तो अभिमान किस बात का? इसलिये ये सब उसमे स्वाभाविक होते हैं क्योंकि यही आत्मस्वरूप की स्थिति है। जैसे विनय वैसे ही उसका शम भी प्राकृत होता है। स्वभाव का भी अर्थ हो गया कि मन को रोकता हो ऐसा नहीं, बिना कुछ किये हुए उसका मन रुका रहता है। दम भी उनका प्राकृत है। क्योंकि ब्रह्म स्वयं उपशान्तरूप है इसलिये उनकी शान्ति हमेशा बनी रहती है। इस प्रकार के स्वभाव से ही उपशान्त ब्रह्म है।

मन में जो यह बार बार प्रश्न उठता है कि ज्ञान के बाद क्या स्थिति रहती है? उसका यहाँ जवाब दिया कि यह स्थिति रहती है : विनय, शम और दम उसमें स्वभाव से बने रहते हैं। यह जो स्वाभाविकी ब्रह्मस्वरूप उपशान्ति है इसकी प्राप्ति कर ली। पहले साधकावस्था में शम मनोनिग्रह हुआ था और यहाँ शम मायने सर्वथा शांति है। चाहे कुछ हो जाये, वह ब्रह्मस्वरूप से स्थित रहता है। ऐसा नहीं कि अशान्ति राग द्वेष भी उसमें दीखें, सुखी दुःखी भी होता रहे और कहे 'मैं ब्रह्मस्वरूप हो गया'। उसका मन विषयों में नहीं जाता, इन्द्रियों में रुचि नहीं रहती। ये सब उसमें स्वाभाविक हो जाते हैं।।८६।।

Scanned by CamScanner

प्रतिज्ञा की थी 'अविवादोऽविरुद्धश्च' (४.२) वेदांत सिद्धन्त कैसा है? द्वैत और विरोध से रहित है। दूसरों की जितनी मान्यताएँ हैं वे आपस में ही एक दूसरे से कट जाती हैं। सब मान्यताओं के कट जाने पर जो बच जाता है वह ब्रह्म है। अविवाद और अविरुद्ध तो बता दिया। यदि हम कुछ मानें तो किसी से विरोध हो और यदि हम कुछ मानें तो किसी को मनाने के लिये विवाद करें। जब हम कुछ मानते ही नहीं तो न हमको किसी दूसरे को समझाने के लिये विवाद करना पड़ेगा और न किसी से हमारा विरोध होगा। जो भी माना जाता है वह अविद्या के अन्दर और अज्ञान से जो माना सो मानते रहो, उससे क्या होता है! ज्ञानदृष्टि से कुछ भी मानना बनता नहीं। यहाँ तक कि अजरूपता भी हमको 'प्रतिपादित' करना इष्ट नहीं है। एक ही चीज़ अजता बच जाती है तो उसको भी हम अविद्याग्रस्त ही मानते हैं।

वहीं जो दूसरी प्रतिज्ञा थी 'अस्पर्शयोगो वै नाम', वह अस्पर्शयोग बताना बाकी रहा। उसी को अब बताते हैं। दूसरे जितने प्रावादुक हैं, बड़े बड़े सिद्धान्तों को मानने वाले किंतु शुष्कतर्कपरायण हैं, उनका तो एक दूसरे से ही खण्डन हो गया। इस तरह परमत निराकरण हो गया। अस्पर्श योग की प्रक्रिया क्या है? बिना किसी सिद्धान्त को मानने वाला जो शिष्य है उसने जो स्वाभाविक रूप से अध्यारोप किया है उस अध्यारोप की दृष्टि का सहारा लेकर उसको ज्ञान की सिद्धि कराने का ढंग यहाँ स्वप्रक्रिया है। यह याद रखना चाहिये क्योंकि कई बार प्रश्न आता है कि वेदान्त की निजी प्रक्रिया क्या है? क्या पदार्थ माने जाते हैं? कौन से सम्बन्ध हैं? ये सब हमारी प्रक्रिया नहीं। जो तुम मान रहे हो उसी के सहारे अज समझाना, बस यही वेदान्त की प्रक्रिया है। आनन्दगिरि स्वामी ने यहाँ लक्षण दे दिया 'शिष्यस्य अध्यारोपदृष्टिम् आश्रित्य जाग्रदादिपदार्थपरिशुद्धिपूर्वको बोधप्रकारः स्वप्रक्रिया।'

अगर नैयायिक बनकर आया तो सांख्य से भिड़ा दिया, सांख्य बनकर आया तो योगी से, योगी बनकर आया तो पूर्वमीमांसक से, पूर्वमीमांसक बनकर आया तो उसे बौद्ध से और बौद्ध बनकर आया तो फिर पूर्वमीमांसक से; इस प्रकार एक दूसरे को एक दूसरे से भिड़ाकर सबका खण्डन कर दिया। उसकी विशिष्ट मान्यताएँ नष्ट हो गयीं। इन विशिष्ट मान्यताओं के न रहने पर जो साधारण अध्यारोप शिष्य का रहता है उसका सहारा लेकर किस प्रकार पदार्थों की परिशुद्धि की जाये, यह आगे के ग्रन्थ में बताना है। वैसे यह सारा का सारा प्रसंग आगम प्रकरण में आ चुका है।

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ।।८७।।

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ।।८८।

Scanned by CamScanner

यही अपनी सीधी सादी प्रक्रिया है। पहली चीज़ जाग्रत् अवस्था। वह क्या है? जहाँ चीज़ भी हो और उसका ज्ञान भी हो, जहाँ घड़ा भी है और घड़े की उपलब्धि भी होती है। ऐसा जो द्वैत है वह सब लोगों को प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उसको 'लौकिक' कहा। यह जाग्रत् अवस्था स्वीकार की जाती है। बाक़ी जितनी मानी हुई बाते हैं वे कटने के बाद भी यह अवस्था रह जाती है। जो शिष्य अभी और किसी मान्यता में नहीं फँसा है उसको भी पदार्थ और उसकी उपलब्धि जाग्रत् अवस्था में होती है। जहाँ पदार्थ न हो लेकिन उसकी उपलब्धि हो वह स्वप्न अवस्था 'शुद्ध लौकिक' है ऐसा स्वीकार किया जाता है। और जहाँ वस्तु भी न हो और उसकी उपलब्धि भी न हो, वह 'लोकोत्तर' अर्थात् सुषुप्ति अवस्था हो गई। इन तीनों अवस्थाओं में 'ज्ञान' रहा। जाग्रत् में पदार्थ और पदार्थों का ज्ञान, स्वप्न में बिना पदार्थ के ज्ञान और सुषुप्ति के अन्दर ज्ञान भी नहीं इसका ज्ञान। ये अवस्थाएँ उसकी 'ज्ञेय' हो गयीं। यही समझना है 'विज्ञेय' है। यही विवेकियों ने हमेशा बताया है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति और इन तीनों अवस्थाओं में जो एकरूप से रहता है, बस वही एकमात्र अनुभव करने के योग्य है।

बाकी जितनी मान्यताये हैं वे सब ऊपर से आयी हुई हैं। लेकिन ये तीन चीज़ें तो सभी अनुभव करते हैं। बाकी तो सब— एक ईश्वर, उसने सृष्टि बनाई और कैसे बनाई इत्यादि सब— मान्यतायें हैं, सुन-सुना रखी हैं। ईश्वर को किसी ने देखा है? केवल जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति का ही अनुभव है।

यहाँ से नया प्रकरण आरंभ हुआ। उपर्युक्त प्रकार से प्रावादुक अर्थात् अपने को विद्वान् पंडित समझने वाले किंतु वस्तुतः केवल बक बक करने वाले, 'मैनें सब समझ लिया' ऐसे निश्चय वाले जो मानते हैं वह सब एक दूसरे का विरोधी होने के कारण वे लोग एक दूसरे की काट करते हैं। इससे यह मानना पड़ता है कि उनमें राग द्वेष रूप दोष भरे पड़े हैं। कोई दूसरे की बात को काटेगा तो बिना द्वेष के क्यों काटेगा? जो उसकी बात तुमसे मेल नहीं खाती तो वह दोष है, और तुम्हारे मन की बात कहे तो कहते हो कि 'बढ़िया कही'; राग है तभी कहते हो। मान लो कोई आर्यसमाजी कहे कि गुण कर्म से ब्राह्मण होता है। जो जन्म से ब्राह्मण होता है उसे द्वेष होता है कि मैं जन्म से ब्राह्मण हूँ यह मेरे ब्राह्मणत्व को काट रहा है। और जो जाट है वह प्रसन्न होता है कि 'ठीक कह रहे हैं, गुण कर्म से ही जाति होनी चाहिये'। दूसरी तरफ सनातनी जब कहेगा कि जन्म से ही ब्राह्मण होता है तो जाट के मन में दुःख होगा और जन्म से ब्राह्मण प्रसन्न हो जायेगा। इसी से सिद्ध होता है कि सनातनी और आर्यसमाजी दोनों राग द्वेष के दोष वाले हैं। यह रागद्वेषास्पदता होने से ही उनके दर्शन संसारकारण बने रहेंगे। जब तक ये राग द्वेष रूपी दोष बने हुए हैं तब तक संसार है।

भाष्यकारों ने यह सम्यक् ज्ञान का लक्षण कर दिया— 'रागादिदोषाऽनास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्दर्शनम्।' पहले (३-१७) भी यही कहा था। सम्यक्

Scanned by CamScanner

ज्ञान से संसार के कारण की निवृत्ति और उसी सम्यक् ज्ञान से राग द्वेष रूपी दोषों की निवृत्ति होती है। जितने जितने राग द्वेष दूर होते जायें उतना उतना समझना चाहिये कि संसार-कारण से दूर हो रहे हैं और जितने जितने राग द्वेष बढ़ते जायें उतना उतना समझना चाहिये कि संसार में फँस रहें हैं। चाहे जितनी माला खटका लो, प्राणायाम कर लो, ध्यान कर लो, गंगा जमुना में गोता लगा लो, जो मर्ज़ी सो कर लो, राग द्वेष ही जन्म मरण का, संसार का कारण होंगे। यही बात भगवान् ने गीता में कही 'तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'। राग द्वेष ही संसार-कारण हैं। सारी साधना राग द्वेष हटाने के तरीके हैं। जैसे जैसे राग द्वेष हटे वैसे वैसे समझना चाहिये कि ज्ञान के नज़दीक जा रहे हैं। और जितने जितने राग द्वेष बढ़ें उतना उतना समझना चाहिये कि हम संसार के अंदर फँस रहे हैं।

कुछ लोग एक विचित्र मान्यता कहते हैं कि पहले राग द्वेष बढ़ा लेंगे तब राग द्वेष ख़तम करेंगे। इसलिये वे कहते हैं कि 'राग द्वेष हटाना तो अच्छी बात है लेकिन अभी थोड़े ही हट जायेंगे। अभी तो और ज्यादा बढ़ा लेंगे, जितनी अपनी हैं उससे ज्यादा मान्यतायें अपने ऊपर लेकर राग द्वेष बढ़ा लेंगे, तब वे हटेंगी।' यह तो वही बात हुई कि कोई कहे कि यहाँ से आबू से पहले दिल्ली जाकर बंबई पहुँचेंगे। ऐसा नहीं। जैसे ही यहाँ से बम्बई के रास्ते चलोगे तो हर क्षण बम्बई पास आयेगी। समुद्र के रास्ते जाने पर जितना समुद्र पास आयेगा, बम्बई पास आयेगी। इसलिये हर क्षण देखना चाहिये कि मेरे राग द्वेष कम हो रहे हैं या नहीं। ऐसा नहीं कि पहले बढ़ा लेंगे तब होगा।

जैसे मान लो शास्त्रों के अन्दर संसार, धन और स्त्री की निन्दा की गयी। वह निन्दा किसलिये की? जिनको संसार में, स्त्री में और धन में राग है उस राग को हटाने के लिये। अब अगर तुम्हारे अन्दर राग नहीं है और उन शास्त्र कल्पनाओं को पढ़कर ज़बरदस्ती हृदय में उनके प्रति द्वेष पैदा करने लगते हो तो उलटा फँसने चल दिये। जहाँ स्त्री धन के अन्दर अत्यधिक आसक्ति है उसको हटाने के लिये कहा गया कि वहाँ से वृत्ति को हटाओ। उसकी निन्दा करने से वहाँ से वृत्ति हटेगी। अगर तुम्हें कोई इच्छा नहीं और बाँच बाँच कर गुस्सा आता है कि 'स्त्री बहुत बुरी है, धन बहुत बुरा है', तो उलटा द्वेष बढ़ गया।

यह नहीं समझना चाहिये कि हमारे अन्दर शायद छिपा हुआ राग होगा उसे ख़तम करेंगे। क्योंकि राग द्वेष मन की वृत्ति होने से जब उत्पन्न हों तब नष्ट करना है। तब कहोगे कि अभ्यास कब करें? राग-द्वेष प्रकट न हों तो भी अपने से नहीं छिपे रहते। जब अपने से छिपे नहीं हैं, ख़ुद को मालूम है कि मुझे अमुक विषय में राग है, तब अभ्यास करो। यहाँ तो कह रहे हैं कि ख़ुद को भी जिसके प्रति अपना राग नहीं लगता उस राग को उखाड़ने की कोशिश में जाओगे तो द्वेष और इकट्ठा कर लोगे। इसी प्रकार सब चीज़ों में समझना। अपने अन्दर देखना चाहिये कि कौन कौन सी चीज़ हमारे अन्दर

Scanned by CamScanner

राग पैदा करती है। उनके प्रति धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा द्वेष बढ़ाना चाहिये ताकि राग ख़त्म हो जाये। लेकिन जिनके प्रति मन स्वाभाविक प्रवृत्ति कर रहा है वहाँ उनका ज़बरदस्ती आरोप नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार जिनके प्रति द्वेष है वहाँ प्रशंसा को बार बार मन में लाकर थोड़ा-थोड़ा राग लाना पड़ेगा, तब द्वेष निवृत्त होगा। बहुत सी चीज़ें ऐसी होती हैं जिनके प्रति मनुष्य के मन में स्वाभाविक द्वेष हुआ करता है। उनको हटाने के लिये क्या करना पड़ेगा? जैसे सूअर की टट्टी के प्रति द्वेष है तो यह भावना करो कि सूअर की टट्टी खाद बनकर अनाज बनती है। जैसे गोबर की खाद वैसे ही वह भी खाद ही है। तब धीरे धीरे द्वेष हटेगा और फिर उसके प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जायेगी। अब जिन चीज़ों के प्रति द्वेष नहीं, उनके प्रति राग नहीं लाना चाहिये। तभी सहज अवस्था आती है, नहीं तो नहीं आती। जब तक राग द्वेष किसी चीज़ के प्रति थोड़ा भी है तब तक संसारकारण बना ही रहेगा। जब द्वेष दीखे तो द्वेष को काटने के लिये उसकी अच्छाई देखो। जब राग दीखे तो उसे काटने के लिये उसकी बुराई देखो। तब सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जायेगी।

क्योंकि पदार्थ सारे के सारे ब्रह्मस्वरूप हैं इसलिये न हेय और न उपादेय हैं। यह स्वप्रक्रिया बता रहे हैं इसलिये साधक के लिये यह बहुत आवश्यक है। गीताभाष्य में भी भगवान् भाष्यकार ने यही बात कही है। जहाँ कहा है 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' उसके आगे ही भाष्य में आता है कि फिर शास्त्र का प्रयोजन क्या? तब कहते हैं कि राग द्वेष की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है। किसी चीज़ में राग द्वेष न रह जाये।

लेकिन ये प्रावादुक लोग राग द्वेष वाले हैं इसलिये ये आग्रह रखते हैं। किसी चीज़ को अच्छा ही और किसी चीज़ को बुरा ही मानते हैं इसलिये रागद्वेषास्पद ही होने से इनका अनुगमन संसार का कारण होता है। इसलिये उनके दर्शन मिथ्या दर्शन हैं। 'अविद्या से कल्पित मिथ्या पदार्थों के बारे में ही होने से उनके दर्शन मिथ्या हैं। वे अविद्याकल्पित द्वैत के विषय में विचार करते हैं। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, क्या खाना चाहिये, क्या नहीं खाना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये कैसे उठना चाहिये, संसार कैसे पैदा हुआ, परमाणुओं को मिलाकर या अंतःकरण में सत्त्व, रज, तम में से किसी को घटाकर या बढ़ाकर इत्यादि। ये सारे के सारे मिथ्या कल्पित हैं। अर्थात् दर्शनों का विश्लेषण मिथ्या नहीं वरन् अविद्या से कल्पित मिथ्या के बारे में विचार करने वाले हैं। नहीं तो हमारे ऊपर भी वही दोष आ जायेगा कि तुम भी राग द्वेष वाले हो। हम तो अविद्याकल्पित को लेकर कह रहे हैं कि उनका विषय मिथ्या है। चाहे वे उसमें ठीक ही सोच रहे हो! क्योंकि वे मिथ्या कल्पित जगत् को सच्चा मानते हैं इसलिये व्यवस्थाएँ बनाते रहते हैं। उन्हें यह बात हमने उनकी युक्तियों से ही बता दी।

हम किसको लेते हैं? राग आदि दोषों का जो आश्रय नहीं अर्थात् जहाँ राग द्वेष नहीं वह चारों कोटियों से रहित है, चल स्थिर उभय और अभाव इन चारों कोटियों से

Scanned by CamScanner

रहित है इसलिये राग आदि दोषों का अनास्पद है। उसमें राग आदि दोषों का सहारा नहीं है। इसलिये स्वभाव से शांत है, प्रयत्न करके अपने मन को रोक कर, दाँत भीच कर शान्ति नहीं है। यही बात हम कई बार ज्योतिषियों से कहते हैं कि तुम सारी दुनिया को कहते हो कि 'अमुक जगह इस आदमी का शनि पड़ा हुआ है इसलिये वह क्रोधी होगा।' फिर जब वह तुमसे क्रोध से बात करता है तो बुरा क्यों मानते हो? उसका क्रोध देखकर समझना चाहिये कि शनि गलत जगह पड़ गया है। वे उलटा देखते हैं कि इसने मुझे ऐसा क्यों कहा? हमारे जितने शास्त्र हैं, विवेक से इनको देखो तो स्वभाव से शांति आ जाये। पूर्वमीमांसा को ही मानो तो होगा कि पूर्व जन्म के संस्कार उदय हो रहे हैं इसलिये ऐसा व्यवहार कर रहा है। फिर भी अशांति का कोई कारण नहीं है। प्रयत्नपूर्वक शान्ति नहीं, क्योंकि यह ब्रह्म का ही रूप है। यदि इसका अंतःकरण मेरे अंदर हो तो मैं भी ऐसा ही करूँगा क्योंकि आत्मा में तो फ़रक है ही नहीं। मैं अगर गुस्से को पी लेता हूँ तो इसलिये कि मेरा अंतःकरण ऐसा बना हुआ है और यह नहीं पी पाता तो इसलिये कि उसका अंतःकरण वैसा बना हुआ है। फिर स्वाभाविक शांति बनी रहती है। इसलिये यही अद्वैत दर्शन सम्यक् दर्शन है। न अपने मन के अनुसार दूसरों को बनाकर शांति है और न दूसरों के मन के अनुसार बनकर शान्ति है। यह तो स्वाभाविक शान्ति है।

अब परकीय मतों के निरसन के बाद अपनी प्रक्रिया दिखाने के लिये प्रारंभ करते हैं। स्वप्रक्रिया अर्थात् शिष्य के अध्यारोप की दृष्टि का आश्रयण करके उसके ज्ञान की सिद्धि का जो प्रकार बताया जायेगा वही स्वप्रक्रिया कहा जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा 'यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया सा साध्वी' जिस जिस प्रकार से पुरुष को अर्थात् शिष्य को प्रत्यगात्मा के बारे में समझ में आ जाये, व्युत्पत्ति हो जाये, वही प्रकार बढ़िया है, निर्दोष है। व्युत्पत्ति अर्थात् ऐसा ज्ञान जो रटा हुआ नहीं है।

जैसे कहते हैं 'यह आदमी व्याकरण में व्युत्पन्न है' अर्थात् कोई नया पद भी दोगे तो बता देगा कि यह ऐसे बनेगा। जो व्युत्पन्न नहीं होगा वह तो जो रूप गुरुजी ने साध दिया उसे साध लेगा और जहाँ कोई नया रूप देंगे तो फिर दायें बायें देखेगा। गणित में जितने सवाल कराये गये हैं उनमें से कोई आ जाये तो खटाखट कर लेते हैं और थोड़ा सा घुमाकर सवाल आ जाये तो अटक जाते हैं कि यह तो कराया ही नहीं था। यह व्युत्पत्ति का अभाव है।

ऐसे ही प्रत्यगात्मा के विषय में बहुत से लोग रट तो लेते हैं कि 'मैं द्रष्टा साक्षी, मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन व्युत्पत्ति नहीं होती। इसलिये थोड़ा घुमाकर इधर उधर करके पूछें तो बगलें झाँकने लगते हैं। फिर दो ही जवाब घूम फिरकर उन्हें याद रहते हैं। कोई कहता है 'माया है' कोई कहता है 'ब्रह्म है'। अंत में जवाब तो यही आने हैं, उसी को बोलेंगे।

Scanned by CamScanner

इसलिये चाहे जैसी परिस्थिति में ब्रह्मभाव को पकड़े रहे— इस स्थिति की प्राप्ति जिससे हो वही हमारी प्रक्रिया है। जिस भी तरह से शिष्य को निश्चय हो जाये वही ठीक है। यह नहीं कि परमाणु मिलकर सृष्टि हुई या तीन गुण मिलकर प्रकृति से सृष्टि उत्पन्न हुई, इसका विचार शिष्य के लिये बेकार है। उसे तो वह प्रक्रिया बताओ जिससे किसी तरह बात उसकी समझ में आ जाये। इसलिये शिष्य की अध्यारोपदृष्टि का आश्रयण करके जो उसके ज्ञान की सिद्धि का प्रकार होता है वही स्वप्रक्रिया कही जाती है। उस आत्मतत्त्व के प्रदर्शनार्थ ही यह ग्रन्थ है।

यहाँ माण्डूक्य उपनिषद् तीन अवस्थाओं के लेकर चली है इसलिये गौडपादाचार्य उन्हें बता रहे हैं :

'सवस्तु सोपलम्भम्।' संवृति अर्थात् अज्ञान के कारण प्रतीयमान वस्तु के साथ जो विद्यमान रहे वह सवस्तु। अविद्या के रहते हुए उसमें वस्तुता है अर्थात् 'सचमुचपना' है। घट पट आदि का सचमुचपना तब तक जब तक अविद्या है। उपलम्भ मायने उपलब्धि, ज्ञान, उसके साथ रहे वह सोपलम्भ हो गया। जाग्रत् काल के अन्दर जो कुछ भी पदार्थ हैं वे अविद्या के रहते हुए मौज़ूद रहते हैं। इनकी उपलब्धि किससे होती है? सूर्य आदि देवता से अनुग्रहीत होकर आँख आदि इन्द्रियाँ उपलब्धि करती हैं। सूर्य की कृपा न हो तो दिखाई नहीं देता जैसे अन्धे को सूर्य की कृपा नहीं तो दिखाई नहीं देता। बहरे को दिक् देवता की कृपा नहीं तो वह सुन नहीं पाता, गूँगा इसलिये बोल नहीं पाता कि अग्नि देवता की कृपा नहीं। जिस जिस देवता से जो जो कार्य होना है उसका अनुग्रह नहीं होगा तो वह कार्य नहीं होगा।

जाग्रत् काल में ही शास्त्र इत्यादि सारे व्यवहार होते हैं। स्वप्न में बैठकर थोड़े ही उपनिषद् बाँच लोगे। सुषुप्ति में भी नहीं हो सकता। कई बार जब कहते हैं कि सुषुप्ति में अज्ञान में, बीजावस्था में है, तो बहुत से लोग सोचते हैं कि सोते रहें तो बढ़िया है क्योंकि वहाँ सदा ईश्वर के पास हैं 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'। ईश्वर के पास तो हैं, लेकिन शास्त्रीय व्यवहार न होने से तब ज्ञान कभी नहीं होना है। ज्ञान तो जाग्रत् में ही होगा। सोते पड़े रहने से ज्ञान नहीं होगा। यह द्वैत है— जो जाना जाता है और जानने वाला है। ग्राह्य घड़ा कपड़ा और ग्राहक हम तुम जानने वाले हैं। हिन्दी का ग्राहक चीज़ों को खरीदने वाला नहीं समझना! 'लौकिकम्' का अर्थ कर दिया कि संसार में जो सब लोगों का अनुभव है उससे भिन्न नहीं है। वह जाग्रत् अवस्था हो गई जो लोकप्रसिद्ध अवस्था है। यह जो जाग्रत् अवस्था है यह केवल लोकप्रसिद्ध ही नहीं है, यही ज्ञान का उपाय होने के कारण वेदांतों में भी इसी को जाग्रत् कहते हैं।

अवस्तु का अर्थ कर दिया संवृति अर्थात् व्यवहारसिद्ध पदार्थों के भी बिना। बाह्य इन्द्रियापेक्षया उपर्युक्त व्यवहार वहाँ नहीं होता इसलिये अवस्तु है। स्वप्न जब देखते हो तो आँख कान सब बन्द रहते हैं। वहाँ चीजें कहाँ मिलती हैं? कुछ चीज़ नहीं मिलती।

Scanned by CamScanner

लेकिन ऐसा लगता है मानो चीज़ें हों। अर्थात् वस्तु की तरह; सचमुच वस्तुएँ नहीं हैं। स्थूल पदार्थ वहाँ नहीं है क्योंकि बाह्यकरणों का उपसंहार है। जाग्रत् की वासनाओं के अनुसार चित्त ही वहाँ तदर्थावभासाकार हुआ है। चित्त ही वहाँ घट पट आदि के आकार का जाग्रत् की वासनाओं को लेकर बन जाता है। चीज़ें वहाँ हैं नहीं फिर भी उनकी प्राप्ति के साथ रहता है। इसलिये अवस्तु सोपलंभ स्वप्न हो गया। शुद्ध का अर्थ केवल कर दिया। जैसे शुद्ध दूध का मतलब है कि इसमें पानी आदि कुछ भी नहीं मिला हुआ है, शुद्ध घी मायने डालडा मिला हुआ नहीं है। और कोई चीज़ न मिली हो तो उसे शुद्ध कहते हैं। इसलिये केवल वही है। यह जाग्रत् से अलग हो गया क्योंकि जाग्रत् के अन्दर तो दो चीज़ें हैं। पदार्थ भी हैं और पदार्थों का ज्ञान भी है। और यहाँ तो कोई पदार्थ है नहीं, चित्त अकेला ही है। जाग्रत् सारे लोकों को एक जैसा हो रहा है इसलिये स्थूल है। उससे प्रविविक्त होने से स्वप्न को शुद्ध कह दिया। इसको लौकिक इसलिये कहते हैं कि साधारण लोकों को, साधारण प्राणियों को आता रहता है। स्वप्न अलग अलग होते हैं लेकिन आते सबको ही हैं।

अब सुषुप्ति को बताते हैं कि सुषुप्ति कैसी है? वहाँ वस्तु भी नहीं और उपलब्धि भी नहीं है। न कोई स्थूल और न कोई सूक्ष्म वस्तु वहाँ है। इसलिये न इन्द्रियों के सम्बन्ध से विषयों का ज्ञान हो सकता है कि स्थूल पदार्थों को देखे और न वासनारूप चित्तवृत्तियों को ही देखता है। जब गहरी नींद आ गई तो चित्तवृत्ति भी नहीं है। यह विशेष ज्ञान हो गया, यह ग्राह्य ग्रहण दोनों से रहित है। न कोई चीज़ और न उसका ग्रहण हो रहा है। यह लोकोत्तर हो गई।

पहले आदमी समझता है कि यहाँ बुद्धि ही कारण रूप से सुषुप्ति में अवस्थित रहती है। लेकिन अगर विचार करके देखो, यदि दिमाग खोलकर विचार करोगे, तो समझ में आयेगा कि लगता ही है कि सुषुप्ति के अन्दर बुद्धि कारणावस्था में लीन हो जाती होगी। लेकिन उसकी कारणता कहीं लोकप्रसिद्ध है क्या? सुषुप्ति में से कोई ताना बाना बनाकर बाहर थोड़े ही निकलते हो! इसलिये उसका कारणत्व लोकप्रसिद्ध नहीं है। जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थायें कार्यरूप हैं। इसी दृष्टि से सुषुप्ति को कारणरूप कह दिया जाता है। साधारण आदमी नहीं कह सकता कि सारा संसार सुषुप्ति से निकला। लेकिन बाकी दोनों अवस्थाएँ कार्यरूप होने से इन दोनों की अपेक्षा से इसे कारणरूप कहते हैं। कार्य वहाँ जहाँ ग्राह्यग्राहकरूपता हो, और जहाँ यह नहीं वह कार्यभिन्न हुआ इसलिये उसे कारण कहते हैं।

इसलिये इसको लोकोत्तर कहा। लोक हुए जाग्रत् स्वप्न के व्यवहार और यह उससे उत्तर अर्थात् उससे भिन्न हुई। जहाँ उसे कारण कहा वहाँ भी तात्पर्य अवस्थाद्वय से भिन्न मात्र में है। कार्यरूप जो अवस्थाद्वय, यह उनके जैसी नहीं है। लोकातीत या लोकोत्तर कहने से 'कारण' शब्द को बचा गये। जहाँ जहाँ ग्राह्यग्रहण हुआ करता है उसका नाम

Scanned by CamScanner

लोक है। चाहे स्वर्गलोक में चाहे ब्रह्मलोक में, जहाँ जाओ वहाँ कोई न कोई ग्राह्य और कुछ न कुछ ग्रहण होगा। कोई न कोई चीज जानी जायेगी, कोई न कोई जानेगा। ग्राह्य ग्रहण विषय का अभाव होने से इसे लोकोत्तर कह दिया।

सारी प्रवृत्ति की यह बीजावस्था है क्योंकि वहाँ उत्पन्न तो कुछ नहीं हो रहा है, वहाँ अंकुर आदि कुछ नहीं हैं लेकिन उसमें सारी प्रवृत्तियों के बीज हैं। इस अवस्था को इस प्रकार से ऋषियों ने बता दिया, प्रतिपादित कर दिया।

परमार्थ तत्त्व सोपाय हो गया; लौकिक शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर इन तीनों को उपाय बनाकर जो समझा जाये वह परमार्थ तत्त्व सोपाय है। जिस मनोवृत्ति के द्वारा लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर क्रमशः जाने जाते हैं वह 'ज्ञान' है। अर्थात् कोई एक ऐसा ज्ञान है जो यह समझ पाता है कि जाग्रत् काल में सवस्तु सोपलंभ, स्वप्न में अवस्तु सोपलंभ और सुषुप्ति में अवस्तु अनुपलंभ होता है। उस ज्ञान से ये तीनों एक एक करके जाने जाते हैं। क्रमशः इसलिये कहा कि जाग्रत्-स्वप्न या स्वप्न-सुषुप्ति को इकट्ठा नहीं जान सकते। पहले-पीछे का क्रम नहीं कि पहले लौकिक, फिर शुद्ध लौकिक और फिर लोकोत्तर।

ये तीनों अवस्थायें ही 'ज्ञेय' हैं। इनको छोड़कर बाकी कुछ भी ज्ञेय सिद्ध नहीं होता। बाकी परमाणु प्रकृति गुण आदि सारे टंटे तो प्रावादुकों की कल्पना है। अनुभव तो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति का होता है। किसी ने कहा परीक्षकों ने भी बहुत सी कल्पनायें कर रखी हैं, वे भी सब ज्ञेय क्यों नहीं? कहते हैं कि प्रावादुक जो बक बक करने वाले हैं और शुद्ध तर्क से कल्पना करते रहते हैं, वे केवल मन से निश्चित करके व्यवस्थायें बनाते रहते हैं। जैसे पृथ्वी तो सब जगह अनुभव में आती है लेकिन हिन्दुस्तान पाकिस्तान भी क्या कभी अनुभव में आता है? तुमको कहीं आँख बन्द करके ले जायें और वहाँ की भूमि दिखाकर पूछें कि बताओ क्या है? तो ज़मीन को देखकर क्या बताओगे? अमरीका भी हो सकता है। ऐसे ही सारी कल्पनायें शुद्ध तर्कजल्पियों ने कर रखी हैं। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों में ही सबका अन्तर्भाव होता है।

यह परमार्थ सत्य ही 'विज्ञेय' है। वही तुरीय नाम से कहा जाता है। वही अज और आत्मतत्त्व है। सदा सर्वदा अर्थात् हमेशा ही, ऐसा नहीं कि ब्रह्मवेत्ता कभी किसी और चीज़ को अनुभूतितः जानने के लिये कह दे। इन चीजों को ही जानना चाहिये : जाग्रत् क्या, स्वप्न क्या और सुषुप्ति क्या? और इन तीनों को जानने वाला कौन? जो परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता विद्वान् लोग हैं उन्होंने अवस्थाओं को जानने को और परमार्थ का अपरोक्ष साक्षात्कार करने को कहा। बाकी बहुत विस्तार जानना ज़रूरी नहीं। वह यदि पहले से जाना हुआ है तो हटाना ज़रूरी है। बाकी बहुत से संदेह बैठे हैं उन्हें हटाना ज़रूरी है।।८७-८८।।

Scanned by CamScanner

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ।।८९।।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के लौकिकादि ज्ञेय और उन्हें विषय करने वाला ज्ञान, इन्हें जो क्रमशः समझ लेता है वह महाबुद्धिमान् है। वह यहीं सर्वत्र अपनी स्वरूपभूत सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है।

तीन प्रकार का ज्ञेय और उसका ज्ञान— इन्हें जानना है। ज्ञान को समझने के लिये जो तीनों अवस्थाओं को देखता है और तीनों प्रकार के ज्ञेय को समझता है तो फिर सर्वज्ञता हो गयी। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थायें और उन्हें जानने वाला आत्मा है, इसी को जानने से सर्वज्ञता हो गयी। जो भी वादी कोई बात कहता है तो जाग्रत् में सोच कर कहता है। जब तुमने जाग्रत् जान लिया तो पता लग गया कि यह जाग्रत् अवस्था की बात है; ऐसे अपने को सब पहले ही पता है। यही महान् बुद्धिमत्ता है, नहीं तो बाकी सारी चीज़ें याद करते रहो। जाग्रत् में बोल रहे हैं, बस हो गयी व्युत्पत्ति। इसमें कठिनाई कुछ नहीं है। वेदांत की असली बात यही है कि यह इतना सरल होता है कि आदमी मान नहीं पाता, सोचता है कि कुछ और होगा।

श्रुति ने प्रतिज्ञा की 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' आत्मा को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है, वह इसी तरह से जान लिया जाता है। ऐसा नहीं कि एटम बम बनाना आ जाता हो! लोग ऐसा समझते हैं। लौकिक, शुद्ध लौकिक, इन सबको विषय करने वाला ज्ञान और लौकिक, शुद्ध लौकिक, लोकोत्तर तीन ज्ञेय हो गये। लोकोत्तर का भी ज्ञान है। जो यह समझा तभी समझा है, नहीं तो सारी लोकोत्तर बातों का ज्ञान हो तब भी उलटा ही समझा।

'क्रमेण' को ही आगे बताते हैं। पहले जो स्थूल लौकिक है उसको समझ लेना चाहिये कि पदार्थ होता है तब पदार्थ का ज्ञान होता है। पहले विचार करके यह चीज मन में बैठा लेनी चाहिये कि पदार्थ होता है तब ज्ञान होता है। कैसे ज्ञान होता? विचार करके देखो, दरवाज़ा वहाँ और ज्ञान आँख में हो रहा है। कोई नहीं बता सकता कि कैसे ज्ञान हो रहा है। अनादि काल से सब लगे हैं कि इसका ज्ञान कैसे होता है? सांख्य कहते हैं अंतःकरण की वृत्ति यहाँ से निकलकर वहाँ पहुँचती है। वैज्ञानिक कहता है कि वहाँ से रश्मियाँ आकर आँख में घुसती हैं।

यदि वहाँ से रश्मियाँ आईं तो दरवाज़े का ज्ञान थोड़े ही हुआ, रश्मियों का ज्ञान हुआ। इसका उनके पास जवाब नहीं। ज्यादा से ज्यादा कहेंगे कि अनुमान होता है कि दरवाज़ा वहाँ नहीं होता तो रश्मियाँ कैसे पड़तीं। फिर प्रत्यक्ष ज्ञान तो नहीं हुआ! क्या केवल अनुमान करते रहते हैं? अंदर से हृदय कहता है 'बता तो नहीं सकते कि ज्ञान कैसे हुआ, लेकिन दीखा ज़रूर है।' चाहे दूसरे को दबाने के लिये कह दें कि हमें सब

Scanned by CamScanner

आनुमानिक ज्ञान है लेकिन पहाड़ पर तो धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान होता है , यहाँ तो वैसा नहीं है।

न अंतःकरण की वृत्ति का जाना बता सकते हैं। ऐसे ऐसे नक्षत्र हैं जहाँ से प्रकाश यहाँ तक आने में पाँच सौ साल लग जाते हैं। हमको आज वह दीख रहा है। यदि अंतःकरण की वृत्ति वहाँ पहुँचकर तारे की स्थिति को देखे तो पाँच सौ साल पहले की स्थिति को देखे! इसलिये अन्तःकरण की वृत्ति का जाना या वहाँ से रश्मियों का आना, कुछ भी नहीं कह सकते।

यह अचिंत्य रचना है, कुछ कह नहीं सकते कि कैसे होता है। बस यही परमात्मा की अविद्या शक्ति है। विचार करके देखने जाओ तो सिद्ध हो नहीं और प्रतीत होता है। ऐसे ही सब चीज़ों में समझना। जैसे रूप में ऐसे ही स्वाद आदि सबमें यही बात है। आज दाल बढ़िया बनी, कैसे बनी, यह रसोईये को भी पता नहीं। उससे कहो 'कल फिर वही बनाओ' तो वह सोचता है कि क्या चीज़ डाली है जो अच्छा कह रहे हैं। वह तो रोज़ ही सारी चीज़ें ठीक डाल रहा है। अचिन्त्य रचना रूप को छोड़कर फिर ताना बाना बनाने लगे तो फिर इसका कोई अंत नहीं आना है। सच्ची बात इतनी ही है कि स्वाद लगा, बस इतना ही सत्य है।

फिर स्वप्न के विषय में समझ लेना चाहिये कि लौकिक स्थूल पदार्थों का जहाँ अभाव होता है, वहाँ जो प्रतीति होती है वह शुद्धलौकिक है, उसके अन्दर कोई चीज़ नहीं है। वैसे मोटी दृष्टि से कह देते हैं कि वासनाओं से होता है। लेकिन विचार करके देखो तो स्वप्न में ऐसी ऐसी चीज़ें नज़र आती हैं जो जाग्रत् में कभी नहीं देखीं। किसी दिन रात में बड़ा सोच कर सोये कि स्वप्न में बद्रीनारायण आयें लेकिन सपने में सूअर दिखाई देता है। किसी दिन पत्नी से नाराज़ होकर सोये और मन में बुरी बातें आ रही हैं, उस दिन बद्रीनारायण का दर्शन कैसे हो जाता है? कोई नियम नहीं कह सकते। सपना आने के बाद तो दस बीस कारण बता सकते हो कि ऐसा ऐसा हुआ, लेकिन कोई कारण होता तो कुछ सम्बन्ध नज़र आया होता। पर सम्बन्ध नज़र नहीं आता। केवल इतना ही कह सकते हो कि वहाँ स्थूल पदार्थ नहीं है और मन तदाकार बन जाता है।

जब वासनाओं की प्रतीति नहीं रहती तब लोकोत्तर हो जाता है। जहाँ दोनों चीज़ें नहीं होंगी वहाँ सुषुप्ति हो जाती है। इस प्रकार से तीनों चीज़ों को क्रम से समझ लेना चाहिये।

जहाँ इन तीनों स्थानों का अभाव है वह त्रयातीत अवस्था है, वही तुरीय है। स्थानत्रयाभाव तुरीय रूप से परमार्थ सत्य है। वही अद्वितीय है, वही अज है।

अद्वय इसलिये कहा कि तुरीय विशेषण से प्रतीति हो जाती कि तीनों स्थानों में जो एक जैसा रहता है; लेकिन कहना है कि तीनों स्थान जिसमें नहीं हैं। जैसे रेल की

Scanned by CamScanner

पटरी के उपर से मेल, एक्सप्रेस, पार्सल और मालगाड़ी निकल गई लेकिन पटरी उन चारों में से एक नहीं। ठीक इसी प्रकार तुरीय मुझ आत्मतत्त्व पर जाग्रत् आया, निकल गया; स्वप्न की मालगाड़ी आकर निकल गई; सुषुप्ति की एयरकंडीशंड गाड़ी आई और निकल गयी; कोई टिकी नहीं और जिसके ऊपर से निकल गई उसमें कोई फ़रक आया नहीं। जैसे वहाँ मेल, ऐक्सप्रेस, मालगाड़ी सबसे उपलक्षित पटरी है। इसी प्रकार से इन तीनों स्थानों से उपलक्षित, विशिष्ट नहीं, तुरीय है जिसके उपर से जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आकर निकल जाते हैं। इसलिये उसे अद्वय कहा।

वह अज है अर्थात् जन्म आदि सारे विकार उसमें नहीं हैं। फिर उसी को अभय कह दिया क्योंकि सकारण कार्यों का संबंध वहाँ नहीं है। कार्य अर्थात् जाग्रत् स्वप्न का उससे संबंध नहीं है और कारणभूत अविद्या भी उसके ऊपर नहीं है। इसलिये अविद्या संबंध का अभाव है और अविद्या के कार्य जाग्रत्-स्वप्न के संबंध का भी अभाव है। जब इसे समझ लिया तो फिर यह जो तत्त्वज्ञान है इससे परिपूर्ण ब्रह्मरूप से अवस्थित हो गया। यही सर्वज्ञता है। वह सर्वरूप है और ज्ञ अर्थात् ज्ञानरूप है। सर्वरूप क्योंकि जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति उससे भिन्न कुछ नहीं और 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञान है।

यह जो तत्त्वज्ञान होता है यह जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का द्रष्टा साक्षी रूप से अपना ही ज्ञान है। ऐसा नहीं कि अर्चिरादि मार्ग से जाकर फिर ज्ञान होता हो, अथवा यहाँ से मरकर किसी दक्षिणायण या उत्तरायण मार्ग से जायेंगे तब ज्ञान होगा। यहीं अपने से अभिन्न होकर ज्ञान है। जहाँ यह अज की बात समझी तो ज्ञान हो गया। यह नहीं कि आगे कभी ज्ञान होगा। इसी का नाम ज्ञान है। अब शंका नहीं करना कि इतना सरल कैसे? है ही सरल। कठिनाई केवल यह है कि मन कहता है कि इतनी सरल चीज़ हो नहीं सकती। लेकिन यहीं विद्वानों से बार बार सुनते सुनते हो जाता है।

किसको होता है? महाधी जिसकी बुद्धि महान् हो अर्थात् अल्प पदार्थों के अन्दर जिसकी आसक्ति न हो। जैसे मान लो एक आदमी बन तो गया सारे राजस्थान का मुख्यमंत्री और उसके बाद भी सोचता रहे कि केवल उदयपुर की उन्नति करूँ। यह तुच्छ बुद्धि का लक्षण है। यह महाधी नहीं है। उसी प्रकार सारे जाग्रत् के तुम द्रष्टा हुए, उसकी जगह एकदेश की ही उन्नति चाहो कि तीन साल बाद मेरी जेब में पचास रूपये होंगे या नहीं तो यह तुच्छ बुद्धि होगी। जब तक यह तुच्छ बुद्धि रहेगी तब तक सर्वज्ञता नहीं आयेगी। सारे लोकों से अतिशय तुरीय, उस वस्तु के निश्चय करने में ही जो लगा हो कि जो इन सबसे अतीत है, उसको समझता है, वही महाधी है। जो आसक्ति वाला होगा वह लोक के अन्दर की चीज़ों को देखने में लग जाता है इसलिये वह लोकातीत के विषय में ज्ञान नहीं कर पाता।

ज्ञान कभी हो और कभी कालान्तर में दब जाये, ऐसा नहीं होता है, उसका ऐसा ज्ञान सर्वत्र होना चाहिये। ऐसा नहीं कि कभी कभी चाहे कि लोकातिशयज्ञान हो जाये

Scanned by CamScanner

और फिर कहे कि अगले कमरे में क्या हो रहा है इसी का पता लगाओ। तब नहीं हो सकता।

कोई पूछता है कि इसको समझने के बाद बार बार इसका ध्यान, समाधि करनी पड़ती होगी; जैसे पहाड़े बार बार याद करने से पक्के होते हैं, ऐसा होता होगा? कहते हैं ऐसा नहीं है। जहाँ गुरु व श्रुति की कृपा से एक बार जान लिया, जैसे ही स्वरूप का एक बार स्फुरण हुआ तो काम हो गया। आत्मज्ञान एक बार ही होता है। होते ही अविद्या का नाश कर दिया तो फिर आवृत्ति क्या होनी है! पहाड़े इसलिये याद करने पड़ते हैं कि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। लेकिन जब कहते हैं कि 'यहाँ सूर्य है' तो बैठकर घोखते थोड़े ही हो, झट पता लग गया कि जो प्रकाशस्वरूप अत्यंत तेजस्वी है वही सूर्य है। भूख लगने पर 'भूख लगी भूख लगी' ऐसा घोखना नहीं पड़ता। इसी प्रकार जैसे ही गुरु व शास्त्र की कृपा हुई, इसको एक बार जहाँ जाना वहाँ स्वरूपस्फुरण का फिर कभी विराम नहीं।

आदमी क्यों भूलता है? क्योंकि जिस चीज़ को याद रखना है वह सामने नहीं है। जैसे गजानन्द यहाँ से चले गये। उसके बाद हम इनसे दस साल बाद मिले तो इन्हें भूल गये क्योंकि दस साल तक यह फिर नज़र नहीं आये। लेकिन यदि इनके साथ ही हम काम करते हैं, हम कम्पाउन्डर और यह वैद्य हैं तो रात दिन इन्हीं के साथ रहना हुआ तो नहीं भूलते। इसी प्रकार यदि स्वरूपस्फुरण जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में न हुआ होता तब तो हो जाता कि बहुत समय तक व्यवहार करते रहे इसलिये भूल गये, अब फिर याद आयेगा। ऐसा तो कुछ है नहीं क्योंकि यहाँ तो हर क्षण जाग्रत् स्वप्न में जो व्यवहार करो वह ज्ञानरूप है। केवल पहचाना नहीं था। जैसे ही किसी ने बता दिया कि 'यह है' तो अब चाहे जितना व्यवहार जाग्रत् आदि में करो, ज्ञान साथ ही बैठा है उसे कैसे भूलोगे? स्वरूपस्फुरण कभी भी व्यभिचरित नहीं होता। इसलिये परिपूर्ण ज्ञप्तिरूपता ही उसकी बनी रहती है। एक बार जानते ही काम बन जाता है। परमार्थविद् जिन्होंने परमार्थ तत्त्व को जान लिया उनका ज्ञान कभी अभिभूत नहीं होता। आँख खुली तो ब्रह्म गया और आँख बन्द करो तो आ गया, ऐसा कुछ नहीं होता। वह तो वैसा का वैसा बना रहता है। समझ है कभी जायेगी नहीं।

जो दूसरे बक बक करने वाले प्रावादुक लोग हैं उनका कहना है कि 'जब एकांत में बैठते हैं तो निरंतर ब्रह्मप्रवाह चलता है, लेकिन क्या करें, व्यवहार में गड़बड़ा जाते हैं।' या दूसरे कहते हैं कि 'आप धन्य हैं जो संसार के चक्र से बाहर हैं, हम तो संसार के चक्र में फँसे हैं। एक तरफ बच्चे रोते हैं, दूसरी तरफ घरवाली साड़ियाँ माँगती है। यहाँ जो सुनकर के जाते हैं सब निकल जाता है।' आने जाने वाला ज्ञान नहीं होता। जब औरत साड़ी माँगती है और अपने पास पैसा नहीं है उस जाग्रत् अवस्था को जानने वाला मैं हूँ, यह बिल्कुल सरल बात है। बाकी तो जैसा जैसा प्रारब्ध होता है वैसी वैसी प्रतीति होती रहेगी।

Scanned by CamScanner

मुंडक उपनिषद् में उपदेष्टा ऋषि को 'महाशालः' लिखा है। इसके भाष्य में भाष्यकार कहते-हैं 'महाशालः महागृहस्थः'। तुम्हारे घर में एक औरत, माँ-बाप भाई-भाभी या एक विधवा बहन होगी। इनमें से हरेक के आठ आठ बच्चे भी हों, अब भविष्य मे तो वे भी नहीं होने देंगे, तो भी २५-३० आदमी सारे घर में हुए। उनसे यदि तुम परेशान हो जाओगे तो वेदांती तो महागृहस्थ है क्योंकि उसके यहाँ तो दो दो सौ आदमी इकट्ठे होने हुए। और जो २५-३० से ही घबरा जायेगा वह तो और दूर भागेगा। जंगल में जाकर फिर एक गृहस्थी बटोर लोगे। कौन सी गृहस्थी बटोर लोगे? वहाँ साबुन नहीं मिलेगा, जुओं की चिन्ता करते रहोगे, मच्छरों से परेशान होगे। इसलिये पलायनवाद से, भागने से कुछ काम नहीं होता है क्योंकि जहाँ जाओगे वहाँ कुछ बढ़ ही जायेगा, घटना नहीं है। यह तो जब आत्मतत्त्व की दृष्टि करोगे कि 'जैसा अनुभव सामने आ रहा है, आ रहा है, उससे उस आत्मतत्त्व में क्या फ़रक पड़ना है!' इस दृष्टि से ही काम होगा। प्रावादुक दार्शनिक कहते हैं कि ऐसा करो तो ज्ञान, नहीं तो ज्ञान नहीं। सच्ची बात है कि जहाँ भी हो, ज्ञान-स्वरूप से वही है। इसकी प्राप्ति के लिये साधक को किन किन चीज़ों को करना चाहिये, इसपर आगे के कुछ श्लोकों में विचार आयेगा।।८९।।

●

स्वप्रक्रिया क्या है? इस पर विचार किया। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थायें ज्ञेय हैं। जहाँ वस्तु हो और उसकी उपलब्धि हो वह जाग्रत्। जहाँ वस्तु न हो और उसकी उपलब्धि हो वह स्वप्न; जैसे 'यह आदमी बुरा है', यह स्वप्नावस्था है क्योंकि उसका बुरापना तुमने किस इन्द्रिय से देखा? नहीं देखा और लग रहा है अतः यह स्वप्न हुआ। सामने मनुष्य खड़ा है यह जाग्रत् और 'यह अमुक वर्ण का है' यह स्वप्न है क्योंकि मनुष्यत्व तो वस्तु हुई, इन्द्रिय से उपलब्ध हुई, वर्ण इन्द्रिय से उपलब्ध कहाँ होता है? बढ़िया कपड़े पहन कर आये तो तुम समझोगे ब्राह्मण है। इसी प्रकार यह 'आदमी मुझे प्रिय है' यह राग की बिषयता स्वप्न है। इसलिये जहाँ वस्तु और उसकी उपलब्धि दोनों हों वह लौकिक या जाग्रत् हो गया। जहाँ वस्तु नहीं और उपलब्धि है वह स्वप्न या शुद्ध लौकिक हो गया। जहाँ वस्तु भी नहीं और उसकी उपलब्धि भी नहीं तो वह लोकोत्तर सुषुप्ति हो गयी। ये तीनों अवस्थायें ज्ञेय हो गईं इन तीनों अवस्थाओं को जिससे जानते हो वह ज्ञान हो गया। इन तीन अवस्थाओं और तुरीय ज्ञान के अलावा कोई चीज़ कहीं कभी किसी को नहीं मिलती। जितनी बड़े बड़े दार्शनिक बातें करते हैं वे इन तीन के अंतर्गत ही आती हैं; या वस्तु है और उसकी उपलब्धि है या बिना वस्तु के उपलब्धि है, या न वस्तु और न उपलब्धि है। इन तीन के सिवाय ज्ञान का और कोई प्रकार नही बता सकते। यही सर्वज्ञता हो गई।

Scanned by CamScanner

अब इसके अन्दर दृढता लाने के लिये क्या क्या साधन हैं? यह बताते हैं।

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ।।९०।।

तीनों अवस्थाओं का ज्ञेयरूप से निर्देश किया तो यह नहीं समझ लेना कि वे वस्तुतः हैं। इसलिये कहा कि हेय को समझना चाहिये। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थायें हेय हैं। 'ज्ञेय' कहने से लगा कि इन्हें जानना चाहिये। यहाँ ज्ञेय का अर्थ 'जानना चाहिये' ऐसा नहीं, वरन् साधारण आदमियों को लगता है कि ये जानने के विषय हुआ करते हैं। लेकिन इन तीनों को हेय समझना चाहिये। जैसे रस्सी में साँप से भय खाते हो ऐसे ही तुरीय ज्ञान में इन तीनों अवस्थाओं से भय खाना चाहिये। तीनों में से एक भी उपादेय नहीं, तीनों हेय हैं।

ज्ञेय— जानने के योग्य। पहले तो जानने का विषय, इस अर्थ में ज्ञेय था और यहाँ जानने के योग्य अर्थ में ज्ञेय है। वह चतुष्कोटिवर्जित परमार्थ तत्त्व की ज्ञेय है। 'अस्ति न अस्ति, अस्ति नास्ति, नास्ति नास्ति', इन चारों कोटियों से रहित जो परमार्थ तत्त्व है वही ज्ञेय है। परमार्थ तत्त्व है ऐसा भी निश्चय नहीं पकड़ लेना चाहिये। केनोपनिषद् में इसलिये कहा कि जो समझता है मैंने जान लिया वह महामूर्ख है। जो समझता है मैंने नहीं जाना, वह मूर्ख है ही। ब्रह्म को नहीं जाना तो न जानने के कारण मूर्ख है ही और जो समझता है मैंने ब्रह्म को जान लिया वह महामूर्ख है क्योंकि वह तो ज्ञान अज्ञान से परे है! ज्ञेय अर्थात् जो उक्त चतुष्कोटिवर्जित है। यदि कहोगे केवल ब्रह्म 'है' तो फिर 'नहीं है' कौन? घड़ा नहीं है, घटाभाव रूप से कौन बना? ब्रह्म ही बना। घट का नाश मिट्टी में तो घट का प्रागभाव भी मिट्टी में ही रहेगा। सिकोरे का और घड़े का अन्योन्याभाव भी मिट्टी में रहेगा ही। इसलिये सारे ही अभाव मिट्टी में रहते हैं। आगे फिर घड़ा कहाँ रहेगा? मिट्टी में ही रहेगा। भाव अभाव दोनों मिट्टी में ही रहे। इसी प्रकार ब्रह्म में भाव और अभाव दोनों हैं। इसलिये चतुष्कोटिरहित है।

आप्य— अर्थात् कौन कौन सी चीज़ जीवन में प्राप्त करनी है।

पाक्य— अर्थात् कौन कौन सी चीज़ें पकाकर ख़तम करनी हैं। आगे भाष्य में स्पष्ट करेंगे।

विज्ञेय अर्थात् इसको अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिये। यह नहीं कि केवल बुद्धि से समझ लिया तो काम बन गया। यह समझकर करोगे तो काम बनेगा। यह अजाति का प्रकरण चल रहा है कि अजातविद् कैसे बनेंगे। इसलिये कहा कि यह सब अनुभव में लाना चाहिये। इसमें अग्रयाणतः विचित्र शब्द का प्रयोग करते हैं; जो आगे ले जाने वाला यान अर्थात् मार्ग है। ऐसा लगता है कि इनके सामने बौद्धों के दोनों प्रसिद्ध यान

Scanned by CamScanner

हीनयान और महायान् थे। इसलिये इन्होंने अपने रास्ते का नाम अग्रयाण रखा कि यह न हीनयान और न महायान है, यह तो सबको आगे ले जाने वाला मार्ग है। यह अगर पहले समझ लिया तब तो वह परमार्थ तत्त्व ठीक बैठेगा। अग्र मायने पहले होता है। पहला रास्ता यह है कि हेय, ज्ञेय, आप्य और पाक्य; इसको समझ लिया तो वह परमार्थ तत्त्व बैठ जायेगा। इसलिये अजातवाद का नाम अग्रयाण रख दिया। अब इसके आगे और कुछ है ही नहीं यह बताना तात्पर्य हुआ, क्योंकि यह रास्ता तुमको सबसे आगे ले गया। अजातवाद से ऊपर कौन है? ऐसी शंका होने पर कहा 'अग्रयाणतः' उसके ऊपर और कोई नहीं। जिस प्रकार उपनिषदों में कहा 'नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्' इसके आगे जानने लायक कुछ नहीं, उसी प्रकार यहाँ अग्रयाणतः कह दिया।

'विज्ञेयादन्यत्र तेषाम्' अर्थात् विज्ञेय से अतिरिक्त जो हमने हेय आप्य और पाक्य कहे ये सारे के सारे व्यावहारिक सत्य हैं, उपलम्भ अर्थात् अविद्या-कल्पनामात्र हैं। ये परमार्थ सत्य हैं ऐसा नहीं समझ लेना। और इन चार से भिन्न भी जितने हैं वे अविद्या को ही पुष्ट करने वाले साधन हैं। इसलिये बाकी सब बेकार हैं। ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं।

लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर इनको क्रम से जानना अर्थात् क्रम से ये ज्ञेय बन जाते हैं, ऐसा पूर्व श्लोक में कहा। कोई समझेगा कि 'ये सचमुच होते ही होंगे तभी इनको ज्ञेय कह दिया', ऐसी शंका न हो जाये इसलिये आगे हेय ज्ञेय आदि चारों को बताते हैं। हेय के द्वारा बता दिया कि लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर, उन्हीं का नाम बता दिया जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें आत्मा में असत् हैं अर्थात् हैं ही नहीं। कैसे असत्य हैं? जैसे रस्सी में साँप असत् होता है ऐसे ये हेय हैं छोड़ने के लायक हैं। हेय मायने छोड़ने के लायक लेकिन यहाँ उसे विधि समझना कि छोड़ना चाहिये। इसलिये ये तीनों अवस्थायें जब जब आयें तब तब इन्हें रस्सी में सर्प की तरह समझकर छोड़ना चाहिये।

अभी प्रतीति होती है कि पदार्थ है और पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं इसलिये 'हातव्यानि' यह विचार करो— यह जाग्रत् अवस्था चित्त ही है, इसमें दोनों रूपों से चित्त बन रहा है; घटाकार से भी चित्त बन रहा है, घटवृत्याकार से भी चित्त बन रहा है। ये दोनों व्यावृत्त हैं अतः इनका बनना चित्त में, मुझ आत्मा में कल्पित है। इस विचार से उसे छोड़ना है।

इसी प्रकार जब स्वप्न का अनुभव आये तब 'यह चित्त पदार्थाकार बनते हुए वृत्याकार बन रहा है, अतः यह भी आत्मा पर कल्पित है'। यह विचार करो। यहाँ स्वप्न से पूर्वोक्त रागादिकाल समझना क्योंकि स्वप्न में तो उसे सपना जानोगे नहीं। जगकर स्वप्न का भी ऐसे ही विचार करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

आगे सुषुप्ति में अर्थात् जिस समय कुछ भी भान नहीं हो रहा है उस समय कुछ भी प्रतीति न होने के कारण 'वृत्ति के अभाव रूप से ही चित्त ही बीजावस्था में बन रहा है' यह विचार करो। बार बार ऐसे विचार करने से वे फिर हेय हो जाते हैं। सिवाय चित्त के कुछ नहीं है। ये सारी वृत्तियाँ जब कल्पित हैं तब वही चित्त चिद्रूप चिद्घन है। जब तक वृत्तियाँ बनाता या नहीं बनाता तब तक जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थायें, और जिस समय न बनाता और न नहीं बनाता है उस समय वही रह गया। यही उनकी हेयता है। अभी तक कर्तव्य है क्योंकि अग्रयाणतः, मार्गस्थ है। परमार्थ तत्त्व की दृष्टि में पहुँचने पर कर्तव्यनिवृत्ति है। उसके पहले बाकी कर्म उपासनाओं की निवृत्ति तो हो गई लेकिन आगे जो कर्तव्य बतायेंगे उनकी निवृत्ति नहीं।

आगे ज्ञेय कहा। ज्ञेय अर्थात् जीवित काल में ज्ञान कर लेना चाहिये। किसका ज्ञान कर लेना चाहिये? वह उपनिषद् में तरह तरह से समझा ही दिया। यदि दूसरे प्रावादुकों की मन में छाप लगी हुई हो तो दूसरे प्रावादुकों की बातों से उन्हें काट देना चाहिये। और प्रावादुकों की बात मन में नहीं लगी हुई हो तो उसे जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं से रहित कर देना चाहिये। यह उस परमार्थ तत्त्व में पहुँचने का प्रकार हुआ। परमार्थ तत्त्व इसके भी आगे हुआ।

आप्य; क्या प्राप्त करना चाहिये? यह प्राप्त करना चाहिये : पहले तो बाह्य एषणाओं का त्याग करना चाहिये। पुत्रैषणा के त्याग से काम-निवृत्ति, वित्तैषणा के त्याग से लोभ की निवृत्ति और लोकैषणा के त्याग से सारे कर्म और उपासनाओं की निवृत्ति। क्योंकि 'कर्मणा पितृलोकः' कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होगी और 'विद्यया देवलोकः' उपासना से देवलोक की प्राप्ति होगी। इन सब चीजों को छोड़ना है। बाह्य इसलिये कहा कि बाह्य पदार्थों को ही लेकर एषणायें हैं। इनके विषय आत्मा से बाह्य हैं। 'सारी दुनिया मेरी प्रशंसा करे', यह बाह्य एषणा, 'मुझे वैकुण्ठ, गोलोक, स्वर्ग की प्राप्ति हो' तो यह भी बाह्य किसी चीज़ को प्राप्त करने की इच्छा है। आत्मा से भिन्न किसी भी चीज़ की प्राप्ति की इच्छा बाह्य एषणा है। 'मन में शान्ति हो, सुख हो'; मन भी आत्मा से बाहर है। 'मुझे खूब स्मृति हो, सारे शास्त्रों की बातें याद रहें' यह बुद्धितत्त्व भी आत्मा से बाहर अनात्मा है। ये सब बाह्य एषणाएँ हैं। इसी प्रकार 'मेरी इन्द्रियाँ पुष्ट हों, मेरा शरीर स्वस्थ हो', यह भी क्योंकि आत्मा से भिन्न एषणा है, इसलिये बाह्य है। बाह्य तीनों एषणाओं का त्याग करना चाहिये।

किससे त्याग करना चाहिये? बार बार परमार्थ सत्य की दृष्टि से त्याग करना चाहिये। जब जब बाह्य एषणाएँ आयें तब तब विचार करो कि ये बाह्य एषणाएँ मुझे जीवन में कितनी बार प्राप्त हो गईं। अनादि काल से चलते आये हैं लेकिन स्थिर नहीं रहे, ये एषणाएँ आयीं और निकल गईं। इसलिये परमार्थ तत्त्व की दृष्टि से विचार करके इन बाह्य एषणाओं का त्याग करना है। चीज़ों से दूर होने से त्याग नहीं। त्याग का रूप

Scanned by CamScanner

जैसा यहाँ बताया वैसा ही ईशावास्य उपनिषद् में 'तेन त्यक्तेन' से बताया 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', जो कुछ है वह परमेश्वर रूप ही है। इस ज्ञान के द्वारा ही त्याग करना है।

चीज़ों से भागकर त्याग तो मूर्खों का त्याग है। यहाँ तो चीज़ों के रहते हुए ही चीज़ को शिव से अभिन्न कर दिया। नाम-रूप को छोड़ना है क्योंकि उसमें ईश्वर तत्त्व ही सच्चा है। बढ़िया रसगुल्ले की सुगन्धि आयी, चौबीस घण्टे में खटास की गन्ध हो जायेगी। लेकिन उसमें रहने वाला शिव तत्त्व रह जायेगा। संसार में जितने पदार्थ हैं उनके सारे के सारे नामरूप तो हटते जायेंगे, बाधित होते जायेंगे, लेकिन वह तत्त्व रह जायेगा।

यही यहाँ त्याग शब्द का अर्थ है। यह भाष्यकारों ने 'त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण' कहकर स्पष्ट किया, क्योंकि चीज़ को तो उठाकर आदमी बाहर फेंक दे लेकिन एषणा ऐसी चीज़ नहीं है जिसको उठाकर बाहर फेंकें। इसलिये एषणाओं का त्याग ही पदार्थ का त्याग है। वेदांत सिद्धान्त में पदार्थों का त्याग त्याग नहीं है, खासकर अजातवाद की दृष्टि में नहीं है। यदि पदार्थों के नाम रूप का त्याग तुम करोगे तो वह नाम रूप रहे न रहे, कोई फ़रक नहीं पड़ता। और यदि नाम रूप का त्याग नहीं करोगे तो कहीं भी चले जाओ, नाम रूप का संस्कार तो तुम्हारे अंदर पड़ा ही रह गया तो वह वैसे ही दुःख का कारण हो जायेगा।

शास्त्रों में बार बार जो सौभरि महर्षि, जाजलि महर्षि आदि की कथा है वह यह सब दिखाने के लिये कि इतने दिन शांत रहकर भी क्रोध का बीज वैसा ही रह गया। उसी प्रकार सौभरि इतने वर्ष तक तपस्या करते रहे लेकिन कामना का त्याग नहीं किया इसलिये समय आने पर वह फिर वैसी के वैसी उद्बुद्ध हो गयी। इसलिये पदार्थ का त्याग नहीं नामरूप का त्याग करना है।

विवेकी देखता है कि पदार्थ-त्याग तो अपने आप ही होता है। बढ़िया से बढ़िया कपड़ा भी छह महीने बाद अपने आप फट ही जाना है। इसलिये पदार्थ तो आज या छह महीने बाद चला ही जायेगा। यह अजातवाद की साधना है। यह बताओ कि हर जन्म में तुम मृत्युकाल में सारे पदार्थ छोड़ छोड़ कर जाते रहे। जब जब मरे तब तब पदार्थ छोड़ दिये। जिन जिन के साथ राग, द्वेष, मित्रता, शत्रुता, लड़ाई-झगड़ा था उन सबको छोड़कर गये। अगर पदार्थों को छोड़कर जाने से कोई कल्याण होता तो अब तक हो गया होता। पदार्थों को तो हमेशा छोड़ते रहे लेकिन कुछ नहीं हुआ। जीवित काल में पदार्थ क्षीण होकर छूट जाते हैं और मृत्युकाल में तो पदार्थ सर्वथा सारे के सारे छूट ही जाते हैं। यदि नामरूप का त्याग करके शिवरूपता को ग्रहण कर लिया तो पदार्थ सामने पड़ा भी क्या कर सकता है! वह तुम्हारे बंधन का हेतु नहीं बनता। इसलिये कह दिया 'त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण'। अब कहोगे कि यदि बाह्य एषणा हमने छोड़ दी तो फिर जीवन का निर्वाह कैसे चलेगा? एषणा से ही पदार्थों में प्रवृत्ति होती है। इसलिये कह दिया 'भिक्षुणा'। ये सब बृहदारण्यक उपनिषद् से लिये गये हैं। उसमें पहले बाह्य एषणाओं

Scanned by CamScanner

का त्याग बताने के बाद कहा 'अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'। वहाँ वार्तिककार कहते हैं 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या' भिक्षा— किसी भी पदार्थ पर बिना अधिकार के जो चीज़ प्राप्त होती है उसका नाम भिक्षा है। किसी भी चीज़ पर कोई अधिकार नहीं। बिना अधिकार के कोई चीज़ प्राप्त हुई उसी का नाम भिक्षा है।

यदि किसी को कहते हो कि 'पाँच रुपये लो और एक किलो चावल दो' तो उसपर तुम्हारा अधिकार है। इसलिये यदि उसने पाँच रूपये लेकर एक किलो संथानी चावल तुम्हें दे दिये तो कहोगे 'मेरे को ठगता है। मैंने बासुमती चावल का भाव दिया है।' यह कह सकते हो क्योंकि उसपर तुम्हारा अधिकार है। लेकिन किसी से कहो कि 'भूखा हूँ एक सेर चावल दे दो' और उसने संथानी चावल दे दिया तो क्या कहोगे कि 'मेरे को बासुमती दे'। यह नहीं कह सकते। वह जो देगा वही लेना है। इसलिये अधिकार का अभाव हुआ।

ठीक इसी प्रकार हमको जो कुछ मिल रहा है वह किसी कर्म का फल नहीं, क्योंकि सब कर्मों को तो तुमने त्याग दिया। अब जो कुछ परमात्मा हमारे सामने ला रहा है वह भिक्षा हो गई। अधिकार न होने के कारण 'यह अच्छा और यह बुरा' कहने का अधिकार भी हमारा नहीं रहा। उसने बढ़िया चार फोड़े पैर में दिये तो भिक्षा है। जब उसने चार हीरे कोहिनूर जैसे दे दिये तो भी भिक्षा है। दोनों भिक्षा हैं। यही 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या' का तात्पर्य है। कर्मफल से अधिकार का सर्वथा त्याग करना है।

शुरू शुरू में तो यह मानकर चलो कि प्रारब्ध का भोग हो रहा है; लेकिन उसमें तो फिर भी वृत्ति बनती है कि 'यह हमारे अधिकार की चीज़ है, चलो इतना दुःख तो हमारा कम हुआ'। इसलिये कभी कदाचित् प्रारब्ध बदलने की इच्छा भी हो जायेगी, 'राहु शनि की शान्ति करा लो, और कोई अनुष्ठान करा लो'। लेकिन अब जब समझते हो कि उसपर भी हमारा कोई अधिकार नहीं तब तो फिर न किसी ग्रह की शान्ति और न कुछ अनुष्ठान इत्यादि करवाना है। यही है वास्तविक वैदिक परमहंस संन्यास।

चूंकि सभी कर्मों में अधिकार की प्राप्ति नहीं रही तो वह किसी चीज़ में कैसे प्रवृत्ति करे? कर्म और उपासना चोटी जनेउ से होती है। जैसे चाहे उँचे से उँचे ब्राह्मण का लड़का हो लेकिन जब तक जनेउ नहीं हुआ तब तक सन्ध्या-वंदन वेदपाठ नहीं कर सकता है। यज्ञोपवीत से ही उसमें अधिकारिता आयेगी। उसी प्रकार जब यज्ञोपवीत का त्याग कर दिया तो सारे वैदिक कर्म और सारी वैदिक उपासनाओं को करने का अधिकार नहीं रहा। शिखा का त्याग कर दिया तो कोई भी स्मार्त कर्म या उपासना का अधिकार तुम्हें नहीं रहा। किसी भी कर्म में जब न्यास करोगे तो 'शिखायै वषट्' करना पड़ता है। वहाँ हाथ लगाकर दूसरों को चाहे दिखा दो कि कर रहे हैं, लेकिन करने को वहाँ कुछ नहीं है। इसलिये यह वैदिक परमहंसता की प्राप्ति हो गई।

Scanned by CamScanner

बृहदारण्यक उपनिषद् ने कहा 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च षाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः'। उसी को यहाँ कह दिया। पहले बाह्य एषणाओं का त्याग कर दिया, फिर भिक्षाचर्या की प्राप्ति की, माँगना नहीं वरन् जो अपने आप आता है उसे अधिकारभाव के बिना काम में लेना। पांडित्य अर्थात् वेदांत के तात्पर्य को भली प्रकार से समझना कि उपनिषदों का तात्पर्य क्या है। जो अद्वैत तत्त्व अद्वितीय वस्तु का विचार है उसको करने में चतुरता का होना पांडित्य कहा जाता है। अद्वय वस्तु का प्रतिपादन किससे होता है? उपनिषदों से ही अद्वितीय वस्तु का ज्ञान होता है। 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'। उपनिषदों में जिस परब्रह्म परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन किया, जिस चतुष्कोटिविनिर्मुक्त परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन किया, उसको ठीक प्रकार समझने में चतुरता का नाम पांडित्य है। अद्वितीय वस्तु के विचार करने में चतुरता की ज़रूरत पड़ती है। किस बात की चतुरता होनी चाहिये? लक्षण के द्वारा पदार्थ को समझने की चतुरता। चतुर व्यक्ति उसको कहते हैं जो इशारे से बात समझता है। लोग कहते हैं 'यह आदमी इशारे से बात समझ लेता है, चतुर है।' परमात्मतत्त्व को कभी भी अंगुल्या निर्देश से नहीं बताया जा सकता कि 'यह ब्रह्म है।' उसको तो चतुरता से समझना पड़ेगा। जिस अहम् से बाकी सब ज्ञानों को देखा गया उसे किससे देखोगे? घड़े को आँख से देखा। आँख को मन से देखा, हमारी आँख ठीक है या नहीं इसका पता मन से लगता है। मन को अहंकार की वृत्ति से देखा, जैसे 'आज मेरा मन ध्यान में लगा, आज नहीं लगा।' मन को अहम् ने जाना। यहाँ तक तो आदमी की समझ में आता है। अब आगे इस अहम् को कैसे जाना? मैं इस बात को भी तो जाना जा रहा है, इसको किससे जाना? जिसके ज्ञान से यह शिव जाना गया वह शिव है। अब यह इशारे से समझना पड़ेगा क्योंकि सामने तो कुछ नहीं दीखा, लेकिन चतुर बुद्धि पकड़ लेगी कि दूसरी चीज़ों को किसी न किसी चीज़ से जाना जा रहा है और इस मैं का ज्ञान हो ही रहा है तो मैं है ज़रूर, उसे जानने वाला भी मैं ही हूँ। इस अद्वय विचार की चतुरता को ही पांडित्य कह दिया। बाकी दुनिया भर के शास्त्रों को पढ़ लिया, उनके बारे में बड़ी बड़ी बातें कह दीं उसे अध्यात्मशास्त्र में पांडित्य नहीं कहा जाता। अध्यात्मशास्त्र का पांडित्य तो यही है कि दूसरी चीज़ वहाँ नहीं है यह समझ लेना।

उसके बाद बाल्य है। ज्ञानी बालक की तरह होता है। भाषा में भी ऐसा प्रयोग होता है। बालक मायने यह नहीं कि जैसे बच्चा टट्टी पेशाब में पड़ा रहता है ऐसे ही ज्ञानी भी रहता होगा। ऐसा नहीं। बालक के अन्दर जैसे राग, द्वेष, दंभ, दर्प आदि दोष नहीं होते, ऐसे ही ज्ञानी में भी कोई दोष नहीं होता। छोटे बालक में राग नहीं होता। उसे चाकलेट दो तो चाचा की गोद से उतरकर तुम्हारे पास आ जायेगा। पहले थोड़ा सा डरेगा इधर उधर पैर रखकर समझ लेगा कि कोई डर की बात नहीं, लेकिन दूसरी बार बिल्कुल बेधड़क होकर आ जायेगा। उसमें राग नहीं। इसी प्रकार उसमें किसी प्रकार

Scanned by CamScanner

का दर्प नहीं। चाहे करोड़पति का बच्चा हो, पहले दो बार चाकलेट ले भी गया है तो भी आकर कहेगा, चाकलेट नहीं कह सकेगा तो 'चौका' कहकर माँग लेगा। उसकी माँ इशारा करेगी कि नहीं माँग, क्योंकि उसे तो दर्प है कि 'घर में इतने पड़े हुए हैं, यहाँ फिर भी माँग रहा है' लेकिन बच्चे को दर्प नहीं कि घर में बहुत पड़े हैं। इसी प्रकार बच्चे में दंभ नहीं होता। दंभ मायने अपनी बुराई को छिपाकर अच्छाई को प्रकट करना। बच्चे को किसी कारण से हमारे ऊपर गुस्सा आ गया तो मुँह के सामने ही करेगा कुट्टी। दंभी व्यक्ति होगा तो तुम्हारे सामने 'हाँ जी, हाँ जी' करता रहेगा। दरवाज़े के बाहर जाकर कहेगा 'महाचोर है।' बच्चे में यह नहीं होगा। वह तो सामने ही बोल देगा। इसी प्रकार बच्चे में द्वेष नहीं होता। तुमने बच्चे को डाँट दिया वह चला गया। पाँच मिनट बाद फिर चाकलेट देने की बात करो तो फिर दोस्त हो जाता है। उसे कोई द्वेष नहीं रहता कि 'एक बार ना कर दिया तो फिर क्यों लूँ', ऐसा कुछ नहीं। जहाँ कहते हैं कि ज्ञानी बालक की तरह होता है तो मतलब यह नहीं कि बालक की तरह टट्टी पेशाब करता रहता हो। उसके अंदर दंभ, दर्प अहंकार आदि नहीं होते।

एक बार एक ज्ञानी महात्मा कहीं भिक्षा लेने गये। घर वाले ने कहा 'जा जा! यहाँ भिक्षा नहीं मिलती।' वे चले गये। घर वाले ने कहा 'अच्छा आ जा, दे देता हूँ।' वापिस आ गये। फिर कहा 'तू बड़ा तगड़ा दीख रहा है, जा, नहीं देते।' वे चले गये। फिर कहा 'आ जा ले ही जा।' फिर आ गये। उसने फिर कहा 'मैंने तो समझा था तू पढ़ा लिखा होगा लेकिन तू तो मूर्ख लग रहा है, जा यहाँ से।' फिर कहा 'अच्छा आ जा।' अब वह गृहस्थ उनके पैरों पर गिरकर कहने लगा कि आप तो बहुत ज्ञानी हैं। उन्होंने पूछा 'यह कैसे पता लगा' उसने कहा 'आपको इतनी बार भेजा बुलाया लेकिन आपको फिर भी गुस्सा नहीं आया।' महात्मा कहने लगे 'ऐसा तो कुत्ता भी करता है। उसे भी डंडा दिखाओ तो चला जाता है लेकिन, फिर 'चच्चच्चच्च' करो तो फिर आ जाता है। यह ज्ञानीपना थोड़े ही है।' यहाँ अहंकार नहीं कि मेरे को गुस्सा नहीं आया, क्योंकि वे जानते हैं कि इसमें कुछ नहीं है। राग, द्वेष, दंभ, दर्प आदि दोषों से रहित होना बालकपना है।

यह किससे होता है? बार-बार युक्तियों से जब वेद में कहे हुए परमात्मतत्त्व का अनुसंधान करने की कुशलता होती है। यह भी बाल्य ही है। बाल्यशब्द को 'बल' से बनाया। भाष्यकारों ने 'ज्ञानबलभावेन' अर्थ किया है। वेद ने तो कह दिया कि सर्वत्र एक अद्वितीय आत्मतत्त्व है, यह पांडित्य से पता लग गया। लेकिन हर परिस्थिति में बार-बार युक्तपूर्वक इसे सोचना है कि 'जो कहीं भी कुछ भी कर रहा है वहाँ वह अद्वितीय आत्मा से अभिन्न हुआ ही कर रहा है'। इसे बार-बार युक्ति से सोचना पड़ता है।

जो युक्ति से सोचने में कुशल नहीं होगा, वह क्या करता है? एक आदमी पहले पहल नया नया ईसाई बना। वहाँ उसे सिखाया गया कि कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे

Scanned by CamScanner

तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर देना। रेल में जा रहा था। किसी को गुस्सा आया तो उसको मार दिया थप्पड़। उसने दूसरा गाल उसके सामने कर दिया। सामने वाला कोई तगड़ा पंजाबी था, वह क्या परवाह करे? उसने दूसरे गाल पर भी थप्पड़ मार दिया। अब उस आदमी ने विचार किया कि गुरु जी ने इतना ही सिखाया था, इसके आगे तो कुछ सिखाया नहीं था। उसने उसे उठाकर चलती रेल से बाहर फैंक दिया। 'दूसरे गाल पर भी मारे तो क्या करना'— यह तो गुरुजी ने कहा नहीं था! जो युक्ति से समझने में कुशल नहीं होगा उसे जितना समझाओगे उतना तो पकड़ लेगा, आगे फिर उलटा पुलटा काम करेगा। जो युक्ति से सोचेगा वह समझ लेगा कि इनका तात्पर्य है कि अपने साथ चाहे कोई कुछ करे हम उसके साथ बुरा न करें। यह युक्ति से सोचना हुआ। बाल्य में ये दोनों बातें आ गईं— दंभ आदि न होना और युक्ति से अनुसंधा कर सकना।

तीसरा कहा 'अथ मुनिः'। मुनि का जो कर्म होता है उसे मौन कहते हैं 'मुनेः कर्म मौनम्'। अर्थात् बार बार ज्ञान का अभ्यास निदिध्यासन, समाधि का अभ्यास करना। पांडित्य के द्वारा बताया कि वेद के अद्वितीय आत्मतत्त्व को समझने में चतुरता। बालक के द्वारा सर्वत्र राग द्वेष आदि दोषों से रहित होना और व्यवहार काल में युक्ति से आत्मतत्त्व को देखने की चतुरता होना बताया। मुनि से बताया कि अंदर ही अंदर उस आत्मतत्त्व को समाधि में परिणत करने की योग्यता का होना। 'पांडित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि' ये सारे साधन हैं इन्हें प्राप्त करना चाहिये। ये अजात दृष्टि को प्राप्त करने के साधन हो गये अर्थात् इनको करने से यह आत्मदृष्टि प्राप्त होती है। इनके बिना प्राप्त नहीं होती। केवल मन से आत्मा को आदमी सोचता रहे और कहे कि प्राप्ति हो गई तो थोड़े ही प्राप्ति हो गई। अतः तीनों बता दिये।

अब चतुर्थ 'पाक्यानि' कहते हैं। 'पाक्यानि' अर्थात् जो पकाने चाहिये, जैसे फोड़ा पकता है तो फूट कर ख़तम हो जाता है। पुराने ज़माने का आयुर्वैदिक शास्त्र समझना, क्योंकि आजकल तो लोग उसे सुखा देते हैं। पहले कोई एंटीबायोटिक्स तो थे नहीं, इसलिये मानते थे कि पक कर फूट जायेगा तो ठीक हो जायेगा। ये राग, द्वेष, मोह इत्यादि जो विकार हैं, इन सारे विकारों को पकाना चाहिये। ये तपस्या से पकेंगे। बार बार इनके बारे में सोचना चाहिये कि इन्होंने ही हमको अनादि काल से अविद्या के चक्कर में फँसा रखा है। यह जब बार बार विचार करोगे तब फिर वे पकेंगे। इसलिये प्राप्त करने के योग्य वे हो गये और पकाने के योग्य ये हो गये।

जितने जितने राग, द्वेष, मोह, क्रोध आते जायें उन्हें कम करते जाना चाहिये। आज किसी के साथ बोलने में द्वेष हुआ और तीन घण्टे बोलने में गुस्सा रहा, कल यदि पौने तीन घण्टे गुस्सा रहा तो आगे बढ़े; और सवा तीन घण्टे रहा तो पीछे चले गये; तीन घण्टे ही रहा तो वहीं रह गये। उसी प्रकार राग का है। बैठे बैठे मन में आया कि 'कलकत्ते

Scanned by CamScanner

का रसगुल्ला खायें' तो राग हुआ। अगर तीन घण्टे तक यह कामना बनी रही तो आज तीन घण्टे का राग हो गया; कल यदि पौने तीन घण्टे में कामना ख़तम हो गयी तो आगे बढ़े; यदि सवा तीन घण्टे तक रही तो समझो कि पीछे की तरफ जा रहे हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पकाने के लिये मन में राग द्वेष उठाओ। वे तो ख़ुद उठते ही रहेंगे। किसी न किसी चीज़ का राग और किसी न किसी चीज़ पर द्वेष उठता ही रहेगा। लेकिन जब जब राग द्वेष आदि उठें, तब तब यह ध्यान दो कि ये पहले की अपेक्षा कम होते जा रहे हैं या नहीं।

इतना ही नहीं एक भूल हम लोग प्रायः करते हैं। सबका एक ही विषय में एक जैसा राग नहीं होता। किसी को खाने के विषय में राग है, किसी को पहनने के विषय में राग है, किसी को दोस्तों का ही राग होता है। खाने के विषय में राग वाला पहनने वाले को कहेगा कि 'फालतू इतना पैसा कपड़ों पर खर्च करते हो, यह सब छोड़ना चाहिये।' उससे कहो 'तुम्हारे खाने का?' 'अरे जी वह तो शरीर की स्वस्थता के लिये चाहिये। इसके बिना नहीं चलता। बड़े बड़े महात्मा लोग भी खाते ही हैं।' दूसरी तरफ पहनने वाला खाने वाले से कहता है 'खा खाकर लोग पैसा बरबाद करते हैं, जीभ के वश में नहीं होना चाहिये।' उससे कहो 'तुम्हारे कपड़ों के विषय में क्या है?' कहेगा 'वह तो दस आदमियों के पास जाना पड़ता है, थोड़ी सी धाक रखनी पड़ती है नहीं तो काम नहीं चल सकता।' किसी को इन दोनों में राग नहीं, दोस्तों में ही राग है। कई लोगों को दोस्त बनाने का शौक होता है। उन्हें खाने पहनने की चिन्ता नहीं रहती। ऐसे लोगों को हम जानते हैं जो घर में तो दाल खायेंगे और दोस्तों को खिलाने में खूब खर्च कर देंगे। घरवाली कहेगी कि 'यह फालतू खर्च क्यों करते हो?' तो कहेंगे 'समाज में रहना है तो चार आदमियों से मेलजोल रखने से काम चलता है।' जिसको जिसमें राग होता है वह उसकी तरफ ध्यान न देकर जिन चीजों में उसका राग नहीं है उनके बारे में दूसरों का राग देखकर बात करता रहता है।

लेकिन यह तो अध्यात्म साधना है। इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जिसमें मुझे राग है, उसे ही तो हटाना है। दूसरी चीज़ों की तरफ नहीं देखना चाहिये। 'मुझे इस बात की परवाह नहीं' यह सोच लिया तो साधक रास्ते में अटक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता। जैसे कई बार देखते हैं कि कई लोगों को सुनाओ कि 'सिनेमा देखने मत जाओ', या 'शराब बुरी चीज़ है', तो कहेंगे 'बड़ी अच्छी बात है।' दूसरे दिन कहो कि 'चोरबाजारी करना, घूस देना बुरी चीज़ें हैं,' तो कहते हैं कि 'ये सब बातें आप क्यों सुनाते हैं?' तब क्या सिनेमा न जाना परमार्थ है? उन्हें अपने राग की चीज़ बुरी नहीं लगती है। जिसको जिस चीज़ में राग होता है उसे कहते हैं यह छोड़ो तो वह कहता है 'यह तो व्यवहार करना पड़ता है, इसके बिना काम नहीं चलता।' लेकिन वस्तुतः जिन चीज़ों में मुझे राग है उन्हीं को छोड़ना है।

Scanned by CamScanner

अध्यात्म शास्त्र यह चिन्ता नहीं करता कि दूसरे के पास क्या है। अपने पास जो रोग है उसे छोड़ना है। जैसे किसी को कोई रोग हो तो वह खुश थोड़े ही होता है कि 'मेरा लीवर भी बढ़िया काम करता है, पेट भी हज़म करता है, आँख, कान आदि सब ठीक हैं, बस एक पैसे कोढ़ चू रहा है।' बल्कि उन सब अंगो को छोड़कर उस कोढ़ को ही ठीक करता है। इसी प्रकार चाहे मुझमें सारे गुण हैं लेकिन एक दोष है तो उस दोष को ही सामने रखकर उसे ख़तम करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसमें खुश नहीं होना चाहिये कि हमारे में यह नहीं है। दोषों को कषाय अर्थात् दाग माना है। वैसे कषाय मायने काढ़ा होता है। काढ़े का भी दाग पड़ जाये तो जल्दी नहीं जाता।

यहाँ हेय, ज्ञेय, आप्य, पाक्य चारों साधन बता दिये। इन सबको ठीक प्रकार से अपने अनुभव में लाना चाहिये। यह नहीं कि इन्हें भी रट लें। कोई पूछे 'क्या क्या साधन करने चाहिये?' तो झट से ये चार गिना दो। हम कहें 'पाक्य ठीक नहीं बोला' तो कहो 'बस यही तो बात है, आप गलती ही निकालते हैं।' क्रोध भी कर रहे हो और साथ ही हेय आदि चार भी गिना रहे हो! इसलिये इनका विज्ञान कहा कि इन्हें अनुभव में लाना चाहिये 'सर्वाण्येतानि विज्ञेयानि'। केवल समझ लेना या रट लेना नहीं है।

कोई पूछता है कि पहले तो आपने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति को ही ज्ञेय कहा था यहाँ आकर फिर चार विज्ञेय कैसे कह दिये? कहते हैं कि यहाँ तो केवल उपाय बता रहे हैं कि उस परमार्थ तत्त्व को प्राप्त किस प्रकार करना है। प्राप्ति तो परमात्मा की है लेकिन ये उपाय करोगे तो वह प्राप्त होगा। उपाय रूप से ये विज्ञेय हैं। किस के द्वारा? 'भिक्षुणा' भिक्षुक अर्थात् वैदिक परमहंस संन्यासी के द्वारा। 'अग्रयाणतः' मूल का पद था उसका अर्थ कर दिया प्रथमतः अर्थात् पहले ये चार चीज़ें ठीक से बैठा लेनीं चाहिये तब उस परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति होनी है। अर्थात् पहले ही ये उपाय समझ लेने चाहिये, उपाय नहीं तो उपेय की प्राप्ति नहीं होनी है। हेय आदि अविद्याकल्पित जितने भी पदार्थ हैं उनकी रज्जुसर्पवत् पारमार्थिक सत्यता नहीं है। हेय आदि सारे के सारे ज्ञेय हो गये। इनसे अन्यत्र अर्थात् भिन्न जो परमार्थ सत्य है वह विज्ञेय है। सच्ची बात तो यह है कि परमार्थ तत्त्व विज्ञेय और वही ब्रह्म है लेकिन उस एक को छोड़कर जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हुई तब तक इन चार को पक्का करना चाहिये। सचमुच तो प्राप्त परमात्मा को करना है। लेकिन जब तक परमात्मा प्राप्त नहीं हुआ तब तक पहले ये चार ही प्राप्त करने चाहिये।

'अन्यत्र विज्ञेयात्' मूल का अर्थ कर दिया कि विज्ञेय परमार्थ सत्य हो गया, उससे अन्यत्र अर्थात् भिन्न; तात्पर्य है कि जब तक उसका ज्ञान नहीं हुआ तब तक ही ये सारे जानने के योग्य हैं; ये सारे के सारे अविद्याकल्पना मात्र हैं। और भी समझ लेना चाहिये कि परमार्थ को छोड़कर बाकी जो विज्ञेय कहे गये हैं वे भी उपलंभ ही हैं, अविद्याकल्पना ही हैं। कोई कहता है परमाणु को, कोई कहता है प्रकृति को समझो, कोई महत् तत्त्व को समझने को कहता है, वे सारे के सारे अविद्याकल्पना मात्र हैं। वे अविद्याकल्पना

Scanned by CamScanner

की निवृत्ति में सहायक नहीं। उनसे ज्ञान तो नहीं होना है, केवल व्यवहार चलेगा। वादी-ज्ञेय तो अविद्या हैं ही, ये जो तीन उपाय हैं हेय, आप्य और पाक्य, इनमें भी ब्रह्मवेत्ता 'उपलंभ' अर्थात् अविद्यामयता ही मानते हैं, इन्हें भी परमार्थ सत्य नहीं स्वीकारते।।९०।।

●

यहाँ बताया गया कि परमार्थ तत्त्व जो विज्ञेय है उसमें जब तक स्थिति नहीं तब तक उससे भिन्न हेय, आप्य और पाक्य को समझ कर साधना करनी चाहिये। वह परमार्थ तत्त्व कैसा है उसे बताते हैं :

प्रकृत्याऽऽकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किञ्चन ।।९१।।

सभी आत्मायें अनादि अर्थात् कारणरहित हैं। उनकी कारणरहितता कैसी है? 'प्रकृत्या' अर्थात् स्वभाव से है। उनकी कारणरहितता किसी कारण से नहीं है। यह समझना जरा कठिन है। जैसे अग्नि की गर्मी किसी कारण से नहीं, जल की ठंडक किसी कारण से नहीं, पत्थर में वज़न किसी कारण से नहीं, उसी प्रकार जितने भी आत्मा हैं वे सारे के सारे कारणरहित ही हैं, स्वभाव से हैं, किसी कारण से नहीं। अर्थात् उनको सिद्ध करना इष्ट नहीं।

यह प्रश्न न करो कि उन आत्माओं की नित्यता कैसे सिद्ध होगी? जितने विशिष्ट ज्ञान हैं उन विशिष्ट ज्ञानों में ज्ञान की एकरूपता ज्ञान को स्वतः ज्ञानरूप सिद्ध करती है। जैसे साग, दाल, इत्यादि सब चीज़ों में जिस को डालने से नमकीनपन आता है तो उसका नमकपन स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार जिसके संबंध से घट पट इत्यादि सब ज्ञान वाले बनते हैं उससे ही उसकी ज्ञानरूपता स्वतः सिद्ध है। नमक की नमकीनरूपता स्वतः सिद्ध है, परतः सिद्ध नहीं। नमक को चखकर कभी नमकीन स्वाद नहीं आता, मिश्री को चखकर कभी मिठास नहीं आयेगी, तभी आयेगी जब जीभ में जल होगा। यदि जीभ को अच्छी तरह से ब्लाटिंग से सुखाकर नमक या मिश्री डालो तो कुछ स्वाद नहीं आयेगा क्योंकि जब तक उसका तरलीकरण न हो जाये तब तक जीभ में रहने वाले जो उसे ग्रहण करने वाले इन्द्रिय के स्नायुसंस्थान हैं वे उसे ग्रहण ही नहीं कर सकते। प्रयोग करके देख लो। ब्लाटिंग से जीभ को बिल्कुल सुखा दो, उसमें जलीय अंश बिल्कुल न रहे, और तब खाओ तो जीभ को उसका कुछ स्वाद पता नहीं लगेगा। कारण यह है कि जब तक वह घुलेगा नहीं तब तक जीभ स्वाद को ग्रहण नहीं कर सकती। अब कोई शंका करे कि हमें नमक का स्वाद बिना जल इत्यादि में घोले हुए बताओ, तो क्या बताएँ? लेकिन जिस चीज़ में उसका संपर्क होता है वह नमकीन हो जाती है इसलिये उसे नमकरूप ही स्वीकारना पड़ता है।

Scanned by CamScanner

ठीक इसी प्रकार कोई कहे कि मुझे केवल ज्ञान का दर्शन करना है। केवल ज्ञान कैसा है? यह जानना कोई चाहे तो यह कभी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि जानेगा कौन? लेकिन घट, पट, मठ, कट, जिस जिस पदार्थ से ज्ञान का संबंध होता है वह पदार्थ ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है इसलिये मानना पड़ता है कि वह ज्ञानस्वरूप है। केवल प्रकाश कभी नहीं दीख सकता। हम लोगों को भी जो प्रकाश दीखता है वह भी पृथ्वी के उपर एक तरह का जो आवरण है उसके कारण। पृथ्वी के आवरण पार्थिवादि परमाणु त्रसरेणु बने हुए घूमते रहते हैं। उनके ऊपर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। इसलिये प्रकाश दिखाई देता है। अपने को जो रोशनी दिखाई देती है वह यदि वहाँ त्रसरेणु न हों तो कुछ दिखाई नहीं देगी। इसलिये प्रकाश किसी न किसी पदार्थ पर पड़कर ही प्रतीत होता है। जब लोग चन्द्रमा की यात्रा करने जाते हैं तो जैसे ही पृथ्वी से दो सौ मील दूर पृथ्वी के आवरण क्षेत्र को पार कर जाते हैं तो वहाँ केवल अँधेरा ही अँधेरा नज़र आता है। केवल उनके यान पर सूर्य की रोशनी चमकती है, और कहीं नहीं क्योंकि वहाँ पार्थिव परमाणुओं का अभाव है। फिर वहाँ कोई पदार्थ आ जाता है तो वह प्रकाश में दिखाई देता है, जिसे हम लोग उल्का कहते हैं।

अपने यहाँ कहते हैं तारा टूट रहा है। तारा नहीं टूटा करता, वे बड़ी बड़ी चट्टानों के खण्ड हैं। पृथ्वी से भी कई बार ऐसा होता है कि कोई टुकड़ा टूटकर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से बाहर चला गया, वह दूसरे किसी के आकर्षण में न होने से घूमता रहेगा। कभी कदाचित् वह पृथ्वी के पास से या पृथ्वी उसके पास से निकलेगी तो वह टुकड़ा चमकता हुआ दीखेगा इसलिये तारा टूटा हुआ लगेगा। यथाकथंचित् वह पृथ्वी के अधिक नज़दीक हुआ तो पृथ्वी का आकर्षण उसे खींच भी लेता है और ऐसा होने पर कभी कभी तो बड़े बड़े शहर भी ख़तम हो जाते हैं। वे बहुत बड़ी चट्टाने होती हैं। ऐरिजोना में ऐसा एक खंड है। वह किस नक्षत्र से आया यह अपने को पता नहीं। कहीं से आया यह निश्चित है। प्रायः ऐसा होता है कि छोटा टुकड़ा होता है लेकिन होता भयंकर है। छोटा २५-५० फुट का भी हो सकता है, वह गिरे तो दो एक आदमी तो मर ही जायेंगे। लेकिन कभी कभी बड़े बड़े टुकड़े आते हैं। अब समझ लो कि सात किलोमीटर ऊपर से ऐसा पत्थर आये तो आबू का क्या हाल होगा!

सूर्य के प्रकाश अथवा किसी भी प्रकाश की प्रतीति तब तक नहीं होती जब तक उसका किसी पदार्थ से सम्पर्क न हो। अब अगर प्रश्न होता है कि किसी पदार्थ के बिना हमको शुद्ध प्रकाश की प्रकाशरूपता बताओ; तो नहीं बताई जा सकती। लेकिन किसी भी चीज़ के सामने आने पर वह प्रकाशित हो जाती है इसलिये मानना पड़ेगा कि प्रकाश प्रकाशघन है। चाहे सैन्धवघन, चाहे मिश्री का खण्ड, चाहे प्रकाश, सभी जगह यही नियम है। इसी प्रकार जिस जिस से ज्ञान का संबंध होता है वह ज्ञात हो जाता है इसलिये उस तत्त्व को ज्ञानस्वरूप मानना पड़ेगा, वह विज्ञानघन है। लेकिन

Scanned by CamScanner

यदि कहो कि इस सबको छोड़कर बिना किसी पदार्थ के इसके विज्ञानघन स्वरूप को दिखा दो, तो कुछ नहीं दिखा सकते। इसलिये कहा कि आत्मा की कारणरहितता भी ठीक इसी प्रकार स्वभाव से है।

जिस जिस चीज़ की आदिता होती है उस उस चीज़ की आदिता आत्मा के कारण होती है। आदिता मायने यह पहले और यह बाद में। पहले और बाद— यह ज्ञान हुआ। इसलिये कारणता कभी पदार्थों में नहीं होती। कारणता तो जानने वाले में होती है। 'यह इसका कारण है', यह किसी न किसी अन्तःकरण में ही आना है। मिट्टी और घड़े की कारणता हमारे में रह सकती है, वहाँ नहीं रह सकती है। पूर्व-पर का ज्ञान आत्मा को होगा। अब जो सबको कारणता देता है उसका कारण कैसे हो सकता है? दूसरे में कारणता की कल्पना करते हो तो जो तुम कारणरूप समझोगे वह फिर आत्मा हो गये। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जो सबका अनुभव करने वाला है उसका अनुभव कौन करे? क्योंकि जो सबका अनुभव करने वाला है वही तो कारणस्वरूप (अनुभवस्वरूप) है।

इसी में दृष्टान्त दिया 'आकाशवत्' जैसे आकाश की सर्वव्यापकता सर्वगतता किसी कारण से नहीं है, स्वभाव से ही आकाश सर्वव्यापक है। जहाँ जहाँ से चीज़ें हटा लो वहाँ आकाश हो जाता है। कुछ भी हटाने पर आकाश कहीं से लाना नहीं पड़ता। इसलिये आकाश की सर्वव्यापकता किसी कारण से नहीं स्वभाव से है। पदार्थों से आकाश की व्यापकता को ढाँकते हो और जब पदार्थ नहीं तो आकाश वहाँ है ही। इसलिये कहा कि सारे आत्मा आकाशवत् अनादि हैं।

इसी प्रकार तुमने यदि मन को अपने उपर ढाँक लिया तो जाग्रत् स्वप्न में मन की उपस्थिति में अपने को पैदा हुआ, आदि वाला मानोगे और सुषुप्ति में अपने को अंत वाला मानोगे। अगर तुमने अपने को शरीर से ढाँक लिया तो सन् २५ में अपने को पैदा हुआ मानोगे और सन् २००० में अपने को मरा हुआ मानोगे। हुए शरीर की उत्पत्ति और शरीर का नाश। उससे भी आगे लोग चले जाते हैं। पुत्र को अपना रूप मान लेते हो तो पुत्र के मरने पर 'मैं मारा गया', ऐसा मानते हो। उससे भी आगे लोग चले जाते हैं, सारे देश को भी अपना स्वरूप मान लेते हैं। प्रथम विश्वमहायुद्ध में जब जर्मनी हारा तो हिटलर अंधा हो गया क्योंकि 'अपने देश को हारा हुआ मैं देख ही नहीं सकता,' उसके कारण अंधा हो गया। आँख में कोई खराबी नहीं। नौ महीने तक अंधा रहा क्योंकि देश के साथ एकता का अनुभव कर लिया। मूर्ख लोग उसे अच्छा मानकर देशभक्तों में गिनाते हैं। यह मूर्खता है।

जिस जिस चीज़ के साथ सम्पर्क करोगे उस चीज़ से जन्म मरण की प्रतीति हो जायेगी और जिस जिस चीज़ से ध्यान हटा लोगे वह वह तुम्हारी कारणरूपता को ख़तम कर देगी। पुत्र से झगड़ा हो गया तो घर से निकाल दिया, वह मरता है तो थोड़े ही कहते

Scanned by CamScanner

हो कि 'मैं मारा गया'। ऐसे ही यह शरीर टट्टी, पेशाब का थैला है, इस शरीर के मरने से वह अपने को मरा हुआ नहीं मानेगा। मन मेरे दुःख का कारण है इसको जान लिया तो मन के बीजावस्था में जाने पर अपना लय नहीं मान लोगे। जैसे आकाश को किसी न किसी चीज से ढाँका जाता है वैसे ही किसी न किसी उपाधि को लेकर के ही अपने को आदि अंत वाला कहते हो। सारी उपाधियों को हटाकर बताओ तुम्हारा स्वरूप क्या है? कुछ नहीं। इसलिये कहा कि आकाशवत् सर्वव्यापक समझना चाहिये।

ऐसा कौन समझेगा? जो मोक्ष की इच्छा वाला है। बंधन की इच्छा वाले लोग तो अपने ऊपर कोई न कोई कवच चढ़ाते ही रहेंगे। जैसा हम कई बार कहते हैं कि आजकल देवता का दर्शन करने कोई नहीं जाता शृंगार का दर्शन करने जाते हैं। एक दूसरे से कहता है 'आज साँवरिया जी ज़रूर जाना, आज तो सावन की हरी पोशाक चढ़ी है' या कहते हैं कि 'शाम को विश्वनाथ के दर्शन करने जाना चाहिये, उस समय राजाओं वाला शृंगार चढ़ता है।' वे लोग शृंगार देखना चाहते हैं, देवता को कोई नहीं देखना चाहता है। इसी प्रकार विशेषता बताते हैं कि 'तिरूपति बालाजी का क्या ठिकाना, वहाँ तो हुंडी में पचास पचास हज़ार रुपया निकल आता है।' तिरूपतिजी को थोड़े ही देखा, वह तो पचास हज़ार रुपया निकलने की करामात को देखना है।

ठीक इसी प्रकार से संसार के लोग कवच, उपाधि चाहते हैं। इसलिये उनकी खोज रहती है कि कहाँ कवच का शृंगार ज्यादा है अर्थात् उपाधियाँ कैसे बड़ी हों। साढ़े तीन हाथ के शरीर में फँसा हुआ ही दुःखी हो रहा है और यदि किसी व्यक्ति में ऐसी शक्ति हो जाये कि एक साथ हज़ार शरीर लेकर एक यहाँ, एक दिल्ली में, एक कलकत्ते में, एक बम्बई में, एक अहमदाबाद में इत्यादि सब जगह अपने को इकट्ठा देखे तो लोग कहेंगे 'यह महात्मा बड़ा पहुँचा हुआ है।' विवेकी कहेगा कि अपने इस एक शरीर के बोझे से ही परेशान हैं, यह हज़ार शरीर का बोझा लिये हुए बेचारा हमसे भी पिछड़ गया। इसलिये मोक्ष की इच्छा वाला ही कवच को उठाकर उस सत्य ब्रह्म का दर्शन करना चाहेगा। वही इसको समझता है।

प्रथम पंक्ति में सर्वत्र बहुवचन के प्रयोग से लगता है मानों अनेक आत्माएँ हों, उसकी व्यावृत्ति करते हैं कि ऐसा नहीं समझ लेना कि हर एक शरीर और हर एक मन में अलग अलग आत्मा हैं। एक ही आत्मा समग्र शरीरों में बैठा हुआ उनके सुख दुःख आदि का भोग कर रहा है। जो आत्मा मेरे अन्तःकरण में बैठा हुआ सुख दुःख का भोग कर रहा है और जो तुम्हारे अन्तःकरण में बैठा हुआ सुख दुःख भोग रहा है वह दो नहीं है, शरीर भेद के कारण नाना नाम पड़ जाते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति आँख से देखता है तो द्रष्टा, कान से सुनता है तो श्रोता कह दिया जाता है, मन से सोचता है तो उसका नाम मन्ता पड़ जाता है, बुद्धि से सोचने पर विज्ञाता नाम पड़ जाता है। लेकिन द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता अलग अलग थोड़े ही हैं। अलग अलग इन्द्रियों के कारण अलग

Scanned by CamScanner

नाम पड़ गये। ठीक इसी प्रकार अलग अलग अन्तःकरणों के कारण किसी का नाम राम, किसी का लक्ष्मण, किसी का विष्णु, रावण, कुम्भकर्ण, जरासंध, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन इत्यादि सभी नाम पड़ गये। उन सबमें रहने वाला आत्मा एक है। इसलिये गीता में जहाँ अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि अपनी विभूति दिखाओ तो भगवान् ने पहली विभूति बताई 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'।

यह वेदान्त की बहुत बड़ी देन है जिसके आधार पर सारे समाज और सारे व्यवहारों की रचना को सोचना है। दूसरे के दुःख को दूर नहीं करना है, 'उस शरीर में बैठा हुआ दुःखी मैं हूँ' यह अनुभूति है। इसलिये वेदांत भागने का नाम नहीं है। ऐसा नहीं कि 'इन सबके दुःखों को मैं नहीं देख सकता' अथवा 'इनके दुःखों का पता नहीं लगेगा तो अच्छा है'। बहुत से लोग यही सोचते हैं कि सामने किसी दुःखी को देखते ही अपने को दुःख होगा, इसलिये कमरा बन्द कर दो। योगी यही करते हैं। समाधि में कमरा ही बन्द कर देना है। यह विवेक नहीं करते कि एक मन बन्द किया, लेकिन दूसरे मन से दुःखी कौन हो रहा है? तुम ही हो रहे हो, कोई दूसरा नहीं हो रहा है। इसलिये प्रार्थना में भी कहते हैं 'मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत्' मुक्त भी दूसरों को अर्थात् जो दूसरे शरीर, अंतःकरण आदि दुःख वाले दीख रहे हैं उन्हें मुक्त करता रहे। इसलिये बता दिया कि माना नहीं है।

केवल अपनी मुक्ति मानने इस शरीर और मन को आत्मा माना और दूसरे के शरीर मन का आत्मा दूसरा माना; यह सांख्य-योग की प्रक्रिया है, वेदांत की प्रक्रिया नहीं है। इसलिये उन जीवात्माओं में भेद नहीं है। 'क्वचन' से कहा कि कहीं भी भेद नहीं। यह इसलिये कहा कि कुछ लोग अलग अलग जीवों की मुक्ति मानने के लिये आविर्भाव तिरोभाव मानते हैं। यह मानते हैं कि जिस अन्तःकरण से प्रयुक्त आत्मा में बंधन की प्रतीति है उस अन्तःकरण प्रयुक्त बंधन की निवृत्ति हो जायेगी, उसकी मुक्ति हो गई। बाकी अन्तःकरणों से प्रयुक्त बंधन आत्मा में बने रहेंगे। इस प्रकार वेदांत में भी कुछ लोग पिछले दरवाज़े से सांख्य की प्रक्रिया घुसा लेते हैं। अथवा वाचस्पति मिश्र की तरह अनेक अविद्याएँ मान लेते हैं कि हरेक जीव की अलग अलग अविद्या है। वे अनंत अविद्याएँ मानते हैं इसलिये अपनी अपनी अविद्या के नाश से बंधन की निवृत्ति मानते हैं। लेकिन यहाँ 'क्वचन' से स्पष्ट कर दिया कि न अविद्या का भेद और न अंतःकरणप्रयुक्त चेतनों का भेद, अणुमात्र भी भेद नहीं कर सकते।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि वास्तविक दृष्टि से देखने पर तो आत्मा प्रकृति अर्थात् स्वभाव से आकाश की तरह है। आकाशवत् से सूक्ष्मता भी समझना। आत्मा आकाश की तरह सूक्ष्म है। जैसे आकाश में कभी कोई कालिख नहीं लगती, चाहे जितनी काजल की टीकी लगाते रहो, ऐसे आत्मा में कभी कालिख नहीं लगेगी। आत्मा सर्वव्यापक है। आत्मा अनादि नित्य है। यह उन्हें जानना ज़रूरी है जो मोक्ष की इच्छा वाले हैं। बहुवचन

Scanned by CamScanner

के प्रयोग से भेद की शंका प्राप्त होती है कि सबका अपना अपना आत्मा है; उस दोष को हटाते हुए कहते हैं कि किसी भी देश-काल में किंचित् अणुमात्र भी अर्थात् अन्तःकरण-प्रयुक्त, उपलक्षित आदि किसी भी प्रकार से उसमें नानात्व नहीं है। धर्म-अधर्म, कार्य-कारण-भाव, अंशांशी-भाव आदि किसी प्रकार से नानात्व लाना चाहो तो उसमें नहीं आ सकता।

बस यह वेदान्त की चीज़ ज़रा लोगों को पचती नहीं क्योंकि स्वार्थ बैठा हुआ है कि मेरी मुक्ति हो। मेरी ही मान्यता ठीक है— इसी टंटे में फँसे हुए हैं। 'मेरी मुक्ति हो' यह कल्पना इसलिये होती है कि बंधन सच्चा मानते हैं। सोचते हैं कि अमुक प्रतीति नहीं तो बंधन-निवृत्ति हो जायेगी। वे यह भूल जाते हैं कि प्रतीति तो तुम्हारा स्वभाव है। जानी तो अहंता है। जो प्रतीतियों में तुम्हें अहंता की बुद्धि हो रही है वह हटनी है, प्रतीतियों को कहाँ जाना है? लेकिन बचपन से संस्कार पड़े हुए हैं कि भूख हुई तो यह कैसे जाये, अतः इसी टंटे में पड़े रहते हैं। अंत तक यह सोचते हैं कि यह सुख-दुःख की प्रतीति कैसे मिटे। समझना है कि प्रतीति तो मेरा स्वभाव है, उसके साथ अहंता का अध्यास जाना है।

यहाँ जो थोड़ा सा भेद है उसे समझ लेना : वहाँ प्रकाश और त्रसरेणु समान सत्ता वाले, व्यावहारिक सत्ता वाले हैं और यहाँ ज्ञानरूप प्रकाश और जो घट पट आदि प्रकाशित होते हैं उनमें सत्ताभेद है, क्योंकि उसकी परमार्थिक सत्ता और इनकी व्यावहारिक सत्ता है। लेकिन यह निश्चित है कि यदि व्यावहारिक सत्ता वाले पदार्थ, अविद्याकल्पित पदार्थ, न हों तो उसका ज्ञान भी नहीं होगा। क्यों हम कहते हैं कि ज्ञान जाग्रत् अवस्था में ही होना है? समाधि में ज्ञान नहीं होता। समाधि की आवश्यकता इसलिये है कि भाव पदार्थों में सत्ता का अनुवर्तन है, उसे हटाकर अभाव में सत्ता को पकड़ना है। सूक्ष्म बुद्धि वाला तो सुषुप्ति के विचार से ही पकड़ लेता है लेकिन सामान्य विचार वाला 'घुम्म' की अवस्था में रहता है इसलिये कहते हैं कि समाधि से यह पता लग जाता है कि भाव अभाव दोनों अविद्याकल्पित हैं, क्योंकि अभाव भी तो एक ज्ञान ही है। प्रकाश्य से प्रकाश जाना गया तो इसका मतलब यह नहीं कि वह सापेक्ष हो गया, प्रकाश के लिये उसे किसी की अपेक्षा नहीं। ऐसे ही वृत्ति से आत्मा जाना जाये तो भी रहा वह निरपेक्ष ही, ज्ञान के लिये उसे किसी की अपेक्षा नहीं। और वहाँ तो प्रकाश्य फिर भी कुछ है, यहाँ वृत्ति आदि हैं ही नहीं, असत् हैं, मिथ्या हैं। जडप्रकाश को जैसे जडप्रकाशान्तर नहीं चाहिये ऐसे चित्प्रकाश को किसी अन्य चित्प्रकाश की ज़रूरत नहीं। जैसे प्रकाश अपने से भिन्न किसी को भासे इसके लिये प्रकाश्य चाहिये, ऐसे चित्प्रकाश भी भेदभूमि में ज्ञेयसम्बद्ध मिल जाता है। वास्तव में वह भी नहीं होता अतः मोक्ष में कोई ज्ञेय हो इसकी संभावना ही कहाँ? फिर ज्ञान 'का' पता नहीं रहता, ज्ञान ही पता है।।९१।।

●

Scanned by CamScanner

नानात्व का निषेध करने के बाद कहते हैं कि यह जो हम इसे बार बार समझने के लिये कह रहे हैं,उसमें ज्ञेयता बता रहे हैं, वह ज्ञेयता भी काल्पनिक है। मुख्य ज्ञेयता नहीं क्योंकि वह तो ज्ञानस्वरूप है। इसलिये

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।९२।।

सभी आत्मा स्वभाव से ही 'आदिबुद्ध' हैं, नित्य ही प्रकाशरूप हैं। उन्हें अपने स्वरूप का कभी वास्तविक संदेह भी नहीं है। आत्मा के स्फुरते रहने से जो आत्मस्वरूपनिश्चय के लिये किसी और की अपेक्षा नहीं रखता वह मुमुक्षु मुक्त होने लायक है।

'आदिबुद्धाः' अर्थात् आदि में ही जो बुद्ध हैं। ज्ञान होने पर ऐसा नहीं होता कि मुझे अब ज्ञान हुआ। तब तो पता यह लगता है कि मुझे हमेशा ही ज्ञान था। जैसे स्वप्न से उठने पर मनुष्य को यह नहीं लगता कि अब स्वप्न झूठा हो गया। लगता है कि स्वप्न तो हमेशा झूठा है। प्रतीति होने के पहले, प्रतीतिकाल में और प्रतीति के बाद में भी झूठा ही है। यह प्रतीति नहीं कि अब तक सच्चा था, अब नहीं है। जैसे जाग्रत् में बेटा मर जाये तो यह प्रतीति होती है कि अब मर गया। कई बार लोगों के मन में यह शंका होती है कि जैसे लड़का मर गया ऐसे ही स्वप्न नहीं रहा। लेकिन दोनों में फरक है। स्वप्न से उठने पर सपना अब अन्वित नहीं होता। लड़के का मरना अन्वित होता है। अब मर गया, पहले सच्चा था। स्वप्न का निश्चय यह नहीं होता कि अब ख़तम हो गया उस समय तो सच्चा था। इसी प्रकार जब इस जाग्रत् स्वप्न से उठता है तब उसका यह अनुभव नहीं होता है कि 'अब मैं मुक्त हो गया' या 'अब मैं ज्ञानी हो गया', बल्कि यह अनुभव होता है कि 'मैं हमेशा ही ज्ञानी, हमेशा ही बुद्ध था।'

यह आदिबुद्धत्व किससे हुआ? स्वभावतः हुआ। उठने से स्वप्न के पदार्थ हटे हों ऐसा नहीं। ऐसे ही यहाँ ज्ञान 'से' नहीं होता। स्वप्न के पदार्थ तो थे ही नहीं! या जैसे रस्सी में साँप रोशनी आने से चला गया। वहाँ ऐसी प्रतीति नहीं होती कि रोशनी आई अब साँप चला गया, बल्कि प्रतीति होती है कि साँप था ही नहीं। इसी प्रकार ऐसा नहीं होता है कि अब ब्रह्माकार वृत्ति बनी और अब संसार ख़त्म हो गया, वरन् संसार था ही नहीं। इसलिये स्वभाव से आदिबुद्ध है। यह नहीं कि वह निश्चय करेगा तब ऐसा होगा, वह नित्य निश्चयस्वरूप ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार की क्षान्ति होती है वह योग्य अधिकारी है। क्षान्ति— सहन करना अर्थात् ज्ञान की निरपेक्षता। जो ऐसा होता है वह फिर मोक्ष की प्राप्ति के योग्य होता है।

आत्माओं की जो ज्ञेयता है, आत्मज्ञान करना चाहिये यह जो हमने कहा वह भी संवृति से। ज्ञेयता भी संवृति से ही है, सच्ची चीज़ नहीं। इसलिये 'सर्वे' सभी को आदिबुद्ध

Scanned by CamScanner

कह दिया। नहीं तो कोई समझेगा कि हम लोग बाद में होने वाले ज्ञानी हो गये और वे कोई पहले ज्ञानी हुए होंगे। ऐसा कई मानते हैं कि बाकी सब बाद में मुक्त होंगे और कोई एक आदिमुक्त है। सभी नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हैं अर्थात् स्वभाव से नित्य हैं, शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हम लोग फँसकर बाद में मुक्त हुए और वह नित्यमुक्त है। ऐसा कुछ भेद नहीं है।

ऐसा प्रकृति से अर्थात् स्वभाव से है। जिस प्रकार से नित्यप्रकाशस्वरूप सूर्य है, किसी कारण से प्रकाश वाला नहीं है, उसी प्रकार से यह नित्य ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार सारे धर्म अर्थात् सारी आत्माओं को कोई निश्चय करने की ज़रूरत नहीं कि ऐसा निश्चय करें तब होगा। वे नित्य ही निश्चयस्वरूप हैं। ऐसा कभी भी संदेह होता ही नहीं कि 'मैं ज्ञानस्वरूप या अज्ञानस्वरूप हूँ'। जब आदमी कहता है कि 'मै अज्ञानी, अज्ञान का आश्रय हूँ' तो उससे पूछो कि जानकर कह रहे हो या बिना जाने कह रहे हो। वह क्या जवाब देगा? कहेगा 'जानकर कह रहा हूँ।' फिर तो जान रहे हो, अज्ञान कहाँ हुआ? इसलिये अज्ञानी का मतलब है कि 'मैं अल्पज्ञानी हूँ' अर्थात् मेरे ज्ञान का विषय थोड़ा ही है। लेकिन यह कभी नहीं हो सकता कि मुझे ज्ञान न रहे। आत्मा अपनी सद्रूपता, ज्ञानरूपता, आनंदरूपता और अनंतरूपता में कभी संदेह नहीं करता।

अपनी सत्ता में किसी को संदेह नहीं। डाक्टर से कोई यह नहीं पूछता कि 'डाक्टर साहब! देखो मैं ज़िन्दा हूँ या मर गया? अथवा मैं हूँ या नहीं।' यह कोई नहीं पूछेगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, यह भी हमेशा ही है। मैं क्या हूँ— इसमें सन्देह हो सकता है।

मैं अपने को नित्य प्रिय हूँ, इसमें कभी संदेह नहीं होता। अपने आप को सभी अच्छे ही लगते हैं। शरीर भी बीमार होने पर अप्रिय लग जाता है। आदमी कहता है 'इस शरीर को छोड़ो, दुःख दे रहा है।' किसको दुःख दे रहा है? 'मेरे को दुःख दे रहा है।' इसी प्रकार दवाई खाकर या अफीम की गोलियाँ खाकर सो जाते हैं। कोई महाचिंता आ जाती है, मन चिंता करता रहता है, इसलिये चाहते हैं कि मन मर जाये या सुषुप्ति में चला जाये। अफीम की गोलियाँ नहीं खाते तो प्राणायाम का अभ्यास करके, समाधि लगाते हैं। वह भी मन को ही मारना है क्योंकि मन दुःख दे रहा था। किसको दुःख दे रहा था? मेरे को। इसलिये अपनी प्रियरूपता कभी नहीं हटती। मन, शरीर आदि सब चीज़ें अप्रिय हो जाती हैं लेकिन अपना आपा कभी अप्रिय नहीं हुआ। इसलिये उसकी आनन्दरूपता भी नित्य विद्यमान है।

ऐसे ही उसकी अनंतरूपता हमेशा है। अभी हम तुमसे कहें कि 'आज एक किताब बाँच रहे थे उसमें पता लगा कि कश्यप महर्षि यहाँ बाहर से आये।' तुम यह सुनने के साथ ही पूछोगे कि 'किस किताब में लिखा है? कैसे सिद्ध किया है?' हम कहें 'जाने दो। उस किताब से उन्हें यहाँ आये ६०६६ वर्ष हो गये।' अब तुम्हारे मन की खुटर खुटर शान्त नहीं होगी। क्योंकि ६०६६ वर्ष की बातों को जानना चाहते हो। इससे तुम्हारी

Scanned by CamScanner

अनन्तता सिद्ध हो रही है। ऐसे ही यदि कह दें कि वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि सन् दो हज़ार के बाद पानी मिलना बंद हो जायेगा। तो तुम्हारे प्रश्न होंगे 'यह कैसे होगा? क्या वर्षा नहीं होगी? हिमालय का क्या होगा? पानी नहीं मिलेगा तो लोग जियेंगे कैसे?' आदि आदि। कहें 'जाने दो, अब तुम्हारी उम्र तो ८० की हो गई, अब आगे थोड़ा ही बाकी जीना है।' कहते हो 'समझें तो सही।' क्यों? क्योंकि तुम्हारी अनंतता है, उस अनन्तता को जानना चाह रहे हो। कोई ऐसा व्यवहार नहीं जिसमें मैं सान्त होना चाहे, हरेक देश काल में घुसना चाहता है। क्योंकि मैं अनन्त है इसलिये घुसना चाहता है। सान्त समझकर शान्त नहीं होता। इसलिये आत्मा कभी संदेहस्वरूप नहीं, निश्चित-स्वरूप है। संदेह में दो कोटियाँ आती हैं 'ऐसा है या नहीं है'। लेकिन अपनी सच्चिदानन्दरूपता में है-नहीं है का प्रश्न ही नहीं, हमेशा ही है।

मुमुक्षु ऊपर कहे हुए प्रकार से जब अपनी निश्चित-स्वरूपता और बुद्धता को समझ लेता है तो वह मुक्त हो जाता है। 'यथोक्तप्रकारेण' अर्थात् उसे अपनी स्फुरणरूपता में संदेह नहीं होता। हमेशा ज्ञानरूपी जो निश्चय है, उसके अन्दर जिसे निरपेक्षता है। किसी युक्ति या किसी चीज़ को लेकर उसका निश्चय होता है तब तक सापेक्ष निश्चय है। अन्य किसी के सहारे निश्चय करते हो तो वह सापेक्ष होता है। किसी अंतःकरण की वृत्ति को लेकर, किसी तर्क या युक्ति को लेकर, किसी इन्द्रिय को लेकर निश्चय सापेक्ष निश्चय होगा। सापेक्ष निश्चयता होने से वह निश्चय बदल भी सकती है। जैसे तुमने आँख को लेकर निश्चय किया कि यह लोहे का टुकड़ा ठोस है। अब एक अणुवीक्षण यन्त्र या ख़ुर्दबीन आती है, उससे देखा तो उसमें छेद नज़र आये। पहला निश्चय बदलना पड़ा कि इसके बीच बीच में पोल भी है लेकिन छोटे छोटे छेद होने से पहले नहीं दीखे थे। चक्षुःसापेक्ष होने से निश्चय बदल गया। इन्द्रियसापेक्ष होने से निश्चय बदलना पड़ता है। इसी प्रकार अंतःकरणवृत्ति के सापेक्ष निश्चय है तो भी बदलना पड़ता है क्योंकि वृत्ति के अधीन हुआ। प्रसिद्ध दृष्टांत हनुमान् जी का है।

कहते हैं हनुमान् जी ने भी एक रामायण लिखी। लिखने के बाद उन्होंने देखा कि वाल्मीकि जी ने भी रामायण लिखी है तो सोचा कि दोनों को मिला लें। वाल्मीकि जी ने लिखा कि जब हनुमान् जी लंका पहुँचे तो वहाँ सफेद सफेद फूल खिल रहे थे। हनुमान् जी ने वाल्मीकि जी से कहा कि 'यह आपने ग़लत लिखा है।' वाल्मीकि जी ने पूछा 'तुमने क्या लिखा है?' कहा 'मैनें लिखा है कि वहाँ लाल ही लाल फूल खिल रहे थे।' वाल्मीकि जी ने कहा कि 'मैंने ठीक लिखा है।' हनुमान् जी ने कहा 'मैं ही लंका गया और मैंने ही गड़बड़ लिखा!' अब इसका निर्णय कौन करे? दोनों राम जी के पास पहुँचे। राम जी ने कहा कि 'वाल्मीकि ने ठीक लिखा है।' हनुमान् ने कहा 'आप ब्राह्मणों के पक्षपाती हैं। मैं ही गया और इसने मुझे ही झूठा कहा!' राम जी ने कहा 'पक्षपात की बात नहीं है। बात यह है कि जब तुम लंका पहुँचे तो उस समय तुम्हारे को क्रोध आया

Scanned by CamScanner

हुआ था इसलिये क्रोध में तुम्हें लाल ही लाल फूल दीख रहे थे।' इसलिये चित्तवृत्ति के अन्दर दोष होता है तो पदार्थ का निश्चय ग़लत हो जाता है। हनुमान् जी को बड़ा गुस्सा आया कि मेरी बात कट गई, गुस्से में आकर उन्होंने अपनी रामायण फाड़ कर फेंक दी। एक छोटा सा टुकड़ा 'हनुमन्नाटक' नाम से मिलता है। सच झूठ का पता नहीं, कोई मानते हैं बाद में किसी ने हनुमान् के नाम से लिखा है। चित्त दोष से चीज़ें दूषित दीखती हैं यह तात्पर्य है।

उतना ज्यादा न भी हो लेकिन इतना तो अपने को भी होता है : मान लो कोई अच्छा भला आदमी आता है, भस्म त्रिपुण्ड्र लगाये हुए, रुद्राक्ष पहने हुए, दशा वाली धोती है, शरीर पर केवल उत्तरीय है। वह आकर कहता है 'अच्छा आप लोगों ने नवरात्रि शुरु कर दी? नवरात्रि तो आज से शुरू होनी थी। कल शाम को चार बजे प्रतिपदा आई थी और स्थापना ब्राह्ममुहूर्त में करने का विधान है।' उससे कहेंगे कि 'कौन से पंचांग में देखकर निर्णय किया?' दूसरा व्यक्ति आता है जो पैंट कोट पहने हुए, मोजा पहने हुए रस्सी वाला जूता पहने हुए, टाई लगाये हुए है। वह कहता है 'आप लोगों ने नवरात्रि शुरु कर दी?' उससे कहते हैं- 'हाँ! तेरे को पता नहीं है?' लेकिन भस्म त्रिपुण्ड्र लगाये हुए रुद्राक्ष धारण किये हुए को तुरंत नहीं कहा जाता कि 'तेरे को पता नहीं' क्योंकि उसे देखते ही भाव बनता है कि जानता होगा। चाहे वह जाति का कोई भी हो। उसको देखकर वृत्ति बनेगी कि यह पढ़ा हुआ पंडित है। धोखे से मन की वृत्ति निर्णय कर लेती है कि 'ये पंडित हैं इनकी बात है तो ज़रा ध्यान से सुनो।' कोट पैंट वाले को देखकर मन की वृत्ति बनती है कि 'आजकल के छोकरे नास्तिक हो गये हैं।' बाद में चाहे पता लगे कि वह महामहोपाध्याय है। इसलिये चाहे उतना धोखा होकर लोगों को सफेद की जगह लाल न दीखे, लेकिन इतना तो दीख ही जाता है। इसलिये मन की वृत्ति के सापेक्ष निश्चय को भी बदलना पड़ेगा।

लेकिन 'मैं हूँ या नहीं', अपनी सत्ता और ज्ञानरूपता का निश्चय तो किसी सापेक्षता से नहीं किया। न यह निश्चय इन्द्रियों के, न मन के, न तर्क युक्ति के सापेक्ष है। इसलिये सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षता है। यह निश्चयरूपता अपने लिये भी है और दूसरे के लिये भी ऐसी ही है। अपने लिये कैसे है? अपने को भी संदेह नहीं होता है और दूसरे के लिये भी अपने मन में संदेह नहीं होता है कि इसे सिद्ध करो। जैसे सूर्य नित्य ही प्रकाशान्तर-निरपेक्ष है, किसी दूसरी रोशनी से रोशनी वाला नहीं है। अपने लिये भी उसे किसी दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं है और किसी दूसरी चीज़ को देखने के लिये भी उसे कोई टार्च वगैरा लेकर नहीं जाना पड़ेगा। जैसे सूर्य को न अपने लिये और न दूसरे के लिये प्रकाश की ज़रूरत है इसी प्रकार अपनी ज्ञानरूपता का निश्चय अपने लिये भी करने की ज़रूरत नहीं और दूसरे घट पट आदि का निश्चय करने के लिये भी निश्चय को कहीं से लाना नहीं पड़ता। यही निरपेक्षता है। इस प्रकार क्षान्ति का अर्थ

Scanned by CamScanner

कर दिया बोध में निरपेक्षता। यह अपने आत्मा में जिसे हमेशा रहती है वह अपने अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है, मोक्ष के लिये समर्थ होता है। उसे मोक्षप्राप्ति हो जाती है।।९२।।

●

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ।।९३।।

जैसे आदिबुद्ध वैसे ही आदिशान्त है। यह अमृतत्व सादि नहीं। कोई कहेगा यहीं मुक्तत्वधर्म प्राप्त हुआ, क्योंकि पहले मरणधर्मा और अब अमरणधर्मा हो गया होगा। इसलिये कहते हैं कि यह तो हमेशा ही शान्त है। और अनुत्पन्न है। नित्य ही शान्त है इसलिये अनुत्पन्न है। स्वभाव से ही निर्वृत है अर्थात् उपरतस्वभाव है। यह नहीं कि किसी कारण से उपरति होती हो, स्वभाव ही उपरति है। जितने भी आत्मा हैं वे सारे के सारे एक जैसे हैं और सर्वथा एक ही है। ये ब्रह्म हैं जो अज है, समता है और विशुद्ध है।

इसी को स्पष्ट कर दिया कि जैसे ज्ञान आदि उसका नित्य है वैसे ही शान्ति की कर्तव्यता आत्मा को नहीं है। आत्मा को शान्त बनाना नहीं पड़ता। ऐसा नहीं कि कुछ करोगे तब शान्ति मिलेगी। जो शान्ति कुछ करने से मिलेगी वह शान्ति तो निकल जायेगी। इसलिये शान्ति तो नित्य ही है। अनुत्पन्न का अर्थ अज कर दिया। रति मायने किसी चीज़ के साथ लगाव और उपरति मायने किसी चीज़ से लगाव न होना। जो व्यक्ति महाकामी है और अपनी पत्नी को बिना देखे जी ही नहीं सकता, उसकी पत्नी मर जाये तो बड़ा रोता है, बाल नोंचता है, छाती पीटता है, क्योंकि महारति वाला है। ऐसे महारत लोग होते हैं। अब उससे दस बारह साल बाद मिलने जाओ तो आराम से चाय पी रहा होता है, दूसरों से हँसकर बातें कर रहा होता है। बड़ा आश्चर्य होता है, कहते हैं 'तेरी बीवी मर गई थी, उसका क्या हुआ?'। तब उसका मुँह थोड़ा उदास हो जाता है कि चली गई बेचारी। उसने किसी महात्मा का सत्संग किया नहीं, पुराण बाँचे नहीं, भागवत की कथा भी सुनी नहीं, वैराग्य का उपदेश सुना नहीं। यह सब देखकर आश्चर्य होता है कि बिना कुछ किये ही यह उपरत कैसे हो गया! अपने सोचते हैं कि लोगों को उपदेश देंगे तो उनमें वैराग्य आयेगा। लेकिन यह तो उसका स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव ही उपरति है। ज़बर्दस्ती थोड़े समय के लिये ऊपर रतपना लाद भी दो, तो यह नहीं कि उपदेश आदि करके उसका दुःख दूर होता हो।

ऐसा ही धनप्रेम होता है। आजकल के नये डाकू जिन्हें राजा नाम से कहा जाता है, अकस्मात् रेड कर दें तो पहले लोग बड़े दुःखी होते हैं लेकिन सब होने के बाद फिर दूसरी दुकान खोल लेते हैं। फिर कमाने के रास्ते लग जाते हैं। यह नहीं कि जन्म भर उसी को लेकर रोते रहेंगे। यह इसलिये सम्भव है कि उपरति स्वाभाविक है। कोई

Scanned by CamScanner

वेदान्त का या वैराग्य का पाठ नहीं सुना। उपरति तो स्वाभाविक है। ज़बर्दस्ती दूसरे की छाती पर बैठ बैठ कर रति पैदा कराई जाती है। इसलिये भाष्यकारों ने सु का अर्थ सुष्ठु कर दिया अर्थात् भली प्रकार से उपरतस्वभाव है।

'समाभिन्नाः' अर्थात् जो सम भी हो, अभिन्न भी हो। विशुद्ध आत्मतत्त्व अज, साम्य और विशारद है। चूँकि ऐसा है इसलिये शान्ति अर्थात् मोक्ष भी कोई कर्तव्य नहीं है, करने से पैदा होने वाली चीज़ नहीं है नित्य ही है। कोई कहता है कि 'मोक्ष की कर्तव्यता ही गिना दो। हम तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ गिन देते हैं।' इस पर कहते हैं कि मोक्ष पुरुषार्थ मानोगे तो हमारे यहाँ यह नियम है कि जो चीज़ पैदा होती है वह फिर नष्ट हो जाती है, हमेशा नहीं रहती। संसार के दुःख का उपशम मोक्ष को नहीं मानते। कोई कहता है संसार दुःख की निवृत्ति मोक्ष है, कोई कहता है परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष है, कोई कहता है दोनों को मिलाकर मोक्ष मान लो। लेकिन संसार दुःख की निवृत्ति मानोगे तो, और आनन्द के जन्म को मोक्ष मानोगे तो, मोक्ष कृतक हो जायेगा और जो क्रिया का फल होगा वह अवश्यंभावी अनित्य हो जायेगा। लेकिन आत्मा तो नित्य एक स्वभाव वाला है। पहले उसका दुःख स्वभाव हो तब उसे हटाकर सुख स्वभाव वाला निश्चित किया जाये। और जो अनित्य है वह नित्य आत्मा का कैसे स्वभाव होगा? यह टेढ़ा मामला है।

लोग कुण्डली लेकर आते हैं कि 'इस लड़के लड़की की शादी करें या नहीं'। उनसे यदि कहते हैं कि 'ऐसा है कि लड़का तीस साल में मर जायेगा, लड़की अस्सी साल की उम्र में मरेगी।' तो लोग ब्याह नहीं करते। हम ना नहीं करते कि मत करो, केवल बता देते हैं। फिर उनसे पूछते हैं कि ब्याह क्यों नहीं किया? बाकी सारे गुण तो मिल रहे थे। कहते हैं कि 'तीस साल का होकर मर जायेगा और लड़की की उम्र उस समय छब्बीस साल की होगी तो शेष साठ साल का वैधव्य कैसे निकालेगी?' इसी प्रकार आत्मा नित्य हुआ। उसे अनित्य मुक्ति मिल गयी तो वह तो थोड़े दिन में निकल जायेगी। फिर यह नित्य अपना वैधुर्य कैसे निकालेगा? अनित्य की प्राप्ति से नित्य आत्मा का कुछ नहीं बनना, चाहे उस मोक्ष में कितने ही गुण क्यों न हों।।९३।।

●

शास्त्र की परिसमाप्ति हो गई। परमात्म तत्त्व बता दिया, परमात्म तत्त्व की विरोधी चीज़ों का निराकरण कर दिया और परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के साधनों का निरूपण कर दिया। अब जो इस मार्ग में नहीं हैं उनकी निंदा के द्वारा इस मार्ग की तरफ प्रवृत्ति करने की स्तुति की जा रही है।

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ।।९४।।

Scanned by CamScanner

जो लोग हमेशा भेद में ही रहते हैं, भेद का ही तात्पर्यतः प्रतिपादन करते हैं वे उसी कारण से कृपण हैं, क्षुद्र हैं, उनमें शुद्धि तो है ही नहीं।

भेद दृष्टियाँ जैसे यह हिन्दू, यह मुसलमान्, यह हिन्दुस्तानी, यह पाकिस्तानी, फिर यह शिया, यह सुन्नी, यह शैव, यह वैष्णव, फिर यह सैयद, यह शेख, यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह पुरुष, यह स्त्री, यह पशु यह मनुष्य, पशुओं मे फिर यह गाय कुत्ता आदि; इस प्रकार भेदबुद्धि बढ़ती ही जाती है। इसीका नाम है भेद में विचरण। अब व्यवहार में यत्किंचित् उपाधि से भेद में विचरण तो होगा ही, इसलिये कहा 'सदा' अर्थात् जितना व्यवहार में अपेक्षित है उतना भेद करके पुनः अभेद की तरफ न जाये और जब अपेक्षा से अधिक भेद करता रहे।

एक चीज़ विदेशियों में देखने में आती है, दृष्टि उनकी बड़ी अच्छी है। आदमी उनके यहाँ झाड़ू देने आयेगा या कोयला अथवा गैस का सिलिंडर देने आयेगा। और जैसे ही वह झाड़ू दे चुकेगा उसके बाद वे उसे चाय बनाकर पिलायेंगे और दोनों एक साथ मेज़ पर बैठकर चाय पियेंगे। जब तक झाड़ू दे रहा है तब तक तुम मालिक और वह नौकर है। ठीक है, यह व्यावहारिक भेद है। लेकिन जब झाड़ू दे चुका तब तो तुम्हारे घर में एक आदमी आया हुआ है। वह उसे चाय पिलायेगा। चाहे वह कोयला लेकर आये या गैस लेकर आये तो ज़रूर कहेंगे कि 'कुछ खा पीकर जाओ।' यह हुआ कि व्यवहार के लिये भेद अपेक्षित होने पर भी पुनः अभेद पर आ गये।

सदा भेद का मतलब है कि जो एक बार तुम्हारा नौकर रह गया तो बीस साल बाद भी उसे मिलते हो तो अपने को मालिक ही मानते हो! बीस साल पहले ही उसने तुम्हारी नौकरी छोड़ दी, उसका तुम्हारा ऐसा कोई संबंध नहीं, लेकिन चूँकि उसने एक दिन तुम्हारी नौकरी की थी इसलिये तुम उसी भेद को ही दृढ मानते हो। यह बात जब कहते हैं तो हिन्दुस्तानियों को बड़ी कड़वी लगती है और वहाँ पर इसे स्वभाव माना जाता है।

एक बार अमरीका में वाइसचांसलर कान्फ्रेंस हुई थी। उसमें आगरा के वाइसचांसलर भी गये थे। उन्होंने ही हमें यह बात बताई। कान्फ्रेंस के बाद जब चाय या भोजन का समय होता था तो वहाँ खाने पीने का सामान रखा रहता था और परोसने वाले रहते थे। प्लेट लेकर जाओ और जो लेना हो सो माँग लो, परोसने वाला दे देगा और कुर्सी पर बैठकर खा लो। यह पद्धति थी। ये वहाँ गये तो इन्होंने कहा 'मुझे आलू दो।' दो बार कहा लेकिन उसने नहीं दिया। इन्होंने सोचा कि उँचा सुनती होगी। तब उसने कहा 'वी.सी. साहब ऐसा कहिये 'कृपया आलू दो।'' उन्हें थोड़ी लज्जा आयी, इधर उधर देखने लगे। उसने दे दिया। जब वे चलने लगे तो उसने थाली पर हाथ रखकर कहा 'वी.सी. साहब धन्यवाद कहिये।'

Scanned by CamScanner

वे यह सुनाते हुए कहने लगे कि कैसा देश है, परोसने वाले भी सिर पर चढ़ते हैं! हमने सोचा कि उन लोगों ने सोचा होगा कि हमारे वाइसचांसलर भी कितने पिछड़े हुए हैं। हम लोग अपने मन में मानते हैं कि परोसने मात्र से वह मनुष्य नहीं रह गया। व्यक्ति कहीं गाड़ी में जाता है तो ख़ुद भोजन करने चला जायेगा लेकिन सारथी का उसे ख्याल ही नहीं रहेगा। जहाँ खाना हो खा आओ। इस चीज़ को 'सदा भेद' कहते हैं।

जहाँ सदा नहीं होगा वहाँ जितना अपेक्षित है उतना भेद और व्यवहार करने के बाद तुरन्त पुनः अभेद में पहुँच जायेगा। गाय का दूध दुह लिया। दुहने के बाद जो ग्वाला उसे थपथपायेगा, प्रेम से घास खिलायेगा, उसकी गाय का दूध दूसरा निकलेगा और जो दुह कर बिना थपथपाये चला जायेगा उसकी गाय का दूध दूसरा निकलेगा। जब तुम दुह रहे हो तो भेद व्यवहार और जब दुह चुके तो फिर अभेद व्यवहार आ जाना चाहिये। यह एक आधारभूत चीज़ है। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य भी इस बात को समझते हैं कि यदि केवल 'अभेदे विचरताम्' कहेंगे तो व्यवहार असम्भव हो जायेगा। इसलिये सदा कह कर स्पष्ट कर दिया कि जितना अपेक्षित है, जितना आवश्यक है उतना भेद करने के बाद तुरन्त अभेद में चले जाना।

जो ऐसा नहीं करते हैं उनके लिये कहते हैं कि उनको फिर 'वैशारद्यं नास्ति' उनका अंतःकरण कभी भी संस्कार, वासनाओं, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि से शुद्ध नहीं हो सकता। यह प्रतिक्षण व्यवहार में समझने की बात है। यदि तुम चाहते हो कि अन्तःकरण संस्कारों से वासनाओं से रहित हो, यदि तुम चाहते हो कि अन्तःकरण में विशुद्धि आये, अज, साम्य की प्राप्ति हो तो इसको धीरे धीरे छोड़ना ही पड़ेगा। इसको बिना छोड़े काम नहीं होगा, अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा।

यहाँ अन्तःकरण की शुद्धि कौन सी लेना? विवेक उत्पन्न करने के लिये तो 'वर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्' होती है। उस के द्वारा विवेक तक तो पहुँच जाओगे लेकिन इससे सीधे आत्मज्ञान नहीं होगा। आत्मज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक इस प्रकार से भेद का परित्याग नहीं करोगे। ऐसे भेद का परित्याग गृहस्थ के लिये असम्भव नहीं तो कठिन होता है। वे तो दिन रात इसी भेद को पकड़े रहेंगे कि 'यह मेरा बेटा है'। नहीं पकड़े रहेंगे तो बेटा ही रात में मार डालेगा! इसलिये चाहे जितना समझें कि 'मेरा बेटा नालायक है', अन्त में रुपया पैसा सब बेटे को ही देंगे क्योंकि वह भेद उनके हृदय में दृढ है। इसलिये गृहस्थ के लिये इस प्रकार से अन्तःकरण की शुद्धि कठिन होती है। असंभव नहीं कह सकते क्योंकि कुछ ऐसे लोग देखे जाते हैं जो इस प्रकार का व्यवहार नहीं करते। अगर देखते हैं कि लड़का नालायक है तो लड़के को नहीं देकर जाते, उसे देते हैं जो ठीक है।

कर्णसिंह को इनके बाप कुछ नहीं दे गये थे। महाराजा हरिसिंह जी पुराने ढंग के थे। उन्होंने देखा कि यह नालायक है तो उन्होंने एक ट्रस्ट बनाया और अपना सारा धन

Scanned by CamScanner

उस ट्रस्ट को देकर गये। उसमें कर्णसिंह जी सदस्य भी नहीं थे क्योंकि ये कांग्रेस में शामिल हो गये थे। बाकी महल आदि तो सरकार के हाथ में थे और कांग्रेसी होने के नाते इन्हें बाद में मिल गये। ऐसे लोग होते थे और अभी भी ऐसे होते हैं। लेकिन सामान्य रूप से गृहस्थी के लिये यह कठिन हो जाता है क्योंकि उसने कुछ भेद ऐसे मान रखे हैं जिनमें वह दृढ आग्रह वाला हो जाता है कि 'इसको तो ऐसा ही मानेंगे'। विवेकी उसे छोड़ देता है कि 'लायक है तो ठीक, नालायक है तो निकालो।' एक खरबपति कम्पनी है। उसके मालिक का एक ही लड़का था। एक बार उस लड़के को उसके वकील ने बता दिया कि 'तेरा बाप एक इच्छापत्र लिखकर गया है जिसमें तेरे लिये इतना खर्चा बाँध दिया है, इतना ही मिलेगा।' लड़के के मन में बड़ा दुःख हुआ। वह बाप के पास गया और कहा कि 'आपने ऐसा इच्छापत्र लिखा है, ऐसा क्यों?' उसने कहा कि 'तू शराब बहुत पीता है। मैंने इतना पैसा और व्यवसाय शराबी को देने के लिये नहीं बनाया है। इसलिये बाकी सारी चीज़ें मैने मैनेजर को दी हैं क्योंकि वह अच्छा आदमी है, ढंग से रहता है, धार्मिक कार्य करता है।' पहले तो लड़के ने बाप को जो कुछ भला बुरा कहना था कहा कि 'ऐसे बाप दुनियाँ में कहाँ होते हैं।' लेकिन देखा कि बाप पर कुछ असर नहीं हो रहा है, उसने कह दिया कि 'मैंने जो कुछ किया सो ठीक किया है।' तब वह कुछ नरम पड़ा और उसने बाप से कहा कि 'मैं शराब पीना और दूसरे बुरे कर्म छोड़ दूँगा।' उसके बाप ने उससे कहा कि 'जब तू सात साल तक कुछ नहीं करेगा तो मैं अपना इच्छा पत्र बदल दूँगा।' कहने लगा कि 'ज़िन्दगी किसने देखी है, इस बीच ही कुछ हो गया तो क्या होगा?' उसने कहा कि 'यह फिर तेरा दुर्भाग्य, लेकिन मेरे को तो तभी भरोसा आयेगा।' उसी दिन से लड़के ने शराब पीना छोड़ दिया, ढंग से रहने लगा और सुधर गया।

इसलिये ऐसा नहीं हो सकता यह नहीं कहा जा सकता। जनक, अश्वपति इत्यादि राजा लोग ज्ञानी हुए हैं। फिर भी जब ऐसा कहते हैं तो तात्पर्य है कि प्रायः गृहस्थ के लिये यह कठिन होता है क्योंकि आसपास वाले भी यही समझाने आयेंगे कि 'चलो नालायक है लेकिन है तो आख़िर तुम्हारा ही बेटा।' यह निश्चित रूप से है कि जब तक मनुष्य भेद व्यवहार नहीं छोड़ेगा तब तक वैशारद्य की प्राप्ति नहीं ही हो सकती।

ऐसे लोग 'भेदनिम्नाः' अर्थात् भेद का अनुगमन करने वाले हैं। भेद के अनुयायी लोग हैं जो भेद को ही सच्चा मानते हैं कि यही ठीक है। भेद ही सच्चा है। कहेंगे 'एक आत्मतत्त्व की दृष्टि व्यवहार में थोड़े ही चलती है। व्यवहार में तो भेद ही चलता है।' उसको मानने वाले भेद के पीछे चलने वाले लोग, भेद को ही बार बार सिद्ध करने वाले लोग हैं। संसार में वेदान्ती को छोड़कर बाकी सभी भेद के ऊपर ही ज़ोर देते हैं। झाड़ू लगाने वाले को उन्होंने चाय पिला दी लेकिन जब वियतनाम में लड़ाई होती है तब वे ही बम फेंकते हैं। उनका जो व्यवहार ठीक है सो तो ठीक है ही लेकिन इतने से ही

Scanned by CamScanner

यह नहीं समझना कि वे लोग भेदवादी नहीं क्योंकि उनमें भेदभाव न होता तो इस तरह से बम थोड़े ही फेंकते। जब देश का सवाल आता है तो फिर भेदवादी ही बन जाते हैं। ऐसा नहीं सोचते कि चलो जाने दो, जो कुछ किया सो किया। इसलिये वे कोई अभेदवादी नहीं हैं। जितना उनका अभेद है उतना ही दृष्टान्त लेना चाहिये।

वेदान्त के अतिरिक्त सारे के सारे भेद का ही अनुगमन करने वाले हैं। उसी को पुष्ट करने वाले लोग हैं क्योंकि चीज़ों की पृथक्ता को, अर्थात् अलग अलग चीज़ें हैं इस बात को शास्त्रार्थ द्वारा सिद्ध करते हैं। उनसे जब बात करो तब वे घूमफिर कर सिद्ध करेंगे कि यह पृथक् तो ठीक ही है, इसके बिना मानो काम चल ही नहीं सकता। यही सच्चा है। जितने द्वैती लोग हैं वे लोग ऐसा अलग अलग ही मानते हैं। यहाँ तक कि देवताओं में भी इन सबका पृथक्तावाद है। शिव बड़े या विष्णु बड़े या शक्ति बड़ी, सब इसी में शास्त्रार्थ करेंगे। हम जिसको मानते हैं वही बड़ा और बाकी सब छोटे। इसलिये उनको शास्त्र में कृपण कहा गया है। संसार सत्य समझना ही कृपणता है। बड़ी कड़ी बात भगवान् गौडपादाचार्य ने कह दी, वे तो अजातवादी हैं उन्हें कोई डर या संकोच तो है नहीं।

तात्पर्य क्या हुआ? कूटस्थ वस्तु जो निर्विशेष है उसके विषय में जब असंभावना और विपरीतभावना हट जाती है तब जो अद्वैत विज्ञान हो जाता है वही एकमात्र सत्य तत्त्व है, परमार्थ तत्त्व है। उसके विषय में सब प्रकार की विरोधी भावनाओं के निवृत्त हो जाने पर व्यवहार भूमि के अन्दर वही परमार्थ दर्शन टपकने लगता है। परमार्थ दर्शन जितना दृढ होता जायेगा उतना ही उतना वह व्यवहार भूमि में टपकेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि व्यवहार भूमि के अन्दर उस अद्वैत की बाढ़ दीखे क्योंकि व्यवहार तो उसमें अविद्यासिद्ध ही है। लेकिन टपकेगा। इसलिये कहा कि सदा भेद नहीं रहेगा। भेद के अन्दर भी अभेद का टपकाव तो होता ही रहेगा और जितना जितना अभेद-अनुभव होगा उतना ही उतना टपकाव बढ़ेगा। गड़बड़ी या कठिनाई इसलिये होती है कि तुम उस अभेद के समुद्र को ही व्यवहार में भी देख लेना चाहते हो। अगर भेद के अन्दर अभेद का टपकाव नहीं हुआ तो समझो कि ज्ञान अभी पैदा ही नहीं हुआ। इसलिये कूटस्थ जो निर्विशेष वस्तु है उसका जब असंभावना और विपरीतभावना से रहित निश्चय हो गया तो फिर व्यवहार भूमि में भी उसका टपकाव आता है। वही मनुष्य को अकृपण बनाता है। वही वास्तविक अकृपणता है।

भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि जो विद्वान् लोग हैं जिन्होंने अज, साम्य और पारमार्थिक तत्त्व को प्राप्त कर लिया, वे ही संसार में अकृपण हैं। बाकी जितने हैं वे कृपण ही बने रहते हैं। 'भेदनिम्नाः' मूल का पद था उसी का अर्थ कर दिया कि भेद के अनुयायी हैं अर्थात् संसार के पीछे चलने वाले हैं। संसार को जो सत्य मानेंगे वे हर समय यह देखेंगे कि संसार का व्यवहार कैसा बन रहा है। इसलिये इन्हें कह दिया कि संसार का अनुगमन

Scanned by CamScanner

करने वाले हैं। जन्म मरण के चक्र का ही वे अनुगमन करते हैं। गीता में भी भगवान् ने यही कहा कि जो भेददर्शन करते रहते हैं, मैं उन्हें बार बार जन्म मरण के चक्र में डालता रहता हूँ। संसार से यहाँ दोनों संसार ले लेना शास्त्रीय संसार और लौकिक संसार। शास्त्रीय संसार भी सारा ऐसा है; ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि, या ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, सन्यासी; ये सभी संसार की तरफ ले जाने वाले हैं।

ऐसे कौन हैं? पृथक् अर्थात् नाना वस्तुएँ हैं, हरेक चीज़ अलग अलग है ऐसा मानने वाले प्रतिपादित करते हैं, सिद्ध करते हैं कि भेद को ही समझो। वे सारे द्वैती लोग हो गये। उनको कृपण अर्थात् क्षुद्र कहते हैं जो छोटी छोटी बातों को पकड़ते हैं। जो सर्वव्यापक एक ब्रह्म है उसको छोड़कर किंचित् भेद को देखते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो दो व्यक्तियों में एकता तो नब्बे प्रतिशत नज़र आयेगी। जैसे एक की आँखें देखती हैं वैसे ही दूसरे की भी आँखें देखती हैं। जैसे एक का कान सुनता है वैसे ही दूसरे का कान सुनता है। जैसे एक का पेट हज़म करता है वैसे ही दूसरे का पेट हज़म करता है। जैसे उसका पैर चलता है वैसे ही इसका पैर चलता है। जैसे एक को चाँटा मारने से दर्द होता है वैसे ही दूसरे को मारने से दर्द होता है। यदि दो व्यक्ति भिन्न से भिन्न दिखाई देते हैं तो भी उनकी नब्बे प्रतिशत चीज़ें तो एक जैसी दीखती हैं। यह अंग्रेज़ी में गिटपिट कर लेता है वह नहीं कर सकता, यह किंचित् भेद है। अथवा कुछ सूक्ष्म चीज़ों को यह जान लेता है वह नहीं जान पाता। केवल दस प्रतिशत भेदों के कारण वे लोग नब्बे प्रतिशत की एकता को हटाते रहते हैं। इसलिये वे क्षुद्र कहे गये।

क्यों वे ऐसे भेददर्शन पर ज़ोर देते हैं? क्योंकि उनका अन्तःकरण निर्मल नहीं हुआ। जब तक भेद में विचरण करेंगे तब तक शुद्धि कैसे आयेगी? इसलिये वह तो छोड़ना ही पड़ेगा। वह भेद द्वैतमार्ग है, अविद्याकल्पित है। है वहाँ केवल एक ब्रह्म ही, वही तत्तद्रूप में भासित हो रहा है। द्वैत मार्ग में अविद्या की कल्पना और उसी की सत्यता को लेकर आदमी चलता रहता है, हमेशा उसी में बर्ताव करता रहता है। विद्या वाली दृष्टि को व्यवहार में कभी नहीं लाता। इसलिये उनके अन्दर क्षुद्रता का होना युक्त है अर्थात् ठीक ही है।।९४।।

●

तत्त्वज्ञान को न जानने वाले की निन्दा की। अब उस तत्त्व को जानने वाले की स्तुति करते हैं।

अजे साम्ये तु ये केचिद् भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ।।९५।।

जो इस अज और सम ब्रह्म में सुनिश्चित हो जाते हैं अर्थात् जिनका निश्चय पूर्ण हो जाता है वे ही महाज्ञान वाले लोग हैं। उन्हें कभी भी संदेह नहीं होता कि सर्वत्र एक

Scanned by CamScanner

परब्रह्म परमात्मतत्त्व ही विद्यमान है। उनका ऐसा दृढ निश्चय है। सुनिश्चित अर्थात् चाहे जैसी परिस्थिति आये लेकिन उनका निश्चय हिलता ही नहीं। 'शिवोऽहम्' यह निश्चय उनका हमेशा बना रहता है। जिनका ऐसा निश्चय हो जाता है उनके क्या कुछ सींग आदि निकल आते हैं कि खट देखकर पता लग जाये कि ये ज्ञानी महात्मा हैं? लोग पहचानना चाहते हैं कि कोई करामात दिखाए, कोई चमत्कार दिखाये तो महात्मा है। भगवान् गौडपादाचार्यों ने कह दिया कि जो अज्ञानी लोग हैं वे उन्हें कभी समझ ही नहीं सकते, वे उनकी दृष्टि में ही कभी नहीं आ सकते। उनको लगेगा कि यह भी ऐसा ही है जैसे दूसरे आदमी हैं। उसके कोई सींग निकलने वाले नहीं। लौकिक पुरुषों को पता ही नहीं लग सकता।

जो तो साधक है उसका तो पता कुछ लग भी जाता है क्योंकि वह कुछ भिन्न प्रकार का आचरण करता है जो दूसरे को कुछ समझ में आता है कि हाँ कुछ कर रहा है। ज्ञानी चूँकि बिल्कुल सामान्य रूप से व्यवहार करेगा इसलिये लौकिक पुरुषों की समझ में ही नहीं आयेगा। एक दृष्टान्त आता है कि एक महात्मा के बारे में किसी ने सोचा कि ये सबको भजन पूजन बताते रहते हैं, देखें यह ख़ुद कितना भजन करते हैं। वह एक दिन उनके कमरे की दीवाल में छेद करके देखने लगा कि वे दिन भर क्या करते हैं। वह चौबीस घंटे देखता रहा। उसने देखा कि केवल शाम के समय जब दिया जला तो उन्होंने एक बार हाथ जोड़ दिया, बाकी कुछ नहीं किया। दूसरे दिन उसने कहा 'महात्मन् मैंने आपको पूरे चौबीस घण्टे देखा लेकिन आपने कोई ध्यान भजन नहीं किया। केवल शाम के समय जब दिया जला तो आपने उसको हाथ जोड़ दिये थे।' उन्होंने कहा कि 'वही एक क्षण था जब मेरी अभेद बुद्धि क्षीण हुई। पुराने ज़माने से ऐसे संस्कार पड़े हैं कि दिये को देखते ही हाथ जुड़ जाते हैं, भेद बुद्धि आ जाती है मानो यह ब्रह्म है और मैं नहीं। इसलिये वह एक क्षण ही था कि मैं संसारी बना था। बाकी समय मेरी वृत्ति नहीं हटी। फिर मैं क्या भजन पूजन करूँ?' साधक को देखकर लग जाता है कि कुछ कर रहा है लेकिन ज्ञानी का पता कैसे लगाओगे? वह तो निरंतर एक वृत्ति में जो रहता है; उसकी वृत्ति तो कभी हटती ही नहीं।

किसी के मन में यह शंका हो सकती है कि तत्त्वविषयक ज्ञान आप अभेदवादियों के यहाँ तो सबको नित्य है। आदिबुद्धि आदिशान्ति से यह कह आये हो। इसलिये जितने लोग हैं वे सब तो तत्त्वज्ञानी ही हैं। फिर जब कहते हो कि 'ये लोग तो महाज्ञान हो गये' तो क्या दूसरा कोई आत्मा है जो महाज्ञानवाला नहीं है?

उसी शंका का जवाब देते हैं : भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह जो परमार्थ तत्त्व अर्थात् आदिबुद्ध और आदिशान्त तत्त्व है वह यद्यपि सारे लोकों में साधारण है, सबके हृदय में बैठा हुआ है, यह कोई ऐसा नहीं कि सिर्फ़ हमारे हृदय में बैठा हुआ है, तथापि जो महान् आत्मा नहीं हैं अर्थात् जो क्षुद्र चीज़ों को ही पकड़ते रहते हैं, जिन्होंने क्षुद्र

Scanned by CamScanner

अनात्म पदार्थों को छोड़ना नहीं सीख लिया है, जिन्होंने वेदान्त आदि का श्रवण नहीं कर रखा है, वे उपनिषदों के बाहर ही बाहर रहते हैं। बाकी सारे वेद आदि शास्त्रों को पढ़ लेंगे तो भी वेदान्त से दूर रहेंगे।

इसलिये भागवत की कथा करने वाला सब सुनाएगा, लेकिन उद्धव गीता नहीं सुनाएगा क्योंकि उसमें ज्ञान का प्रकरण आता है। कृष्ण ने साड़ी चुरा ली, मटकी कैसे फोड़ दी इत्यादि में ही हफ्ता भर निकाल देंगे लेकिन उद्धव गीता नहीं सुनाएँगे क्योंकि वह वेदान्तपरक है। चूँकि ये विवेकरहित हैं इसलिये वेदान्त से दूर रहते हैं। वेदान्तों का पूर्वापर पर्यालोचन करने से भी पराङ्मुख रहते हैं।

उन्हें समझाने का प्रयत्न भी करो तो कहते हैं कि 'इस बात को न छेड़ो, बहुत ऊँची बात है।' या कहेंगे कि 'यह तो नास्तिकवाद है। 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते' तुम लोग तो सब छिपे हुए बौद्ध लोग हो। जैसे वे कर्मकाण्ड नहीं मानते वैसे ही तुम लोग भी कर्मकाण्ड नहीं मानते। सब भ्रष्ट हो। तुम्हारी बात नहीं माननी चाहिये।'

उससे भी बहिष्ठ कुछ हैं। एक तो वेद पढ़ने वाले हैं लेकिन उपनिषदों से बहिष्ठ हैं और दूसरे तो वेद से ही दूर रहते हैं। वे कहते हैं 'कलियुग केवल नाम अधारा' इसलिये उठाओ खड़ताल और बजाओ क्योंकि 'कलौ केशवकीर्तनात्' 'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा' इसलिये वेद आदि शास्त्र इस युग के लिये हैं ही नहीं।

कई और आगे जाकर कहेंगे 'इसके लिये बहुत शुद्धि की ज़रूरत है। ऐसे वेद थोड़े ही पढ़ सकते हो। उसके लिये कई चीज़ें चाहियें। शहरों में बैठकर, यहाँ बैठकर वेदान्त पढ़ोगे? सब बेकार है।' एक जगह गये तो वे कहने लगे कि 'वैजिटेबल घी खाकर क्या वेदान्त से ज्ञान हो सकता है?' हमने कहा 'उसमें घी की ज़रूरत कहाँ है? हवन इत्यादि में तो घी शुद्ध चाहिये, यह बात तो समझ में आ जायेगी। वेदान्त समझने में शुद्ध या डालडा से क्या फ़रक पड़ता है?'

इसलिये कह दिया कि ये लोग क्षुद्र हैं क्योंकि अल्पज्ञान वाले हैं अर्थात् विचार की चतुरता इनमें है ही नहीं। विचार करने से ही ये घबराते हैं। उनका खास उपदेश रहता है 'पढ़ना लिखना पंडित का काम भज ले बेटा सीताराम। इसमें क्या रखा है? यह सब पंडितों का काम है। इससे क्या हो जायेगा?' विचार-चातुर्य का अभाव होने से न उन्हें पदों का ज्ञान होता है न पदार्थों का। वे क्या बोल रहे हैं उन्हें खुद ही नहीं पता। और उन्हें पदार्थज्ञान भी नहीं है। जैसे नाथ सम्प्रदाय वाले जप करते हैं तो 'ॐ नमो शिवाय' कहते हैं। उन्हें समझाने की भी चेष्टा करो कि संस्कृत में 'नमः शिवाय' होता है और 'नमो शिवाय' का मतलब होता है 'अशिवाय नमः', तो कहते हैं वाह!

Scanned by CamScanner

हमारे गुरुजी ग़लत कहते थे, तुम ही एक पंडित हो?' वे 'नमो शिवाय' ही करेंगे। इसलिये उन्हें पदार्थज्ञान नहीं।

जब पदार्थज्ञान नहीं तो वाक्यार्थ ज्ञान कहाँ से आयेगा? वाक्य का अर्थ होता है 'एकतात्पर्यप्रतिपादकत्वं वाक्यत्वम्' एक तात्पर्य को बताने वाले शब्दसमूह का नाम वाक्य हुआ। उनसे पूछो कि 'गीता या उपनिषद् का तात्पर्य क्या है?' तो समझने को तैयार नहीं। लेकिन वे तो एकाध चरण को लेकर बैठे रहेंगे और उसी को बोल देंगे कि 'भगवान् ने कहा है।' उनसे कहो कि 'आगे पीछे भी कुछ कहा है, केवल यही थोड़े ही कहा है!' लेकिन आगे पीछे का कोई विचार नहीं। विचारचातुर्य का अभाव, पदार्थज्ञान और वाक्यार्थज्ञान का अभाव होने से इन सब चीज़ों को समझने की कोई सामर्थ्य है ही नहीं। उनके द्वारा इस आत्मतत्त्व का अवगाहन नहीं हो सकता। इस परमार्थ तत्त्व के अन्दर वह डुबकी भी नहीं लगा सकते तो तैरेंगे क्या! अवगाहन मायने गहराई में जाकर तैरना, लेकिन वे डुबकी ही नहीं लगा पायेंगे तो तैरेंगे कहाँ?

आजकल नारी-स्वतन्त्रता वर्ष चल रहा है। भाष्यकारों ने उस काल में लिख दिया। कहते हैं कि यह अज साम्य परमार्थ तत्त्व ऐसा ही है कि चाहे औरत ही हो उसको भी ऐसा निश्चय हो गया तो उसे महाज्ञान हो गया। परमार्थ तत्त्व के विषय में जिसकी भी मनीषा अथवा प्रतिभा का समुन्मेष हो गया तो उन्मेष होने के बाद फिर कुछ भेद नहीं। चाहे बड़े से बड़ा श्रोत्रिय पंडित हो और रोज़ सवेरे शाम 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' करता रहे लेकिन प्रज्ञा का उन्मेष नहीं है तो कृपण ही है। और जैसा मनीषापंचक में आता है, चाण्डाल को भी उन्मेष हो गया तो वही महाज्ञानी है।

जिस किसी को भी मनीषा का समुन्मेष हो जाये, वह चाहे स्त्री इत्यादि कोई भी हो, वह महाधी है। मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने उपदेश दिया। गार्गी का बह्मवेत्तापना प्रसिद्ध है। सुलभा जनक से संवाद करने गई यह महाभारत में आता है। गीता में भी भगवान् ने इसीलिये कहा 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्'। इसलिये यह कोई नहीं कह सकता कि इस आत्मतत्त्व का उन्मेष किसको होगा किसको नहीं होगा, क्योंकि उपाधियाँ तो सब एक जैसी ही हैं। इसलिये इसके बारे में कुछ नहीं कह सकते कि किसको होगा, किसको नहीं होगा।

आदि से शूद्र चाण्डाल और आजकल के ज़माने में मुसलमान ईसाई को भी कह दो। ऐसा कहेंगे तो मुसलमान ईसाई लड़ने आ जायेंगे, लेकिन मंसूर हुआ है। उसे कहते थे कि 'मैं ब्रह्म हूँ ऐसा मत कहो।' मुसलमान बादशाह ने उसका सिर भी काट दिया। लेकिन उसने कहा 'हूँ तो मैं ब्रह्म ही।' ऐसे ही कुछ दिन पहले एक साले मुहम्मद हुए हैं। उन्होने कई वेदान्त ग्रन्थ प्रकाशित कराये। ऐसे ही ईसाइयों में मास्टर एकार्ट को जला दिया। लेकिन उसने कहा 'परमेश्वर मेरे मुँह से बोलता है, उसने मुझसे कुछ नहीं

Scanned by CamScanner

छिपाया।' लोगों ने कहा 'मारो इसे, वह तो केवल ईसा के मुख से परमेश्वर बोला था।' इसलिये कुछ नहीं कह सकते। किसी के अन्दर भी ज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

लेकिन होना चाहिये सुनिश्चय अर्थात् किसी प्रकार की असंभावना व विपरीत-भावना से रहितता आ जानी चाहिये। जिसे वह सुनिश्चित हो जाता है तो वही फिर संसार में महाज्ञानी है। महाज्ञानी का ही अर्थ कर दिया कि निरतिशय तत्त्व के विषय में ज्ञान वाला है। निरतिशयतत्त्व को ही यहाँ महान् कह दिया। महत् मायने ब्रह्म, वही निरतिशय तत्त्व है। उससे बड़ा और कुछ नहीं है इसलिये वह महान् है। कोई नहीं कह सकता कि किसमें तत्त्वज्ञान का उन्मेष हो जाये लेकिन जिनको ऐसा ज्ञान हो जाता है वे महाज्ञानी हो गये।

तच्च मूल का पद था, उसका अर्थ कर दिया उनका रास्ता भी वही परतत्त्व है। यहाँ रास्ते का मतलब डामर या सीमेन्ट का रास्ता नहीं वरन् उनके द्वारा जाना गया परमार्थ तत्त्व। उन्होंने तो परमार्थ तत्त्व को जान लिया, ज्ञानी को तो परमार्थ तत्त्व विज्ञात हो गया, उसे उसका अनुभव हो गया, लेकिन जो दूसरे सामान्य बुद्धि वाले हैं उन्हें कहाँ समझ में आना है! उन्हें तो फिर भी यही लगेगा कि है तो यह मुसलमान का मुसलमान। अब यदि मुसलमान के शरीर में भी ज्ञान होगा तो तदनुकूल ही उसका आचरण होता रहेगा। दूसरे सामान्य बुद्धि वाले लोग उसे कैसे समझेंगे? इसी प्रकार स्त्री आदि का आचरण भी वैसा ही होता रहेगा। उसको लेकर लोग कहते रहेंगे कि 'यह ठीक नहीं।' दक्षिण में अक्क महादेवी, और काश्मीर में लल्ल हुई हैं। ये नंगी रहती थीं और लोग उन्हें पागल समझते थे। शुकदेव के बारे में भी भागवत में आता है कि जब वे जा रहे थे तो बच्चे पीछे से पत्थर मार रहे थे और कह रहे थे 'पागल है।' अब साधारण बुद्धि वाले लोग उन्हें कैसे समझ सकते हैं? उन्हें तो उल्टा ही लगता है। साधारण लोगों की बुद्धि में उसका अवतरण ही नहीं हो सकता, उनकी बुद्धि का विषय ही नहीं हो सकता क्योंकि उनकी बुद्धि सामान्य है।

इससे यह तात्पर्य निकला कि जो तो वेदान्त तत्त्व को समझने में लगे हुए विवेकी हैं वे असामान्य विशेष बुद्धि वाले हैं; वे कुछ समझ सकते हैं। वेदान्त के संस्कार हों और महाधी से अभेद दृष्टि करने का प्रयत्न करके देखो तब उन्हें, उनके व्यवहार को और उनके विदित तत्त्व को कुछ समझ सकते हैं। यहाँ श्रद्धा चाहिये। इसलिये कहा कि सामान्य बुद्धि वाले लोग उसे विषय नहीं कर सकते; नहीं समझ सकते।

इसमें महाभारत का प्रमाण देते हैं

'सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः।।
शकुनीनामिवाकाशे गतिर्नैवोपलभ्यते।'

Scanned by CamScanner

सारे भूत अर्थात् ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक। जब ऐसा कह दिया तो इसके बीच में मुसलमान, जर्मन, रशियन सब आ गये या नहीं? बहुत से लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तक ही समझते हैं। यह संसार में सभी की समस्या है। मुसलमान कहेगा 'या इलाही इल इलाही' अर्थात् सारे संसार का रक्षक एक परमात्मा है। उससे कहो कि 'हम संसार के बाहर हैं या अन्दर हैं। अन्दर हैं तो हमारा रक्षक अल्लाह है या नहीं?' कहेंगे 'ऐसा नहीं। ऐसे थोड़े ही रक्षा करेगा! मुसलमान बनोगे तब रक्षा करेगा।' ऐसे ही जब कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सबका रक्षक एक है तो हमारी समझ में नहीं आता। लगता है कि इनकी रक्षा भगवान् थोड़े ही करता होगा! लेकिन ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक जो सबका आत्मा हो गया वह ज्ञानी है। इसलिये ज्ञानी के पास जो जाता है उसे यह लगता है कि 'यह मेरा ही है'। वहाँ से हटने के बाद उसकी चाहे जो वृत्ति बन जाये, लेकिन वहाँ से हटने के पहले उसकी दृष्टि यह नहीं कि 'यह मेरा नहीं है' क्योंकि वह आत्मभूत का व्यवहार करता है। और वह कैसा है? सारे भूतों का हित ही उसके हृदय में हमेशा रहता है। किसी का अहित हो, किसी का अकल्याण हो, यह उसके हृदय में कभी आ ही नहीं सकता क्योंकि वह सबका आत्मभूत हो गया। सबका निरुपाधिक रूप तो वही है और निरुपाधिक रूप ही परमहितरूप है। बाकी सभी सोपाधिकरूप तो परम कल्याण करने वाले नहीं हैं। इसलिये वह सर्वभूतों का हितरूप हो गया। सारे भूतों का हित करने वाला नहीं रह गया। सर्वभूतहित हो गया अर्थात् सबको परमप्रेमास्पद है, परम सुख रूप है। उसे अब पुरुषार्थ प्राप्तव्य नहीं है। जब उसका कोई गन्तव्य नहीं तो मार्ग भी होना नहीं है। इसलिये विविध विद्याओं वाले देवता भी अगर ढूँढने चलें कि वह किस रास्ते गया, उसके पदचिह्न कहाँ हैं, तो वे भी मोह में पड़ जाते हैं, कुछ समझ नहीं पाते। वरन् उसके आचरण को देखकर मोह में पड़ जाते हैं।

मोह में पड़ने की तो बात ही है। कहाँ तो कृष्ण १६१०८ रानियों से ब्याह करते हैं और फिर जितने उनके बच्चे हुए उन सबको मार डालते हैं। मोह में पड़ने की बात ही है। यदि यादव कुल के संहार के पहले कृष्ण को कोई देखता तो कहता कि 'यह तो सबमें आसक्त है' और जब मार डाला तो कोई घबराहट नहीं हुई। मोह में पड़ने की बात हुई या नहीं? एक तरफ तो भगवान् का कहना है 'रामो द्विर्नाभिभाषते' 'मैं किसी बात को कहकर बदलता नहीं।' उधर, कहा था कि 'महाभारत में अस्त्र नहीं उठाऊँगा' और भीष्म को मारने चल दिये। अब करो ज्ञानी के व्यवहार का निर्णय। क्या करोगे? देव का अर्थ आनन्दगिरि स्वामी ने किया है 'देवा विद्यावन्तोपि' जिन्होंने उपनिषदों का विचार कर लिया है ऐसे विद्या वाले लोग भी मोह में पड़ जाते हैं। या सीधा ही अर्थ देवता ले लो। विद्या वाले सोचते हैं कि 'ज्ञानी को तो ऐसा होना चाहिये। हमने ऐसा पढ़ा था। यह तो कुछ और ही निकला।'

क्यों मोह में पड़ जाते हैं? जो सारे पदों से रहित है, उसके पद की अन्वेषणा करना चाहते है। व्यवहार हमेशा किसी न किसी पद से किया जाता है। पद अर्थात् 'मैं अमुक

Scanned by CamScanner

का पिता, अमुक का पुत्र, अमुक देश में, अमुक काल में उत्पन्न हुआ हूँ।' केवल प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति ही पद नहीं हुआ करते। अपने पुराने लोग भी कहते थे कि 'चाहे छोटी उम्र का है, है तो तुम्हारा चाचा ही।' इसलिये व्यवहार के लिये हमेशा पद लेना पड़ता है। किसी एक उपाधि को ही लेकर व्यवहार करोगे। ज्ञानी तो किसी भी पद वाला नहीं है, किसी भी उपाधि वाला नहीं। इसलिये किसी भा उपाधि वाला न होने से वह एक क्षण में इतना प्यार कर रहा है मानो उसका पुत्र हो, लगता है कि इसको इसपर बहुत प्यार है, फिर अगले ही क्षण यदि उसकी कोई ग़लती दीख जाये तो पूरा कठोर हो जाता है अर्थात् अगले ही क्षण शत्रु की तरह व्यवहार कर लेगा। इसलिये साधारण लोग मोह में पड़ जाते हैं। ज्ञानी के व्यवहार के विषय में कुछ भी अन्वेषणा नहीं कर सकते।

उसी में दृष्टान्त देते हैं : जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है तो कोई कहे कि 'मैं इसके पैरों को देखकर पता लगाऊँगा कि कहाँ गया है!' आकाश में उसके पैर थोड़े ही हैं जो पता लगा सको। ज़मीन पर तो पता लग जाता है। कई बार पुलिस वाले कुत्ते को छोड़ देते हैं, कुत्ता गन्ध से आदमी को पकड़ लेता है। कई बार कुत्ता हवाई अड्डे तक चला जाता है लेकिन उसके आगे उससे लाख कोशिश करवाओ कि वह आदमी कहाँ गया तो उनकी बुद्धि काम नहीं करती। अथवा जल में मछली का पता थोड़े ही लगा सकते हो। इस प्रकार उसकी गति, उसके व्यवहार को समझना असम्भव है। यह महाभारत का वचन भी इसी बात को बताता है।।९५।।

●

यह कहा कि महान् अर्थात् व्यापक विषय का ज्ञान करने से इसे महाज्ञानी कहते हैं। जैसे ही कहा कि 'व्यापक विषय का ज्ञान करता है' तो इसका मतलब हुआ कि जो व्यापक है वह प्रमेय हो गया, जिसने इसका निश्चय कर लिया वह प्रमाता और इस प्रकार का निश्चय ज्ञान प्रमाण हो गया। तो फिर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद आ गया। इस प्रकार का प्रमाता-प्रमाण प्रमेय रूप त्रिविध परिच्छेद रहते हुए महाज्ञानता कैसे? उसका जवाब अब देते हैं

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ।।९६।।

अज धर्मों में, जीवों में, अज और विषय से असम्बन्धी ज्ञान स्वीकार्य है। जब वास्तव में कोई विषय है ही नहीं तो ज्ञान किसी से सम्बद्ध भी होता नहीं इसलिये असंग कूटस्थ कहा जाता है।

अज धर्म मायने जीवात्मा, वे चेतन के मानो प्रतिबिम्ब हो गये हैं। अज्ञान में चेतन का प्रतिबिम्ब उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। काँच में अपने मुख का प्रतिबिम्ब उत्पन्न

Scanned by CamScanner

थोड़े ही होता है। इसलिये जो उत्पन्न नहीं हुए ऐसे प्रतिबिम्ब रूप, चिदाभासरूप जीवात्मा ही अजधर्म हैं। उनके अन्दर अज कूटस्थ ज्ञान हो गया बिम्बरूप। जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है वह कूटस्थ हो गया। वह कैसा है? नित्य ही स्पन्दरहित है अर्थात् निस्पन्द है। बिम्ब स्पन्दित होकर प्रतिबिम्ब थोड़े ही बनता है, वह नित्य ही निस्पन्द है। इसलिये असंक्रान्त हो गया क्योंकि वह उनमें घुसा नहीं। अगर प्रतिबिम्बरूप उनमें प्रविष्ट हुआ होता तो तुम्हारा यह संदेह बन जाता। बिना प्रविष्ट हुए ही प्रतिबिम्ब रूप से प्रतीत होता है। इसलिये मान मेय आदि भाव कल्पित हुए।

निश्चय कौन करेगा? चिदाभास कहाँ से निश्चय करेगा? बुद्धि की वृत्ति से निश्चय करेगा। बुद्धिवृत्ति भी कल्पित और चिदाभास भी आभास होने से कल्पित। केवल जिसका निश्चय किया वही एक सत्य रहा। इसलिये प्रमाण और प्रमाता दोनों जब पारमार्थिक सत्ता वाले हैं नहीं तो पारमार्थिक ब्रह्म को कैसे परिच्छिन्न करेंगे? परिच्छेद तो हमेशा समान सत्ता का होता है। रस्सी में कल्पित सर्प रस्सी को परिच्छिन्न नहीं कर सकता। रस्सी की समान सत्ता वाली चीज़ तो रस्सी को परिच्छिन्न कर देगी लेकिन विषम सत्ता वाली चीज परिच्छिन्न नहीं कर सकेगी। यह भूल बार बार मनुष्य करता है। सम सत्ता और विषम सत्ता को भूल जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से वस्तु का परिच्छेद नहीं होता। यह जो ज्ञान है वह व्यापक वस्तु का ज्ञान हो गया। निश्चय का रूप ही यह हुआ कि परिच्छेदक प्रमाता और प्रमाण झूठे हैं। यही तो निश्चय है कि जानने वाला और जानने का प्रकार झूठा है। जीव के अन्दर कूटस्थ ब्रह्म संक्रान्त नहीं होता।

एक और भी कारण देते हैं असंगता का। ज्ञान को जो 'असंगोह्ययं पुरुषः' श्रुति ने कहा वह इसलिये कि संक्रमण हुआ नहीं। यदि संक्रमण हो गया होता तो श्रुति असंग न कहती। यह श्रुति हमारी युक्ति को पुष्ट करने वाली हो गई। यदि श्रुति प्रमाण न मिले तो केवल युक्ति से चीज़ का निश्चय नहीं होता। युक्ति तो केवल सम्भावना ला सकती है। निश्चय तो केवल अनुभव ही करा सकता है। इस कारण से— श्रुति ने ऐसा कह दिया अर्थात् उसे असंग बता दिया इसलिये वेदान्त सिद्धान्त के अन्दर ज्ञान असंग है। अगर विषयी हो जायेगा तो असंग कैसे होगा? यदि ज्ञान घट पट आदि को विषय कर लेगा तो फिर ज्ञान की असंगता कहाँ रहेगी? इसलिये घट पट आदि को ज्ञान कभी भी विषय नहीं करता। जब तक कल्पित रूप से विषय करता है तब तक बंधन है और जैसे ही यह पता चल गया कि घट पट आदि किसी भी चीज़ को ज्ञान विषय नहीं करता, असंग होने से, तो बस इसी का नाम मुक्ति है।

ब्रह्मबिन्दु में इसीलिये कहा 'मुक्त्यै निर्विषयं मनः'। मन दो प्रकार का है : विषयों में आसक्त, लगा हुआ, और निर्विषय। मन के आसंग, आसक्ति, सविषयत्व के कारण विषय के साथ ज्ञान का संग है, यह समझना ही बंधन है। ज्ञान का किसी भी विषय के साथ संग नहीं है, बस यही मुक्ति है। जो लोग अजातवाद नहीं पढ़े हुऐ हैं वे साधारण

Scanned by CamScanner

अर्थ तो यह करते हैं कि घट पट आदि की याद आती रहे तब तक आसक्ति है और आसक्ति गई तो काम बना। लेकिन केवल आसक्ति हटना अर्थ करोगे तो सुषुप्ति में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहाँ कहाँ आसक्ति रहती है? जिस समय ज्ञान अर्थात् घट की प्रतीति हो रही है उस समय में भी ज्ञान और घट का कोई संबंध नहीं है। ज्ञान ही प्रतीति है। मेरे ज्ञान से प्रतीत मेरा ज्ञान प्रतीत हो रहा है। अविद्या रूप विषय को छोड़कर यह विद्या है। इसलिये चित्त की विद्यावृत्ति की प्रतीति भी अविद्या से ही है। इस विज्ञप्तिमात्रता से परे कुछ भी नहीं है।

महाज्ञानता कैसी है? इसका जवाब दे रहे हैं। 'अजेषु' अर्थात् अनुत्पन्न, अचल और 'धर्मेषु' अर्थात् 'आत्मसु' अर्थात् जीवात्माओं के अन्दर जो अज अचल ज्ञान स्वीकार किया गया है वह असंक्रान्त है। जैसे सूर्य में गर्मी और प्रकाश है तो कहीं से आया नहीं है, संक्रान्त नहीं है, ऐसे जो अज ज्ञान है वह अर्थान्तर में, किसी दूसरी चीज़ में संक्रान्त हुआ हो ऐसा नहीं है। जिस कारण से पदार्थान्तर में ज्ञान का कभी संक्रमण नहीं होता इसीलिये उसे असंग कहा गया है। जैसे आकाश हमेशा असंग रहता है वैसे ही यह है। यही विज्ञप्तिमात्रता की असंगता अर्थात् विज्ञप्तिमात्र की ही सिद्धि है। इसमें प्रमाण प्रमाता और प्रमेय नहीं हैं। जब तक ये हैं तब तक ज्ञप्ति और जब ये नहीं हैं तो फिर विज्ञप्ति है।

जैसे अब सभी पदार्थों में है का अनुवर्तन होता है, कहो चाहे न कहो, इसी प्रकार जब 'विषय नहीं है' का अनुवर्तन होता है, कहो चाहे न कहो, तब महाज्ञान है। उसमें जब तक कहना पड़ता है 'यह नहीं है' तब तक ज्ञप्ति और जब बिना कहे ही 'नहीं है' की प्रतीति हो तो विज्ञप्ति। ज्ञप्ति और ज्ञान में थोड़ा फ़रक है। 'यह घड़ा है' यह ज्ञान और 'यह घड़ा है, लेकिन प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय होने से नहीं है' यह ज्ञप्ति अर्थात् पहले तो प्रतीत करते हो फिर बाध का अनुवर्तन करते हो। जब अनुभव दृढ हो गया तो फिर सोचना नहीं पड़ता कि तीनों नहीं हैं वरन् साथ ही साथ नहीं हैं कि प्रतीति होती है, तब विज्ञप्ति।।९६।।

●

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ।।९७।।

कूटस्थ ब्रह्म ही एक तत्त्व है इसलिये ज्ञान हमेशा ही असंग है। लेकिन ऐसा नहीं स्वीकार करोगे तो किसी न किसी प्रकार का तुम वैधर्म्य स्वीकार करोगे। किसी भी पदार्थ की कभी भी किंचित् भी उत्पत्ति तुमने यदि स्वीकार कर ली तो ज्ञान सविषय हो जायेगा। वास्तविक सविषयता आने पर उसकी अज असंगता नहीं रह जायेगी और फिर आवरण हटना नहीं, अज्ञान बना रहेगा, मोक्ष असंभव हो जायेगा।

Scanned by CamScanner

वैधर्म्य मायने चाहे विषय की आंतरिक उत्पत्ति मानो, जैसा बौद्ध मानते हैं या बाहर पदार्थों की उत्पत्ति मान लो जैसा सांख्य मीमांसक आदि मानते हैं। सांख्यादि मानते हैं कि बाहर घट उत्पन्न होता है और बौद्ध मानते हैं कि घट का ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा ज्ञान ही घटाकार बन गया। दोनों में से कुछ तुमने मान लिया तो यह ज्ञान से भिन्न किसी चीज़ को स्वीकार करना वैधर्म्य हो गया। ऐसा अविद्वान् अविवेकी लोग मानेंगे जो कहेंगे कि 'कुछ न कुछ उत्पत्ति मानो ही, कहीं कुछ तो हुआ ही होगा तभी प्रतीत हो रहा है। रस्सी में साँप प्रतीत हुआ तो वहाँ भी कुछ तो हुआ ही होगा, बिना कुछ हुए रस्सी में साँप कैसे दीख गया?' ऐसे जो अविवेकी होते हैं, वे कुछ न कुछ जायमान मानना चाहते हैं। फिर तो असंगता हमेशा रहने वाला धर्म नहीं होगा, आगन्तुक हो जायेगा। जब वह चीज़ पैदा होगी तो असंगता नहीं रहेगी और जब चीज़ हटेगी तो असंगता आ जायेगी। श्रुति तो ऐसा नहीं कहती कि ऐसा ऐसा हो जायेगा तब असंगता होगी। वह तो हमेशा के लिये कहती है 'असंगोह्ययं पुरुषः'।

जब असंगता नहीं होगी तब आवरणभंग भी कभी नहीं होगा। तुमने आवरण भंग किया तो जिस किसी कारण से वह पहले पैदा हुआ था उस कारण से फिर पैदा हो जायेगा। यदि यह मानते हो कि उसका स्वभाव ही यह है, तो भी बंधनाश नहीं होगा। दोनों ही तरह से मुक्ति असंभव हो जायेगी। अविद्वानों की दृष्टि से किसी भी पदार्थ के जन्म को तुमने ज़रा भी अंगीकार कर लिया तो फिर डूबे। अच्छे अच्छे लोग डूब जाते हैं।

इसलिये साधक लोग ज़रा सावधान रहना। इस अजातवाद की दृष्टि को अपनाने के बाद भी कुछ लोग योग में लग जाते हैं, कुछ लोग भक्ति में लग जाते हैं, कुछ लोग कर्म में लग जाते हैं। ऐसा देखने में आता है। क्यों लग जाते हैं? कहते हैं 'यह चीज़ तो हमने समझ ली लेकिन आख़िर इतना बड़ा संसार जो दीखा तो इसके पीछे कुछ तो होगा। उसको भी तो समझें।' यह माया का अंतिम अस्त्र है। यह सब समझने के बाद फिसलाकर गिराने वाला अस्त्र है। बाइबिल में ईसामसीह की कथा आती है कि शैतान ने उन्हें तरह तरह के प्रलोभन दिये, चालीस दिन तक प्रलोभन देता रहा। वे लोग पौराणिक ढंग से उस बात को बताते हैं। हमारे यहाँ भी पुराणों में आता है कि अमुक ऋषि तपस्या कर रहे थे तो इन्द्र ने उन्हें गिराने के लिये तरह तरह के प्रयत्न किये, अप्सरायें भेजीं। कोई प्रत्यक्ष अप्सराएँ ही आयें यह ज़रूरी नहीं, संसार के विषय में किंचित् सत्यत्वबुद्धि ही गिराने का कारण होती है। ऐसे ही यहाँ भी कहते हैं कि 'यह अज ब्रह्म तो हमने समझ लिया और निश्चय तो हो गया कि यह मेरा रूप है। फिर भी आख़िर यह संसार रूप में बना तो ज़रूर। इसलिये उसे भी ज़रा पता लगाओ।' बस यही गोरख धन्धा है। महाराज जी हमेशा माया को गोरखधन्धा कहते हैं। यह तो अनिर्वचनीय है। जहाँ तुमने इसे समझने का प्रयत्न किया तो गये। क्योंकि अनिर्वचनीय होने से इसका निर्वचन तो हो ही नहीं सकता। 'आख़िर यह संसार पैदा हुआ तो कुछ तो है, उसे तो समझें,' बस

Scanned by CamScanner

जहाँ यह आया वहाँ फँसे गोरखधन्धे में। कोई सोचता है कि समाधि, योगाभ्यास करके देखो कि क्या है। फिर निश्चय पर दृढ नहीं रह पाओगे। अथवा कर्म या उपासना करके देखो तो सही कि अन्तःकरण की वृत्ति एकाग्र होने पर क्या होता है। बस गये। देश काल कार्यकारणभाव को समझने का प्रयत्न माया का अन्तिम अस्त्र है।

विवेकी जानता है कि यह कुछ है ही नहीं। इसलिये केवल विस्मय होकर देखता रहता है। संस्कृत में स्मय मायने हँसी होता है। अंदर अंदर हँसता रहता है कि 'यह देखो बिना हुए कैसे दीख रहा है।' इसको बड़ा विस्मय होता है कि है कुछ भी नहीं और कहता है कि दीखा। बात कुछ भी नहीं और दिखा किसे रहा है? अपने शरीर को ही देखो। एक चीज़ ज्यादा खा ली तो बदहज़मी हो गयी। अनाज नहीं, लिवर नहीं तो पेट कहाँ से खराब होगा? फिर भी प्रतीति करा रहा है। फिर थोड़े दिन बाद एक दिन व्रत रख लिया तो भी पेट खराब हो गया क्योंकि व्रत रखने से अम्ल बढ़ गया। देखो माया का खेल; ज्यादा खाया तो कहता है पेट खराब हो गया। ज्यादा खाना कारण हो तो न खाने से नहीं होना चाहिये, लेकिन न खाने से भी खराब होता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई कार्यकारणभाव नहीं है। इसलिये विवेकी को हमेशा यह विस्मय बना रहता है, हमेशा इसके अंतःकरण में हँसी आती ही रहती है कि 'यह देखो कैसी प्रतीति है।'

वह माया प्रतीतियों के द्वारा तरह तरह से नाचंकर कहती है कि 'एक बार देखो तो सही, मुझे समझो तो सही कि मैं क्या हूँ।' जितनी जितनी वृत्ति दृढ होती जायेगी उतना उतना ये सिद्धियाँ सामने आकर नाच दिखाती हैं। कोई आकर कहता है 'मुझे पुत्र की बड़ी इच्छा है पुत्र नहीं हो रहा है।' पीछे पड़ गया। तुमने टंटा मिटाने के लिये कह दिया कि 'भाई देखो, भगवान् की इच्छा है।' और क्या करोगे? माया उसका पुत्र उत्पन्न कर देती है। मन में आयेगा कि 'मेरे में भी कोई सिद्धि तो आयी है।' पचास को कहेगा पचासों को हो जायेगा। मन में निश्चय होगा कि यह सिद्धि तो हमारे में आ ही गयी। जैसे ही यह निश्चय हुआ और इक्यावनवे को कहा कि 'तेरे भी हो जायेगा' तो उसके नहीं होगा। फिर सोचते रहोगे कि क्या हो गया? उस दिन मैंने अमुक व्रत, अमुक अनुष्ठान किया, अमुक चीज़ खाई थी और फिर वह अनुष्ठान नहीं किया इसलिये चूक गया। बस लगे गोरख धन्धे में। इसलिये कहा कि यह माया का अन्तिम चक्र है, इससे बहुत बचना पड़ता है। इसे तो केवल विस्मय से देखते रहना चाहिये। जहाँ इसमें लगे, फिर आवरण की विच्युति नहीं होती।

यही हमारे यहाँ वैधर्म्य है। संसार में तो हिन्दू से मुसलमान बनना वैधर्म्य है और हमारे यहाँ अज से जायमान को देखना वैधर्म्य है। जहाँ यह किया वहाँ धर्मपरिवर्तन हो गया।

भाष्यकार समझाते हैं 'इतः' अर्थात् पूर्व श्लोक में कही हुई वेदान्त दृष्टि से जो दूसरे भिन्नवादी अर्थात् अनात्मवादी हैं, आत्मा से अन्य अनात्मा को स्वीकार करते हैं,

Scanned by CamScanner

जो कहते हैं कि 'कुछ तो, थोड़ा तो मान लो चाहे बाह्य चाहे आन्तर उत्पत्ति मानो', वे अविपश्चित् हैं अविवेकी हैं। यहाँ सत्त्वपुरुष-अन्यता-ख्याति वाला अर्थ नहीं लेना, यहाँ विज्ञप्तिमात्रता में स्थित न रहना ही अविवेक है। उन्हें फिर असंगता कभी सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि इस प्रकार अविवेक की दृष्टि से पदार्थ का जन्म स्वीकार करते हैं तो ज्ञान का उसके साथ अनुषंग हो जाने से असंगत्व का अयोग हो जायेगा। फिर बंधध्वंस नहीं हो सकेगा। जब असंगता नहीं रहेगी तो इस बात में कहना ही क्या है कि बंधध्वंस असंभव हो जायेगा। आवरण नहीं हटा तो बंधनिवृत्ति कैसे होगी? आवरण ही तो बंध है और आवरणनाश ही बंधमुक्ति है।।९७।।

●

आपने यह कहा कि जो अनात्मवादी हैं वे आवरण से च्युत नहीं होते अर्थात् उनका बंधनाश नहीं होगा। इससे तो मान लिया कि जो अनात्मवादी हैं उनके अंदर बंधन है। तो उन्हीं में सही, लेकिन क्या आवरण आपने स्वीकार कर लिया? तब अब उसका जवाब देते हैं।

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ।।९८।।

सभी धर्म (जीव) स्वभाव से ही मलहीन हैं, आवरण उन्हें कभी प्राप्त ही नहीं हुआ। वे आदिबुद्ध आदिमुक्त हैं। उनमें जो सहज बोधशक्ति है उससे कहा भर जाता है कि वे जानते हैं मानों जानना उनसे अतिरिक्त कुछ है जिसे वे करते हों।

जितने भी धर्म अर्थात् जीवात्मा हैं वे जब कहते भी रहते हैं कि अनात्मपदार्थ हैं उस समय में भी उनके ऊपर वास्तविक बंधन नहीं है। जैसे भाँग के नशे में जब ब्राह्मण कहता है कि 'मैं चाण्डाल हूँ' उस काल में भी वह चाण्डाल होता नहीं है। इसी प्रकार से जब अनात्मवादी कहते हैं कि 'हम अनात्मा को मानते हैं' तब भी उनपर आवरण थोड़े ही आ जाता है। प्रकृति से तो वे निर्मल ही हैं। यह नहीं कि ज्ञान होने के बाद वे निर्मल होते हों। प्रकृति से ही निर्मल हैं। जब अपने को बंधन में या अनात्मा में समझते हैं उस काल में भी निर्मल हैं, यह निश्चय है। शरू में तो आदमी ढूँढता रहता है कि हमें भी कोई ज्ञानी व्यक्ति मिले। फिर तो ढूँढता है कि कोई संग वाला तो दिखाओ। पहले कोई मुक्त दीखता नहीं है, जब तक स्वयं बद्ध हैं। और जब स्वयं मुक्त हो जाता है तो उसे कहीं बद्ध नहीं दीखता। इसलिये वह प्रकृति से ही निर्मल है। इसलिये वह आदिबुद्ध अर्थात् हमेशा से ज्ञानी ही है। इसी प्रकार हमेशा से ही मुक्त है।

कैसे कह देते हैं कि यह मुक्त हो गये या इन्हें ज्ञान हो गया? बोधनस्वभाव अर्थात् फिर ज्ञानशक्ति वाला होने से; ज्ञान उसकी शक्ति है इसलिये कह दिया जाता है कि इनको

Scanned by CamScanner

ज्ञान हो गया। वहाँ मतलब है कि यह ज्ञानस्वरूप है। इसी को 'ज्ञान हो गया' कहते हैं। जैसे जब कहते हो 'सूर्य उदय हो गया' तो सूर्य उदय थोड़े ही हो गया। सूर्य अब सामने है, इसी का नाम 'सूर्य उदय हो गया' है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप हैं इसलिये ज्ञानी हैं ऐसा कह देते हैं। 'नायकाः' अर्थात् ज्ञानस्वरूप में रहने में समर्थ हैं, 'जानते' नहीं है; उनके लिये तो हमेशा से ही सब कुछ जाना जा रहा है इसीलिये कहा जाता है कि 'वे जानते हैं'।

अविद्वानों की दृष्टि से ही अविद्या का आवरण सिद्ध होता है तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से नहीं। अविद्वान् समझते हैं 'मैं अविद्या से आवृत हूँ,' विद्वान् ऐसा नहीं समझता कि 'मैं अविद्या से आवृत हूँ या था'। वह जानता है कि अविद्या से सदा अनावृत हूँ। जैसे नशे में जो ब्राह्मण यह कह रहा है कि 'मैं चाण्डाल हूँ' तब भी वह चाण्डाल नहीं है। ऐसा नहीं कि जब समझाओगे कि 'तुम ब्राह्मण हो' तब ब्राह्मण बन जायेगा। इसी तरह अज्ञानी कहता है 'मैं अज्ञानी हूँ या मैं अज्ञान मे हूँ' तो ज्ञानी जानता है कि है ही ज्ञान-स्वरूप, ऐसे ही बक बक कर रहा है कि अज्ञानी हूँ। समझाओगे तब ज्ञानी नहीं होगा, है ही।

अलब्धावरण का अर्थ कर दिया कि अविद्या आदि बंधन कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि सारे के सारे धर्म इसमें नहीं हैं। वह हमेशा ही बंधन-रहित है। जैसे काँच पर पीला रंग लगाकर अपना प्रतिबिम्ब उसमें देखो तो अपना मुँह पीला लगता है। अपने को पता भी है कि अपने को पीलिया रोग नहीं है, शीशे को रंग देने से ऐसा दीख रहा है। वह प्रतिबिम्ब पीला दीखने पर भी पीला नहीं हो गया क्योंकि प्रतिबिम्ब है ही नहीं। इतना ही नहीं कि बिम्ब ही पीला नहीं हुआ, प्रतिबिम्ब भी पीला नहीं हुआ क्योंकि है ही नहीं। उसी प्रकार यदि जीव होते तो उनका बंध भी होता। बिम्ब ही अपने को प्रतिबिम्ब रूप से देख रहा है। जीव होते तो उनके ऊपर आवरण भी होता है यह भी मान लेते। जब जीव हैं ही नहीं तो उनपर आवरण कहाँ से आयेगा?

'प्रकृतिनिर्मलाः' का अर्थ कर दिया कि स्वभाव से ही शुद्ध हैं। आदि में ही बुद्ध अर्थात् ज्ञानी हैं, वैसे ही आदि से ही मुक्त हैं क्योंकि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ही उनका स्वभाव है। यह नहीं कि कहीं किसी कारण से शुद्धता इत्यादि आई हो। इसलिये हमेशा ही बंधनरहित हैं।

यदि ऐसी बात है तो फिर आप यह कैसे कहते हैं कि वे ज्ञानी हो गये? पहले (श्लोक ८४) आपने कहा 'भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्।' वह कैसे? यह कैसे कहते हो कि उन्होंने इस चीज़ को समझ लिया है? समझाते हैं : ज्ञानशक्ति के स्वभाव वाला है इसलिये कह दिया कि वह जानता है। स्वभाव से ही धर्म चीज़ों को जानते हैं। 'बुध्यन्ते' में 'ते' कर्ता का द्योतक है। जैसे 'जानते हो' में 'जान' क्रिया और

Scanned by CamScanner

'ते' कर्ता को बताता है। 'जानता' 'जानती' इत्यादि में कर्ता बदल गया लेकिन क्रिया नहीं बदली। इसी प्रकार 'बुध्यन्ते' में भी क्रिया और कर्ता दो हुए। एक प्रकृति से दूसरा प्रत्यय से बताया गया। 'जानते' में 'जान' प्रकृति और 'ते,ता,ती' इत्यादि प्रत्यय हो गये। सामान्य नियम है कि क्रिया और कर्ता मुख्यार्थक होते हैं। क्रिया भी मुख्य अर्थ 'जान' को बताएगी और 'ते,ती' इत्यादि भी मुख्य कर्ता को बताएँगे। फिर 'जानता है' में ज्ञानस्वरूप तुमने कैसे अर्थ कर दिया? मुख्यार्थ को क्यों बदल रहे हो? उत्तर देते हैं— भाषा में ऐसा होता रहता है। भाषा में क्रिया व कर्ता का हमेशा मुख्य अर्थ में प्रयोग होता है, ऐसा नियम नहीं कर सकते।

इसमें दो दृष्टान्त दे दिये : जैसे सूर्य नित्य प्रकाशस्वरूप है। सूर्य प्रकाश करने के लिये कुछ करता थोड़े ही है। फिर भी कहते हैं कि 'सूर्य प्रकाशित हो रहा है, जगमगा रहा है।' इसी प्रकार 'जानते हो' में 'ते' स्वरूप को ही बता रहा है कर्ता को नहीं। दूसरा दृष्टान्त दिया कि पहाड़ कभी नहीं चलता। 'स्था' धातु का अर्थ गति का हटना है। जब कहते हैं 'खड़े रहो' तो मतलब है कि गति ख़तम करो। फिर भी कहते हैं कि 'देखो पहाड़ कैसे उँचे उँचे खड़े हैं।' कहीं से चलकर थोड़े ही आये हैं! हमेशा ही निवृत्तगति होने पर भी 'पहाड़ खड़े हैं' ऐसा कहते हैं। वैसे पौराणिकों के लिये यह दृष्टान्त नहीं क्योंकि उनके यहाँ तो लिखा है कि पहाड़ चला या उड़ा करते हैं। अगस्त्य महर्षि को विन्ध्याचल ने प्रणाम भी किया है। स्कन्दपुराण के अर्बुद खण्ड में कथा है कि यहाँ आबू में पहले एक गड्ढा था, उसको भरने के लिये हिमालय से एक टुकड़ा यहाँ लाया गया जिसका नाम अर्बुदाचल पर्वत पड़ा। पुराणों में ऐसी ऐसी कहानियाँ है। लेकिन यहाँ यह मानकर है कि वे नहीं चलते। इन दो उदाहरणों से यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुतः जहाँ क्रिया नहीं होती है वहाँ स्वरूप में भी इस शब्द का प्रयोग देखा जाता है।।९८।।

●

मुख्यबोधृता जहाँ असम्भव हो जाये वहाँ तो अमुख्यार्थता ठीक है, आपने दृष्टान्त से यही सिद्ध किया। लेकिन यहाँ 'जानने वाला' ऐसा मुख्य ही अर्थ क्यों नहीं? आपके दृष्टान्त में तो संभव नहीं है लेकिन यहाँ तो संभव हो सकता है कि वह जानता है। फिर उसी को स्वीकार क्यों नहीं करना चाहिये? कहते हैं कि ऐसा हम स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम् ।।९९।।

पूज्य, विद्वान्, आकाश जैसे व्यापक ब्रह्मवेत्ता का ज्ञान किसी अनात्मविषय में संक्रान्त नहीं होता, सम्बद्ध नहीं होता। एक ज्ञानी का ही नहीं, जितने जीव प्रतीत हो रहे हैं वे भी वास्तव में व्यापक ब्रह्म ही होने से उनका भी सचमुच किसी से सम्बन्ध होता नहीं। यह अद्वय व्यापक ज्ञान बुद्ध ने नहीं कहा है।

Scanned by CamScanner

विद्वान् की दृष्टि से ज्ञान का विषय के साथ संबंध बनता नहीं। जो ज्ञानी है, परमार्थदर्शी है, उसके लिये यह बात कभी नहीं बनती। ज्ञानी के लिये ज्ञान का विषयान्तरों में जाना बनता नहीं। विषयान्तर को यहाँ धर्म कह दिया। क्योंकि ज्ञानी 'तायी' अर्थात् सदा है। जो हमेशा बना रहे वह फिर संक्रमण करे, यह बनता नहीं। यदि ज्ञान और विषय का संबंध मानोगे तो कभी ज्ञान होगा, कभी नहीं होगा। ब्रह्माकार वृत्ति बनाओगे तब लगेगा कि 'हमें ब्रह्मज्ञान हो गया' और जब ब्रह्माकार वृत्ति नहीं हुई तो फिर ज्ञान भी नहीं रहा। इसलिये आकाशकल्प जो सर्वव्यापक निरंतर रहने वाला ज्ञान है उसका यह क्रमण बनता नहीं।

और भी एक कारण बताते हैं : जीव ब्रह्मरूप से आकाश की तरह व्यापक है और व्यापक चीज़ का क्रिया से संबंध नहीं होता। यदि उधर मानते हैं कर्तापना तो बनता नहीं क्योंकि कर्तापने का मतलब हुआ कि कभी ज्ञान आयेगा, कभी जायेगा, और फिर इधर ज्ञान का भी अर्थ क्रिया हो जायेगा। घटज्ञान तो क्रिया हुआ क्योंकि अन्तःकरण आँख द्वारा संबंध करे तब ज्ञान हो। ऐसे ही ब्रह्मज्ञान हो जायेगा कि जब जब वृत्ति उठाओगे तब होगा। स्वरूपज्ञान ऐसा नहीं हो सकता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये न उसका ज्ञान क्रियारूप बनता है और न उसके अन्दर ज्ञान के प्रति कर्तापना बनता है। दोनों ही नहीं बनते। इसलिये 'जानता है' में क्रिया और प्रत्यय दोनों मुख्यार्थक नहीं हो सकते। सारे ही जीव कर्तारूप से सिद्ध नहीं होते और ज्ञान क्रियारूप से सिद्ध नहीं होता।

यह जो अन्तिम तत्त्व ज्ञानस्वरूप की स्थिति है, यह बुद्ध ने नहीं कही। यहाँ दो अर्थ संभव हैं। या तो यह कि ज्ञानस्वरूपता को कहना असम्भव है और परमार्थदर्शी भी ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिये वे ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यह कहने का मतलब ही हो गया कि फिर तुम उसे शब्द में ले आये। अथवा इसका दूसरा अर्थ सीधा ही हो सकता है कि इस बात को प्रसिद्ध जो बुद्धदेव हुए, उन्होंने नहीं कहा। क्योंकि उनके शिष्यों ने क्षणिकविज्ञानवाद या शून्यवाद को माना अतः मानना पड़ेगा कि नित्य विज्ञान को उन्होंने नहीं बताया। इसलिये बौद्ध सिद्धान्त को हम स्वीकार नहीं करते यह तात्पर्य है। यदि 'बुद्धेन' का अर्थ 'ज्ञानिना' करोगे तो भाव है कि उसे बताना असंभव है, मौन ही उसका व्याख्यान हुआ। उस अंतिम तत्त्व का मौन स्वरूप ही है, फिर उसे कैसे कहें? और यदि उसका अर्थ बुद्ध करो जिसने यह सुगतमत का उपदेश किया, तो अर्थ है कि उसने यह कहा नहीं। जिस किसी कारण से न कहा हो; उसे पता था या नहीं यह अपनी वही जाने, लेकिन कहा नहीं है। कहा होता तो उसके शिष्यों ने ऐसी ग़लती न की होती।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ज्ञान ही पारमार्थिक तत्त्व है, उसी में ज्ञाता, ज्ञेय आदि सब कल्पित हैं, यही परमार्थदर्शन है। सौगत मत अर्थात् बौद्ध मत ऐसा नहीं मानता कि ज्ञान ही परमार्थ तत्त्व है। न क्षणिकविज्ञानवादी, न बाह्यार्थवादी और न शून्यवादी ऐसा मानते हैं। यह अपने में और बौद्धों में प्रधान भेद है। परमार्थदर्शी का जो ज्ञान है

Scanned by CamScanner

वह विषयान्तरों में अर्थात् दूसरे पदार्थों में नहीं जाता। उसे प्रतीति यह नहीं कि 'घट के अन्दर ज्ञान गया और प्रतीति हुई' अथवा अन्तःकरण में ज्ञान गया और प्रतीति हुई' क्योंकि चित्त ही चित् बन गया।

सांख्य योग वाले कहते हैं कि चित् को जानने वाला चित्त अलग है। सत्त्व और पुरुष की अन्यता है यहाँ तक तो साँख्य का और हमारा साथ चला, लेकिन चित्त को जानने वाला चित् अलग नहीं यह हमारा कहना है। अर्थात् अन्यता अवास्तविक होने से अन्य वास्तविक नहीं है। यहीं हमारा और सांख्य योग का फ़रक है। जब तक जानता है, उसे चित्त कहते हैं और 'जानना' छूटने पर वही चित् हो गया। इससे सांख्य और योग वालों से विदा ली।

जानने वाले से वह अलग नहीं तो वह चित्त जब जानता नहीं तो वह चित्त नहीं चित् है, इससे बौद्ध से विदाई ली। न जानने पर भी जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है वैसे ही वह ज्ञानस्वरूप है। बौद्ध का कहना है कि जब जानता ही नहीं तब ज्ञान कैसे? और हम कहते हैं कि जानने और न जानने काल में भी ज्ञान वैसा ही है।

श्लोक के धर्म पद से जड चेतन दोनों का ग्रहण कर लेना। जैसे सूर्य में प्रभा रहती है; ऐसा नहीं कि सूर्य के सामने कोई चीज़ आये तो उसे प्रकाशित करे, नहीं तो सूर्य की रोशनी कहीं चली गई। 'तायिनः' का ही अर्थ कर दिया जिसमें ताय हो अर्थात् संतान, सतत रहना हमेशा बने रहना हो। परमार्थदर्शी का ही तायी विशेषण है। जिसका संतत ज्ञान बना रहे वह तायी परमार्थदर्शी है। इस शब्द का प्रयोग मराठी भाषा में माँ के अर्थ में होता है क्योंकि माँ से ही निरंतर संतति प्रवाह चलता है। आकाश की तरह हमेशा बना रहता है, उसमें कभी कोई अंतर नहीं, भेद नहीं।

किसी ने कहा कि 'निरंतर ज्ञानस्वरूप तो सभी हैं। ज्ञानी के लिये ही तायी विषेशण क्यों दिया?' अतः और भी तात्पर्य बताते हैं कि पूजा के योग्य है। जो ऐसा ज्ञानी है वही पूजा का विषय है। अथवा उसका जो अन्तःकरण है वह प्रज्ञा वाला है। उसका शरीर पूज्य हो गया और उसका अन्तःकरण प्रज्ञा वाला हुआ। वह तो संतत ज्ञानस्वरूप है लेकिन उसके संबंधी शरीर अन्तःकरण पूजा और प्रज्ञा वाले हो गये। पूजा तो शरीर की होगी और उससे जो ज्ञान ग्रहण करोगे तो वह अन्तःकरण से ही करोगे। जितने भी धर्म हैं वे सब आत्मस्वरूप होने पर भी उसकी यह विशेषता है, इसलिये उसे खासकर तायी कह दिया। शरीर और मन की दृष्टि से उसे ज्ञान वाला कहा ही जाता है। इस दृष्टि से उसे ज्ञान वाला कहने पर भी, उसे अपना अनुभव सर्वव्यापक रूप से आकाशकल्प है। इसलिये उसे घट पट आदि किसी अर्थान्तर में, किसी दूसरे धर्म में क्रमण की प्रतीति नहीं। आत्मा मुख्य ज्ञाता नहीं हुआ, मुख्य ज्ञाता अन्तःकरण हुआ और अन्तःकरण जिस शरीर में रहता है वह हुआ। साक्षात् ज्ञान का धर्मी अन्तःकरण हो गया और क्रम से शरीर हो गया। आत्मा के अन्दर मुख्यबोधृता नहीं आई।

Scanned by CamScanner

शुरू में जिस ज्ञान का उपन्यास किया था, 'ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्' (४-१) इत्यादि श्लोक से कथन किया था, प्रकरण चलाया था, उसका यहाँ उपसंहार किया। जो आकाशकल्प अर्थात् आकाश की तरह व्यापक संतत रहने वाला बुद्ध है उससे अभिन्न होने के कारण उसका जो आकाशकल्प ज्ञान है वह अर्थान्तरों में नहीं जाता। अर्थान्तर हैं ही नहीं इसलिये क्रमण नहीं करता। उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता हो गई। वहाँ गगनोपम कहा था, यहाँ तायी कह दिया।

धर्म भी क्रमण नहीं करते। यह नहीं कि केवल ज्ञान धर्मों में क्रमण नहीं करता और धर्म ज्ञानरहित बने रहते हों। यह नहीं कि चिदाभास बने रहते हों और ज्ञान का संबंध उनके साथ न रहता हो। क्योंकि वे भी ज्ञान से बाहर नहीं और ज्ञान उनसे बाहर नहीं। मतलब यह हो गया कि वे भी कहीं आते जाते नहीं हैं। यह नहीं कि वे सब अब नहीं रहे तो कहीं चले गये। इसलिये यह भी जो कहा जाता है कि 'यह चिदाभास मुक्त हो गया और यह चिदाभास बद्ध है' इत्यादि, ये सब उपचार से प्रयोग, गौण प्रयोग हैं। वस्तुतः तो वह नित्य ही शुद्ध बुद्ध मुक्त है। उसी को बता दिया कि वह आकाश की तरह अचल, विक्रिया से रहित, अवयव से रहित, नित्य, अद्वितीय, असंग, अदृश्य, अग्राह्य, भूख प्यास इत्यादि से रहित ही ब्रह्म आत्मतत्त्व है। बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी विलोप नहीं होता। इसलिये धर्म भी ऐसे ही हैं; ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृ-भेदरहित हैं। यह जो परमार्थ तत्त्वज्ञान है वह ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता इन भेदों से रहित है।

इन तीनों भेदों से रहित— यह तो बुद्ध ने कहा, लेकिन क्या नहीं है यह नहीं कहा। अर्थात् यह अद्वितीय तत्त्व बुद्ध ने नहीं कहा। यहाँ भी बुद्ध के दोनों अर्थ कर लेना। यदि बौद्ध धर्म को चलाने वाला, उपदेश देने वाला बुद्ध अर्थ लो, तो उसने इसका प्रतिपादन नहीं किया। प्रतिपादित किया होता तो शिष्य ग़लत कैसे समझते? अथवा जो ज्ञानी है, यह बुद्ध का अर्थ लो, तो वे भी इसका भाषण नहीं कर सकते। मुख के द्वारा इस तत्त्व को कैसे बताएँ? क्योंकि बोलते ही तो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय भेद सामने आ जायेंगे।

फिर उसने क्या किया? यद्यपि उस धर्मोपदेष्टा बुद्ध ने बाह्य अर्थ का निराकरण किया तथापि वेदान्तवेद्य वास्तव तत्त्व का वर्णन नहीं किया। उसने बाह्य घट पट आदि सबका निराकरण किया कि यह सब कुछ नहीं यह सब ज्ञानमात्र की ही कल्पना है। घटज्ञान से घट की कल्पना करते रहते हो, घट नहीं है, ज्ञान ही है। इसके द्वारा अद्वय वस्तु के समीप ले आये, बाहर को छोड़कर चित्तवृत्ति तक तो ले आये। यह भी दोनों में लगा लेना। 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' आदि कहने वाले बुद्ध को ले लो तो उसने कम से कम लोगों को विषयों से हटाकर वृत्ति तक पहुँचाया।

और यदि ज्ञानी को कहो तो वह भी यहीं तक युक्ति से समझा सकता है कि बाह्य पदार्थ नहीं केवल चित्तवृत्ति है। यहाँ तक पहुँचाने से तुम्हें अद्वैत तत्त्व के समीप पहुँचा

Scanned by CamScanner

ही दिया। वृत्ति से अतिरिक्त ज्ञान नहीं है यहाँ तक ज्ञानी समझायेगा लेकिन आगे की जो बात कहनी है वह नहीं बोलेगा। वह कहेगा कि इस अद्वैत परमार्थ तत्त्व को वेदान्तों से जानो क्योंकि यदि ज्ञानी कहता है कि 'सिवाय ज्ञान के वृत्ति का स्पन्दन भी नहीं,' तो तुरंत शिष्य पूछेगा कि 'फिर आप उपदेश किसको कर रहे हैं? जब आपको ज्ञान ही दीख रहा है तो आप कैसे कह रहे हो कि 'जानो'।' तब इस प्रश्न का जवाब ज्ञानी क्या देगा? यदि कहा कि 'मुझे ज्ञान है, अंतःकरण के द्वारा उपदेश कर रहा हूँ', 'तो अन्तःकरण तुम्हें दीखता है तो ज्ञान कैसे?' इसे गुरु कैसे समझाये? इसलिये कहते हैं कि वेदान्त का प्रतिपादन करने वाला अपौरुषेय वाक्य है। मैं तुम्हारे को उपदेश कर रहा हूँ तो अविद्या में रहकर ही उपदेश कर रहा हूँ। यदि अविद्या में न रहूँ तो उपदेश तुम्हें दे ही नहीं सकता। यदि अविद्या से रहित तत्त्व को देखना है तो अपौरुषेय वेदवाक्य कह रहा है, उसे जानो। फिर तुम्हारा प्रश्न नहीं बनेगा कि 'उपनिषद् जानकर कह रही है या नहीं।' पौरुषेय वाक्य में तो शंका आ जायेगी कि जानकर कह रहा है तो बद्ध है इसलिये वाक्य अप्रमाण और बिना जाने कह रहा है तो भी अप्रमाण। यदि पुरुष है तो अप्रमाण है।

हो सकता है बुद्ध इस बात को जानते थे इसलिये बोले नहीं। यदि शिष्य को यह कहते तो वह यही प्रश्न पूछता, और इस प्रश्न का जवाब क्या दिया जाये? इसलिये वेदान्त, उपनिषद् को स्वीकार करना पड़ता है, वह अपौरुषेय वाक्य है। मैं जितना कह रहा हूँ उतना ही नहीं उससे आगे की बात उपनिषद् में लिखी है और उसे कहने वाला कोई पुरुष नहीं। इसलिये तुम्हारी शंका बनती नहीं, चूँकि वह अपौरुषेय वेदवाक्य है।

इस वाक्य को भी दोनों तरह से लगा लेना : बुद्ध ने; विद्वान् ने समझ लिया कि जो यहाँ तक पहुँच जायेगा वह आगे उपनिषद् बाँच लेगा अतः नहीं कहा और यदि बुद्ध मायने सुगत, तो बुद्ध ने यह बात नहीं बताई इसलिये उनके शिष्यों को भ्रम हो गया। क्योंकि भाष्यकारों ने स्पष्ट नहीं किया कि बुद्ध का अर्थ परमार्थज्ञानी लिया जाये या नहीं इसलिये दोनों आशय समझ सकते हैं। कुछ टीकाकारों ने सुगत का अर्थ मान लिया है लेकिन वैसा अर्थ करने से प्रकरणभंग का दोष आ जायेगा। यदि यहाँ अकस्मात् बुद्ध का अर्थ बदलना होता तो भाष्यकार स्पष्ट कर देते लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसलिये 'परमार्थदर्शिनः' बुद्ध का अर्थ भाष्यकारों को इष्ट है। वह भी नहीं कहता कि 'मैंने इस तत्त्व को जान लिया।' उसके लिये उपनिषद् देखो।

हर हालत में जो परिपूर्ण अनादि आनंदघन ज्ञानस्वरूप है वह केवल उपनिषदों के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसलिये दूसरे किसी मत से सांकर्य हमारे यहाँ नहीं है। हम लोग तो केवल एकमात्र उपनिषदों के द्वारा ही प्रतिपाद्य जो विज्ञप्तिमात्र है उसी को स्वीकार करते हैं बाकी मतों से हमारा विचार चाहे किसी अंश में तुल्य हो जाये। सांख्य की कोई बात अच्छी लगी तो उसका, बाह्यार्थवादी की कोई बात अच्छी लगी

Scanned by CamScanner

तो उसका संग्रह करते हुए भी उनके साथ हमारा मतसांकर्य नहीं। हमारा प्रतिपाद्य तो एकमात्र विज्ञप्तिमात्र उपनिषत्-समधिगम्य तत्त्व ही है।।९९।।

●

अब ग्रन्थ के अन्त में मंगलाचरण करते हैं। यह शिष्ट पुरुषों का आचरण है कि ग्रन्थ के प्रारंभ में, ग्रन्थ के मध्य में, और ग्रन्थ के अन्त में परमात्म-स्मरण करना चाहिये। वस्तुतः केवल ग्रन्थ में ही नहीं, किसी भी काम को प्रारंभ करते समय परमात्मस्मरण; काम के बीच में और जब काम ख़तम हो जाये तब भी परमात्मा का स्मरण करना चाहिये। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी मंगलाचरण किया 'ओमिति एतद् अक्षरम्' जो उपनिषद् रूप मंगलाचरण था। मध्य में अलातशान्ति प्रकरण के प्रारंभ में मंगलाचरण किया था और अब अंत में मंगलाचरण कर रहे हैं। ग्रन्थ के प्रारंभ से अन्त तक मंगलाचरण करके बताया कि अज तत्त्व में प्रतिष्ठा होने पर भी शिष्टाचार तो सदा ही करते रहेंगे।

आचार्यों का अपना अपना तरीका होता है। भगवान् भाष्यकारों ने कई ग्रन्थों के न आदि में और न अंत में मंगलाचरण किया है। उन्होने मंगलाचरण न करके अशिष्ट आचरण किया, ऐसा नहीं। उन्होंने केवल बताया कि केवल ब्रह्मविषयक चिन्तन में प्रवृत्त होने के कारण प्रतिक्षण जब ब्रह्मचिंतन है तो फिर मंगलाचरण क्या किया जाये। ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारंभ में और अंत में भी भाष्यकारों ने मंगलाचरण नहीं किया। उपदेशसाहस्री अपरोक्षानुभूति मे मंगलाचरण किया है। इसके द्वारा बताया कि जहाँ उपनिषद् चिंतन हो रहा है वह साक्षात् ब्रह्मविषयक होने से मंगल है। अन्य मंगल की ज़रूरत नहीं। ब्रह्मसूत्र में भी साक्षात् बह्म का विचार हो रहा है इसलिये मंगलाचरण की ज़रूरत नहीं।

परमेश्वर के कार्य में प्रवृत्ति के पहले मंगलाचरण करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं ही मंगलस्वरूप है। तदतिरिक्त कार्यों में प्रवृत्त हो तो मंगलाचरण करना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि से इसका तात्पर्य यह होता है कि जैसे शिवजी का मन्दिर बना रहे हो तो मंगल की ज़रूरत नहीं। लेकिन जब अपने लिये घर बना रहे हो तो उन सब चीज़ों की आवश्यकता है। यह दृष्टि बताई।

इस दृष्टि को गौडपादाचार्य भी स्वीकार कर रहे हैं। आगम प्रकरण में तो उन्होंने उपनिषद् को ही मंगल रूप मान लिया। मध्य और अन्त में उन्होंने स्वयं मंगलाचरण कर लिया। इसलिये अपने यहाँ शिष्टाचार हुआ कि ईश्वर संबंधी कार्यों के लिये किसी मंगलाचरण की आवश्यकता नहीं, बाकी कार्यों के लिये है, और दूसरी बात नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव में स्थित होने पर भी शरीर मन आदि से तो शिष्टाचार ही होता है। अब परदेवता का ही अनुस्मरण करते हैं—

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ।।१००।।

Scanned by CamScanner

जिसे समझना बहुत मुश्किल है, प्रमाणों के विषयक्षेत्र से बाहर होने के कारण जिसमें प्रवेश पाना कठिन है, उस कूटस्थ निर्विशेष, सारे संबंधों से रहित, केवल उपनिषदों द्वारा अतद्व्यावृत्ति से अवगम्यमान परमार्थ तत्त्व को समझ कर मायाबल के सहारे काल्पनिक भेद मानकर उसे हम नमस्कार करते हैं।

वह परमात्मतत्त्व दुर्दर्श है, उसको देखना बड़ा कठिन है। आँख से देखना नहीं समझ लेना। बद्धि में परमात्मतत्त्व को विषय कर सको यह बड़ा दुर्लभ है। चाहे जितना इसके विषय में बार बार विचार करो लेकिन बुद्धि स्तंभित हो जाती है। इसलिये यह बताया कि इसकी प्राप्ति के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इसको सामान्य दृष्टि से नहीं समझ लेना चाहिये कि 'चलो यह तो सरल सी चीज़ है, हो गई'। है बड़ी सरल इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन इतने पर भी यदि उसकी अवज्ञा करोगे, उपेक्षा करोगे तो हाथ में आया हुआ तत्त्व भी निकल जायेगा।

द्वैत साधना का फल एक दृष्टि से कठिन है और एक दृष्टि से सरल है। कठिन इसलिये है कि जब तक नहीं मिलता तब तक हाथ कुछ नहीं आता। ज्योतिष्टोम पूरा नहीं हुआ तो स्वर्ग कुछ भी हाथ नहीं आना है। यह नहीं कि आधा किया तो आधा स्वर्ग मिल जायेगा। या तुमने शिव जी की उपासना की तो शिव जी का दर्शन हुआ। पूरी उपासना सिद्ध नहीं हुई तो केवल पैर ही दीख जायेंगे— ऐसा नहीं होता। इसलिये द्वैत साधना में या पूर्ण सफलता ही होगी या कुछ नहीं। इसलिये ईसाई लोग यह मध्य का जो काल होता है इसे आत्मा की 'महानिशा' कहते हैं Dark night of the soul, क्योंकि कुछ पता नहीं आगे क्या होना है; क्योंकि संसार तो सारा छूट गया और वह वस्तु हमारी पकड़ में नहीं आई। इस दृष्टि से वह साधना दुर्लभ है। दूसरी दष्टि से सुलभ भी है। सुलभ इसलिये कि ज्योतिष्टोम पूरा हो गया तो स्वर्ग मिल गया। इसी प्रकार उपासना पूर्ण होने पर तुम्हें शिवदर्शन हो गया। एक चीज़ निश्चित हो गई। मिलने के बाद कठिन नहीं। इसलिये सुलभ हो गई।

वेदान्त एक दृष्टि से सुलभ है क्योंकि जिस काल में इसको समझते हो उसी काल में यह हाथ में तो आ जाता है। यह नहीं कि तुम्हारी साधना पूरी होगी तभी हाथ में आयेगा। इसलिये सुलभ है। दुर्लभ इसलिये है कि समझ में आते ही इसकी तरफ अवज्ञा हो जाती है। मनुष्य इसकी अवज्ञा करने लगता है कि जब चाहेंगे याद कर लेंगे। इसलिये इसकी अवज्ञा और उपेक्षा होने से यह सुलभ होता हुआ भी दुर्लभ हो जाता है। इसीलिये इससे प्रमाद सर्वथा नहीं करना चाहिये। इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि 'समझ लिया, बात तो ठीक ही है'। अधिकतर सत्संगी इसी में चूकते हैं, यह मानकर कि समझ में आ गया, उसकी उपेक्षा कर देते हैं।

गीता में भी भगवान् ने कहा 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।' (९-११)।। मूर्ख लोग उस आत्मतत्त्व की अवज्ञा

Scanned by CamScanner

करते हैं। उपदेश तो यही दिया जायेगा कि 'तुम ख़ुद ही ब्रह्म हो। तुम्हारा साक्षी स्वरूप ही ब्रह्म है।' इस परमार्थ तत्त्व को मनुष्य शरीर के साथ बार बार अध्यास करने के कारण उस साक्षी तत्त्व की अवज्ञा की जाती है। यह सोचते हैं कि 'वह तो है ही, अन्तरात्मा है, आत्मा परमात्मा है इसे कौन नहीं जानता है? लेकिन दुकान वगैरा तो करनी ही है। अंत में अपने को भी यह सब छोड़छाड़ कर आत्मचिंतन ही तो करना है। एक लड़की है, इसका ब्याह हो जाये, एक लड़का रास्ते लग जाये। उसके बाद अपने को करना क्या है? परमार्थ में ही तो लगना है।' मनुष्य शरीर के अन्दर इस परमार्थ चिन्तन को सुलभता से प्राप्त करके फिर इस मनुष्य शरीर के आश्रित तो रहना ही पड़ेगा इसलिये उस तत्त्व को जान कर भी अवज्ञा करते रहते हैं।

उसका जो परभाव, असगंभाव है, अजातभाव है, उसके विषय में इनका अज्ञान है। अज्ञान न होता तो इन चीज़ों को इतना महत्व नहीं दे सकते थे। विचार करो, यदि तुमको क्षणमात्र के लिये यह स्पष्ट भान हो जाय कि 'मैं भारतवर्ष का सम्राट् हूँ' तो उसके बाद तुम किसी के साथ एक पेड़ के लिये लड़ाई करोगे? अदालत में मुकदमा करोगे? एक आम के पेड़ के पीछे लठैत खड़े कर देते हैं! यदि तुम्हें पता लग गया कि तुम भारत के सम्राट् हो, तो कहोगे कि 'तुम ही ले जाओ।' फिर मुकदमा थोड़े ही करोगे। ठीक इसी प्रकार जब यह पता लग गया कि मैं भूतमहेश्वर हूँ, अनंत कोटि ब्रह्माण्डनायक हूँ, तो फिर क्या इस शरीर के थोड़े बहुत पदार्थों के पीछे दौड़ धूप करोगे? कुछ नहीं। इस परमार्थ तत्त्व को अगर समझ लिया होता तो फिर इस शरीर का आश्रयण करके जो निरन्तर शोक मोह आदि होते हैं ये निवृत्त हो गये होते। लेकिन 'हूँ तो मैं साक्षी ही, ईश्वर ही' इस बात को समझकर भी अवज्ञा करते हैं। यही इसकी दुर्दशा है।

केवल देखने में दुर्लभ ही नहीं अतिगंभीर भी है क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसका ज्ञान तो केवल 'शिवोऽहम्' इस प्रज्ञा में होता है। प्रज्ञा ही प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय भी नहीं, अनुमान से और नहीं दीखता। अनुमान के अंतर्गत ही अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाण समझ लेना। उनसे भी इसकी प्राप्ति नहीं। लोग कहते हैं कि 'हमको परमेश्वर दिखा दो।' प्रश्न यह है कि यदि हमने कह भी दिया कि 'यह परमेश्वर है ' तो तुम्हें कैसे पता लगेगा कि यही परमेश्वर है? कृष्ण को कंस आदि देखते हैं तो उनको परमेश्वर का बोध थोड़े ही होता है। शिशुपाल आदि को लगता है कि ज़बर्दस्ती भीष्म पितामह ने इन्हें श्रेष्ठ बना रखा है। इनकी तो जाति ही अभी संदिग्ध है। इसलिये यह तत्त्व समझना अत्यन्त कठिन है और अतिगंभीर है अर्थात् अनुमान आदि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है।

वह केवल प्रज्ञा का विषय है। प्रज्ञा कराने वाला वेदवाक्य है क्योंकि वह शब्द से ही होती है। 'शिवोहम्' इस ज्ञान का ही वह विषय है। यही उसकी अतिगम्भीरता है। गम्भीर व्यक्ति मौज़ूद होते हुए भी अपने आपको प्रकट नहीं करता और छिछला व्यक्ति 'मैं हूँ, मैं हूँ,' ज़बर्दस्ती यह सबको बताता रहता है।

Scanned by CamScanner

कोई संस्कृत का विद्वान् बैठा होगा तो मारवाड़ी में बात करेगा और जो संस्कृत की प्रथमा पढ़ा हुआ होगा वह बीच बीच में संस्कृत दिखाता रहेगा। गाँव वाले से भी बोलते समय अपनी पंडिताई दिखायेगा। विज्ञान का बहुत बड़ा विद्वान् तो सीधा कहेगा 'नमक दे दो' और जो मैट्रिक में साइंस पढ़ रहा होगा वह कहेगा 'मां! सोडियम क्लोराईड दे दो।' वह कहेगी 'क्या दूँ?' 'सोडियम क्लोराइड।' वह कहेगी 'नहीं है', तो कहेगा कि 'है कैसे नहीं? बर्नी में रखा है, तुम्हें यह भी नहीं पता कि नमक को कहते हैं।' इसी प्रकार जिसको वेदान्त-ज्ञान नहीं होता है उसे पूछो 'तुम्हारा नाम क्या है?' तो वह कहेगा कि 'इस शरीर को हरिराम कहते हैं।' दिखा रहा है कि मैं इस शरीर का साक्षी हूँ। ज्ञानी ऐसा नहीं कहता। एक ब्राह्मण को कहीं से एक अंगूठी मिल गई। कहीं ब्रह्मभोज हो रहा था। वह जिस किसी को परोसे तो वह अपनी अंगूठी को उसके सामने करते हुए पूछे 'लड्डू लोगे' ताकि सामने वाले को पता चल जाये कि उसके पास अंगूठी है। वहीं एक पुराने पंडित बैठे थे जिन्हें किसी सेठ ने सोने का बाजूबन्द दिया हुआ था। जब बार बार उसने अपनी अंगूठी दिखाई तो फिर उस पंडित ने अपना वह बाजूबन्द दिखाते हुए कहा 'नहीं लेंगे।' इसी प्रकार वह ब्रह्म तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में ज्ञानस्वरूप से मौजूद होते हुए भी अतिगंभीर होने के कारण कभी नहीं कहता कि 'मैं हूँ।' इसलिये लोगों को घड़ा दीखता है, तारे, नक्षत्र इत्यादि सब दीखते हैं लेकिन जिससे यह सब दीखते हैं वह नहीं दीखता। यही उसकी अतिगंभीरता है।

जो ज्ञान मुझे घट रूप से प्रतीत हो रहा था वही यह अज ज्ञान है। जो विशिष्ट है वही निर्विशेष है। विशिष्टता हटकर निर्विशेष नहीं है। जिसको मैं विशिष्ट समझ रहा था वही निर्विशेष है। वह जन्म से रहित है अर्थात् सारे सम्बन्धों से रहित है, एक जैसा है और विशारद अर्थात् विशुद्ध है। 'अजं, साम्यं, विशारदम्' ये पद गौडपादाचार्यों को प्रिय हैं क्योंकि बार बार इनका प्रयोग करते हैं। यह आनुपूर्वी भी पहले (४.९३) आ चुकी है। इनमें शुद्धता, असंगता और अजायमानता तीनों बातें आ जाती हैं।

किसी के मन में शंका आई कि यदि ऐसी चीज़ कहते हैं तो वह नहीं ही हो सकती है। जो दिखाई न पड़े, समझ में न आये, सारे संबंधों से रहित हो उसे तो 'नहीं है' यही समझना चाहिये। क्योंकि संबंधों से रहित हुई तो लक्षणा का भी विषय नहीं रही। और प्रमाणाधीन ही प्रमेय की सिद्धि होती है। इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं। 'पदम्' अर्थात् उपनिषदों के द्वारा अतद्धर्म के अध्यास को हटाने से उसका ज्ञान हो जाता है। अतद्धर्म— ये सब देश काल कार्यकारणभाव इत्यादि, ब्रह्म के जो धर्म नहीं हैं वे अतद्धर्म या अविद्याकल्पित धर्म समझ लो। समग्र कल्पित धर्मों को उपनिषद् के द्वारा जब हटा दिया जाता है तब वह स्वयंप्रकाश प्रकाशित हो जाता है।

जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य तुम्हें कोई कार्य नहीं कराता, केवल अतद्धर्मों को हटा देता है। कलकत्ते में रहने वाला, मोटा करोड़पति— ये उस देवदत्त के धर्म तो थे

Scanned by CamScanner

नहीं, आगंतुक थे। अब भीख माँगने वाला, फटे कपड़े पहने हुए, दुबला पतला भी देवदत्त नहीं। इन दोनों अवस्थाओं में एक जैसा रहने वाला देवदत्त है। उस देवदत्त को तुमने किस इन्द्रिय से विषय किया? क्या आँख, कान आदि से विषय किया? 'सोऽयं देवदत्तः' यही वाक्य उसकी एकता के ज्ञान में हेतु बन गया। इसी प्रकार जिसने तत् का और त्वम् का साक्षात्कार कर लिया उसे महावाक्य अतद्धर्मों को हटाकर अद्वैतबोध में निमित्त बन जाता है। त्वम् से मायाविशिष्ट के धर्म का अपाकरण कर दिया, मायाविशिष्टता उसका सच्चा धर्म नहीं, आगंतुक था। 'तत्' कहकर बता दिया कि अंतःकरण-विशिष्टता भी उसका सच्चा धर्म नहीं। इन दोनों कल्पित धर्मों का निराकरण करके, मायाविशिष्ट और अन्तःकरणविशिष्ट दोनों छोड़कर शुद्ध चेतन समझ में आ गया। इसलिये 'पदम्' अर्थात् उपनिषदों के द्वारा अतद्धर्म के अध्यासों का निराकरण करने के द्वारा ही उसका ज्ञान होता है। उसका ज्ञान होता है; ऐसा नहीं कि नहीं होता है। 'बुद्ध्वा' अर्थात् उसी बोधस्वरूप को प्राप्त करके। विद्वान् उसको भिन्न करके नहीं जानेगा, अंतःकरण और माया दोनों नहीं रहेंगे तो 'किसी से' 'उसको' नहीं जान सकते। वह भासमान होता है।

'बुद्ध्वा' में 'क्त्वा' प्रत्यय आते ही कोई कहता है कि 'ज्ञाता-ज्ञान का कुछ भेद तो है तब न तुम उसे जानते हो?' बड़ा सुन्दर जवाब देते हैं कि वह पद भी नहीं है जो नाना हो! यही तो निश्चय है। इसलिये उस पद को हमने समझा तो है, लेकिन बोधस्वरूप होने के कारण उसमें नानात्व नहीं है। अनानात्व होने के कारण 'समझा है' यह भी नहीं कह सकते और 'नहीं समझा है' यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि समझना या न समझना तो दोनों नानात्व में हुआ करते हैं। तत्त्व भी हो तथा और भी कुछ हो, तब कह सकते हो कि 'इसको इससे अलग करके समझा।' समझना न समझना दोनों ही नानात्व हैं। उसके इस अनानात्व स्वरूप को समझकर कि वह सकलविभाग से रहित हैं, हम तो अपनी शक्ति के अनुरूप उसको नमस्कार करते हैं। मैंने जान लिया यह नहीं कह रहे हैं। अतद्व्यावृत्ति के द्वारा इतना जाना है कि वह तत्त्व है और उसको नमस्कार करते हैं।

ठीक इसी प्रकार जनक की इस घोषणा पर कि 'जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो वह गायें ले जाये,' याज्ञवल्क्य ने शिष्य से कहा 'सामश्रवा! गायें खोल कर ले जा।' किसी ने पूछा 'तू ही क्या सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता है?' याज्ञवल्क्य ने कहा - 'ब्रह्मज्ञानियों को तो हम नमस्कार करते हैं। हमें तो गायों की ज़रूरत है इसलिये ले जा रहे हैं।' फिर शास्त्रार्थ हुआ। वे तो ब्रह्मज्ञानी थे ही। अंत में गार्गी ने कह ही दिया कि 'यही सबसे बड़े ब्रह्मनिष्ठ हैं।' याज्ञवल्क्य के अनुसार यहाँ भी कहते हैं कि वह तत्त्व है इतना हमारा निश्चय है, बाकी तो उस तत्त्व को हम नमस्कार करते हैं।

जो सकल विभाग से रहित तत्त्व है उसको तुम मानते हो और फिर नमस्कार करते हो तो तुम्हारे नमस्कार को ग्रहण करने वाला कोई तत्त्व है क्या? नमस्कार को स्वीकार

Scanned by CamScanner

कौन करेगा? नहीं करेगा तो बेकार है। और करेगा तो फिर तुम्हारी भेददृष्टि है। तुम्हारे तत्त्व की सिद्धि कैसे? 'यथाबलम्' में बल मायने माया या अविद्या। है वह अनाना तत्त्व, लेकिन उसकी अविद्याशक्ति ऐसी है जिसमें सब सम्भव है। अघटितघटनापटीयसी माया। वह हमसे अभिन्न भी है और भिन्न की तरह दीखता भी है। रस्सी रस्सी रहते हुए ही साँप की तरह ही दीखती है। यह रस्सी का बल है। इसी प्रकार से हमको सर्वथा अभेद की प्रतीति होते हुए भी भेद दीख रहा है।

जीवन्मुक्ति काल में भेद दीख तो रहा ही है और अभिन्नता का निश्चय भी है। कोई कहे कि 'अभिन्नता का निश्चय भेदज्ञान को रोक ले' तो नहीं रोकता। 'नहीं है' का अनुवेध रहते हुए जानते रहते हैं। ऐसे समझो : काँच में अपना मुख देखते हो। काँच के पीछे अच्छी तरह टटोलकर भी देख लेते हो कि वहाँ कुछ नहीं है। निश्चय हो जाता है कि पीछे कुछ नहीं है। तब क्या मुँह दीखना बन्द हो जाता है? यदि अधिष्ठान ज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति अवश्य होती हो तो यहाँ अधिष्ठान का ज्ञान हो गया लेकिन फिर भी अध्यास की निवृत्ति क्यों नहीं हो रही है? स्फटिक की मणि है, तुम्हें निश्चित पता है कि लाल फूल सामने रखने से स्फटिक मणि लाल नहीं हुई। अच्छी तरह निश्चय कर लिया। फूल को हटाया, फिर रखा, फिर हटाया, फिर रखा, इस प्रकार निश्चय हो गया। निश्चय के बाद फिर अड़ूसे का फूल पास रखने से स्फटिक लाल कैसे दीखता है? अधिष्ठानज्ञान तो हो गया, अध्यस्त की निवृत्ति क्यों नहीं हुई? इसलिये कहीं अधिष्ठानज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति होती है, कहीं नहीं होती। रस्सी साँप में हो जाती है, लाल स्फटिक में नहीं होती। इसी प्रकार से अनानात्व का निश्चय होने पर भी नाना की प्रतीति होती है, हो रही है, होती रहेगी; इसमें तुम क्या करोगे? यह उसकी अविद्या-शक्ति, अनिर्वचनीय शक्ति है। चाहे 'अविद्यालेश' कहकर इस अनुभव को समझा लो लेकिन यह जो संभव हो रहा है इसका कोई निर्वचनीय कारण नहीं कह सकते।

अनुभवरूप फल ही एकमात्र चीज़ है, उसके सिवाय और कुछ नहीं। सौ बीज बोते हो, पचास उगते हैं, पचास नहीं उगते। बढ़िया से बढ़िया किसान और पंत विश्वविद्यालय में डाक्टरेट इन एग्रिकल्चर किये हुए विद्वान् से भी कहो कि 'इन सौ बीजों में से कौन से पचास उगने वाले हैं?' तो वह कहेगा कि 'मेरा दादा भी यह नहीं बता सकता!' उगने के बाद ही कह सकता है कि ये उग गये। इसमें क्या करोगे? अपने बगीचे में खूब पानी दो, खाद दो, तब पेड़ बड़ा हो जाता है। अब चले जाओ जंगलों में, वहाँ कौन पानी देता है? और यहाँ से भी बहुत बड़े बड़े पेड़ वहाँ खड़े हुए हैं। क्या करोगे? जो होता है उसे स्वीकारना पड़ता है। सच्चा कार्यकारणभाव तो है नहीं कि पहले ही पूरा पता चल जाये या बाद में भी कुछ देखें तो विशिष्ट कारण को ही मानना पड़े। इसी प्रकार ज्ञान होने के बाद शोक मोह तो हट जाते हैं। अपने अन्दर जन्म मरण की भावना भी हट जाती है। लेकिन नानात्व की प्रतीति और सुख दुःख की प्रतीति

Scanned by CamScanner

नहीं हटती। इसलिये यह नहीं कह सकते कि कुछ भी नहीं हटा और यह भी नहीं कह सकते कि सबकुछ हट गया। जो प्राचीन और वर्तमान आचार्यों के और अपने अनुभव में भी हट गया, उसे हटने वाली चीज़ मान लो और जो नहीं हटता उसे न हटने वाला मान लो। इसलिये कहा 'यथाबलम्' अर्थात् अविद्या रूप बल या शक्ति का आश्रयण करके नानात्व न होने पर भी काल्पनिक नानात्व को मानकर हम नमस्कार करते हैं।

'नमस्कुर्मः' में बहुवचन का प्रयोग दोनों दृष्टियों से हैं। पहली दृष्टि से तो यह है कि इसी प्रकार सर्वत्र 'धर्मान्' का भी बहुवचन से प्रयोग किया है। अलातशान्ति प्रकरण के प्रारम्भ में मंगलाचरण में एकवचन का प्रयोग किया 'तं वंदे द्विपदां वरम्' और 'देशिस्तम् अहं नमामि'। वहीं 'धर्मान्' बहुवचन का प्रयोग कर लिया है।.इसलिये अलातशान्ति के प्रारंभ में उपदेश दे रहे हैं; अपने को जीव रूप से उपदेशक और दूसरे सारे जीवों को उपदेश के विषय मानकर प्रवृत्ति है। अब उन सारे जीवों से अपने एकत्व के भान को बता रहे हैं कि इन सब जीवरूपों में मैं ही हूँ, इसलिये बहुवचन का प्रयोग कर लिया। यह नानात्व गुरुपरम्परा की दृष्टि से भी है, अर्थात् जितने प्राचीन आचार्य हुए हैं, उन सबने नमस्कार किया है। और इस दृष्टि से भी है कि पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि सब शरीरों में बैठा हुआ नमस्कार करता हूँ। तब उन सबकी तरफ से नमस्कार हो गया। जैसे एक आदमी बाहर से आकर कहता है कि 'आपको अमुक अमुक व्यक्तियों ने 'ॐ नमो नारायणाय' कहा है' तो मान लिया जाता है कि सबकी तरफ से हो गया, ऐसे ही बाकी जीवों ने तो अज तत्त्व का अनुभव किया नहीं है इसलिये मैं उन सबकी ओर से नमस्कार करता हूँ कि ये सभी इस अजतत्त्व के भागी बनें।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि शास्त्र की अब समाप्ति कर रहे हैं। शास्त्र की.समाप्ति का मतलब क्या है? शास्त्र हुआ जो हितकारी चीज़ का अनुशासक है। प्रारंभ में ही कहा था कि शास्त्र के एकदेश से सम्बद्ध हो तो उसे प्रकरण और जितनी हित की चीजें हैं उन सबका प्रतिपादन कर दिया जाये तो उसे शास्त्र कहते हैं। इस ग्रंथ को पहले प्रकरण कहा, अब शास्त्र कहा; इस विरोध का निराकरण कैसे करोगे? प्रकरण होते हुए भी उपादेय सभी तत्त्वों का संग्राहक होने से प्रकरण भी शास्त्रपद का वाच्य बन जाता है। प्रकरण का मतलब हुआ 'प्रकर्षेण करण'। करण मायने साधन जिसे अंग्रेज़ी में instrument कहते हैं। शास्त्र का कोई एकदेश जो ठीक तरह से समझ में सरलता से न आये उसे जहाँ ठीक तरह से समझाया जाये उसे प्रकरण कहते हैं। जैसे शास्त्र के अन्दर कहा 'सारे जगत् का कारण ब्रह्म है'। वहाँ जगत् के कारण की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन पूरी युक्तियों से नहीं किया तो उन युक्तियों को सब जगह से इकट्ठा करके रख देना यह प्रकरण का काम हो गया। शास्त्र के एकदेश से सम्बन्ध वाला हो गया। शास्त्र को सर्वहित की बात बतानी है और प्रकरण में एक ही हित की बात बतानी हुई। शास्त्र जिस हित तत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है और उसका साधन बता रहा है, यदि उसको ही एकदेश बना लिया

Scanned by CamScanner

जाये, तो हितशासन हो ही गया। निर्विकल्प ब्रह्म और उसकी प्राप्ति का साक्षात् साधन ज्ञान यह शास्त्र का एकदेश है। शास्त्र का जो परम प्रयोजन और उस परम प्रयोजन का जो साक्षात् साधन, उसको ही इस ग्रन्थ में बताया।

'शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्'। जो ज्ञानाधिकारी नहीं उन्हें भी शास्त्र उपदेश करता है। यह ग्रन्थ सिर्फ़ मुमुक्षु को उपदेश करता है इसलिये शास्त्र के कार्य से अन्य कार्य में उद्यत है। शास्त्रकार्य हुआ सर्वोपदेश, उसकी अपेक्षा अन्य कार्य हुआ मुमुक्षुमात्र को उपदेश, उसमें यह ग्रन्थ तत्पर हुआ। निर्विकल्प बह्म के विषय में सारी बातों को कह दिया। इसलिये हिततम जो कुछ भी शास्त्र को कहना है वह यहाँ कह ही दिया गया। वस्तुतः उस शास्त्र में इससे भिन्न जो कुछ कहा गया है वह शास्त्रान्तर से प्रतिपादित होने के कारण वेदान्त का विषय रहा ही नहीं। जैसे चिकित्साशास्त्र में बताना तो यह है कि इस रोग की यह दवाई है। लेकिन चिकित्साशास्त्र में और चीज़ें भी बता दी जाती हैं। वे वस्तुतः चिकित्साशास्त्र का विषय तो नहीं हैं। यह दवाई कैसे बनानी चाहिये, यह रसायन कैसे फूँकना चाहिये इत्यादि वहाँ बताते हैं। यह वास्तविक चिकित्साशास्त्र का विषय नहीं है लेकिन फिर भी उसमें बताना पड़ेगा क्योंकि काम की चीज़ हैं। लेकिन उतना अंश यदि नहीं भी बताया जायेगा तो भी ग्रन्थ चिकित्साशास्त्र हो जायेगा। औषधि तो तैयार बाज़ार से भी ले सकते हैं। रसायन इत्यादि तो शास्त्रान्तर से प्रतिपादित हो जाता है। इसी प्रकार जो ज्ञान के साधक नहीं हैं उनको कर्म-उपासना-विषयक बातें तो शास्त्रान्तर से भी प्राप्त हो जायेंगी, इसलिये वे वेदान्त का प्रधान प्रतिपाद्य विषय तो हैं नहीं। वेदान्त का प्रधान विषय तो निर्विकल्प आत्मतत्त्व और उसका ज्ञानरूपी साधन ही है। वह इसमें बता ही दिया। इसलिये यह शास्त्र हो गया। इस प्रकार से पूर्वोक्त प्रकरण-शब्द और यहाँ कहे शास्त्र शब्द की एकवाक्यता समझना, भेद नहीं समझना।

अब शास्त्र की सम्यक् आप्ति हो गई अर्थात् इस तत्त्व का पूर्ण प्रतिपादन हो गया। शास्त्र की सम्-आप्ति अर्थात् शास्त्र-प्रतिपाद्य की सम्यक् प्राप्ति। शास्त्र में कहा हिततम हुआ आत्मा। सुनने वाले को उस आत्मतत्त्व की सम्यक् प्राप्ति के लिये यह प्रकरण ग्रन्थ बनाया गया। इसलिये अब शास्त्रसमाप्ति हो गई।

इस सम्यक् आप्ति में उस परमार्थ तत्त्व की स्तुति करनी आवश्यक है। स्तुति मायने प्रशंसा। जिस चीज़ का बार बार कोई अनुसंधान करता है तो उसके अनुसंधान को देखकर दूसरे को ज्ञान होता है कि यह उत्तम चीज़ है। जिसको बार बार याद करो तो सामने वाला समझ लेगा कि इसकी दृष्टि में यह उत्तम चीज़ है। उसी प्रकार यहाँ भी आदि मध्य और अन्त के अन्दर उस परमार्थ तत्त्व परदेवता का स्मरण करने से शिष्य आदियों के मन में यह हो जायेगा कि यह परदेवता वस्तुतः उपादेय है। इसीलिये बार बार अनुसंधान किया जाता है। जिस चीज़ को बार बार कहोगे उसी में प्रवृत्ति होगी। लोग समझेंगे कि यह चीज़ ठीक है। स्तुति के लिये अर्थात् इस प्रकार उसमें शिष्यों की प्रवृत्ति हो इसके लिये नमस्कार कहते हैं।

Scanned by CamScanner

'उच्यते' क्यों कहा? उन्होंने नमस्कार किया या नहीं यह पता नहीं, कहा ज़रूर है 'नमस्कुर्मः'। उसका प्रयोजन शिष्यशिक्षा बता ही दिया। इससे प्रतिपाद्य ब्रह्म की महामहिमता को बता दिया। दुर्दर्श का अर्थ किया कि जिस चीज़ का कठिनता से दर्शन हो वह दुर्दर्श है। दुर्दर्श होने के कारण यह तो है नहीं कि किसी रेल या हवाई जहाज़ में बैठकर उस तत्त्व को नमस्कार कर आये! यह नहीं हो सकता। इससे पता लगा कि उस परदेवता को जब ऐसे गुरुओं ने नमस्कार किया है तो वह हमारे भी नमस्कार का विषय है। हम भी उसे नमस्कार करें, उसके सामने नम्र बनें। इस प्रकार के ग्रन्थप्रतिपादन करने वाले महामहिम लोग भी उसी तत्त्व को, उसी परदेवता को नमस्कार के योग्य मानते हैं तो वह हमारे नमस्कार का विषय तो है ही। यह पहली बात हुई। अब उस तत्त्व के प्रति उपेक्षा नहीं रही। बचपने के वेदान्ती कहते हैं 'हम ही तो ब्रह्म हैं फिर किसको नमस्कार करें?' यह अवज्ञा हुई। जब उनके लिये भी नमस्कार का विषय है तो वह परदेवता साक्षी तत्त्व हमारे लिये भी नमस्कार का विषय है। अर्थात् हमें भी उसके सामने नम्र बनकर रहना चाहिये। मैं ही मैं नहीं कहना चाहिये। दूसरी बात यह बताई कि उसे जब वे भी प्रत्यक्ष नमस्कार नहीं कर सकते, केवल 'नमः' इस शब्द के प्रयोग से कर सकते हैं तो हम लोग भी उस शब्द से ही उसे नमस्कार कर लेते हैं 'नमः शिवाय।' मन में संदेह होता है कि कहते रहने से क्या होगा? शिवजी सामने थोड़े ही खड़े हैं! उस आत्मतत्त्व का तो नमन भी उच्चारण से ही बन सकता है। शब्दशः नमस्कार से नहीं घबराना चाहिये, करते रहना चाहिये।

वह दुर्दर्श क्यों? हमारे पास माइक्रोस्कोप या टेलिस्कोप है, उनसे देख लेंगे! कहते हैं तुम्हारे ये सब कुछ काम नहीं करेंगे। उसे न 'है' रूप से, न 'नहीं है' रूप से, न 'है और नहीं है' रूप से, और न 'नहीं है नहीं है' रूप से देख सकते हो। बहुत बार लगता है कि विज्ञान एक दिन उस तत्त्व को पा लेगा। वे तो केवल अस्ति या नास्ति को देखते रहते हैं। यह तो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व है, इसको क्या देखेंगे? यही दुर्दर्शता हो गयी। इसलिये ही यह अत्यन्त गंभीर है। जैसे महासमुद्र (Indian Ocean) की थाह पाना चाहो, समझना चाहो कि कितना गंभीर है तो मुश्किल है। वह अत्यन्त गंभीर है। पाँच मील तक समुद्र की गहराई है, दुष्प्रवेश है। दस बीस हाथ का कुआँ हो तो गोता भी लगा लें, लेकिन यह तो अतिगंभीर है इसलिये प्रवेश अत्यन्त कठिन है।

जब सभी लोगों के लिये अत्यन्त कठिन है, उसमें प्रवेश ही नहीं होना है, दर्शन ही नहीं होना है, तो जाने दो, इसकी बात ही क्यों करनी? भाष्यकार ऊपर से कहते हैं कि है तो अतिदुष्कर, लेकिन उनके लिये अतिदुष्कर है जिन्होंने गुरुपरम्परा से इस ज्ञान को प्राप्त नहीं किया, गुरुपरम्परा से प्रज्ञा को प्राप्त करने के साधन जिन्होंने नहीं कर लिये। जिन्होंने तो परम्परा से प्राप्त किया है उनके लिये यह अत्यन्त सुदर्श है। उनके लिये कोई कठिनाई नहीं है। जिन्होंने प्रज्ञा के लिये परिश्रम नहीं कर लिया उनके लिये अत्यन्त दुष्कर है।

Scanned by CamScanner

वह अज साम्य और विशारद है। ऐसा वह पद है। वेदान्तों के द्वारा ही उसका ज्ञान होता है अर्थात् वह द्वैताभाव से उपलक्षित पद है, द्वैत के अभाव से ही उसकी उपलक्षणा है। यही उसका अनानात्व हो गया। नाना द्वैत हो गया। अनानात्व कहते ही लगता है कि द्वैताभाव विशिष्ट वह पद होगा, जब समाधि वगैरह लगायेंगे तो जो होगा वही पद है। ऐसा नहीं है, वरन् द्वैताभाव से उपलक्षित तत्त्व ही वह पद है। अनानात्व में लगता है मानो नाना का अभावरूप धर्म उसमें है, धर्मधर्मिभाव की प्राप्ति हो जायेगी जैसे यह भूतल घड़े के अभाव वाला है। यह तो विशेषण-विशेष्य भाव हो गया, अखण्ड कहाँ हुआ?

'बुद्ध्वा' अर्थात् 'अवगम्य' उसे समझ कर। अवगमन का भी अर्थ कर दिया 'तद्भूताः सन्तः' अर्थात् ब्रह्मभूत होते हुए। तद्रूप हो जाना है। हमेशा 'मैं' इस प्रत्यय में ही उसका ज्ञान हो जाता है। किसी ने शंका की कि यदि तुम तद्भूत हो गये तो फिर नमस्कार कैसे करते हो? जब इस ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मभूत हो गये तो फिर नमस्कार किस बात का? जैसे पहले प्रेसिडेन्ट को नमस्कार करते हैं और जब ख़ुद प्रेसिडेन्ट बन गये तो फिर अपने आपको थोड़े ही सैल्यूट **मारोगे**! जब ब्रह्मभूत हो गये तो ज्ञान रूप क्रिया में तुम्हारा व्यवहार कैसे बनेगा? समाधान करते हैं कि वास्तविक दृष्टि से तो परिपूर्ण वस्तु व्यवहार का विषय नहीं है। नमस्कार भी एक व्यवहार ही है। इसलिये स्वरूप से, पारमार्थिक दृष्टि से, वह कभी भी व्यवहार का विषय नहीं है, व्यवहारातीत है। लेकिन यह जो अविद्याशक्ति है वह उसको व्यवहार-गोचर बना-सा देती है। पहले यह अविद्याशक्ति किसमें थी? हम किसी ब्रह्म को अपने से भिन्न जानते थे उसमें थी। अब जब ब्रह्मभूत हो गये तो वह अविद्याशक्ति मुझ ब्रह्म में है। इसलिये अब तक अविद्याशक्ति हमारे ऊपर नियंत्रण करती थी और अब वह अविद्याशक्ति हमारे अनुसार चलती है। अब हमने अपनी अविद्याशक्ति से उस अपने को व्यवहार-गोचर बना दिया। कोई कहेगा कि ज्ञान से अविद्या तो हट गई, बच कहाँ गयी? अब इसके कई ढंग से परिष्कृत जवाब आचार्यों ने दिये हैं। मोटी बात यही है कि हट गई है, इसमें सन्देह नहीं, फिर भी दीख रही है। यह अनुभव है। समझा इसे चाहे जैसे लो।

यह नहीं पूछ सकते कि अब तुम अपनी अविद्या शक्ति को क्यों काम में लेते हो? यह कोई प्रश्न नहीं बनता। मायाशक्ति के द्वारा ही उसे व्यवहार-गोचरता को प्राप्त करा दिया अर्थात् अविद्याशक्ति के अनुसरण से हमने परिकल्पना कर ली कि वह तत्त्व अलग और हम अलग हैं। यह परिकल्पना इसलिये कर ली कि शिष्य को समझाना है कि यह पारमार्थिक तत्त्व समझने के लायक है। शिष्य को समझाने के लिये ही अविद्या शक्ति का प्रयोग कर लिया। 'यथाबलम्' अर्थात् वह हमारीं शक्ति है जिसका प्रयोग कर दिया।

मूलश्लोक और भाष्य के अर्थ में थोड़ा सा भेद देखोगे कि 'आपाद्य' को भाष्यकार ऊपर से लाये हैं। स्वयं वक्ता की दृष्टि से वह केवल यही कहते हैं 'यथाबलं नमस्कुर्मः'।

Scanned by CamScanner

लेकिन जब शिष्य की दृष्टि से कहेंगे तो क्योंकि शिष्य तो जानता है कि गुरु ब्रह्मज्ञ हैं इसलिये समझेगा कि वे उस तत्त्व को अपने बल से मानो गोचर बनाकर उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। ब्रह्मभूत होकर अविद्या के कारण करते हों ऐसा नहीं, वरन् 'मेरी ही शक्ति है' ऐसा समझते हुए करते हैं। गुरु स्वयं अपने लिये केवल कह रहे हैं कि अविद्या शक्ति के कारण नानात्व की प्रतीति से नमस्कार करते हैं। शिष्य उसका मतलब समझता है कि 'ये ब्रह्मज्ञानी हैं इसलिये स्वयं अपनी शक्ति का उपयोग करके हमें उपदेश देने के लिये ऐसा कह रहे हैं।' यहाँ मांडूक्य-कारिका ख़त्म हो गई।।१००।।

●

आगे भगवान् भाष्यकारों के मंगलाचरण हैं।

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगाद्
अगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ।।१।।

शास्त्रप्रतिपादित परदेवता तत्त्व को ही पहले नमस्कार करते हैं। 'जो' अर्थात् प्रसिद्ध, क्योंकि ब्रह्म अशेष उपनिषदों में प्रसिद्ध है। जो त्रिविध परिच्छेदशून्य ब्रह्म प्रत्यगात्मस्वरूप है उसको मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् उसके लिये मैं नम्रता प्रकट करता हूँ। अब कहते हैं कि उस परदेवता के सामने प्रह्वीभवन, नम्रता प्रकट करने का फल क्या होता है? जो ब्रह्म के प्रति प्रणत होते हैं अर्थात् ब्रह्म को नमस्कार करते हैं, वह उनके समग्र भय अर्थात् इहलोक और परलोक में होने वाले जितने भी दुःख के कारण हैं, उन सबको नष्ट कर देता है। कारण क्या है? जितने भी भय शोक आदि हैं वे सारे के सारे ब्रह्म में ही रहते हैं। यदि ब्रह्म उन्हें हटा दे तो अपने आप ही सारे हट गये। संसार के जितने देवी देवता हैं वे तो एक एक चीज़ को हटा सकते हैं, सारों को हटाने की ताकत उनमें नहीं है। एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ही ऐसा है जो सबका अधिष्ठान होने के कारण इहलोक और परलोक के सारे दुःखों की निवृत्ति कर देता है। सबसे बड़ा भय अविद्या और उसका कार्य है, जब उसको ही नष्ट कर देते हैं तो बाकियों की तो बात ही क्या है।

कोई कहेगा कि ब्रह्मनिष्ठता की जो प्राप्ति है वह तो बुद्धिवृत्ति से होती है। शास्त्र -आचार्य के उपदेश से उत्पन्न जो ब्रह्माकारवृत्ति है वही अज्ञान को नष्ट करती है। अब विचार करो, वह बेचारी जड बुद्धिवृत्ति कहाँ से नष्ट करेगी? जब घटविषयक अज्ञान को भी घटाकार वृत्ति नष्ट नहीं करती, घटाकार वृत्ति में प्रतिफलित चेतन की ज़रूरत पड़ती है, तो फिर ब्रह्मविषयक अज्ञान को वृत्ति क्या नष्ट करेगी? जो चींटी एक लोटे पानी को पार नहीं कर सकती, उस चींटी के विषय में यह कहना कि समुद्र को पार

Scanned by CamScanner

कर गई, बेकार है। इसी प्रकार जो बुद्धिवृत्ति घटविषयक अज्ञान को नष्ट करने में असमर्थ है वह ब्रह्मविषयक अविद्या को क्या नष्ट करेगी? इसलिये वहाँ भी ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ जो ब्रह्म है वही अज्ञान को नष्ट करता है। बिना ब्रह्म की सामर्थ्य के अज्ञान और उसके कार्य को कोई वृत्ति नष्ट नहीं कर सकती। इसीलिये शास्त्रों के अन्दर कहा 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।' 'श्रुतेन' का भी निषेध कर दिया। आत्मा ही जिसको वरण करे उसे वह मिलता है। ब्रह्माकार वृत्ति नष्ट नहीं करती वरन् ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ ब्रह्म नष्ट करता है। इसलिये वह अवज्ञा का विषय नहीं है।

हम योगियों की तरह नहीं हैं जो कहते हैं कि प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि करेंगे तो प्राप्त कर लेंगे, चित्तवृत्ति का निरोध करके प्राप्त कर लेंगे। इस प्रकार वेदान्ती नहीं मानता कि श्रवण मनन करके ब्रह्म प्राप्त कर लेंगे। वरन् वे परब्रह्म परमात्मा ही दया करके जब ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ होंगे तभी हमारे अज्ञान को नष्ट करेंगे। इसीलिये योग कर्मकाण्ड का अंग है। जैसे बाह्य कर्मकाण्ड वाले कहते हैं कि यह करो तो ऐसा फल होगा, 'मंत्राधीना हि देवताः' हम अनुष्ठान करेंगे तो देवताओं को यह करना ही पड़ेगा; इसी प्रकार योगी कहता है कि इस प्रकार से कुण्डली जगाऊँगा तो हो जायेगा। हर हालत में मैं करूँगा। वेदान्ती ब्रह्म के अधीन है, वस्तु के अधीन है, क्रिया के अधीन नहीं। यदि ब्रह्म का अनुग्रह न हो तो तुम हमेशा ब्रह्मचिन्तन करते रहो, श्रवण-मनन करते रहो तो भी कुछ नहीं होना है और उसकी कृपा हो जाये तो क्षणभर में काम हो जाये। इसलिये वेदान्ती कर्मकाण्डी नहीं।

इस विषय में शास्त्रकारों में दो प्रकार का मत है। कोई कहता है कि बुद्धि रूप इंधन वाला ज्ञान होता है। और कोई कहता है कि ज्ञान से प्रदीप्त बुद्धि होती है। कोई तो कहता है कि ज्ञानरूप ब्रह्म तो सर्वव्यापक है ही, इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति रूप इंधन की ज़रूरत है। ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा प्रदीप्त ज्ञान अविद्या हटायेगा इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति के अधीन अज्ञाननिवृत्ति हो गई। बुद्धि से ज्ञान हो गया। दूसरे कहते हैं कि बोधेद्ध बुद्धि होती है, ज्ञान के द्वारा प्रकाशित जो बुद्धि होती है उससे अज्ञान हटेगा। ब्रह्माकार वृत्ति बनने पर उसमें ब्रह्म के प्रकाश की आवश्यकता है। बात तो एक ही है, दृष्टि में किंचित् भेद है। एक में तो ब्रह्म की कृपा जब तक नहीं होगी तब तक ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी ही नहीं। ब्रह्माकार वृत्ति बन गई तो सर्वव्यापक ब्रह्म होने से ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। दूसरे का कहना है कि ब्रह्माकार वृत्ति बनने पर भी उसमें ब्रह्म का प्रकाश चाहिये, इसलिये यह उसके अधीन है। यह किंचित् फ़रक है।

इस कारण से साधनपक्ष में भी कुछ भेद आ जाता है। जो तो यह मानेंगे कि बिना ब्रह्म की कृपा के ब्रह्माकार वृत्ति बनती ही नहीं, उनके यहाँ निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं बनेगी। वेदान्तियों में दोनों पक्ष रहे हैं। अगर ब्रह्माकार वृत्ति बन गई तो ब्रह्मज्ञान हो ही

Scanned by CamScanner

जायेगा, इसलिये वे कहते हैं कि निर्गुण उपासना नहीं हो सकती। सगुण उपासना करते करते जब ब्रह्म की कृपा होगी तब श्रवण मनन निदिध्यासन से ब्रह्माकार वृत्ति बनते ही सविलास अविद्या नष्ट हो जायेगी। इसलिये निर्गुण का केवल ज्ञान ही होता है। दूसरी दृष्टि है कि ब्रह्माकार वृत्ति तो बना सकते हो अर्थात् निर्गुण उपासना कर सकते हो। वृत्ति को ब्रह्माकार बनाते रहो, वृत्ति बनाना निर्गुण उपासना हुई। इस वृत्ति को बनाने से जब परब्रह्म परमात्मा का अनुग्रह होकर ब्रह्म उसमें प्रतिफलित होगा तब ज्ञान सम्भव होगा। इसलिये निर्गुण उपासना भी बन जायेगी। एक पक्ष में निर्गुण उपासना है, दूसरे में नहीं है। हर हालत में ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिफलित ब्रह्म ही ज्ञान में कारण बनेगा, इसके बिना नहीं। एक में निर्गुणोपासना से प्रणत हो जायेगा और दूसरे पक्ष में सगुण उपासना के द्वारा हो जायेगा। एक पक्ष में सगुण उपासना करते करते श्रवण मनन निदिध्यासन साथ साथ करेंगे तो ब्रह्माकार वृत्ति बनकर ज्ञान हो जायेगा। सगुण उपासना का मतलब है साक्षिस्वरूप का अनुसन्धान। निर्गुण उपासना में ज्ञेय लक्षणों की वृत्ति बनानी है।

यद्यपि वह आत्मतत्त्व अज है, जन्म आदि सारे विकारों से रहित कूटस्थ है, फिर भी उसकी जो अविद्या शक्ति, जो उसका ऐश्वर्य है उसके द्वारा आकाश इत्यादि कार्यरूप से प्रतीत होते हैं। सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला ब्रह्म इस प्रकार से समझा जाता है, यह उसकी अविद्या शक्ति है, अनिर्वचनीय माया शक्ति है। अज रहते हुए ही इन सब रूपों से प्रतीत होता है। यह उसका वैभव है। अज्ञान ही उसका वैभव है, ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वरभाव है। जो उसकी स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रिया शक्ति है उसके द्वारा उसने जन्मसम्बन्ध प्राप्त किया। उसी को अनिर्वचनीय अज्ञान कहते हैं, वही वैभव है।

इसी प्रकार कूटस्थ, विभु, स्वरूप से गतिवर्जित है। उसमें कहीं आना जाना सम्भव नहीं है। फिर भी वह गंतव्यता का विषय बन जाता है। निर्गुण उपासना करने वाला अहंग्रहोपासक यहाँ से मरकर ब्रह्मलोक को जाता है। अथवा गति से ज्ञान ले लो; अर्थात् सारे ज्ञानों का अविषय होने पर भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विषय बन जाता है। एक रहता हुआ ही अनेक रूप से है। वास्तविक दृष्टि से तो सारे नानाभावों से रहित एकरस अद्वितीय है। फिर भी जीव जगत् ईश्वर इत्यादि भेद से अनेक रूपों का प्रतिभात होता रहता है।

यह अनेकता, गतिमत्ता और जनियोगिता किनको लगती है? ज्ञानियों को तो अजता, अगतिता और एकता लगी और दूसरों को, अज्ञानियों को लगे भिन्न भिन्न प्रकार के विषय घट, पट, मठ, कट आदि तथा विषयरूप धर्म घटत्व आदि। इन्हें ग्रहण करके उनको ऐसा मोह हो गया कि ज्ञान को भूल ही गये। मुग्ध हैं, उलटा ज्ञान हो गया है। विवेक न होना ही मोह में पड़ जाना है। जिनका ईक्षण ऐस हो गया है उनकी दृष्टि में ब्रह्म में अनेकता की, गतिमत्ता की, जनियोगिता की दृष्टि हो जाती है। जो शान्तवृत्ति वाले हैं उनको तो सब जगह ज्ञान दीखता है। वे सर्वत्र घटज्ञान, मठज्ञान में ज्ञान को

Scanned by CamScanner

पकड़ते हैं, इसलिये उन्हें एकता प्रतीत होती है। वे न उत्पन्न होने वाले को देखते हैं और न गति वाले को देखते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को दीखती तो रस्सी ही है लेकिन एक संस्कारवशात् मोह में पड़कर उसे साँप देख लेता है और दूसरा रस्सी देखता है। इसी प्रकार ज्ञानी घटज्ञान होने पर ज्ञान को पकड़ता है और दूसरा घट को पकड़ता है। यह मोह के कारण हो जाता है, यही फँसाता है। इससे बच जाना चाहिये। इसके मोह में नहीं पड़ना चाहिये। ऐसे मुग्ध लोग भी प्रणत हो जायें तो ब्रह्म उनका भय नष्ट कर देता है। उसके प्रति मैं प्रणत हूँ इस प्रकार परदेवता को नमस्कार किया है।।१।।

●

अब कारिकाकार को नमस्कार करते हैं।

प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं
भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे ।
कारुण्यादुद्धारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतोः
यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ।।२।।

प्राणियों के उपकार के लिये करुणापूर्वक जिन्होंने यह ज्ञानामृत निकाल कर दिया है उन इन परमगुरु को उनके चरणों में गिर गिर कर मैं प्रणाम करता हूँ । उन्हें करुणा हुई क्योंकि उन्होंने देखा कि प्राणी इस संसार सागर में बेबस हुए डूब रहे हैं। संसार न केवल सागर की तरह दुस्तर ही है वरन् जैसे सागर में बड़े बड़े ग्राह होते हैं ऐसे संसार में जन्म नाम का ग्राह है वह भी एक नहीं, लगातार है, अनन्त जन्म हैं। उन जन्मों के कारण संसार भयंकर है। इससे बचाने वाला अमृत उन्होंने निकाला वेद नाम के समुद्र से। देवताओं के लिये भी वह अमृत दुर्लभ है। मेधासहित प्रज्ञारूप मथानी डालकर मथे गये समुद्र से वह अमृत निकाला। आचार्य के पास ही ऐसी मथानी थी जो उन्होंने अमृत निकाल कर सर्वसुलभ कर दिया और ऐसे सभी की रक्षा कर दी। वे हमारे पूज्य जो गुरु उनके भी पूज्य हैं तो हमारे पूज्य हैं इसमें क्या कहना!

इसके अन्दर ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयोजन और भगवान् गौडपादाचार्य जो इस आगमशास्त्र को बनाने वाले हैं उन्हें नमस्कार करते हैं। ग्रन्थकार को नमस्कार करना व्याख्याकार के लिये आवश्यक है इस बात को बताते हैं और प्रसंगतः यह भी बता देते हैं कि यह हमारे दादागुरु है। भाष्यकारों के गुरु गोविन्दपाद और उनके गुरु गौडपाद।

'कारुण्याद्' केवल करुणा के द्वारा उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है। इसके द्वारा बताया कि आत्मतत्त्व का उपदेश जब गुरु करते हैं तो उसमें और कोई कारण नहीं, केवल करुणा से ही करते हैं। 'इदम्' अर्थात् यह जो ज्ञानशास्त्र है। बाकी शास्त्रों के उपदेश में तो दूसरी चीज़ें भी काम में आ जाती हैं। उपदेश के अन्य हेतु अन्य शास्त्रों में बताये जैसे

Scanned by CamScanner

'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नैव विद्यते।।' अर्थात् या तो गुरु की सेवा की जाये तो प्रसन्न होकर ज्ञान दे दिया जाता है। आत्मज्ञानी गुरु की शुश्रूषा क्या करोगे? तुम शरीर आदि की सेवा करोगे और वह उस सेवा को अपनी सेवा मानेगा ही नहीं। इसलिये वह भी कारण नहीं हो सकता। या ख़ूब दक्षिणा वगैरह दो तो भी लोग पढ़ा देते हैं। उसे उसमें उपादेय बुद्धि ही नहीं क्योंकि वह तो 'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्' उसे सुख का कारण ही नहीं मानेगा। इतना ही नहीं, सारी पृथ्वी को धन से पूर्ण करके किसी को दो तो भी ब्रह्मविद्या के बराबर नहीं हो सकता। विद्या से अर्थात् कोई अन्य विद्या प्रदान करके भी उससे आत्मज्ञान नहीं ले सकते, जैसे किसी को संस्कृत पढ़ा कर उससे अंग्रेज़ी पढ़ लेते हैं, क्योंकि आत्मज्ञानी को किसी विद्या की भी ज़रूरत नहीं कि ले देकर काम हो जाये। इसलिये वहाँ कारण तो केवल करुणा ही हो सकती है। यह जो ज्ञानरूपी अमृत है इसको उन्होंने सारे प्राणियों के कल्याण के लिये निकाला। ऐसे पूज्यों से भी पूज्य जो परमगुरु हैं उनको 'नतोस्मि' नमस्कार करता हूँ।

भाष्यकार यहाँ एक बड़ा विचित्र शब्द प्रयोग कर रहे हैं 'अमुम'। जो सामने बैठा हो उसके लिये इस शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये शंकरदिग्विजय आदि प्रमाणों के अनुसार यह तो मानना पड़ेगा कि यह श्लोक उन्होंने भगवान् गौडपादाचार्य से मिलने के बाद लिखा है। उन्हें यह भाष्य दिखाया था ऐसी प्रसिद्धि है। हो सकता है बाद में कभी आचार्य ने यह श्लोक कह दिया हो और किसी शिष्य ने उसे संग्रथित कर लिया क्योंकि यहाँ प्रसंग था। ऐसा मान सकते हैं। अथवा, और यही पक्ष ठीक है, कि परम गुरु ब्रह्मरूप होने से नित्य प्रत्यक्ष हैं अर्थात् नित्य अपरोक्ष हैं। वैसे कोश में 'अदोत्र च परत्र च' इस तरह विप्रकृष्ट या परोक्ष को कहने के लिये भी इस शब्द का प्रयोग बताया है। उस अर्थ मे तो यहाँ सीधा ही है।

पूज्याभिपूज्य अर्थात् अपने पूज्य गुरु, उनके भी पूज्य होने से पूज्याभिपूज्य परम गुरु को नमस्कार करते हैं। नमस्कार भी कैसे करते हैं? पहले केवल 'नतोस्मि' था। वह चूँकि परदेवता को नमस्कार था इसलिये केवल वचन से हो सकता है। लेकिन यह नहीं कि गुरु भी सामने आये तो वैसा ही करे। इसलिये यहाँ कहा 'पादपातैर्नतोऽस्मि' उनके चरणों का अपने उत्तम अंग सिर से स्पर्श करे। उसमें भी बहुवचन के द्वारा कहा कि बार बार अर्थात् कम से कम तीन बार करे। ऐसी परम्परा भी है, जब गुरु से मिलते हैं तो तीन बार प्रणाम करते हैं।

दृष्टान्त बनाया कि जिस प्रकार समुद्रमंथन किया गया तो उसमें मेरु को मथानी (वैशाख) बनाया था। प्रज्ञा ही मेरु है। वैसे प्रज्ञा का मतलब ब्रह्माकार वृत्ति है। लेकिन यहाँ मेधा सहित प्रज्ञा है, अन्यथा प्रज्ञा तो हम लोगों को भी हो जाती है। लेकिन हमारी प्रज्ञा मेधा से नहीं, गुरु के उपदेश से होती है। हम स्वयं वेदों के आलोडन से नहीं निकालते। वह तो निकला हुआ है जो प्राप्त होता है। इसलिये मेधा सहित प्रज्ञा ही उनकी

Scanned by CamScanner

मथानी हुई। वेध डोरी को कहते हैं। वासुकी नाग को डोरी बनाया था। यहाँ मेधा ही डोरी है। मेधा के द्वारा ही प्रज्ञा का मन्थन किया जायेगा। देवता लोगों को उसकी जरूरत नहीं पड़ी, हम लोगों को है। उसके द्वारा समुद्र को क्षुब्ध कर दिया। वेद नाम वाला जो समुद्र है उसके अन्दर ब्रह्म के साथ सम्बन्ध वाली प्रज्ञा को लगाया। वही उसको मथना है। मथने के लिये समुद्र को कच्छप पर रखा था। यहाँ अपने अंतःकरण के अन्दर ही वेद को रखना है। वेद का मथन ऐसा नहीं जैसे बाल्टी का पानी मथना हो! जब वेद तुम्हारी निधि हो जाये तब मंथन चलेगा। इसलिये अन्दर में स्थित है। इस प्रकार से मथकर के उस अमृत को निकाला।

वह अमृत वेद के अन्दर ही स्थित था लेकिन बाहर निकला हुआ नहीं था। जब अमृत वहाँ मौजूद ही था तो ऐसे क्यों मथा? था तो वह वेद समुद्र के अंदर ही, लेकिन लोग उस वेदसमुद्र में प्रवेश करके भी वेदों के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड में फँस जाते हैं। ये वहाँ बड़े बड़े ग्राह हैं। समुद्र के अमृत को भी देवता लोग इसीलिये नहीं पा सके थे कि उसमें बड़े बड़े ग्राह थे। उसी प्रकार यहाँ वेद में जाते ही वर्णन मिलता है कि स्वर्ग में अप्सराएँ मिलेंगी, ब्रह्मलोक में ऐसा आनन्द मिलेगा, योगाभ्यास से ऐसी ऐसी सिद्धियाँ मिलेंगी, श्येन याग करने से दुश्मन मर जायेगा इत्यादि। यह सब सुन सुन कर इन ग्राहों के मुख में फँस जाते हैं कि 'यही तो करने की चीज़ है, यही करो'। बस, कर्म उपासना के चक्कर में पड़ जाते हैं। उन्हें वहाँ से निकालकर अलग न करो तो उसी को वेद समझते रहते हैं, क्योंकि ज्ञान की बात तो बीच बीच में कदाचित् आनी हुई।

जितने भी भूत अर्थात् प्राणी हैं वे सारे के सारे निरंतर जन्म मरण के चक्र रूप घोर ग्राहों के मुँह से नहीं निकल पाते और संसार समुद्र में डूब ही रहे हैं। वैदिक लोग वैसा ही करते रहते हैं इसलिये उस तत्त्व को नहीं पकड़ पाते। इस संसार के अंदर मग्न होकर दुःख पाते रहते हैं। इसको देखकर उन्हें करुणा आई कि ये बेचारे वेद की शरण में भी आ गये, वैदिक भी बन गये और फिर भी इनका कल्याण नहीं हो रहा है क्योंकि ये दूसरी चीज़ों में फँसे जा रहे हैं। इसलिये इस करुणा से उन्होंने अमृत को अलग कर दिया।

अब कहते हैं कि भगवान् ने क्षीर सागर से जो अमृत निकाला था उसको तो उन्होंने किसी किसी को, देवताओं को ही दिया, सब को नहीं दिया। राहु केतु को ही नहीं दिया, इसीलिये बेचारे अभी तक दुःखी हैं! और भी कइयों को नहीं दिया। यह अमृत निरपेक्ष अमृत है। वह अमृत सापेक्ष अमृत था क्योंकि अन्त में देवता भी मर ही जाते हैं। सापेक्षतारूपी अमरता तो किसी-किसी को सुलभ है लेकिन यह सबको सुलभ है। प्राणिमात्र के लिये यह अनायास ही मिल जाती है। इस प्रकार से संसार समुद्र से लोगों को तारने के लिये इस अमृत को उन्होंने निकाला। समुद्र की तरह अत्यन्त कठिन स्थल से उन्होंने इसे निकाला कि लोग किसी भी प्रकार से आपस के भेदों से दूर हो जायें

Scanned by CamScanner

क्योंकि नानात्व के कारण ही फँसते रहते हैं। संकल्प उनके पूरे नहीं होते। परवश बने रहते हैं। यह सब देखकर उन्हें यह अमृत दे दिया। उन्हें नमस्कार किया।।२।।

●

परदेवता और ग्रन्थकार को नमस्कार हुआ। गुरुभक्ति विद्याप्राप्ति का अंतरंग साधन है इसका श्रुति ने नियम किया 'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ' कहकर। गुरुभक्ति के बिना कभी भी तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये इस बात को बताने के लिये अपने गुरु को नमस्कार करते हैं।

यत्प्रज्ञालोकभासा प्रतिहतिमगमत् स्वान्तमोहान्धकारो
मज्जोन्मज्जंश्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वति त्रासने मे ।
यत्पादावाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्र्या ह्यमोघा
तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्ये ।।३।।

बारम्बार जन्म लेना रूप अत्यन्त भयावह समुद्र में कभी अव्यक्त और कभी व्यक्त होता हुआ मेरे अन्दर का मोहान्धकार जिनकी प्रज्ञारूप आलोक की दीप्ति से विनष्ट हो गया तथा जिनके चरणों पर आश्रित शिष्यों को श्रवण, शान्ति और विनय की श्रेष्ठ व सफल प्राप्ति हो जाती है, उन श्रीगुरु के पवित्र और संसारभय हटाने वाले चरणों को मैं वाणी, मन और शरीर से नमस्कार करता हूँ।

'पादौ पावनीयौ' अर्थात् उनके चरण परम पवित्र हैं, सारे जगत् को पवित्र करने में समर्थ हैं। कोई चीज़ तो ऐसी होती है जो स्वयं पवित्र होती है और कोई चीज़ ऐसी होती है कि जिसको स्पर्श करे उसको भी पवित्र बना देती है। गुरु के चरणों से जिसका संबंध हो जाता है वह पवित्र हो जाता है। गुरु के चरण पवित्र हैं ऐसा ही नहीं बल्कि पावन का अर्थ है कि जिससे गुरु के चरणों का सम्बन्ध हो जाता है वह पवित्र हो जाता है। इसलिये जगत् के समग्र पदार्थों को पवित्र बनाने वाले हैं। विचार करो कि जो संसार के अत्यन्त घृणित पदार्थ सूअर और कुत्ते की टट्टी, उसको गुरु के चरण के संबंध से हमने शिवरूप समझ लिया तो जगत् के समग्र पदार्थों को पवित्र कर दिया या नहीं? गंगा जी का तो पानी छिड़को तब पवित्रता, यहाँ तो समग्र पदार्थों को चरणों से पवित्र कर दिया। उनके चरणों का संबंध हुआ और सब पवित्र हुआ। वे चरण कैसे हैं? संसार के समग्र भय— अर्थात् कारण अज्ञान और उसके द्वारा होने वाले विकार, सब को नष्ट करके सारे भयों की समाप्ति कर देते हैं। जब उस अविद्या को ही नोंच फेंका तो सारे भय अपने आप ही नुच गये। जो उनसे संबंध कर लेता है उसकी अविद्या अवश्य निवृत्त हो जाती है।

इसलिये उन्हें जो नमस्कार करते हैं वह कैसा है? परदेवता को तो केवल उक्ति से नमस्कार किया। दादागुरु को केवल चरणों के साथ उत्तमांग का स्पर्श करके किया। लेकिन

Scanned by CamScanner

यहाँ भाष्यकार 'सर्वभावैः नमस्ये' कह रहे हैं अर्थात् शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि सारे के सारे गुरुसेवा में लग जायें। 'सर्वभावैः नमस्ये' का मतलब हुआ जैसा संक्षेपशारीरक के अंत में सर्वज्ञात्ममहामुनि ने कहा है कि जब तक द्वैत का प्रतिभान है तब तक गुरु के अनुसार ही समग्र इन्द्रियों की प्रवृत्ति हो, यही 'सर्वभावैः नमस्ये' है। वेदान्त आदि के प्रचार का उन्होंने कहा तो इसीलिये करना है, कर्तव्यबुद्धि से नहीं, अर्थात् मुझे करना है— इस बुद्धि से नहीं। जिस शरीर मन आदि से अब मैं मुक्त हो गया वे शरीर मन आदि केवल गुरु की आज्ञा के अनुसार ही प्रवृत्ति करेंगे, न अपने सुख के लिये, न दुःख हटाने के लिये, न शान्ति के लिये, न अशान्ति की निवृत्ति के लिये क्योंकि अपना काम तो बन गया। अपने शरीर मन आदि की प्रवृत्ति गुरु के अनुकूल है।

उस गुरु की विशेषता बता देते हैं 'स्वान्तमोहान्धकारः' मेरे स्वान्त अर्थात् अन्तःकरण में मोह अर्थात् अविवेक था जिसके कारण मैं आकुल व्याकुल हो रहा था, कहीं बचने की जगह नहीं मिल रही थी। वह मोह अनादि अज्ञान था, अविवेक भी अनादि अज्ञान ही है, अनादि अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण वह भी अंधकार ही है। गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान प्रकाश की आभा होते ही, अर्थात् जैसे ही उन्होंने उपदेश दिया वैसे ही वह जो स्वान्तमोहान्धकार था वह नष्ट हो गया। जैसे ही आत्मतत्त्व का उपदेश होता है वैसे ही अनादि अज्ञान नष्ट हो जाता है। 'मेरे ज्ञान से नष्ट हो रहा है' ऐसा नहीं। यह ब्रह्माकारवृत्तिविशिष्ट जो गुरु का रूप है वही हमारे अज्ञान को नष्ट करता है। यह विलक्षण बात है।

जब तुम श्रद्धा और भक्ति से युक्त होगे तो जब हमने कहा 'यह मदन है' तो इत्याकारक निश्चय वृत्ति तुम्हारी बनेगी। ऐसे हमने तुम्हारे अन्तःकरण में ज्ञान का प्रवेश करा दिया। तुमने वृत्ति नहीं बनाई। इसी प्रकार श्रद्धा भक्ति से युक्त शिष्य को कहा कि 'यह ज्ञान ब्रह्म है', यह गुरु की उक्ति है लेकिन इससे ज्ञान शिष्य को हो गया। जो महाप्रयत्न करना था ब्रह्माकार वृत्ति बनाने का वह उनके चरणों में भक्ति हो जाने से स्वतः सिद्ध हो गया। अब यदि तुम्हें संदेह हो गया कि 'ठीक कह रहे हैं या नहीं?' तो यहाँ से टिकट कटाकर दिल्ली में इसके बाप से पूछो कि 'यह मदन का फोटो है या नहीं?' यह सब करके भी निश्चय कर सकते हो, लेकिन श्रद्धा भक्ति है तो गुरु की उक्ति से ही काम हो जायेगा। इसके द्वारा भाष्यकार कह रहे हैं कि हमको गुरु से ज्यादा समझने की जरूरत नहीं पड़ी। उन्होंने कहा और तुरंत हो गया।

केवल अज्ञान नष्ट होता होगा, ऐसा नहीं वरन् मैं इस घोर संसार समुद्र के अन्दर बार बार डूब उतर रहा था। कभी देवता बन गया, कभी पशु पक्षी बन गया, इस प्रकार न जाने किस-किस प्रकार से डूब उतर रहा था! पता ही नहीं लग रहा था। अपने अंतःकरण की व्याकुलता भी समझना; परमात्मा किंरूप, मैं किंरूप, मेरा संसार से क्या संबंध, शरीर से संबंध कैसे हो गया? कभी लगता था मैं ऐसा हूँ, न्याय शास्त्र पढ़ा तो मैं कर्ता,

Scanned by CamScanner

सांख्य पढ़ा तो मैं भोक्ता, बौद्धशास्त्र पढ़े तो अपने को असत् मान लिया। इस प्रकार अपना अन्तःकरण डाँवाडोल होते देखता रहा और दूसरी तरफ बार बार देव तिर्यक् योनियों में जाता रहा। इस प्रकारसे उपजन अर्थात जन्म मरण होते रहे या इस प्रकार के तरह तरह के संदेह होते रहे। इससे उस संसार समुद्र के अन्दर जो तरह तरह के त्रास अर्थात् भय प्राप्त हो रहे थे वे सारे ख़तम हो गये। संदेह और देव तिर्यक् योनियों के चक्र समाप्त हो गये। इसलिये केवल अज्ञान ही तुच्छ हो गया ऐसा नहीं बल्कि उससे उत्पन्न होने वाले सारे के सारे अनर्थ भी आभासमात्र रहे, उनकी भी कोई सत्ता नहीं रह गई। इस प्रकार जो अतिक्रूर संसार सागर है उसके अन्दर बार बार घूमना उनके चरणों का आश्रय लेने से ख़तम हो जाता है।

जैसे मेरा संसरण नष्ट हो गया वैसे ही उनके चरणों का जो भी आश्रयण करता है उसका नष्ट हो जाता है। ऊपर अपना अनुभव कहा था और यहाँ कहा कि जो जो उनकी शरण को लेता है उसके सारे के सारे भय नष्ट हो गये। जिन जिन ने उनकी सेवा की, उसमें परायण हुए सब को कल्याण प्राप्त हो गया। बहुवचन प्रयोग के द्वारा यह बता दिया कि ऐसे अनेकों के हो गये हैं। कोई कहेगा 'जिन शिष्यों ने उनका आश्रयण किया ऐसे अनेकों के हुए होंगे, लेकिन उनमें कुछ ख़ास गुण होंगे तब हुआ होगा?' इसलिये बताते हैं कि उनको उन चरणों के आश्रयण से ही फललाभ हो गया। श्रुति अर्थात् मनन निदिध्यासन सहकृत श्रवण भी प्राप्त हो गया, शम अर्थात् मन की शान्ति भी प्राप्त हो गयी और विनय अर्थात् अनौद्धत्य की प्राप्ति हो गई। 'विप्राणां विनयो ह्येषः' (४.८६) में जो साधन बताये थे, जो उन साधनों से रहित थे, उन्होंने भी जब उनके चरणों का आश्रयण किया तो उन्हें मनन निदिध्यासन सहकृत श्रवण भी प्राप्त हो गया और शम तथा विनय आदि आवश्यक धर्म भी सारे प्राप्त हो गये। और वह प्राप्ति भी ऐसी सफल हो गयी कि उन्हें ज्ञान हो गया। इसलिये गुरुशुश्रूषा ही एकमात्र साधन हो गया। अग्र्या का मतलब श्रेष्ठा लेना अर्थात् उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक प्राप्ति हो गयी। इसलिये उनके चरणों का आश्रयण करना अर्थात् उनकी भक्ति व्यर्थ जाती ही नहीं। ऐसे जो हमारे गुरु हैं उनके चरणों में प्रणाम है। इस प्रकार आचार्य के प्रसाद से अनेकों को मोक्ष की प्राप्ति की सम्भावना होने से जो मोक्ष की इच्छा वाले हों उन्हें गुरु के चरणों का आश्रयण करना चाहिये यह विधान कर दिया।।३।।

चतुर्थ प्रकरण समाप्त

Scanned by CamScanner